हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ

(हिन्दी साहित्य के इतिहास का विकासात्मक एवं प्रवृत्त्यात्मक अध्ययन)

ग्यारहवां संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण
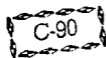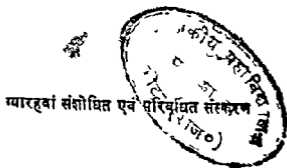
लेखक

डॉ० शिवकुमार शर्मा, एम०ए०

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-6

भूमिका
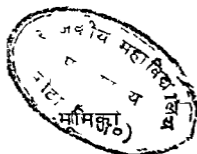
मुझे अपने मित्र डॉ० शिवकुमार शर्मा, एम०ए० (हिन्दी सस्कृत) पी-एच० डी० की नवीनतम रचना—'हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ' को हिन्दी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। श्री शर्माजी अपने विद्यार्थी-काल से ही अत्यन्त परिश्रमी एव अध्ययनशील रहे हैं। उन्होंने एम०ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी के साथ विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान भी प्राप्त किया था जो उनकी अध्ययनशीलता का परिचायक है। तदनन्तर वे कई वर्षों तक दयानन्द कालेज, हिसार में एम० ए० के विद्यार्थियो को हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं भाषा विज्ञान पढाते रहे हैं। गम्भीर-से-गम्भीर विषय को भी सरल, स्पष्ट एव रोचक शैली में प्रस्तुत कर देने की क्षमता के कारण वे अपने छात्र-वर्ग मे पर्याप्त प्रशसित रहे हैं। अस्तु, ऐसे योग्य, परिश्रमी एव अनुभवी अध्यापक की लेखनी से प्रसूत यह रचना निश्चित रूप से ही सामान्य पाठक एव उच्च वर्ग के विद्यार्थियो के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक ने हिन्दी-साहित्य के चारो कालो पर विस्तार से प्रकाश डाला है। एक ओर उसने तत्सम्बन्धी नवीनतम सामग्री का उपयोग करने का भी प्रयत्न किया है। लेखक का अपना दृष्टिकोण है किन्तु उसने अन्य दृष्टिकोणो से भी पाठको को अपरिचित नहीं रखा है। प्रत्येक काल की बाह्य परिस्थितियो, उसकी आन्तरिक प्रेरणाओ, उसकी महत्त्वपूर्ण रचनाओ एव उसकी सूक्ष्म प्रवृत्तियो का सुस्पष्ट विवेचन—इस पुस्तक की सबसे बडी विशेषता है। साथ ही शैली की सुकुमारता स्निग्धता एव प्रवाह-पूर्णता उसकी अतिरिक्त विशेषताएँ हैं।

ऐसे सुन्दर एव उपयोगी ग्रथ की रचना एव प्रकाशन के लिए मैं लेखक एव प्रकाशक महोदय को बधाई देता हुआ इसे जिज्ञासु पाठको की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ।

—गणपतिचन्द्र गुप्त

ग्यारहवां संस्करण

मुझे "हिन्दी-साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ" के ग्यारहवां परिवर्तित संशोधित संस्करण को सुयोग्य पाठको और मर्मज्ञ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष और उत्साह का अनुभव हो रहा है। इस रचना मे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विकासात्मक और प्रवृत्यात्मक दोनो रूपो को प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत ये दोनो पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। इसमे प्रत्येक काल की परिस्थितियो का तत्कालीन साहित्यक गतिविधियो के साथ सामजस्य दिखाते हुए प्रत्येक युग के उन प्रतिनिधि लेखको और उल्लेखनीय समस्याओ का आलोचनात्मक विवेचन कर दिया गया है जिनका प्राय उच्चतम कक्षाओ के छात्रवर्ग के साथ सम्बन्ध है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सकलनात्मकता का आग्रह स्वाभाविक था, किन्तु फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास की बहुत सी गम्भीर और [illegible] को [illegible] गया है और उनके समाधान क[illegible]
मे समन्वयात्मक [illegible]
स्वीकृत निष्कर्षों का उपस्थापन किया [illegible]—इतिहास के [illegible] को मैं कितना निभा पाया हूँ, इसका निर्णय इतिहास के अधिकारी विद्वानों के नीर क्षीर विवेक पर आधारत है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट रूप मे हिन्दी से पूर्वेतर भाषाओ के साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा, हिन्दी साहित्य पर सस्कृत, फारसी व उर्दू तथा अग्रेजी साहित्य के प्रभावो की चर्चा की गई है, जो कि हिन्दी साहित्य के समग्र अवबोध के लिए आवश्यक है। लेखक को इस प्रयास में कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय सुधी वर्ग की गुण ग्राहकता और विज्ञ पाठको के विवेक पर निर्भर करेगा।

हिन्दी-साहित्य के समस्त अधिकारी विद्वानो, जिनके इतिहास ग्रन्थो तथा शोध कार्यों की बहुमूल्य सामग्री का प्रस्तुत पुस्तक मे उपयोग किया गया है उनके प्रति हार्दिक आभार स्वीकार करना मैं अपना नैतिक कर्त्तव्य समझता हूँ। मैं अपने सुहृद्वर डा० गणपतिचन्द्र गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् का अतीव कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस विषय मे सवदा अपने निर्देशो और सत्परामर्श आदि से मुझे उपकृत किया, वस्तुत यह तुच्छ प्रयास उनकी सतत् शुभप्रेरणा का फल है। मैं इस विषय मे आदरणीय आचार्य एव रजिस्ट्रार हि० प्र० वि० वि०, श्री आर० एम० शर्मा का भी अतीव आभारी हूँ। वे अपने आप में एक सस्था हैं। उनका व्यक्तित्व, अपार ज्ञान, उनकी सहज प्रेषणीयता और सतत् प्रेरणा का एक आलोक-पुज है। वे जीवन से अध्यापक और मस्तिष्क से परम चिंतक हैं। ज्ञानार्जन और उसका वितरण उनका परम लक्ष्य है।

अन्त में, मैं अपनी त्रुटियों और न्यूनताओ के लिए क्षमा-याचना करता हुआ कृती विद्वानो तथा पाठको से विनम्र प्रार्थना करूँगा कि वे इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपने मूल्यवान सुझाव भेजकर हमें उपकृत करें ताकि भविष्य में पुस्तक को और अधिक उपयोगी और अद्युनातन बनाया जा सके।

—शिवकुमार शर्मा

आदरणीय दिवगत कम्मू
व ज्ञान के अदम्य पिपासु
स्नेही टिम्मा को समर्पित ।

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री

हिन्दी साहित्येतिहास स्रोत—हिन्दी साहित्य के इतिहास का आधारभूत सामग्री को मुख्यतः दो भागो मे रखा जा सकता है – (क) अन्त साक्ष्य तथा (ख) बाह्य साक्ष्य। अन्त साक्ष्य के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री को भी तीन रूपो मे बाँटा जा सकता है—(१) भक्त एव सन्त कवियो से सबद्ध आधारभूत ग्रन्थ (२) कवियों विषयक काव्य सग्रह (३) साहित्यकारो की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनायें तथा कवियो के परिचय से सबद्ध पुस्तकें। बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत प्राप्त सामग्री चार रूपो मे मिलती है—(१) साहित्यिक सामग्री (२) प्राचीन ऐतिहासिक स्थान, शिलालेख, वशावलियाँ व प्रामाणिक उल्लेख (३) जन-श्रुतियाँ (४) विभिन्न युगो की आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियो की ज्ञापक सामग्री।

साहित्य के इतिहास के लेखन कार्य में बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अन्त साक्ष्य अधिक विश्वसनीय और महत्त्वपूर्ण है क्योकि एक समन्वित दृष्टिकोण सपन्न इतिहास लेखक अपनी विवेकमयी सार ग्राहिणी बुद्धि से उस सामग्री से ग्राह्य व प्रामाणिक उपादानों को ग्रहण करता है। एक श्रेष्ठ इतिहास लेखक सर्वदा "सार-सार को गहि रहे, थोथा दीए उडाय" के आदर्श का दृढता से पालन करता है।

(क) अन्त. साक्ष्य

(१) भक्त एव सन्त कवियों से सबद्ध आधारभूत ग्रन्थ—इस कोटि के अन्तर्गत गोकुलनाथ द्वारा रचित "चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवनों की वार्ता मे" नाभादास रचित 'भक्त माल' 'गुरु ग्रन्थ साहब', 'गोसाईं चरित्र, ध्रुवदास लिखित 'भक्त नामावली' तथा सन्त बानी सग्रह व अन्य सन्तो की बानी आदि ग्रन्थ आते हैं। चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओ मे पुष्टि मार्ग के अनुयायी वैष्णवों की जीवनियो पर प्रकाश डाला गया है। इनमें अष्ट छाप के कृष्ण भक्त कवि सूरदास और नन्ददास आदि सम्मिलित हैं। भक्त माल में अनेक भक्तो के व्यक्तित्व से सम्बन्धित १०८ छप्पय छन्दो का उल्लेख है। इनमे उनके जीवन और कृतित्व के बारे मे श्रद्धा पूर्वक उल्लेख है। इनमें अनेक भक्त कवि भी हैं। 'गुरु-ग्रन्थ' साहब में कबीर रैदास तथा नाभदास की वाणियों का सग्रह है। 'गोसाईं चरित्र' में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन चरित्र की अलौकिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। सन्त बानी-सग्रह तथा अन्य सन्तो की बानी मे २४ सन्त कवियो के जीवन-चरित्र और काव्य सग्रह हैं। इन सब ग्रन्थो में भक्तों व सन्त कवियों के विषय मे स्तुत्यात्मक

कथन हैं, अत उनके उपयोग में इतिहासोचित सावधानता अपेक्षित है। गुरुमुखी लिपि में निबद्ध-हिन्दी कवियो के ग्रन्थो ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के निर्माण में काफी उपयोगी सामग्री जुटाई है।

(२) विविध कवियों से सबद्ध काव्य सग्रह—इस प्रकार के अनेक काव्य सग्रह मिलते हैं—'कविमाला' में ७५ कवियो की कविताओ का सकलन है। 'कालिदास हजारा' में २१२ कवियो की एक हजार कविताओ का सग्रह है। भिखारी दास के 'काव्य निर्णय' मे जहाँ एक ओर काव्य के आदर्शों का उल्लेख है, वहाँ उसमें कुछ कवियो का सक्षिप्त निर्देश भी कर दिया गया है। "सत्कवि गिरा विलास" में केशव, चिन्तामणि, मतिराम और बिहारी आदि १७ कवियो की कविताओ का सग्रह है। 'कवि नामावली' मे लेखक ने दस कवियो का नाम गिनाकर उन्हें प्रणाम अर्पित किया है। विद्वान मोदतरगिणी में ४५ कवियो का काव्य सग्रह है। सरदार कवि के "शृगार सग्रह' मे काव्य के विविध अगो के निरूपण के साथ-साथ १२५ कवियों की कविताओं के उद्धरण प्रस्तुत किये गए हैं। हरिश्चन्द्र के सुन्दरी-तिलक में ६९ कवियों के सवैयो का सग्रह है। "काव्य-सग्रह' मे अनेक कवियो का काव्य सग्रह है। मातादीन मिश्र के 'कवित्त रत्नाकर' मे २० कवियो का काव्य सग्रह है। शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' में एक हजार कवियो का जीवनवृत्त और उनकी कविताओं के उदाहरण जुटाए गए हैं। इतिहास की सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ काफी उपादेय है। 'विचित्रोपदेश' नामक ग्रन्थ मे अनेक कवियो की कवितायें हैं। "कवि रत्नमाला" में राजपूताने के १०८ कवियो की कविताएँ जीवनी सहित दी गई हैं। "हफीजुल्ला खाँ हजारा" के दो भागों मे अनेक कवियो के कवित्त और सवैयो का सग्रह है। लाला सीता राम के 'सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिट्रेचर' (Selection from Hindi Literature) मे अनेक कवियो की आलोचनाएँ और कविताएँ हैं। लाला भगवानदीन के 'सूक्ति सरोवर' मे ब्रज भाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयो पर सूक्तियाँ हैं। कृष्णानन्द व्यासदेव रचित "राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम" में अनेक राग रागनियो के उल्लेख के साथ कृष्णोपासक दो सौ से अधिक कवियों के काव्य सग्रह हैं। 'दिग्विजय भूषन' मे १९२ कवियो का काव्य सग्रह है। ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी के 'रस चन्द्रोदय' मे २४२ कवियो की कविताओं का सकलन है। उपर्युक्त काव्य-सग्रहों की विषय वस्तु से स्पष्ट है कि इनमे अनेक कवियो की मूल्यवान कविताएँ हैं जिनके आधार पर सम्बद्ध कवियों की साहित्यगत प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। इन ग्रन्थो से मध्ययुगीन हिन्दी कवियों और उनके काव्यों के विषय में काफी तथ्यों का पता चलता है।

(ख) बाह्य साक्ष्य

(१) साहित्यिक सामग्री के अन्तर्गत टाड का 'राजस्थान' नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपार्ट, मोतीलाल मेनारिया की 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित

ग्रन्थों की खोज, बिहार में हस्तलिखित ग्रन्थ, हिन्दू इज्म एण्ड ब्रह्म निज्म, कबीर एण्ड दि कबीर पंथ, हिस्ट्री आफ सिख रिलीजन, इण्डियन थीज्म, ए डिस्क्रिप्टिव केटेलाग आफ बार्डिक एण्ड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट, एन आउट लाइन आफ दि रिलीजस लिट्रेचर आफ इण्डिया, गोरखनाथ एण्ड दि कन फटा योगीज आदि ग्रन्थ आते हैं।

टाड रचित 'राजस्थान' में राजस्थान के चारण कवियों की चर्चा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में अनेक अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय एवं उनकी रचनाओं के उदाहरण हैं। मोतीलाल मेनारिया ने अपने ग्रन्थ में राजस्थान के अनेक ज्ञात व अज्ञात कवियों एवं लेखकों का परिचय और उनकी रचनाओं के उदाहरण जुटाये हैं। ऊपर अंग्रेजी भाषा में लिखित ग्रन्थों की चर्चा की गई है उनमें हिन्दू धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों के निरूपण के साथ साथ हिन्दी के अनेकों कवियों और आचार्यों के विचारों की भी समीक्षा कर दी गई है। इन ग्रन्थों में अधिकतर साहित्य के धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। एल० पी० टैसीटरी के 'ए डिस्क्रिप्टिव केटेलाग आफ बार्डिक एण्ड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट' में राजस्थान में रचित डिंगल काव्य के अनेक विवरण हैं।

(२) *प्राचीन ऐतिहासिक स्थान व शिलालेख*—*शिलालेख प्राचीन इतिहास* पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। चन्देल राज परमाल (परमर्दि देव) के समय के जैन-शिलालेख तथा आबू पर्वत के राजा जेत और सलख के शिलालेख तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

ऐतिहासिक स्थानों के अन्तर्गत काशी में कबीर चौरा, असीघाट, कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमीनदी का तट, अमेठी में जायसी की समाधि, राजापुर में तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, सोरों में तुलसीदास के स्थान का अवशेष तथा नरसिंह जी का मन्दिर, केशवदास का स्थान टीकमगढ़ और सागर आदि आते हैं।

(३) *जन-श्रुतियाँ*—उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों की जीवनियों और उनकी साधना से सबद्ध अनेक जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं। नि:सन्देह जन-श्रुतियाँ विशेष प्रामाणिक नहीं होतीं किन्तु उनमें सत्य की ओर कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं। जन-श्रुतियाँ शताब्दियों से जन जिह्वा की सवारी करता आ रही होती हैं, अतः इनमें अतिरंजना का योग आवश्यक है। फिर भी एक कृति इतिहासकार की मनीषा उनके ग्रहणीय अंशों का सार्थक उपयोग कर लेती है।

(४) विभिन्न युगों की परिस्थितियों की बोधक सामग्री में विभिन्न युगों के इतिहास आदि ग्रन्थ आते हैं।

ऊपर हमने हिन्दी-साहित्य के इतिहास की जिस आधारभूत सामग्री अथवा मूल स्रोतों की चर्चा की है, वह इतनी अपर्याप्त है कि उसके आधार पर हिन्दी साहित्य का एक सुनिश्चित व प्रामाणिक इतिहास तैयार हो पाना कठिन है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा गत ४०-५० वर्षों में इस दिशा में किए गए महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों और शोध प्रबन्धों की सामग्री का सावधानी

पूर्वक उपयोग आवश्यक है। इन अनुसधानो से काफी महत्वपूर्ण तथ्य आलोक में आए हैं। आधुनिक काल के इतिहास के लिए डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० प्रेमनारायण टंडन आदि अनेको लेखको द्वारा समकालीन लेखको और उनकी रचनाओं के वृत्त संग्रह निर्देशिकाओ के रूप में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

निष्कर्ष

अन्त: साक्ष्य में—

(१) भक्त व सन्त कवियो तथा अन्य कवियों से संबद्ध रचनाएँ।

(२) कवियों एवं साहित्यकारो की प्रकाशित रचनाएँ। अप्रकाशित रचनाओं का उपयोग तनिक दुष्कर व्यापार है। अनेक अनुसधान रत सस्थाएँ अप्रकाशित रचनाओं के प्रकाशन कार्य में सलग्न हैं।

(३) अनेक कवियो के काव्य सग्रह। मध्ययुगीन कवियो के बोध के लिए आवश्यक हैं।

बाह्य साक्ष्य—

(१) साहित्यिक सामग्री (२) शिलालेख तथा ऐतिहासिक स्थान (३) जन-श्रुतियाँ (४) विभिन्न युगो की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियो का बोध कराने वाले ग्रन्थ।

आधुनिक काल के इतिहास के लेखनार्थ-साहित्य के विभिन्न अंगो, रूपों, धाराओ तथा प्रवृत्तियो से सबद्ध अनेक अनुसधानात्मक शोध प्रबन्ध तथा समकालीन लेखकों तथा उनकी रचनाओ के वृत्त सग्रह उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का इतिहास
(हिन्दी साहित्येतिहास परम्परा)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक कवियो और लेखको द्वारा अनेक ऐसे ग्रन्थो का निर्माण हुआ जिनमें हिन्दी के साहित्य के निर्माताओ के व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख मिलता है किन्तु यह सब कुछ व्यष्टि रूप से हुआ, समष्टि रूप से नही। इसके अतिरिक्त उनमे समग्र ऐतिहासिक चेतना का भी अभाव है। उदाहरणार्थ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', भक्तमाल और कविमाला आदि में कवियों का निर्देश किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष की भावना से किया गया है, व्यक्तित्व अथवा कृतित्व को ध्यान मे रखकर नही। इनमें काल क्रम तथा सन् सम्वत् आदि का भी अभाव है। अत इन ग्रन्थो को सच्चे अर्थों मे इतिहास कह सकना कठिन है।

यह एक आश्चर्य की बात है कि अब तक की जानकारी के अनुसार हिन्दी-साहित्य के इतिहास का सर्वप्रथम लेखक एक विदेशी फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ठहरता है। उन्होने फ्रेंच भाषा में "इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी" नामक ग्रन्थ में अगरेजी वर्ण क्रमानुसार हिन्दी और उर्दू भाषा के अनेक कवियो और कवियित्रियो का परिचय दिया है। ग्रन्थ के आरम्भ मे लेखक ने २४ पृष्ठों की भूमिका मे हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के विषय मे विचार प्रकट करते हुए उर्दू भाषा को हिन्दी के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है। इससे ग्रन्थ का कलेवर अत्यधिक बढ गया है। लेखक ने अपने ग्रन्थ के आधे से भी अधिक पृष्ठ उर्दू कवियो की साहित्य साधना मे व्यय किए हैं। नि सन्देह तासी का उक्त प्रयास भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित नही है किन्तु हिन्दी के कवि जयशकर प्रसाद तथा उर्दू के कवि इकबाल को एकत्र उपन्यस्त करने में किसी भी दृष्टि से कोई भी औचित्य नहीं है। लेखक ने हिन्दी के प्रधान कवियो की जीवनियों और उनके काव्य ग्रन्थो का विवरण प्रस्तुत किया है। साहित्यगत प्रवृत्तियो की चर्चा नहीं की है। तासी ने काल विभाजन का भी कोई प्रयास नहीं किया है। उपर्युक्त परिसीमाओ और न्यूनताओ के होने के बावजूद भी तासी के इतिहास का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व है। भारत से बहुत दूर फ्रास देश मे बैठकर विदेशी भाषा मे हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना कोई कम महत्वपूर्ण नही है। तासी के ग्रन्थ का महत्व उसकी उपलब्धियो के दृष्टि-कोण से नही बल्कि नवीन दिशा की ओर अग्रसर होने के प्रारम्भिक स्तुत्य प्रयास की दृष्टि से आंकना चाहिए। इस रूप से तासी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन-परम्परा में इतिहास के श्रीगणेश कर्त्ता एव प्रवर्तक के गौरव-पूर्ण स्थान के अधिकारी ठहरते

हैं। तॉसी के उक्त ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम इतिहास का हिन्दी भाषा मे अनुवाद होना आवश्यक है।

इस परम्परा का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' है। इसमे लगभग एक हजार भाषा-कवियो के जीवन चरित और उनकी कविताओ के उदाहरण जुटाये गए हैं। कवियो के जन्मकाल तथा रचनाकाल आदि के भी सकेत कर दिये गए हैं हालांकि वे अधिक विश्वसनीय नही हैं। तॉसी के ग्रन्थ मे हिन्दी-कवियो की सख्या ७० से कुछ ऊपर थी किन्तु शिवसिंह सरोज मे उक्त सख्या को हजार तक पहुंचा कर इस परम्परा को आगे बढाया गया। इतिहास की दृष्टि से इस ग्रथ का अधिक महत्त्व नहीं है, फिर भी, इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए उपयोगी सामग्री को व्यापक रूप से सकलित कर दिया गया है और यही इस की विशेषता है।

जार्ज ग्रियर्सन के 'द मॉडर्न वर्नेक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दोस्तान' का प्रकाशन १८२२ मे एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल की पत्रिका के विशेषाक के रूप मे हुआ। यद्यपि ग्रियर्सन ने मुख्यत 'सरोज' को ही आधार बनाया है। किन्तु उसने अपने ग्रन्थ में काल विभाजन के साथ समय समय पर उठी हुई प्रवृत्तियो का भी दिग्दर्शन करा दिया है। अत ग्रियर्सन का प्रयास अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित व वैज्ञानिक है। इसमें कवियो की सख्या ६५२ है। यद्यपि इस ग्रन्थ के नाम से इतिहास के भाव का बोध नहीं होता किन्तु इसे सच्चे अर्थो मे हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास माना जा सकता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के स्वरूप और विकास से सम्बद्ध जिन मान्यताओ की स्थापना की वे आगे चलकर इतिहास लेखको का किसी किसी रूप मे पथ प्रदर्शन करती रही। जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी भाषा, उसके साहित्य तथा उसके क्षेत्र निर्धारण में जिस निश्चयात्मिका वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय दिया वह नितान्त प्रशस्य है। उन्होने हिन्दी भाषा की परिधि से सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा उर्दू भाषाओ को बाहर रखा। उन्होंने तॉसी और शिवसिंह सरोज के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाई चरित, हजारा नामधारी ग्रन्थो तथा अन्य काव्य सग्रहो की सामग्री का उपयोग करते हुए यथा-स्थान मूल आधारों के सदर्भो के भी सकेत कर दिये हैं। इससे उनके एक सच्चे इतिहास लेखक के लिए अत्यावश्यक गुण—तटस्थता, ईमानदारी, प्रामाणिकता, समन्वयात्मकता, ऐतिहासिक चेतना, समानुपातिकता तथा समग्रता आदि लक्षित होते हैं। उन्होने उपलब्ध सामग्री को काल क्रमानुसार रखा। काल विभाजन करते हुए प्रत्येक अध्याय को काल विशेष का सूचक बनाया। प्रत्येक अध्याय के अन्त मे उस काल के गौण कवियों का उल्लेख किया। प्रत्येक काल की परिस्थितियो, प्रवृत्तियो और प्रेरक स्रोतो का निर्देश किया। हिन्दी साहित्य के विकास क्रम को नाना प्रवृत्तियों के रूपो—चारण काव्य, धार्मिक काव्य तथा दरबारी काव्य रूप मे रखकर भक्ति काल को हिन्दी का स्वर्णकाल घोषित किया। सच यह है कि यदि एक विदेशी विद्वान् तॉसी हिन्दी साहित्य के इतिहास के सर्वप्रथम लेखक ठहरते

है तो हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक पद्धति पर सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय भी एक विदेशी विद्वान् जार्ज ग्रियर्सन को है।

इतिहास लेखन की परम्परा को आगे बढ़ाने के क्षेत्र में मिश्र बन्धुओं का महत्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने चार भागों में मिश्र बन्धु विनोद लिखा। इसके २२५० पृष्ठ हैं। इसमें ५००० से अधिक कवियों के विवरण दिये गए हैं। इससे अनेक अज्ञात कवि प्रकाश में आये। मिश्र-बन्धु विनोद में साहित्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालकर साहित्यकारों का साहित्यिक मूल्यांकन कर दिया गया है तथा उन की श्रेणियाँ बना दी गई हैं। मिश्रबन्धुओं ने काव्य समीक्षा करते समय परम्परागत सिद्धान्तों का अनुसरण किया है अतः उनमें आधुनिक समीक्षा दृष्टि का अभाव है। भले ही मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रन्थ को इतिहास का नाम नहीं दिया किन्तु इसे एक आदर्श इतिहास बनाने में उन्होंने भरसक प्रयास किया। निःसन्देह उन्हें इस दिशा में अपने पूर्ववर्ती इतिहास लेखकों से अधिक सफलता मिली। आचार्य शुक्ल ने मिश्र-बन्धुओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—"कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्र बन्धु विनोद से लिए हैं"। मिश्र बन्धु विनोद परवर्ती इतिहास लेखकों के लिए एक आधार ग्रन्थ का काम करता रहा है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थों के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास" का अतीव महत्वपूर्ण स्थान है। यह मूलतः "नागरी प्रचारिणी सभा" द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया था। आगे चलकर इसके परिवर्द्धित रूप को स्वतन्त्र पुस्तक का रूप मिला। आचार्य शुक्ल ने साहित्य को जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर उसकी उत्तरोत्तर विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को तद्युगीन व्यापक परिस्थितियों—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि के व्यापक संदर्भों के आलोक में देखकर इतिहास के विकासवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के साहित्यिक मूल्यांकन को अधिक महत्त्व दिया। कवियों के निरूपण में आधुनिक समालोचनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया। काल खंडों और काव्यधाराओं का सुनिश्चित वर्गीकरण कर कवि और लेखकों की शैली-विशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उपयुक्त उदाहरण जुटाये और इस दिशा में उन्हें असाधारण सफलता मिली। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार काल-खंडों—वीर गाथा काल, भक्ति काल, रीति काल तथा आधुनिक काल में विभक्त कर उनके दोहरे नाम भी जुटाये। भक्ति, रीति और आधुनिक काल को नाना शाखाओं, धाराओं और उपविभागों में विभक्त किया। सरलता, निश्चयात्मकता और स्पष्टता के कारण शुक्ल जी का उक्त काल विभाजन बहुत समय तक प्रचलित और मान्य रहा। इतना सब कुछ होते हुए भी आचार्य शुक्ल के इतिहास की कतिपय परिसीमायें हैं, जिन्हें आचार्य शुक्ल की परिसीमायें न समझ कर इतिहास की परिसीमायें समझना चाहिए। आज का बहुसाधन सम्पन्न प्रबुद्ध इतिहास लेखक शुक्ल जी के समूचे काल-

विभाजन, काल सीमा निर्धारण, काव्य धाराओं के वर्गीकरण, काव्य धाराओं के मूल स्रोतों के सकेतीकरण आदि को संदेह की दृष्टि से देखता है और उसका ऐसा व्यवहार समीचीन भी है। शुक्ल जी द्वारा इतिहास के तैयार करने के समय मे हिन्दी का प्राचीन साहित्य प्राय अज्ञात, अप्राप्य और अप्रकाशित था। उस समय आज क हिन्दी जगत का विकसित अनुसधान अपनी शैशव अवस्था में भी नही था। अत उनके सामने एक सुवैज्ञानिक इतिहास के लिए अपेक्षित समृद्ध व सुपुष्ट आधारभूत सामग्री का अभाव था। अत उन्हें कल्पना और अनुमान का आश्रय लेना पडा। इससे तथ्य निरूपण और तत्सम्बन्धी निष्कर्षों के प्रतिपादन मे न्यूनताओ व त्रुटियो का रह जाना स्वाभाविक था। अपर्याप्त सामग्री के कारण उनके इतिहास मे एकपक्षीयता का आ जाना भी अनिवार्य था। इन परिसीमाओं के बावजूद भी हिन्दी-साहित्येतिहास-परम्परा में शुक्ल जी का इतिहास मील के पत्थर के समान है। यह अपने विषय का सर्वप्रथम इतिहास है जिसमे अत्यन्त व्यापक सूक्ष्म दृष्टि, विकासवादी दृष्टिकोण, *विशद विवेचन व विश्लेषण तथा तर्कानुमत निष्कर्ष एकत्र मिलते हैं। आज के हिन्दी साहित्य के इतिहास के विशाल भवन की सुदृढ नीव अप्रतिम तथा सशक्त आलोचक एवं समर्थक सक्षम इतिहासकार आचार्य शुक्ल ने रख दी थी।*

हिन्दी साहित्येतिहास-शृखला मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थों— हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य . उद्भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य का आदि काल आदि एक नवीन दिशा को प्रस्तुत करते हैं। इनमे एक नवीन दृष्टि, नूतन सामग्री और अभिनव विवृति है। आचार्य शुक्ल ने प्रत्येक युग के साहित्य की प्रवृत्तियो के निर्धारण में युगीन परिस्थितियों को प्रमुखता दी जबकि आचार्य द्विवेदी ने इस देश की प्राचीन परम्पराओं, एतद्देशीय सस्कृति के धारावाहिक रूप, शास्त्रीय एव लोक परम्पराओं के व्यापक सदर्भ में प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्यांकन किया। उदाहरणार्थ द्विवेदी जी ने सप्रमाण सिद्ध किया कि हिन्दी साहित्य में भक्ति का आन्दोलन न तो निराशाजन्य परिस्थितियो का परिणाम है और न ही यह इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया की उपज है बल्कि भारत के दर्शन, धर्म व साधना का अजस्र क्रमात्मक प्रस्फुटन है। इसी प्रकार उन्होंने यह प्रमाणित किया कि सन्त मत पर विदेशी प्रभाव की कोई छाया नहीं है प्रत्युत् सन्त साहित्य का मूल नाथो और सिद्धो की वाणियों मे निहित है। उन्होंने प्रेम काव्यो का स्रोत सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश काव्यो की प्रेमात्मक काव्य रूढियो और परम्पराओ मे खोजा। 'हिन्दी साहित्य का आदि काल" द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को एक नई दिशा प्रदान की और इसके साथ-साथ समूचे मध्यकालीन साहित्य को एक नवीन, व्यापक एव उदार दृष्टिकोण से देखने की प्रेरणा दी। अत हम कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदी ने मध्यकालीन साहित्य के स्रोतो और परम्पराओ का महत्वपूर्ण गवेषणात्मक अध्ययन कर उनका मानवतावादी दृष्टि से अतीव सहानुभूतिपूर्वक पुनरास्थापन किया है। आचार्य शुक्ल ने युगीन प्रवृत्तियो का विश्लेषण केवल एक पक्षीय परिस्थितियो के

आधार पर किया जबकि द्विवेदी जी ने उन्हें संस्कृति और शास्त्र की पूर्व परम्पराओं का सुपुष्ट व सुसमृद्ध दृढ आधार प्रदान किया है। अतः द्विवेदी जी का इतिहास शुक्ल जी के इतिहास का पूरक है। आचार्य द्विवेदी अप्रतिम ऐतिहासिक चेतना तथा पूर्व परम्पराओ के बोध की पारदर्शिनी दृष्टि से सम्पन्न एक सशक्त इतिहासकार हैं।

इस परम्परा मे आचार्य द्विवेदी के इतिहास ग्रन्थों के प्राय साथ-साथ डा० राम कुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'' का प्रकाशन हुआ। इसमे लेखक ने ६६३ से १६६३ ई० की कालावधि को लेकर भक्तिकाल तक के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। डा० वर्मा ने आचार्य शुक्ल की पद्धति का अनुकरण किया है। इन्होंने काल खडो और काव्य धाराओं के नामकरण मे थोड़ा परिवर्तन कर दिया है। वीरगाथा काल को चारण काल कहा है और इससे पूर्व संधि काल को जोड दिया है जिसमें अपभ्रंश भाषा के प्राय सारे कवियों को समेट लिया है और अपभ्रश के प्रथम कवि स्वय भू को हिन्दी साहित्य का आदि कवि घोषित किया है जो कि ऐतिहासिक, साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अग्राह्यनीय है। काव्य धाराओ के नामकरण मे लेखक ने 'सन्त काव्य' व प्रेम काव्य' आदि शीर्षकों का सार्थक प्रयोग किया है। साहित्यकारों के मूल्यांकन में लेखक ने कलात्मकता, सहृदयता एव नैसर्गिक कवि हृदय का परिचय दिया है। परिणामत शैली-प्रवाह पूर्ण, रोचक, सरस और हृदयावर्जक है और यही इस ग्रथ की लोकप्रियता का मुख्य कारण है।

विभिन्न विद्वानो के सहयोग से लिखित एव डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारासपा दित 'हिन्दी साहित्य' कई दृष्टियो से उल्लेखनीय है। इसमें साहित्य के इतिहास को तीन काल खडो—आदि काल, मध्य काल तथा आधुनिक काल—में विभक्त किया गया है। समस्त काव्य परम्पराओ का वर्णन स्वतन्त्र रूप से किया गया है। 'रासो काव्य परम्परा' को नवीन रूप से जोडा गया है। काल-विभाजन, विषय निरूपण एव शैली आदि की दृष्टि से उक्त ग्रथ आचार्य शुक्ल के इतिहास से काफी भिन्न है। विभिन्न लेखको द्वारा रचित होने के कारण इसमें एकरूपता और अन्विति का अभाव है।

इधर 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' प्रकाशित करने की विशाल योजना के क्रियान्वयन में सलग्न है। योजनानुसार हिन्दी साहित्य के इतिहास को अनेक भागो में निकालने का विचार है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इतिहास लेखन के कतिपय सिद्धान्तो और पद्धतियों को निर्धारित कर लिया गया है। इतिहास का प्रत्येक भाग विभिन्न अधिकारी विद्वानों के सपादन में लिखा जा रहा है। इस दिशा में शताधिक विद्वान् अमूल्य सहयोग प्रदान कर रहे हैं। इस शृखला मे अब तक प्रकाशित खडो मे डा० नगेन्द्र द्वारा सपादित षष्ठ भाग—रीतिकाल, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पडा है। अन्य खडो का प्रकाशन शीघ्र प्रत्याशित है। समूची योजना

की सफलता समर्थ संपादन एवं विभिन्न विद्वानों की मूल्यवान् विद्वतापूर्ण गवेषणाओं पर निर्भर करती है।

हाल में डा० नगेन्द्र के अतीव कुशल संपादन में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा 'हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती' इतिहास सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनमें अनेक अधिकारी विद्वानों ने इतिहास के विभिन्न पक्षों पर व्यापक व गहन दृष्टिकोण से लिखा है। इनमें इतिहास के कई अज्ञात पक्षों को प्रकाश में लाया गया है तथा ज्ञात पक्षों को वैज्ञानिक तथा विकासवादी नये आलोक में प्रस्तुत किया गया है। इस दिशा में कृती संपादक तथा लेखक वर्ग का प्रयास नितान्त स्तुत्य है।

उपर्युक्त इतिहास ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के विभिन्न काल खंडों, काव्य रूपों और धाराओं पर अनेक शोध प्रबन्ध एवं समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। इनमें साहित्य के अनेक अज्ञात तथ्यों और अनिर्णीत प्रश्नों को नवीन दृष्टिकोण से नवालोक में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी अनुसंधान जगत् के इन नवीन निष्कर्षों और परिणामों का अतीव सतर्कतापूर्वक समन्वयन एवं समाहितीकरण इतिहास-लेखन की दिशा में अभी शेष है। नवीन शोध परिणामों और विकसित साहित्य चेतना के आलोक में हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्गठन और लेखन आवश्यक है। निःसन्देह आज हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित शताधिक पुस्तकें उपलब्ध हैं किन्तु अभी तक इस दिशा में उचित व सन्तोषजनक प्रगति नहीं हुई है। प्रस्तुत पुस्तक को उक्त उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास समझना चाहिए।

हिन्दी साहित्य का काल विभाजन

काल विभाजन का लक्ष्य—काल अखड एव निरवधि है। इसकी निरवछिन्न धारा सर्वदा अजस्र गति से प्रवाहित रहती है। केवल बोध की सुकरता के लिए उसका कतिपय भागो, उपविभागो, खडो तथा उपखडो मे विभाजन और भूत, वर्तमान एव भविष्य के रूप में सीमा निर्धारण आदि कर लिए जाते हैं। किसी विषय वस्तु के सम्यक अवबोध के लिए उसे नाना तत्त्वो, खडो, पक्षो तथा वर्गों में विभक्त कर लेना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से सगत है। अध्ययन की यह वैज्ञानिक सुव्यवस्था काल विभाजन का प्रधान लक्ष्य है। भिन्न भिन्न कालो की भिन्न भिन्न परिस्थितियों के व्यापक सदर्भो में प्रणीत साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक-विकास, उसकी प्रवृत्तियो और परम्पराओ के विकास तथा ह्रास एव दिशा परिवर्तन आदि की कहानी को सकारण स्पष्ट करना काल विभाजन का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। यदि कोई काल-विभाजन उक्त लक्ष्य की पूर्ति नही करता तो उसे असगत और भ्रान्त समझना होगा।

काल विभाजन के विविध आधार—सामान्यत साहित्य के इतिहास का काल विभाजन कृति, कर्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से कर लिया जाता है। कभी-कभी नामकरण के किसी सुदृढ आधार के उपलब्ध न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर उसका नामकरण कर दिया जाता है—जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग तथा प्रसाद युग आदि। कभी-कभी साहित्य सृजन की प्रमुख शैलियो के आधार पर काल विभाजन कर लिया जाता है जैसे—छायावादी युग, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी युग आदि। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मानव मनोविज्ञान और तत्कालीन साहित्य की किसी प्रमुख प्रवृत्ति को नामकरण का आधार बना लिया जाता है। मानव-मनोविज्ञान किसी भी कालावधि को सामान्यतया तीन भागो मे विभक्त करता है—आदि (प्रारम्भिक) मध्य और अन्त या आधुनिक। वीरगाथा काल, भक्ति काल तथा रीति काल का नामकरण तत्कालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो को द्योतित करता है। कभी कभी साहित्य मे अनेक धाराएँ और प्रवृत्तियाँ एक साथ समान वेग से उदित और विकसित होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार की सक्रमणशीलता एव किसी विशिष्ट प्रवृत्ति के प्रधान और अप्रधान होने की अनिश्चयात्मक स्थिति मे साहित्य का अध्ययन उसके काव्यरूप भेदो के आधार पर कर लिया जाता है। देशी तथा विदेशी विद्वान् इतिहास लेखको ने सस्कृत साहित्य का विश्लेषण काव्य रूप-भेदो के आधार पर किया है। अस्तु। उपर्युक्त चर्चित साहित्य के इतिहास के काल विभा-

जन के विविध आधारो मे से किसी को भी अपनाया जा सकता है किन्तु स्मरण रखना होगा कि उस आधार को साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास के समग्र अवबोध की प्रक्रिया मे साधक सिद्ध होना चाहिए न कि बाधक। यदि कोई आधार साहित्यिक चेतना का प्रादेशिक बोध कराता है तो उसे एकागी समझना चाहिए। साहित्य का केन्द्र मानव है अत काल विभाजन उसके पुष्कल बोध को प्रस्तुत करे न कि खडित बोध को।

हिन्दी साहित्य के परम्परागत काल विभाजन की समीक्षा

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भिक लेखको—गार्सा द तॉसी तथा शिव सिंह सेंगर ने काल विभाजन की ओर कोई ध्यान नही दिया। हिन्दी साहित्य के काल विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास जार्ज ग्रियर्सन ने किया। उनका काल-विभाजन क्रम निम्नस्थ है :—(क) चारण काल (७००—१३०० ई०) (ख) पन्द्रहवी शती का धार्मिक पुनर्जागरण (ग) जायसी की प्रेम कविता (घ) ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय (च) मुगल दरबार (छ) तुलसीदास (ज) रीति काव्य (झ) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (त) अट्ठारहवी शताब्दी, (थ) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान, (द) विक्टोरिया के शासन म हिन्दुस्तान। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है यह काल विभाजन न होकर साहित्य के इतिहास के भिन्न-भिन्न अध्यायो का नामकरण है। इसमे काल क्रम की निरन्तरता का भी अभाव है। इससे साहित्य की कतिपय सीमित प्रवृत्तियो का ज्ञान तो हो जाता है किन्तु ऐतिहासिक चेतना का समग्र अवबोध सभव नही है।

आगे चलकर मिश्र-बन्धुओं ने "मिश्र-बन्धु विनोद" मे काल विभाजन का प्रयास किया जो इस प्रकार है :—

१. आरम्भिक काल—(क) पूर्वारम्भिक काल (७००—१३४३ वि०)
(ख) उत्तरारम्भिक काल (१३४४—१४४४ वि०)

२ माध्यमिक काल—(क) पूर्व माध्यमिक काल (१४४५—१५६० वि०)
(ख) प्रौढ़ माध्यमिक काल (१५६१—१६८० वि०)

३. अलकृत काल— (क) पूर्वालकृत काल (१६८१—१७६० वि०)
(ख) उत्तरालकृत काल (१७९१—१८८९ वि०)

४ परिवर्तन काल (१८९०—१९२५ वि०)

५ वर्तमान काल (१९२६ वि० से अद्यावधि)

निसदेह मिश्र बन्धुओ का वर्गीकरण ग्रियर्सन की अपेक्षा प्रौढ है किन्तु इसमें असगतियो का सर्वथा अभाव नही है। सर्वप्रथम दोष तो यह है कि मिश्र-बन्धुओ ने भी ७०० से १३०० शती ई० के अपभ्रंश भाषा मे निबद्ध साहित्य को हिन्दी की परिधि मे समेट लिया है। अलकृत तथा परिवर्तन कालो का नामकरण भी वैज्ञानिक नही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस दिशा मे अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत काल विभाजन प्रस्तुत किया है :—

१. आदि काल (वीर गाथा काल, स० १०५०-१३७५)
२. पूर्व मध्य काल (भक्ति काल स० १३७५-१७००)
३. उत्तर मध्य काल (रीति काल १७००-१९००)
४. आधुनिक काल (गद्य काल १९०० से अब तक)

मिश्र बन्धुओ ने हमारे विवेच्य काल को आदि काल के नाम से अभिहित किया किन्तु शुक्ल जी ने इस युग में वीर गाथाओं की प्रमुखता को देखते हुए इसे वीर गाथा काल के नाम से पुकारा है। इसी प्रकार पूर्व मध्य काल तथा उत्तर मध्यकाल मे भक्ति और रीति की प्रमुख प्रवृत्तियो के आधार पर उन्हे क्रमश भक्ति काल तथा रीति काल के नामो से भी अभिहित किया है। आधुनिक काल मे गद्य लेखन की प्रमुखता देखकर उसे गद्य काल के नाम से अभिहित किया है। आचार्य शुक्ल ने परम्परा से प्राप्त आदि, मध्य और आधुनिक नामो के साथ-साथ उस युग के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर एक-एक विशिष्ट नाम और भी जोड दिया है। इस प्रकार इन्होंने चारो कालो के दोहरे नाम देकर प्रत्येक काल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति को भी द्योतित कर दिया है। निःसन्देह आचार्य शुक्ल का काल विभाजन अपनी सक्षिप्तता, सरलता और स्पष्टता के कारण आज तक हिन्दी जगत मे बहुमान्य है किन्तु वह भी सर्वथा असगतियो से रहित नही है। मानव मनोविज्ञान के आधार पर शुक्ल जी द्वारा किया गया आदि, मध्य तथा आधुनिक काल का नामकरण स्तुत्य है किन्तु काल विशेष की विशिष्ट प्रवृत्ति की प्रमुखता के आधार पर किया गया वीर गाथा काल, भक्ति काल तथा रीतिकाल का नामकरण चिन्तनीय है। आचार्य शुक्ल जैसे अधिकारी विद्वान ने जिन परिस्थितियो मे इतिहास लेखन का दुष्कर कार्य सम्पन्न किया, उस समय के अनुसार वह ठीक था। शुक्ल जी की अपनी परिसीमायें थी। उनमें से सबसे बडी यह थी कि उनके समय मे एक निर्दोष इतिहास ग्रन्थ लिखने के लिए अपेक्षित पर्याप्त सामग्री प्रकाश मे नही आई थी अतः उन्हें सीमित सामग्री से काम चलाना पडा। परिणामत उनके काल विभाजन का प्रयास एकागी रह गया।

आज स्थिति काफी बदल चुकी है। पिछले चालीस वर्षों में हिन्दी जगत में पर्याप्त अनुसधान और नवीन दृष्टिकोण से चिन्तन हुआ है, जिसे देखते हुए आचार्य शुक्ल के प्रवृत्यात्मक काल विभाजन की अनेक त्रुटियां स्पष्टत दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ—

(क) आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के प्रारम्भिक (आदि) काल की सीमाओ का निर्धारण १०५० वि० से १३७५ वि० तक कर इसे वीर गाथा काल के नाम से अभिहित किया है। सर्वप्रथम तो उक्त काल की सीमा निर्धारण ही सदोष है। भाषा विज्ञान के अनुसार आधुनिक भारतीय अन्य भाषाओ के समान हिन्दी-भाषा का विकास

बारहवी शती के उत्तरार्ध मे हुआ, अत १०५० के समय हिन्दी भाषा के ग्रंथों की सत्ता सर्वथा अमान्य है। शुक्ल जी ने तथा उनके अनेक अनुकर्त्ता इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को पुरानी हिन्दी या प्राकृताभास की परिधि में समेटना चाहा है जो कि असमीचीन है। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने जिन रचनाओं के आधार पर उक्त काल का नामकरण वीर गाथा काल किया है वे या तो अस्तित्वहीन घोषित हो चुकी हैं अथवा उनमें से कुछ परवर्ती काल की सिद्ध हो चुकी हैं। इसका विस्तृत वर्णन आदि काल नामक अध्याय मे दृष्टव्य है। विद्वानों का विश्वास है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काल का साहित्य भाव, शैली तथा काव्य रूपों की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य का बढ़ा हुआ रूप है। ऐसी दशा में यह विश्वास कैसे किया जाय कि प्रारम्भिक काल मे केवल वीर गाथा का ही प्रणयन हुआ, जबकि साहित्य की अन्य धारायें सर्वथा विलुप्त हो गई। वस्तु स्थिति यह है कि भारत में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के प्रारम्भ से पूर्व तक साहित्य सृजन की प्रक्रिया धर्माश्रय, राजाश्रय तथा लोकाश्रय में चलती रही। तथाकथित वीर-गाथा काल से धर्माश्रयी तथा लोकाश्रयी साहित्य की सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। धर्माश्रयी साहित्य को सृजनात्मक साहित्य की कोटि से बहिष्कृत करना भी सर्वथा अन्याय है। इसके अतिरिक्त राजाश्रय मे केवल वीर रस परक रचनाओं का प्रणयन नहीं हुआ होगा। उसके साथ-साथ प्रभूत शृंगारी साहित्य की भी सृष्टि हुई होगी। इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा, राहुल साकृत्यायन तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा उक्त काल के लिए क्रमश दिए हुए नामो—चारण काल सिद्ध सामन्त काल तथा बीज वपन काल को भी एकांगी समझना होगा। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी के प्रारम्भिक (आदि) काल मे साहित्य की अनेक धारा में एक साथ समान वेग से प्रवाहित हुईं, अत उसे किसी एक प्रवृत्ति विशेष की प्रमुखता के आधार पर वीर गाथा काल, चारण काल अथवा सिद्ध सामन्त काल आदि के नाम से अभिहित करना सर्वथा निरापद नही है।

(ख) आचार्य शुक्ल ने पूर्व मध्य काल को भक्ति काल की संज्ञा से अभिहित किया है जो कि एक ही प्रवृत्ति को सूचित करता है जबकि उस काल मे भक्ति धारा के साथ साथ साहित्य की अन्य धारायें भी पर्याप्त सक्रिय रहीं। शुक्ल जी ने भक्ति काल की केवल चार काव्य-परम्पराओं—निर्गुण ज्ञानाश्रयी, निर्गुण-प्रेमाश्रयी, कृष्ण-भक्ति और राम भक्ति सम्बन्धी-काव्य परम्पराओं का उल्लेख किया है किन्तु इनके अतिरिक्त उक्त काल मे काव्य की अन्य भी अनेक परम्परायें चलती रही। समूचे मध्य काल अर्थात् पूर्व मध्य तथा उत्तर मध्य काल में प्रारम्भिक काल के समान धर्म, राज्य तथा लोकाश्रयों मे साहित्य-सृजन बराबर चलता रहा, अत पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल को परस्पर सर्वथा विच्छिन्न समझना भ्रम होगा। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की काव्य परम्पराओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

१. धर्माश्रय मे—(क) संत काव्य परम्परा, (ख) पौराणिक गीति परम्परा (ग) पौराणिक प्रबन्ध काव्य परम्परा, (घ) रसिक भक्ति काव्य परम्परा।

२. राज्याश्रय में—(क) मैथिली गीति परम्परा, (ख) ऐतिहासिक रास काव्य परम्परा, (ग) ऐतिहासिक चरित काव्य परम्परा, (घ) ऐतिहासिक मुक्तक परम्परा, (ध) शास्त्रीय मुक्तक परम्परा।

३. लोकाश्रय मे—(क) रोमासिक कथा काव्य परम्परा, (ख) स्वच्छन्द प्रेम काव्य परम्परा।

इससे स्पष्ट है कि आधुनिक अनुसधानो के द्वारा पर्याप्त नवीन सामग्री के आलोक में आ जाने पर पूर्व मध्य काल को भक्ति काल के नाम से सूचित करना उसके एकांगी पन का द्योतक है।

(ग) आचार्य शुक्ल ने उत्तर मध्य काल को रीति काल तथा अन्य कतिपय इतिहास लेखको ने इसे शृ गार काल तथा कला काल और अलकृत काल के नामो से अभिहित किया है। हम पहले लिख चुके हैं कि पूर्व मध्य काल मे प्रवाहित काव्य परम्परा मे उत्तर मध्य काल मे भी निरविच्छिन्न गति से चलती रही हैं, अत तथाकथित रीति पद्धति की प्रमुखता के आधार पर उक्त काल को रीति काल की सज्ञा से अभिहित करना न्याय संगत नहीं है। यही दशा शृगार काल और कला काल आदि के नामो की है। निस्सन्देह रीति के माध्यम से नायक-नायिकाओ के रसिकता प्रधान शृगार का निरूपण इस काल मे हुआ है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि उस समय काव्य की अन्य परम्परायें सर्वथा विलुप्त हो गई थीं। रीति पद्धति की प्रमुखता की स्वीकृति का कारण कदाचित् यह रहा है कि रीति कविता बहुधा अवध, बुदेलखड और राजस्थान के राज दरबारो मे पली, अत उसमे रीति-रचना, शृगारिकता एव अलकरण की प्रवृत्तियों की प्रमुखता है किन्तु इसके विपरीत आधुनिक अनुसधानों द्वारा कई महत्वपूर्ण नवीन तथ्य प्रकाश मे आये हैं। उक्त काल मे साहित्य की रचना केवल राज्याश्रय मे ही नही हुई बल्कि धर्माश्रय और लोकाश्रया मे भी प्रचुर साहित्य का प्रणयन हुआ जिसे किसी भी दशा में रीति पद्धति पर रचे साहित्य से गौण नही कहा जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व गुजरात, राजस्थान, पजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मिथिला जनपद मे सैकडो भक्त, सन्त सूफी तथा जैन कवियों की प्रशस्य शुद्ध भक्ति भाव से सवलित रचनाओ का पता चला है जिनके आधार पर नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि उक्त काल म उपलब्ध भक्ति काव्य परिमाण और साहित्यिक उत्कृष्टता की दृष्टि से यदि रीति पद्धति पर रचे साहित्य से बढकर नहीं, तो कम भी नही है। इसके अतिरिक्त उत्तर मध्य काल मे राज्याश्रय में प्रणीत साहित्य मे जहाँ शृ गार रस का चित्रण प्रधान विषय बना रहा, वहाँ वीर रस का निरूपण भी उससे गौण नहीं था। डॉ० टीकम सिंह तोमर ने अपने शोध प्रबन्ध मे १७०० से १६०० में रचित ६० वीर काव्यों की सूची प्रस्तुत की है। डॉ० जय भगवान गोयल ने पजाब और हरियाणा मे प्राप्त गुरुमुखी लिपि म निबद्ध २५ वीर काव्यों की सूचना दी है। इसके अतिरिक्त उक्त काल म रासो, रायस अथवा रास नामधारी ग्रथां तथा बात, बेल अथवा वचनिका नामधारी रचनाओ का पता चला है,

जिनमें वीर रस का अतीव कलात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। उपरिचर्चित वीर काव्यों में तत्कालीन राजनीतिक चेतना तथा युग बोध पर्याप्त मात्रा में हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल में काव्य की किसी एक प्रवृत्ति की प्रधानता नहीं रही है प्रत्युत् कई अनवरत धारायें समानान्तर रूप से समान वेग से चलती रही है, अतः विवेचित काल को उत्तर मध्य काल के नाम से अभिहित करना उचित प्रतीत होता है। डॉ० जय भगवान गोयल के शब्दों में "क्षेत्र विस्तार, सृजन की व्यापक आधार भूमि, नई सामग्री एवं नई कवि दृष्टि इस काल के साहित्य के पुनर्मूल्यांकन का पर्याप्त औचित्य प्रस्तुत करती है।"

(घ) परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार प्रायः आधुनिक काल के साहित्य को नाना युगों—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग, प्रगतिवाद युग, प्रयोगवाद युग तथा प्रयोगोत्तर युग में विभक्त कर दिया जाता है जो कि असंगत है। उपर्युक्त वर्गीकरण से युग विशेष की कविता का ही बोध संभव है जबकि तत्कालीन विपुल गद्य साहित्य उपेक्षित रह जाता है। वस्तु स्थिति इसके विपरीत है। आधुनिक काल के साहित्य पर विहगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त काल गद्य के लिए जितना अनुकूल है उतना कविता के लिए नहीं। अस्तु! आधुनिक काल की साहित्य सामग्री को काल खंडों की अपेक्षा उसे साहित्य रूपों और काव्य परम्पराओं में विभक्त करके उसका अध्ययन करना अधिक श्रेयस्कर है। उदाहरणार्थ आधुनिक काल के साहित्य को निम्नस्थ काव्य परम्पराओं में विभक्त किया जा सकता है— (१) स्वच्छन्दतावादी काव्य परम्परा (छायावादी), (२) समाज परक यथार्थवादी काव्य परम्परा (प्रगतिवादी) (३) व्यक्ति परक यथार्थवादी काव्य परम्परा (प्रयोगवादी) आदि।

इस प्रकार हम हिन्दी साहित्य का काल विभाजन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

१. प्रारम्भिक काल (आदि काल) वि० १२४१-१३७५
२ पूर्व मध्य काल (भक्ति काल ?) वि० १३७५-१७००
३ उत्तर मध्य काल (रीति काल ?) वि० १७००-१६००
४. आधुनिक काल वि० १६०० से अद्यावधि

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल के काल विभाजन के औचित्य की समीक्षा की है, हालांकि शुक्ल जी के पश्चात् अनेक इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनमें प्रायः काल विभाजन की दिशा में शुक्ल जी का अनुकरण किया गया है। इस दिशा में डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त का प्रयास नितान्त अभिनन्दनीय है। उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास" में पर्याप्त छानबीन और गहन अध्ययन के फलस्वरूप एक नवीन दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य के काल विभाजन को सुपुष्ट वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया है।

इस विषय में ध्यातव्य यह है कि उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य आचार्य शुक्ल जैसे कृती विद्वान के प्रति अवज्ञा के भाव का प्रदर्शन करना नहीं है किन्तु नवीन तथ्यों के आलोक में अपना विनम्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। यदि आचार्य शुक्ल के सामने आज तक के अनुसन्धानों से प्राप्त नवीन विपुल सामग्री होती तो निश्चयतः उनके काल विभाजन का रूप कुछ और होता। आचार्य शुक्ल का इतिहास लेखन का प्रयास एक ऐसा नींव का पत्थर है जिसके बिना किसी भी भव्य महल का निर्माण असम्भनीय है।

आदि काल (प्रारम्भिक काल)
(विक्रमी सं० १०५०–१३७५ ?)

काल की अविच्छिन्न धारा के समान साहित्यिक-परम्परायें और प्रवृत्तियाँ निरन्तर गतिशील रहा करती हैं। साहित्य में एक बार जो प्रवृत्ति उद्बुद्ध हो जाती है, उसमें अनुकूल एवं प्रतिकूल-परिस्थितियों के कारण तीव्रता और मन्दता की प्रक्रिया का होना तो सहज विश्वसनीय है, किन्तु उसका सर्वथा विलुप्त होना नितांत अकल्पनीय है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ विकास और ह्रास की प्रक्रिया से अनिवार्यतः सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ हिन्दी साहित्य में रासो तथा वीरगाथात्मक रचनायें, भक्ति की विविध धाराओं से सम्बद्ध नाना कृतियाँ, रीति-परक रचनायें, नीति तथा सूक्तिमयी उक्तियाँ और आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध-मुखी प्रवृत्तियाँ आदि किसी विशिष्ट काल में उद्भूत होकर काल के करालगर्त्त में सर्वथा निःशेष नहीं हो गई, कालक्रमानुसार उनमें वृद्धि और क्षीणता की क्रिया सतत् बनी रही है।

यद्यपि ज्ञान एक अद्वितीय और अखण्ड वस्तु है और उसका विभाजन कृत्रिम तथा अवैज्ञानिक व्यापार है, किन्तु बोध-सुकरता के लिए उसे कतिपय निश्चित खंडों, उपखंडों, शाखाओं एवं प्रशाखाओं में विभक्त कर लेने से अध्ययन में सरलता आ जाती है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि काल एवं खंड-विभाजन आदि स्वाभाविक और तर्क-संगत होना चाहिये जिससे साहित्य की समग्र प्रवृत्तियों के अवबोध के लिए यथेष्ट सहायता मिल सके। मनमाने कटघरों में साहित्यिक ज्ञान एवं सामग्री को बरबस फिट करना साधक न होकर बाधक होगा।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य की सामग्री के अध्ययन के लिए इसे वीरगाथा काल (आदि काल) सं १०५०-१३७५, भक्ति काल (पूर्व मध्यकाल) सं० १३७५-१७००, रीतिकाल (उत्तर मध्यकाल) सं० १७००-१९०० तथा आधुनिक काल (गद्य काल) सं० १९०० से अब तक चार कालों में विभक्त किया है। यद्यपि शुक्ल जी का उक्त काल-विभाजन विद्वानों के जगत् में प्रायः मान्य है, किन्तु हमारे विचारानुसार उक्त विभाजन पुनः समीक्ष्य है।

वीरगाथा काल का नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण—इसका नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण का प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक अधिकारी लेखक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने भिन्न मत दिये हैं। यहाँ हम विविध मतों के औचित्य

और मनौचित्य का पर्यवेक्षण करके समस्या के समाधान को खोजने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'मिश्र-बन्धु विनोद' नामक ग्रन्थ में विवेच्य काल को आदि काल के नाम से पुकारा किन्तु आचार्य शुक्ल ने इस युग में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथा काल' के नाम से अभिहित किया। शुक्ल जी के नामकरण के सम्बन्ध में तीन प्रमुख बातों का ध्यान देना आवश्यक होगा। पहली इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रचुरता, दूसरी जैनों द्वारा प्राचीन ग्रंथों को धार्मिक साहित्य घोषित करके उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल देना और इसी प्रकार नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान न देना, तीसरी मुख्य बात उन रचनाओं की है जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे मिलते हैं, किन्तु उनसे किसी विशेष प्रवृत्ति का निर्मित्त न हो सकना। आचार्य शुक्ल ने अपने *हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय निम्न* रचनाओं का उल्लेख किया है—

(१) विजय पाल रासो (नल्लसिंह कृत सं० १३५०)
(२) हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर कृत सं० १३५७)
(३) कीर्तिलता (विद्यापति कृत सं० १४६०)
(४) कीर्तिपताका (" " ")

(उपर्युक्त चारों पुस्तकें अपभ्रंश भाषा में हैं।)

देशी भाषा काव्य की आठ पुस्तकों का नाम निम्न है—

(५) खुमान रासो (दलपति विजय सं० ११८०-१२०५)
(६) बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह स० १२१२)
(७) पृथ्वीराज रासो (चन्दबरदाई स० १२२५-१२४९)
(८) जयचन्द्र प्रकाश (भट्ट केदार कृत सं० १२२५)
(९) जयमयंक जसचन्द्रिका (मधुर कवि कृत १२४०)
(१०) परमाल रासो (आल्हा का मूल जगनिक कृत सं० १२३०)
(११) खुसरो की पहेलियाँ आदि (अमीर खुसरो कृत सं० १२३०)
(१२) विद्यापति पदावली (*विद्यापति कृत सं० १४६०*)

आचार्य शुक्ल का वीरगाथात्मक प्रवृत्ति की स्थापना के लिए उल्लिखित अपभ्रंश की प्रथम चार रचनाओं को परिगणित कर लेना असंगत है। कदाचित् शुक्ल जी इस असंगति का कारण हिन्दी और अपभ्रंश को अभिन्न रूप में ग्रहण करना है। वे अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—'अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर मिलता है। मुंज और भोज के समय स० १०५० के लगभग में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में पाया जाता है।' इस प्रसंग में विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि हमें अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना

ही है तो फिर सं० ७०० में रचित अपभ्रंश काव्यों को हिन्दी साहित्य क्यों न मान लिया जाय और फिर कालिदास की रचनाओं में जहाँ छुटपुटे रूप में अपभ्रंश प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी हिन्दी साहित्य का अस्तित्व क्यों न स्वीकार कर लिया जाये। 'देसी भाषा' और 'पुरानी हिन्दी' की आड़ में समस्त अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में समाविष्ट करने की मनोवृत्ति कदापि स्वस्थ नहीं कही जा सकती है। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के समान हिन्दी-भाषा और उनके साहित्य का प्रादुर्भाव भी ईसा की तेरहवी शताब्दी मे हुआ। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास क्रम तथा भाषा शास्त्रीय दृष्टि से ऐसा मानना सगत भी है। यदि हम हिन्दी के प्रति अनन्य मोह का प्रदर्शन करते हुए इसे आठवी या ग्यारहवी शताब्दियो मे उद्भूत और विकसित मानते हैं तो इस सम्बन्ध मे एक जटिल प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक है, जब अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रादुर्भाव तेरहवी शताब्दी मे हुआ तो हिन्दी का उदय आठवी या ग्यारहवीं शताब्दी में कैसे और क्यों हुआ ? सभवत इस प्रश्न का उत्तर हमारे पास मीन मेष करने के सिवा और कुछ नहीं। हिन्दी के पूर्वरूपों की कल्पना के आधार पर अपभ्रंश साहित्य को बलात् हिन्दी में समेट लेना हितकर नहीं है। हिन्दी के इस प्रकार के पूर्वरूपो का आभास हमें प्राकृत लौकिक सस्कृत तथा वैदिक सस्कृत तक में मिल सकता है। (विशेषत हिन्दी की तत्सम शब्दावली का)। कोई सी भी प्रचलित भाषा अपने समय में देसी भाषा या लोक भाषा हो सकती है। हाल की प्राकृत में प्रणीत गाथा सतसई तत्कालीन देसी भाषा में लिखी गई। अब्दुर्रहमान का सदेश रासक भी देसी भाषा या लोक-भाषा का काव्य है। गाथा सतसई की भाषा प्राकृत है और सदेश रासक की भाषा असंदिग्ध रूप से अपभ्रंश है। इस काल मे रचित सिद्धों और जैनो के धार्मिक काव्यो रासो ग्रथों, लोक प्रेम सम्बन्धी खड काव्य, सदेश रासक तथा नीति और उपदेशपरक नाथों की वाणियों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश है। अपभ्रंश के सक्रमण काल में उपलब्ध होने वाले क्वचित् हिन्दी के पूर्वरूपो के आधार पर अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी या पुरानी हिन्दी के अन्तर्गत रखना नितान्त अवैज्ञानिक है। अग्रेजो के शासन काल में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हमारे प्रयत्न सतत गति से चलते रहे किन्तु भारत की वास्तविक स्वतन्त्रता १९४७ में ही मानी जायेगी। निस्सन्देह स्वतन्त्रता प्राप्ति के निमित्त किए गए राष्ट्रीय आन्दोलनो का अपना महत्त्व है किन्तु वे आन्दोलन स्वतन्त्रता नही कहे जा सकते। हाँ, उन आन्दोलनो ने स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत कर दी। इसी प्रकार वस्तु स्थिति यह है कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न-भिन्न भाषायें हैं। इसके अतिरिक्त जिन रचनाओं मे आचार्य शुक्ल का पुरानी हिन्दी का रूप आभासित हुआ है, वे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध अपभ्रंश की रचनायें हैं। दूसरे आचार्य शुक्ल ने बीसलदेव रासो और खुमान रासो आदि ग्रथो को पहले का रचित मान लिया है, जबकि १५वीं शताब्दी के बाद मे रचित सिद्ध हो चुके हैं। हम्मीर रासो और विजयपाल रासो की प्रामाणिकता सदिग्ध है। मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि खुमान रासो के रच-

मिता को रावल खुमान (स० ८७०) का समकालीन मानना गलत है। बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को मेमरिया ने गुजरात के नरपति नामक कवि से अभिन्न माना है जिसका समय स० १५४५ है। अपभ्रंश ने हिन्दी भाषा और साहित्य की पार्श्वभूमि अवश्य तैयार कर दी किन्तु वे स्वय हिन्दी नहीं हैं। शार्गंधर कवि के हम्मीर रासो की रचना का आधार प्राकृत पैंगलम् मे आये हुए कुछ पद्य हैं। यह ग्रंथ अभी तक प्राय अप्राप्य है। विजयपाल रासो को मिश्र-बन्धुओं ने स० १३५५ का ग्रन्थ स्वीकार किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी परवर्ती सिद्ध होता है। इसी प्रकार भट्ट केदार का जयचद प्रकाश स० १२२५ और मधुकर कवि कृत 'जयमयक जस चद्रिका' (स० १२४०) ग्रन्थ नोटिस मात्र है। 'राठोडाँ री ख्यात' नामक ग्रन्थ मे केवल उनका नामोल्लेख है, आज तक ये ग्रन्थ उपलब्ध भी नही हुए। शिवसिंह सरोज मे इन दोनो को शहाबुद्दीन गौरी के दरबार का कवि माना गया है। वस्तुत. जब तक ये दोनो पुस्तकें प्राप्त नही हो जाती तब तक इनके सम्बन्ध मे निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता है।

पृथ्वीराज रासो अर्द्ध-ऐतिहासिक रचना है। शुक्ल जी के अनुसार तो वह अप्रामाणिक ही है। जगनिक भट्ट का परमाल रासो या आल्ह खड अपने मूल रूप से बहुत दूर हो गया है। ख्याल है कि यह ग्रन्थ महाकवि तुलसी के समय मे नही था अन्यथा अपने पूर्ववर्ती साहित्य की शैलियो के कुशल समन्वय-कर्ता तुलसी इसका सरस और रोचक शैली का कही न कही अवश्य अनुकरण करते। अस्तु ! अधिक से अधिक हम इसे अर्द्ध ऐतिहासिक या अर्द्ध प्रामाणिक रचनाओ की कोटि मे रख सकते हैं।

खुसरो की पहेलियो मे प्रारम्भिक हिन्दी का स्वरूप अवश्य मिल जाता है परन्तु उसमे वीरगाथाओ की कोई भी प्रवृत्ति लक्षित नही होती।

रहे विद्यापति और उनके ग्रन्थ 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका' और विद्यापति पदावली।' आचार्य शुक्ल ने उनका रचना काल स० १४६० स्वीकार किया है। बडा ही आश्चर्य है कि ८३ वर्ष पूर्व समाप्त होने वाले वीरगाथा काल मे बेचारे विद्यापति को जबरदस्ती बिठा दिया गया। शुक्ल जी ने इसका कारण उनका अपभ्रंश मे काव्य-निर्माण करना बताया है। पर केवल इसी आधार पर उन्हें पीछे धकेल देना असगत है और यदि यह अभीष्ट था तो विद्यापति का परवर्ती अपभ्रंश भाषा मे लिखने वाले कवियो को भी इस स्वनिर्मित कठघरे मे बन्द क्यो नही कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विद्यापति की काव्य की प्रवृत्तियाँ वीरगाथा काल की अपेक्षा भक्ति और रीतिकालीन काव्य से अधिक साम्य रखती हैं। बीसलदेव रासो को शृगार प्रधान प्रेम काव्य मानना उचित है। वह तथाकथित वीरगाथाओ की कोटि मे नही आता है। उनके काव्य की भाव धारा वीर रस की नही अपितु भक्ति और शृगार को पुष्ट करती है, विषय उनका राधा कृष्ण है और शैली मुक्तक गीति की है। उनमें आश्रयदाता का कीर्तिगान इतना अधिक नहीं उभर पाया है जितना कि राधा कृष्ण का

श्रृंगारी चित्र। इससे सिद्ध होता है कि विद्यापति चन्दरवरदामी के साथी नहीं, प्रत्युत सूर और तुलसी, बिहारी की कक्षा में आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने जिन १२ ग्रन्थों को आदि काल के लक्षण निरूपण एवं नामकरण के लिए चुना उनमें अधिकांश ग्रंथ संदिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं, कुछ नोटिस मात्र हैं, और कुछ ग्रन्थों को हठात् सम्मिलित करके भानमती का कुनबा जोड़ने का विफल प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रन्थों के आधार पर वीरगाथात्मक प्रवृत्ति की जो मूलभित्ति तैयार की थी वह आज के नवीन अनुसंधानों के सामने बिल्कुल खिसक चली है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य धारा' में बौद्ध तथा नाथ सिद्धों और जैनियों की अनेक रचनाओं का संकलन किया है जो उपदेश मूलक और हठयोग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध सिद्धों की जिनमें सहजयान और वज्रयान के अनुयायियों की रचनाएँ आती हैं, का एक बृहत् प्रकाशन कराया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से प्रचलित अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बहुत-सी रचनाएं संस्कृत की हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरखनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने इन सबका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन से कराया था। यदि ये नवीन अनुसंधानों के फलस्वरूप उपलब्ध पुस्तकें आचार्य शुक्ल के सामने होतीं तो निश्चय था कि उन १२ तथाकथित वीरता प्रवृत्तिमूलक रचनाओं के आधार पर वीरगाथाकाल के नामकरण की मान्यता न बनाते क्योंकि ये बारह रचनाएँ आज भी उपलब्ध आदिकालीन साहित्यिक सामग्री के सम्मुख आटे में नमक के बराबर भी नहीं हैं।

शुक्ल जी ने मिश्र-बन्धुओं द्वारा गिनाई गई दस पुस्तकों 'भगवद्गीता' तथा वृद्धनवकारादि को जैन धर्म से सम्बन्धित कहकर उन्हें साहित्य की कोटि में नहीं रखा है। यहाँ पर भी शुक्ल कुछ भ्रान्त ही रह गए हैं। ये पुस्तकें धार्मिक होते हुए भी साहित्यिक उदात्तता से शून्य नहीं हैं। आचार्य हजारी प्रसाद का इस सम्बन्ध में कहना है "कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्य का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए, अन्यथा हमें संस्कृत की रामायण, महाभारत, भागवत एवं हिन्दी के रामचरितमानस, सूरसागर आदि साहित्यिक सौन्दर्य सवलित अनुपम ग्रन्थ रत्नों को भी साहित्य की परिधि से बाहर रखना पड़ जाएगा।"

"इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अन्य अपभ्रंश भाषा की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं *जिनमें उच्च कोटि का उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध होता है।* इनमें कुछ धर्म से सम्बद्ध हैं और कुछ लौकिक विषय प्रेमादि से। ये पुस्तकें संख्या में बहुत अधिक हैं जिनमें प्रमुख हैं—'संदेश रासक", "भविसयत कथा", "पउम चरिउ", "हरिवंश पुराण", "जसहर चरिउ", "पाहुड दोहा" आदि। ये पुस्तकें भी शुक्ल जी की दृष्टि में नहीं आई थीं अन्यथा वे एकान्तिक रूप से इस काल का नाम वीरगाथा काल न रखते।

सच तो यह है कि आदिकालीन साहित्य को देखते हुए हम निश्चित और अन्तिम रूप से किसी प्रवृत्ति की प्रधानता की ओर सकेत नही कर सकते। 'शायद ही भारत के इतिहास मे इतने विरोधी और व्याघातो का युग कभी आया होगा। इस काल मे एक तरफ तो सस्कृत के बडे-बडे कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज सरल भाषा मे अत्यन्त सक्षिप्त शब्दो मे अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। *श्रीहर्ष के नैषधचरित के अलकृत श्लोको के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण मे* आये हुए अपभ्रशो के दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल मे हुआ और दूसरी तरफ निरक्षर सन्तो के ज्ञान प्रचार का बीज भी इस काल मे बोया गया। यह काल भारतीय विचारो का मथन काल है और इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"

आचार्य शुक्ल के इस वीरगाथा काल नामकरण पर उनके निजी असन्तोष का आभास इनकी निम्न पक्तियों मे मिल जाता है—'इसी सक्षिप्त सामग्री को लेकर जो थोडा बहुत विचार हो सकता है उसी पर हमे सन्तोष करना पडता है।" वस्तुत इस सदिग्ध सामग्री के आधार पर किया गया विवेचन कई जगह असगत एवं दोष-पूर्ण बन गया है, जिस पर अर्वाचीन शोध कार्य से प्राप्त नवीन तथ्यो के प्रकाश मे पुनर्विचार करने की महती आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओ का परिचय देते हुए कहा है कि इस काल के अधिकाश कवि चारण थे। सभव है, डा० रामकुमार वर्मा ने वीरगाथा काल को इसी आधार पर चारणकाल कहा हो। पर उनकी यह धारणा सगत नही कही जा सकती। इस विषय में डा० गणपति चन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं। पर आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं डा० वर्मा के इतिहास के नवीनतम सस्करण तक मे इस काल की सीमाओ के अन्तर्गत लिखी गई एक भी प्रामाणिक चारण कृति का उल्लेख नहीं है और साथ ही स० १७१५ तथा १८९५ तक की रचनाओ को भी इस काल मे सम्मिलित कर लिया गया है। जब कि वे इस काल की उच्चतम सीमा सं० १३७५ ही स्वीकार करते हैं। यदि इन्ही चारणो को साहित्य मे विशेषता देनी ही थी तो चारण काल के स्थान पर चारण काव्य शीर्षक दे देते तो भी ये असंगतियाँ नही आती।" अर्वाचीन अनुसधानो से उपलब्ध आदि काल की साहित्यिक सामग्री के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन साहित्य मे चारण प्रवृत्ति आशिक रूप से भले ही हो, किन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है जिसके आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके। हमारा विवेच्य काल अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियो के सक्रमण का युग है जिनका उल्लेख हम डा० हजारीप्रसाद के शब्दो मे ऊपर कर चुके हैं।

महापडित राहुल ने प्रस्तुत काल को "सिद्ध सामन्त युग" के नाम से अभिहित

किया है और उन्होंने उसकी पूर्वापर सीमाएँ ८वी शती से १३वी शती तक निर्धारित की हैं। उन्हें इस काल के साहित्य में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं— सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति। सिद्धों की वाणी के अन्तर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष एवं उपदेशमूलक और हठ योग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं। इसके अन्तर्गत धार्मिक और आध्यात्मिक भाव-धारा से स्पंदित कुछ उत्कृष्ट जैन मतावलम्बी कवियों की रचनाएँ नहीं आतीं। राहुल जी की सामन्तों की स्तुति नामक प्रवृत्ति में चारण कवियों के चरित काव्य आते हैं, जिनमे कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का यशोगान किया है। इन काव्यों मे युद्ध, विवाह आदि का अति-शयोक्तिपूर्ण वर्णन है। राहुल जी के इस नामकरण से लौकिक रस से अनुप्राणित अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता है। इस नामकरण से विवेच्य काल के साहित्य की समूची प्रवृत्तियों का भी बोध नहीं हो सकता। सदेश रासक, विद्यापति की पदावली, पउमचरिउ (रामायण) इत्यादि अनेक रचनाएँ जिन की प्रवृत्तियों का परवर्ती साहित्य मे विकास हुआ, उपेक्षित रह जाती हैं। सांकृत्यायन जी का यह नामकरण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी असंगत है। उस काल को अपभ्रंश भाषा का पूर्ण यौवन काल कहा जा सकता है। इसमे हिन्दी का कोई निश्चित रूप नहीं मिलता है। राहुल जी ने पुरानी हिन्दी और अपभ्रंश को एक ही कह दिया है जो कि भ्रांति के सिवा और कुछ नहीं। राहुल जी अपनी पुस्तक "हिन्दी काव्य धारा" मे एक स्थान पर लिखते हैं—"जब हम पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं तो उस पर मराठी, उड़िया, बंगला, आसामी, गोरखाली, पंजाबी, गुजराती भाषा भाषियों को आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा भाषियों को। वस्तुत ये सारी आधुनिक भाषायें बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंशों से अलग होती दीखती हैं। वस्तुत इन सिद्ध सामन्त युगीन कवियों की रचनायें उपर्युक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि है।"

राहुल जी के उक्त कथन में एक बड़ी आश्चर्यजनक असंगति है। एक ओर वे अपभ्रंश को सभी अन्य भाषाओं की सम्मिलित निधि बताते हैं तो दूसरी ओर इस हिन्दी का एक ऐसा आधिपत्य स्वीकार करते हैं कि उसे पुरानी हिन्दी तक कह डालते हैं। हिन्दी प्रेम और भावुकता की दृष्टि से राहुल जी की पुरानी हिन्दी सम्बन्धी मान्यता एवं विश्वास भले ही ठीक हो परन्तु भाषा शास्त्र की दृष्टि से इसे नितान्त असंगत ही कहना होगा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल को "बीजवपन काल" के नाम से अभिहित किया है परन्तु यह नाम समीचीन दिखाई नहीं पड़ता। साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है क्योंकि इस काल में प्रायः अपने पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। साथ-साथ कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उद्भव हुआ जो

अपने समुचित विकसित रूप मे है। उस काल के साहित्य पर Literature infancy or infancy in literature की उक्ति लागू नहीं हो सकती। उस समय का कलाकार अत्यन्त सजग और उद्‌बुद्ध था।

इस दिशा मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रयास कुछ सफल कहा जा सकता है। उन्होने प्रस्तुत काल के साहित्य को अन्तर्विरोधो का साहित्य कहा है। उन्होने किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर इस काल के नामकरण को अनुपयुक्त ठहराया है और अन्तत घूम फिर कर इस काल को आदि काल के नाम से पुकारा है जो इसी ही रूप मे मिश्र बन्धुओ द्वारा पहले ही प्रतिपादित हो चुका था पर साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "वस्तुत हिन्दी साहित्य का आदि काल" शब्द एक प्रकार की भ्रानक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त मे यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियो से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नही है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढिग्रस्त सजग, सचेत कवियो का काल है।··· · यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नही है।" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपर्युक्त शब्दो से स्पष्ट है कि "आदि काल" नाम भी उस समूह के साहित्य के लिए सर्वथा निर्भ्रान्त एव नितान्त उपयुक्त नही है। उनके 'बुरा नही है' शब्दो मे अर्द्ध स्वीकृति ही ध्वनित होती है। उनके "आदि काल" के नाम के साथ पाठक या श्रोता को चेतावनी के रूप मे अपने मस्तिष्क मे सदैव एक लम्बा चौडा वाक्य "वस्तुत ······ ·· बुरा नही है।" वहन करना पडेगा अन्यथा भ्राति की सम्भावना ज्यो की त्यो बनी रहेगी। इससे तो "हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल" नामक शब्द उपर्युक्त रहेगा जिससे किसी भ्रात धारणा के फैलने की आशका तो न होगी क्योंकि प्रत्येक प्रकार का साहित्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे से गुजर कर आगे बढा करता है। वस्तुत सच तो यह है कि निरन्तर कई वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात् भी प्रस्तुत काल के नामकरण की समस्या ज्यो की त्यो बनी हुई है। इस सम्बन्ध मे गहरी छान-बीन और अनुसन्धान कार्य की महती आवश्यकता है।

प्रस्तुत काल के साहित्य की पूर्वापर सीमा को निर्धारित करने का प्रश्न भी कुछ कम विवादास्पद नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इस काल का आरम्भ स. १०५० और अन्त अन्त मे सं० १३७५ माना है। शुक्ल जी की इस मान्यता का आधार कदाचित् उनका प्राकृताभास, अपभ्रश एव देशी भाषा को हिन्दी मान लेना है। शुक्ल के बाद के इतिहास लेखको ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ अनुकरण किया है। उन्होने भी देशी भाषा काव्य को हिन्दी भाषा काव्य के रूप मे ग्रहण करके इस काल की सीमायें निर्धारित की हैं। महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने तो ८वी शती के अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कह कर अपने *सिद्ध सामत युग का आरम्भ इसी काल से मान लिया और इस काल* की अपर सीमा १३वी शती मानी। राहुल जी को यदि यही अभीष्ट है तो फिर ८वीं शती से पूर्व की शताब्दियो मे रचित अपभ्रश काव्यो को भी उन्हें हिन्दी साहित्य मे

सम्मिलित कर लेना चाहिए था। इसके साथ-साथ उन्हें अपने काल की अपर सीमा भी १६वीं शती तक खींच कर ले जानी चाहिए थी क्योंकि उस समय अपभ्रंश में किसी न किसी रूप में ग्रन्थों का प्रणयन होता ही रहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपेक्षित सतर्कता और दक्षता से काम लिया है। उन्होंने अपभ्रंश और हिन्दी को भिन्न-भिन्न रूप में समझा है और इन दोनों भिन्न भाषाओं को एक मानने वाले विद्वानों को सावधान भी किया है। उनका कहना है कि, 'यह विचार (अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी कहना) भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है।" द्विवेदी जी आगे चलकर कहते हैं "जहाँ तक नाम का प्रश्न है गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।" आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी का विकास लगभग १३वीं शताब्दी में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि 'हेमचन्द आचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।" द्विवेदी जी ने यहाँ आगे चलकर उस काल का परिमाण नहीं दिया है किन्तु इसका तात्पर्य कम से कम एक शताब्दी भी लें तो हिन्दी का विकास द्विवेदी जी की मान्यता के अनुसार हेमचन्द (१०८८ से ११७२ ई०) के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् लगभग १३वीं शती ई० सिद्ध होता है। उपर्युक्त तथ्य का समर्थन अनेक प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों और विद्वानों द्वारा भी हो चुका है।

(क) *सुनीति कुमार*—*"यह मालूम नहीं पड़ता कि यह हिन्दी ठीक-ठीक कौन* सी बोली थी, परन्तु सम्भव है कि यह व्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिंदुस्तानी के सदृश न होकर १३वीं शती में प्रचलित सर्व साधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि १३वीं या १४वीं शती ईसवी तक हमें हिन्दी या हिंदुस्तानी का दर्शन नहीं होता।" —भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, प्रथम सं० पृ० १६०

(ख) राहुल सांकृत्यायन—"वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषायें १२वीं-१३वीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं।"

—*हिन्दी काव्य-धारा पृ० ११,१२*

(ग) *उदय नारायण तिवारी*—*भाषा* हेमचन्द के पश्चात् १२वीं शती के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय १५५वीं शती के पूर्व तक का काल संक्रान्ति काल था, जिसमें भारतीय आर्य भाषायें धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी।

—हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास, पृ० १४०-१४१

(घ) नामवरसिंह—*"यह देश भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि १३वीं शताब्दी* तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया।"

—*हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, द्वि० सं०, पृ० ५४*

(ङ) बाबूराम सक्सेना—"विद्यापति के समय में आधुनिक भाषाओं का हिन्दी, मैथिली आदि नाम अभी प्रचलित नहीं हुआ था। भाषायें अभी अपभ्रंश ही कहलाती थी। नहीं तो विद्यापति एक ही वस्तु को देसिलवअना या अवहट्ठा नहीं कहते।' आगे डॉ० वर्मा ने कहा है—'कीर्तिलता के अपभ्रंश को मैथिली अपभ्रंश कहना उचित होगा।"

—कीर्तिलता विद्यापति कृत—भूमिका डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० १६-२०

उपर्युक्त मतों के अवलोकन के पश्चात् हम सहज रूप से एक निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी का विकास ग्राम्य या लौकिक अपभ्रंश से तेरहवीं शताब्दी के लगभग निश्चित होता है। इस तथ्य का समर्थन एक और बात से भी हो जाता है, वह यह है कि संदेश रासक के कर्त्ता अब्दुर्रहमान (११वीं शती) ने अपनी रचना में स्पष्ट रूप से कहा है कि वह एक ऐसी भाषा में रचना कर रहा है जो सर्व साधारण के लिए बोधगम्य हो। संदेश रासक की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंशों की कोटि में आती है। यदि अपभ्रंशों से निकली हुई हिन्दी आविर्भाव में आई होगी तो कम से कम एक डेढ़ शती के बाद ही। अत आधुनिक आर्य भाषा हिन्दी का अस्तित्व १३वीं शती में स्वीकार करना नितान्त समीचीन प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में १०५० सं० में हिन्दी का अस्तित्व और हिन्दी साहित्य का विकास मानना सर्वथा भ्रांत है।

एक और बात भी बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। वह यह है कि एक ओर तो आचार्य हजारीप्रसाद हिन्दी को ग्राम्य अपभ्रंशों का विकसित रूप मानते हैं और भक्ति काल के निरूपण के समय उस साहित्य को वास्तविक हिन्दी का साहित्य कहते हैं तो दूसरी ओर वे हिन्दी का साहित्य आरम्भ १०५० से और आदि काल की समाप्ति १३७५ तक मान बैठते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं, 'दसवीं शती से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोक भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है।" आगे चलकर वे लिखते हैं—'दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोक भाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुत वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्वरूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शती से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदि काल माना जा सकता है।" उक्त कथनों के अध्ययन के अनन्तर यहाँ कुछ प्रासंगिक बातों का विचार कर लेना आवश्यक है। सबसे पहली बात तो यह है कि १०वीं या ११वीं शताब्दी की अपभ्रंश की किस रचना की पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है ? मेरे विचार में निश्चित

रूप से किसी भी प्रामाणिक रचना की ओर संकेत नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत काल (दसवीं, ग्यारहवीं शती) की किस अपभ्रंश रचना में तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है? उदाहरणार्थ "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" का नाम लिया जा सकता है जिसमें ब्रह्मचारियों की परस्पर वार्तालाप की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदी जी स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक ही है। उस समय के जन साधारण के लिए लिखे गये किसी भी काव्य में भाषा की उक्त दोनों प्रवृत्तियों का दर्शन नहीं होता है और यदि किसी ग्रन्थ में छिटपुट रूप से एक दो शब्द उक्त प्रवृत्तियों के अनुरूप मिल ही जायें तो उनसे किसी भाषा के विकास का व्यापक प्रश्न हल नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं पर 'तिनउ' जैसे प्राकृत भाषा के शब्द आये हैं परन्तु उनके आधार पर प्राकृत भाषा का विकास वैदिक भाषा का समकालीन नहीं माना जा सकता है। भाषायें एक वृत्ताकार में रहकर यथा काल अपने विकास की दिशाओं को खोजा करती हैं तथाकथित पुरानी हिन्दी का छिटपुट रूप भले ही अपभ्रंश भाषाओं के प्रयोग में मिलने लगा हो, किन्तु यह तो सर्वथा निश्चित है कि वह उस समय तक साहित्यिक स्तर की भाषा नहीं थी।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि "देशी भाषा काव्य" नामक शब्द से इस काल निर्धारण सम्बन्धी भ्रांति को काफी पुष्टि मिली है। देशी भाषा से हमें उस समय की अपभ्रंश भाषा के लोक प्रचलित रूप को ग्रहण करना होगा। प्रत्येक भाषा की दो स्थितियाँ हुआ करती हैं। पहली स्थिति उसका लोक-प्रचलित रूप (Dialects) है और दूसरी है, उसका साहित्यिक रूप। वैदिक, प्राकृत, अपभ्रंश और आज की हिन्दी सब की दोनों स्थितियाँ रही हैं। साहित्यिक हिन्दी का रूप कुछ और है और हिन्दी की ग्रामीण बोलियों का रूप कुछ और। प्रत्येक काल की भाषा के लोक प्रचलित रूप के लिए देशी भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में उस समय की लोक प्रचलित भाषा के लिए "देशी भाषा" शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में तत्कालीन अपभ्रंश भाषाओं को देशी भाषा के नाम से अभिहित किया है। अतः देशी भाषा से हम अपभ्रंश को ग्रहण करना होगा न कि हिन्दी का। साहित्य नष्ट हो जाने की मनगढ़न्त कहानियों से शायद ही काम चले।

इस तथ्य को सभी भाषा वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि सं० १०५० के निश्चित मुहूर्त में हिन्दी का जन्म तो हो गया जबकि मराठी, बंगाली और गुजराती आदि आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव नहीं हुआ, हालांकि इन सब भाषाओं का उदय समान ही था। यदि दुर्जन-तोष-न्याय के अनुसार मान भी लिया जाये कि हिन्दी का उदय १०५० सं० में हुआ, तब भी उस समय की ऐसी कोई भी प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं होती है जिसके आधार पर इस तथ्य की पुष्टि हो सके।

हिन्दी साहित्य के आदि काल का लक्षण निरूपण करने मे जो पुस्तकें सहायक सिद्ध होती हैं, वे निम्न हैं—

(१) पृथ्वीराज रासो ।
(२) परमाल रासो ।
(३) विद्यापति की पदावली ।
(४) कीर्तिलता ।
(५) कीर्तिपताका ।
(६) सन्देश रासक—अब्दुर्रहमान कृत ।
(७) पउमचरिउ—स्वयभूकृत रामायण ।
(८) भविसयत कथा—धनपालकृत १०वी शती ।
(९) परमात्मप्रकाश-जोइन्दु कृत ।
(१०) बौद्ध गान और दोहा ।
(११) स्वयभू छद ।
(१२) प्राकृत पैंगलम् ।

उपर्युक्त पुस्तको मे स प्राय सभी पुस्तकें अपभ्र श मे रचित हैं। इनमे से दसवी या ग्यारहवी शती की कोई भी ऐसी रचना नही है जिनके आधार पर हिन्दी के उद्भव की कहानी को पूरे रूप से कहा जा सके । हाँ शालिभद्र सूरि की "भरतेश्वर बाहुबलिरास" (रचना काल १२४१ वि०) म हिन्दी के भावी रूप को देखा जा सकता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवी शती के ग्रन्त मे हिन्दी के चिन्ह मिलने लग गये होगे । इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदि काल की पूर्वापर सीमा निर्धारण का प्रश्न भी साहित्य-जगत् मे अभी तक प्रश्नवाची चिह्न ( ) से युक्त है ।

आदि काल की समस्या के सम्बन्ध मे डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के विचार विशेष अवलोकनीय हैं—"आदि काल की समस्या को सुलझाने का एक ही मार्ग है हम अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहो या दुराग्रहो को त्यागकर शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पहले इस बात का निर्णय करें कि हिन्दी साहित्य का उद्भव कब से होता है तथा फिर वे कौन-कौन सी प्रामाणिक रचनाएँ हैं जो भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं । इन रचनाओ के रचना काल एव उनकी प्रवृत्तियो के आधार पर ही इस काल की सीमा एव नामकरण का निर्णय किया जा सकता है।

हमारे विचारानुसार आदि काल को प्रारम्भिक काल की सज्ञा से अभिहित करना अधिक उचित है, क्योकि यह मानव मनोविज्ञान की अनुरूपता मे है। मानव मनोविज्ञान किसी भी कालावधि को सामान्यत तीन भागो मे बाटा करता है—प्रारम्भिक, मध्य तथा अन्त या आधुनिक । इस सम्बन्ध मे हिन्दी साहित्य का काल विभाजन नामक अध्याय मे विस्तृत चर्चा की जा चुकी है ।

सम्भव है कि आदि काल के नामकरण और इसके सीमा निर्धारण सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से चिरकालीन परम्परा को कुछ आघात पहुँचे, परन्तु मुझे आशा है कि अनुसंधित्सुवर्ग इस ओर अवश्य ध्यान देगा।

आदिकाल : युग की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति—भारतीय इतिहास का यह युग राजनीति की दृष्टि से अव्यवस्था, विशृंखलता, गृह-कलह और पराजय का युग है। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों से आच्छादित रहा दूसरी ओर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन के समान इसे खोखला करती रही। सम्राट हर्षवर्धन (सन् ६०६ से ६४३) के निधन के पश्चात् मानो एक प्रकार से उत्तरी भारत से केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो गया और राजसत्ता डाँवाडोल हो गई। ९वीं शती में प्रतिहार मिहिर भोज ने उसे फिर समेटा और सुव्यवस्था का क्षेत्र बनाया। उधर दक्षिण को राष्ट्रकूटों के साम्राज्य ने सम्भाल रखा था। इधर अरब में नवोदित इस्लाम ने सुदूर पश्चिम और पूर्व में अपने पैर पसारने चाहे। भले ही उसने बात की बात में मध्य एशिया और पश्चिम को रौंद और कुचल डाला पर वह अफगानिस्तान से आगे न बढ़ सका। अफगानिस्तान तब भारत के अन्तर्गत था। अब मुसलमानों ने सिंध को प्रवेश द्वार बनाना चाहा और सन् ७१०-११ में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिंध पर धावा किया। सिंध का राजा दाहिर और उसके पुत्र तिल-तिल भूमि के लिए लड़े परन्तु अन्त में हार गये। इस पराजय का कारण स्पष्ट है, *वहाँ के जाटों ने ब्राह्मण राजा दाहिर के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर* उस युद्ध में केवल उदासीनता ही नहीं दिखाई प्रत्युत आक्रमणकारियों का साथ दिया और वैयक्तिक स्वार्थ के लिए निज देश के हित को न्यौछावर कर दिया। इसी प्रकार सिंध के बौद्धों का इस आक्रमण के समय अपने ब्राह्मण राजा का साथ न देना भी इसी मनोवृत्ति को सूचित करता है। इस घटना से जनता की शासन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना के ह्रास का पता चलता है। फिर ७३६ ई० में तत्कालीन अरब सेनापति ने सिंध से कच्छ, दक्खिनी मारवाड़, उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट (दक्षिणी गुजरात) में प्रवेश किया। वहाँ चालुक्य सेनापति ने अरब सेना का पूर्णतया संहार किया। अरब सिंध तक ही सीमित रहे। ९वीं शती में वहाँ उनके छोटे-मोटे सरदार ही रह गये। ९वीं शती तक मुसलमान पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश न कर सके क्योंकि उस समय वहाँ शक्तिशाली राज्य थे। इनमें काश्मीर के सम्राट् ललितादित्य का विशिष्ट स्थान है।

उत्तरी भारत में *दसवीं ग्यारहवीं शताब्दियों में प्रतिहारों का राज्य* बना रहा फिर भी उसके दूर के प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। इन नये राज्यों में विशिष्ट थे—चेदि (दक्षिणी बुन्देलखण्ड), जुझौती (उत्तरी बुन्देलखण्ड), मालवा, गुजरात, साम्भर और गौड़। ९वीं शताब्दी में बुखारा के तुर्क आक्रमणकारियों से डर कर हिन्दू राजाओं

ने काबुल से हटकर अटक के समीप उदभांडपुर (ओहिंद) को अपनी राजधानी बनाया। कुछ समय के पीछे शाहि इसके स्वामी हो गए। १०वी शताब्दी के अन्त में गजनी का राज्य महमूद गजनवी के हाथ आया। उसने उक्त शाहि राज्य को बडी कठिनता से जीता। फिर पजाब और कागडा को लिया और अन्तर्वेद पर चढाई कर के मथुरा और कन्नौज लूटे तथा कन्नौज को करद राज्य बनाकर ग्वालियर और कालिंजर को लूटा। इसके अनन्तर सौराष्ट्र पर चढाई करके सोमनाथ मन्दिर से अपार धनराशि लूटी। जिन दिनो मे महमूद के उत्तरी भारत मे आक्रमण पर आक्रमण हो रहे थे, उन्ही दिनो दक्षिण का चोल राजा राजेन्द्र पूर्व मे अपने राज्य का विस्तार करने मे व्यस्त था। उसने उडीसा, छत्तीसगढ और बगाल तक को जीत लिया। महमूद के बाद मालवा के भोज और चेदि के कर्ण का प्रताप भी कम न था। उन्होंने कुरुक्षेत्र और कागडा से तुर्क आधिपत्य का अन्त कर दिया। यदि चोल राजा राजेन्द्र विदेशी आक्राता महमूद के प्रति अपनी शक्ति का प्रयोग करता तो निश्चय था वह इच भर भी भारत भूमि में न बढ़ पाता।

ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज मे गाहडवालो के शक्तिशाली राज्य थे। ११५० मे अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरो से दिल्ली और हासी से लेकर हिमालय तक अपना राज्य फैला लिया और पजाब से तुर्कों को पीछे धकेला।

गजनी में तुर्कों का अन्त करके शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी ने भारत जीतने की ठानी। कई बार हार कर भी उसने हिम्मत न हारी। अजमेर का शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज चौहान उस समय विदेशी आक्रमण के प्रति पूर्णत जागरुक न था। जब गौरी ने गुजरात पर आक्रमण किया तब उसकी सेना अजमेर की पश्चिमी सीमा आबू तक जाकर लौट आई और गौरी को रोकने की ओर ध्यान न दिया बल्कि उसी समय उसने जुझौती के राजा परमर्दिदेव से युद्ध छेड़ा, जिसमे दो देशी राजाओं की शक्ति का अपव्यय हुआ। कन्नौज के राजा जयचन्द के षड्यन्त्र के परिणाम-स्वरूप पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गौरी से पराजित हुआ और मारा गया। फिर कन्नौज और कालिंजर का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हुई और शनै शनै उसका विस्तार हुआ। यद्यपि उसका विरोध करने वाले सर्वत्र रहे और डट कर वे उसके सरदारों से लोहा लेते रहे फिर भी मुस्लिम पताका प्राय सारे उत्तरी भारत मे फहराने लगी।

राजनीतिक परिस्थितियो के सर्वेक्षण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओ में अपना राज्य फैलाने की लालसा लिये अनेक वीर थे किन्तु विदेशी आक्रमण के समय अपने पडौसी राज्य से उदासीन रहते थे। उनमे सकुचित राष्ट्रीयता थी। अपने दस-पचास गाँवो को ही राष्ट्र समझते रहे। व्यापक रूप से समूचे भारत को राष्ट्र नहीं समझा। यही कारण है कि वैयक्तिक वीरता होते हुए भी उन्हे पराजित होना पड़ा। यदि सम्मिलित रूप से विदेशी आक्रमणो का सामना किया गया होता तो

निश्चित रूप से भारत का मानचित्र आज कुछ और होता। उस समय सामन्तवाद का बोलबाला था। राजा की सर्वोपरि सत्ता के रूप मे समझा गया और उचित-अनुचित आज्ञा पर मर मिटना अपना धर्म समझा गया। जनता मे राजनीतिक चेतना का ह्रास हो चुका था और वह अन्त कलह, ईर्ष्या तथा द्वेष से बुरी तरह ग्रस्त हो चुकी थी। राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का यह काल पतन का काल कहा जाना चाहिये।

धार्मिक परिस्थितियाँ—इस काल में वैदिक और पौराणिक धर्म के विविध रूपों के साथ बौद्ध और जैन धर्म भी अपने वास्तविक आदर्शों से दूर हट गये। शकराचार्य (वि० ८४५-८७७) के प्रबल प्रहारो से बौद्ध धर्म को अत्यधिक आघात पहुँचा और वह अब जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र की सिद्धियो के चक्र मे ही पडकर रहा गया। उसने महायान, वज्रयान, सहजयान और मन्त्रयान आदि कई रूप धारण किये। इन सम्प्रदायो का व्यावहारिक पक्ष बडा ही अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। इन सम्प्रदायो मे अलौकिक शक्तियो की प्राप्ति और उनका प्रदर्शन ही सिद्धि समझा गया। सिद्धि लाभ के लिए गुप्त मन्त्रो का जाप, आचारविहीन गुप्त क्रियाओ—विशेषकर निम्न वर्ग की नारियों से भोग आदि को अपनाया गया। इनकी योगिनियो के द्वारा मनुष्य की कामुकता को खूब बढावा मिला। चमत्कार प्रदर्शनार्थ निरीह जनता को ठगने की प्रवृत्ति बढी। नैतिक स्तर गिरा और धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार होने लगा।

बौद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों के पाचरात्र, शैवो के पाशुपत, कालमुख कापालिक और रसेश्वरादि सम्प्रदायो मे भी बौद्ध सप्रदायो की पूजा-पद्धति का अनुकरण होने लगा। शाक्तो मे आनन्द भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी, ललितादि की अर्चना की यही प्रणाली है। जैन सम्प्रदाय मे भी इसी तान्त्रिक वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ। इस प्रकार समाज का बहुत बडा क्षेत्र उस वामाचार एव विकृत धर्म का क्रीडा-क्षेत्र बना। यह सारी प्रक्रिया समाज के निम्न वर्ग मे चलती रही। बीच-बीच मे समाज को इन वामाचारियो के चगुल से बचाने के भी प्रयास होते रहे। नाथ योगियो ने बहुत कुछ वज्रयानियो की तान्त्रिक उपासना पद्धति को अपनाया किन्तु आगे चलकर गुरु गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय में योग की प्रतिष्ठा की जिसमे सयम और आचार के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार तमिलनाड के वैष्णव भक्त आलवार और शैवभक्त नायन्मार भक्ति के लोक हितकारी रूप को लेकर आये।

शंकर, रामानुज और निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किन्तु लोक-व्यवहार के लिए शिव और नारायण की उपासना की पद्धति चलाई। साथ ही नैष्ठिक हिन्दुओ मे आचार, विचार व्रत, पूजादि की वैसी वृद्धि हुई जैसी जैनो में। पुराने धर्म को मानने वालो मे वाममार्ग की निन्दा करने मे कोई कसर नही उठा रखी थी और दूसरी ओर वाममार्गियो ने इनकी पगडी उछालने में क्षति कर दी थी। निःसदेह उस समय का धार्मिक वातावरण अत्यन्त दूषित हो गया था। इस समय पुरोहितों और गुह्य भावना की प्रधानता थी।

अपभ्रंश में लिखित चौरासी सिद्धों और नाथ पंथियों का साहित्य बौद्ध धर्म के विकृत सम्प्रदायो की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिचय है। शंकर आदि आचार्यों के आन्दोलन का प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर विशेष रूप से नहीं पड़ा, भक्तिकालीन साहित्य पर पड़ा है।

इसी समय इस्लाम धर्म भी अपने अनुयायियो की विजय प्राप्ति तथा आतंक के फलस्वरूप पनपने लग गया था पर इसका प्रभाव आदिकाल साहित्य पर नहीं पड़ा।

सामाजिक परिस्थितियाँ—जिस युग में धर्म और राजनीति की दीन-हीन दशा हो उसमे उच्च सामाजिकता की विशेष आशा नहीं की जा सकती है। अब जाति गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर मानी जाने लगी। एक जाति की अनेक उपजातियाँ होने लगीं। छूआछूत के नियम भी बड़े कड़े होते गये। हिन्दू जाति की पाचन शक्ति का प्राय ह्रास हो चुका था। अलबरूनी इस सम्बन्ध में लिखता है—उन्हें (हिन्दुओ को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध करके फिर ले लें।" उस समय के रूढिग्रस्त धर्म के समान समाज भी रूढिग्रस्त हो चुका था। उस समय सामन्ती वीरता और वंश कुलीनता का बोलबाला था। राजपूत जाति की एक उल्लेखनीय विशेषता थी—वीरता और आत्मोत्सर्ग। राजपूत नारियाँ भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं रहीं, जौहर उनके आत्म-बलिदान और शौर्य का प्रतीक है। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक अन्य सामाजिक विशेषता थी। बड़े आश्चर्य की बात है कि कभी कभी स्वयंवर जैसे पवित्र धार्मिक कृत्यों पर खून की नदियाँ बह जाया करती थीं। राजपूत दृढप्रतिज्ञ स्वामिभक्त तथा ईमानदार थे किन्तु वे कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी नहीं थे। जहाँ उनमे युग के प्रति रुचि थी वहाँ उनमे भोग विलास के प्रति भी खूब आसक्ति थी। उस समय के जन-सामान्य में मनोबल की कमी थी। इस सामाजिक अवस्था का चित्र तत्कालीन हिन्दी साहित्य में पूर्ण रूप से चित्रित हुआ है तत्कालीन काव्यों के अध्ययन से उस समय की सामाजिक दशा के ह्रासोन्मुख होने का पता चलता है। राजाओं का जीवन विलासमय था। ऐश्वर्याभिभूत नृपति वर्ग का अधिकांश समय अन्तपुर मे अपनी महिषियों, उपपत्नियो तथा रक्षिताओं के साथ रंगरेलियो मे बीतता था। राजा बहुपत्नीक थे। राजकुमारो को राजनीति व्याकरण, तर्क शास्त्र, काव्यों, नाटक, वात्स्यायन, रचित काम शास्त्र, गणित, नवरस, मन्त्र, तन्त्र एवं वशीकरणादि की नाना विधियों की शिक्षा' दी जाती थी। स्त्री के सम्बन्ध में उस समय के समाज की धारणा कोई उच्च नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री-मात्र समझा गया। बीसलदेव-रासो की नायिका के करुण क्रन्दन में कदाचित् मध्ययुगीन रसिक पुरुष की वासना से अभिभूत तत्कालीन नारी-समाज का चीत्कार ध्वनित हो उठा है—

अस्त्रीक जन्म काँई दीधउ महेस ।
अवर जन्म थारइ घणा रे नरेश ॥

साहित्यिक परिस्थितियाँ—नि सन्देह यह युग भीतरी कलहों और बाह्य संघर्षों का युग था फिर भी इसमे संस्कृत साहित्य का निर्माण होता रहा। ज्योतिष दर्शन और स्मृति आदि विषयो पर टीकाएँ और टीकाओ पर भी टीकाएँ लिखी जाती रही। नाटक, कविता आदि के क्षेत्र मे जहाँ पहले भवभूति और राजशेखर जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार हुए वहाँ अब पाण्डित्य प्रदर्शन और अलकार-चमत्कार दिखाना ही कवि-कर्म समझा जाने लगा। बारहवी शताब्दी मे श्री हर्ष की "नैषध-चरित" इस बात का प्रमाण है। धारा का शासक भोज जहाँ स्वय उच्च कोटि का विद्वान् था वहाँ कवियो का आश्रयदाता और पालक भी था। भोज के "सरस्वती कण्ठाभरण" और "शृगार प्रकाश" संस्कृत काव्य शास्त्र की अमर निधियाँ हैं। राजा भोज की राज-सभा मे पद्मगुप्त और धनिक जैसे विद्वान् मौजूद थे, जयदेव जैसे सुकवि, कुन्तक, महिम भट्ट, क्षमेन्द्र हेमचन्द्र और विश्वनाथ जैसे तत्त्वविद् आचार्य और सोमदेव जैसे काव्यकार इसी समय मे हुए। पर आदिकाल के हिन्दी साहित्य पर इसका कोई प्रभाव नही पडा। कल्हण (सन् ११४६) ने राजतरगिणी लिखकर एक नई दिशा में पग रखा। इस काल मे निर्मित संस्कृत साहित्य को देखकर कहा जा सकता है कि शनै शनै उसमे नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का ह्रास होने लग गया था। उस समय अपभ्रश और देशी भाषा मे रचित रचनाओं मे भी प्राय यही बात है। इनमें अधिकतर धार्मिक विचार हैं। लगता है जैसे उन्हें दैनिक जीवन के घात-प्रतिघातो और राजनीतिक उथल पुथल से कोई सरोकार नही था।

इस काल मे वज्रयानी और सहजयानी सिद्धो, नाथ पथी योगियो, जैन धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियो एव गृहस्थ उपासको और वीरता तथा शृगार का चित्रण करने वाले चारणो, भाटों आदि की रचनाएँ विशेष रूप से हुई। कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने अन्य विषयो मे कविताएँ की। इन सब का पृथक्-पृथक् रूप से आगे वर्णन किया जायेगा।

सास्कृतिक परिस्थितियाँ—आदि काल हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो के परस्पर मिलन का काल है। हर्ष वर्धन के समय हिन्दू सस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ हो चुकी थी। उसे राष्ट्र व्यापी एकता तथा जातीय गौरव प्राप्त हो चुके थे। सगीत, चित्र मूर्ति एव भवन-निर्माण आदि कलाओ मे जातीय गौरव सर्वत्र अभिव्यक्त हो रहा था। विशेषत सभी ललित कलायें धर्म से अनुप्राणित थीं। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो, सोमनाथ, बेलोर कांची, तजौर तथा आबू के भव्य मन्दिर आदि काल की अद्भुत विभूतियां हैं। अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरो की भव्यता, विशालता तथा धर्मानुप्राणिता को देखकर आश्चर्य चकित रह गये थे।

यद्यपि अरब और फारस देशो मे आठवी-नवी शताब्दी मे सूफी मत का उदय हो चुका था किन्तु भारत में उसके उदार स्वरूप का प्रदेश तब तक न हो सका था क्योंकि भारत मे आने वाले मुस्लिम ---ात्मा और तसव्वुफ की उदार भावना के समर्थक

न थे। अत दोनों संस्कृतियाँ तनाव की स्थिति में एक दूसरे को सन्देह व शंका की दृष्टि से देखती रहीं। इस काल में अब हिन्दू संस्कृति धीरे धीरे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने लगी। अब भारत के उत्सव, मेलों, त्यौहारों, वेश-भूषा, आहार विवाह तथा मनोरंजन आदि पर मुस्लिम रंग मिलने लगा। यहाँ के गायन, वादन तथा नृत्य पर मुस्लिम छाप स्पष्ट है। भारतीय संगीत में सारंगी, तबला तथा अलगोजा जैसे वाद्यों का समावेश इसका स्पष्ट प्रमाण है। मुस्लिम बादशाहों के अनुकरण पर हिन्दू नरेशों के राजदरबारों में मुस्लिम कलायें प्रवेश पाने लगीं। मूर्ति कला को छोड़ कर अन्य भारतीय ललित कलाओं में मुस्लिम कला की कलम गहरे रूप से लगी।

सिद्ध साहित्य

भारतीय साधना के इतिहास में ८वीं शती में सिद्धों की सत्ता देखी जा सकती है। सरहपा का समय ८१७ ठहरता है। ये सिद्ध कौन थे इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। सिद्ध परम्परा को बौद्ध धर्म की विकृति मानना चाहिए। बुद्ध का निर्वाण ४८३ ई० पू० में हुआ। बुद्ध निर्वाण के ४५ वर्ष पश्चात् तक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ। इस धर्म की विजय-दुन्दुभि देश तथा विदेशों में बजती रही। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा के प्रतिक्रिया-रूप में हुआ। यह धर्म सहानुभूति और सदाचार के मूल तत्वों पर आधारित था।

ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान तथा हीनयान दो शाखाओं मे विभाजित हुआ। हीनयानी छोटे रथ के आरोही थे और महायानी बड़े रथ के आरोही। हीनयान शब्द का प्रयोग महायान सम्प्रदाय वालों की ओर से व्यंग्यात्मक रूप से हुआ। हीनयान में सिद्धान्त पक्ष का प्राधान्य रहा जबकि महायान में व्यावहारिकता था। महायान वाले अपनी गाड़ी में ऊँचे नीचे, छोटे-बड़े गृहस्थी, सन्यासी सबको बैठा कर निर्वाण तक पहुँचा सकने का दावा करते थे। हीनयान केवल विरक्तों और सन्यासियों को आश्रय देता था। इसम ज्ञानार्जन, पाडित्य और व्रतादि की प्रधानता बनी रही। महायान वैष्णवों की भक्ति से अत्यन्त प्रभावित हुआ और इसका व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञान काड से जुड़ गया।

वैसे तो गुप्त नरेशों के समय में बौद्ध धर्म को आघात पहुँच चुका था किन्तु वीं शती में कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने इसकी जड़ें तक हिला दीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत का धर्म भारत से निर्वासित हो गया। तिब्बत, नेपाल और बंगाल में इसे शरण मिली। अब यह धर्म शंकर के शैव धर्म से प्रभावित हुआ और इसने जनता को अपने आश्रय में लाने के लिए तन्त्र मन्त्र एवं अभिचार का आश्रय लिया। जो धर्म वैदिक धर्म की कर्मकांड की उलझनों की प्रतिक्रिया में उठा था वही समाधि, जन्त्र-मन्त्र, डाकिनी-शाकिनी, भैरवी-चक्र, मद्य मैथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा। जिस धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं

लिया था, कालान्तर में उसी में बुद्ध की भगवान् के रूप में पूजा होने लगी और आगे चलकर तन्त्र ने इस धर्म को अपनी मूल दिशा से एकदम नई राह में मोड़ दिया। अब इसमें त्याग और संयम का स्थान भोग और सुख ने ले लिया। निवृत्ति-परायण धर्म में प्रवृत्ति प्रबल हुई और साधक "सर्वतथागतात्मकोऽहं" जैसे मन्त्रों को जप कर अपने आपको बुद्ध समझने लगा। इस प्रकार महायान मन्त्रयान बन गया। आगे चलकर इसके भी दो टुकड़े हो गये वज्रयान तथा सहजयान जो सचमुच अपनी गाड़ी को इतना मजबूत और सहज बना सके कि उसमें पाण्डित्य और कृच्छ्र-साधना का कोई अंग ही नहीं रहा। आगे चलकर वाम मार्ग भी इसी से निकला जो विकृत अवस्था का एक हीन चित्र है।

मन्त्रों द्वारा सिद्धि चाहने वाले सिद्ध कहलाये। उत्तरी भारत में शंकर के मत के प्रचार से बौद्ध धर्म के लिए केवल दक्षिणी भारत में स्थान रह गया था। आन्ध्र नरेश से इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। श्री पर्वत सिद्धों का प्रधान केन्द्र था। "मन्जू श्री" और "मूल कल्प" नामक ग्रन्थ यहीं लिखे गये। राजशेखर की "कर्पूर मंजरी" पर सिद्धों का स्पष्ट प्रभाव है। पाल शासकों ने बंगाल और बिहार पर अपना आधिपत्य जमा लिया था, अतः सिद्धों का प्रचार वहाँ भी हुआ, वहाँ इनकी मगही भाषा में रचनाएँ मिलती हैं। "विक्रम शिला" बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी काल में हुई। इन सिद्धों के बंगाल और बिहार में अत्यधिक प्रचार के कारण कदाचित् बंगाल का जादू प्रसिद्ध हो सका।

यद्यपि वज्रयानी परम्परा को लेकर इन सिद्ध कवियों ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किन्तु इन सिद्धों में विशेष बात यह थी कि वे ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन पर बल दिया। इसके लिए स्त्री का सेवन संसार रूपी विष से बचने के लिए था। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्ति के कारण सिद्ध साहित्य में भोग में निर्वाण की भावना मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास के कारण सिद्धों का सिद्धान्त पक्ष सहज मार्ग कहलाया।

चौरासी सिद्धों का समय ७९७ से १२५७ तक माना गया है। हमें १४ सिद्धों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। सरहपा, शबरपा आदि इनमें प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सिद्ध के नाम के पीछे "पा" शब्द जुड़ा हुआ है।

धर्मवीर भारती ने सिद्ध साहित्य में उपलब्ध होने वाली अश्लीलता पर आध्यात्मिकता का आरोप करना चाहा है किन्तु हमारे विचार में उस पर रहस्यात्मक प्रतीकात्मक आरोपित करना असंगत है।

डॉ० भारती ने सिद्धों के प्रतोपादानात्मक साहित्य को साधारणजन के आस्वाद का विषय न बताकर उसे मुमुक्षु जनों के लिए निर्मित बताया है। उन्होंने सिद्धों की शब्दावली की दार्शनिक व्याख्या करते हुए इसे आध्यात्मिक घोषित कर सिद्ध साहित्य के उत्कट भोगवाद का गौण सिद्ध करना चाहा है, किन्तु हमारा विचार है कि सिद्धों का तथाकथित रहस्यवादी साहित्य किसी भी कारण अलौकिक प्रेम का काव्य नहीं

कहा जा सकता है। सिद्ध साहित्य में गहन रहस्यात्मक अनुभूतियों की खोज समस्त तांत्रिक धारा के प्रवाह को प्रतीपी दिशा मे मोडने के अनावश्यक प्रयत्न के सिवाय और कुछ भी नही है। कभी ऐसा अवश्य था जबकि समस्त सिद्ध साधना और तत्कालीन समाज अश्लीलता और कामुकता के प्रवाह में बेसुध हो चला था। यही कारण है कि इस बढती विलासिता का प्रतिवाद गोरखनाथ को करना पडा था—

"चारि पहिर आलिंगन निद्रा, ससार जाई विषया वाही।"

सिद्ध प्राय अशिक्षित और हीन जाति से सम्बन्ध रखते थे, अत उनकी साधना की साधन भूत मुद्रायें—कापाली, डोम्बी आदि नायिकायें भी निम्न जाति की थी क्योंकि उनके लिए ये ही सुलभ थी। इनकी साध्य भाषा की उलझी हुई शब्दावली मे उनके अधकचरे दार्शनिक (psudo philosphers) होने का आभास भले ही मिल जाय किन्तु असल मे वे दार्शनिक नही हैं और न ही दर्शन की कोई ऊँची वस्तु देना उनका उद्देश्य था। उन्होंने धर्म और आध्यात्म की आड मे जन जीवन के साथ विडम्बना करते हुए नारी का उपभोग किया। बस यही उनका चरम गन्तव्य था। उनके कमल और कुलिश योनि और लिंगन के प्रतीक मात्र हैं।

सिद्धो की कुछ रचनाएँ अपभ्रंश भाषा मे हैं यह भाषा अर्धमागधी अपभ्रंश के निकट की है। इसे सध्या भाषा भी कहा जाता है क्योंकि यह भाषा अपभ्रंश के सध्या काल मे प्रचलित थी।

इनकी रचनाओ मे शान्त और शृगार रस उपलब्ध होते हैं। भले ही काव्य लक्षणो के अनुसार इनकी रचनाओ मे रस का परिपाक न हुआ हो परन्तु उसमे अलौकिक आनन्द तथा आत्म-तोष का प्रवाह अवश्य है। उसे अलौकिक रस कहा जा सकता है। यही रस कबीर, मीरा और दादू की रचनाओं में मिलता है। उदाहरणार्थ सरहपा की दो पक्तियाँ देखिए—

जब्वे मण अत्थमण जाइ, तणु तुट्टइ बधण।
तब्वे समरस सहजे वज्जइ सुद्ध न बम्हण॥

सिद्ध साहित्य मे दोहा, चौपाई और चर्या गीत आदि छन्द मिलते हैं।

सिद्ध साहित्य के विविध रूप—सिद्धो के साहित्य को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है—(क) नीति तथा आचारमय, (ख) उपदेशात्मक, (ग) साधना-सम्बन्धी अर्थात् रहस्यवादी। इसके अतिरिक्त सिद्ध साहित्य मे फुटकर रूप के कतिपय काव्य शास्त्रीय बातो की भी प्रासगिक रूप से चर्चा मिलती है। सिद्ध साहित्य मे साधक तथा डोम्बी और शबरी आदि परस्पर अमाश्रय और आलम्बन हैं। गुरु दौत्य कार्य सम्पन्न करता है कापालिका आदि नायिकाओ को स्वकीया, परकीया सामान्या, प्रौढा, मुग्धा, मध्या एव अभिसारिका आदि की कोटि मे रखा जा सकता है। चर्या पदो मे शृगार के नायकारब्ध तथा नायिकारब्ध दोनो रूप मिलते हैं। उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत नायिका का सौन्दर्य तथा प्राकृतिक वर्णन आते हैं।

सिद्धादि तांत्रिक सम्प्रदायों की सामान्य प्रवृत्तियाँ—सिद्धों के तांत्रिक सम्प्र-

दाय के समानान्तर काल मे शैवागमो के कापालिक रसेश्वर जगम पाशुपत लिंगायत प्रादि सम्प्रदायो का प्रचलन हुआ। शाक्तो के वीर आदि सम्प्रदाय वैष्णवों के पांचरात्र आदि-सम्प्रदाय तथा नाथ सम्प्रदाय आदि भी उस समय निज-निज मन्तव्यों के प्रसारणमे परायण थे। उक्त सभी सम्प्रदाय भारतीय धर्म साधना के मध्य युगीन तांत्रिक प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित थे। निःसन्देह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की पारिभाषिक शब्दावली मे थोडा बहुत अन्तर रहा हो किन्तु इस रूप मे प्रवृत्तिगत एकता दृष्टिगोचर होती है—

सामान्य प्रवृत्तियाँ—(१) प्रत्येक तांत्रिक सम्प्रदाय मे देवता, मन्त्र और तत्व दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न है, किन्तु साधना पद्धति सबकी समान है।

(२) प्रत्येक सम्प्रदाय मे शास्त्रीय चिन्तन पक्ष गौण था। साधना क्रिया और चर्यापदो की प्रमुखता थी। साधनापक्ष मे गुरु को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया। तान्त्रिक साधन में शिव-शक्ति, लिंग-भग, प्रज्ञा-उपाय, रस-अभ्रक आदि की अद्वय स्थिति पर अत्यधिक बल दिया है।

(३) तान्त्रिक सम्प्रदायो की साधना पद्धति मे शिव और शक्ति की युगनद्धता और उनकी मिथुनात्मक व्याख्या मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय की साधना में गुह्याचारो पर अत्यधिक बल दिया गया है।

(४) तान्त्रिक साधना मे जाति-पाति और वर्ण भेद आदि की भरसक निन्दा की गई है।

(५) इन सम्प्रदायो मे योग साधना पर अत्यधिक बल दिया गया है। तान्त्रिक साधना के लिए शरीर-शुद्धि प्रथम आवश्यक उपलब्ध है। ब्रह्माड मे जो शिव और शक्ति है शरीर मे वही सहस्राधार और कुण्डलिनी है। उनकी अद्वयता के लिए योग-साधना अनिवार्य है।

(६) मिथुनात्मकता साधना की निरूपण पद्धति सर्वथा सांकेतिक है।

(७) प्रत्येक सम्प्रदाय मे वैदिक देवताओ के प्रति अनास्था प्रकट की गई है और उनके स्थान पर लोक देवताओ और उनकी असंस्कृत पूजन पद्धतियों का प्रश्रय दिया गया है।

(८) सब सम्प्रदायो ने ब्राह्मणवाद की पौराणिक रूढियो का खडन और वेदो के प्रति असम्मान दर्शाया है।

(९) तान्त्रिक साधना मे मरणोपरान्त मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा जीवन काल मे सिद्धियो को प्राप्त करना श्रेयस्कर बताया गया है।

(१०) चमत्कार प्रदर्शन सभी सम्प्रदायों मे समान रूप से मिलता है। मन्त्र-यन्त्र और बीजाक्षरो का प्रचलन सब सम्प्रदायो मे समान रूप से हुआ। सब सम्प्रदायो मे गुह्य साधना के व्याज से कामशास्त्रीय विधियो का समावेश परोक्ष रूप से हुआ है।

(११) तान्त्रिक काल मे उद्भूत वैष्णवो के पाचरात्र सम्प्रदाय मे उपासना के

चार अंग स्वीकार किये गये हैं—ज्ञानपद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। क्रियापाद का सम्बन्ध मूर्तियों और मन्दिरो के निर्माण से है और चर्यापाद का सम्बन्ध मंत्रों एव तन्त्रो की व्याख्या से है। इस प्रकार चमत्कार प्रिय युग मे मन्दिरो और मूर्तियों के निर्माण मे कृत्रिमता और अलंकरण-प्रियता को स्थान मिलने लगा। इस प्रकार रीतिकाल मे कलागत जिस सज्जावाद चमत्कारिकता और कृत्रिमता के दर्शन होते हैं, उसका प्रारम्भ तांत्रिक काल मे ही हो गया था। यह दूसरी बात है कि रीतिकाल के सामन्ती प्रभाव तथा ईरानी कलाओं के मिश्रण की प्रक्रिया से उक्त प्रवृत्तियों में और भी गहरा रग उभर आया हो। रीतिकाल मे कलागत अलंकरण और चमत्कृति-प्रियता के लिए केवल मुगल शासन ही उत्तरदायी नहीं है। उसके मूल बीज इस धरती पर पहले से विद्यमान थे। काव्य क्षेत्र मे अलकार रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय इसके उदाहरण हैं। मध्ययुगीन भारतीय स्थापत्य कला भी इस विषय मे साक्षात् निदर्शन है।

सिद्ध साहित्य का प्रभाव एव महत्त्व—चारण साहित्य तत्कालीन् राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है परन्तु यह सिद्ध साहित्य सदियो से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का एक स्पष्ट उल्लेख है। इसने हमारे धार्मिक विश्वास की शृंखला को और भी मजबूत किया है। आगे पूर्व मध्यकाल एव उत्तर मध्यकाल मे जो गोपी-लीला एव अभिसार के वर्णन मिलते हैं, सिद्ध साहित्य में उसका पूर्व रूप देखा जा सकता है। सिद्धो की उलझी हुई उक्तियां को कबीर की उलटबाँसियों का प्रेरक समझना चाहिए।

भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सन्त साहित्य का आदि इन सिद्धो को, मध्य नाथपंथियों को और पूर्ण विकास कबीर से आरम्भ होने वाली सन्त परम्परा मे नानक, दादू और मलूक आदि को मानना चाहिए। भक्तो के अवतारवाद पर महायान शाखा का विशेष प्रभाव है। डा० हजारीप्रसाद का कहना है कि भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव है, ईसाई मत का कोई प्रभाव नही है। सिद्ध साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक ने लिखा है — "जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धो की वाणी ने सजीवनी का कार्य किया। निराशावाद के भीतर से आशावाद का सन्देश देना, ससार की क्षणिकता मे उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धो की कविता का गुण था और उसका आदर्श था जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकाल कर मनुष्य को महासुख के शीतल सरोवर मे अवगाहन कराना।"

आचार्य शुक्ल सिद्धो और नाथो के साहित्य को धार्मिक एव साम्प्रदायिक कहकर उसे शुद्ध रागात्मक साहित्य की कोटि मे स्थान नहीं देते। उनका कहना है—'उनकी (सिद्धों, नाथो, जैनो) रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियो, अनुभूतियो और दशाओ से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं अत

युद्ध साहित्य की कोटि मे नही आ सकती। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की ओर धारा नही कह सकते।" हमारा विचार है कि आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओ का महत्व आंकते समय पूर्ण न्याय नहो किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा के विचार इस सम्बन्ध मे अवलोकनीय हैं—'सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात मे बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढग से प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तो केवलमात्र तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियो से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह साहित्य एक महत्त्वपूर्ण काल है।"

साहित्यिक उदात्तता और परिपक्वता की दृष्टि से उक्त साहित्य कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नही है और कदाचित् इसीलिए यह उपेक्षणीय भी रहा है। किन्तु इन सिद्धों की इतनी साहित्यिक देन अवश्य है कि इन्होंने अनेक चर्यापदो को विविध रागों मे लिखकर परवर्ती गीतिकाव्यकारो जयदेव, विद्यापति और सूरदास आदि के लिए मार्ग खोल दिया। शृगार को काम-समन्वित बना इन्होंने उसमे नाना कामकलाओं का वर्णन किया। इस प्रकार इन्होंने भागवतकार और गीत गोविन्दकार जयदेव के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। कतिपय विद्वानो का विचार है कि दर्शन क्षेत्र मे इन लोगों ने शकर के मायावाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उनके अद्वैतवाद को बौद्धों की शताब्दियो से चली आती हुई शून्य सम्बन्धी चिन्तन धारा ने, अग्रसर करने के लिए कोई कम महत्त्वपूर्ण कार्य नही किया।

नाथ-साहित्य

नाथ सम्प्रदाय का विकास—वज्रयान की सहज साधना नाथ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। जीवन को कर्मकण्ड के जाल से मुक्त कर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्धो का विकसित तथा शक्तिशाली रूप कहना चाहिए। सिद्धो की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमे नवीन विचारों की प्राण-प्रतिष्ठा की। इन्होंने निरीश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य बना दिया। नाथ सम्प्रदाय वज्रयान की परम्परा मे शैवमत की गोद मे पला। १४ वी शती तक इस सम्प्रदाय के साहित्य ने साहित्य और धर्म का शासन किया। *इस प्रकार नाथ युग सिद्ध युग और सन्तो के बीच की कडी माना जा* सकता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि नाथ सम्प्रदाय का विकास पूर्ण स्वतन्त्र रूप से हुआ—*'यदि नाथ लोग सिद्धो के दिखाये हुए मार्ग को अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता।"*—(पूर्ण गिरि स्वामी) किन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है। सन्त लोगों ने भी तो नाथ लोगो के दिखाये हुए मार्ग को चुना तो क्या उनको महत्त्व नही मिला? वास्तविक बात तो यह है कि सिद्धो ने जिस पथ की ओर सकेत किया था सन्तो ने उसे राजमार्ग बनाया, पुरानी विचारधारा में नवीन विचार-

पद्धति का समावेश किया। प्रत्येक धार्मिक विचारधारा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि *युग की परिस्थितियों के अनुकूल उसमे सशोधन, परिवर्तन* और परिवर्द्धन हुआ। बौद्ध धर्म और राम-साहित्य इस बात के साक्षी हैं। बौद्ध धर्म महायान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

नाथ सम्प्रदाय पर कौल सम्प्रदाय का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कौलो की अष्टाग योग की साधना को नाथों ने साधना के रूप में अपनाया। साथ-साथ नाथों के कौलो की अभिचार प्रवृति का तीव्रतम विरोध किया है। अष्टाग योग की साधना वज्रयान मे भी रही है। हाँ, यह दूसरी बात है कि उक्त साधना सीधे रूप से नाथों के यहाँ उनसे न आई हो। या यह भी सभव है इन नाथो ने वज्रयानियो के इस योग को भी अपना लिया हो।

विषय और सिद्धान्त—नाथ पथ की दार्शनिकता सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से हठयोग से सम्बन्ध रखती है। नाथ पंथ की ईश्वर सम्बन्धी भावना शून्यवाद मे है और यह वज्रयान से ली गई है। कबीर ने इसी शून्य को सहज, सुन्न, सहस्रदल कमल आदि नामो से पुकारा है। यह शून्य क्रमानुसार अलख निरञ्जन होकर नाथ सम्प्रदाय मे आया। नाथो ने निवृति मार्ग पर विशेष बल दिया। इनके अनुसार वैराग्य से शब्द, स्पर्श आदि से मुक्ति सभव है। वैराग्य गुरु द्वारा सभव है अत इनमें गुरु मन्त्र या गुरु दीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये लोग शिष्य की अत्यन्त कठोर परीक्षा लिया करते थे अत इनका सम्प्रदाय व्यापक रूप न ले सका। इसमें प्रचार की अपेक्षा मर्यादा रक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। इन्होंने कुछ आध्यात्मिक सकेत रहस्यात्मक शैली में, उलटबाँसियो मे विचित्र रूपको में किये जो साधारण जनता की समझ से बाहर थे, उन्हें वे ही समझ सकते थे जो कि इस मत मे दीक्षित होते थे। इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय निग्रह पर विशेष बल दिया गया। इन्द्रियो के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है, अत नारी से दूर रहने की भरसक शिक्षा दी गई है। सभव है कि गोरखनाथ ने बौद्ध विहारो मे भिक्षुणियो के प्रवेश का परिणाम और उनका चारित्रिक पतन देखा हो तथा कौल पद्धति या वज्रयान के वाममार्ग में भैरवी और योगिनी रूप नारियो की ऐन्द्रिक उपासना मे धर्म को विकृत होते देखा हो। गोरख ने अपने शिष्यो को नारी से सदा दूर रहने का आदेश दिया। कबीर मे नारी विरोध का जो स्वर मिलता है, उसे भी इसी प्रतिक्रिया का परिणाम समझना चाहिए। इन्द्रिय-निग्रह के बाद प्राण-साधना तथा इसके पश्चात् मन साधना पर अधिक बल दिया। मन साधना से तात्पर्य है मन को ससार मे खीच कर अन्त करण की ओर उन्मुख कर देना। मन की जो स्वाभाविक गति बाह्य जगत की ओर है उसे पलट कर अन्तर जगत की ओर करना ही मन की साधना की कसोटी है। यही उलटने की क्रिया उलटबाँसियों का आधार है। इनमे अनेक क्रियाओ का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ, नाडी साधन, कुडलिनी, इगला,

पिंगला, सुषम्णा आदि का वर्णन है। ब्रह्मरन्ध्र, षट्चक्र, सुरत योग और अनहद नाद आदि का भी इनके यहाँ उल्लेख है। इन्होंने शिव और शक्ति को आदि तत्त्व माना है। इन्होंने पाखण्ड का खुलकर खण्डन किया है।

नाथ सम्प्रदाय राजनीतिक गतिविधियों के प्रति भी तटस्थ नहीं था। गोरखनाथ के किसी शिष्य ने काफिर बोध में मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध करते हुए कहा है—

हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे
हम जोगी न कोई किसे के छन्दे।

नाथ पंथ वालों ने अपने सिद्धांतों की मीमांसा जन-भाषा के आश्रय से साखियों और पदों में की। नीति, आचार, संयम और योगादि इनके साहित्य के प्रधान विषय हैं।

नाथ योगियों की अनेक परम्पराएँ प्रसिद्ध हैं। चौरासी सिद्धों के समान नव नाथ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें शिव ही आदि नाथ है और मत्स्येन्द्र नाथ (मछेन्द्र) जालन्धर नाथ गोरखनाथ मुख्य हैं। इस सम्प्रदाय के प्रत्येक जोगी के नाम के अंत में नाथ शब्द जुड़ा हुआ है। इन नाथों की चौरासी सिद्धों में भी गणना की जाती है। सम्भव है ये पहले किसी सिद्ध सम्प्रदाय में रहे हों और उनसे अलग होकर इस पंथ के अनुयायी बने हों।

नाथ साहित्य की देन—"गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ है। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहाँ दूसरी ओर विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर भी आघात किया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरख ने किया।"

(डॉ० रामकुमार)

"इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।"—(आचार्य हजारी प्रसाद)। आगे चलकर द्विवेदी जी लिखते हैं—"इसकी सबसे बड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस लोक विद्विष्ट और असहिष्णु बना दिया था। फिर भी यह दृढ़ कंठ स्वर उत्तरी भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में सहायक हुआ। इस दृढ़ स्वर ने यहाँ धार्मिक साधना में गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलेपन को आने नहीं दिया। परवर्ती हिन्दी साहित्य में चारित्रिक दृढ़ता आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसलिए इस पन्थ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी साहित्य का बहुत घनिष्ठ संबंध है।

जैन-साहित्य

महात्मा बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी अपने धर्म का प्रचार लोक भाषा के माध्यम से किया। इस प्रकार जैन धर्म के अनुयायियों को अपने धार्मिक सिद्धान्तो का ज्ञान अपभ्रंश मे प्राप्त हुआ। वैसे तो जैन उत्तर भारत मे जहाँ तहा फैले रहे किन्तु आठवी मे तेरहवी शताब्दी तक काठियावाड गुजरात में इनकी प्रधानता रही। वहाँ के चालुक्य, राष्ट्रकूट और सोलकी राजाओ पर इनका पर्याप्त प्रभाव रहा।

महावीर स्वामी का जैन धर्म, हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। जैनो के यहाँ भी परमात्मा तो है पर वह सृष्टि का नियामक न होकर चित्त और आनन्द का स्रोत है। उसका ससार से कोई सम्बन्ध नही। प्रत्येक मनुष्य अपनी साधना और पौरुष से परमात्मा बन सकता है। उसे परमात्मा से मिलने की कोई आवश्यकता नही। इन्होने जीवन के प्रति श्रद्धा जगाई और उसमे आचार की सुदृढ भित्ति की स्थापना की। अहिंसा करुणा दया और त्याग का जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान बताया। त्याग इन्द्रियो के अनुशासन मे नही, कष्ट सहने मे है। उन्होने उपवास तथा व्रतादि कृच्छ्र साधना पर अधिक बल दिया है और कर्म काड की जटिलता को हटा कर ब्राह्मण तथा शूद्र को मुक्ति का समान भागी ठहराया।

जैन मुनियो ने अपभ्रंश मे प्रचुर रचनाएँ लिखी जो कि धार्मिक है। इनमे सम्प्रदाय की रीति नीति का पद्य-बद्ध उल्लेख है। अहिंसा, कष्ट सहिष्णुता, विरक्ति और सदाचार की बातो का इनमे वर्णन है। कुछ गृहस्थ जैनो का लिखा हुआ साहित्य भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त उस समय के व्याकरणादि ग्रन्थो मे भी इस साहित्य के उद्धरण मिलते हैं। कुछ जैन कवियो ने हिन्दुओ की रामायण और महाभारत की कथाओ से राम और कृष्ण के चरित्रो को अपने धार्मिक सिद्धान्तो और विश्वासो के अनुरूप अकित किया है। इन पौराणिक कथाओ के अतिरिक्त जैन महापुरुषो के चरित्र लिखे गये तथा लोक प्रचलित इतिहास प्रसिद्ध आख्यान भी जैन धर्म के रग मे रग कर प्रस्तुत किये गये। इसके अतिरिक्त जैनो ने रहस्यात्मक काव्य भी लिखे हैं। इस साहित्य के प्रणेता शील और ज्ञान-सम्पन्न उच्चवर्ग के थे। अत उनमे अन्य धर्मों के प्रति कटु उक्तियाँ नही मिलती हैं और न ही लोक व्यवहार को उपेक्षा मिलती है। इनके साहित्य मे धार्मिक अश को छोड देंगे पर उसमे मानव हृदय की सहज कोमल अनुभूतियो का चित्रण मिलता है।

इस प्रकार हमने देखा कि जैन साहित्य के अन्तर्गत पुराण साहित्य, चरित्र काव्य, कथा काव्य एव रहस्यवादी काव्य सभी लिखे गये। इसके अतिरिक्त व्याकरण ग्रन्थ तथा शृगार, शौर्य, नीति और अन्योक्ति सम्बन्धी फुटकर पद्य भी लिखे गये। पुराण सम्बन्धी आख्यानो के रचयिताओ मे स्वयभू पुष्पदन्त, हरि भद्र, सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धनपाल जोइन्दु तथा रामसिह का विशेष स्थान है।

स्वयभू—(आठवी शती) ने पउम चरिउ (पद्म चरित) और रिट्ठणेमी

चरिउ (अरिष्टनेमि चरित-हरिवंश पुराण) प्रबन्धों के अतिरिक्त छन्द शास्त्र से सम्बन्धित "स्वयभू छन्दस" की भी रचना की। पद्म चरित में राम की कथा है और अरिष्टनेमि चरित में कृष्ण की। इन्होंने नाग कुमार चरित नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है किन्तु इनकी कीर्ति का आधार स्तम्भ पद्म चरित ही है। इन्हें अपभ्रंश का बाल्मीक माना जाता है। इन्होंने अपनी रामायण में केवल पाँच काड रखे हैं और उनका नाम बाल्मीकि रामायण के काडों में मिलता है। इन्होंने बाल काड का नाम विद्याधर काड रखा है। आरण्य तथा किष्किन्धा काड का एकदम उड़ा दिया है। स्वयभू ने जैन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए राम की कथा में यत्र तत्र परिवर्तन कर दिये हैं, और कुछ नये प्रसग जोड दिये हैं। पद्म चरित में कथा प्रसगों की मार्मिकता, चरित्र चित्रण की पटुता, स्थल एवं प्रकृति वर्णन की उत्कृष्टता और आलकारिक तथा हृदयस्पर्शी उक्तियों की प्रचुरता दर्शनीय है। सीता के चरित्र की उदारता दिखाने में कवि ने कमाल ही कर दिया है और इसी प्रकार अरिष्टनेमि चरितमें द्रौपदी के चरित्र को भी अपनी तूलिका से एकदम निखार दिया है। नारी चरित्रों के प्रति लेखक ने अतीव सहानुभूति और दक्षता से काम लिया है। इनकी कविता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एवहिं तिह करोमि पुणु रहुवइ।
जिह ण होमि पडियारें तिय मई।

सीता की अग्नि परीक्षा के पश्चात् राम ने क्षमा-याचना कर ली और भारतीयता की मूर्ति किन्तु परित्यक्त स्नेहशीला सीता देवी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—'इसमें न तुम्हारा दोष है न जन समूह का। दोष तो दुष्कृत कर्म का है और इस दोष से मुक्त होने के लिए एकमात्र उपाय यही है कि ऐसा किया जाय जिससे फिर स्त्री योनि में जन्म न लेना पडे।" इस कथन में नारी हृदय की वेदना कितनी बड़ी मात्रा में छिपी हुई है। नारी पर पुरुष के अत्याचार की इतनी मार्मिक अनुभूति और क्या हो सकती है। डॉ० नामवरसिंह इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"स्वयभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जल क्रीडा से लेकर युद्धक्षेत्र तक, जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं, चिंतन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर दिखाई नहीं पडा। अलकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी, किन्तु ऐसी प्रवाहमयी और लोक प्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गई। स्वयभू सचमुच ही अपभ्रंश के बाल्मीकि हैं, परवर्ती अपभ्रंश कवियों ने उन्हें वैसे ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।"

पुष्पदन्त (दसवीं शती)—पुष्पदन्त या पुष्प काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और शिवजी के भक्त थे किन्तु अन्त में जैन हो गये। इनके अनेक उपनाम थे इनमें एक "अभिमान मेरु" भी है क्योंकि यह स्वभाव से बड़े अक्खड और अभिमानी थे। इनके

महापुराण के आदि पुराण खण्ड में तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों तथा उनके समसामयिक महापुरुषों के चरित हैं। उत्तर पुराण में पद्म पुराण (रामायण) और हरिवंश (महाभारत) हैं। नाग कुमार चरित तथा यशोधरा चरित जैन धर्म से सम्बद्ध खण्ड काव्य हैं। पुष्पदन्त ने राम की कथा में बहुत अधिक परिवर्तन कर दिये हैं। इन्होंने श्वेताम्बर मतावलम्बी कवि गुणभद्र के उत्तर पुराण में वर्णित राम कथा का अनुसरण किया है। राम कथा की अपेक्षा इनकी वृत्ति कृष्ण काव्य में अधिक रमी है। वहाँ इन्होंने खूब रस लिया है और कथा में कोई खास परिवर्तन भी नहीं किया। इन्हें अपभ्रंश भाषा का व्यास कहा जाता है। पुष्पदन्त की अपेक्षा स्वयंभू अधिक उदार थे। पुष्पदन्त अत्यन्त असहिष्णु थे और उन्होंने खुलकर ब्राह्मणों का विरोध किया है। ये दोनों कवि कालिदास और बाण की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। दोनों दरबारी कवि थे और अपार ऐश्वर्य से उनका निकट का परिचय था। अतः भाषा, शैली, कल्पना और संगीत का जो ऐश्वर्य कालिदास और बाण में मिलता है वह स्वयंभू और पुष्पदंत में भी उपलब्ध होता है।

अपभ्रंश भाषा में लिखे गये राम और कृष्ण काव्यों में कहीं-कहीं धार्मिकता का पुट अवश्य आ गया है परन्तु दिव्यता और अलौकिकता का रंग प्रायः नहीं है और भक्ति भावना का तो उसमें अभाव ही है। हिन्दी वैष्णव कवियों के राम और कृष्ण काव्यों से इनकी कोई तुलना नहीं है।

लौकिक कथाओं का आश्रय लेकर जैन धर्म की शिक्षा देने के लिए अनेक काव्य लिखे गये। इनमें धनपाल की "भविसयत्त कथा" प्रसिद्ध है जो कि एक भविष्य-दत्त नामक बनिये से सम्बन्धित है। जो इन्दु के 'परमात्मा प्रकाश' तथा "योगसार" में सहिष्णुता का दृष्टिकोण है। रामसिंह के 'पाहुड दोहा' में भी यही बात है। धर्म सूरि (१३ वीं शती) के "जम्बू स्वामी रासा" में गृहस्थ जीवन की मधुरता की झांकी है। हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन" में अनेक दोहों में नारी हृदय की मधुरता, रोमांस और शृंगार का हृदयहारी वर्णन है। "प्रबन्ध चिन्तामणि" में मुंज के प्रति मृणालवती के विश्वासघात की प्रतिक्रिया की मार्मिक उक्तियाँ हैं।

हिन्दी साहित्य के विकास में जैन धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। अपभ्रंश भाषा में जैनों द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होने के कारण जैन साहित्य का हिंदी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। केवल भाषा विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं बल्कि हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के सूत्रपात करने में भी इस साहित्य का गहरा हाथ है। अपभ्रंश साहित्य अपने आप में एक अत्यन्त व्यापक साहित्य है। इसमें महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, गीतिकाव्यों, ऐहिकतापरक लौकिक प्रेम काव्यों, धार्मिक काव्यों, रूपक साहित्य, कथा साहित्य, स्फुट साहित्य, गद्य साहित्य आदि साहित्य की नाना विधाओं का प्रणयन हुआ है। हिन्दी साहित्य की उचित जानकारी के लिए अप-भ्रंशों के विशाल साहित्य के गहन अध्ययन की महती आवश्यकता है।

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य में "संदेश रासक", "कीर्तिलता" और "कीर्ति-

पताका" नामक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इसका वर्णन किसी अन्य प्रकरण में किया जायेगा।

अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य के आदि काल में प्राप्त होने वाले जैनों, नाथों और सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन कर चुकने के पश्चात् यह देखना है कि अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा। अपभ्रंश भाषा में लिखित काव्यों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) जैन धर्म से सम्बद्ध काव्य।

(ख) सिद्धों और नाथ पंथियों का साहित्य।

(ग) फुटकर ग्रन्थ, सन्देश रासक, कीर्तिलता और कीर्तिपताका आदि।

अब हम देखेंगे कि अपभ्रंश साहित्य की भावधारा और काव्य रूपों का निर्वाह आगामी हिन्दी साहित्य में किस प्रकार हुआ है। हिन्दी साहित्य का अपभ्रंश से क्रमशः उद्‌भव और विकास हुआ। अतः वह अपभ्रंश से केवल बाह्य रूप से प्रभावित हो, यह बात नहीं है, बल्कि हिन्दी साहित्य का अपभ्रंश साहित्य से अत्यन्त निकट का गहरा सम्बन्ध है।

आदि काल पर प्रभाव—हिन्दी साहित्य के आदि काल में निर्मित चरण काव्यों—हम्मीर रासो, खुमार रासो, परमाल रासो तथा पृथ्वीराज रासो पर अपभ्रंशों के परवर्ती चरित काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी के ये रासो ग्रन्थ चाहे जब लिखे गये हों, इनमें चाहे जब-जब जितने भी प्रक्षेप हुए हों, परन्तु इन रासो काव्यों और चरित काव्यों की मूल प्रवृत्ति एक ही है। राजाओं के धन, वैभव, पराक्रम और बहु-विवाहों का वर्णन दोनों काव्यों में समान रूप से मिलता है। रासो ग्रन्थों में वीर रस और शृंगार रस का सम्मिश्रण होता है और यही प्रवृत्ति महाकाव्यों में भी मिलती है किन्तु थोड़े अन्तर के साथ। चरित काव्यों में इन दो रसों के अतिरिक्त शान्त रस भी उपलब्ध होता है। रासो ग्रंथों में वीर नायकों द्वारा भोगों का त्याग युद्ध भूमि में होता है जबकि चरित काव्यों के नायकों द्वारा भोगों का त्याग संसार की विरक्ति में होता है। किन्तु इससे यह समझना कि हिन्दी के रासो ग्रन्थों में अपभ्रंश के चरित काव्यों की रूढ़ियों और परम्पराओं का ही पालनमात्र या अन्धानुकरण हुआ है, भ्रम होगा। हिन्दी एक जीवन्त भाषा है और वह अपभ्रंश की जीवन्त प्राणधारा तथा परम्परा को लेकर चली है। उसमें अपभ्रंश साहित्य की उद्धरणीमात्र प्रस्तुत नहीं की गई है। उसमें हिन्दी के साहित्यकार की विकासोन्मुख प्रतिभा अपना ही पुट है जो कि सर्वथा अभिनन्दनीय है। हिन्दी के स्वतन्त्र चेता कलाकार की अपनी भी प्राण चेतना यत्र-तत्र उदबुद्ध होती रही है। पृथ्वीराज रासो की शशिव्रता विवाह और संयोगिता-स्वयंवर वाले प्रकरण किसी भी काव्य ग्रन्थ के लिए गौरव का विषय हो सकते हैं।

अपभ्रंश के लोक गीत तथा विरह काव्य और हिन्दी—अपभ्रंश की यह परम्परा सदेश रासक भविसयत्त कथा जसहर चरिउ, ? कुमार चरिउ और करकड चरिउ जैसे काव्यो तथा जैन मुनियो, बौद्धो तथा सिद्धों के दोहो और स्वयभू तथा पुष्पदन्त के पौराणिक काव्यो मे मिलती है। इस परम्परा का विकास हिंदी काव्यो म अत्यन्त सुन्दर रूप से हुआ है और कहीं कहीं तो अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य को बहुत पीछे छोड गया है। उदाहरणार्थ, अपभ्रं के सदेशरा रासक और हिन्दी के बीसलदेव रासो को लेते है। दोनो मे लोक जीवन का स्पर्श है और दोनो ही विरह काव्य हैं। अन्तर केवल इतना है कि बीसलदेव रासो में आरम्भ मे विवाह के भी गीत हैं और बीसलदेव के विदेश मे जाने का भी प्रसग है। सदेश रासक मे षड्ऋतु वर्णन है जब कि बीसलदेव रासो मे बारह मासा का वर्णन। सदेश रासक मे पथिक प्रोषितपतिका का सन्देश लेकर ज्यो ही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रियतम दिखाई पड़ जाता है और काव्य वही समाप्त हो जाता है किन्तु बीसलदेव रासो मे पथिक सन्देश पहुँचाता है, राजा का आगमन होता है। इस प्रकार राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुख मे समाप्ति होती है। डॉ० नामवरसिंह इन दोनो काव्यो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'*अभिव्यक्ति की सादगी और भावो की तीव्रता में* बीसलदेव रासो सदेश रासक से कहीं अधिक लोक जीवन के रग मे रगा हुआ है। इसी से यह प्रमाणित होता है कि हिन्दी साहित्य के अभ्युदय काल मे अपभ्रंश युग *की अपेक्षा लोक-जीवन में जागृति अधिक आ गई थी और* इसके फलस्वरूप साहित्य में लोक तत्त्व का प्रवेश अधिक दूर तक होने लगा था।" इसी प्रकार एक अन्य लोक काव्य ढोला मारू रा दूहा" सदेश रासक के समान एक विरह काव्य है किन्तु इसमें प्रेमी जीवन के जिन घात प्रतिघातो का वर्णन है, वह कदाचित् सदेश रासक मे नहीं है।

अपभ्रंश कथाएँ तथा हिन्दी के आख्यान काव्य—अपभ्रंश की धनपाल की "भविसयत्त कथा' मूलत एक लोक कथा है जिसके लिखने का उद्देश्य यह है कि जो मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी मदद भगवान् या भाग्य करता है। इस प्रकार के आख्यान हिन्दी साहित्य मे भी मिलते हैं। धार्मिक उद्देश्य के अनुसार लोक कथाओ को मोड़ देने की प्रवृत्ति कुछ और विकसित रूप में हिन्दी के प्रारम्भिक आख्यानों में भी पाई जाती है। इन आख्यानो का उपयोग सूफियो ने सबसे अधिक किया है। जायसी के पद्मावत में आध्यात्मिकता का पुट उसे 'भविसयत्त कथा" से पृथक कर देता है हालाँकि दोनो हैं लोक कथा पर आधारित ही, किन्तु दोनों के उद्देश्य मे भिन्नता है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि एक अन्य उदाहरण से भी हो जाती है। अपभ्रंश मे राम और कृष्ण काव्य लिखे गये और भक्तिकाल मे भी, परन्तु दोनो की प्राणधारा में महान् अन्तर है।

रासो ग्रथो मे छदो की विविधता है और यही वस्तु सन्देश रासक मे भी दृष्टिगोचर होती है। सम्भव है कि सन्देश रासक जैसे और भी अपभ्रंश में लिखे गये

काव्य होंगे जिनमे छन्दो का बहुविधि प्रयोग होगा।

कुछ रासो काव्यो का प्रारम्भ अपभ्रंश काव्यो के समान हुआ है। पृथ्वीराज रासो तथा सन्देश रासक के प्रारम्भिक पद्यो मे बहुत कुछ समानता है।

बीसलदेव रासो पर "उपदेश रसायन रास" नामक अपभ्रंश काव्य का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। दोनो मे कथा सक्षिप्त है, दोनो गीतात्मक काव्य है और दोनो मे समान छन्द का प्रयोग है।

रासो काव्यो मे तथा चरित काव्यो मे उद्धृत शब्द योजना, समस्त पदावली और भाषा की गति की इतनी समानता है कि दोनो भाषाओ के महाकाव्यो में भाषा की एकता का भ्रम हो जाता है।

भक्ति काल पर प्रभाव—कबीर आदि सन्तो पर सिद्धो, नाथो और जैन धर्म के आचार्यों का स्पष्ट प्रभाव है। इन सम्प्रदायो मे कर्मकाड की निंदा की गई है और आचार पक्ष पर अत्यन्त बल दिया गया है। कबीर मे ये सारी बातें उपलब्ध होती हैं। कबीर आदि के लिए इन लोगो ने बहुत कुछ मार्ग तैयार कर दिया था। 'ढोला मारू रा दूहा' के प्रेम के दोहो का कबीर के ईश्वर प्रेम सम्बन्धी दोहो पर काफी प्रभाव है। सन्तो की सध्या भाषा, उलटबासियो का प्रयोग, रहस्यमयी उक्तियाँ तथा रूपकमयी रचनायें भी सिद्ध साहित्य से प्रभावित हैं। सूर के दृष्टकूटो का बीज भी इन सिद्धो की सध्या भाषा मे देखा जा सकता है। जैनो और सिद्धो ने अपने धार्मिक विचारो की अभिव्यक्ति के लिए दोहों और गीतो की शैली को अपनाया है। यह शैली हमें कबीर, विद्यापति और सूरदास आदि मे दृष्टिगोचर होती है।

जायसी आदि सूफी कवियो ने अपनी लौकिक प्रेम कथाओ मे आध्यात्मिकता का पुट दिया है। उधर जैन साहित्य मे भी लौकिक प्रेम आख्यान लिखे गए हैं। किन्तु उनमे धर्म की पुट है। सूफियो की कथाओ का पर्यवसान आध्यात्मिकता मे होता है, जबकि जैन कथाओ का पर्यवसान वैराग्य मे होता है, सूफी काव्यो मे नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को सिंहलद्वीप की यात्रा करवाई गई है। यहाँ पर योग का प्रभाव इन पर स्पष्ट है और सम्भव है कि यह प्रभाव अपभ्रंश काव्यो के द्वारा आया हो। अपभ्रंश काव्यो मे भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरण के लिए 'करकडु चरिउ' का नायक सिंहलद्वीप मे जाकर वहाँ राजकुमारी को प्राप्त करता है। जायसी का वियोग वर्णन सदेश रासक से प्रभावित दिखाई देता है। जायसी ने अपने काव्य मे अनेक प्रकार के पकवानो और व्यजनों की सूची प्रस्तुत की है जबकि सन्देश रासक मे अनेक प्रकार की वनस्पतियो की नामावली दी हुई है। तुलसी और जायसी के महाकाव्यो मे प्रयुक्त दोहा और चौपाई की पद्धति का स्रोत भी अपभ्रंश महाकाव्यो मे देखा जा सकता है।

अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से हिन्दी-जगत् मे एक बहु-प्रचलित एव व्यापक भ्रम का निवारण हो जाता है। प्राय हिन्दी-साहित्य इतिहास लेखकों ने सूफी-कवियों जायसी आदि की दोहा, चौपाई आदि की शैली को ईरान साहित्य की मसनवी शैली

का प्रतिरूप माना है, जो कि एक भ्रम है। दोहा, चौपाई, शैली का सूत्रपात भारत मे अपभ्र श साहित्य मे मुसलमानी सम्पर्क से बहुत पहले हो चुका था। हमारा यह विश्वास है कि तुलसी और जायसी आदि कवियो ने अपने महनीय काव्यो मे अपभ्र शो की उक्त शैली का ही अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त ईरानी मसनवी शैली भारतीय प्रबन्ध काव्यो की शैली का ईरानीकरण के सिवा और कुछ भी नही है। इस विषय की चर्चा हम सूफियो की प्रेम धारा के प्रसग मे आगे चलकर करेंगे।

सामूहिक रूप से भक्तिकाल पर अपभ्र श साहित्य के प्रभाव की मात्रा अपेक्षाकृत नगण्य है। भक्ति साहित्य का प्रेरणा-स्रोत प्रत्यक्ष रूप से सस्कृत साहित्य है। भक्तिकाल मे विभिन्न सम्प्रदायो के प्रवर्तक आचार्य सस्कृत के दिग्गज विद्वान् थे। उन्होने अपने सम्प्रदायो के दार्शनिक आधार की स्थापना सस्कृत साहित्य के दर्शन ग्रथो, भक्ति सूत्रात्मक काव्यो तथा भागवत आदि ग्रथो के आधार पर की। इसके अतिरिक्त भक्ति साहित्य तथा अपभ्र श साहित्य के दृष्टिकोणो तथा बाह्य परिस्थितियो मे भी काफी अन्तर है। वास्तव मे यह एक बडे आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी का आदिकाव्य और उत्तर मध्यकाल रीतिकाल तो अपभ्र श साहित्य से थोडे बहुत प्रभावित हुए किन्तु उसका पूर्व मध्यवर्ती काल अर्थात् भक्ति काल इस प्रभाव से लगभग अछूता सा रह गया। हमारा यह अनुमान है कि भले ही रीति-काव्य के कुछ कवियो ने प्राकृत या अपभ्र श काव्य परम्परा का सहारा लिया हो किन्तु अधिकतर कवियो ने सस्कृत के काव्य-शास्त्र और सस्कृत साहित्य की ह्रासोन्मुख पिछली परम्परा का अधिक आश्रय ग्रहण किया है।

रीतिकाल पर प्रभाव—रीति काव्यो की सर्वप्रमुख विशेषता है आश्रयदाताओ का यशोगान। यह प्रवृत्ति अपभ्र श साहित्य के चरित ग्रथो मे उपलब्ध होती है। रीतिकालीन साहित्य की एक अन्य विशेषता है—नायक नायिका भेद, षड्ऋतु वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि के माध्यम से शृगार रस का विवेचन करना। यह प्रवृत्ति अपभ्र श साहित्य मे प्रमुख रूप मे तो नही पाई जाती क्योकि अधिकतर ग्रथ धार्मिक उद्देश्य से लिखे गए हैं। परन्तु गौण रूप से अवश्य है। इसके अतिरिक्त अपभ्र श के मुक्तक काव्यो मे शृगार रस की चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ हिन्दी-रीतिकालीन शृगार रस की स्मृति दिलाती हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि हिन्दी के रीतिकालीन कवि ने साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया होगा, अत यह प्रभाव आ सका। भले ही उसने उक्त साहित्य का अध्ययन न किया हो पर भारतीय साहित्य-परम्परा मे पाई जाने वाली इन प्रवृत्तियो से वह अवगत अवश्य था।

डॉ० हरिवश कोछड ने रीति साहित्य पर अपभ्र श साहित्य के प्रभाव की अतिरजित चर्चा की है। (अपभ्र श साहित्य पृ० ३६६) रीति साहित्य पर एकान्तिक रूप से अपभ्र श साहित्य का प्रभाव पडा है ऐसा विश्वास करने का हमारे पास कोई भी वैज्ञानिक एव पुष्ट आधार नही है, क्योकि अपभ्र श साहित्य मे उपलब्ध प्रवृत्तियाँ सस्कृत और प्राकृतिक के काव्यो मे भी समान रूप से पाई जाती हैं। इससे यही परि-

णाम निकलता है कि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में समान रूप से पाई जाने वाली प्रवृत्तियों का मूल उत्स एक ही है। इसके अतिरिक्त पद्माकर, मतिराम तथा आलम आदि रीति कवियों ने प्रमुख रूप से संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य के ज्ञान की चर्चा की है न कि अपभ्रंश की। हमारा अनुमान है कि रीतिकाल तक पहुँचते पहुँचते अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की परम्परा प्रायः समाप्त हो गई थी। हिन्दी के रीतिकाल के साहित्य पर अपभ्रंश काव्यों के प्रभाव की चर्चा की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के प्रभाव की बात कुछ अधिक वजनदार ठहरती है। सच यह है कि हिन्दी का समूचा मध्य-युग अर्थात् भक्ति और रीति साहित्य संस्कृत साहित्य से अधिक प्रभावित हुआ है। हिन्दी साहित्य में वैष्णव आन्दोलन के मूल प्रेरक उपकरण संस्कृत के पुराण ग्रंथ हैं, और भक्ति काव्य के दार्शनिक तथा सैद्धांतिक पक्ष संस्कृत के दर्शन-साहित्य के ऋणी हैं। इसी प्रकार हिन्दी रीतिकाल के लक्षण ग्रंथ संस्कृत के काव्यशास्त्र से प्रभावित हैं। उसके लक्ष्य एवं लक्षण ग्रंथों में निरूपित रस-रीति के अंश संस्कृत के काव्य शास्त्र अथवा उसके हिन्दी-अनुवाद परक ग्रंथों से प्रभावित हैं।

हिन्दी के रीतिकालीन शृंगारी साहित्य के बीभत्स दृश्यों को देखकर हिन्दी के कतिपय मनीषियों को ऐसे प्रसंगों में फारसी शैली के प्रभाव का जो भ्रम हुआ है। वह सर्वथा निर्मूल है। ऐसे वर्णन संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य में अनेक स्थलों पर मिल जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के वर्णनों की परम्परा बहुत प्राचीन है। काव्य-शास्त्रियों ने जुगुप्सात्मक दृश्यों को शृंगार की मूल आत्मा के विपरीत स्वीकार करते हुए इन्हें उक्त क्षेत्र से बहिष्कृत घोषित किया। काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ लक्ष्य ग्रन्थों पर आधृत हुआ करते हैं। अनुमान है कि काव्य शास्त्रियों ने इस प्रकार के जुगुप्सित दृश्यों के भूरि प्रयोग देखे होंगे और इसके लिए उन्हें कठोर नियमों के विधान की आवश्यकता पड़ी होगी।

संक्षेप में रीतिकालीन साहित्य में निम्नलिखित विशेषतायें मिलती हैं—(१) आश्रयदाताओं की प्रशंसा, (२) शृंगार की प्रमुखता, (३) नायिका भेद विस्तार, (४) षड्ऋतु तथा बारह मासावर्णन, (५) नखशिख वर्णन, (६) अलंकरण प्रियता, (७) कवित्त, सवैया तथा दोहा आदि छन्दों का प्रयोग। अपभ्रंश साहित्य में उक्त समस्त प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। अपभ्रंश काव्यों में आश्रयदाताओं के यश का वर्णन तथा शृंगार भावना की प्रमुखता तो नहीं है, किन्तु इनका सर्वथा अभाव भी नहीं है। अपभ्रंश काव्यों के चरित नायकों का जीवन विलासग्रस्त है किन्तु काव्यों का धार्मिक दृष्टिकोण से लिखा जाना है।

अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन करते समय अनुसंधित्सु के समक्ष एक मजेदार बात यह आती है कि रीतिकाव्य के अतिशयोक्तिपूर्ण ऊहात्मक विरह वर्णनों पर फारसी से जिस प्रभाव की बहुधा चर्चा की जाती है, वह सर्वांशतः सत्य नहीं है। फारसी का प्रभाव हमारे भारतीय साहित्य के बाह्य पक्ष पर भले ही पड़ा हो किन्तु

इससे भारतीय काव्य की मूल आत्मा का आन्तरिक भाव-धारा के मूल रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं आया।

अपभ्रंश के काव्य-रूप तथा हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारी प्रसाद ने आदि काल के साहित्य के सम्बन्ध मे एक स्थान पर विचार व्यक्त किये हैं कि "वस्तुत छन्द, काव्यगत रूप, वक्तव्य वस्तु, कवि रूढ़ियों और परम्पराओं की दृष्टि से यह साहित्य अपभ्रंश साहित्य का बढ़ावा है।" किन्तु हमारे विचार में वक्तव्य वस्तु या भावधारा की अपेक्षा हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश साहित्य के काव्य रूपों की परम्परा का पालन अधिक हुआ है। अत हिन्दी काव्य-रूपो के क्षेत्र में अपभ्रंश की देन भाव-धारा की अपेक्षा अधिक स्वीकार करनी होगी।

छन्द—अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों का सूत्रपात हुआ। अपभ्रंश से पूर्व छन्द तुकान्त नहीं होते थे। अपभ्रंश ने छन्दों के क्षेत्र में तुकान्त छन्दों की प्रथा चलाई। तब से आज तक हिन्दी में मात्रिक छन्दो की प्रधानता है। प्रारम्भिक हिन्दी के छन्द भी प्राय अपभ्रंश साहित्य के रहे। अपभ्रंश के चरित काव्यों में प्रधानता पद्धतियाँ या पद्धति छन्द को अपनाया गया। उसकी एकरसता को दूर करने के लिए बीच में दूसरे छन्दों का भी प्रयोग किया गया। अपभ्रंश साहित्य में कहानी के लिए दोहा छन्द प्रयुक्त किया गया। अपभ्रंश साहित्य में गेय मुक्तक काव्यों के किए रासा, कव्व, धुपई जैसे बड़े-बड़े छन्द अपनाये गये। यही क्रम हिन्दी में भी दिखाई देता है। चौपाई प्रबन्ध काव्य के लिए और सवैया, घनाक्षरी, छप्पय, कुण्डलियाँ आदि छन्द मुक्तक के लिए अपनाये गये। तुलसी की दोहा और चौपाई की शैली के मूल स्रोत का उल्लेख धनपाल (१०वीं शताब्दी) के समय से मिलता है। हिन्दी के घनाक्षरी छन्द के मूल स्रोत के सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अनुमान है कि यह हिन्दी की अपनी सृष्टि है। हिन्दी का सवैया छन्द अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त त्रोटक छन्द का द्विगुणित रूप प्रतीत होता है।

काव्य-रूप—गेय काव्य के रूप में अपभ्रंश साहित्य बहुत कुछ समृद्ध था। सन्देश रासक मूलत रासक-छन्द प्रधान काव्य रहा होगा। आगे चलकर रासक छन्द काव्य का पर्यायवाची बन गया जो कि आदि काल की वीर गाथा युग की चारण रचनाओं के साथ प्रयुक्त हुआ है। प्रथम इस छन्द का प्रयोग कोमल भावाभिव्यक्ति के लिए होगा। बाद में इसमें वीर रस का भी सम्मिश्रण हो गया। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई रास काव्य हैं जैसे बाहु बलिरास, समरारास आदि। हिन्दी में ऐसे रासो काव्यों का नमूना है पृथ्वीराज रासो। अपभ्रंश के अन्य गेय काव्यों-रूपों में "चाचरि" का भी नमूना मिलता है। चाचरि या चच्चरी में रासा छन्द का ही प्रयोग किया गया है। हिन्दी में कबीर दास के नाम से चलने वाले कुछ गीत चांचरी के नाम से मिलते हैं। फाग भी इस प्रकार का एक लोक-गीत है जो वसन्त में गाया जाता है। अपभ्रंश के समय इसका प्रचलन था। हिन्दी साहित्य में कबीरदास के नाम से इस प्रकार के कुछ वसन्त मिलते हैं। हिन्दी साहित्य में कबीर, तुलसी, सूर और मीरा

आदि ने पद लिखे हैं। पदों की परम्परा सिद्धों में मिलती है। सिद्धों के चर्या पद गेय पद हैं।

काव्य-रूढ़ियाँ—काव्य में विचार सम्बन्धी रूढ़ियों के समान रूप विधान सम्बन्धी रूढ़ियाँ भी घर कर जाया करती हैं। स्वतन्त्र चेता कलाकार इन रूढ़ियों की परवाह नहीं किया करते हैं, पर जिस युग में चिन्तन की गति अवरुद्ध हो जाती है, उस समय का कलाकार अधिक रूढ़िग्रस्त और परम्परा प्रेमी हो जाता है। प्रबन्ध काव्य के आरम्भ मे मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जननिन्दा तथा सज्जन प्रशंसा आदि की रूढ़ियों का प्रचलन था। संस्कृत कवियो ने भी थोड़े-बहुत रूप से इन रूढ़ियों का पालन किया है किन्तु अपभ्रंश काल के कवियो ने इन काव्य रूढ़ियों का पूरा-पूरा पालन किया है। हिन्दी मे तुलसी जैसे महाकवि ने बड़ी तत्परता से इन रूढ़ियों का पालन किया है। मुक्तक काव्य मे कवि नाम देने की प्रथा अपभ्रंश काल में प्रचलित थी। इस परम्परा का पालन हिन्दी साहित्य मे भक्ति काल और रीतिकाल में जमकर हुआ। इन काव्य रूढ़ियो के अतिरिक्त कुछ और भी रूढ़ियाँ हुआ करती हैं जैसे नखशिख वर्णन, हस का नीर क्षीर विवेक, सुन्दरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना आदि। ये सभी काव्य रूढ़ियाँ स्वयंभू और पुष्पदन्त के काव्यों में मिलती हैं। पृथ्वीराज रासो तथा पद्मावत आदि हिन्दी के ग्रन्थों में इन सभी रूढ़ियों का सम्यक् निर्वाह हुआ है। अपभ्रंश साहित्य मे जिन कथात्मक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। हिन्दी के कथाकाव्यों में भी वे प्रतीक उसी रूप मे प्रयुक्त हुए हैं शुक प्रयोग, दूती प्रयोग, नायक नायिका के मिलन मे देवी शक्ति का हाथ आदि काव्य-रूढ़ियाँ पृथ्वीराज रासो तथा पद्मावत दोनों में देखी जा सकती है। इस विषय में डॉ० नामवर सिंह के शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—"भाव धारा के विषय में अपभ्रंश से हिन्दी का जहाँ केवल ऐतिहासिक सम्बन्ध है वहाँ काव्य रूपों और छन्दों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप विधान विषय वस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है और इस विषय मे रूढ़ियो का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी के अपभ्रंश की काव्य-सम्बन्धी अनेक परिपाटियों का ज्यो का त्यो और कुछ को थोड़ा सुधार कर स्वीकार कर लिया। इस तरह हिन्दी ने अपभ्रंश का जीवन्त परम्परा का भाषा और साहित्य दोनो क्षेत्रों मे ऐतिहासिक विकास किया।"

हिन्दी में अपभ्रंश साहित्य के महत्त्वपूर्ण योगदान को स्पष्ट करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद लिखते हैं, "इस प्रकार हिन्दी साहित्य में ये सारी की सारी विशेषतायें इतनी मात्रा मे और इस रूप मे सुरक्षित हो। यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता है। इन ऊपरी साहित्य रूपों को छोड भी दिया तो भी इस साहित्य की प्राण-धारा निरविच्छिन्न रूप से परवर्ती हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।...प्रकट यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने

अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया है।"

अस्तु ! काव्य रूपों, रूढ़ियों और परम्पराओं के परस्पर साम्य के आधार पर भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्यों को मूल रूप में एक समझना न तो वैज्ञानिक है और न ही भाषा विज्ञान की दृष्टि से सगत।

वस्तु स्थिति तो यह है कि भारतीय साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा समूचे भारतीय वाङ्मय में चिरकाल से प्रवाहित होती आ रही है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य की वही धारा अपभ्रंशों के माध्यम से हिन्दी साहित्य में प्रस्फुटित हुई। बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप समय-समय पर इस धारा का स्वरूप थोड़ा बहुत जरूर परिवर्तित होता रहा किन्तु उसके मूल रूप में किसी बड़े परिवर्तन की सम्भावना नहीं थी। अस्तु संस्कृत और प्राकृत के साहित्य में भारतीय साहित्य, संस्कृति और समाज का जो चित्र मिलता है उसके सम्यक् अवबोध के लिए अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त उपादेय है।

आदि काल की वीरगाथाओं की विशेषताएँ

हिन्दी साहित्य के आदि काल में वीरगाथाओं का युग राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख, सामाजिक रूप से दीन-हीन तथा धार्मिक दृष्टि से क्षीण काल है। इस काल में जहाँ एक ओर जैन, नाथ और सिद्ध साहित्य का निर्माण हुआ वहाँ दूसरी ओर राजस्थान में चारण कवियों द्वारा चरित काव्य भी रचे गये। इनका प्रधान विषय वीरगाथाओं से सम्बद्ध है अतः इन्हें वीरगाथा काव्य भी कहते हैं। यहाँ हम इन वीर-गाथाओं की सामान्य प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का विवेचन करेंगे।

१. सदिग्ध रचनाएँ— इस काल में उपलब्ध होने वाली प्रायः सभी वीरगाथाओं की प्रामाणिकता सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है। इस काल में रचित चार काव्य प्राप्त हुए हैं :—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो। भाषा, शैली और विषय सामग्री की दृष्टि से इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनमें निरन्तर कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। यह परिवर्तन और परिवर्द्धन का कार्य इतनी प्रचुर मात्रा में हुआ है कि इनका मूल रूप भी दब गया है। ये सम्बन्धित आश्रयदाताओं के काल में ही लिखी गई, इस बात को निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। खुमान रासो में १६वीं शती तक की सामग्री का समावेश कर लिया गया है। परमाल रासो का स्वरूप आल्ह खड से कितना ही बदला हुआ है। पृथ्वीराज रासो की भी यही स्थिति है। हाँ, बीसलदेव रासो के लघु काव्य होने के कारण उसमें अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तन नहीं हुए। समष्टि रूप से इन ग्रन्थों के मूल रूप की पहचान एक अत्यन्त दुष्कर कार्य हो गया है।

२. ऐतिहासिकता का अभाव—इन रचनाओं में इतिहास-प्रसिद्ध चरित्र-नायकों

को लिया गया है किन्तु उनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। इन कवियो के द्वारा दिये गए सवत् और तिथियाँ इतिहास से मेल नही खाती बल्कि उस समय मे लिखे गए सस्कृत काव्यो मे दिए गए सवतो और घटनाओ से भी इनका मेल नही बन पाता। इन काव्यों मे इतिहास की अपेक्षा कल्पना का बाहुल्य है। इतिहास के विषय को लेकर चलने वाले कवि में जो सावधानता अपेक्षित होती है, वह इन काव्य-निर्माताओ मे नही। अतिरजनापूर्ण शैली इस दिशा मे एक और महा-व्याघात सिद्ध हुई है। इन चारण कवियों को अपने आश्रयदाताओ को राम, कृष्ण, नल, युधिष्ठिर आदि से उत्कृष्ट बताना एव सर्वविजेता घोषित करना अभिप्रेत था, अतः इतिहास को अतिशयोक्ति तथा कल्पना पर न्यौछावर कर दिया। यहाँ तक कि पृथ्वीराज रासो मे पृथ्वीराज को उन राजाओ का भी विजेता कहा गया है जो उससे कई शताब्दियो पूर्व अथवा पश्चात् विद्यमान थे। अस्तु। इस दिशा मे सस्कृत साहित्य का जागरूक कवि भी सफल नहीं उतर सका है फिर ह्रासोन्मुख काल के चारण कवि से इसकी क्या आशा की जा सकती है। आदर्शवाद का दृष्टिकोण इस दिशा में पग-पग पर आकर अड गया है।

३. युद्धों का सजीव वर्णन—युद्धों का वर्णन इन ग्रथो का प्रमुख विषय है और यह वर्णन इतना सजीव बन पडा है कि कदाचित् सस्कृत साहित्य भी इस दिशा मे इन काव्यो की होड नहीं कर सकता। इन काव्यों में युद्धों का वर्णन अत्यन्त मूर्तिमान बिम्बग्राही रूप में हुआ है, कारण चारण कवि केवल मसि-जीवी नहीं था करवाल-ग्राही भी था। आवश्यकता पडने पर वह स्वय भी समरस्थल मे जूझ और युद्ध के विकट दृश्यों को अपनी खुली आँख से देखा। वह समय भीतरी कलहों और बाहरी आक्रमणों का समय था, अतः अपने आश्रयदाताओ को युद्धों के लिए उत्तेजित करना उस काल के कवि का प्रमुख कर्तव्य-सा बन गया था। आचार्य हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"लडने वालो की सख्या कम थी क्योंकि लडाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश रक्षा के लिए या धर्म रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नही उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों, सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लडने वाली जाति के लिए सचमुच चैन से रहना असम्भव हो गया था। क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की सभावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसग मे आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।"

इन चारण कवियों ने युद्धो के कारण के लिए किसी न किसी स्त्री की कल्पना कर ली है। उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध हो जाया करते थे। उस समय की प्रचलित काव्य परिपाटी थी। रुक्मिणी और उषा आदि के हरण के पौराणिक वृत्तान्त उस समय भी लोगों को भूले नहीं थे। उस समय के सस्कृत कवि बिल्हण कृत विक्रमांकदेव

चरित में भी विवाहो और युद्धो का खुलकर वर्णन है। कही-कही पर ऐसे वर्णनो मे वर्णनात्मक वस्तु परिगणन शैली को अपनाया गया है। ऐसे वर्णनो मे भावोन्मेष की कमी है। नि सन्देह यहाँ युद्धो का मूल कारण नारी है। किन्तु उसे केवल र ी रूप में ही प्रस्तुत नही किया, उसका वीर महिला रूप भी दर्शाया गया है।

४ सकुचित राष्ट्रीयता—चारण कविगणों ने अपने आश्रयदाता की प्रशसा का मुक्त कठ से गान किया है। जीविका प्राप्ति के लिए उसने अनधिकारी राजाओं एवं सामन्तो की भी प्रशसा की है। देशद्रोही जयचन्द के गुणानुवादक भी उस समय विद्यमान थे। भट्ट केदार ने 'जयचन्द प्रकाश' लिखा और मधुकर ने "जयमयक जस चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ लिखा। उस समय राष्ट्र शब्द से समूचा भारत नही लिया गया बल्कि अपना अपना प्रदेश एव राज्य का ही ग्रहण किया गया। अजमेर और दिल्ली के राज-कवि को कन्नौज अथवा कालिजर के समृद्ध अथवा उजड जाने पर कोई हर्ष एव विषाद नही होता था। उस समय के राजाओं ने अपने सौ-पचास गाँवो को राष्ट्र समझ रखा था, तो फिर उनके आश्रित कवियो को उन्ही के पद-चिन्हो पर ही चलना था। वस्तुत यह देश का एक महादुर्भाग्य था। यदि उस समय राष्ट्रीयता का व्यापक रूप होता तो निश्चय था कि हमारे देश का मानचित्र आज कुछ और होता।

५ वीर और शृगार रस – इन वीरगाथाओ में वीर तथा शृगार रस का अद्भुत सम्मिश्रण है। वीर रस का तो इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कदाचित् परवर्ती हिन्दी साहित्य मे वीर रस का इतना पुष्ट रूप मिलना दुर्लभ है। उस समय युद्ध का बाजार चारो ओर गर्म था। आबाल वृद्ध मे युद्ध के लिए एक अदम्य उत्साह था। उस समय की वीरता का आदर्श निम्न पक्तियो में स्पष्ट हो जाता है—

बारह बरस लै कूकर जिये, और तेरह लै जिये सियार।
बरस अठारह क्षत्री जिये, आगे जीवन को धिक्कार॥

युद्धों का मूल कारण नारी को कल्पित कर लिया गया। अत शृगार रस का भी इस साहित्य में जमकर वर्णन मिलता है। रासो ग्रथो में चर्चित नर-नारी प्रेम को प्राय विद्वानो ने शृगार रस की सज्ञा से अभिहित किया है किन्तु रासो ग्रन्थो में चित्रित प्रेम विलास या वासना से ऊपर नहीं उठ सका है। वीर रस की दीप्ति के लिए लिखे गये वीरता के पद भी वासनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने के हेतु आये हैं। युद्धों का एकमात्र कारण नारी लिप्सा है। उक्त ग्रन्थो मे निरूपित युद्धो के मूल में उदात्त प्रेम भावना या राष्ट्रीयता का सहज उल्लास नही है। अस्तु!

वीर और शृगार जैसे दो विरोधी रसो का समावेश इस साहित्य मे इतने सुन्दर ढग से किया गया है कि कही भी विरोध आभासित नही होता। वस्तुत यह बात उस समय के कलाकार की जागरूकता की परिचायक है।

वीरगाथाओ मे शान्त तथा हास्य रस को छोडकर अन्य सभी रसों का समावेश है। शृगार रस के वर्णन के अन्तर्गत इन्होने षट्-ऋतु वर्णन, नख शिख वर्णन]

आदि काव्य रूढियो का भी सम्यक् निरूपण किया है।

६. प्रकृति चित्रण—इस साहित्य मे प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन दोनो रूपो मे चित्रण मिलता है। नगर, नदी, पर्वत आदि का वस्तु वर्णन भी शोभन बन पडा है। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप मे चित्रण के स्थल इन काव्यो मे थोडे ही मिलते हैं, अधिकतर उसका उपयोग उद्दीपन रूप मे किया गया है। प्रकृति-चित्रण की जो उदात्त शैली छायावादी युग मे मिलती है वह इस काल में नही। कहीं-कही तो इन्होंने प्रकृति चित्रण मे नाम परिगणन शैली को अपनाया है जहाँ रसोद्रेक के स्थान पर नीरसता आ गई है।

७ रासो ग्रन्थ—इस साहित्य के सभी ग्रन्थों के नाम के साथ रासो शब्द जुडा हुआ है जो कि काव्य शब्द का पर्यायवाची है। कुछ लोग रासो का सम्बन्ध रहस्य अथवा रसायन से जोडते हैं किन्तु यह भ्रामक है। मूल रूप मे रासक एक छन्द है जिसका प्रयोग अपभ्रंश साहित्य मे सन्देश रासक आदि ग्रन्थो मे मिलता है। फिर इसका प्रयोग गेयरूपक के अर्थ मे होने लगा। पीछे इस शब्द का प्रयोग चरित काव्य ए कथा काव्य के लिए होने लगा। रासो नाम के चरित काव्यो में से कुछ का उपयोग गाने के लिए अधिकतर होने लगा। इससे जनवाणी ने इनको धीरे-धीरे अपने-अपने समय के अनुरूप करते-करते इनका पुराना रूप ही बदल दिया इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आल्ह खड है।

८. काव्य के दो रूप—वीरगाथाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपो में मिलती हैं। प्रथम रूप का प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ बीसलदेव रासो है और दूसरे का प्राचीन ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो। इन दो रूपों के अतिरिक्त उस साहित्य मे और दूसरा काव्य का कोई रूप नही है। उसमे काव्य रूपो की विविधता का अभाव है। न तो उस समय दृश्य काव्य था और न ही गद्य का प्रचलन था। उस समय की कुछ रचनायें अप्रामाणिक और कुछ अर्द्ध-प्रामाणिक और नोटिस मात्र हैं। भट्ट केदार का "जयचद प्रकाश" तथा मधुकर प्रणीत "जयमयक जस चद्रिका" दोनो इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इनका उल्लेख मात्र ही "राठौडाँ री ख्यात" में मिलता है।

९. इस काल में काव्य के उक्त दो रूपो के अतिरिक्त फुटकर-रूप मे गद्य लिखे जाने के भी सकेत मिलते हैं। राउलवेल (चम्पू) उक्ति-व्यक्ति प्रकरण तथा वर्ण-रत्नाकर नामक रचनायें इस दिशा म उल्लेखनीय हैं। राउलवेल मे राजकुमारी के नख-शिख का वर्णन है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण व्याकरण सबन्धी-ग्रंथ है और वर्ण-रत्नाकर तत्कालीन-भारत का कोशात्मक ग्रंथ है। इन ग्रंथों से गद्य धारा की अक्षुण्णता सूचित होती है।

१०. जनजीवन से सम्पर्क नहीं—इन ग्रन्थों में सामती जीवन उभर आया है। इनका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। राजदरबारी कवि से जन-जीवन की विस्तृत व्याख्या की आशा भी नही की जा सकती है। वीरगाथाओं तथा रीति-ग्रंथो के कवियो ने स्वामिनः सुखाय काव्यों की सृष्टि की है, अतः उनमें साधारण जन-

जीवन के घात-प्रतिघातो का प्रभाव है ।

११. छन्दों का विविधमुखी प्रयोग—इस साहित्य मे छद क्षेत्र मे तो मानो एक क्रांति ही हो गई । छन्दो का जितना विविधमुखी प्रयोग इस साहित्य मे हुआ है उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य मे नही हुआ । दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, पद्धरिआर्या, सट्टक, रोला, उल्लाला और कुण्डलियाँ आदि छन्दो का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है । यहाँ छन्द परिवर्तन केशव की रामचन्द्रिका के समान चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नही हुआ प्रत्युत् अतिशय भाव द्योतन के लिए हुआ है । इस परिवर्तन में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं है । आचार्य हजारी प्रसाद के शब्दो मे 'रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त मे प्रसगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं ।"

१२. डिंगल और पिंगल भाषा—इन काव्यों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है डिंगल भाषा का प्रयोग । उस समय की साहित्यिक राजस्थानी भाषा को आज के विद्वान् डिंगल नाम से अभिहित करते हैं । यह भाषा वीरत्व के स्वर के लिए बहुत उपयुक्त भाषा है । चारण अपनी कविता को बहुत ऊँचे स्वर मे पढ़ते थे और डिंगल भाषा उसके उपयुक्त थी । उस समय की अपभ्रंश मिश्रित साहित्यिक ब्रज भाषा पिंगल के नाम से अभिहित की जाती है । इन काव्यों में सस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों के अतिरिक्त अरबी और फारसी के भी शब्द पाये जाते हैं । तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है क्योंकि यह प्रवृत्ति डिंगल भाषा के अनुकूल पड़ती है । संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के समान डिंगल भाषा के अधिकांश रूप सश्लिष्ट हैं ।

इन वीर काव्यो की परम्परा अगली कई शताब्दी तक चलती रही । भक्ति काल में पृथ्वीराज, दुरसा जी, बांकीदास और सूर्यमल ने डिंगल भाषा मे वीर काव्य प्रस्तुत किये । केशव और तुलसी के काव्यों मे भी वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । इस दिशा में रीति काल मे भूषण, सूदन और लाल के अतिरिक्त पद्माकर, गुरु गोविन्दसिंह, सबलसिंह, गोकुलनाथ, श्रीधर, जोधराज और चन्द्रशेखर के नाम उल्लेखनीय हैं । आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त और रामधारीसिंह दिनकर राष्ट्रीय कवि कहलाते हैं । वियोगी हरि और श्यामनारायण पाडे में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । प्रगतिवादी साहित्य मे भी वीर रस का सराहनीय प्रयोग हुआ है ।

महत्त्व—इस साहित्य का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनो दृष्टियो से महत्त्व है । भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त उपादेय है । इसमें वीर तथा शृगार रस का सुन्दर परिपाक बन पड़ा है । नि सदेह इन ग्रथो में अतिरजना पूर्ण शैली के प्रयोग से इतिहास दब-सा गया है परन्तु फिर भी राजस्थान का इतिहास इन ग्रंथों में अवश्य निहित है, जिसका उपयोग थोड़ी सतर्कता के साथ किया जा सकता है । डॉ० श्यामसुन्दरदास के इस वीरगाथा साहित्य के सम्बन्ध मे कहे गये

शब्द विशेष महत्वपूर्ण बन पड़े हैं—"इस काल के कवियों का युद्ध वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि इनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास गर्भित, किन्तु निर्जीव रचनाएँ नकल-सी जान पड़ती हैं। ककरा पदावली के बीच वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती।"

इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं—

"भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रान्त में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है, परन्तु अपने रक्त से राजस्थान में जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूताने के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्धों के नक्कारों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्य गान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के ताडव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था। मगर कोई कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की कल्पना कर सकता है? राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहा में जो वीरत्व की भावना है और उमंग है, यह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। यह स्वाभाविक, सच्ची और अकृत्रिम है।"

रासो तथा डिंगल एवं पिंगल

रासो—रासो शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। प्रसिद्ध फ्रासीसी इतिहासकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति राजसूय शब्द से मानी है। उनका कहना है कि चारण काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख है और इसी कारण इनका नाम रासो पड़ा होगा। किन्तु उनका यह मत संगत प्रतीत नहीं होता। पहली बात तो यह है कि इन सभी चरित्र-काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं है। दूसरी बात अपभ्रंश साहित्य की ऐसी रचनायें जहाँ केवल प्रेम का वर्णन है उनका नाम भी रासक है, उदाहरणार्थ सन्देह रासक आदि। बीसलदेव रासो में केवल प्रेम का वर्णन है। वहाँ न तो आश्रयदाता की दिग्विजय का उल्लेख है और न ही तत्सूचक शब्द का संकेत है।

कुछ विद्वानों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रहस्य से जोड़ना चाहा है किन्तु यह ठीक नहीं है। इन ग्रंथों में कोई गूढ़ दार्शनिक रहस्य नहीं है। दूसरे कुछ लोगों ने रासो शब्द का सम्बन्ध राजस्थानी तथा ब्रज-भाषा के "रासो" शब्द से जोड़ने का प्रयत्न किया है किन्तु यह भी निराधार है। राजस्थानी एवं ब्रज-भाषा में रासो शब्द का अर्थ लड़ाई झगड़ा है और इस रूप में इस शब्द की कोई सार्थकता इन चरित काव्यों के साथ दृष्टिगोचर नहीं होती है। निःसन्देह कुछ रासो ग्रन्थों में युद्धों और लड़ाई झगड़ों का वर्णन है पर कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनमें शुद्ध रूप से प्रेम का वर्णन है जैसे वीरगाथाओं में बीसलदेव रासो तथा अपभ्रंश साहित्य में सन्देश रासक आदि।

इनमें युद्धों के अभाव होने पर भी इनका नाम रासो है।

नरोत्तम स्वामी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति रसिक शब्द से मानी है जिसका अर्थ प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनुसार कथा-काव्य मिलता है। उसके अनुसार इस शब्द के रूप इस प्रकार हैं रसिक<रासउ<रासो। परन्तु यह मत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। निःसंदेह चारणों द्वारा रचित चरित काव्यों में इस कल्पना की आंशिक सार्थकता सिद्ध हो जाती हो, किन्तु उन अपभ्रंश काव्यों का क्या बनेगा जिनका नामकरण रासक या रास है। इससे सिद्ध होता है कि यह शब्द दीर्घकाल से काव्य के अर्थ में एक विशिष्ट रूप में प्रयुक्त होता आ रहा था और उसी अर्थ में चारण काव्यों में इसका प्रयोग हुआ है।

आचार्य चन्द्रबली पांडेय ने रासो शब्द का सम्बन्ध संस्कृत साहित्य के रासक से माना है। संस्कृत साहित्य में रासक की गणना रूपक अथवा उपरूपक में हुई है। अपने मत के समर्थन के लिए उन्होंने पृथ्वीराज रासो के प्रारम्भिक भाग का हवाला दिया है जहाँ नट और नटी की भाँति कवि चन्द और उसकी पत्नी के परस्पर नाटकीय वार्तालाप से ग्रंथ का श्रीगणेश हुआ है। पांडेय जी के अनुसार रासो ग्रन्थों का प्रणयन प्रदर्शन के निमित्त हुआ था। पृथ्वीराज के यश के गायन करने की इस प्रकार प्रथा थी। यह तर्क भी हमें सबल दिखाई नहीं देता है। हिन्दी और अपभ्रंश के कई रासो नामधारी ग्रंथ हैं जिनका प्रारम्भ इस नाटकीय पद्धति से नहीं हुआ है किन्तु फिर भी वे रासो नाम से अभिहित किये जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रास या रासक से जोड़ा है जिसका अर्थ है—ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन और नृत्य। इस मत में दूर की कौड़ी पकड़ने का ही प्रयास किया गया है और कुछ नहीं। कतिपय वीर काव्यों में इन गुणों को देखकर यह नामकरण कर दिया गया है। इसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं।

अन्य विद्वानों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रसिया शब्द से माना है जिसका अर्थ है बड़ा शृंगार। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि रासो ग्रंथों में शृंगार का बड़ा रूप नहीं है और रासो ग्रंथों में एकान्तिक रूप से शृंगार हो ऐसा भी नहीं है। फिर अपभ्रंश साहित्य के कई ऐसे रासक ग्रंथ हैं जिनमें केवल धार्मिक उपदेश ही हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रासो शब्द का सम्बन्ध रसायन से माना है जो कि बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शुक्ल जी ने अपने मत समर्थन में बीसलदेव रासो की एक पंक्ति भी उद्धृत की है—"नाल्ह रसायन आरम्भई शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि रासक एक छन्द भी है और काव्य भेद भी। काव्य के इस रूप में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ करता था। पृथ्वीराज रासो उसी परम्परा का काव्य है। आदिकाल की वीर-

गाथाओं में चारण कवियों द्वारा निर्मित चरित काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

रास काव्य मूलतः रासक छन्द का समुच्चय है। अपभ्रंश में २६ मात्रा का एक रासा या रास छन्द प्रचलित था। ऐसे अनेक छन्दों के गाने की परिपाटी कदाचित् लोक में भी रही होगी। एकरसता के निवारणार्थ बीच-बीच में दूसरे छन्द जोड़ने अथवा गाने की प्रथा चल निकली। सन्देश रासक इसका उदाहरण है। रास काव्य मूल रूप में रासक छन्द प्रधान काव्य रहे होंगे। आगे चलकर रास काव्य का ऐसा रूप निश्चित हो गया जिसमें किसी भी गेय छन्द का प्रयोग किया जा सकता था। भाव की दृष्टि से रास काव्य फिर भी प्रेम प्रधान रहे। हिन्दी का बीसलदेव रासो ऐसा ही रास काव्य है जिसमें रासकेतर छन्द का प्रयोग हुआ है फिर भी वह प्रेम प्रधान है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावों के अतिरिक्त अन्य विचारों के वाहन का साधन बना। प्रेम भाव के साथ इसमें वीरों की गाथाओं का सम्मिश्रण हुआ। जिस प्रकार अंग्रेजी का सॉनेट मूलतः प्रेम भावों का काव्य था किन्तु आगे चलकर उसे अन्य भावों का भी वाहन बना लिया गया। यही दशा अपभ्रंश और हिन्दी के रासो काव्य की समझनी चाहिए। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई काव्य हैं जैसे बाहुबलरास, समररास आदि और हिन्दी में ऐसे रासो काव्यों का प्रतिनिधि है पृथ्वीराज रासो।

अपभ्रंश के आचार्यों ने दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है—कोमल और उद्धत। उन्होंने इन दोनों के मिश्रण से बनने वाले रास काव्य की चर्चा की है। यह भेद रास रूपक के लिए गए किन्तु रास काव्यों के विषय में भी समान रूप से लागू होते हैं। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रूप का सम्मिश्रण पृथ्वीराज रासो में है। एकदम युद्ध प्रधान रास काव्य का उदाहरण हिन्दी में हम्मीर रासो तथा अपभ्रंश में बाहुबलि रास है। इन भावों के लिए निश्चित हुआ काव्य का रूप अन्य प्रकार के भावों के लिए प्रयुक्त होने लगा। जिनदत्त सूरि के "उपदेश रसायन रास" में केवल धर्मोपदेश है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि रासो सामान्य रूप से काव्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। रास अथवा रसिक नामक एक सामान्य गेय छन्द ने इतने रूप बदले। अस्तु, विद्वानों का दूसरा वर्ग अपभ्रंश का नृत्य-गीतपरक परम्परा को रासो ग्रंथों का मूल मानता है। उक्त दोनों मत प्रायः मान्य हैं।

डिंगल स्वरूप—साहित्यिक राजस्थानी भाषा को डिंगल के नाम से अभिहित किया जाता है। भाषा विकास की दृष्टि से यह भाषा एक ओर पतनोन्मुखी प्राकृत और अपभ्रंश तथा दूसरी ओर विकासोन्मुखी ब्रजभाषा के बीच की साहित्यिक भाषा है। बोल-चाल की राजस्थानी भाषा का परिमार्जित साहित्यिक रूप डिंगल कहलाया।

व्युत्पत्ति—डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विभिन्न विद्वानों के

विभिन्न मत हैं —

१ डॉ० एल० पी० टैसीटरी—डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गवारू लेते हैं। ब्रजभाषा परिमार्जित तथा व्याकरणसम्मत थी, पर डिंगल भाषा इस सम्बन्ध मे स्वतन्त्र थी। पिंगल के साम्य के आधार पर इस भाषा का नाम डिंगल पडा।

समीक्षा—उक्त भाषा गवारू नही थी बल्कि सुशिक्षित चारण वर्ग की साहित्यिक भाषा थी। इसे अनियमित कहना भी सगत प्रतीत नही होता क्योकि इसका भी एक सुव्यवस्थित व्याकरण था। रही पिंगल के साम्य के आधार पर इसके नामकरण की बात, भाषा विकास की दृष्टि से डिंगल पिंगल की अपेक्षा पहले आती है। ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप का पता लगभग १४वी शताब्दी मे मिलता है।

२. हरप्रसाद शास्त्री—इनका कहना है कि प्रारम्भ मे इस भाषा का नाम "डगल" था, परन्तु बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया। उन्होने अपने मत के समर्थन के लिए 'दोसे जगल डगल जेय' आदि पद भी उद्धृत किया है।

समीक्षा—यहाँ पर प्रश्न यह है कि प्रारम्भ मे डिंगल का नाम डगल क्यो था ? राजस्थानी भाषा मे डगल शब्द का अर्थ मिट्टी का ढेला या अनगढ पत्थर है। यदि *डिंगल भाषा अनगढ एव अव्यवस्थित थी तो किस सुव्यवस्थित भाषा की तुलना मे इसे* यह सज्ञा दी गई, क्योंकि ब्रजभाषा का साहित्यिक प्रौढ रूप १४वी शती तक नही बन पाया था और फिर चारण कवि अपनी साहित्यिक भाषा को डगल या अनगढ़ कहने ही क्यो लगा था ?

३. गजराज ओझा ने डिंगल भाषा के नामकरण का आधार इसमें पाई जाने वाली "डकार" वर्णो की बहुलता को बताया है। फिर पिंगल के आधार पर इसका नाम डिंगल पडा। जिस प्रकार पिंगल अलकार प्रधान है उसी प्रकार डिंगल डकार प्रधान है।

समीक्षा—पहली बात तो यह है कि डिंगल भाषा मे डकार वर्ण की कोई ऐसी बहुलता नहीं है जिसके आधार पर इसका नामकरण किया जा सके। डिंगल काव्य मे वीर, रौद्र और वीभत्स रसों के प्रसंग मे नि सन्देह कर्णकटु शब्द आये हैं किन्तु उसमें विशेषत. डकारात्मक शब्दो की प्रधानता हो, ऐसी बात नही। दूसरी बात यह भी है कि भाषा विज्ञान के समूचे इतिहास मे एक भी ऐसी मिसाल नहीं मिलेगी जहाँ किसी विशेष वर्ण के आधार पर किसी भाषा का नामकरण हुआ हो।

४. पुरुषोत्तम स्वामी ने डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति डिम+गल से मानी है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का अर्थ गला होता है। डमरू की ध्वनि युद्ध में वीरों का आह्वान करती है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। जो कविता गले से निकल कर डिम-डिम की तरह वीरो के हृदय को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं।

समीक्षा—यह मत भी तर्कसंगत नहीं है। न ही तो डमरू की ध्वनि उत्साह-वर्द्धक मानी गई है और न ही महादेव वीर का देवता है। वीर रस के देवता इन्द्र हैं और रौद्र रस के देवता महादेव हैं। डमरू वानरों के खेल-तमाशों में बजाया जाता है। युद्ध में उत्साह के लिए नगाड़ों का उपयोग किया जाता है।

५. राजस्थान में प्रचलित मतानुसार डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति डिम+गल से मानी जाती है। डिम का अर्थ बालक और गल का अर्थ गला। इस प्रकार डिंगल का अर्थ बालक की भाषा है। जैसे प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी वैसे डिम+गल से डिंगल बनी।

समीक्षा—प्रत्येक भाषा के जीवन में बाल्य अवस्था हुआ करती है जबकि वह पनप रही होती है किन्तु सब भाषाओं के प्रौढ़ साहित्यिक रूप का नामकरण फिर इस आधार पर क्यों नहीं हुआ? फिर चारण कवियों की परिमार्जित साहित्यिक भाषा को बाल-भाषा के हीन पद से अभिहित करना अनुचित भी है।

६. कुछ अन्य मत—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार डिंगल शब्द पिंगल के साम्य आधार पर बना है किन्तु इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। पिंगल से भेद करने के लिए इस श्रुति-कटु भाषा को डिंगल नाम दे दिया गया है।

(ख) डॉ० श्याम सुन्दर दास पिंगल के अनुकरण पर ही इस शब्द को निर्मित मानते हैं। उनका कहना है कि यह एक मारवाड़ी शब्द है जो पिंगल के साम्य पर गढ़ा हुआ है।

(ग) रामचरण आसोपा और ठाकुर किशोरी सिंह बारहठ ने डिंगल शब्द की उत्पत्ति क्रमशः "डगि" और "डीङ" धातुओं से बताई है।

७. मोती लाल मेनारिया ने डिंगल शब्द को डींगल से विकृत माना है जिस का अर्थ डींग (दर्पोक्ति) से युक्त भाषा है। बोफिल, धूमिल आदि शब्दों के समान यहाँ भी "ल" प्रत्यय युक्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मेनारिया के मतानुसार आरम्भ में डिंगल चारण भाटों की भाषा थी। इसमें वे लोग अपने आश्रयदाताओं के यश का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया करते थे और उनकी वीरता की बड़ी-बड़ी डींगें मारा करते थे। उस समय इस भाषा को डींगल कहा करते थे और आज भी राजस्थान के वृद्ध चारणों में डींगल शब्द का ही प्रयोग प्रचलित है। मेनारिया जी का यह भी कहना है कि डींगल का डिंगल रूप अंग्रेजी के कारण हो गया है। डॉ० ग्रियर्सन आदि इस शब्द के उच्चारण से अपरिचित थे अत उन्होंने अपने ग्रन्थों में दोनों हिज्जे एक तरह से लिखे—pingala nad Dingala pingala का उच्चारण हिन्दी वाले पिंगल किया करते थे अतएव यह समझकर कि डींगल का उच्चारण भी इसी प्रकार होगा उन्होंने इसे डिंगल बोलना लिखना शुरू कर दिया और इस प्रकार यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में भी यही रूप प्रचलित हो निकला।

निष्कर्ष—उपर्युक्त मतों में मोती लाल मेनारिया का मत अपेक्षाकृत अधिक समर्थ है। जबकि इस विषय में नवीन अनुसंधानों के द्वारा नवीन तथ्यों का उद्-

घाटन नहीं होता तब तक इसी मत पर सन्तोष करना होगा। आचार्य ग्रियर्सन की भूल से डीगल रूप मे व्यवहृत होने लगा यह बात कुछ विचित्र एवं आश्चर्यजनक सी लगती है। उससे केवल इसी शब्द पर ही भूल हुई, या दूसरे शब्दों पर यह भूल नहीं हुई। मेरे विचार में डीगल शब्द को पिंगल के साम्य के आधार पर डिंगल मान लेना अपेक्षाकृत अधिक समीचीन है। इस प्रकार हमें भी मेनारिया और डॉ० श्याम सुन्दर दास के संयुक्त मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होते हैं। डीग शब्द राजस्थानी भाषा मे दर्पोक्ति के अर्थ में कब से प्रयुक्त होने लगा है, अभी यह बात अनुसंधान की अपेक्षा रखती है।

डिंगल राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा की एक शैली विशेष है। डिंगल शब्द राजस्थानी भाषा का पर्यायवाची शब्द नहीं है। इसे न तो राजस्थानी भाषा से पृथक् भाषा स्वीकार किया जा सकता है और न ही इसे राजस्थानी का एक उपभाषा। इस कारण भाषा को एक स्वतन्त्र एवं वर्ग विशेष की भाषा मानना असंगत है। डिंगल को राजस्थानी की विभाषा कहना भी ठीक नहीं है। इसे राजस्थानी से पृथक भाषा इस लिए भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका विकास राजस्थानी से पृथक् न होकर उससे अन्योन्य संबद्ध है।

वस्तुत संस्कृत की समस्त और भारत शैलियों के समान डिंगल भी राजस्थानी की एक शैली विशेष है। डॉ० महेश्वरी ने राजस्थानी की चार शैलियाँ स्वीकार की हैं—(क) जैन शैली (ख) चारण शैली (ग) सन्त शैली (घ) लौकिक शैली। डिंगल को चारण शैली के अन्तर्गत समझना चाहिये। यही कारण है कि चारण शैली की अधिकांश रचनायें डिंगल नाम से अभिहित होने लगी हैं। चारणों ने युद्ध और शृंगार वर्णनों के लिए एक विशिष्ट काव्य संघटना अथवा रचना पद्धति का आश्रय लिया जिसमे वर्णों के द्वित्व छन्दों को एक विशेष रूप में ढालने तथा क्रिया के रूपों को प्रभावशाली बनाने की प्रबल प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस शैली का व्यवहार केवल चारणों ने ही नहीं किया बल्कि पृथ्वीराज राठौर जैसे समर्थ कवियों ने भी इस रचना पद्धति का सफल प्रयोग किया है। सच यह है कि डिंगल मारवाड़ी की एक शैली मात्र है जिसका पोषण विशेषत चारणों के द्वारा हुआ। जिस प्रकार संस्कृत काव्य रचना की पद्धतियाँ वैदर्भी, गौडी और पांचाली संस्कृत भाषा से पृथक् भाषा में न होकर उसकी भिन्न-भिन्न रचना शैलियाँ हैं इसी प्रकार डिंगल भी राजस्थानी की एक शैली विशेष है।

पिंगल—चारणों द्वारा डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं। एक ही कवि द्वारा उसके साहित्य में इन दोनों का समान रूप से प्रयोग हुआ है। कभी-कभी ये दोनों भाषायें इतनी घुल मिल गई हैं कि इनमें विभाजक रेखा खींचना कठिन व्यापार हो गया है। आज के भाषा शास्त्री के लिए इन दोनों भाषाओं के रूपों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना एक समस्या बनी हुई है। बल्कि कभी-कभी तो वह यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं। बरन्

एक ही भाषा के अन्तर्गत हैं ।

पिंगल भाषा के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये हैं । यहाँ उनका अध्ययन कर लेना आवश्यक है ।

(१) **डा० श्याम सुन्दर दास**—"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक साहित्यिक सामान्य रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्यिक ग्रन्थों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उससे व्याकरण आदि का निरूपण भी हो गया । हिन्दी के उस साहित्य रूप को उस काल में पिंगल कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा डिंगल थी । पिंगल भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रन्थों में संयत भाषा तथा व्याकरण सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे । पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे ।"

समीक्षा—उक्त सन्दर्भ के अध्ययन के अनन्तर हमारा ध्यान कुछ मुख्य बातों की ओर आकृष्ट होता है—(क) पिंगल आदि काल की साहित्यिक भाषा थी (ख) यह एक व्याकरणसम्मत और संयत भाषा थी । (ग) उसके साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर क्रमशः उसमें नियमों और बन्धनों की जटिलता आने लगी । हमारे विचार में डिंगल और पिंगल दोनों उस समय की साहित्यिक भाषाएँ थी और इस रूप में दोनों का बराबर प्रयोग हुआ है । दूसरी बात यह है कि पिंगल नियमबद्ध और व्याकरण-सम्मत भाषा थी और डिंगल उसके अन्यथा । किन्तु सत्य यह है कि जब दोनों साहित्यिक भाषायें थीं तो दोनों का व्याकरण सम्मत होना ही संगत लगता है । क्योंकि किसी भी भाषा का साहित्यिक रूप व्याकरण सम्मत और परिमार्जित हुए बिना रह ही नहीं सकता । मात्रा का अंतर भले ही रह सकता है ।

(२) **पं० रामचन्द्र शुक्ल**—"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में पिंगल के नाम से पुकारी जाती थी ।

समीक्षा—आचार्य शुक्ल के मत में बहुत कुछ सत्य निहित है । आचार्य शुक्ल डिंगल भाषा के समान पिंगल को उस समय की एक मान्य साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं । राजस्थानी भाषा का यह वह स्वरूप है जिसमें ब्रज तथा मध्य देश की भाषा का सम्मिश्रण हुआ और धीरे-धीरे उन प्रदेशों की भाषाओं के फलस्वरूप इसमें व्याकरणबद्धता और नियमानुकूलता आई ।

(३) **डाक्टर राम कुमार वर्मा**—"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रज बोली में साहित्य की रचना बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई । उस समय इसका नाम पिंगल था । यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था ।"

समीक्षा—डा० वर्मा ने पिंगल और ब्रज भाषा को एक माना है । "उनके मतानुसार पिंगल का मध्य देश से सम्बन्ध है, राजस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं है । वे

दोनों ही बातें निराधार प्रतीत होती हैं। पहली बात तो यह है कि पिंगल और ब्रजभाषा दोनो एक नहीं है, दूसरे पिंगल का राजस्थान से निश्चित रूप से सम्बन्ध है। यह अवश्य है कि मध्य देश की बोलियों का पिंगल पर काफी प्रभाव पडा। पिंगल का साहित्यिक रूप ब्रज भाषा से प्रभावित अवश्य है किन्तु पिंगल को ब्रज भाषा समझना एक भूल है।

(४) मुंशी देवी प्रसाद—"मारवाडी भाषा में गल्ल का अर्थ बात या बोली है। डींगा लम्बे और ऊँचे को और पांगला पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाडी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरो मे पढी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल सज्ञा हो गई, जिसको दूसरे शब्दो मे ऊँची और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

समीक्षा—भाषा विज्ञान के इतिहास मे ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नही होता है जहाँ ऊँचे-नीचे या लूले-लगडे जैसे अर्थों को आधार बना कर किसी भाषा का नामकरण किया गया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह नितांत असंगत प्रतीत होता है। दूसरी बात और भी है। प्रत्येक भाषा में कोमल रसो के प्रकरण मे वाणी से सहजे में मृदुता आ जाती है और वीर तथा रौद्र आदि पुरुष प्रकृति के रसों के प्रसंग में वाणी मे स्वाभाविक रूप से ओज और कठोरता आ जाती है। फिर ऐसी भी बात नही कि ब्रजभाषा केवल कोमल रसों के ही अनुकूल हो। रीति काल में भूषण, सूदन, लाल तथा पद्माकर आदि ने इसका वीर रस में भी बडा ओजस्वी तथा भव्य प्रयोग किया है।

(५) कुछ विद्वानो ने कहा है कि पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी और उसका छन्दशास्त्र अलग होने के कारण उसका नाम पिंगल पडा। डिंगल का कोई स्वतन्त्र छन्दशास्त्र नही है। किन्तु यह मत भी कोई मान्य प्रतीत नहीं होता है।

(६) पिंगल का छन्दशास्त्र था और डिंगल का नहीं था, इसलिए एक नाम पिंगल पड़ा कुछ संगत प्रतीत नही होता। संस्कृत में छन्दशास्त्र को पिंगल मुनि प्रणीत होने के कारण पिंगल शास्त्र कहते हैं। उस पिंगल शास्त्र पर मेरे विचार में भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं का समान अधिकार है। ऐसी बात नहीं है कि वह एक भाषा विशेष की थाती हो और फिर डिंगल भाषा में अनेक छंदों का बडा कलात्मक प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष—वस्तुतः पिंगल भाषा भी डिंगल के समान उस समय की एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी। यह राजस्थानी भाषा का वह स्वरूप है जिसमें ब्रज तथा मध्य देश की भाषा का सम्मिश्रण हुआ और धीरे-धीरे उसमें व्याकरणसम्मतता और नियमानुकूलता की प्रवृत्तियाँ आती गईं। डॉ॰ नामवरसिंह के निम्न शब्दों से यही तथ्य ध्वनित होता है—"राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातियों और प्रशासकीय रूप में गुजरात से

सबद्ध रहा। दोनो जातियो और बोलियो का विकास साथ साथ हुआ। पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी राजस्थानी मे बहुत कुछ समानता का होना इसी तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से (और शायद उससे भी कुछ पहले से) दिल्ली आगरा के शासन-सूत्र से सम्बद्ध रहा। फलत उसकी भाषा (पूर्वी राजस्थानी) पुरानी ब्रज भाषा से मिलती-जुलती है। धीरे धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सास्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली समूह की मुख्य बोली मारवाडी प्रधान हो गई और वह परिनिष्ठित हिन्दी से स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा के रूप मे गठित होने लगी।'

उपर्युक्त विचारो से स्पष्ट है कि राजस्थानी भाषा का अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। समय-समय पर वह अन्य भाषाओ के सम्पर्क मे भी आई। ब्रजभाषा तथा मध्यदेश की भाषा से इसका प्रभावित होना इतिहास सिद्ध है और कदाचित् इसका यही रूप पिंगल कहलाया।

पिंगल भाषा के नामकरण के सम्बन्ध मे विद्वानो का कहना है कि कदाचित् यह पिंगल—छन्द-शास्त्र के आधार पर हुआ है। जैसे वैदिक भाषा को छान्दस, प्राकृत को गाथा या गाहा तथा अपभ्रंश को दोहा या दूहा के नाम से अभिहित किया गया। इसी प्रकार इस भाषा को भी पिंगल सज्ञा पड गई होगी। भले ही यह मत अधिक वैज्ञानिक प्रतीत न होता हो किन्तु इसकी पृष्ठभूमि मे भाषा विज्ञान के अनेक उदाहरण काम कर रहे हैं।

आधुनिक अनुसधानो द्वारा पिंगल के विषय में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं। जिस प्रकार डिंगल कोई पृथक् भाषा न होकर राजस्थानी की एक शैली विशेष है इसी प्रकार पिंगल भी कोई अलग भाषा न होकर ब्रज भाषा के काव्य की शास्त्रीय रचना की एक शैली विशेष है। डिंगल और पिंगल को क्रमश राजस्थानी और ब्रजभाषा की रचना शैलियाँ ही समझना चाहिए।

आदि काल के कतिपय रासो काव्य तथा कवि

दलपति विजय का खुमान रासो—खुमान रासो का मूल लेखक कौन है और उसका समय क्या है? ये दोनो प्रश्न अभी तक विवादास्पद हैं। इसके साथ-साथ प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी सदिग्ध है। शिवसिंह सेंगर इसके रचयिता के सम्बन्ध मे मौन हैं। उसमे केवल यह बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भट्ट ने खुमान रासो नामक काव्य लिखा था, जिसमें श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियो का उल्लेख है। इधर कुछ खुमान रासो की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, उनमे भी कुछ प्रतियो पर लेखक का नाम दलपत विजय अकित है। ऐसी स्थिति मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है कि दलपत इस ग्रंथ का मूल लेखक है अथवा उद्धर्ता।

कर्नल टाड ने इस पुस्तक की चर्चा बडे विस्तार से की है। उन्होंने कहा है

कि खुमान नाम के तीन शासक हुए हैं जिनमे प्रथम का समय ७५२ से ८०८ ई० तक, दूसरे का ८१२ से ८४३ ई० तक और तीसरे का ९०८ से ९३३ तक राज्य था। इस ग्रन्थ में जिस खुमान का चरित्र है वह अनुमानत खुमान द्वितीय है। क्योकि इसमें बगदाद के खलीफा अलमामू (८१३-८३३ ई०) के चित्तौड पर किये गये आक्रमण का उल्लेख है। जिस खुमान ने खलीफा को पराजित किया था वह द्वितीय है। अनुमान है कि इस ग्रन्थ का निर्माण खुमान द्वितीय के समय मे हुआ होगा लेकिन दूसरी ओर इनमे प्रताप तक के चरित्र का वर्णन है अत इसका रचना काल १७वी शती मानने को बाध्य होना पडता है। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे लिखते हैं 'हिन्दी के विद्वानो ने इन्हे मेवाड के रावल खुमान स० (८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव मे इसका रचना काल स० १७३० से १७६० के मध्य तक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की चर्चा हिन्दी साहित्य के आदि काल मे नही होनी चाहिए।"

अगरचन्द नाहटा ने अत्यन्त तर्कपूर्ण ढग से इसकी हस्तलिखित प्रतियो पर विचार करने के उपरान्त इस सबन्ध मे निम्न निष्कर्ष दिये थे—

१ इस ग्रन्थ मे बप्पा से लगाकर राज सिंह तक का वृत्तान्त है। पर राणा खुमान का वृत्तान्त विस्तार से होने के कारण ग्रन्थ का नाम खुमाण रास रखा गया है।

२ इसकी भाषा राजस्थानी है।

३ इसके रचयिता तपागच्छीय जैन कवि दौलत विजय हैं जिनका दीक्षा से पूर्व का नाम दलपत था।

४ ग्रन्थ निर्माण काल स० १७३० से १७६० के मध्य का है।

इस प्रकार खुमान रासो को हिन्दी का आदि रासो कहना किसी प्रकार का युक्तिसगत नही होगा। मोतीलाल मेनारिया ने भी इसका समय १८वी शताब्दी ठहराया है।

खुमान रासो मे केवल खुमान के चरित को लेकर नही लिखा गया बल्कि उनके वश के इतिहास को लेकर लिखा गया है। "कायम रासा" में भी यही पद्धति अपनाई गई है।

यह ग्रन्थ विविध छन्दो मे प्रस्तुत किया है और कविता की दृष्टि से अत्यन्त सरल बन पडा है, यथा—

पिउ चित्तौड न आविऊ सावण पहिली तीज।
जोवे वाट विरहिणी खिण खिण अणवै खीज॥

नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो

हिन्दी साहित्य मे रासा शब्द का ग्रहण सामान्यत दो रूपो मे हुआ—एक गेय मुक्तक परम्परा और दूसरी नृत्यगीतपरक परम्परा। बीसलदेव रासो प्रथम

परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। आदि काल के शेष साहित्य मे इस ग्रन्थ की चर्चा विशेष रूप मे की जाती है, वस्तुत बीसल व रासो को प्रेमाख्यान काव्यो की कोटि मे रखना अधिक सगत है। इसमे विवाह के उपरान्त पति पत्नी के सम्पर्क से प्रेम का विकास दिखाया गया है। उक्त रासो मे चित्रित प्रोषितपतिका के विरह और बारहमासा आदि के आधार पर इसे सदेश रासक तथा "ढोला मारू रा दूहा" की कोटि मे रखना अधिक वैज्ञानिक होगा। प्राय इतिहासकारो ने बीसलदेव रासो को वीर काव्या की कोटि मे रखा है, जो कि उचित नही है। बीसलदेव रासो का मूल स्वर वीर रसात्मक रासो ग्रन्थो की आत्मा से मेल नही खाता है। इसका वास्तविक स्थान हिन्दुओ द्वारा रचित प्रेमाख्यानो मे ही होना चाहिए। अस्तु ! आदि काल के अन्य रास ग्रथो के समान इस ग्रथ के रचनाकाल, रचयिता और चरितनायक आदि विषय विवादास्पद हैं। नीचे की पक्तियो मे हम क्रमश उक्त बातो के सम्बन्ध मे विवेचना करेंगे।

रचना काल—प्रस्तुत ग्रथ के रचना काल का प्रश्न अत्यन्त ही विवादास्पद है। आचार्य शुक्ल ने निम्न पद्य के आधार पर इसका रचना काल स० १२१२ स्वीकार किया है—

बारह सौ बहोत्तरां मझारि, जेठ वदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरभई शारदा तुटी ब्रह्म-कुमारि॥

स० १२१२ में ज्येष्ठ की नवमी बुधवार को इस ग्रथ का प्रणयन आरम्भ हुआ। उक्त कथन की पुष्टि बीसलदेव के स० १२१० से १२२० तक उपलब्ध होने वाले शिलालेखो से भी हो जाती है। ग्रथ में वर्तमानकालीन क्रिया का प्रयोग भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। किंतु कुछ विद्वानो ने निम्न कारणो के आधार पर उक्त रचना-काल के सबध में सन्देह प्रकट किया है—

१ राजा भोज की पुत्री का देहान्त लगभग १०० वर्ष पहले हुआ, अत बीसल के साथ उसका विवाह असभव है। कोई भी समकालीन रचयिता इस प्रकार इतिहास के विरुद्ध नही लिख सकता।

२ बीसलदेव अत्यन्त पराक्रमी योद्धा थे। उन्होंने कई बार मुसलमानों को नाको चने चबवाये थे। उन्होंने दिल्ली और हाँसी पर अधिकार भी किया था। बीसलदेव रासो मे ऐसी वीरतापूर्ण घटनाओ का उल्लेख अवश्य होना चाहिए था।

३ बीसलदेव जैसा युद्धरत व्यक्ति १२ वर्ष तक उडीसा रहा, यह भी असभव है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने बीसलदेव का राजमती से विवाह सिद्ध करने के लिए बीसलदव का समय स० १०५८ सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जैपाल १००१ म महमूद से पुन पराजित हुआ और उसने आत्मघात कर लिया। उसका पुत्र अनगपाल अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के नेतृत्व मे मुसलमानो के विरुद्ध लड़ा था। अत बीसलदेव का समय १००१ स १०५८ है। डॉ० वर्मा के अनुसार राजा भोज

१०७५ मे राज्यासीन हुआ और ४० वर्ष तक उसने राज्य किया।

गौरीशकर हरीचन्द ओझा के अनुसार बीसलदेव का समय स० १०३० से १०५६ तक है। उन्होने स० १०५५ मे भोज को सिहासीन माना है। ओझा जी के अनुसार बीसलदेव का समय ११वी शती है। उनका कहना है कि वर्तमान काल की क्रियायें भी इसी तथ्य की द्योतक हैं।

मिश्र बन्धुओ ने इस ग्रन्थ का समय १२२० तथा लाला सीताराम ने १२७२ स्वीकार किया है। इधर श्री गजराज बी. ए. (बीकानेर निवासी) ने बीसलदेव रासो की एक प्राचीन प्रति के आधार पर उसका निर्माण स० १०७३ माना है—

'सवत सहज तिहत्तर जानि नाल्ह कबीसर सरसीय बाणि।'

किन्तु हमारे विचार में यह उक्ति किसी भट्ट की कृपा है जो कि एकमात्र प्रक्षिप्त है। यदि प्रस्तुत ग्रन्थ १०७३ मे निर्मित हुआ तो इस ग्रथ की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रश होनी चाहिए थी।

डॉ० रामकुमार वर्मा पृथ्वीराज विजय की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि अर्णोराज के द्वितीय पुत्र विग्रहराज चतुर्थ के शिलालेख १२१० से सिद्ध होता है कि अर्णोराज की मृत्यु १२०१ से १२७२ के बीच हुई। यह कथन अपने आप मे विरोधी है। जो बीसलदेव या विग्रहराज १०५८ मे विद्यमान था वह तृतीय था और १२२० के लगभग चतुर्थ विद्यमान थे। यहाँ एक बात और भी विचारणीय है। डा० महोदय ने नरपति को बीसलदेव का समकालीन नही माना है फिर वर्तमान कालीन क्रियाओ की सार्थकता कैसी? विग्रहराज तृतीय के समय अजमेर बसा ही नही था। तृतीय विग्रहराज के वशज महाराज अजयराज ने अजमेर बसाया था। अजयराज के पुत्र अर्णोराज ने अनासागर झील बनवाई थी। उसका वर्णन बीसलदेव रासो मे उपलब्ध होता है।

इस ग्रथ के रचना काल के सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद का कथन है कि कवि ने अतिरजित कल्पना से काम लिया है। बीसलदेव अत्यन्त प्रतापशाली राजा था, वह स्वय सस्कृत का कवि भी था। उसने अपना हर-केलि नाटक शिला पट्टो पर खुदवाया था। उसके राजकवि सोमदेव ने 'ललित विग्रहराज' लिखा था। बीसलदेव रासो से बीसलदेव की वीरता का कोई आभास नही मिलता। इस बात का भी प्रमाण नही कि उसने उडीसा को जीता था। ग्रन्थ मे बार-बार कहा गया है कि रासो का निर्माण गायन के लिए हुआ है, पर राजपूताने के विद्वानो का कहना है कि बीसलदेव रासो यहाँ कभी भी नही गाया गया है। यह तो निश्चित है कि नरपति नाल्ह बीसलदेव का समसामयिक नही। राजपूताने मे वर्तमानकालिक क्रियाओ का प्रयोग बार-बार देखा गया है। अत बीसलदेव रासो का रचना काल १५४५ से १५६० है। मोतीलाल मेनारिया ने भी यही रचना-काल स्वीकार किया है। इनके इस कथन का आधार उक्त ग्रन्थ की भाषा है।

इस प्रकार हमने देखा कि उक्त ग्रथ के रचना-काल के सम्बन्ध में तीन सवत्

हैं—१२१२, १५४५ से १५६० तथा १०७३। हमारे विचारानुसार इस ग्रंथ का रचना काल संवत् १२१२ समीचीन है। बीसलदेव रासो का नायक विग्रहराज चतुर्थ है विग्रहराज चतुर्थ का राजमती से विवाह भी संभव है। राजमती धारा के परमार वंशज राजा भोज की पुत्री नहीं, जैसलमेर के बसाने वाले रावल भोज देव की सुपुत्री है। रावल भोज देव का शासन काल १२०१ से प्रारम्भ होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड तो प्राप्त ही नहीं होता। दूसरे और तीसरे में सर्वत्र राजमती को जैसलमेर की राजकुमारी बताया है।

लेखक ने इस ग्रन्थ को इतिहास या वंशावली के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इसे सरस कल्पना और काव्यमय रूप दिया है। यही कारण है कि इसमें विग्रहराज चतुर्थ की वीरता की उपेक्षा है। बीसलदेव का उडीसा प्रस्थान, जगन्नाथ पुरी की यात्रा, वहाँ के राजा के निमन्त्रण अथवा दिग्विजय की भावना से संभव है। कवि ने उसे विरह वर्णन का रूप दे दिया है। पर्याप्त प्रक्षिप्त पाठों के होने पर भी यह रचना १२१२ में लिखी गई मालूम पड़ती है। भले ही इसका वर्तमान रूप १६वीं शताब्दी में निर्मित हुआ हो।

रचयिता—इस ग्रन्थ का रचयिता विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन कवि नरपति नाल्ह (१२१२) है। पर इधर मोतीलाल मेनारिया ने अजमेर के नरपति को गुजरात के नरपति नाल्ह से अभिन्न माना है। उनके इस विश्वास का प्रमुख आधार दोनों कवियों का भाव-साम्य है। डा० हजारी प्रसाद भी इस सम्बन्ध में मेनारिया के मत से सहमत दीख पड़ते हैं। अजमेर के नरपति नाल्ह का समय १२१२ है जबकि गुजरात के नरपति नाल्ह का समय १६वीं शती ठहराता है। ऐसी स्थिति में दोनों में एकता स्थापित करना समीचीन नहीं है। रही भावसाम्य की बात, उसका मिल जाना संभव है क्योंकि मानव मन में एकता मिलनी कोई अकल्पनीय वस्तु नहीं। शृंगार-प्रकाश के कर्ता भोजराज तथा फ्रायड में भाव साम्य मिलता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वे दोनों समकालीन थे या एक दूसरे के भावों का अपहरण किया है। इधर स्वयं कवि ने अपने ग्रन्थ का रचना काल 'बाधारा सौ बहोत्तरा' दिया है। इसमें बहोत्तरा का अर्थ भले ही १२, २० या ७२ लिया जाय पर बारह सौ तो स्पष्ट ही है। अतः १६वीं शती के कवि को १३वीं शती के कवि अभिन्न मानना समुचित नहीं!

चरित नायक—बीसलदेव रासो का चरित नायक विग्रहराज चतुर्थ है। अजमेर और साँभर के चौहानों में विग्रहराज नाम के राजा मिलते हैं जिन्हें बीसलदेव कहा जाता है। दिल्ली के फीरोजशाह की लाट पर विग्रहराज चतुर्थ द्वारा खुदवाये गये लेख से इस बात की पुष्टि होती है। विग्रहराज तृतीय का स० ११५० विक्रमी में तथा विग्रहाज चतुर्थ का स० १२१० से १२२० वि० तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। बीसलदेव रासो में कोई वंशावली नहीं दी गई है अतः यह निर्णय देना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि यह कौन सा विग्रहराज था। कई विद्वानों

ने विग्रहराज चतुर्थ को इस ग्रन्थ का नायक मानना स्वीकार किया है किन्तु श्री ओझा जी ने विग्रहराज तृतीय को इसका नायक मानना अधिक उपयुक्त समझा है। उनका कहना है कि यदि बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ माना जाय तो राजमती का उससे विवाह इतिहास के विरुद्ध पड़ता है और इसी प्रकार और भी अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ बनी रहती हैं।

वास्तव में नरपति नाल्ह न कोई इतिहासज्ञ था और न ही कोई बड़ा कवि। उसने सुने सुनाये आख्यान के आधार पर लोगों को प्रसन्न करने के लिए काव्य का ढाँचा खड़ा किया जिसमें समय-समय पर यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा जिससे उसका असली रूप दब गया और उसमें कई ऐतिहासिक भ्रांतियाँ आ गई।

भाषा—इस ग्रन्थ की भाषा को उस युग की भाषा का संधिस्थल कह सकते हैं। इसकी भाषा में एक ओर तो अपभ्रंशपन है और दूसरी ओर हिन्दीपन। भाषा का यह रूप वस्तुतः उसे सं० १२१२ की रचना सिद्ध करता है। ११वीं शती की अधिकांश रचनाएँ परिनिष्ठित अपभ्रंश में हैं और १४वीं शती की रचनाएँ डिंगल और पिंगल में लिखी गई हैं; अतः यह रचना १३वीं शती को ठहराती है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के विचार द्रष्टव्य हैं —

"भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं, है राजस्थानी है। ......इस ग्रन्थ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट भाषा में ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेव रासो में बीच-बीच में बराबर इस साहित्यक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।"

—शुक्ल

बीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और सर्वनामों के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्य विकसित हिन्दी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

—डॉ० रामकुमार वर्मा

काव्य सौन्दर्य—बीसलदेव रासो एक विरह काव्य है। इसमें चार खण्ड हैं तथा सवा सौ छन्द हैं। इसके प्रथम खण्ड में अजमेर के विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का परमार वंशज राजा भोज की कन्या राजमती से विवाह वर्णित है। द्वितीय खण्ड में राजमती के व्यंग्य पर राजा का उड़ीसा प्रवास है। तृतीय खंड में राजमती का विरह वर्णन तथा १२ वर्षों के अनन्तर राजा का वापस आना उल्लिखित है। चतुर्थ खण्ड में राजमती के मायके चला जाना तथा बीसलदेव का उसे अजमेर वापस ले आने का वर्णन है। यह सारी कथा ललित मुक्तकों में कही गई है। यदि इस कहानी को हटा भी दिया जाय तो भी इस प्रेम काव्य के मुक्तकों की एक सूत्रता

में कोई अन्तर नहीं आता। संदेश रासक की भाँति बीसलदेव रासो भी मुख्यतः विरह काव्य है। अन्तर इतना है कि बीसलदेव रासो के प्रारम्भ में विवाह के भी गीत हैं साथ ही बीसलदेव के परदेस जाने का प्रसग भी वर्णित है। शेष प्रसग सामान्य रूप से लगभग एक से हैं अन्तर केवल ब्यौरे का है। यह ग्रन्थ विरह के स्वाभाविक चित्रण, संयोग और विप्रलभ शृंगार की सफल उद्भावना और साथ ही प्रकृति के रूप चित्रों से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विविध घटनाओं के वर्णनों के होते हुए भी इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता नहीं आ पाई है। राजमती का चरित्र बडा ही सजीव तथा विलक्षण बन पड़ा है। "मध्य युग के समूचे हिन्दी साहित्य मे जबान की इतनी तेज और मन की इतनी खरी नायिका नहीं दीख पड़ती।" राजा बीसलदेव ने एक दिन राजकीय अभिमान की रौ में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं। रानी से यह मिथ्याभिमान न सहा गया। उसने कहा उडीसा का राजा तुमसे धनी है। जिस प्रकार तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है, उसी तरह उसके घर में हीरे की खानों से हीरा निकलता है। राजा इस पर जल-भुन गया और वह रूठ गया और रानी के लाख अनुनय-विनय करने पर भी उसने उडीसा जाने का सकल्प कर लिया। उस समय के रानी के वचन अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं—

हेडाऊ का तुरिय जिउ।
हाथ न फेरइ सउसउ वार॥

अर्थात् मैं हार के उस घोडे के समान उपेक्षिता हूँ जिस पर घोड़े वाला सौ-सौ दिन तक हाथ नहीं फेरता। आगे चलकर वह कहती है कि ताजी घोडा यदि उसासें लेता है तो दागा जाता है, चरता हुआ मृग भी मोहित किया जा सकता है, किन्तु हे सखि! अँचल मे पिया को बाँधा कैसे जा सकता है?

तोरीया तेजीय जउ रे उससाई
मृग रे चरन्ता मोहिजइ
सखि अंचलि बाँधियउ नाह किऊं जाइ॥

पति की नीरसता पर झल्ला कर राजमती यहाँ तक कहती है—
राउ नही सपि भइ स पौबार।

राजमती जबान की तेज है तो क्या आखिर है तो नारी ही। विरह से उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसे अपने स्त्री जीवन पर रोना आता है। महेश को उलाहना देती हुई वह कहती है कि स्त्री का जन्म तुमने क्यों दिया? देने के लिए तो तुम्हारे पास और भी अनेक जन्म थे। तुमने मुझे जंगल का जन्तु क्यों नहीं बनाया। यदि वन खण्ड की काली कोयल ही बनाया होता तो आम और चम्पा की डाल पर तो बैठती, अगूर और बीजोरी के फल तो खाती। वास्तव मे उक्त कथन में वासना-भिभूत मध्ययुगीन पुरुष के स्वार्थ और उसकी अति कामुकतामयी रसिकता की शिकार बनी हुई मध्ययुगीन नारी के आत्मा का करुण क्रन्दन एवं चीत्कार है। इस प्रकार के

कथन विद्यापति तथा हेमचन्द में भी देखे जा सकते हैं। राजमती की आत्मा विद्रोहिणी *मन-अभिमानी और जबान प्रखर है। पुरुष की स्वार्थमय रसिकता ने उसे नारी जीवन से ही विरक्त बना दिया है।*

> अस्त्रीय जनम काइ दीधउ महेस
> अवर जनम थारइ घणा रे नरेश,
> रानि न सिरजीय रोझड़ी,
> घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
> वनखंड काली कोइली,
> हउं बइसती अंबा नइ चम्पा की डाल
> भखती दाख बिजोरडी।

आगे वह फिर कहती है कि यदि तुमने मुझे नारी ही बनाया तो राजरानी न बना कर आजनी (जाटनी) क्यों नहीं बनाया। तब मैं अपने भरतार के साथ खेत कमाती, अच्छी लोमपटी पहनती, तुरग तुरग के समान अपना गात स्वामी के गात से भिड़ाती, स्वामी को सामने स लेती और हँस हँस कर प्रिय की बात पूछती। कितनी बडी विवशता है किसी राजा की रानी होना—कितना बडा अभिशाप है। राजा के वापस लौटने पर रानी की कैंची जैसी जबान से फिर न रहा गया और उसने ताना मार ही दिया—

> स्वामी घी विणजियउ नइ जीमियउ तेल।

हे स्वामी! तुमने वाणिज्य तो घी का जरूर किया किन्तु जैसा तेल हो। इतनी *सुन्दर नारी से विवाह तो किया किन्तु उसके उपभोग करने का सौभाग्य तुम्हें न* मिल सका। अभिव्यक्ति की ताजगी और भावो की तीव्रता मे बीसलदेव रासो सदेश रासक से कहीं अधिक लोक-जीवन के रग मे रगा हुआ है। इससे यह सिद्ध है कि हिन्दी साहित्य के अभ्युदय काल मे लोक-जीवन का स्पर्श अधिक गहराई के साथ होने लगा था। बीसलदेव रासो पर लोक-तत्त्व का प्रभाव बहुत गहरा है।

विप्रलभ की अवस्था मे कवि ने जो बारहमासा दिया है वह भी अपने ढग का अकेला है। चैत्र मास का छन्द देखिए—

> चैत्र मासई चतुरगी हे नारि।
> प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि।
> कचुयउ भीजइ हसइ।
> सात सहेलीय बइठी छइ पाइ।

विरह काव्य होने के कारण *बीसलदेव रासो में सभोग के मासलता पूर्ण* चित्रो का प्राय अभाव है। इस दृष्टि से यह सदेश परम्परा म आता है। कालिदास के मेघदूत की परम्परा मे नही, क्योकि कालिदास का यक्ष प्रकृति से अतिरसिक है। वियोग काल मे अनुभूतिया तरल और सूक्ष्म हो जाती हैं किन्तु कालिदास का यक्ष वियोग काल में सदेश देते समय भी सयोग के मासल दृश्यो को नही भूलता।

इस रचना मे आदि से अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। सपूर्ण रचना गेय है। प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र गीत है और केदारा राग मे गाये जाने के लिए लिखा गया है। यह रचना नृत्य-गीत के रूप मे प्रस्तुत की जाती रही है।

इसमे कहीं कहीं पर साधारण और अक्रमिक शैलो मे घटनाओ का वर्णन मिलता है और कई स्थानो पर 'बेटी राजा भोज की' बीच मे ही जोड दिया गया है। दूसरी बात यह है कि कथानक के अन्तर्गत आने वाले सवाद कई जगह उलझे हुए हैं। कहीं-कही पर चित्रण अत्यन्त नीरस और भौंडा हो गया है। किन्तु इन त्रुटियो के होते हुए भी बीसलदेव रासो अपनी गेयता, सक्षिप्तता और सरस चित्रणो के फल-स्वरूप पाठको को प्रभावित करता रहेगा।

जगनिक का परमाल रासो (आल्हा खण्ड)

जगनिक कालिंजर (चदेल राज्य) के राजा परमर्दिदेव का दरबारी कवि था। परमर्दिदेव कन्नौज नरेश जयचन्द का सामन्त था या अधीनस्थ कोई राजा था। परमर्दिदेव राजा जयचन्द की सदा सहायता किया करता था। एक दफा पृथ्वीराज चौहान ने चन्देल राज्य पर किसी ब्याज से आक्रमण किया जिसमे बनाफर शाखा के दो क्षत्रिय वीर आल्हा और ऊदल वीरगति को प्राप्त हुए। जगनिक ने इन्ही दो वीरो की गाथा को लेकर काव्य लिखा। बहुत दिनो तक इस काव्य को पृथ्वीराज रासो का एक खण्ड 'महोबा खण्ड' के रूप मे समझा गया। स० १९७६ मे नागरी प्रचारिणी सभा काशी से यह रचना प्रकाशित हुई है जिसके सपादक डॉ० श्याम-सुन्दरदास ने भूमिका में लिखा है "जिन प्रतियो के आधार पर यह सस्करण सम्पादित हुआ है उनमे यह नाम नही है। उनमे इसको चन्द्रकृत पृथ्वीराज रासो का महोबा खड लिखा हुआ है। किन्तु वास्तव मे यह पृथ्वीराज रासो का महोबा खण्ड नही है, वरन् उसमे वर्णित घटनाओं को लेकर मुख्यत पृथ्वीराज रासो मे दिये हुए एक वर्णन के आधार पर लिखा हुआ एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रथ का नाम मूल प्रतियो मे पृथ्वीराज रासो दिया हुआ है, पर इस नाम से इसे प्रकाशित करना लोगो को भ्रम मे डालना होगा। अतएव मैंने इसे परमाल रासो नाम देने का साहस किया है।

फर्रुखाबाद के कलक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने लोक मे प्रचलित आल्हा-ऊदल सम्बन्धी गीतो का सग्रह आल्हा खड के नाम से छपवाया था। डॉ० हजारी-प्रसाद इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखते हैं—"नि सदेह इस नये रूप मे बहुत सी नई बातें आ गई है और जगनिक के मूल काव्य का क्या रूप था, यह कहना कठिन हो गया है। अनुमानत इस सग्रह का वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानको मे बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसलिए चन्दवरदायी के पृथ्वीराज रासो की तरह इस ग्रन्थ को भी अर्द्ध-प्रामाणिक कह सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि या तो जगनिक का काव्य बहुत दिनों तक बुन्देलखड के बाहर प्रचारित नही हुआ

या यह रचा ही बहुत बाद में गया। पुराने साहित्य में इस अत्यन्त लोकप्रिय काव्य का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता और गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस श्रेणी के काव्य को शायद सुना ही नहीं था। यदि उन्होंने सुना होता तो अपने स्वभाव और नियम के अनुसार इस पद्धति को भी अवश्य राममय बनाते।"

निःसन्देह इस रचना में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए फिर भी इस में जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा अजस्रगति से प्रवाहित होकर आज तक रसिकों के मन को आप्लावित करती आई है—कवि के लिए यह कम महत्व की बात नहीं है। यह आल्हा खंड आज भी वर्षा ऋतु में गाया जाता है। इन गीतों को आल्हा रासो भी कहा जाता है, क्योंकि उस समय गेय साहित्य को रासो की संज्ञा से अभिहित किया जाता था।

चन्दवरदायी : पृथ्वीराज रासो

चन्द व्यक्तित्व और चरित—चन्द हिन्दी साहित्य का एक ऐसा विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कवि है जिसकी कृति 'पृथ्वीराज रासो" और उसका निजी व्यक्तित्व आज तक प्रश्नवाची चिह्न (?) से संयुक्त है। आज पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता अत्यन्त विवादास्पद विषय है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने रासो को सर्वथा अप्रामाणिक, कुछ एक ने प्रामाणिक और कइयों ने अर्द्ध-प्रामाणिक माना है। इस वितंडावाद से रासोकार का व्यक्तित्व नितांत धूमिल हो गया है।

परम्परानुसार रासो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये पृथ्वीराज के साथ वि० सं० १२०६ में पैदा हुए थे। ये जगाति गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे और इनका जन्म लाहौर में हुआ। जालन्धरी इनकी इष्ट देवी थी जिनकी कृपा से चन्द अदृश्य काव्य तक का निर्माण कर सकते थे। चन्द पृथ्वीराज के राज कवि ही नहीं थे अपितु सखा और सामान्त भी थे। षट्-भाषा-व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि में ये पूर्णतया दक्ष थे, इनका जीवन पृथ्वीराज से एक-मात्र अभिन्न था। ये सभा, युद्ध, आखेट तथा यात्रादि में सदा महाराज के साथ रहा करते थे। जब शहाबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज चौहान को बंदी बनाकर गजनी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे और रासो का लेखन कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप गये—

"पुस्तक जल्हण हत्थ दे चलि गज्जन नृप काज।"

गजनी पहुँच कर चन्द ने सम्राट् चौहान को मुक्त करवाने के लिए पृथ्वीराज द्वारा शब्द बेधी बाण चलाने की योजना बनाई। पृथ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चला कर गौरी का काम तमाम कर दिया, तत्पश्चात् चन्द और पृथ्वीराज ने कटार मार कर आत्मोत्सर्ग किया।

कई विद्वानों ने चन्द के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताया है किन्तु रासो में लिखा है कि चन्द का जन्म लाहौर में हुआ। कहते हैं कि चन्द पृथ्वीराज

के पिता सोमेश्वर के समय राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे पृथ्वीराज का मन्त्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत-सी भूमि चन्द को दी थी। नागौर में अब तक भी चन्द के वंशज रहते हैं।

इधर प्रो० बूलर आदि विद्वानों ने चन्द के अस्तित्व को मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया है। प्रो० महोदय का कथन है कि जयानक रचित पृथ्वीराज नामक संस्कृत काव्य में पृथ्वीराज की राज सभा का वर्णन किया है पर उसमें चन्द का कहीं भी नाम नहीं है। उसमें पृथ्वीराज के दरबारी बन्दीजन पृथ्वी भट्ट का उल्लेख है। पृथ्वीराज विजय के निम्न श्लोक—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यं सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥

के आधार पर चन्द्रराज नामक किसी कवि का होना तो सिद्ध होता है, पर यह नाम चन्द्रवरदायी का सूचक नहीं। ओझा जी ने भी इसे चन्द्रक कवि का सूचक बताया है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भी किया है। इसी तथ्य की पुष्टि कुछ-एक शिला-लेखों से भी हो जाती है। उनमें चन्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त १५वीं शती में रचित हम्मीर महाकाव्य में चौहान वंश का वर्णन तो है पर चन्द का नाम भी नहीं है। इसी प्रकार उस समय में लिखित "रंभामंजरी" नामक नाटकों में रासो या चन्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उक्त तथ्यों के आधार पर ही चन्द को अस्तित्व-हीनता स्वीकार करना संगत प्रतीत नहीं होता। किसी ग्रन्थ अथवा शिलालेख में अन्य कवि का नाम न होना कोई प्रबल तर्क नहीं है। ईर्ष्यावश या किसी अन्य कारण वश उसका उल्लेख न किया जाना नितान्त सम्भव है। दूसरी बात यह भी है कि जयानक या हम्मीर महाकाव्यकार कोई इतिहास प्रस्तुत नहीं कर रहे थे। बाण ने अपनी कादम्बरी में अनेक कवियों को श्रद्धांजलि अर्पित की है पर फिर भी कुछ एक कवियों का वहाँ उल्लेख नहीं है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि संस्कृत साहित्य में कवि हैं ही नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ कुछ मिथ्या और निरर्थक मान्यतायें और धारणायें चल निकली हैं जैसे रामायण के राम और रावण आदि पात्र एकमात्र कल्पित हैं, कौटिल्य एवं चाणक्य सर्वथा कल्पित (Mythical) हैं। अस्तु ! प्रबन्ध संग्रहों के सम्पादक मुनि जिनविजय ने लिखा है—"इससे यह प्रमाणित होता है कि चन्द कवि निश्चयत: एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्ति कलाप का वर्णन करने के लिए देशव्यापी प्राकृत भाषा में एक काव्य रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

चन्दवरदाई ने षड्-भाषा कुरान तथा पुराणों के ज्ञाता होने का दावा किया है···षड्-भाषा कुरानंच पुराणं विदितं मया। वर्णरत्नाकर के लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने षड्-भाषाओं के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी तथा

मागधी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार—शकारी आभीरी, चाडाली, सावली, द्राविडी औत्कलि और विजातीया, ये सात उपभाषायें हैं। (वर्णरत्नाकर पृ० ४४) हमारा अनुमान है कि चन्दवरदायी की उपर्युक्त भाषाओं का विशिष्ट ज्ञान था। और यह कोई अजब नहीं कि पृथ्वीराज रासो अपने मूल रूप में प्राकृत भाषा में या तत्सम्बन्धी अपभ्रंशों में प्रणीत हुआ हो तथा बाद में उसकी भाषा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रही हो।

शताब्दियों से चली आई चन्दवरदायी विषयक जनश्रुति-परम्परा को एकमात्र कपोल-कल्पित नहीं कहा जा सकता है। निःसन्देह चन्द की जीवनी के सम्बन्ध में जितनी सामग्री उपलब्ध है वह नितान्त विश्वसनीय एवं सन्तोषजनक नहीं। इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करण और उसका उद्धरण

पृथ्वीराज रासो के कई संस्करण मिलते हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं —

(क) वृहत् रूपान्तर—इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं तथा इसके आधार पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७५० के पश्चात की हैं। वैसे नागरी प्रचारिणी सभा वाले संस्करण का आधार सं० १६४२ की प्रति को बताया जाता है। इसमें ६६ समय (सर्ग) हैं तथा १६३०६ छन्द हैं।

(ख) मध्यम रूपान्तर—इसकी कुछ प्रतियाँ अबोहर के साहित्य सदन, बीकानेर के जैन ज्ञान भंडार और श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है। इसकी छन्द संख्या सात हजार है तथा इसकी सब उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७०० के पश्चात् की हैं।

(ग) लघु रूपान्तर—इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। यह १६ सर्गों में विभाजित है तथा श्लोक संख्या ३५०० है। इनमें से कुछ प्रतियों के अन्त में ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनसे पता चलता है कि इस संस्करण का संकलन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुआ था।

(घ) लघुतम रूपान्तर—यह संस्करण श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा खोजा गया था। इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं है तथा श्लोक संख्या १३०० है। डॉ० दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है।

उद्धरण कार्य—रासो के उद्धरण कार्य में तीन व्यक्तियों का नाम लिया जाता है—(क) मल्लर (जल्हन), (ख) चन्द्रसिंह, (ग) अमरसिंह।

(क) मल्लर या जल्हन कवि चन्दवरदायी का पुत्र था। गजनी जाते समय चन्द अपने पुत्र जल्हन को रासो का पूरा करने का आदेश दे गये थे—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज॥

भारतीय साहित्य में यह कोई नई बात नहीं। कवि बाण की मृत्यु के पश्चात्

उसके पुत्र ने कादम्बरी का उत्तरार्द्ध भाग लिखकर उसे सम्पूर्ण किया था। जल्हन को उद्धर्त्ता न समझकर कर्त्ता ही समझना चाहिए।

(ख) चन्दसिंह—रासो के लघुरूपान्तर में "चन्दसिंह उद्धरिय इम" यह पाठ उपलब्ध होता है। यह चन्दसिंह कौन है इसका उत्तर डॉ० उदयनारायण तिवारी अपनी पुस्तक वीर काव्य संग्रह में देते हुए लिखते हैं—"चान्दसिंह अथवा चन्दसिंह महाराज मानसिंह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चन्दसिंह मानसिंह का भतीजा था।

(ग) अमरसिंह—अमरसिंह द्वितीय भी रासो के उद्धर्त्ता माने जाते हैं। इनका शासन काल सं० १७७५ से १८०८ है। इसके उद्धार कार्य को प्रमाणित करने के लिए निम्न दोहा उपस्थित किया जाता है :—

छन्द प्रबन्ध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खंडि यह पिंगल अमर भरत्थ॥

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

प्रारम्भ में रासो को एक प्रामाणिक ग्रन्थ समझा गया। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समझकर इसके साहित्यिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था, किन्तु इसी बीच १८७५ ई० में डॉ० बूलर का काश्मीर में जयानक रचित "पृथ्वीराज विजय" नामक संस्कृत काव्य उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ में वर्णित घटनायें उसे रासो की अपेक्षा शुद्ध प्रतीत हुईं। ऐसी स्थिति में प्रो० बूलर को रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह हुआ और उसने उसका प्रकाशन कार्य स्थगित करवा दिया। वैसे तो रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति जोधपुर के कविराज मुरारिदान तथा उदयपुर के कविराज श्यामलदास थे किन्तु डॉ० बूलर के सन्देहपूर्ण दृष्टिकोण से अन्य भारतीय विद्वानों को इस दिशा में काफी प्रेरणा मिली, जिनमें गौरीशंकर हीराचंद ओझा विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अकाट्य युक्तियों से रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इधर डॉ० दशरथ शर्मा ने ओझा जी की तमाम शंकाओं को निर्मूल सिद्ध करने के लिए तथा रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किये हैं। सच यह है कि हिन्दी साहित्य में रासो की प्रामाणिकता का प्रश्न आज तक विवादास्पद बना हुआ है। कुछ आलोचक रासो को नितान्त अनैतिहासिक मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् इसे सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों का तीसरा वर्ग रासो को अर्द्ध-प्रामाणिक रचना मानता है। चौथा वर्ग ऐसा है जो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानता है पर इनके मतानुसार चन्द ने रासो की रचना नहीं की। रासो के आलोचकों के ये चार वर्ग अग्रलिखित हैं :—

प्रथम वर्ग—रासो को सर्वथा अप्रामाणिक मानता है। यह वर्ग चन्द के अस्तित्व को तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना को भी नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थक हैं कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारीदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बूलर, मारिसन, मुंशी देवी प्रसाद, श्री अमृतलाल शील, श्री रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा।

द्वितीय वर्ग—यह वर्ग रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक तथा चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पाड्या, मिश्रबन्धु तथा मोतीलाल मेनारिया आदि। इनमे कुछ रासो मे प्रक्षिप्त अंशों का बहुत बड़ी संख्या मे होना मानते हैं।

तृतीय वर्ग—यह वर्ग मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार मे चन्द नामक कवि था जिसने रासो लिखा था किन्तु वह मूल रूप मे अप्राप्य है। आज उसका परिवर्तित एवं विकृत रूप उपलब्ध होता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिनविजय, अगरचन्द नाहटा, डॉ० दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह और हजारीप्रसाद। ये विद्वान् रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।

चतुर्थ वर्ग—यह मानता है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था परन्तु उसने प्रबन्ध रूप मे रासो की रचना नहीं की। जैन ग्रन्थ माला मे प्राप्त पदों को उसकी फुटकर रचना मानता है। नरोत्तम स्वामी का यही मत है।

रासो की अप्रामाणिकता के कारण—रासो को प्रामाणिक मानने के मुख्यतः तीन कारण हैं—(क) घटना वैषम्य, (ख) काल वैषम्य, (ग) भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था।

(क) घटना वैषम्य—रासो मे दिए गये अनेक नाम तथा घटनायें इतिहास-सम्मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ —

१. रासो में परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रीय अग्निवंशी माने गए हैं। जबकि प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

२ चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा पृथ्वीराज विजय नामक ग्रन्थ से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और न ही जयचन्द अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौरवंशी था। शिलालेखों मे उसे गहरवार क्षत्रिय बताया गया है।

३ ओझा जी ने पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता तथा संयोगिता स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।

४. इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही पृथ्वीराज को उसने गोद लिया था। पृथ्वीराज अजमेर का दास था न कि

दिल्ली का। बीसलदेव पहले से ही दिल्ली राज्य को अजमेर राज्य में सम्मिलित कर चुके थे।

५ पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरदेवी था, न कि कमला, जैसे रासो में वर्णित है।

६. पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् १०६ वर्ष तक जीवित रहे।

७ गुजरात के राजा भीमसिंह का पृथ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीमसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् ५० वर्ष तक जीवित रहे थे। भीमसिंह पृथ्वीराज के समय बालक ही था।

८. शहाबुद्दीन का मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गौरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के हाथों से हुई।

६ रासो में पृथ्वीराज के ११ वर्ष से लेकर ३६ वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गई थी। अत: इतने विवाह असम्भाव्य हैं।

१०. शहाबुद्दीन द्वारा समरसिंह का वध और पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध इतिहास-विरुद्ध है।

(ख) काल वैषम्य—रासो में दी गई तिथियाँ तथा सम्वत् भी अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिये गए सम्वतों तथा दूसरे ऐतिहासिक सम्वतों में १०० वर्ष का अन्तर है।

१ रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु का सम्वत् ११५८ है जबकि इतिहास से वह सम्वत् ११४८ है। पृथ्वीराज का जन्म रासो में स० १११५ है। इतिहास से वह १२२० ठहरता है।

२ आबू पर भीम चालुक्य का आक्रमण शहाबुद्दीन के साथ पुराडोर युद्ध की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं।

३. पृथ्वीराज की जीवन घटनायें—उसका दिल्ली गोद जाना, मेवाती मुगल युद्ध, सयोगिता-स्वयवर आदि घटनाओं का स० १४६० के आस पास रचित हम्मीर महाकाव्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

४. रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गौरी स० १२४६ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परन्तु इतिहास के अनुसार स० १२६३ में गक्खरों के द्वारा उसका वध किया गया था।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रासो एक जाली ग्रन्थ है। यदि चन्दबरदाई पृथ्वीराज का समकालीन होता और रासो उसकी कृति होती तो कदाचित् इतनी भयकर भूलें न होतीं। इस विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—'इस सम्बन्ध में इसके अनिश्चित और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह ग्रन्थ पूरा जाली

है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चन्द के कुछ पद्य भी बिखरे हों। पर उनका पता लगाना असम्भव है। यदि किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और इसमें कुछ सम्वत् तो ठीक होते।'

(ग) भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था—रासो में अरबी फारसी के बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है जो चन्द के समय किसी भी प्रकार प्रयोग में नहीं लाये जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर सोलहवीं शताब्दी की ठहरती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इसी आधार पर इसे सोलहवीं शती की रचना माना है। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है, 'यह ग्रन्थ (पृथ्वीराज रासो) न तो भाषा के इतिहास के और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं के काम का है।"

रासो को प्रामाणिक मानने वालों का मत—रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। इसमें बहुत कुछ प्रक्षेप होने के कारण इसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चित रूप से साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रासो के लघुतम संस्करण में प्रक्षेप अधिक संख्या में नहीं है। मुनि जिनविजय का कहना है कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी। एस० के० चटर्जी का भी ऐसा ही विश्वास है। क्योंकि 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह" में रासो के चार छन्द ऐसे मिले हैं, जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं। यह प्रति लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी की मानी गई है। डॉ० हजारीप्रसाद का मत है कि "इन पद्यों के प्रकाशन के बाद अब कोई इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है। सौभाग्यवश रासो में भी ये छन्द कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द के मूल छन्द अवश्य मिले हुए हैं।"

डॉ० दशरथ शर्मा ने रासो पर आरोपित शंकाओं का खण्डन करते हुए कहा है—

१ मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और न उसकी रचना सं० सोलह सौ के आस पास हुई थी। इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना वैषम्य काल, वैषम्य एवं भाषा सम्बन्धी अव्यवस्थाओं का निराकरण हो जाता है। इन प्रतियों में इतिहास विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

२ राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिक राय उत्पन्न हुआ। सुर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है।

३ ओझा जी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर

की लघुतम प्रति मे नही है। पृथ्वीराज विजय मे और इस प्रति की वंशावली मे कुछ ही नामो का अन्तर है।

४ अनगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति मे भी है। शर्मा जी इसका कोई कारण नही बता सके।

५ सयोगिता-स्वयवर का वर्णन सभी प्रतियो में विस्तारपूर्वक है। लघुतम प्रति में केवल इन्छिनी के विवाह का वर्णन है।

६ पृथा का विवाह तथा शहाबुद्दीन समरसिंह युद्ध और भीम सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और सोमेश्वर के युद्ध का इस प्रति मे कहीं उल्लेख नही। इसमे पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा भी नही है।

७ लघुतम प्रति में कैमास वध का वर्णन है। पृथ्वीराज विजय के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। वह मूल रासो की कथा है।

डॉ० दशरथ शर्मा का कहना है कि रासो की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में दी गई सब युक्तियाँ हेत्वाभास हैं। वे आगे लिखते हैं।

'सारांश यह कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर की प्रति से भी रासो की पुरानी प्रति को खोज निकाला जाय। यदि रासो की प्राचीनतम प्रति मिल जाये तो उसमें निश्चित रूप से सुर्जन-चरित मे उद्धृत बातें मिलेंगी, क्योंकि यह संस्कृत में रासो का सारांश है।''

इधर काल वैषम्य का समाधान करते हुए प० मोहनलाल विष्णुलाल पाड्या ने 'अनद' सवत् की कल्पना की है। अनन्द अर्थात् अ=शून्य (०) और नद=नौ (९) के अंक जोड़ने से ९० वर्ष का व्यवधान सभी तिथियो में ठीक बैठता है। पर ओझा जी का कहना है कि राजस्थान में विक्रम सवत् का प्रचलन रहा है। अत इस काव्य मे भी सवत का व्यवहार होना चाहिए था। अस्तु पृथ्वीराज का दरबारी-कवि जयानक कश्मीरी था और वह संस्कृत का कवि था। उसके द्वारा चन्दबरदाई के अनुल्लेख से पृथ्वीराज रासो की अप्रमाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती है। सबसे पहली बात तो यह है कि जयानक ने कदाचित् कवि सुलभ सहज ईर्ष्यावश ऐसा किया हो, या यह भी सम्भव है कि प्राचीन काल के छोटे-छोटे राज्यो मे भाषा कवि को संस्कृत कवियो के सम्मुख अत्यन्त गौण स्थान मिला करता था। वे साधारण भाट या चारण-कवि से अधिक सम्मान के पात्र नहीं समझे जाते थे। यह अनुमान है कि बेचारे चन्दबरदाई की भी संस्कृत कवि के सामने दयनीय स्थिति रही होगी। संस्कृत पण्डितों के द्वारा तत्कालीन भाषा कवि को तुच्छ और नगण्य समझा गया। लोक मे वे भाट की संज्ञा से अभिहित किए जाते थे। सम्भवत. ऐसे भाट कवि अपनी प्रतिभा का विशेष सम्मान प्राप्त न करके प्रशस्तिपरक अतिशयोक्तियो द्वारा आश्रयदाता को रिझाकर जीवन-यापन करते रहे हों।

डॉ० हजारीप्रसाद ने रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है।

उनका कहना है कि रासो काव्य रूप दसवीं शताब्दी के साहित्य के काव्य रूप से समानता रखता है। इसकी संवाद प्रवृत्ति और रासो प्रवृत्ति और कीर्तिपताका और सन्देश रासक से साम्य रखती है। इसमें सभी प्राचीन कथानक रूढ़ियों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। रासो में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। १२वीं शती की भाषा की संयुक्ताक्षरमय अनुस्वारान्त प्रवृत्ति इसमें उपलब्ध होती है। रासो विशुद्ध रूप से इतिहास ग्रंथ नहीं है प्रत्युत काव्यग्रन्थ है। हर्षचरित के समान रासो में भी यत्र-तत्र दैवी शक्ति का आरोप है। वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इतिहास को सीमित भौतिक अर्थ में ग्रहण न करके उसे व्यापक सांस्कृतिक रूप में ग्रहण किया गया। उसमें तथ्यों (facts) और कल्पना (fiction) का अद्भुत् सम्मिश्रण है तथा उसमें ऐतिहासिक तथा निजधरी कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। इसके साथ उसमें सम्भावनाओं पर अधिक बल है। डॉ० हजारी प्रसाद का विचार है कि रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी, अत जिन सर्गों का आरम्भ शुक-शुकी संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस आधार पर आपने निम्नांकित सर्गों को प्रामाणिक मानने का सुझाव दिया है—(१) प्रारंभिक अंश, (२) इञ्छिनी का विवाह, (३) शशिव्रता का गंधर्व-विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का विवाह, (६) कैमास-वध, (७) गौरी वध सम्बन्धी इतिवृत। रासो के सम्बन्ध में डॉ० नामवरसिंह की भी उपर्युक्त मान्यता है। उनका कहना है कि शुक का दौत्य कार्य, नायिका को अप्सरा का अवतार कहना 'महादेव के मन्दिर में नायक-नायिका का मिलना, सिंहलद्वीप, फल द्वारा सन्तान की उत्पत्ति लिंग परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता की द्योतक नहीं बल्कि कथानक रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो ऐसी रूढ़ियों का कोष है। ······इनमें से कितनी चन्द द्वारा नियोजित हैं और कितनी दूसरों के द्वारा इसको अलगा लेना खेल नहीं है।"

डा० माताप्रसाद गुप्त ने डा० हजारी प्रसाद के मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रक्षेपकारों ने भी शुक शुकी के संवाद से प्रक्षिप्त सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है? जिन सर्गों को द्विवेदी जी ने प्रामाणिक माना है उनमें भी सम्भव है, प्रक्षिप्त अंश हो।

रासो की भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी का समाधान करते हुए रासो की प्रामाणिकता के समर्थकों का कहना है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। अत लाहौर का निवासी होने के कारण चन्द की भाषा में उन शब्दों का प्रयोग उचित और तर्कसंगत है। यदि अरबी फारसी के शब्दों के आधार पर रासो अप्रामाणिक है तो सूर और तुलसी का काव्य भी अप्रामाणिक मानना पड़ेगा क्योंकि उसमें भी उर्दू और फारसी के शब्द उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। हमारे विचारानुसार रासो सर्वथा अप्रामाणिक नहीं है। उसका मूल रूप अभी प्राप्त

नही है। रासो का लघुतम संस्करण उसके मूल रूप के अधिक निकट है। हमारे कवि लोग जान-बूझ कर चरित नायक के गौरव की रक्षा के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं। चन्द इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शताब्दी तक हिन्दी का विकास इतना अधिक नहीं हुआ था कि वह साहित्य में प्रयुक्त होती। अत रासो का मूलत अपभ्रंश मे रचा जाना ही अधिक सम्भव है, अस्तु, रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय मे हिन्दी साहित्य मे इतना अधिक कहा सुना गया है कि एक साधारण पाठक हैरान रह जाता है कि वह इसे असली कहे या जाली? डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दो मे "निरर्थक मथन से जो दुस्तर फेन राशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचाना हिन्दी के विद्यार्थी के लिए असम्भव सा व्यापार हो गया है।"

रासो का काव्य सौन्दर्य—भले ही रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मत भेद है, किन्तु इसकी साहित्यिक गरिमा को सबने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। रासो को चाहे एक सफल महाकाव्य कहा जाये अथवा विशालकाय काव्य कहा जाये, इन दोनो रूपो मे इसका साहित्यिक सौष्ठव अक्षुण्ण है। इसमे प्रधानत दो रस हैं—वीर और शृंगार और दोनों का सुन्दर परिपाक हुआ है। पृथ्वीराज रण बाँकुरा भी है और सलोना लुभावना जवान भी। चन्द ने शोभा एव सौन्दर्य के चित्रण मे अपूर्व कल्पना शक्ति से काम लिया है। डा० हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—'शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा प्रचलित रूढ उपमानो के सहारे ही निखरी है। अधीनस्थ सामन्तो की स्वामिभक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप मे प्रकट हुए हैं।" पृथ्वीराज और जयचन्द के विरोध का कारण चाहे संयोगिता अपहरण हो या न हो किन्तु कवि ने रसराज की अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर प्रसग ढूँढ निकाला है। युद्धो का मूल कारण किसी नारी को कल्पित करके जहाँ एक ओर प्रेम चित्रण के प्रसगो को खड़ा किया है वहाँ विशुद्ध द्वेष की अभिव्यक्ति को भी नहीं होने दिया है। पृथ्वीराज का गौरी को बार-बार क्षमा कर देना भले ही इतिहास सम्मत न हो किन्तु इससे नायक के चरित्र की उदारता का अभीष्ट प्रभाव पाठकों के हृदय पटल पर अंकित हो जाता है।

वर्णनात्मकता—वस्तु-वर्णन मे रासोकार ने एक सफल कवि हृदय का परिचय दिया है। नगर, उपवन, वन, सरोवर, दुर्ग, सेना और युद्ध आदि के वर्णन अनुपम बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ युद्ध का वर्णन देखिए—

> कढ़ी तुरंग नहिं मिल्त, रहे रहहिं सूरध्धर।
> धर उप्पर धर परत करत, अनि दुद्ध महाभर॥

इस प्रकार रासो मे स्थिर तथा गतिशील दानो प्रकार के दृश्यो का अकन हुआ है।

भाव-व्यजना—रासो मे वीर और शृंगार रस की अभिव्यक्ति अत्यन्त भव्य

रूप से हुई है। वीर रस का एक दर्पपूर्ण चित्र फड़कती हुई ओजस्विनी भाषा में देखिए—

> बज्जिय घोर निसान रान चौहन चहूँ दिसि।
> सकल सूर सामन्त समर बल जत्र मत्र तिसि॥
> उट्ठि राज पृथ्वी राज बाग लग्ग मनो वीरनट।
> कढ़त तेग मनोवेग लगत बीज भद्दव घट्ट॥

पद्मावती के सौंदर्य चित्रण मे शृगार रस की छटा दर्शनीय बन पड़ी है—

> मनहु कला ससभान कला सोलह सौं बन्निय।
> बाल वैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय॥
> विगसि कमल स्रिग भ्रमर धेनु खजन स्रिग लुट्टिय।
> हीर कीर अरु बिंब मोती नख सिख अहि घुट्टिय॥
> छप्पनि गयद हरि हस गति बिह बनाय सचै सचिय॥
> पद्मिनी रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय॥

कवि चद ने शृगार रस के अन्य अगो—वय सधि, यौवनागम, अनुराग, प्रथम मिलन और वीडा आदि का भी सुन्दर वर्णन किया है।

वीर और शृगार रस के अतिरिक्त अन्य रसो की अभिव्यजना भी रासो में प्रसगानुसार हुई है। रौद्र और भयानक रसो का चित्रण तो स्थान स्थान पर है। कही कही पर हास्य रस के भी सुन्दर छीटे हैं। रासो में शात रस का प्राय अभाव है।

रासोकार ने भाव सौन्दर्य मे वृद्धि के लिए अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, अतिशयोक्ति आदि अलकारो का भी सुन्दर प्रयोग किया है। वैसे रासो जैसे विशाल काव्य मे प्राय सभी अलकार मिल जाते हैं। इससे रासोकार का काव्य शास्त्र के गूढ ज्ञान का परिचय मिलता है।

रासो मे ६८ प्रकार के छद पाए जाते हैं और कहीं-कहीं छन्द परिवर्तन मे अस्वाभाविकता भी आ गई है। कुछ भी हो, रासोकार में सर्वत्र एक महाकवि की सी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यदि रासोकार वीर रस के मूल भाव को व्यक्तिगत रागद्वेष पर आधारित न करके उसे व्यापक राष्ट्रीय चेतना पर आधारित करता तो कितना ही अच्छा होता। दूसरे, रासो मे वर्णित प्रेम भाव मे अभीष्ट गहनता भी नहीं आ पाई है। किन्तु इन त्रुटियो के लिए चन्द को दोषी नही ठहराया जा सकता क्योंकि वह युग सकुचित राष्ट्रीयता और सामन्ती विलासिता का था। वस्तुत रासो और उसके कर्ता कवि चन्द का महत्त्व हिन्दी साहित्य मे अक्षुण्ण है।

डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने रासो और रासोकार का मूल्याकन करते हुए निम्नाकित शब्दो में भले ही कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है फिर भी उसमे बहुत कुछ सत्य है— हिन्दी के आदि कवि चन्दवरदाई (चन्द बलद्दिउ) का पृथ्वीराज रासो १२वी शती के दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान तृ० तथा उसके महान् प्रतिद्वन्द्वी कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द गाहड़वाल, गुर्जरेश्वर, भीम-

देव चालुक्य और गजनी के अधिपति सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी के राज्य, रीति-नीति, शासन व्यवस्था, सैनिक, सेना, सेनापति, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर व्यापार मार्ग आदि का एक प्रमाण, समता विषमता की शृङ्खलाओ से जुड़ा हुआ, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक वृत्तो से आच्छादित, पौराणिक कथाओ से लेकर कल्पित कथाओ का अक्षय तूणीर, प्राचीन काव्य परम्पराओ और नवीन का प्रतिपादक, भौगोलिक वृत्तों की रहस्यमय गुफा, सहस्रो हिन्दू मुस्लिम योद्धाओ के पराक्रम का मान-कोष, प्राकृत अपभ्रशकालीन सार्थक अभिव्यजना करने मे सक्षम, सफल छन्दो की विराट् पृष्ठभूमि हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओ की सक्रान्ति कालीन रचना, गौडीय भाषाओ की अभिसन्धि का उत्कृष्ट निदर्शन, समकालीन युग का सास्कृतिक प्रमाण, उत्तर भारत का धार्मिक मानचित्र विभिन्न मतावलम्बियो के दार्शनिक तत्वो का व्याख्याता तथा मानव की चितवृत्तियो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषक, यह अपने ढग का एक अप्रतिम महाकाव्य है, परन्तु हिन्दी रचनाओ मे सम्भवत सबसे अधिक विवादग्रस्त है।"

आदिकालीन रासो ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अस्तित्व

आदि काल में रचित जिन कतिपय रासो ग्रन्थो का वर्णन ऊपर किया जा चुका है उनके विषय मे कभी-कभी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का प्रश्न खड़ा कर दिया जाता है। हम्मीर रासो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसके कुछ छन्द प्राकृत पैंगल मे मिलते हैं और इसी आधार पर इसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। बीसलदेव रासो तथा परमाल रासो मूलत गेय-काव्य थे। अत समय-समय पर इनके मूल रूपों में परिवर्तन और परिवर्द्धन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही। खुमान रासो मे क्षेपको की यह प्रक्रिया और भी जोरो से चली। पृथ्वीराज रासो के अनेक सस्करण मिलते हैं और आज तक भी यह समस्या बनी हुई है कि किस सस्करण को प्रामाणिक कहा जाये। निःसन्देह इन ग्रथों के मूल रूप अथवा प्रामाणिक सस्करण नहीं मिल पाते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इन ग्रन्थो का प्रणयन आदि काल मे नही हुआ और उस समय इनका अस्तित्व नही था। निःसन्देह सभी रासो ग्रन्थ सर्वांश मे तो प्रामाणिक नहीं हैं किन्तु इन्हें सर्वथा उत्तरकालीन प्रणीत मानकर सर्वथा अप्रामाणिक या अस्तित्वहीन भी नही कहा जा सकता है। वास्तव में उक्त ग्रन्थ कुछ अशो में प्रामाणिक हैं और कुछ अशो मे अप्रामाणिक हैं। इनकी स्थिति रामायण, महाभारत तथा भास के नाटको जैसी है। जैसे रामायण आदि मे समय-समय पर परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं वैसे रासो ग्रथो मे भी समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। रामायणादि मे परिवर्तन की प्रक्रिया में भाषागत परिवर्तन नहीं हुआ जबकि रासो ग्रन्थो मे विषयगत परिवर्तन के साथ-साथ भाषागत परिवर्तन बड़ी क्षिप्र गति से हुआ और कभी-कभी तो यहां तक सन्देह हो जाता है कि इनका प्रणयन कदा-

चित् पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी मे हुआ । अस्तु । रासो ग्रन्थों के आकार और रूपगत परिवर्तन के आधार पर इनके अस्तित्व को सन्दिग्ध या इन्हे सर्वथा अप्रामाणिक समझना नितान्त असमीचीन होगा । यदि आकार वृद्धि एव रूप परिवर्तन को अप्रामाणिकता का निर्णायक तत्व स्वीकार कर लिया जाए तो फिर कबीर, सूर, मीरा तथा बिहारी आदि कवियो की रचनाएँ भी उक्त मानदण्ड पर पूरी नही उतर सकती, किन्तु वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है । अत. उक्त रासो ग्रन्थो को आदिकालीन इतिहास की काल सीमा मे प्रणीत सामग्री के रूप मे स्वीकार करना न्याय सगत है । उपर्युक्त रासो ग्रथ कुछ अशो में प्रामाणिक हैं और कुछ अंशो मे अप्रामणिक हैं । निश्चय से इनका सृजन आदि काल मे हुआ किन्तु बाद मे इनमे रूप व आकारगत परिवर्तनो की गति अबाध रूप से चलती रही ।

ग्रहण व त्याग की समस्या

हिन्दी के आदि काल के साहित्य का प्रणयन सस्कृत तथा अपभ्र श साहित्य के निर्माण के समानान्तर हुआ । उस समय सस्कृत साहित्य के ज्योतिष, दर्शन व स्मृति ग्रन्थो पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं सस्कृत के वृहत् त्रयी मे परिगणित नैषध चरित जैसे महाकाव्य का निर्माण इसी काल मे हुआ । शृंगार प्रकाश तथा सरस्वती कठाभरण के लेखक भोजराज, साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ तथा क्षेमेन्द्र जैसे आचार्य कवि, कुन्तक और महिम भट्ट जैसे काव्य-शास्त्री तथा जयदेव, सोमदेव तथा कल्हण जैसे सुकवि इसी काल मे हुए । इसी समय मे अपभ्रंश साहित्य के समर्थ कवि एव आचार्य हेमचन्द्र ने अपने साहित्य का प्रणयन किया । इसी समय में ही शुद्ध अपभ्र श की रचनाएँ —पउमचरिउ, स्वयभू-छन्द, महापुराण जसहर, चरउ भविसयत कहा तथा सन्देश-रासक आदि निर्मित हुईं । सौभाग्यवश इसी समय हिन्दी के सिद्ध काव्य, नाथ साहित्य श्रावकाचार राउल वेल तथा भरतेश्वर बाहु बली-रास आदि ग्रथ भी प्रणीत हुए जिनमे अपभ्रंश-भाषा भाग एक प्रभावी तत्त्व है और वे मूलत. हिन्दी मे ही लिखित हैं । इससे स्पष्ट है कि हिन्दी का आदि काल विविध साहित्यो के प्रणयन की दृष्टि से एक सक्रमण काल है । अब प्रश्न उठता है कि आदि काल मे रचित विविध काव्यो मे से हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत कौन से काव्य ग्राह्य हैं और कौन से त्याज्य उत्तर स्पष्ट है कि विशुद्ध अपभ्रंश भाषा मे रचित काव्यो को हिन्दी की परिधि मे समेटना उचित नही है किन्तु ऐसी रचना मे जिनमे अपभ्र श भाषा एक प्रभावी तत्व के रूप मे काम कर रही है, उन्हें नि सकोच हिन्दी मे सम्मिलित कर लेना होगा । हिन्दी के उत्तरोत्तर विकसित रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी ऐसा करना वाछनीय है । चौसर आदि की अंग्रेजी आज की अग्रेजी से रूपगत दृष्टि से काफी भिन्न है किन्तु उस पुरानी अग्रेजी को आज की अग्रेजी के रूपगत अध्ययन के लिए एक आवश्यक अभिन्नाग के रूप मे ग्रहण किया जाता है ।

इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो आदि ग्रथ आदि काल की परिधि से बाहर नहीं

हैं। मूलत वे इसी काल मे लिखे गये थे। बाद मे उनमे रूप और आकारगत परिवर्तन आते रहे। मात्र परिवर्तन को यदि त्याज्य का निर्णायक तत्व मान लिया जाए तब कबीर, सूर तथा बिहारी आदि की रचनाएँ भी हिन्दी साहित्य की परिधि से दूर जा पड़ेंगी।

आचार्य शुक्ल ने आदि काल मे रचित सिद्धो और नाथो के साहित्य को धार्मिक और साम्प्रदायिक कह कर उसे शुद्ध रागात्मक साहित्य की कोटि मे न रखने का तर्क देकर प्रकारान्तर से उक्त धर्मानुप्राणित रचनाओ को हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की परिधि से बाहर रखने की सलाह दी है किन्तु हमारे विचारानुसार आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओ का मूल्याकन करते समय न्याय नही किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने सिद्ध साहित्य को हिन्दी मे परिगणित करने के पक्ष मे जोरदार शब्दो मे लिखा है कि सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात मे बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य की आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढग से प्राप्त होती है। सिद्ध व नाथ साहित्य मे शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है। आचार्य द्विवेदी के विचार इस विषय मे और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं—"कई रचनाएँ जो मूलत जैन धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, नि सदेह उत्तम काव्य हैं और हम्मीर रासो की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धो की कुछ रचनाओ के बारे मे कही जा सकती है।" केवल धार्मिक या साम्प्रदायिक होने से किसी रचना को रागात्मक साहित्य की कोटि से बहिर्भूत नही किया जा सकता। तुलसी का रामचरितमानस तथा सूर का सूरसागर धर्म एव सम्प्रदाय की भावनाओ से अनुप्राणित होने हुए भी उत्तमोत्तम साहित्य के निदर्शन हैं। अत सिद्ध व नाथ साहित्य, श्रावकाचार तथा भरतेश्वर बाहुबली रास एव रासो आदि ग्रथो को आदि काल के साहित्य की सामग्री मानना न्याय सगत है।

आदि काल मे मूल हिन्दी भाषी प्रदेश मे हिन्दी रचनाओं का अभाव

हिन्दी भाषा के आदि काल में मूल हिन्दी भाषी प्रदेश के कवियो की रचनाएँ प्राप्त नहीं होती वे जो मिलती हैं वे या तो सीमांत प्रदेश मे पाई जाती हैं या विकृत रूप में ही मिलती हैं। डा० हजारीप्रसाद ने उस समय के भारत के ऐतिहासिक सर्वेक्षण के आधार पर इस अभाव के कारण की गवेषणा की है, जो कि निम्नांकित हैं—

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित हुई हैं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयो मे सुरक्षित रहकर, (२) सुसगठित धर्म सम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठो-विहारो आदि के पुस्तकालय मे शरण पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्म सप्रदाय का सरक्षण उसके बाद आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं वे बदलती रही हैं और लोक-चित्त की चचल सवारी करती रही हैं। समय-समय पर उनमे परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होता रहा है। आल्हा काव्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह बता सकना कठिन है

कि आल्हा खंड का असली रूप क्या था ? इसके विपरीत उस समय के अन्य काव्य आल्हा काव्य के समान लोक-प्रीति का भाजन नहीं बन सके और अपना शुद्ध रूप लिये अस्त हो गये ।

देशी भाषा की दूसरी पुस्तकें जैन सम्प्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भंडारों में सुरक्षित रह गयी हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया। कुछ पुस्तकें बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं जो आगे चलकर हिन्दुस्तान के बाहर पाई जा सकी हैं परन्तु जो पुस्तकें हिन्दू धर्म और हिन्दू नरेशों के संरक्षण से बची हैं वे अधिकांश संस्कृत में हैं। '

मूल हिन्दी भाषी प्रदेश में हिन्दी रचनाओं का अभाव क्यों रहा, इसका कारण बताते हुए डॉ० साहब लिखते हैं कि सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त भी उसके सेनापति भंडि तथा उसके वंशज कुछ काल तक शासन करते रहे । नवीं शताब्दी के आरम्भ में वर्धनों की शक्ति क्षीण हुई।

तीन शक्तियाँ—पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतिहार—कान्यकुब्ज की राज्यलक्ष्मी को हथियाने में प्रयत्नशील रहे किन्तु सफलता प्रतिहारों को ही मिली। इसके बाद लगभग दो शताब्दियों तक कान्यकुब्ज के प्रतिहार बड़े शक्तिशाली शासक बने रहे।

उस समय का मध्य देश राजनीतिक दृष्टि से बड़ा ही विक्षुब्ध था । उस समय के गाहड़वार नरेश, चाहे वे दक्षिण से आये थे या पश्चिम से, वे बाहर के ही थे। उन्होंने काफी समय तक स्थानीय जनता से अपने आप को अलग रखा। वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को इन लोगों ने बहुत प्रोत्साहन दिया पर इनके यहाँ हिन्दी को प्रश्रय न मिल सका। जिस प्रकार गौड़ देश के पाल, गुजरात के सोनंकी और मालवा के परमार देशी भाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे वैसा गाहड़वारों के दरबार में नहीं हुआ। डॉ० हजारीप्रसाद इस उपेक्षा के कारणों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घ काल तक एक नहीं हो पाये थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्य देश में जिस संरक्षणशील धारा की प्रतिष्ठा थी उसमें संस्कृत भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटा रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन रहा हो।" आरम्भ में गाहड़वार नरेश स्थानीय जनता से अलग बने रहे, परन्तु शनैः-शनैः यह प्रवृत्ति कम होने लगी। गाहड़वार नरेश गोविन्द चन्द्र के सभा-पंडित दामोदर भट्ट ने राजकुमारों को काशी भाषा सिखाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार धीरे-धीरे देशी भाषा को इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा। दुर्भाग्यवश जयचन्द के अस्त होने के साथ इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति का अन्त हो गया। अब समस्त उत्तरी भारत पर मुस्लिम आक्रांताओं की विजय-पताका फहराने लगी। इन नए शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

प्रधान कारण गाहडवार शासकों की हिन्दी के प्रति उपेक्षा भाव है। वे लिखते हैं "इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नहीं दे सके और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था वहाँ तक कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नही रह सका। अन्तिम पीढ़िया मे ये लोग देशी भाषा साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे।" समझ में नहीं आता है केवल गाहडवार नरेशों की उपेक्षा भाव से हिन्दी साहित्य क्यो नहीं पनप सका। हिन्दी सदा विरोधो और सघर्षों में पलती और जूझती आई है यह अपनी अजस्र प्राण धारा और अदम्य शक्ति से विषम से विषम परिस्थितियों मे भी आगे बढकर अपना मार्ग बनाती रही है। फिर उस समय क्या उसकी शक्ति कुंठित हो गई थी? सच तो यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी-साहित्य के न मिलने का कारण कुछ और है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गाहडवार नरेशों ने हिन्दी साहित्य की किसी रचना पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया था या उसे नष्ट करने की कोई आज्ञा निकाली थी? फिर राज्याश्रय ही सब कुछ नहीं होता, धर्म और जनाश्रय भी उसे मिल सकता था। माना कि इस समय कोई सुसगठित धार्मिक सम्प्रदाय नहीं था फिर भी एक आधी रचना तो अपने विशुद्ध रूप से सुरक्षित रह ही सकती थी और फिर उस विशाल देश का विराट जन-समूह एकाध रचना को भी अविकृत रूप मे सुरक्षित नही रख सका? सस्कृत साहित्य को अनेक बार विदेशी शासकों के निर्मम प्रहारों को सहना पड़ा फिर भी वह उस रूप में विनष्ट नही हुआ जैसा कि अल्पकालीन शासकीय उपेक्षा से हिन्दी साहित्य ऐसा क्यो? इसके अतिरिक्त डा० दशरथ शर्मा जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार द्विवेदी जी की उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए लिखते हैं—"कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। यदि सस्कृत व सस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देश्य भाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते हैं कि उसके दो पूर्वजों ने ही देशी भाषा से विरोध किया था और उन्होंने विरोध किया भी हो तो तीस-चालीस वर्षों में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नही हो जाता।" यह भी ध्यान रहे कि कन्नौज पर गाहडवारों का आधिपत्य १०६० ई० मे हुआ था तथा देशी भाषा को आश्रय देने वाले गोविन्द चन्द्र सन् ११११४ मे गद्दी पर बैठे। इस पर द्विवेदी जी का उपेक्षित काल २४ वर्ष का ही ठहरता है। इस अल्पकालीन उपेक्षा के कारण पूर्ववर्ती शताब्दियो का साहित्य समूल नष्ट हो गया, यह तर्क कुछ अकल्पनीय लगता है।

इसके साथ-साथ एक और प्रश्न उठता है कि यदि उस काल का साहित्य उपलब्ध नही होता तो उन अज्ञात अदृष्ट और अरक्षित रचनाओं के आधार पर इतिहास का ढाँचा किस प्रकार खडा किया गया और उसका नामकरण कैसे सम्पन्न हुआ? इस सम्बन्ध में डा० गणपति चन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं—"वस्तुतः इस युग मे हिन्दी की प्रामाणिक रचनाएँ न मिलने के कारण मुसलमानों का आक्रमण, देश की अशान्ति या किसी शासन विशेष की अवज्ञा नहीं है। यदि ऐसा होता तो

इस युग मे रचित अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ उपलब्ध न होतीं। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का युग है किन्तु हम इसे बलात हिन्दी का आदि काल या वीर गाथाकाल सिद्ध करना चाहते हैं, फलस्वरूप कभी हम अपभ्रंश की रचनाओं को उधार लेते हैं, कभी अस्तित्वहीन या परवर्ती रचनाओं का आश्रय ग्रहण करते हैं और कभी साहित्य नष्ट हो जाने की मनगढ़त कहानियाँ कहकर आँसू बहाते हैं। हम प्रस्तुत पुस्तक के "हिन्दी साहित्य के आदिकाल का नामकरण तथा पूर्वापर सीमा-निर्धारण" नामक प्रकरण मे बता चुके हैं कि हिन्दी भाषा का आरम्भ लगभग १३ वीं शताब्दी मे स्वीकार किया जा सकता है। उक्त मान्यता के आधार पर ग्रंथाभाव की समस्या का सहज मे ही समाधान हो जाता है। वस्तुत वह युग अपभ्रंशो का युग था। स्वयं आचार्य हजारीप्रसाद के निम्नांकित शब्दो मे यही तथ्य ध्वनित हो जाता है, "वस्तुत १४ वीं शताब्दी के पहले ही भाषा का रूप हिन्दी प्रदेशो में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ मिलते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोल चाल की भाषा मे तत्सम शब्दो का प्रचार बढने लग गया था, पर गद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था।"

आदि काल में अपभ्रंश की कतिपय प्रमुख रचनाए

(१) सदेश रासक—सदेश रासक अद्दहमाण सम्भवत अब्दुर्रहमान द्वारा रचित एक खण्डकाव्य है। कबीर की भाँति अब्दुर्रहमान भी जुलाहा परिवार से सम्बद्ध है। वे अपने सम्बन्ध मे स्वय लिखते हैं—'मैं म्लेच्छ देशवासी तन्तुवाय मीरसेन का पुत्र हूँ।" अब्दुर्रहमान मुल्तान के निवासी थे तथा संस्कृत और प्राकृत के अच्छे पंडित थे। उनकी भारतीय साहित्य तथा संस्कृति मे गहन आस्था थी।

सदेश रासक के निर्माण काल के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। डा० जैन ने इसका रचना काल ११ वीं शताब्दी तथा १४ वीं शताब्दी का मध्य माना है। मुनिजिनविजय ने १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इस रचना का समय माना है। अगरचन्द नाहटा इसे स० १४०० के आस-पास रचा मानते हैं परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद ने इसे ११ वीं शती की रचना स्वीकार किया है, कारण हेमचन्द ने अपनी रचना मे सन्देश रासक पद्यो को उद्धृत किया है। हेमचन्द का जन्म स० ११४५ में तथा मृत्यु १२२६ में हुई। अत अब्दुर्रहमान को ११ वीं शती का मानना युक्ति-युक्त है।

सदेश रासक विरह का एक खडकाव्य है जो कि एक कल्पित लोक जीवन कथा पर आधृत है। यह रचना कालिदास के मेघदूत के समान कथात्मक होते हुए भी विभिन्न मुक्तकों की एक मणिमाला है इसमे विरह की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी साहित्य मे बीसलदेव रासो भी इसी प्रकार का काव्य है। सदेश रासक मध्यकालीन शृंगारी परम्परा पर लिखे हुए विरह साहित्य म

प्रतिनिधि काव्य है। इसमे विरहणी के शत शत भाव पूर्ण प्रेम के ज्वार-भाटे से विह्वल और करुण कातर हृदय की भावनाओं की अतीव मार्मिक तथा कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। उसके सन्देश मे एक गहरी टीस, सुप्त दर्प, प्रेम की सघनता, उपालम्भ एव आत्म समर्पण का एक विलक्षण समन्वय है। 'प्रिय तुम मेरे हृदय मे स्थित हो और तुम्हारे रहते हुए विरह मुझे कष्ट दे रहा है। क्या आपके लिए यह लज्जास्पद नही ? क्या आपके पौरुष को चुनौती नही ?"

डा० हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"इस सदेस रासक मे ऐसी करुणा है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। उपमायें अधिकाश मे यद्यपि परम्परागत और रूढ ही हैं तथापि बाह्यवृत्त की वैसी व्यजना उसमे नही है जैसी आन्तरिक अनुभूति की। ऋतु वर्णन प्रसग मे बाह्य प्रकृति इस रूप मे चित्रित नही हुई है जिसमे आन्तरिक अनुभूति की व्यजना दब जाये। प्रिय के नगर से आने वाले अपरिचित पथिक के प्रति न यिका के चित्त मे किसी प्रकार के दुराव का भाव नही है। वह बडे सहज ढग से अपनी कहानी कह जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरेलूपन का है।"

यह तीन प्रक्रमो मे विभाजित २२३ छदो की एक छोटी सी रचना है। प्रथम प्रक्रम मे मगलाचरण, कवि का व्यक्तिगत परिचय ग्रथ रचना का उद्देश्य तथा कुछ आत्म निवेदन है। दूसरे प्रक्रम से मूल कथा का आरम्भ होता है। कथासूत्र इतना ही है कि विजय नगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रिय के वियोग मे रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए एक बटोही को देखती है और दौडकर उसे रोकती है। उसे पता चलता है कि वह पथिक सामोर से आ रहा है और स्तम्भ तीर्थ को जा रहा है। वह पथिक से निवेदन करती है कि अर्थ लोभ के कारण उसका प्रिय उसे छोड कर स्तभ तीर्थ चला गया है, इसीलिए कृपा करक मेरा सन्देश लेते जाओ। पथिक को सन्देश देकर नायिका ज्यो ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा मे उसका प्रिय आता हुआ दिखाई देता है। ग्रथ का अत करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार उसका कार्य अचानक सिद्ध हो गया है उसी प्रकार इसको पढने-सुनने वालो का भी सिद्ध हो। जो अनादि और अनत है, उसकी जय हो।

सन्देश रासक के कथा सूत्र से स्पष्ट है कि कवि को कथा से कोई विशेष मतलब नही। उसका उद्देश्य है सामोर नगर के जीवन, पेड-पौधो तथा षड् ऋतु-वर्णन के साथ प्रोषितपतिका की विरह वदना का वर्णन करना। इन सब बातो के लिए उसने पथिक की अवतारणा की है।

काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सन्देश रासक का अपभ्रश साहित्य मे विशेष स्थान है। सन्देश-कथन में नारी हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी है। वह कहती है, जिन अगो के साथ तुमने विलास किया है, आज वे ही अग विरह द्वारा जलाय जा रहे हैं। सचमुच तुम्हारे पौरुष को यह एक सबल चुनौती है—

गहवउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण ।
जिहि ग्रगिहि तू विलसिया ते दद्धा विरहेण ।।

शरद् ऋतु का वर्णन करती हुई नायिका कहती है कि क्या उस देश मे ज्योत्स्ना का निर्मल चन्द्र नही उगता ? क्या वहाँ ग्ररविन्दो के बीच हस कल-कल ध्वनि नही करते ? क्या वहाँ कोई ललित ढग से प्राकृत काव्य नही पढता ? क्या वहाँ कोकिल पचम स्वर से नही गाती ? क्या वहाँ सूर्योदय के कारण खिले हुए कुसुमो से वातावरण महक नही उठता ? होता तो यह सब होगा लेकिन लगता है कि प्रिय ही ग्ररसिक है जो इस शरद् काल मे भी घर का स्मरण नही करता ।

किं तहि देस णहु फुरइ जुण्ह निसि णिम्मल चन्दह ।
ग्रह कलरउ न कुणति हस फल सेवि रविदह ।
ग्रह पायउ पहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण ।
ग्रह पचउ णहु कुणई कोई कावालिय भाइण ।

डॉ० हजारीप्रसाद इस काव्य की पृथ्वीराज रासो से भिन्नता प्रकट करते हुए कहते है—'पृथ्वीराज रासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है ग्रौर सन्देश रासक विरह पक्ष का, रासो काव्य-रूढियो द्वारा वातावरण तैयार करता है ग्रौर सन्देश रासक हृदय की मर्म वेदना के द्वारा । रासो मे घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है ग्रौर सन्देश रासक मे भीतर का । रासो नये-नये रोमास प्रस्तुत करता है ग्रौर सन्देश रासक पुरानी प्रीति को निखार देता है।"

सन्देश रास के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि नायिका के रूप-वर्णन में वासनात्मकता कही भी नहीं है। पथिक द्वारा साम्बरपुर के वर्णन मे नागरिक जीवन की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। वहाँ की वार वनिताग्रो तथा विचक्षण रमणियों की भगिमाग्रो का वर्णन परम्परानुमोदित है। नगरोद्यान, पादप एव पुष्पों का सविस्तार ग्रयवा नीरस वर्णन कथा की गति या उसकी प्रभावोत्पादकता मे किसी प्रकार का योग नही देते । कवि को ऐसे वर्णनो मे ग्रानुपातिकता से काम लेना चाहिए था। षड्ऋतु वर्णन प्रेम काव्यो की परम्परा की एक महत्वपूर्ण रूढि है, जिसका पालन सन्देश रासक मे भी किया गया है। रासक का ऋतु वर्णन कामोद्दीपन है ग्रौर वह *कालिदास के ऋतुसहार की परम्परा मे ग्राता है। सच तो यह है कि इस प्रकार के* प्रेम प्रसगो म जहाँ नायिका विरह व्यथा को कह सकने मे ग्रसमर्थ है ग्रौर पथिक ग्रधिकाधिक त्वरा सम्पन्न है वहाँ इस प्रकार के विस्तृत ऋतु वर्णन का ग्रवकाश ही नही था ।

सन्देश रासक मे दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग हुग्रा है। रासक छन्द इसका प्रमुख छन्द है । इस ग्रथ से हमे रासक के गेय रूपक का पता चलता है । काव्य भाषा विज्ञान तथा इतिहास की दृष्टि से यह ग्रथ ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण है। ग्रादि कालीन काव्य रूपो व समझने मे यह ग्रथ ग्रत्यन्त सहायक सिद्ध होता है । यह एक मसृण शैली मे रचित गेय रूपक है। भाषा की दृष्टि से यह सक्रान्तिकालीन भाषा का परि-

चायक है। इसमे हमें एक नया विचार बिन्दु मिलता है कि भारतीय साहित्य में मुसलमानो का कितने चिर से काव्य से सम्बन्ध चला आ रहा है। कुछ विद्वानो ने रासक को ग्राम्य अपभ्रश मे रचित माना है परन्तु डॉ० नामवर सिंह का विचार है कि यह समझना भ्राति है कि वह ग्राम्य अपभ्रश का लिखा हुआ काव्य है। वस्तुत इसके भाव और भाषा पर नागरता की छाप है। छन्द विविधता और अलकार सज्जा दोनो दृष्टियो से सन्देश अत्यन्त परिमार्जित रचना है।

२ जैन कवि धनपाल रचित भविष्य दत्त कथा—यह एक अपभ्रश साहित्य का कथा काव्य है जिसकी रचना धनपाल (१०वीं शताब्दी ई०) ने की। इसे 'भविष्य दत्त कथा' तथा 'सुय पचमी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि यह श्रुय पचमी महात्म्य के लिए लिखी गई है। इसके प्रणयन का उद्देश्य धार्मिक शिक्षा है।

राहुल जी ने इसे १०वी शती में रचित माना है तथा इसकी भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है। मोतीलाल मेनारिया ने जैन कवि धनपाल का समय स० १०८१ माना है तथा इसकी भाषा को पुरानी राजस्थानी माना है हमारे विचार मे इस ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक अपभ्रश है।

इस प्रबन्ध काव्य मे तीन प्रकार की कथायें जुडी हुई हैं। इसमे बाईस सधियाँ हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू ढ ग की कहानी है, जिसमे दो विवाहो के दुखद पक्ष को सामने रखा गया है। इसमे वणिक्पुत्र भविष्य दत्त की कथा है जो अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त के द्वारा कई बार छले जाने पर भी अन्त मे जिन महिमा के कारण सुखी होता है। कथा का मुख्य अश यही है और कवि ने इस भाग को चौदह सन्धियो में कहा है।

इस काव्य का वस्तु वर्णन हृदयग्राही है। इसमे शृ गार, वीर और शान्त रस की प्रधानता है। काव्य मे कई मार्मिक स्थल हैं जहाँ कि धनपाल की काव्य प्रतिभा स्फुटित हुई है। तिलक द्वीप मे अकेले छोडे गये भविष्य दत्त हृदय की व्याकुलता का चित्र देखिए जबकि वह एक मात्र चिन्ता निमग्न है—

"गय विपुल ताम सव्व वणिज्जम्।
हुव अम्हु गोतम्मि लज्जा वणिज्जम॥'

नारी के रूप वर्णन का भी एक चित्र देखिए—

'ण वम्मह भल्लि विघण सील जुवाण जणि।'

धनपाल का नख शिख वर्णन परम्परायुक्त है। कवि की दृष्टि नारी के बाह्य सौन्दर्य पर अधिक टिकी है उसके आन्तरिक सौन्दर्य की ओर नहीं गई।

मुहावरो और लोकोक्तियो का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है।

'कि घिउ होई विरोलिए पाणि।"

भविष्यदत्त कथा मे उपमा, उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति, विरोधाभास और अतिशयोक्ति आदि अलकारो का सुन्दर प्रयोग हुआ है। भुजगप्रयात, लक्ष्मीधर, मदार,

चामर, रास, नारी, मरिल्ला, काव्य, प्लवगस, सिंहावलोकन तथा कलहस आदि वर्णिक तथा मात्रिक छन्दो का प्रयोग हुआ है ।

सम्भव है भविष्यदत्त कथा जैसे चरित काव्य अपभ्रंश साहित्य मे और भी लिखे गये हो। इन काव्यों का अध्ययन परवर्ती हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो के सम्यक अवबोध के लिए उपयोगी सिद्ध होगा । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैन कवियो द्वारा लिखे गये चरित काव्यो के सम्बन्ध मे लिखते हैं—'इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढियो, काव्यरूपों, कवि-प्रसिद्धियो, छन्द योजना, वर्णन शैली वस्तु विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है । इसलिए इन काव्यो से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है ।"

आचार्य शुक्ल ने जैन कवियो की रचनाओं में धर्म-भाव को देखते हुए इन्हें रागात्मक साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया था किन्तु यह सगत नही । सूर, तुलसी,जायसी और मीरा का साहित्य धार्मिक होते हुए भी काव्य वैभव से सम्पन्न है, यही दशा जन कवियो के इन चरित-काव्यो की है ।

३ पाहुड दोहा—रामसिंह राजस्थान के रहने वाले थे । उनकी दो सौ बाईस दोहो की छोटी सी रचना है पाहुड दोहा । इस ग्रथ के सम्पादक श्री हीरालाल जैन के अनुसार जैनियों ने पाहुड शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के लिए किया है । कुन्द कुन्दाचार्य के सभी ग्रन्थ पाहुड कहलाते हैं । पाहुड शब्द का अर्थ अधिकार भी लिया गया है । कही-कही समस्त श्रुत ज्ञान को पाहुड कहा गया है । इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त सग्रह को पाहुड कहते थे । पाहुड शब्द का सस्कृत रूपान्तर प्राभृत किया जाता है जिसका अर्थ है उपहार । इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रथ के नाम का अर्थ "दोहा का उपहार" ऐसा ले सकते हैं ।

पाहुड दोहा के रहस्यवाद पर विचार करते हुए श्री हीरालाल जैन ने लिखा है कि—"इन दोहो मे जोगियों के आगम-अचित चित, देह देवली, शिव शक्ति, सकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षर-बोध विबोध, वाम दक्षिण मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन अर्थ मे प्रयोग हुआ है कि उनमें हमे योग और तान्त्रिक ग्रथो का स्मरण आये बिना नही रहता है । इनकी भाषा साकेतिक है और साकेतिकता मे इनकी समानता बौद्ध सिद्धो के चर्या पदो और दोहा कोषो मे दिखाई पडती है ।" वस्तुत यह युग ऐसा था जिसमे प्रत्येक धर्म के भीतर इसके उदारमना चिन्तक कवि पैदा हुए थे जो अपने मन और समाज की रूढियो का विरोध करते हुए मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर एक साथ खडे थे । इसका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं था । ये सबके प्रति सहिष्णु थे और उनका विश्वास था कि सभी मत एक ही दिशा की ओर ले जाते हैं और एक ही परमब्रह्म का विविध नामों से पुकारते हैं ।

पाहुड दोहाकार का कहना है कि यह देह मात्र उपेक्षणीय वस्तु नहीं है । जब

देह मन्दिर ही उस परमात्मा का निवास-स्थान हो तो अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता ? आवश्यकता तो इस बात की है कि परमात्मा के आवास इस देव मन्दिर को स्वच्छ और पवित्र रखा जाय—

देहा देवलि जो वसई, सत्तिहि सहियउ देउ ॥
को तहि जोइय सत्तसिउ, सिघु गवेसहि भेउ ॥ (पा० दो ५३)

समरसता का वर्णन करते हुए जिनमे आत्मा और परमात्मा मे भेद नहीं रह जाता, आत्मा परमात्मा मे लीन हो जाती है, और आत्मा तथा परमात्मा एक हो जाते हैं, रामसिंह लिखते हैं—

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसर जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुज चडावउँ कस्स ॥

पाहुड दोहा आदि ग्रथो के रचयिता रामसिंह आदि जैन कवियो का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पडा । सतों में धार्मिक एकता और रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ जैनों तथा नाथो का प्रभाव समझनी चाहिएँ । सूफियो की व्यापक समन्वयात्मकता के बीजाकुर भी जैन साहित्य में बो दिए गए थे । कबीर आदि में मिलने वाली रूढियो के प्रति प्रखरता भी पाहुड दोहा आदि ग्रथो में देखी जा सकती है ।

४. प्राकृत पैंगलम्—*यह ग्रथ हिन्दी साहित्य के आदि काल की रूढियो,* परम्पराओ और प्रवृत्तियो के समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है । भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी यह ग्रथ उपादेय है । इस ग्रथ मे प्राकृत तथा अपभ्रश के छन्दों का सग्रह है ।

प्राकृत पैंगलम् मे विद्याधर शारग (?), जज्जल, बब्बर आदि कवियो की रचनाओ मे कई प्रकार के विषय हैं—वीर, शृगार, नीति, शिव-स्तुति, विष्णु-स्तुति, ऋतु-वर्णन आदि । डा० हजारीप्रसाद इन कवियो के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"परन्तु ये सभी रचनाएँ और सन्देश रासक, पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता आदि के कवि उस श्रेणी के कवि नहीं थे जिन्हें आदिम मनोवृत्ति के कवि कहते है । वस्तुत इन रचनाओ मे एक दीर्घकालीन परम्परा का स्पष्ट परिचय मिलता है । ये कवि काव्य लक्षणो के जानकार थे, प्राचीनतम कवियो की रचनाओ के अभ्यासी थे और अपने काव्य के गुण-दोषो की तरफ सचेत थे ।"

विद्याधर काशी कान्य-कुब्ज दरबार के एक कुशल विद्वान् मन्त्री थे तथा जयचन्द्र के अत्यन्त विश्वासपात्र थे । कविता करने के साथ-साथ ये कविता के परम पारखी भी थे । शुक्ल जी का कहना है कि "यदि विद्याधर को समसामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की, १३वीं शताब्दी समझा जा सकता है ।" प्राकृत पैंगलम् मे इनके पद्यो को देखकर यह सहज मे अनुमान लगाया जा सकता है कि जयचन्द क दरबार म जहा सस्कृत का मान था वहा देशी भाषा का भी काफी आदर था ।

शारगधर शाकम्भरीश्वर रणथम्भौर के प्रसिद्ध शासक हम्मीर देव के सभासद

थे। हम्मीर देव का निधन संवत् १३५७ है अतः इनका रचना-काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जा सकता है। इनका आयुर्वेद सम्बन्धी शारंगधर संहिता नामक संस्कृत ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और भी हैं—(१) शारंगधर पद्धति, इसमें सुभाषितों का संग्रह है तथा बहुत से शावर मन्त्र। (२) हम्मीर रासो—यह ग्रंथ देशी भाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया जाता है। यह रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि "प्राकृत पिंगल-सूत्र में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं।"

विद्याधर तथा शारंगधर के अतिरिक्त प्राकृत पैंगलम् में कुछ अन्य कवियों के पद्यों का भी संग्रह है। इस ग्रंथ के संग्रहकर्त्ता हैं लक्ष्मीधर बब्बर ११वीं शती के कवि हैं और जज्जल १३वीं शती के कवि हैं। इन कवियों की रचनाओं का संग्रह भी उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। राहुल जी ने इन कवियों की भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है, जो कि हमारे विचारानुसार ठीक नहीं है। बब्बर राजा कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इनका निवासस्थान त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर, मध्य प्रदेश) था। इनका कोई विशिष्ट ग्रंथ नहीं मिलता, स्फुट रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं। आचार्य शुक्ल जज्जल को एक पात्र मानते हैं जबकि राहुल जी ने उन्हें एक कवि स्वीकार किया है।

लौकिक साहित्य

ढोला मारू रा दूहा—यह एक संदेश रासक के समान लोक काव्य है और बीसलदेव रासो की तरह विरह गीत है। इस काव्य की कथा इस प्रकार है। सयानी होने पर मारू जी अपने बचपन के पति ढोला की चर्चा सुनती है और विरह में व्याकुल हो जाती है। वह अपने पति का पता लगाने के लिए कई सन्देश वाहक भेजती है लेकिन कोई वापस लौटकर नहीं आता। सभी सन्देश-वाहक उसकी सौत मालवणी द्वारा मरवा दिये जाते हैं। अन्त में मारवाणी लोक गीतों के गायक एक ढाढी को यह जिम्मेदारी सौंपती है और उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है। ढाढी के प्रयत्न से ढोला और मारवाणी का पुनर्मिलन होता है। बीच में मारवणी की मृत्यु करा दी जाती है और अन्त में फिर मारवणी मालवणी तथा ढोला को इकट्ठा मिला दिया जाता है। इस ग्रंथ का मुख्य सन्देश मारवणी का ढोला के प्रति विरह-निवेदन है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह काव्य अनुपम बन पड़ा है। इसमें सन्देश-रासक तथा बीसलदेव रासो से अधिक स्थानीय रंग है। इस ग्रंथ में मारवाड़ देश वास्तविक रूप से प्रतिबिम्बित हो उठा है। सन्देश रासक में सन्देश-कथन एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति से किया गया है। बीसलदेव रासो में इस कार्य के लिए दरबार के एक पंडित का उपयोग किया गया है लेकिन ढोला में क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढियों तक से अपनी विरह वार्ता कही गई है। अतः इसमें अधिक मार्मिकता आ सकी है।

जायसी के पद्मावत में सन्देश-प्रणाली निश्चित रूप से ढोला० से प्रभावित है। ढोला० लोक गीत के सबसे अधिक निकट है। अतः इसमे साधारणीकरण की मात्रा प्रचुर रूप में है। प्रस्तुत काव्य में शृंगार के संयोग-कालीन वर्णन मर्यादित हैं और उनमे सांकेतिकता से काम लिया गया है। मिलन के उपरान्त प्रेमी दपति मत्त-गज दम्पत्ति के समान रतिशय्या की ओर जाते हैं। इस दिशा मे उक्त काव्य सन्देश रासक की कोटि में आता है। ढोला-मारू रा दूहा मे विप्रलम्भ शृंगार का अतीव उच्च एव मनोवैज्ञानिक वर्णन है। नख शिख-वर्णन परम्परा भुक्त है। वियोग-वर्णन मे हृदय की सच्चाई का स्वाभाविक एव प्रभावशाली वर्णन है। विरह-वर्णन में कहीं भी हास्यास्पद ऊहात्मकता नहीं है।

मारवजी का ढाढी को दिया गया सन्देश अनुपम बन पड़ा है। इसमे नारी हृदय की वेदना सचमुच इठला रही है—

ढाढी, एक सदेसड़उ, प्रीतम कहिया जाइ।
सा धण बलि कुइला भई भसम ढढोलिसि आइ॥
ढाढी जे प्रीतम मिलई, यूं कहि दाखवियाह।
उजर नहिं छई प्राणियउ, या बिस झल रहियाह॥

धनिया जलकर कोयला हो गई है, अब आकर उसकी भस्म ढूंढना। अब पंजर में प्राण नहीं हैं केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुक-झुक कर जल रही है। जायसी की "सो धन जरि" से इसकी कितनी समानता है।

मारवणी की मनस्थिति का एक और चित्र देखिए—जब ढोला के आने की खबर उसे मिलती है तो उसका हृदय हर्षोद्रेक से हिमगिरि जैसा विशाल हो गया। वह अनुभव करती है कि वह अब तन पजर मे समायेगा ही नहीं—

हिमड़ा हेमांगिरि भयउ, तन पजरे न माई।

इस प्रकार मारवाड़ देश में जहां एक ओर चारण काव्यों का प्रणयन हो रहा था वहाँ दूसरी ओर जन साधारण के कवि स्वान्तः सुखाय लोक-सामान्य जीवन की रस सहज में ही अपने काव्य में उडेल रहे थे। ढोला० इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। सूफी कवि जायसी का पद्मावत ढोला० से बहुत अंशों में प्रभावित है।

डॉ० रामकुमार वर्मा इस ग्रंथ के काल आदि के सम्बन्ध में लिखते हैं—"यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है और-इसके रचयिता कुशल लाभ कहे जाते हैं—इसे "ढोला मारव जी री बात" के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

अमीर खुसरो-जीवन वृत्त—अमीर खुसरो इनका उपनाम है, इनका असली नाम अब्दुल हसन था। इनका जन्म १३१२ में पटियाली जिला एटा में हुआ। इन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुगलक वंश का आरम्भ देखा। इनके सामने ही दिल्ली के शासन पर ग्यारह सुलतान बैठे जिनमें से सात की इन्होंने सेवा की। आप बड़े ही प्रसन्नचित, मिलनसार तथा उदार थे। इन्हें जो कुछ धन प्राप्त होता था उसे बाँट देते थे। इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता

किसी भी प्रकार नही थी। डॉ० ईश्वरीप्रसाद इनके सम्बन्ध मे लिखते हैं—'ये कवि योद्धा और क्रियाशील मनुष्य थे।" इनके ग्रन्थों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि इनके एक लडकी और तीन पुत्र थे। जब सं० १३२४ मे इनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई तो ये उस समय गयासुद्दीन तुगलक के साथ बगाल मे थे। मृत्यु का समाचार सुनते ही शीघ्र दिल्ली पहुँचे और औलिया की कब्र के निकट निम्नांकित दोहा पढकर बेहोश गिर पड़े—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देश॥

अन्त मे कुछ ही दिनो मे इनकी भी उसी वर्ष मृत्यु हो गई। ये अपने गुरु की कब्र के नीचे गाड दिए गए। सन् १६०५ ई० मे ताहिरा बेरी नामक अमीर ने यहाँ पर मकबरा बनवा दिया।

ग्रन्थ—अमीर खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी के विद्वान् थे तथा इन्हें संस्कृत का भी थोडा-बहुत ज्ञान था। इन्होंने कविता की ९९ पुस्तकें लिखीं जिनमे कई लाख शेर थे। पर अब इनके केवल २०-२२ ग्रंथ प्राप्य हैं। इन ग्रंथों में किस्सा चाहा दरवेश और खालिक बारी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका तुरकी-अरबी फारसी और हिन्दी का पर्याय कोश नामक ग्रन्थ भी बड़ा प्रसिद्ध है। इन्होंने फारसी से कहीं अधिक हिन्दी भाषा में लिखा है। इनके साहित्य मे भी समय-समय पर प्रक्षेपों का समावेश होता रहा है। इनकी कुछ पहेलियाँ, मुकरियाँ और फुटकर गीत उपलब्ध होते हैं जिनसे इनकी विनोदी प्रकृति का भली-भाँति परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ—

पहेली—एक थाल मोती से भरा सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे। (आकाश)

दो सुखने—पान सड़ा क्यों ? घोड़ा अड़ा क्यों ? (फेरा न था)

ढकोसला—खीर पकाई जतन से चर्खा दिया जला।
आया कुत्ता खा गया तू बैठी ढोल बजा॥

इनकी मिली-जुली भाषा का नमूना देखिए—

ज़ेहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्रां नदारम ऐ जॉं न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

साहित्यिक देन—अमीर खुसरो की साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्मशासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त करके आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमण्डल मे विहार करने की स्वतंत्रता देना। यही खुसरो की मौलिक विशेषता है। इनके साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रथम प्रयत्न है तथा उसमे भाषा सम्बन्धी एकता का आदर्श भी उपस्थित किया गया है। आचार्य श्यामसुन्दरदास का कहना है कि खुसरो के पूर्ववर्ती साहित्य में राजकीय मनोवृत्ति है उसे जन साहित्य नहीं कहा जा सकता किन्तु हम इनकी

कविता में युग प्रवर्त्तक का आभास पाते हैं। इनके साहित्य से भाषाशास्त्र में प्रचलित एक मजेदार भ्रम का निवारण हो जाता है, वह यह कि हिन्दी का जन्म उर्दू से नहीं हुआ बल्कि उर्दू तो हिन्दी की एक शैली मात्र है, अत इनके साहित्य का भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व है। तत्कालीन सुल्तानों का इतिहास भी इनके साहित्य में सुरक्षित है। उनका फारसी भाषा में निबद्ध मसनवी खिज्रनामा इस दिशा में अत्यत विश्वसनीय तथा महत्त्वपूर्ण है। खुसरो ने अपने समय की उन ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश किया है, जो कि अन्य समसामयिक इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलती हैं। इनके ग्रन्थों के ऐतिहासिक हवाले अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय हैं क्योंकि वे केवल समसामयिक ही नहीं थे, बल्कि उन घटनाओं के स्वरूप निर्माण में उनका निजी योग भी है। उन्होंने केवल ऐतिहासिक घटनाओं का परम्परागत ब्यौरा मात्र ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी सजीव अकन किया है।

खुसरो प्रसिद्ध गवैये भी थे। ध्रुवपद के स्थान पर कौल या कव्वाली बनाकर इन्होंने बहुत से नये राग निकाले थे, जो अब तक प्रचलित हैं। कहा जाता है कि बीन को घटा कर इन्होंने सितार बनाया था। सगीतज्ञ होने के नाते इनके साहित्य में सगीतात्मकता की मात्रा भी दृष्टिगोचर होती है। इनमें उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता है। आचार्य शुक्ल इनके साहित्य तथा भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"खुसरो के समय में बोल-चाल की स्वाभाविक भाषा घिस कर बहुत कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में खुसरो में मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोल-चाल की भाषा की ओर अधिक रहता है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरजन था, पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अत बानी पोथियों की भाषा का सहारा कुछ न कुछ खुसरो की अपेक्षा अधिक लिए हुए हैं।" डॉ० रामकुमार वर्मा इनके काव्य का विवेचन करते हुए लिखते हैं—"उसमे न तो हृदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई सदेश ही। वह केवल मनोरजन की सामग्री है। जीवन की गम्भीरता से ऊब कर कोई भी व्यक्ति उससे विनोद पा सकता है। पहेलियो, मुकरियो और दुसखुनो के द्वारा उन्होंने कौतूहल और विनोद की सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो उस विनोद में अश्लीलता भी आ गई है। उन्होंने दरबारी वातावरण मे रहकर चलती हुई बोली से हास्य की सृष्टि करते हुए हमारे हृदय को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। खुसरो की कविता का उद्देश्य यहीं समाप्त हो जाता है।' आगे चलकर डॉ० वर्मा इनके सम्बन्ध मे लिखते हैं—"चारण-कालीन रक्तरजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणो की डिंगल कविता उद्धत स्वरा मे गूँज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म शासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण प्रकृति हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।"

जयचन्द प्रकाश तथा जसमयक चन्द्रिका—ये दोनो रचनायें अभी तक प्राप्त नही हुई हैं। इनकी चर्चा केवल 'राठौडा री ख्यात" मे मिलती है। प्रथम रचना के लेखक यह केदार नामक कवि बताए जाते हैं। इस महाकाव्य मे महाराज जयचन्द के पराक्रम और प्रताप का वर्णन था। जतमयक चन्द्रिका के लेखक मधुकर कवि बताए जाते हैं। दोनो ग्रंथों की विषय वस्तु मिलती-जुलती है। सुना जाता है कि दयालदास इन्ही रचनाओ के आधार पर कन्नौज का वृत्तान्त लिखा था। अत किसी समय में इन ग्रथो का अस्तित्व अवश्य था।

वसन्त विलास का रचयिता अभी तक अज्ञात है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इस रचना का समय ईसा की तेरहवीं शती निर्धारित किया है। यद्यपि इसमें चौरासी दोहे हैं किन्तु उनमे कामिनियो के प्रेमी जीवन पर वसन्त और उसके मादक प्रभाव का चित्रण किया गया है। इस ग्रथ में स्त्री पुरुष और प्रकृति तीनों में प्रवहमान अजस्र मदोन्मत्ता का जैसा स्वरूप मिलता है वैसा रीतिकालीन शृ गारी-कवि मे भी नही मिलता है। इसमें कालिदास के ऋतु सहार तथा हाल की गाथा सतसई की परम्परा को निभाया गया है और राउलवेल की शृगार परम्परा को चरम सीमा पर पहुंचा दिया गया है। उदाहरणार्थ—

इणि परि कोइलि कूजइ पूजइं युवति मणोर।
विधुर वियोगिनि धूजइं कूजई मयण किसोर॥

एक ओर हृदय को सालता हुआ कोयल का मदिर कूजन और दूसरी ओर पति सयुक्ताओ का विलासमय काम पूजन वियोगिनी विधुर प्रमदाओ को कपायमान कर देते हैं और वे मनोज की मधुर अनुभूति को करने लगती हैं।

भक्ति और रीतिकालीन शृ गारी प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए यह रचना अतीव उपयोगी है। हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी यह रचना उपादेय है।

विद्यापति—जीवन वृत्त—विद्यापति का जन्म स० १४२५ मे बिहार के दरभगा जिले मे बिसपी गाँव मे हुआ था। ये एक विद्वान् वश से सम्बन्ध रखते थे। इनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "गगा भक्ति तरगिनी' अपने मृत सरक्षक मिथिला के महाराजा गणेश्वर की स्मृति मे समर्पित की थी। ये तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय मे रहते थे। महाराज शिवसिंह के अतिरिक्त रानी लखिमा देवी भी इनकी बडी भक्त थी। विद्यापति ने "कीर्तिलता" और कीर्ति-पताका' में अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बडे ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढग से वर्णन किया है। आज से लगभग ४०, ५० वर्ष पहले बगाली लोग विद्यापति को बगला का कवि समझते थे किन्तु जब उनके जीवन की घटनाओ की जाँच पडताल बाबू रामकृष्ण मुकर्जी और डॉ० ग्रियर्सन ने की तब से बगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं।

ग्रथ—विद्यापति एक महान् पण्डित थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत, अव-

हट्ट और मैथिली भाषा में लिखी हैं। संस्कृत पर इनका असामान्य अधिकार था और इन्होंने अपनी अधिकतर रचनायें संस्कृत में ही लिखीं। विद्यापति संक्रमण-काल के कवि थे। एक ओर वे वीरगाथा काल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर व. हिंदी में भक्ति और शृंगार की परम्परा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। कीर्तिलता और कीर्ति-पताका में उनका वीर कवि का रूप है। पदावली में उनका शृंगारी रूप है और शैव सर्वस्व सार में वे भक्तिभाव में झूमते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार भाव और भाषा दृष्टि से इनकी रचनाओं को तीन मार्गों में विभाजित किया जा सकता है। भाषा के आधार पर इनकी रचनायें ये हैं—

(क) संस्कृत—(१) शैव सर्वस्वसार, (२) शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, (३) भूपरिक्रमा, (४) पुरुष परीक्षा, (५) लिखनावली, (६) गया वाक्यावली, (७) दान वाक्यावली, (८) विभाग सार, (९) गया पत्तलक, (१०) वर्ण कृत्य, (११) दुर्गा भक्ति तरंगिणी।

(ख) अवहट्ट—कीर्तिलता और कीर्तिपताका।

(ग) मैथिली—पदावली।

व्यक्तित्व—हिन्दी साहित्य में विद्यापति की अक्षुण्ण कीर्ति का आधार उनके तीन ग्रंथ हैं—पदावली, कीर्तिलता और कीर्तिपताका। विद्यापति पदावली में इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रणय लीलाओं का अत्यन्त हृदयहारी वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में इनके आदर्श कवि जयदेव रहे हैं। जयदेव का गीत-गोविन्द इनका उपजीव्य ग्रन्थ है। भाव और शैली दोनों दृष्टियों से विद्यापति जयदेव के ऋणी हैं। पदावली में इनका शृंगारी रूप पूर्णत उभर आया है। वैसे तो शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का वर्णन इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है पर जो तन्मयता संयोग शृंगार के चित्रण में दृष्टिगोचर होती है वह वियोग-पक्ष में नहीं। वस्तुत विद्यापति संयोग-पक्ष के सफल गायक हैं और प्रेम के परम पारखी हैं। इन्होंने आलंबन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधा का मनोहर चित्र खींचा है। उनके बीच में ईश्वरीय भावना की अनुभूति नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की संपत्ति लिए राधा नायिका—

कि आरे नव जौवन अभिरामा।

जत देखल तत कहएल पारिय छओ अनुपम इकठामा॥

अंग्रेजी कवि बायरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धान्त वाक्य है कि "यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।" डा० रामकुमार विद्यापति के प्रेम के संसार का चित्रण करते हुए लिखते हैं—"विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलायें ही कूजन करती हैं। फूल खिला करते हैं पर उनमें कांटे नहीं होते। राधा रात भर जागा करती है। उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है। पथ है उसमें भी गुलाब है, शैया है उसमें भी गुलाब है, शरीर है उसमें भी गुलाब। सारा संसार ही गुलाबमय है। उनके संसार में फूल

फूलते हैं, काँटों का अस्तित्व नहीं है। यौवन-शरीर के आनन्द ही उसके आनन्द हैं।"

राधा तथा कृष्ण के प्रेम की तन्मयता का अनुपम चित्र निम्नांकित पंक्तियों में दर्शनीय है। राधा के मुख से बार-बार राधा शब्द निकलता रहा है और कृष्ण के मुख से कृष्ण-कृष्ण की रट लग रही है। राधा के हृदय में कृष्ण इस रूप से बस चुके हैं कि वह कृष्णमय हो चुका है और एतदर्थ वह राधा राधा की पुकार कर रहा है और उधर दूसरी ओर कृष्ण का हृदय इतना राधामय हो चुका है कि उससे कृष्ण प्यारे की निरन्तर ध्वनि लग रही है। यह है प्रेम की पराकाष्ठा—

अनुखन माधव माधव सुमरित,
सुन्दरि भेल मधाई।

सद्य स्नाता का एक नयनाभिराम चित्र देखिये—

कामिनी करए सनाने हेरतहि हृदय हनए पच बाने।
चिकुर गरए जलधारा जनि मुख ससि डर रोमए अंधारा॥

राधा का नख-सिख-सौन्दर्य भी दर्शनीय है—

चाँद सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आचर धनि पोछलि दह दिसि भेल उजोरे॥

कुछ विद्वानों ने विद्यापति द्वारा चित्रित राधा कृष्ण की प्रणय के लीला-पक्षों को देख कर इन्हें भक्त कवि कहा है किन्तु हमारे विचारानुसार विद्यापति राधा और कृष्ण के भक्त न होकर शैव भक्त थे। विद्यापति को कृष्ण भक्त-परम्परा में न समझना चाहिए। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है कि "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।" सच यह है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है। डॉ० रामकुमार के शब्दों में 'विद्यापति पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधा-कृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने शृंगार पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधा और कृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।" वे आगे चलकर और स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—"विद्यापति के बाह्य संसार में भगवद् भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर-सन्धि कहाँ सद्य स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, अभिसार में भक्ति का सार कहाँ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं।" कुछ भी हो, विद्यापति की पदावली में भाषा के माधुर्य और भावों के माधुर्य का एक अद्भुत समन्वय हुआ है। भले ही उनमें प्रेम के बाह्य संसार पर अधिक बल है किन्तु फिर भी वह अत्यन्त मनोरम है।

विद्यापति का व्यक्तित्व विविधमुखी है। उसमें पांडित्य, कला, रसिकता

और भावुकता का अद्भुत समन्वय है। सक्रान्तिकालीन कवि होने के कारण उनके साहित्य मे विगत तथा अनागत युगो के साहित्य की प्रवृत्तियाँ सहज मे प्रतिबिम्बित हो उठी हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनके साहित्य को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है —(क) शृगारिक (ख) भक्ति-सम्बन्धी (ग) विविध विषयक नीति वीरगाथात्मक आदि। उनके शृगारी साहित्य के सिंहावलोकन के पश्चात् यह नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि भले ही वे *शिव भक्त हो, किन्तु कम से कम* वे कृष्ण-भक्त नहीं हैं। पदावली में चित्रित राधा माधव की केलि-लीलाओं के पीछे किसी भी प्रकार की कोई भक्ति, धार्मिकता, साकेतिकता, प्रतीकवाद या रहस्यवाद नहीं हैं। विद्यापति द्वारा गृहीत राधा माधव साधारण नायिका-नायक हैं *तथा उनकी लीलाओं और प्रेम-व्यापारो का चित्रण विशुद्ध लौकिक स्तर पर* हुआ है। उनके मिलन-कालीन क्रीडाओ मे मांसलता और स्थूलता इतने उत्कट रूप में उभरी हुई है कि उनमें किसी प्रकार के रूपक या उज्ज्वल रस एव मधुर रस की कल्पना-यथार्थ से आँखें मूँदना है तथा कवि के पदावली सम्बन्धी प्रणयन के उद्देश्य को न समझना है। सच तो यह है कि पदावली पर हठात् आध्यारोपित रूपक या रहस्यवाद निभाने पर भी निभ नहीं सकता है। चैतन्य महाप्रभु एक महाप्राणी थे। उनके सामने शूद्र और चाडाल, श्लील और अश्लील सब समान थे। यदि वे भाव-विभोर होकर पदावली के गीतो को गुनगुनाते थे, तो इससे पदावली या विद्यापति की कृष्ण-भक्ति-परायणता कदापि सिद्ध नहीं होती है। भक्त लोग तो गलदश्रु भाव से गीत गोविन्द के गीतो को भगवदाराधना के निमित्त गाते हैं और खोजने वाले तान्त्रिको के अति-कामुकता से अभिभूत सिद्ध-साहित्य मे अतीन्द्रियता और रहस्यमयता को उद्घोषित करने तक का साहस कर दिया करते हैं, किन्तु न ही तो *गीत गोविन्द* और न ही सिद्ध-साहित्य में किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिकता है। पदावली में केवल राधा-कृष्ण के नामो के ग्रहण से किसी अतीन्द्रिय प्रेम या भक्ति की कल्पना का *तात्पर्य यह होगा कि हमे समूचे हिन्दी के रीति-साहित्य मे भी इसी प्रकार के प्रेम* और भक्ति की कल्पना करनी होगी जो कि नितात अवैज्ञानिक तथा असगत है।

कीर्तिलता—इस रचना का हिन्दी साहित्य में दो दृष्टियों से महत्त्व है—साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा भाषा सम्बन्धी परिवर्तन के कारण। इस ग्रथ मे अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की वीरता का *वर्णन और यशोगान है। यह एक अपूर्व* ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो से यह अपने ऐतिहासिक महत्त्व के कारण भिन्न हो जाता है। कवि ने अपने समसामयिक राजा का गुण-गान बडी अलकृत भाषा मे किया है फिर भी *कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों* को कल्पित घटनाओ एव सम्भावनाओ से धूमिल नहीं होने दिया है। इस ग्रथ मे उस समय का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। दूसरे शब्दो मे इनके काव्य मे तत्कालीन संस्कृति का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। कवि ने उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक सभी परिस्थितियो का चित्र सा उतार दिया है। हिन्दू, मुसलमान, खान, वेश्याओं तथा सैनिकों के *सजीव एव पक्षपात रहित चित्रण*

से ग्रंथ साहित्यिक सौन्दर्य में और भी अभिवृद्धि हुई है। विद्यापति ने अपने चरित-नायक के चरित्र चित्रण में बड़े चातुर्य से काम लिया है। ग्रन्थों में जहाँ कीर्तिसिंह का उज्ज्वल वीर रूप स्पष्ट है वहाँ जौनपुर के सुल्तान फिरोजशाह के सामने उसका अति नम्र रूप भी प्रकट हुआ है। लेखक ने कहीं भी ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत करने का प्रयत्न नहीं किया है।

कीर्तिलता के काव्य रूप की चर्चा करते हुए डा० द्विवेदी लिखते हैं—'ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत-कुछ उसी शैली में लिखी गई थी, जिसमें चन्द्रबरदायी ने पृथ्वीराज रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद रूप में है, इसमें संस्कृत और प्राकृत के छंदों का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छंद रासो में बहुत पाये हैं। रासो की भाँति कीर्तिलता में भी गाथा (गाहा) छंद का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत और प्राकृत पदों में तथा गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास किया गया है जो अपभ्रंश परम्परा के अनुकूल ही है।" इसमें अपभ्रंश की पद्धतियाँ, वचनिका-शैली का प्रयोग हुआ है। विद्यापति ने अपने इस काव्य का कथा-काव्य न कहकर काहाणी कहा है। कथा काव्य में राज्य-लाभ के साथ ही कन्याहरण, गंधर्व-विवाह एवं बहुविवाह का प्राधान्य रहता है। कीर्तिलता केवल राज्य-लाभ तक ही सीमित है। यही कारण है कि कीर्तिलता में इतनी अधिक कल्पित घटनाओं और सम्भावनाओं का आयोजन नहीं हो पाया जितना पृथ्वीराज रासो में है। उसमें रोमांस के प्रकरण निकल जाने से बहुत कल्पित घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा है, साथ-साथ स्वाभाविकता भी बनी रही है। सम्भवतः कथा-काव्य और काहाणी का अन्तर बहुत कुछ संस्कृत साहित्य के कथा और आख्यायिका का सा है। कीर्तिलता में बीच-बीच में गद्य का प्रयोग भी हुआ है। कारण, इस ग्रंथ से पूर्ववर्ती कथा काव्यों में तथा संस्कृत में चंपू काव्यों में उक्त प्रयोग प्रचलित था।

भाषा के विकास की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने इसे अवहट्ट कहा है। इसमें तत्कालीन मैथिलीप्रधान भाषा का सम्मिश्रण है। कीर्तिलता में गद्य में तत्सम शब्दों के व्यवहार की अधिकता है तथा पद्य में तद्भव शब्दों का एकछत्र राज्य है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा में देखने को मिलती हैं। आदि काल की प्रामाणिक रचनाओं में कीर्तिलता का महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति ने कीर्तिलता में अपनी भाषा को देसिल वयना नाम दिया है। विद्यापति की कीर्तिलता में भाषा विषयक यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है—

> बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा।
> ओ परमेसर सिर सोहइ ई निच्चय नाअर मन मोहइ॥

विद्यापति के साहित्य के संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि वीर कवि, भक्त कवि और शृंगारी कवि सभी रूपों में परिपूर्ण दिखाई देते हैं। एक ओर उनकी कीर्तिलता और कीर्तिपताका चारण काव्य की वीर-गाथाओं का स्मरण दिलाती हैं तथा दूसरी ओर उनकी पदावली कृष्ण कवियों *विशेषत रीतिकालीन कवियों की शृंगारपरक सुकोमल भाव सामग्री की मूल प्रेरक* सिद्ध होती है। विद्यापति हिन्दी साहित्य में पदशैली के प्रवर्तक और सूर के पथ-प्रदर्शक जान पड़ते हैं। इनमें भाषा की सुकुमारता और भाव मधुरिमा का मणि-कांचन योग है। विद्यापति अपने समय के बड़े सफल कवि थे, यही कारण है कि इसके प्रशंसकों ने उन्हें नाना उपाधियों से विभूषित किया है—अभिनव जयदेव, कवि शेखर सरस कवि, खेलन कवि, कवि कण्ठहार और कवि रंजन आदि। वस्तु, विद्यापति ने मध्य युग के प्राय समस्त काव्य को प्रभावित किया है। *शृंगार-काव्य की सारी मान्यतायें इसमें* दृष्टिगोचर होती हैं। कल्पना, साहित्यिकता और भाषा की महिमा में ये अनुपम हैं। डॉ॰ रामरतन भटनागर इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"जयदेव के गीतों में जिस माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा है उनमें जो भावसुकुमारता और विदग्धता है, जो पद लालित्य है, वह तो विद्यापति में है ही, परन्तु साथ ही सामन्ती कला के तीव्र आकर्षक रंग भी उस पर चढ़े हैं और कवि की समाचातुरी, वचनविदग्धता और भावविभोरता ने *उसके काव्य को जयदेव के काव्य से कहीं अधिक मार्मिक बना दिया है।* यही कारण है कि परवर्ती युग में कवियों और साधकों ने जयदेव के स्थान पर राधा-कृष्ण का नेतृत्व उन्हें दे दिया।" विद्यापति तथा जयदेव के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। गीत-गोविन्दकार जयदेव विद्यापति के परम-अनुकरणीय रहे हैं। इन दोनों की साहित्यिक परिस्थितियों और व्याख्यात्मक दृष्टिकोणों में साम्य का होना अनिवार्य था। यदि जयदेव के काव्य में हरिस्मरण, विलास-कला (काम कला), काव्य कला (नायिका भेद) और संगीत-कला का समन्वित रूप है, तो विद्यापति की पदावली में रस-रीति (कामानन्द सम्भोग कलायें) काव्य-कला (नायिका भेद) और संगीत का विचित्र सम्मिश्रण है। जयदेव में भक्ति का झीना आवरण फिर भी जहाँ तहाँ बना रहा है (यद्यपि वह है अवास्तविक) किन्तु विद्यापति की पदावली किसी प्रकार के धर्म या भक्ति की ग्रंथि से ग्रस्त नहीं है। अत: उसमें राधा-माधव की रहकेलियों का और भी उन्मुक्त गान हुआ है।

विद्यापति का परवर्ती साहित्य के प्रति दाय

विद्यापति को संस्कृत साहित्य के शृंगार-वर्णन की विशाल-परम्परा परम्परागत सम्पत्ति के रूप में मिली और उसका उन्होंने यथासम्भव सदुपयोग भी किया। जयदेव विद्यापति के अत्यन्त अनुकरणीय रहे हैं, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। जयदेव ने काव्य-कला, काम-कला, संगीत-कला तथा हरि-स्मरण का संतुलित रूप गीत-गोविन्द में प्रस्तुत करने का *प्रयास किया है किन्तु इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता* नहीं मिली। गीत-गोविन्द की संगीत लहरी में नायिका भेद तथा केलिरहस् (काम

कनायें) मुख्य रूप से गुंजरित हो उठी हैं जहाँ हरि स्मरण की क्षीण ध्वनि विलीन हो जाती है। विद्यापति में जयदेव काव्य की उपर्युक्त सब प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु उनके साहित्य में रस रीतिवाद का सर्वप्राधान्य है। यद्यपि विद्यापति ने किसी निश्चित रूप रेखा के अनुसार पदावली में नायिका भेद-प्रभेद प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम के सीमित वृत्त में नायिका भेद का जो भाग सहज में समाविष्ट हो सकता था, वह सब कुछ पदावली में है। अतः विद्यापति ने परवर्ती कवियों कृष्ण भक्ति साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य के लिए राधा-कृष्ण के व्याज से नायिका-भेद वर्णन की प्रवृत्ति का परोक्ष रूप से मार्ग प्रशस्त कर दिया। रीति काल में रीतिबद्ध कवियों के लक्ष्य ग्रंथों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। रीति-काल में रस-रीति परक, अर्थात् विलासिता तथा कामानन्द से सम्बद्ध साहित्य के प्रणयन की प्रेरणा का विद्यापति के द्वारा मिलना कोई अकल्पनीय नहीं है। रीति कवि के लिए राधा और कृष्ण के नाम पर लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति का मार्ग विद्यापति के द्वारा पहले से ही प्रशस्त कर दिया गया था। राधा-कान्ह के सुमरिन का बहाना करके प्रणय लीलाओं के उन्मुक्त मांसल चित्र उपस्थित करने वाले रीतिकालीन कवि तथा विद्यापति के दृष्टिकोण, उद्देश्य तथा परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य है। हाँ, इस दिशा में विद्यापति में फिर भी थोड़ी बहुत कलात्मकता बनी रही है जबकि रीति कवि में उसका सर्वथा अभाव है।

विद्यापति की कीर्तिलता से वीर रसात्मक तथा पुरुष परीक्षा जैसे ग्रंथों से नीति और उपदेशमय ग्रन्थों की शैली का हिन्दी के परवर्ती के युगों में अनुसरण होता रहा।

विद्यापति का काव्य और व्यक्तित्व विविधमुखी है। एक ओर जहाँ विद्यापति के द्वारा मिथिला भाषा के कवि गोविन्द दास तथा लोचन आदि कवि प्रभावित हुए वहाँ दूसरी ओर कृष्ण भक्त काव्यकार भक्तवर सूरदास आदि भी इस प्रभाव से अछूते न रहे। हालांकि सूर में भक्ति भावना, कलात्मकता और संयम अधिक है। इसके अतिरिक्त रीति काल का साहित्य कई दिशाओं में विद्यापति से अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

भक्ति काल (पूर्व मध्य काल)

(विक्रमी सं० १३७५-१७००-सन् १३१८-१६४३)

भक्ति काल के नामकरण का पुनर्मूल्यांकन

आचार्य शुक्ल ने पूर्व मध्य काल को भक्ति काल की संज्ञा से भी अभिहित किया है जो कि प्रस्तुत काल की केवल एक ही प्रवृत्ति को ध्वनित करता है, जबकि सच यह है कि इस काल मे भक्ति की धारा के साथ-साथ काव्य की अन्य अनेक परम्परायें भी पर्याप्त सक्रिय रही हैं। शुक्ल जी ने ज्ञानाश्रयी प्रेमाश्रयी कृष्ण भक्ति तथा राम भक्ति की धाराओ का उल्लेख तो किया है किन्तु उन्होने जैसेक भक्ति की एक सशक्त काव्य धारा की उपेक्षा कर दी है। हमारा यह विश्वास है कि समूचे मध्य काल मे काव्य की समान धारायें प्रवाहित होती रही हैं। इस काल मे धर्म, राज्य तथा लोकाश्रयो मे साहित्य सृजन की प्रक्रिया बराबर चलती रही। भक्ति की धारा के अतिरिक्त मैथिली गीति परम्परा, ऐतिहासिक रास काव्य परम्परा, ऐतिहासिक चरित काव्य परम्परा, ऐतिहासिक मुक्तक परम्परा, शास्त्रीय मुक्तक परम्परा, रोमासिक कथा काव्य परम्परा और स्वच्छन्द प्रेम काव्य परम्परा की वेगवती काव्य धारायें मध्यकालीन साहित्य को उर्वर बनाती रही हैं, जिन्हे किसी भी दशा मे भक्ति की धारा से क्षीण नही कहा जा सकता है। अत प्रस्तुत काल को पूर्व मध्यकाल के नाम से पुकारना अपेक्षाकृत अधिक निरापद है। आधुनिक अनुसधानो के द्वारा पर्याप्त नवीन सामग्री के सामने आ जाने पर पूर्व मध्य काल को भक्ति काल की संज्ञा से अभिहित करना उसकी एकागिता का सूचक है।

परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थितियाँ—हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के इस सुदीर्घ समय को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(क) प्रथम भाग १३७५ से १५८३ स० तक, (ख) १५८३ से १७०० स० तक प्रथम भाग में दिल्ली पर तुगलक और लोधी वश के शासको ने राज्य किया और द्वितीय भाग में मुगलवश के बाबर, हुमायूं, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने। राजनीतिक दृष्टि से प्राय: यह काल विक्षुब्ध, अशान्त तथा सघर्षमय काल था।

मुहम्मद गौरी के विजित प्रदेशो पर तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई। बलबन, अलाउद्दीन आदि सुलतान तथा उनके सरदार साम्राज्य-विस्तार के कार्य मे सफल भी हुए किन्तु उनके अशक्त उत्तराधिकारियो द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी। अलाउद्दीन

खिलजी तथा मुहम्मद ने सतत प्रयासों से केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बनाकर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया किन्तु उनके आँख मूँदते ही सब कुछ चौपट हो गया। फलत चौदहवीं तथा पन्द्रहवी शताब्दियो में बहुत से मुसलमानो तथा हिंदुओ के प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए। तुर्क शासक विदेशी होते हुए भी इस देश को अपना चुके थे। उनमे कुछ की धमनियो में हिन्दू रक्त था। तुर्कों के पीछे पठानों का राज्य हुआ। उनके पूर्वज हिन्दू या बौद्ध थे। अतएव ये लोग एक प्रकार से विदेशी नहीं रह गए थे।

१२९५ मे अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने मालवा और महाराष्ट्र को जीता। गुजरात जीतकर उसने राजपूताना को तीनों ओर से घेर लिया तथा रणथम्भौर, चित्तौड़, सिवाना, जालोर और भिन्नमाल आदि प्रदेश जीत लिए। इस प्रकार दक्षिण भारत मे मुस्लिम शासन पहुँचा। अलाउद्दीन के मरते ही दिल्ली का शासन ढीला पड़ गया पर गयासुद्दीन तुगलक ने १३२० मे उसमे फिर जान डाली। उसने बगाल को जीतकर दक्षिण में महाराष्ट्र तथा आंध्र तक अपना राज्य स्थापित किया। कुछ काल के उपरान्त, प्रान्तीय शासकों मे स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति आने लगी। दिन-प्रतिदिन कोई न कोई प्रातीय शासक स्वतन्त्रता की घोषणा करता और दिल्ली सम्राट् उस पर चढ़ाई करके उसे अपने अधीन करता। मेवाड़ मे हम्मीर सिसोदिया १३२६ में स्वतन्त्र हो गया। उन्हीं दिनो विजयनगर के हिन्दू राज्य का उदय हुआ। मदुरा और बगाल में दिल्ली सल्तनत के सूबेदार स्वतन्त्र सुलतान बन बैठे, दक्षिण में बहमनी सल्तनत की स्थापना हुई। काश्मीर मे शाहमीर ने जिसके पूर्वज स्थानीय हिन्दू थे, स्वतन्त्र सल्तनत की स्थापना की। फीरोज तुगलक ने इन विद्रोहों को दबाया भी किन्तु उसके उत्तराधिकारी निकम्मे और नालायक निकले और राज्य की शक्ति प्रान्तीय शासकों के हाथों मे चली गई। इन्हीं दिनो दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्यों मे सघर्ष चलता रहा। वैसे तो तुर्क राज्य काफी खोखला हो ही चुका था किन्तु १३९८ मे दिल्ली राज्य तैमूर की निर्मम ठोकर को खा कर सम्भल न सका।

१५वी शताब्दी प्रान्तीय शासको का युग है। इसमे राजस्थान मे मेवाड़ की उन्नति हुई। महाराणा लाखा, चूड़ा और कुंभा के शासन-काल मे वह एक प्रमुख शक्ति बन गया। मालवा, गुजरात, बगाल, जौनपुर और कश्मीर मे स्वतन्त्र रियासतें थीं ही। तिरहुत मे कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उस के पौत्र गणेश्वर ने उसे स्वतन्त्र कर लिया। गणेश्वर का पुत्र कीर्तिसिंह और पौत्र शिवसिंह स्वतन्त्र हिन्दू राजा थे। बुन्देलखण्ड मे गाहड़वाल वशज बुन्देल सरदार राज्य करने लगे। उड़ीसा में सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। बहमनी सल्तनत के टूट जाने पर उसके स्थान पर चार छोटे छोटे राज्य कायम हो गये। १५वीं शताब्दी के मध्य मे पठानो ने दिल्ली ले ली और वे बिहार तक फैल गये पर वे दिल्ली के [illegible] साम्रा[illegible] न [illegible]। १६वी [illegible] मे

किया तब इस समय सभी स्वतन्त्र प्रादेशिक राज्य थे। उस समय भारत में प्रमुख शासक पश्चिमी मण्डल मे मेवाड का राणा सागा और दक्षिण मे विजयनगर का कृष्णदेव राय थे। बाबर ने १५२६ में पानीपत के मैदान मे युद्ध के नवीन उपकरणो के प्रयोग मे इब्राहीम लोधी को पराजित किया। दिल्ली से आगे बढते ही उसकी राणा सांगा से मुठभेड हुई किन्तु वहाँ पर भाग्य ने बाबर का साथ दिया। सागा के पश्चात राजपूतों मे प्रतिरोध की शक्ति न रही पर पठानो ने हिम्मत न हारी और प्रतिरोध जारी रखा। पठान शासक शेरशाह सूरी ने साधनो के बिना हुमायूँ को पूरी तरह पराजित किया। शेरशाह के समय मे ही हिन्दी का अमर काव्य पद्मावत लिखा गया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और उधर मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ मे था। हेमचन्द्र के नेतृत्व मे पठानों ने पानीपत के दूसरे युद्ध मे अकबर का डटकर मुकाबला किया किन्तु अन्ततोगत्वा अकबर का पलडा भारी रहा। दिल्ली सम्राट् अकबर के सामने देश के छोटे-छोटे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने एक एक कर घुटने टेक दिए। अकबर के समय मे भी मेवाड के राणा प्रताप ने उसकी आधीनता न मानी और आजीवन लडता रहा। प्रताप का पुत्र अमर सिंह जहाँगीर से १६ वर्ष लडा पर अन्त में उसने आधीनता मान ली। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनो में बुन्देलखण्ड मे चपतराय और महाराष्ट्र में शिवाजी की स्वतन्त्रता की चेष्टायें प्रगट हुईं।

प्रस्तुत काल के इस विस्तृत ब्यौरे से एक बात नितांत स्पष्ट है कि विदेशी आक्रातायों के द्वारा "आया, देखा और नष्ट कर दिया" के समान कुछ क्षणों, घण्टों या दिनो मे भारत पर आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ बल्कि उन्हें देशी शासको के प्रतिरोध का बुरी तरह सामना करना पडा। यहाँ के देशी शासक अन्तिम दम तक प्राण-प्रण से स्वाधीनता के लिए जूझते रहे। उनमें किसी भी प्रकार की निराशामय पराजित मनोवृत्ति नहीं थी और न ही उस समय का साहित्य निराशामय परिस्थितियों की उपज है।

नि सन्देह इस काल मे कतिपय कट्टर तथा साम्प्रदायिक मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दी जनता पर अकथनीय अत्याचार भी ढाये गए किन्तु सभी विदेशी शासक सकीर्ण हृदय थे, ऐसी बात नही। इसके साथ-साथ मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी नहीं थी। धर्म के आधार पर शिया और सुन्नी लोगों में सतत् सघर्ष चलता रहा। इसके साथ-साथ विदेशीयता के आधार पर उन लोगो में विद्वेष की आग सदा सुलगती रही। अरबी, तुर्की, ईरान तथा अफगान आदि मुसलमान आपस मे सदा जलते रहते थे शासक वर्ग में भी राज्य-लिप्सार्थ निर्मम हत्याओं का का सिलसिला चलता रहा। अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है। रजिया तथा नसरुद्दीन ने अपने कई भाइयों को पद से वचित करके राज्य प्राप्त किया। रजिया और उसके प्रेमी का वध हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा और मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त किया। अलाउद्दीन की मलिक काफूर के द्वारा मृत्यु हुई। सिकन्दर

लोधी ने अपने भाई बारबद को ठिकाने लगाया। मुगल सम्राटों में शाहजादा खुर्रम को अपने कुल के बहुत से आदमियों को ठिकाने लगाना पड़ा और औरंगजेब ने राज्य प्राप्ति के लिए क्या कुछ नहीं किया। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय को छोड़कर मुस्लिम-काल का शेष सारा समय मारकाट, गृह कलह, विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा है।

ऐसी बात भी नहीं है कि सभी मुसलमान शासक हिन्दुओं के प्रति अनुदार और असहिष्णु रहे हों। 'बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया। कश्मीर के जैनुलाबुद्दीन के प्रोत्साहन से जोनराज ने संस्कृत में दूसरी राजतरंगिणी लिखी। जौनपुर के सुलतानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया और संगीत शिरोमणि नामक ग्रंथ संस्कृत में तैयार हुआ। हुसैन शाह बंगाली ने महाभारत और भागवत का बंगाली में अनुवाद करवाया।' सच यह है कि अधिकांश मुसलमान-शासक भारतीय थे।

इन मुसलमान शासकों के मन्त्री और सलाहकार अधिकांश हिन्दू थे। "हुसैन शाह बंगाली का मन्त्री गोपीनाथ वसु था। काश्मीर के सुलतान शहाबुद्दीन के मुख्य-मन्त्री उदय श्री और चंद्रडामर थे। वहीं के सुलतान सिकन्दर का मन्त्री सूह भट्ट ब्राह्मण था जो कि मूर्ति-पूजा का विरोधी था। उसने कई मन्दिरों की मूर्तियाँ तुड़वा दी थीं। इस करतूत से सिकन्दर बुतशिकन के नाम से प्रसिद्ध हुआ परन्तु उसके बेटे जैनुलाबुद्दीन ने उन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। उस समय हिन्दू शासकों के द्वारा भी साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिला। इसमें विजयनगर के राजाओं और मेवाड़ के राणा कुम्भा का विशिष्ट स्थान है। 'अकबर और उसके वंशजों के प्रशासन में हिन्दी को बराबर आश्रय मिलता रहा। हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी औरंगजेब ने भी अपने दरबार में हिन्दी कवियों को स्थान दिया था। सुना जाता है कि उसने स्वयं भी हिन्दी में कविता की थी।

कोई भी साहित्य युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है किन्तु भक्तिकालीन साहित्य इस बात का अपवाद है। भक्तिकाल के प्रमुख चार कवियों कबीर, जायसी, तुलसी और सूर की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है। उन्हें न तो सीकरी से काम था और न प्राकृत जन गुण-गान से सरोकार था। इन भक्तों की वाणी धर्म और शांति प्रधान रही हाँ, कुछ-एक उद्धरण इन भक्तों की वाणी में इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य मिल जाते हैं—

(क) बेद धर्म दूर गये, भूमि चोर भूप भये।
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की॥

(ख) कलि बारहि बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।

(ग) म्लेच्छनि मार दुखित मेदिनी।

पर ये उद्धरण उनकी रचनाओं के मूल विषय नहीं हैं।

सामाजिक परिस्थिति—चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दियों में हिन्दी मुसलमानों में

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदान-प्रदान हुआ। हिन्दुओं में जात-पाँत और शादी-ब्याह के बन्धन कड़े हुए। एक ही परिवार के व्यक्ति कुछ हिन्दू रह जाते और कुछ मुसलमान हो जाते। उस समय तक हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर विवाहों के उदाहरण मिल जाते हैं। काश्मीर के सुलतान शाहमीर की लड़कियों का विवाह हिन्दू सामन्तों के साथ हुआ था और उसके लड़के अल्लेशर का विवाह हिन्दू सेनापति की लड़की से हुआ था। लड़की पति का धर्म स्वीकार कर लेती थी। जाति-पाँति के बन्धन अवश्य दिन प्रति दिन कठोर होते जा रहे थे किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी। रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुलकर इसका विरोध कर रहे थे। खान-पान के बन्धन भी शायद इतने कड़े नहीं थे। जौनराज की राजतरंगिणी में लिखा है कि "शहाबुद्दीन और उसके मन्त्री उदय श्री और चन्द्रडामर ने एक चषक में मदिरा पान किया था।" चौदहवीं शताब्दी तक खान-पान के बन्धन इतने कड़े नहीं थे, पर पीछे छुआछूत और खान-पान के बन्धन अधिक कड़े हो गए।

शेरशाह ने जमींदारी की प्रथा को उठा दिया था किन्तु मुगलों ने इस प्रथा को फिर जारी किया। मुगल दरबार के जागीरदार तथा मनसबदार बड़े समृद्ध थे। बादशाह और जागीरदारों का जीवन भोग-विलास तथा ऐश्वर्यपूर्ण था। बादशाह को प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान भी था। १६३०-३१ में जब गुजरात खानदेश और दक्षिण में अकाल पड़ा तो शाहजहाँ ने उन प्रान्तों के लगान में छूट दे दी और अनाज मुफ्त बँटवाया।

बहुतेरे हिन्दू विविध कारणों से स्वेच्छया मुसलमान बने होंगे। सभी मुसलमान बादशाह और सामन्त इस्लाम को तलवार के बल पर फैलाने के पक्ष में नहीं थे। फीरोज तुगलक सिकन्दर बुतशिकन, अहमदशाह गुजराती, महमूद बघेरा और सिकन्दर लोदी जैसे धर्मान्धों के साथ ही जैनुलाबुद्दीन, हुसैनशाह बंगाली और शेरशाह जैसे उदार चरित शासक भी थे। इस काल के पूर्व तक विधर्मियों को हिन्दू बना लेने के प्रमाण भी मिलते हैं। गोरी के कैदियों का शुद्धीकरण किया गया था। चीन की ओर से अहोम लोग आकर आसाम में आ बसे थे और उनका आर्यीकरण कर लिया गया था। कहीं-कहीं हिन्दू मुसलमान कन्याओं को ब्याह लेते थे परन्तु अपना धर्म बनाए रहते थे। कदाचित् शाहजहाँ को इसलिए फरमान निकालना पड़ा था कि युवती को ग्रहण करने वाले हिन्दू को मुसलमान होना ही होगा। कदाचित् इसी कारण हिन्दुओं में जाति-पाँति की कट्टरता बढ़ी। उनमें पाचन शक्ति का ह्रास हुआ और उनमें कच्छप वृत्ति बढ़ी। विलासी मुस्लिम अधिकारियों की सस्ती रसिकता से रक्षा पाने के लिए हिन्दू समाज में पर्दे और बाल विवाह का प्रचलन हुआ। जहाँ हिन्दुओं में ऊँच-नीच का भेद आया, वहाँ मुसलमानों में शिया-सुन्नी की असमानता ने रंग दिखाया। कुछ मुस्लिम शासकों में रक्त-लिप्सा और काम पिपासा भी कम नहीं थी। अलाउद्दीन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए तारीखे [illegible] के लेखक [illegible] ने लिखा है—"उन

हिन्दुओं के पास धन संचित करने के कोई साधन नहीं रह गए थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य-पद उनको अप्राप्य थे।" अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का ५० प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से उगाहा था।

जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों में शासित और शासक का भेद था। वहाँ धीरे-धीरे वे एक दूसरे के प्रति उदार भी होने लगे थे। तत्कालीन वास्तु और चित्र-कला तथा धर्म और काव्य के क्षेत्र में उनमें आदान-प्रदान और समन्वय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। मुसलमानी इमारतों और राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों को देखने से मुसलमान और हिन्दू-कला के घुल-मिल जाने से नवीन कला शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

धार्मिक परिस्थिति—उस समय की भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थिति, (ख) और वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशी धार्मिक परिस्थिति ने भी भारत में स्थान बनाया जिसे हम सूफी धर्म कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ—हीनयान और महायान। हीनयान में सिद्धांत पक्ष की दार्शनिक जटिलता थी अतः कम लोगों की आस्था उस पर टिक सकी। महायान में सिद्धान्त के स्थान पर व्यवहार पक्ष की प्रधानता थी। उसमें आचार-सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन माना गया और उसमें सभी वर्गों के लोगों को सम्मिलित होने की आज्ञा मिली। हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत। शंकर तथा कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म पर प्रखर प्रहार किया और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। सुसंस्कृत जनता शंकर धर्म के उपदेशों से आकृष्ट हुई। महायान सम्प्रदाय ने जनता के असंस्कृत वर्ग को जन्त्र-तन्त्र, अभिचार तथा चमत्कार बाजी से वशीभूत किये रखा, इसी कारण उसका नाम कालान्तर में मन्त्रयान पड़ा। इसके साथ वाम मार्ग भी चल रहा था जिसमें स्त्रियों को वश में करने के लिए नाना प्रकार के जन्त्र-मन्त्र, अभिचार आदि का प्रयोग किया जाता था। मंत्रयान ने वाम मार्ग की मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा आदि अनेक मुद्राओं को अपना लिया। उसके बहु-सुखवाद के स्थान को गुह्य साधनों ने ले लिया। इसके लिए सुभक्ष्य जैसे गर्हित उपचारों का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अंग समझ लिया गया। मन्त्रयान से वज्रयान निकला और उसमें चौरासी सिद्ध दीक्षित हुए। सिद्धों ने जन्त्र-मन्त्र शैली को अपनाते हुए भी उसमें क्रान्तिकारक परिवर्तन किए। नाथपन्थ [illegible] के सिद्धों का एक बड़ा भारी परिच्छन्न रूप समझना चाहिये। सिद्धों और नाथों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त थे—कर्मकाण्ड [illegible] नहीं। वर्ण

व्यवस्था अनावश्यक है। मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। ईश्वर एक निरंतर तथा घट घट व्यापक है। धर्म की इस दशा को लक्ष्य करके कदाचित् तुलसीदास ने कहा था—"गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो भोग।"

अस्तु ! सिद्धों और नाथों की मुख्य-मुख्य रूढ़ियाँ सन्त मत की धार्मिक पृष्ठ भूमि बनीं। सन्त-मत के पनपने का थोड़ा-बहुत श्रेय इन सिद्धों और नाथों को जाता है।

भक्ति की लहर दक्षिण से आई। शकर से बहुत पहले दक्षिण देश मे आलवार सन्तों में भक्ति का प्रसार एवं प्रचार हुआ। शकर ने बौद्ध धर्म के विरोध मे अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसकी प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला। उनमें विष्णु के अवतारों राम और कृष्ण की कल्पना हुई। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोला और जन-भाषा मे अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। इनसे पूर्व के आचार्यों ने संस्कृत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था और उनके उपदेश सुसंस्कृत जनता तक ही सीमित थे। रामानन्द ने तुलसी के लिए बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त कर दिया। मन और कर्म की शुद्धता और रामभजन तुलसी की भक्ति का निचोड़ कहा जा सकता है।

विष्णु के दूसरे अवतार श्रीकृष्ण की उपासना के विविध भेद और उपभेद लेकर चले हुए अनेक सम्प्रदायों ने भी इस भूभाग को काफी प्रभावित किया। महाभारत में वर्णित दुष्टों के सहारक, अधर्म विनाशक तथा धर्म-रक्षक कृष्ण का ग्रहण न करके भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण के रूप का ग्रहण किया गया और इस रूप की आध्यात्मिक व्याख्या करके इसे अलौकिक रूप दिया गया, किन्तु इसमें शनैः शनैः भोग प्रधान मानसिक तृप्ति के उपादानों का समावेश होता गया, अत लोग इधर झुके। इस युग में इनके जो उद्गार निकले उनमें भक्ति की आड़ में कुछ विलास-वासना छिपी रही, किन्तु आगे चलकर तो इसने कृष्ण को रसिया तथा छैला का रूप दे डाला।

इधर भारत में मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व ही इन सूफियों ने यहाँ इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कुछ सम्प्रदाय भी खड़े कर लिये थे। इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को अपने ढंग से अपनाया और प्रेम-स्वरूप निराकार ईश्वर का प्रचार किया। इन पर योग का प्रभाव भी स्पष्ट है। ये लोग इस्लाम को छोड़े बिना यहाँ के नाथ सम्प्रदाय तथा एकेश्वरवादी विचारों को अपनाते हुए समन्वय करने में अग्रसर हुए तथा हिन्दू-मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया। तुलसीदास ने "उपखान" शब्द से कदाचित् इन्हीं की ओर सकेत किया है।

साहित्यिक परिस्थिति—इस धार्मिक सघर्ष के युग में सभी विचारकों ने गद्य में अपने विचार प्रकट न करके उन्हें छन्दोबद्ध रूप दिया। संस्कृत में इस सम्बन्ध में टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही। किसी नवीन मौलिक उद्भावना से काम नहीं

लिया गया। सिद्धान्त-प्रतिपादन तथा भक्ति प्रचार की भावना उस समय के समस्त साहित्य में काम कर रही है। कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे भावुक कवि भी इस मनोवृत्ति से अछूते नहीं रहे।

उन दिनों हिन्दुओं का उच्च वर्ग संस्कृत में अपने उद्गारों की अभिव्यक्ति करता रहा। इधर मुगलों द्वारा फारसी को राजकाज के लिये स्वीकार किया जा चुका था। अतः फारसी में अनेक इतिहास ग्रन्थों की रचना हुई तथा प्रचुर मात्रा में कविता लिखी गई। फारसी में संस्कृत के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। शेरशाह सूरी मुगल बादशाह और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं तथा सम्पन्न लोगों ने हिन्दी को भी प्रोत्साहन दिया, परन्तु संस्कृत और फारसी साहित्य के समान हिन्दी को आदर नहीं मिल सका। राजस्थानी की कुछ वचनिकाओं में तथा ब्रजभाषा की वार्ताओं और टीकाओं में गद्य का भी प्रयोग हुआ किन्तु पद्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ और उसमें भक्ति साहित्य का अधिक निर्माण हुआ। बादशाहों तथा राजाओं के आश्रित कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें कीं। इस काल में वीर-रस-प्रधान काव्य की रचना नहीं हुई उसका प्रासंगिक रूप से अन्य रसों के साथ वर्णन हुआ है।

भक्ति साहित्य में भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। भक्ति काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उसमें उच्च कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवीय है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह साहित्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है अतः इसे पराजित मनोवृत्ति का परिणाम कहना नितांत भूल होगी।

सांस्कृतिक परिस्थिति—समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति को पुनर्जागृत करने का प्रयास किया गया है। उनमें पूजा-उपासना और कर्म काड में दर्शन का पुट दिया गया है। मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, धर्म-शास्त्रों का सम्मान, कर्म फल में विश्वास, अवतारवाद तथा गौ और ब्राह्मण की पूजा पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएँ हैं जिनका अनु-गुंजन सगुण भक्ति साहित्य में सर्वत्र श्रवण गोचर होता है। बादरायण द्वारा रचित ब्रह्म सूत्र भिन्न भिन्न उपनिषदों के मतों में समन्वयात्मकता लाने का प्रयास है। शंकर ने इसी पर शारीरिक भाष्य लिखा, जो कि भक्ति काल के सभी सम्प्रदायों और मतों का प्रेरक तत्त्व बना रहा।

मध्यकालीन धर्म साधना में पूर्ववर्ती सभी धर्म साधनाएँ अपने जिस किसी रूप में बनी रहीं। शैव शाक्त, भागवत सौर गाण पत्य जैसे प्रमुख धर्मों में ज्ञान, योगतन्त्र और भक्ति की प्रवृत्तियों का समन्वय होने लगा। योग का प्रभाव उस समय

इतना अधिक बढ़ा कि भक्ति ज्ञान और कर्म के साथ भी योग शब्द का जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा। राम और शिव, भगवती दुर्गा और वैष्णवी में समन्वय लाने की प्रक्रिया बराबर चलती रही जिसकी प्रतिध्वनि तुलसी के रामचरित मानस में "शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहिं सपनेहु नहिं पावा" आदि शब्दों में पाई जाती है।

समन्वयात्मकता की उक्त प्रवृत्ति धर्म के समान मूर्ति एवं वास्तुकलाओं में भी देखी जा सकती है। एलोरा के समीप कैलास मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है। चम्बा नरेश अजय पाल के शासन काल में उत्कीर्ण वरुण, ब्रह्मा और शिव के साथ बुद्ध भी है। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैद्यनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। भक्ति आन्दोलन कदाचित् इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है।

इसी काल में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आईं। संगीत, चित्र तथा भवन निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय आरम्भ हो गया। दोनों जातियों के साहित्य व शैलियाँ यत्किंचित रूप में एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। इस प्रकार मध्य काल में भारत की सामासिक संस्कृति का रूप और अधिक निखरने लगा। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन हैं। नायक-नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलमों के रूप में दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। भारतीय व ईरानी संगीत कलाओं का भी इस काल में अद्भुत मणिकांचन योग हुआ। काव्यों में भी राग-रागनियों का प्रयोग किया जाने लगा। आदि ग्रंथ इसका उदाहरण है।

हिन्दी साहित्य में भक्ति का उदय और विकास

हिन्दी के कई विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति का युग आविर्भाव राजनीतिक पराजय का परिणाम है जबकि दूसरे कुछ विद्वान् इसे एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावना का परिणाम मानते हैं। इनके लिए यह एक आन्दोलन है और महा आन्दोलन है जो कि भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय ने भक्ति आन्दोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—"अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।" बाबू गुलाबराय का मत है कि 'मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग-विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।"

इधर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय धर्म साधना में भक्ति का उदय कब हुआ और क्यों हुआ, इस विषय पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। पाश्चात्य विद्वान् वेबर, कीथ, ग्रियर्सन तथा विलसन आदि ने भक्ति को ईसाई धर्म की देन बताया है। वेबर महोदय ने महाभारत में वर्णित 'श्वेत द्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाईयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आचार्य ग्रियर्सन का कहना है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी में कुछ ईसाई मद्रास में आकर बस गए थे जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो० विलसन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की वस्तु सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान ने कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर कहकर अपनी कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। कहने वाले ने तो (डा० ताराचंद, हुमायूँ कबीर तथा डॉ० आबिद हुसेन) यहाँ तक भी साहस कर दिया कि समूचे का समूचा भारतीय भक्ति आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है और शंकराचार्य, *निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, बल्लभाचार्य, आलवार संत तथा वीरशैव और लिंगायत* आदि शैव सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर मुस्लिम प्रभाव है। इन उपर्युक्त मन्यप्रतिष्ठा विद्वानों के विचारों को देखकर ऐसा लगता है, जैसे कि भारत की पुष्कल दार्शनिक विचारधारा का मूल आधार इस्लाम ही हो और मुस्लिम सम्पर्क से पूर्व जैसे कि भारत देश का निजी कोई दर्शन ही नहीं था। अस्तु, इस विषय में हमें दृढ़ता से स्मरण रखना होगा कि शंकर के अद्वैतवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद में बहुत् अन्तर है तथा अन्य धर्माचार्यों की दार्शनिक सरणि भी मुस्लिम सम्पर्क की प्रतिक्रिया से जन्य नहीं है। ऐसी धाराओं का प्रचार कदाचित् हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा राष्ट्रीयता के प्रचार के उद्देश्य से किया गया लगता है। इस प्रकार के अति-रंजक कथन नितांत भ्रामक और अविश्वास्य हैं। हमारा ऐसे विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि सत्य के अपलाप की कीमत पर तथाकथित राष्ट्रीय एकता का प्रचार वांछनीय नहीं है।

अस्तु, हमारे भारतीय विद्वानों—श्री बालगंगाधर तिलक, श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर और डॉ० एच० राय चौधरी ने पाश्चात्य विद्वानों के उक्त मतों का युक्ति-युक्त खण्डन करते हुए भक्ति का मूलोद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतों से सिद्ध किया है। उपर्युक्त भ्रामक मान्यताओं को देखते हुए हमें ऐसा लगता है कि इन सबके मूल में भारतीय किसी भी वस्तु को महत्त्वहीन सिद्ध करने की दुरभिसंधि है और कुछ भी नहीं है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय की कहानी को न तो पराजित मनोवृत्ति का परिणाम मानते हैं और न ही इसे मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया। उनका कहना है—"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब

मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण मे भक्त लोगो ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानो के अत्याचार से यदि भक्ति की भाव धारा को उमडना था तो पहले उसे सिन्ध मे और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई दक्षिण मे।" और फिर ऐसी भी बात नहीं है कि सभी मुसलमान शासक अन्यायी और अत्याचारी थे। उनमे बहुत से परम सहिष्णु और उदार भी थे। उनके द्वारा सस्कृति, साहित्य और कला को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। यदि मुसलमान शासकों के बलात् इस्लाम के प्रचार की प्रतिक्रिया रूप मे भारत मे भक्ति का उदय हुआ तो उसी समय एशिया और योरुप के अन्य देशो मे भी समान पद्धति से इस्लाम का प्रचार किया गया, तब वहां भी भक्ति का उदय होना चाहिए था, पर हुआ नही। यह भी बात नही है कि उस समय भारत के लिए मुसलमानों का सम्पर्क नया था। भारत पहले से ही कन्धार (सीस्ता) के मुसलमानो के चिर-सम्पर्क मे था। राजपूत नरेश अन्तिम दम तक स्वाधीनता के लिए प्राण-पण से जूझते रहे और उनमे से अनेक स्वतन्त्र भी रहे। वहां किसी प्रकार की निराशा नहीं थी, तब वहां निराशा और वेदनाजन्य भक्ति कैसे प्रवाहित हो उठी? हिन्दू सदा आशावादी रहा। उसका सुखान्त साहित्य उसके आनन्दवादी दृष्टिकोण का सूचक है। हिन्दू जाति अपनी जीवन शक्ति के लिए विशेष प्रसिद्ध है। उसमें विषम मे विषम परिस्थितियों मे भी जीवित रहने की शक्ति रही है। शकर, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य और बल्लभाचार्य आप. ये सभी आचार्य मुस्लिम युग की उपज हैं, पर वे सदा देश की राजनीतिक परिस्थितियो से निर्लिप्त रहे हैं। कबीर, नानक, सूर, तुलसी, नन्ददास तथा जायसी आदि की भी यही दशा है। इनका साहित्य उल्लासमय प्राणो के स्फूर्तिमय स्पन्दन से सवलित है, इसमें निराशा की छाया तक नही। यदि राजनीतिक पराजय ही भक्ति के उदय का एकान्तिक कारण होता तो जायसी, कुतुबन, मझन, उसमान आदि सूफी कवि एव कबीर—इन भक्तिकालीन मुसलमानों द्वारा भक्ति-पद्धति को अपनाने के लिए यह तर्क उपस्थित नही किया जा सकता।

हमें यह भी भूलना नही होगा कि भक्ति एक परमोच्च साधन का फल है जिसके लिए परम शान्त वातावरण अनिवार्य है। इसके लिए सघर्षमय वातावरण अपेक्षित नहीं है और न ही यह हारी मनोवृत्ति की उपज है। यदि ऐसा होता तो अंग्रेजी शासन की स्थापना के समय भी इसे प्रस्फुटित हो जाना चाहिए था।

बाबू गुलाबराय के भक्ति युग को हारी मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिक्रिया कहना नितात असमीचीन है। भक्ति काव्य मे भारतीय सस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। भक्ति-काव्य जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहां उसमें उच्च कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। रस की

दृष्टि से भी यह काव्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह काव्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। यह साहित्य शक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बर-विहीन एवं सुचिन्तापूर्ण सरल जीवन की सरल झाँकी है। आचार्य हजारीप्रसाद बाबू गुलाबराय के मत का खडन करते हुए लिखते हैं—"कुछ विद्वानो ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है, प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत सकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी, उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओ की विशाल वाहिनी खडी हो गई क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्ति मतवाद ने इस अवस्था को सभाला और हिन्दुओ में नवीन और उदार भावावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की।" वस्तुत भक्ति काल का साहित्य प्राचीन दर्शन-प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा है। जातिगत कठोरता और धार्मिक सकीर्णता की प्रतिक्रिया कुछ अशो मे इस भक्ति आन्दोलन में अवश्य हुई। जब हिन्दू धर्म मुस्लिम जाति के सपर्क मे आया तो उसमे पतितपावनी पावन-शक्ति का ह्रास हो चुका था, जबकि नवागत धर्म जाति-पाँति के बन्धनो से दूर था। हिन्दू धर्म इस दिशा में अधिकाधिक सकीर्ण तथा कठोर होता गया। इस प्रकार एक तो बौद्ध सिद्धों एव नाथ योगियों के सम्पर्क में आये। बहुत से हिन्दू पहले ही जातिच्युत हो चुके थे, दूसरे इस्लाम के सपर्क में आने पर कुछ और हिन्दू जाति-पाति के कठोर नियमो के कारण बाहर आए। आचार्य द्विवेदी इस शोचनीय दशा का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—"इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पडी हुई बहुत सारी जातियाँ छँट गई और बहुत दिनो तक न हिन्दू न मुसलमान बनी रही। बहुत सी पाशुपत मत को मानने वाली और सन्यास से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगीं। इस प्रकार की जुलाहा जाति नाथ मत को मानने वाली थी, जो निरन्तर उपेक्षित रहने के कारण क्रमश मुसलमान होती गई। इस जाति मे मध्य काल में स्वाधीनचेता संत कबीर उत्पन्न हुए।"

आचार्य द्विवेदी भक्ति-आन्दोलन पर ईसाई प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"इस प्रकार के अवतारवाद का जो रूप है, इस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नही कि प्राचीन हिन्दू चिन्तन के साथ उसका सम्बन्ध एकदम है ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है, वह प्राचीन चिन्तनो से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, केनेडी आदि पडितों ने उसमे ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ में नहीं आ सका कि ईसाई धर्म के सिवाय इस प्रकार के भाव और कहीं से मिल सकते हैं। लेकिन आज की शोध की दुनिया बदल गई है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियो की देन सिद्ध होने को चला है। क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व

एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे"—(हिन्दी साहित्य की भूमिका)। डॉ० रामरतन भटनागर ने मध्य युग के भक्ति-आन्दोलन को पौराणिक धर्म का पुनरुत्थान माना है। वे लिखते हैं—"मध्य युग के भक्ति-आन्दोलन को हम पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन भी कह सकते हैं। वस्तुतः गुप्तों के युग में विष्णु और लक्ष्मी को लेकर जिन धार्मिक भावनाओं का विकास हुआ था वे ही इस युग में राधा-कृष्ण और सीता राम के माध्यम से विकसित हुईं।" कुछ विद्वानों ने भक्ति और अवतारवाद के बीज वैदिक साहित्य में खोज निकाले हैं। "वैदिक स्तुतियों में दूसरा वैष्णव तत्त्व श्रद्धा का है। वहाँ श्रद्धा व यज्ञ को एक माना गया है। श्रद्धा विश्वास, दीनता, कृतज्ञता, आराध्य-यश-वर्णन, अवलम्ब की खोज में भक्ति के तत्त्व वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित हैं।" डॉ० भण्डारकर ने अवतारवाद की भावना को वैदिक साहित्य में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—"If these Vedic gods are one, one God may become several. This led to the conception of incarnation"

डॉ० सत्येन्द्र भक्ति का उद्भव द्राविडों से मानते हैं, दक्षिण के वैष्णव भक्तों से नहीं। वे लिखते हैं—'भक्ति द्राविड़ी उपजी लाये रामानन्द।" इस उक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्राविडों में हुआ। उक्ति-कर्त्ता सम्भवतः नहीं जानता था कि वह इन शब्दों द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है। उसका द्राविड से अभिप्राय सम्भवतः दक्षिण देश से ही था, किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है, नई प्रागैतिहासिक खोजों में यह सिद्ध-सा होता है कि भक्ति का मूल द्राविडों में है और दक्षिण के द्राविडों में ही नहीं, उनके महान् पूर्वज मोहनजोदडो और हड़प्पा के द्राविडों में। अभी तक संसार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदडो और हड़प्पा के द्राविड अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थे। उनके इस ईश्वर का नाम शिव था।···आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था।" अस्तु! भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में भक्ति की परम्परा सुदीर्घ काल से चली आ रही है। भक्ति का प्रतिपादन महाभारत और गीता में स्पष्ट रूप से हुआ है। महाभारत के शान्ति-पर्व में तथा भीष्म-पर्व में नारायणोपाख्यान का वर्णन है। वस्तुतः पौराणिक धर्म पूर्ववर्ती भागवत धर्म का ही एक ऐसा नव परिवर्धित रूप था, जिसमें एक ओर भक्ति-भावना को प्रमुख स्थान दिया गया और दूसरी ओर उनमें ऐसे तत्त्वों का समावेश हुआ जिससे वह जैन और बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा में टिक सके। नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया गया है। शांडिल्य-भक्ति-सूत्र रचना-काल की दृष्टि से इससे भी पूर्व ठहरता है, पर उसमें विवेचन-सम्बन्धी स्पष्टता नहीं। जहाँ भक्ति के सैद्धांतिक स्वरूप का विकास सूत्र-ग्रन्थों में हुआ वहाँ उसके व्यावहारिक रूप के विकास का प्रयत्न पुराण साहित्य के द्वारा सम्पन्न हुआ। यह सारा कार्य गुप्त सम्राटों के शासन-काल में हुआ। भागवत

पुराण की रचना दक्षिण भारत म हुइ या नहीं, इस विवाद में न पडते हुए यह तो स्वीकार करना पडता है कि ८वीं-६वी शताब्दी तक दक्षिण भारत मे पौराणिक धर्म का प्रचार हो चुका था। भले ही कुमारिल और शकर के प्रकाट्य तर्कों ने सगुण स्वरूप भक्ति के विकास मे कुछ व्यवधान खडा किया हो। किन्तु दक्षिण भारत के वैष्णवों ने भक्ति के सरक्षण का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। दक्षिण भारत मे आलवार भक्त हुए जिन्होंने शकर के अद्वैतवाद की कोई परवाह न करते हुए भक्ति की धारा को प्रवहमान रखा। आचार्य द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन का श्रेय दक्षिण के इन आलवार भक्तों को दिया है। इनकी सख्या बारह मानी जाती है, जिनमे बहुत सारे ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध हो चुके हैं। इन भक्तो मे आन्दाल नाम की एक भक्तिन हो चुकी थी, जो मीरा के समान कृष्ण को अपना पति मानती थी और वह कृष्ण के भीतर विलीन हो गई थी। इन भक्तों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी बल्कि इससे कुछ पूर्व से लेकर ८वी ६वी शताब्दी तक आंका गया है। इन भक्तो मे भक्ति का व्यावहारिक पक्ष है। अनुमान है कि भक्ति का सिद्धान्त-पक्ष बहुत पहले से चला आ रहा होगा। १०वी-११वीं शताब्दी में आचार्य नाथ मुनि हुए, जिन्होंने वैष्णवो का सगठन, आलवारो के भक्तिपूर्ण गीतों का सग्रह, मन्दिरो मे कीर्तन एव वैष्णव सिद्धातों की दार्शनिक व्याख्या आदि महत्त्वपूर्ण कार्य किये जिनसे भक्ति-परम्परा को एक नया बल मिला। इसके उत्तराधिकारियो मे रामानुजाचार्य हुए। इन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। उन्होंने भगवान् विष्णु की उपासना पर बल देते हुए दास्य भाव की भक्ति का प्रचार किया। इसी परम्परा मे रामानन्द हुए, जिन्होने राम को अवतार मानकर उत्तरी भारत में राम-भक्ति का प्रवर्तन किया। आगे चलकर इसी सम्प्रदाय मे महाकवि तुलसीदास हुए जिन्होने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की कल्पना करके उनमे शील, शक्ति एव सौन्दर्य का समन्वय किया। आगे चलकर इसी भक्ति-शाखा मे कृष्ण-भक्ति की-सी रसिकता का समावेश हुआ और राम-रसिक-सम्प्रदाय चल निकला।

दूसरी ओर द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य, द्वैताद्वैतवाद के सस्थापक निम्बार्काचार्य और शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक बल्लभाचार्य हुए; मध्वाचार्य ने शकर के मायावाद का खण्डन करके विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। निम्बार्क ने लक्ष्मी और विष्णु के स्थान पर राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। बल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की उपासना पर बल दिया और पुष्टि-मार्ग का प्रवर्तन किया। चैतन्य महाप्रभु के चैतन्य सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी सम्प्रदाय और हितहरिवंश के राधावल्लभ सम्प्रदाय और शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक बल्लभाचार्य हुए। मध्वाचार्य ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के द्वारा कृष्ण-भक्ति मे माधुर्य-भाव का प्रचार किया। सूर इसी परम्परा के एक समुज्ज्वल रत्न हैं, जिन्होंने अपने हृदय की समस्त सात्विकता कृष्ण के गुणगान में उंडेल दी। आगे चलकर राधा और कृष्ण का और शृगारी रूप में चित्रण हुआ।

मुसलमानों मे छुआछूत तथा ऊँच-नीच का अभाव था। तत्कालीन बौद्ध-सिद्धो तथा नाथ योगियों के धर्म में भी इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं था। इन योगियो ने ईश्वर को घट के भीतर बताया, कर्मकाण्ड को नि सार और वेदाध्ययन को ढकोसला बताया और यौगिक प्रक्रियाओ पर विशेष बल दिया। इन लोगो ने सन्त मार्ग के लिए बहुत कुछ भूमि तैयार कर दी थी। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने हिन्दू-मुसलमानो के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की स्थापना की। आगे चलकर कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों ने भक्ति का ऐसा रूप विकसित किया, जिसमें ईश्वर की सगुण-निर्गुण-मिश्रित रूप की उपासना की गई। यद्यपि हमारे विद्वान् उन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्गुण एकेश्वरवादी या रहस्यवादी बताते हैं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपासना मे प्रायः वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं, जो भक्ति की मूलाधार हैं, अतः हम इन सन्तो को भी भक्ति आन्दोलन के उन्नायकों में स्थान देना उचित समझते हैं।

इस काल मे कुछ सूफी मुसलमान हुए जिन्होंने हिन्दू घरो की प्रेम कहानियो के माध्यम से ईश्वर के प्रेम-स्वरूप का प्रचार किया। इस प्रकार इन लोगो ने हिन्दू-मुस्लिम हृदयो के अजनबीपन को मिटाया। सांस्कृतिक द्वन्द्व के उपरान्त सांस्कृतिक समन्वय हुआ। दक्षिण भारत में तो यह भक्ति की अजस्र धारा प्रबल वेग से चल रही थी, किन्तु उत्तर भारत मे भी पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गाहड़वार राजाओ के समय उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त धर्मावलम्बी था। सगुण भक्ति के आवश्यक उपकरण—वैयक्तिक सम्बन्ध का ईश्वर के प्रति होना तथा अवतारवाद पर विश्वास की भावनाएँ इस प्रदेश की जनता मे बद्धमूल थी। अतः भक्ति का बिरवा ऐसा नहीं है, जो कि विदेश से लाया गया हो अथवा विधर्मियो द्वारा इसका सिंचन और पल्लवन हुआ हो। न तो यह निराशा-प्रवृत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुत. यह एक प्राचीन दर्शन-प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा है इस धारा का प्रस्फुटन आकस्मिक नहीं, इसके लिए तो सुदीर्घ काल से सहस्रो मेघ खण्ड एकत्रित हो चुके थे। आचार्य हजारीप्रसाद भक्ति स हित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं—"समूचे भारतीय इतिहास मे अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।" भक्ति युग का आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है, जो उन सब आन्दोलनो से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहां तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलनों से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। यह साहित्य एक महती साधना और प्रेमोल्लास का देश है, जहाँ जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुंठाएँ [illegible]ल जाती हैं। भारतीय जनता भक्ति साहित्य के श्रवण-श्रावण से उस युग मे भी आशान्वित होकर सान्त्वना प्राप्त करती रही है और भविष्य मे भी यह साहित्य उसके जीवन का सबल बना रहेगा। डॉ० द्विवेदी के शब्दों में—"नया साहित्य (भक्ति साहित्य) मनुष्य जीवन के

एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है, भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान् के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है, इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है।"

भक्ति साहित्य सन्त काव्य की पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल (१३७५—१७०० वि०) मे भक्ति की दो धाराएँ—सगुण तथा निर्गुण प्रवाहित हुई। सगुण धारा के अन्तर्गत राम-कृष्ण-भक्ति-शाखाएँ आती हैं, निर्गुण के अन्तर्गत सन्त तथा सूफियों का काव्य। आचार्य शुक्ल ने नामदेव एव कबीर द्वारा प्रवर्तित भक्ति-धारा को 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' की सज्ञा से अभिहित किया है। डॉ० हजारीप्रसाद ने इसे 'निर्गुण भक्ति साहित्य' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्त-काव्य-परम्परा' का नाम दिया है। ज्ञानाश्रयी शब्द से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि इस धारा के कवियो ने ज्ञानतत्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया होगा, जबकि वास्तव मे इन्होंने प्रेम के सम्मुख समस्त ज्ञानराशि को तुच्छ माना है। भक्ति का आलम्बन सगुण आश्रय ही उपयुक्त है, अत निर्गुण भक्ति साहित्य का नाम असमीचीन प्रतीत होता है। इस धारा के कवियो का विशेष दृष्टि-कोण है, जो सन्त शब्द से भली-भाँति व्यक्त होता है, अत इस धारा को सन्त काव्य की सज्ञा देना अपेक्षाकृत सगत प्रतीत होता है।

श्री पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने सन्त शब्द की व्युत्पत्ति शात शब्द से मानी है और इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या वैरागी किया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"सन्त शब्द उस व्यक्ति की ओर सकेत करता है जिसने सत रूपी परम तत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, जो सत स्वरूप, नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही सन्त है।" आचार्य विनय मोहन के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ है जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मगल की कामना करता है। किन्तु हमारे विचारानुसार सन्त शब्द सत से बना है, जिसका अर्थ ईश्वरोन्मुख कोई भी सज्जन पुरुष हो सकता है। सकुचित अर्थ मे निर्गुणोपासकों को ही सन्त कह दिया जाता है, जबकि सगुणोपासकों को भक्त। हिन्दी साहित्य मे सन्त काव्य से कबीर, दादू, नानक और सुन्दरदास आदि के काव्य का ग्रहण होगा है जबकि सूर, तुलसी आदि के साहित्य को भक्ति काव्य कहा जाता है।

परिस्थितियाँ

धार्मिक परिस्थिति—सन्त मत का भवन कागद लेखी पर आधारित न होकर

आंखिन देखी की नींव पर आधारित है। इसमें निगम, आगम, पुराणादि का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि अनुभव ज्ञान का। किन्तु ऐसी भी बात नहीं है कि यह मत भारत की प्राचीन धार्मिक मान्यताओं एवं धारणाओं की सर्वथा उपेक्षा करके चला हो। भारतीय धर्म साधना के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन्त काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म से महायान और हीनयान सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। महायान से मन्त्रयान, मन्त्रयान से वज्रयान और इसी वज्रयान की तान्त्रिकता की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्त्वों को ग्रहण करके सन्त मत अवतरित हुआ। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन तत्त्व उभरे, उन सबका समावेश सन्त काव्य में हुआ। इसमें बौद्ध धर्म का शून्यवाद, नाथ सम्प्रदाय की योग और अवधूत भावना तथा वज्रयानी सिद्धों की सन्ध्या भाषा की उलटबाँसियों तक का समाहार है। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक धर्म की याज्ञिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया रूप में हुआ था। अतः सन्त काव्य में अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला तथा बाह्य धार्मिक आडम्बरों का कड़ा विरोध किया गया। दूसरी ओर इसमें शून्य, काया तीर्थ, सहज समाधि, योग, इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र, सहस्रदल कमल, चन्द्र और सूर्य जैसे प्रतीकों को ग्रहण किया गया। अतः यह स्पष्ट है कि सन्त काव्य अपने मौलिक विचारों की कोटि में बौद्ध धर्म की परम्परा के अन्तर्गत है तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों से होता हुआ प्रत्यक्ष रीति से नाथ सम्प्रदाय से है।

सन्त मत वैष्णव धर्म से भी प्रभावित हुआ है। यह कुछ अजीब-सा लगता, यदि दक्षिण से आये हुए व्यापक वैष्णव भक्ति के आन्दोलन से सन्त मत अछूता रह जाता। दक्षिण में ईसा की छठी शती में आलवार भक्तों के द्वारा भक्ति का आन्दोलन आरम्भ हो चुका था चाहे मूल सैद्धान्तिक रूप में इसका आविर्भाव बहुत प्राचीन काल में स्वीकार किया जा सकता है। आठवीं शती में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा याज्ञिक कर्म-कांड की पुनः प्रतिष्ठा और अद्वैतवाद की स्थापना के पश्चात् वैष्णव भक्ति का स्रोत कुछ अवरुद्ध-सा हो गया। १२वीं शती में नाथमुनि ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की और एक शताब्दी के पश्चात् रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद द्वारा भक्ति की चरम सार्थकता सिद्ध की। इसके अनन्तर मध्व और निम्बार्क ने भी भक्ति के पक्ष को सफल बनाया। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति सिद्धान्तों का जन भाषा में उत्तरी भारत में सफलता से प्रचार किया। शंकर का ज्ञान तथा योग शैव-धर्म का आश्रय लेकर नाथ सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानों में प्रचारित होता रहा। दक्षिण से उत्तर की ओर आने वाले इस भक्ति आन्दोलन को काफी बाधाओं का सामना करना पड़ा। पहली बाधा तो शैव धर्म के ज्ञान और योग की थी, जो नाथ सम्प्रदाय में घोषित हो रही थी। यह भक्ति की लहर जब दक्षिण से महाराष्ट्र में पहुँची तो उस समय वहाँ नाथ सम्प्रदाय में शैव प्रभाव शेष था।

१२९० ई० में लिखित ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। गीता के आधार पर लिखी हुई उनकी ज्ञानेश्वरी मे नाथ सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव है। ज्ञानेश्वरी के समकालीन नामदेव ने १२७० मे विट्ठल की उपासना की, जिसमे नामस्मरण का अधिक महत्त्व है। विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव और शैव सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है अत इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिव, विष्णु में कोई अन्तर नहीं मानते थे। विट्ठल सर्वव्यापी ब्रह्म रूप में गृहीत होकर समस्त महाराष्ट्र मे पूजे जाने लगे। इस प्रकार महाराष्ट्र मे आकर दक्षिण की भक्ति मे आत्म-चिन्तन के तत्त्व का समावेश हुआ और भक्ति मे रहस्यवाद की अनुभूति उत्पन्न हुई। भक्ति के इस सम्प्रदाय में जाति और वर्ग भेद नहीं था। इसमे नाम-स्मरण पर विशेष बल दिया गया। इसमे कर्मकाण्ड की अपेक्षा हृदय की पवित्रता और शुद्धता पर बल दिया गया तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए भक्ति का मह द्वार मुक्त रखा गया। नामदेव अलाउद्दीन खिलजी तथा उसके सेनापति मलिक काफूर के आतंक को, उनके द्वारा निर्ममतापूर्वक तोडी गई मूर्तियो को देख चुके थे, अत उन्होंने निराकार की उपासना पर अधिक बल दिया। इस प्रकार विट्ठल की भक्ति के तीन उपकरण माने जा सकते हैं—भक्ति का प्रेम-तत्त्व, नाथ सम्प्रदाय का चिन्तन और मुसलमानी प्रभाव से मूर्तिपूजा का वर्जित वातावरण। ये सभी बातें सन्त सम्प्रदाय में देखी जा सकती हैं। उत्तर भारत मे सन्त सम्प्रदाय का जो उत्थान वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ था, उसका पूर्वार्द्ध महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के सन्तो द्वारा प्रस्तुत हो चुका था। हाँ, उत्तर भारत में प्रचारित होने वाले सन्त सम्प्रदाय में दो और तत्त्वों का भी समावेश हुआ—रामानन्द की वैष्णवी भक्ति के नवीन प्रयोग और मुसलमानों की हिंसा एव प्रेममयी दोनों प्रवृत्तियाँ सन्त सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित होने की भूमिकाएँ प्रस्तुत कर रही थी। सन्त सम्प्रदाय मे नाम स्मरण को अत्यन्त महत्ता दी गई है और विशेषत राम नाम पर बल है। विष्णु के अन्य नामों को प्राय इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। यह प्रभाव साक्षात् रूप से रामानन्द का है। सन्त काव्य मे गृहीत राम दार्शनिक न होकर अजन्मा और निर्विकार हैं। सूफी मत अपनी विकासकालीन अवस्था मे वेदान्त का ऋणी है और इस मत के सिद्धान्त प्राय वे ही थे, जो शकर के अद्वैत के। भारतीय दृष्टि से सूफी मत अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का सम्मिश्रण है। सन्त काव्य में जिस खुमार का वर्णन है वह सूफी प्रभाव है, क्योंकि भारतीय साधना-पद्धति में प्रेम की ऐसी उन्मादक दशा का कहीं भी वर्णन नहीं है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में धार्मिक प्रभाव देखे जा सकते हैं—

(क) बौद्ध धर्म की विकसित हुई वैदिक कर्मकांड की प्रवृत्ति तथा वज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की अनुभूति तथा योग परम्परा।

(ख) विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति तथा रहस्यमयता।

(ग) रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति की साधना।

(घ) *सूफी लोगों का प्रेम का खुमार।*

आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके (कबीर) तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे सन्तों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम तत्व की, कहीं पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की, और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी में मिलता है।"

राजनीतिक परिस्थिति—सन्त सम्प्रदाय का आविर्भाव काल विक्रम की १५वीं शताब्दी है जबकि उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अव्यवस्थित था सं० १४५५ में दिल्ली का शासन तैमूर के निर्मम अत्याचार को देख चुका था। पन्द्रहवीं शती में दिल्ली का शासन तुगलक, सैयद और लोदी वंशों ने किया। इस काल में राज्य-विस्तार लिप्सा के कारण निरन्तर युद्ध होते रहे तथा करवाल के बल पर धर्म-प्रचार भी। जनता सामान्यतः राजनीति चक्र के प्रति उदासीन थी और साथ-साथ धर्म पर आघात लगने के कारण मन ही मन में विक्षुब्ध और असन्तुष्ट थी। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही, उसमें कूटनीति, हिंसा और छल को उचित समझा गया। जनता की शासक वर्ग के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। अधिकांश मुसलमान शासकों ने धर्म का प्रचार करते समय *अपार धन के लोभ में तथा अपने आपको गाजी सिद्ध करने के* लिए हिन्दू-धर्म के प्रतीक मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा। हिन्दू जनता में इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। परिणामस्वरूप जनता का ध्यान समाज और धर्म के सगठन की ओर गया। दक्षिण में जो शान्तिमय आन्दोलन चला था, अब उत्तर भारत में उसकी बागडोर जनता के कवियों के हाथ में आई और वे समाज की व्यवस्था के लिए जन-भाषा में जन-जागरण के गीत गाने लगे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भेद की खाई को पाटने के लिए पूर्ण प्रयत्न जुटाये।

कुछ साहित्यकारों का मत है कि इस देश में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो हमारा साहित्य नब्बे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है, क्योंकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ़ थीं कि उन्हीं के *प्रभाव से साहित्य का विकास होता चला गया। इस कथन में सम्पूर्ण सत्य नहीं है।* कबीर के साहित्य में जो स्वर है, उसके लिए पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार हो चुकी थी, हाँ उस स्वर में उग्रता के लिए उस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ अवश्य उत्तरदायी हैं।

सामाजिक परिस्थिति—धर्म और राजनीति का समाज के साथ अटूट सम्बन्ध है। तत्कालीन राजनीतिक और धार्मिक दशाएँ अत्यन्त शोचनीय थीं। शासक वर्ग लूटे हुए अपार धन से ऐश्वर्य और विलास में उन्मत्त था, परिणामतः समाज भी पतनोन्मुख हो गया और उसके आचार तथा व्यवहार में शैथिल्य आ गया। कनक और कामिनी

के विरोध में सन्त कवियो ने अपनी वाणी में जो प्रखरता उत्पन्न की है, भले ही वह साधना-पक्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, साथ-साथ वह तत्कालीन समाज की विलासिता की ओर भी प्रकारान्तर से संकेत करती है। उस समय के समाज में वर्ग भेद भी पर्याप्त था जिसका कि सन्त कवियों ने डटकर प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध विदेशियों के धर्म प्रचार का मुकाबला करने के लिए आवश्यक था। सन्त कवियों ने "हरि को भजे सो हरि का होई" के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर धर्म को सशक्त बनाया। मुसलमान शासक-वर्ग से सम्बद्ध थे, अत वे अपने आपको श्रेष्ठ समझते थे तथा हिन्दुओं को हेय दृष्टि से देखते थे। दूसरी ओर हिन्दू मुसलमानों को विधर्मी तथा अत्याचारी होने के कारण घृणा की दृष्टि से देखते थे। दोनो वर्ग अपने सास्कृतिक दृष्टिकोण मे अलग-अलग थे और दोनो के आचार-विचार भी भिन्न-भिन्न थे। दोनो जातियों मे परस्पर वैमनस्य था। सक्षेप में कहा जा सकता है कि उस समय सामाजिक स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित थी।

साहित्यिक परिस्थिति—जिन धार्मिक सम्प्रदायों ने सन्त काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन सम्प्रदायों की साहित्य प्रवृत्तियो का सन्त काव्य मे स्वत समावेश हो गया। वज्रयानी सिद्धों ने जीवन के प्रति सहजानुभूति को प्रधानता दी। उन्होंने अन्धविश्वासो की परम्परा को जड से उखाड फेंकने की चेष्टा की है। इन्होंने कर्मकाड की भी खूब खिल्ली उडाई। तिल्लोपाद ने लिखा है—"सहज से चित्त विशुद्ध करो। इस जन्म में मोक्ष और सिद्धि प्राप्त करोगे। तीर्थ और तपोवन का सेवन मत करो। देहमात्र पवित्र करने से तू शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।" कबीर का भी यही दृष्टिकोण है—"यदि नग्न फिरने से योग होता तो फिर वन के सब मृगो को मुक्ति मिल जाती। यदि मूँड मुँडाने से मुक्ति मिलती तो सब भेडो को प्राप्त हो गई होती।" इन दोनो स्वरो में अन्तर इतना है कि एक कुछ कोमल है और दूसरा अपेक्षाकृत अधिक प्रखर। कारण, सिद्धों का सघर्ष प्रधान रूप से जैनों से था जो कि सघर्ष करना चाहते ही नही थे तथा कबीर का सघर्ष उन सम्प्रदायों से था जो कि विद्वेषाग्नि-ग्रस्त तथा अहमानी थे। इसलिए कबीर का स्वर अधिक प्रखर एव उत्तेजक था। यो सहज गुरु उपदेश, शून्य, निरजन कबीर ने ज्यों के त्यों सिद्धों की विचारधारा से ग्रहण किये हैं। शैली-दृष्टि से भी सिद्धो की सन्ध्या भाषा में जो कूट और प्रतीक हैं, उनमें कबीर क रूपक और उलटबासियों का निर्माण हुआ। सभव है यह प्रभाव सन्तों में नाथों के माध्यम से आया हो।

नाथ सम्प्रदाय मे योग का विशेष महत्त्व है। शैव प्रभाव के कारण नाथ सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म की मीमांसा आरम्भ हुई और उपासना सदाचार पर बल दिया गया। सन्त सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से है। नाथ सम्प्रदाय की आचार निष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अन्धविश्वासों के प्रति कठोरता, कर्मकाड की निरर्थकता सन्त-सप्रदाय में सीधी चली आई।

दक्षिण में महाराष्ट्र देश में प्रचलित विट्ठल-भक्ति-सम्प्रदाय में मानसिक भक्ति

और नाम-स्मरण को अधिक महत्ता प्रदान की गई। इसमें प्रेमासक्ति और रहस्यमयता की भावनाएँ भी समाविष्ट हुईं। ये समस्त प्रवृत्तियाँ सन्त-साहित्य मे दृष्टिगोचर होती हैं। कहीं-कही पर तो कबीर ने विट्ठल का नाम आराध्य देव के रूप में बड़ी *श्रद्धा में लिया है।*

रामानन्द ने उत्तरी भारत में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का जोरों से प्रचार किया। उन्होंने विष्णु के सगुण और निर्गुण रूपों की उपासना पर बल दिया। उनकी शिष्य परम्परा में सगुणवादी तथा निर्गुणवादी दोनो प्रकार के व्यक्ति थे। कबीर भी रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द की भक्ति पद्धति का सन्त काव्य पर *प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। कबीर निर्गुणवादी तो थे ही किन्तु यह बात बड़े कौतूहल* की है कि उनमे सगुण भावना का भी कहीं-कहीं पर, जहाँ कि उन्होंने ब्रह्म के लिए उन नामों का प्रयोग किया है, जिनका सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूपों या अवतारों से है, समावेश हो गया है, किन्तु उसका अभिप्राय एकमात्र निर्गुण ब्रह्म से है। अस्तु, निर्गुण सम्प्रदाय भक्ति, जिसमें सगुण ब्रह्म के रूप की अपेक्षा होती है तथा प्रेममयी आसक्ति *आवश्यक होती है, की अवहेलना नहीं कर सका।*

सन्त साहित्य पर सूफियो के प्रेम की मादकता का भी निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है। सन्त कवियों ने सूफियों से अनेक प्रतीक लिए। शैली की दृष्टि से भी सन्त काव्य सूफियों से प्रभावित दृष्टिगोचर होता है।

निःसन्देह उपर्युक्त सम्प्रदायों का सन्त काव्य पर प्रभाव पड़ा है, किन्तु वहाँ *अन्धानुकरण नहीं हुआ। उसमे सन्तों की स्वतन्त्र चेतना भी बनी रही है। यह* प्रभाव युगानुकूल सशोधनों के साथ आया। इस साहित्य में परम्परा वहीं तक है, जहाँ तक जीवन में कर्मकाण्ड रहित निर्मल प्रेम से ईश्वर की सहजानुभूति प्राप्त हो सकती है।

निर्गुण भक्ति का स्वरूप—विद्वानों का विचार है कि श्रद्धा और प्रेम का *सयोग भक्ति है अथवा स्नेह पूर्वक ध्यान भक्ति है। इस प्रकार निर्गुण मत के सन्तों* का ज्ञान प्रधान साहित्य भक्ति साहित्य की कोटि में नहीं आ सकता। भारतीय साधना में कर्म काड, ज्ञान काड और भक्ति काड की चर्चा मिलती है। अत स्पष्ट है कि सन्तों के ज्ञान प्रधान साहित्य को भक्ति के अन्तर्गत रखना असमीचीन है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का विषय तो हो सकता है किन्तु भक्ति का नहीं। निर्गुण का आलबन निराकार है, जबकि भक्ति के लिए साकार अवलबन अनिवार्य है। अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि ज्ञानमार्गी निर्गुण सन्तों के साहित्य को भक्ति साहित्य की परिधि में रखा जाये या नहीं ? ज्ञान मार्ग एव भक्ति पद्धति के प्रवर्त्तक व प्रतिष्ठापक आचार्य शकराचार्य का मत इस सदर्भ में उल्लेखनीय है। उनके दो सिद्धान्त सूत्र हैं—"ऋते ज्ञानात् न मुक्ति।" तथा "अनुभव अवसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य" अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती और ज्ञान-ब्रह्म ज्ञान जब तक अनुभव अनुभूति में पर्यवसित नहीं हो जाता, तब तक उसकी सार्थकता नहीं है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के व्यापक आलोक

में ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग परस्पर विरोधी न होकर अभिन्नतः सबद्ध हैं तथा वे साधना के दो पक्ष हैं। ज्ञान की अनुभूति ही भक्ति है। अनुभूति के बिना ज्ञान शब्द ज्ञान मात्र है जिससे कोई भी सिद्धि सभव नहीं है। आलबन की साकारता अथवा निराकारता भक्ति के निर्धारक या नियामक तत्व नहीं है। तुलसी जैसे अनन्य सगुण भक्त को निर्गुण की सत्ता अमान्य नहीं है और कबीर जैसे निर्गुण सन्त व भक्त को सगुण की सत्ता अस्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति एक दूसरी की पूरक हैं। सर्वजन सुलभता व दुर्लभता इन दोनों के उपलक्षक तत्व हैं। इन्हें यदि सापेक्ष सोपान कह दिया जाये तो अनुचित नहीं होगा। "जिस प्रकार भक्ति या राग के मार्ग पर चलने वाले के लिये सत्य ज्ञान का महत्व है, उसी प्रकार ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले को राग या आराध्य से तादात्म्य की अनुभूति महत्वपूर्ण है। दोनों मार्ग परस्पर घनिष्ट रूप से सबद्ध हैं। राग मार्ग में वैराग्य, ज्ञान प्रभृति सपदायें भगवद्विषयक राग से सदैव यथा सभव उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार में राग तथा वैराग्य मार्ग में कोई तात्विक अन्तर नहीं है"। ज्ञान जनित वैराग्य-निवृत्ति तथा भक्ति-राग-प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं है। भले ही सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में आलबनगत भेद है किन्तु इन दोनों में समानतायें भी अत्यधिक हैं। उदाहरणार्थ—गुरु महिमा, सदाचार का महत्व, नाम स्मरण, जप, कीर्तन, प्रेम प्रकर्ष, अनुभूति का उत्कर्ष, सर्वात्मभाव से आत्मार्पण, विह्वल दैन्य एवं भगवत्वत्सलता आदि सगुण व निर्गुण दोनों पद्धतियों में समान रूप से उपलब्ध होती हैं। अतः निर्गुण को आधार मानकर चलने वाले ज्ञान मार्गी सन्तों तथा प्रेम मार्गी सूफियों की अनुभूत्यात्मक ज्ञान तथा प्रेम की साधनायें व पद्धतियां भक्ति की व्यापक परिधि के अन्तर्गत आती हैं।

सन्त काव्य की सामान्य विशेषताएँ

सन्त काव्य में वाटिका का श्रम साध्य अथवा कृत्रिम सौन्दर्य नहीं, उसमें वन-राजि की प्रकृति श्री है। इस काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है, पर वह जन-जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य ने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं बल्कि जन-भाषा में उसका मर्म है। इस काव्य में जन जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार-विहीन सीधी-सादी भाषा में है, जहाँ पग-पग पर स्वाधीन चिन्तन प्रतिध्वनित हुआ है। सन्त साहित्य साधना, लोक-पक्ष तथा काव्य-वैभव, सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। नाथ-सम्प्रदाय की पद्धति शास्त्रीय थी और साधना व्यक्तिगत थी, किन्तु सन्त सम्प्रदाय की पद्धति स्वतन्त्र और साधना सामाजिक थी। सन्त कवियों की विचार-सरणि निजी अनुभूतियों पर आधृत है, अतः उसमें दर्शन की गुत्थता न होकर काव्य की कोमलता है। सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है। निम्नांकित पंक्तियों में सन्त साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जायेगा—

(१) निर्गुण ईश्वर मे विश्वास— सभी सन्त कवि निर्गुण ईश्वर मे विश्वास रखते हैं। वे कवि सूर और तुलसी के समान सगुण और निर्गुण के समन्वयवादी नहीं। इन्होने ईश्वर के सगुण रूप का विरोध किया है। कबीर का कहना है—

राम नाम तिहूँ लोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना।

सभी वर्णों और समूची जातियों के लिए वह निर्गुण एक मात्र ज्ञानगम्य है। वह अविगत है। वेद, पुराण तथा स्मृतियाँ यहाँ तक नही पहुँच सकती—

निर्गुण राम जपहु रे भाई अविगत की गति लखी न जाई।

वह ब्रह्म पुहुप वास से पातरा है, अजन्मा और निर्विकार है। यह सारा ससार उस अक्षय पुरुष रूपी पेड के पत्ते हैं। वह ईश्वर घट घट में विराजमान है। कबीर का कहना है जैसे कस्तूरी मृग की नाभि मे रहती है और वह व्यर्थ ही उसे वन मे ढूँढने लिए भटकता फिरता है, उसी प्रकार राम घट घट व्यापी हैं, उसे बाहर ढूँढने की आवश्यकता नही। प्रियतम इनके दिल में है, अत उसे पतियाँ लिखना व्यर्थ है। प्राय प्रत्येक सन्त ने अपने मत के प्रचारार्थ अपना अपना सम्प्रदाय चलाया।

(२) बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध—सन्त कवियों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद पर अविश्वास प्रकट करते हुए इस भावना का निर्भीकतापूर्वक खडन किया है। कारण, एक तो शकर के अद्वैतवाद का प्रभाव शेष था और दूसरे राजनीतिक आवश्यकता भी थी। शासक वर्ग मुसलमान एकेश्वरवादी था। हिन्दू मुस्लिम दोनो जातियों में विद्वेषाग्नि को शान्त करके उनमे एकता की स्थापना के लिए इन्होने एकेश्वरवाद का सन्देश सुनाया और बहुदेववाद का घोर विरोध किया।

यह सिर नवे न राम कूँ, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट ॥—चरनदास

सन्तों का विश्वास है कि अवतार जन्म मरण के बन्धन में ग्रस्त है। वे भी परम ब्रह्म की भक्ति के बिना मुक्ति प्राप्त नही कर सकते। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की सभी सन्तो ने निन्दा की है और उन्हें मायाग्रस्त कहा है। उनका भी कर्ता निराकार परम ब्रह्म है —

अक्षय पुरुष इक पेड है निरजन वाको डार।
त्रिदेवा शाखा भये पात भया ससार ॥   कबीर।

(३) सद्गुरु का महत्त्व—गुरु को भगवान् से भी अधिक महत्त्व देना सन्त कवियों की एक सर्वमान्य विशेषता है। कबीर के शब्दों में—

गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागूँ पाईं।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताई ॥

इन कवियों का विश्वास है कि राम की कृपा भी तभी होती है, जब गुरु की कृपा होती है। यो तो गुरु की महत्ता सगुण भक्त कवियों मे भी मिलती है, पर अन्तर यह है कि सन्त कवि गुरु को परमेश्वर ही मान लेते हैं। सारांश यह है कि

निर्गुण भक्त कवि सगुण भक्त कवियों की अपेक्षा गुरु को कुछ अधिक महत्त्व देते हैं।

(४) जाति-पाँति के भेद-भाव का विरोध—सभी सन्त कवि जाति-पाँति और वर्ण भेद के प्रबल विरोधी हैं। ये लोग एक सार्वभौम मानव-धर्म के प्रतिष्ठापक थे। इनकी दृष्टि मे भगवद्‌भक्ति में सबको समान अधिकार है—

जाति पाँति पूछे नहिं कोई,
हरि को भजे सो हरि का होई।

इसका विशेष कारण यह है कि एक तो सभी सन्त निम्न जाति से सम्बन्ध रखते थे—कबीर जुलाहे थे, रैदास चमार थे। इसके अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन भी जाति-भेद एवं वर्ण-भेद को तुच्छ ठहरा रहा था। इसके साथ इन सन्तो को हिन्दू मुसलमानों में एकता स्थापित करने के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा भी करनी थी। इस भेद के निवारणार्थ इनके स्वर मे अत्यन्त प्रखरता और कटुता आई।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई— ॥—कबीर
इसी प्रकार है—
तू ब्राह्मण हौं काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गियाना।
तू जो बामन बामनी जाया और राह ह्वै क्यों नहीं आया॥

(५) रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध—प्राय सभी सन्त कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है, इसका कारण इन लोगो का सिद्धों और नाथ पन्थियो से प्रभावित होना है। ये लोग तत्कालीन समाज में पाई जाने वाली इन कुप्रवृत्तियों का कड़ा विरोध कर चुके थे। इन्होंने मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज आदि विधि-विधानों, बाह्य आडम्बरो, जाति-पाँति भेद आदि का डटकर विरोध किया है। प्रायः इन्होंने अपने युग के वैष्णव सम्प्रदाय जैसे कुछ सम्प्रदायों को छोडकर शेष सभी धर्म-सम्प्रदायो की कटु आलोचना की है, जैसे—

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे जन बकरी खात है, तिन को कौन हवाल॥
काँकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लई बनाय॥
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥
पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चक्की भली पीस खाय संसार॥

कदाचित् इस भर्त्सनामय खण्डनात्मकता के कारण कबीर को सिकन्दर लोधी द्वारा दी गई यन्त्रणाओं को भी सहना पड़ा था और इसी कारण उनसे हिंदू और मुसलमान दोनों चिढ़ गये थे।

(६) रहस्यवाद—सन्त सम्प्रदाय में प्रेमासक्ति और रहस्यमयता की प्रवृत्तियाँ

विट्ठल सम्प्रदाय से आई। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में पहुँचकर ये खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं और इनका मृदुल एवं पेशल हृदय तरल हो जाता है। विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति मे इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। सन्त काव्य में मुख्यतः अलौकिक प्रेम की अभिव्यजना हुई, जिसे रहस्यवाद की भी संज्ञा दी गई है। साधना के क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य के क्षेत्र मे वही रहस्यवाद है। सन्तों का रहस्यवाद एक ओर तो शकर के अद्वैतवाद से प्रभावित है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कहो गयानी ॥

कही पर इनके रहस्यवाद पर योग का भी स्पष्ट प्रभाव है जहाँ कि इंगला, पिंगला और सहसदल कमल आदि प्रतीको का प्रयोग है। उपर्युक्त दोनो प्रकार की ब्रह्मानुभूति योगात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आएगी। इनमे विशुद्ध भावात्मक रहस्यवाद भी मिलता है, जहाँ प्रणयानुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है—

आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूँ न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुए, विरह तपाइ तपाइ ॥

कुछ विद्वानो ने इनके रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित माना है किन्तु हमारे विचारानुसार इस दिशा मे सूफियों का कोई प्रभाव नहीं है। इन दोनों की प्रणय-भावना मे मौलिक अन्तर है, जिसमे साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। सन्तो का रहस्यवाद बिल्कुल भारतीय परम्परा के अनुकूल है।

(७) भजन तथा नाम—स्मरण के विषय मे सभी सन्त कहते हैं कि वह मन ही मन मे होना चाहिए प्रकट न हो—

सहजो सुमरिन कीजियै हिरदै माहिं छिपाई।
होठ होठ सूँ ना हिलैं सकै नहीं कोई पाई ॥

इन लोगो ने ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रेम और नाम-स्मरण को परमावश्यक माना है। वेद-शास्त्र इस सम्बन्ध में निरर्थक हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम के, पढ़ै सो पण्डित होइ ॥

(८) शृगार वर्णन एवं विरह की मार्मिक उक्तियाँ—सन्त काव्य मे शृंगार तथा शान्त रस का अधिक चित्रण हुआ है। प्रणय की दोनो अवस्थाओ संयोग और वियोग का अत्यन्त कलात्मक वर्णन हुआ है। उपदेशपरक सूक्तियो मे शान्त रस की व्यंजना हुई है। उपदेशो में कहीं-कहीं इनका स्वर बहुत ही कर्कश हो गया है किन्तु वहाँ भी लोक-संग्रह की भावना निहित है। सन्त वाणियो का काव्य-पक्ष उनकी प्रणयोक्तियो मे ही यथार्थ रूप से निखर पाया है। इस प्रसंग मे इनके व्यक्तित्व की सारी अक्खड़ता और रूक्षता घुल जाती है। नीचे की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। इनमे सूर जैसा रस तथा मीरा जैसी विरह तीव्रता है—

विरहिन ऊभी पथ सिर पंथी बूझै धाइ।
एक शब्द कहि पीव का कबरे मिलेंगे आइ ॥

आई न सकौं तुज्झ पैं, सकूँ न तुज्झ बुलाइ ॥
जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ ॥

सन्त साहित्य मे सयोग पक्ष के अन्तर्गत रूपाकर्षण-जन्मानुराग, प्रिय मिलनातुरता, आगतपतिका का हर्षोल्लास, प्रथम समागम भीता नवोढा की लज्जा, रस-रग में एकात्मकता, स्वाधीनपतिका का सहज दर्प, अभिसारिका की मिलनोत्कठा, वासकसज्जा की प्रिय प्रतीक्षा, झूला झूलना तथा इसी सम्प्रेषण आदि का हृदय-वर्जक वर्णन मिलता है। इस काव्य के वियोग पक्ष मे प्रवत्स्यत् पतिका का प्रिय को विदेश गमन से रोकना, विरह-जनित काम-दशाओं का वर्णन, काग आदि के द्वारा प्रियतम तक सदेश प्रेषण आदि उल्लिखित है। अस्तु ! कबीर आदि सन्तो का शृगार रस चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक, उसमे एक अनुपम रस है। वह अपने लौकिक रूप में धर-गृहस्थियो के लिए जितना आह्लादक है, अपने अलौकिक रूप में वह उतना ही मुमुक्षजनो के लिए आनन्ददायक है। इनका शृगार उनके (सन्तों) व्यक्तित्व, धर्म और दर्शन के समान कुछ विलक्षण तथा निराला है। एक ओर जहाँ वह अपने परिष्कृत रूप मे लोक-सीमाओं को छूता तो दूसरी ओर वह ऊर्ध्वप्रयाण की बलवती प्रेरणा भी देता है। उसमें दिव्य-रस की आर्द्रता है, वासना की आविलता नहीं।

(९) लोक-सग्रह की भावना—इस वर्ग के सभी कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले थे, नाथ पथियो की भाँति योगी नहीं थे। यही कारण है कि इनकी वाणी मे जीवनगत अनुभव की सर्वागीणता है, सन्तो की साधना मे वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। सन्तो ने आत्म-शुद्धि पर बहुत बल दिया है, किन्तु वह भी समाज को दृष्टि में रखकर चली है। नाथ सम्प्रदाय की साधना व्यक्तिगत और पद्धति शास्त्रीय थी, जबकि सन्तो की साधना सामाजिक और पद्धति स्वतन्त्र है। जहाँ एक ओर ये लोग सन्त, कवि और भक्ति आन्दोलन के उन्नायक हैं, वहाँ समाज-सुधारक भी। आलोचको के कबीर को अपने युग का गाँधी कहना सर्वथा उपयुक्त है। सन्तो ने कृष्ण भक्त कवियो के समान समाज और राजनीति के प्रति आँखें नहीं मूँद रखी थीं। सन्त काव्य में उस समय का समाज प्रतिबिंबित है। कर्मण्यता इनकी वाणी का सार है।

(१०) नारी के प्रति दृष्टिकोण—सन्त कवियो ने नारी को माया का प्रतीक माना है। उनके विश्वासानुसार कनक और कामिनी ये दोनो दुर्गम घाटियाँ हैं। कबीर का कहना है कि—

नारी की झाँई परत अन्धा होत भुजग।
कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी के सग॥

आश्चर्य का विषय है कि जहाँ एक ओर इन्होंने नारी की इतनी निन्दा की है, वहाँ दूसरी ओर सती और पतिव्रता के आदर्श की मुक्त कण्ठ से प्रशसा भी की है। कबीर का कहना है—

पतिव्रता मैली भली, कालो कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर वारों कोटि सरूप॥

लगता है पतिव्रता का आदर्श उनकी साधना के निकट पडता था। सती में एक के प्रति आसक्ति और शेष के प्रति विरक्ति, असीम प्रेम, साहस और त्याग आदि की जो भावनाएँ हैं, उनसे वे प्रभावित थे। उन्होंने नारी के कामिनी रूप को माया माना है और इसे निन्दनीय कहा है। सभी सन्त जीवन मे सत् पक्ष के ग्रहण के पक्षपाती थे और असत् से उन्हें उत्कट घृणा थी। यही कारण है कि वे दुर्जन, खर और शाक्तो की भरसक निन्दा करते हैं।

११ माया से सावधानता—माया से सावधान रहने का उपदेश सभी कवियो ने दिया है क्योकि *रमैया की दुल्हन ने सब बाजार को लूट लिया है* और *ब्रह्मा, विष्णु*, महेश भी उसी के वशीभूत हैं। यह भगवान से मिलने के मार्ग मे सबसे बडी बाधा है। यह माया महाठगिनी है। इसने मधुर वाणी बोलकर अपनी तिरगुन फाँस मे *सबको फँसा लिया है।*

१२ भाषा एव शैली—इनके काव्य मे मुख्यत गेय मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। गीति-काव्य के सभी तत्व भावात्मकता, सगीतात्मकता, सूक्ष्मता, वैयक्तिकता और भाषा की कोमलता इनकी वाणी मे मिलते हैं। हाँ, उपदेशात्मक पदो मे गीति-माधुर्य के स्थान पर बौद्धिकता आ गई है। इनके अतिरिक्त इन्होने साखी, दोहा, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है।

"कागद मसी छुवो नहिं कलम गही न हाथ" वाली उक्ति प्राय सभी सन्त कवियो पर चरितार्थ होती है। ये लोग अशिक्षित थे, अत बोल-चाल की भाषा को ही इन्होने अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। साहित्यिक भाषा के प्रयोग मे ये अक्षम थे। सन्त लोग अपने मत का प्रचार करने के लिए इधर-उधर भ्रमण करते रहते थे, अत इनकी भाषा खिचडी या सधुक्कडी हो गई। इसमें अवधी, *ब्रज भाषा, खडी बोली*, पूर्वी हिन्दी, फारसी, अरबी, राजस्थानी, पजाबी भाषाओ के शब्दो का सम्मिश्रण हो गया है।

इनकी भाषा मे बहुत से पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भी मिलता है जो कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायो से लिए। उदाहरणार्थ—शून्य, अनहद, निर्गुण सगुण और अवधूत आदि। नाथ पथियो द्वारा प्रयुक्त इगला, पिंगला आदि शब्दो का भी इन्होंने यथावत् प्रयोग किया है।

इनकी भाषा आडम्बरविहीन सरल है। इन्होंने उसे कहीं भी आलकारिकता से लादने का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण उसमे काव्योचित सभी गुण आ गये हैं। अभीष्ट भावो की अभिव्यक्ति बहुत ही कलात्मक बन पडी है। अक्खड साधुओ के किसी भी विचार को अभिव्यक्त करने मे भाषा ने इन्कार नही किया।

सन्त काव्य सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक [illegible] ष्ट से अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। जिस युग मे इस काव्य की सृष्टि हुई वह प्रज्ञान, प्रशिक्षा और अनैतिकता का युग था। सन्तो की पीयूषवर्षिणी उपदेशमयी वाणी ने उसमें एक दृढ़ नैतिकता की प्रतिष्ठा की। सन्त सम्प्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, निश्छल, व्यावहारिक तथा विश्वासमय रूप जन-भाषा मे उपस्थित किया जो कि विश्व धर्म बन गया और वह अब भी जन-जीवन मे पुन जागरण का पावन सन्देश दे रहा है। सन्त साहित्य ने जन-जीवन को धर्म-प्रवण एव आशामय बनाया। इस दृष्टि से सन्त साहित्य का सास्कृतिक मूल्य भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

काव्य की दृष्टि से भी सत साहित्य का अपना अलग महत्त्व है। अपनी अनुभूतियो को सहज स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। यदि सत्य की अभिव्यक्ति उत्तम कला का मापदण्ड हो तो सत काव्य अपनी कतिपय न्यूनताओ के रहते हुए भी काव्य कला की कसौटी पर पूरा उतरता है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दो मे "सच्चे कवि की वाणी मे अभिव्यक्ति के साधन स्वत प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन कवियों का साहित्य है। 'भाषा कैसी ही हो भाव चाहिए मित्त' की उक्ति सन्त काव्य पर पूर्णत चरितार्थ होती है।" सन्तो की वाणी मे जो उपदेश है वे केवल दर्शन का विषय न होकर जीवन रस से ओत-प्रोत है। उनमें अनुभूति सौष्ठव और जीवन का अमर सदेश है। आत्मिक रस आशावाद और आत्माभिव्यक्ति की जीवन्त शक्तियाँ सन्त वाणी मे निहित हैं। सन्त कवियो ने साहित्य को सत्य, सौन्दर्य और शिव से सम्पन्न किया है।

सन्त मत के धार्मिक तथा दार्शनिक आदि पक्ष

धार्मिक—सन्त मत ने विविध धर्म-सम्प्रदायो के प्रभाव को आत्मसात् किया किन्तु फिर भी उसका अपना स्वतन्त्र रूप है। यह एक विश्व धर्म है। इसमे न तो कर्म-काड का बन्धन है और न ही वर्ण तथा जाति भेद। इसके निर्माणकारी तत्व हैं—जीवन-पवित्रता तथा आचरण की शुद्धता। वासना मुक्ति ही ईश्वर मिलन तथा मुक्ति का प्रथम सोपान है। मन रूपी चुनरी की मलिनता सद्गुरु रूपी रगरेज के बिना दूर नहीं हो सकती।

(क) विधि निषेध—जगत् मे जो वस्तु ग्राह्य है, वह विधि है और जो वर्ज्य है वह निषेध। आचरण की पवित्रता के लिए विधि और निषेध आवश्यक है। उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, विनम्रता और विवेकादि गुण जीवन की पवित्रता के लिए ग्राह्य हैं तथा काम, क्रोध, लोभादि दोष वर्ज्य हैं। सन्त काव्य में उपदेशो द्वारा गुण-ग्रहण तथा दोष-परिहार पर बल दिया गया है।

(ख) गुरु—सत सम्प्रदाय मे गुरु की सत्ता सर्वोपरि है, यहाँ तक कि ईश्वर से भी ऊपर। विधि-निषेध का सम्यक् ज्ञान गुरु से ही सम्भव है। सन्त-साधना मे गुरु का स्थान अद्वितीय है।

(ग) नाम-स्मरण—सत मत ने भक्ति के मानसिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है। इस प्रकार की भक्ति में कर्म-काण्ड तथा बाह्य विधि विधान अनावश्यक होते हैं। इस आतरिक भक्ति में सत्सग का विशेष स्थान है क्योकि इससे मन मे पवित्रता आती है और नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन की ओर मन आकृष्ट होता है। इस प्रकार हम सत मत के धर्म पक्ष मे विधि निषेध, गुरु, नाम स्मरण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप मे देखते हैं।

दार्शनिक—सत कवि बहुश्रुत थे। इन्होंने वेद, शास्त्र, पुराण और उपनिषद ग्रन्थों से वचनों को आप्त वाक्यों के रूप मे कदापि ग्रहण नही किया। इनका विश्वास कागद लेखी पर नहीं था प्रत्युत आखिन देखी पर था। निजी अनुभूतियो के बल पर जो कुछ उन्हें विश्वसनीय प्रतीत हुआ, वह इनका दर्शन बन गया। अत सत-सम्प्रदाय का दर्शन उपनिषद्, भारतीय षड्दर्शन, बौद्ध धर्म, सूफी सम्प्रदाय तथा नाथ सम्प्रदाय की विश्वजनीन अनुभूतियो को मिलाकर सुसगठित हुआ। इस प्रकार सन्त सम्प्रदाय का दर्शन शताब्दियों से चली आती हुई साधना के सुन्दर सारो का एक समुच्चय है। सत दर्शन मे चार तत्त्वो की प्रधानता है—ब्रह्म, जीव, माया और जगत।

(क) ब्रह्म—सत सम्प्रदाय का ब्रह्म निराकार और निर्विकार है। वह समस्त विश्व में व्याप्त है, उसे बाहर कहीं भी खोजने की आवश्यकता नही, वह घट-घट मे विद्यमान है। वह शून्य और निरजन है। वह वर्णनातीत, अगम्य एव अकल्पनीय है, वह तो गूँगे का गुड है। वह एक है और हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण तथा शूद्र सबके लिए एक-सा है। उसकी प्राप्ति प्रेमानुभूति तथा सहज-समाधि से सम्भव है। ब्रह्म की प्राप्ति गुरु के बिना असम्भव है।

(ख) जीव—ब्रह्म और जीव जल और लहर के समान कहने को तो अलग हैं, किन्तु हैं एक ही। दोनों में कोई अन्तर नही। माया के द्वारा दोनो मे अन्तर भासित होता है किन्तु माया के आवरण के हट जाने पर जीव और ब्रह्म पुन एक हो जाते हैं। जीव माया-ग्रस्त होकर अविद्या-अज्ञान के वशीभूत हो जाता है। इस अज्ञान का निवारण सद्गुरु से ही सम्भव है। जीव के लिए आत्मबोध कठिन होता है। इस कठिनाई को पार करने के लिए जीव-ब्रह्म के नाना प्रतीको और उसके साथ बहुविध सम्बन्धो की कल्पना करता है। ये प्रतीक माता पिता, स्वामी मित्र अथवा पति का सम्बन्ध निरूपित करते हैं। इन सम्बन्धो मे पति-पत्नी का सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि दाम्पत्य भाव मे प्रेम की पूर्णता है और यही से ही विशुद्ध भावात्मक रहस्यवाद की सृष्टि होती है।

(ग) माया—यह सत्य के विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है। यह निर्गुणात्मक है और कचन तथा कामिनी के रूप मे जीव को सत्पथ से हटाती है। यह खाड के समान मीठी किन्तु उसका प्रभाव विष के समान है। जगत् की सभी मोह एव आकर्षणमयी वस्तुएँ माया का प्रतीक हैं। इसने सारे ससार को ग्रस रखा

है। सन्त सम्प्रदाय मे नारी के रूप में इसका मानवीकरण किया गया है, जो ठगिनी है, डाकिनी है और सबको खाने वाली है। सम्भवत: यह सूफी मत के शैतान का प्रतिरूप है। इसके निवारण के साधन हैं—सत्संग, भक्ति और ब्रह्म मिलनेच्छा।

(घ) जगत् - सन्त मतानुसार जो कुछ दृश्यमान है वह जगत् है। वह भ्रममय, चंचल और नश्वर है। जगत् चार दिन की चांदनी है। इस पर विश्वास करना अपने आपको छलना है। धन, वैभव, आडम्बर, विलास सुख और दु:ख ये सब जगत् के रूप हैं।

साधना-पक्ष—सन्त सम्प्रदाय की साधना के अन्तर्गत दो वस्तुएँ हैं—भक्ति और योग। भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद है और योग के अन्तर्गत एक ओर तो नाडी-साधन और षट्चक्र है दूसरी ओर वह सहज समाधि है, जो अन्तत. रहस्यवाद के समीप पहुँच जाती है।

(क) भक्ति—भक्ति निष्काम और निश्चल होनी चाहिए। विधि निषेध के द्वारा मन के शुद्ध हो जाने पर उसमे नाम-स्मरण की भावना आती है। नाम-स्मरण श्रवण तथा कीर्तन से मन सतुष्ट होता है। कीर्तन से विमल प्रेम उपजता है और उसमें फिर मादकता आती है। दाम्पत्य प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना का उदय होता है। आत्म-समर्पण मे होने वाली ब्रह्मानुभूति रहस्यवाद है। इस प्रकार सन्तों के रहस्यवाद मे जहाँ एक ओर वैष्णवों के प्रेम का उत्कर्ष है वहाँ दूसरी ओर सूफियों के इश्क की मादकता है।

(ख) योग—सत सम्प्रदाय का नाथ सप्रदाय परम्परा से सीधा सम्बन्ध है। अत इन सन्त कवियों पर योग का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। किन्तु सन्तों ने अक्षरश: योग के सिद्धान्तो को अपनाया हो, ऐसी बात नहीं है। कारण, योग की क्रियाएँ सहज साध्य नही थी, दूसरे सन्त सम्प्रदाय के व्यक्ति निम्न जाति के थे जिनके पास कोई शास्त्र परम्परा नहीं थी और इसके साथ-साथ भक्ति आन्दोलन के प्रभाव के फलस्वरूप योग की प्रक्रियाओ की नि:सारता सिद्ध हो चुकी थी। सन्त सम्प्रदाय मे योग के परम्परागत रूप—इगला, पिंगला, षट्चक्र, सहस्रदल कमल, कुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध्र आदि का उल्लेख मिलता है किन्तु इन्होंने अजपा जाप—सहज समाधि को अधिक प्रश्रय दिया है। सहज समाधि एक जागृत समाधि है। इससे इन्द्रियो की विषय वासनादि से सहज में मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार सन्त सम्प्रदाय की साधना के दो पक्ष हैं—भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद और योग के अन्तर्गत सहज समाधि।

सामाजिक पक्ष—सन्त साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता कण-कण में विद्यमान है। समस्त सृष्टि ब्रह्ममय है, तब वस्तु, व्यक्ति और समष्टि में भेद ही नहीं। व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की सप्राणता और सुगठितता व्यक्ति के गुणों और आचरण पर निर्भर करती है। सन्त सम्प्रदाय के विधि और निषेध ने वैयक्तिक

जीवन मे गुणो और सात्विकता के ग्रहण पर अत्यधिक बल दिया है। जीवन में सात्विकता धर्म, सामाजिक चरित्र और नैतिकता के लिए दृढ़ आधार है। सन्त सम्प्रदाय ने समाज की व्यवस्था के लिए व्यक्ति के पवित्र जीवन को अधिक महत्व दिया है।

समाज की एकरूपता तभी निश्चित है जबकि जाति, वर्ण और वर्ग भेद न्यून से न्यून हो। सन्त सम्प्रदाय ने वर्ग और जाति-भेद मे अपना विश्वास नही रखा। सदाचरण ही इनके लिए महत्त्वपूर्ण है। इन्होने निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक दोनो प्रकार के आचरण पर विचार प्रकट किये हैं। धर्म के मतभेद और बाह्य-आडम्बर—तीर्थ स्थान, वेद-पाठ, छुआछूत, रोजा-नमाज, हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर मस्जिद, ब्राह्मण शूद्र शिया और सुन्नी आदि का भेद मान्य नही है, बल्कि इन्होने इन सबका कठोर विरोध किया है। इन्होने समाज-व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़िया, पाखण्ड, रीति रिवाज और मिथ्या आडम्बर आदि के विरुद्ध जनता मे विद्रोह की भावना उत्पन्न की।

उस समय व्यवसाय की श्रेष्ठता और निम्नता के आधार पर किसी व्यक्ति की उच्चता और नीचता आँकी जाती थी। सन्तो ने इसका डटकर विरोध किया। कबीर जी कहते हैं—'तू बामन काशी का जुलाहा बूझौं मोर ग्याना" और इस प्रकार "जाति-पाँति पूछै न कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" सन्तो द्वारा प्रचारित धर्म मानव-धर्म या विश्व धर्म है। आज के वर्ग-विद्वेष विष से ग्रस्त तथा युद्ध की विभीषिकाओ से त्रस्त विश्व को कबीर की घोषणा 'साई के सब जीव हैं।" विश्वास-मय तथा प्रेम और शातिपूर्ण जीवन-यापन का आशामय सकेत दे रही है।

सन्त काव्य पर विविध सम्प्रदायो का प्रभाव

सन्त सम्प्रदाय की विकास परम्परा मे निम्नाकित सम्प्रदायो ने योगदान दिया—

(क) सिद्ध और जैन मुनि (ख) नाथ सम्प्रदाय (ग) वैष्णव भक्ति आन्दोलन (घ) महाराष्ट्रीय सन्त सम्प्रदाय (ङ) इस्लाम का प्रभाव।

(क) सिद्ध और जैनों का साहित्य—सिद्ध साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ सन्त साहित्य मे विकसित हुई, जैसे जाति भेद, रूढ़ियो, अन्ध-विश्वासो तथा बाह्य आडम्बरो का खडन, निजी अनुभूतियो की अभिव्यजना, मुक्तक पद-शैली, रूपक, उलटबाँसियो एव प्रतीको का प्रयोग। सिद्धो के समान सन्तो ने भी लोक-भाषा को अपनाया। सिद्धो के साहित्य मे जो स्थूल शृगारिकता है, वह सन्त साहित्य मे नही है। कारण सन्त साहित्य मे नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया है, दूसरा सन्तो की साधना पद्धति व्यक्ति-परक होते हुए भी समाज की उपेक्षा करके नही चली। सन्त काव्य पर जैन मुक्तक काव्य का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

(ख) नाथ पंथ का प्रभाव—नाथ सम्प्रदाय का सन्त काव्य पर स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ा। सन्त मत का सीधा विकास नाथ सम्प्रदाय से हुआ। नाथ पन्थ के

अनुयायी शिव की उपासना करते थे। इनके यहाँ जन्त्र-मन्त्र और योग की क्रियाओं का अधिक महत्त्व है। तत्कालीन समाज पर इनकी चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का खूब प्रभाव पडा। सूफियो के प्रेमाख्यानक काव्यो पर इन योगियो का प्रभाव स्पष्ट है। इनके देशव्यापी प्रभाव को लक्ष्य मानकर कदाचित् महाकवि तुलसी को कहना पडा था 'गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो भोग।' अस्तु ! इन योगियो का प्रभाव सन्त काव्य पर पडा है। कबीर आदि सन्त कवियों ने इगला, पिंगला, षट्चक्र, सहस्रदल कमल आदि योग के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है, किन्तु हमारा अनुमान है कि सन्तो को योग की श्रमसाध्य क्रियाओ पर कोई आस्था नही है, क्योंकि उन्हें जन-सामान्य के लिए भक्ति का एक सरल मार्ग प्रस्तुत करना था जिसमे योग की प्रक्रियाओ की जटिलता अवाछनीय थी सन्तो को अजपा जाप या सहज समाधि पर अगाध विश्वास है और वे इसका पुन:-पुन: उल्लेख करते हैं। कही-कही पर तो योग की जटिल प्रक्रियाओ पर इन सन्तो ने मीठे-तीखे व्यग्य भी कसे है। सन्त साधना पद्धति के दो पक्ष हैं—भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद तथा योग के अन्तर्गत सहज समाधि।

(ग) **वैष्णव भक्ति आन्दोलन**—रामानुज तथा मध्वाचार्य भक्ति का सैद्धांतिक प्रतिपादन कर चुके थे। रामानन्द उसका उत्तरी भारत मे खूब प्रचार कर रहे थे। कबीर रामानन्द की शिष्य परम्परा मे थे। अत: सन्त काव्य पर वैष्णव भक्ति का पर्याप्त प्रभाव पडा। हालाकि दोनो मे पर्याप्त तात्त्विक भेद है। सन्तो ने वैष्णवी भक्ति के प्रपत्तिवाद को पूर्ण रूप से अपनाया है। सगुण भक्ति द्वारा गृहीत ईश्वर के नामो को —राम, गोविन्द, हरि आदि को—इन सन्तो ने बडी श्रद्धा से लिया है। ध्यान रहे अल्ला-खुदा आदि शब्दो का ग्रहण वे हिन्दू-मुसलमान एकता प्रतिपादन के समय ही करते हैं। सन्त काव्य मे वर्णित प्रेम बहुत-कुछ वैष्णवो के प्रेम से साम्य रखता है। कुछ विद्वानो ने इसे सूफी प्रभाव माना है, जो कि उपयुक्त नही है। इस दिशा मे यदि कही सूफियो का प्रभाव पडा है तो वह प्रेम की मादकता मे ही। सूफियो का तत्त्व समानता पर आधारित है जबकि सन्त कवि परमात्मा को अपेक्षा अपने आप को हीन समझता है। सूफियो ने परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप मे की है जब कि सन्तो ने परमात्मा की कल्पना पति रूप मे की है। सन्तो की यह भावना भारतीय परम्परा के अत्यन्त अनुकूल है। अहिंसा आदि की प्रवृत्तियाँ भी सन्त काव्य मे वैष्णवी भक्ति से आई हैं। सन्तो ने अन्य धर्म-सम्प्रदायों की आलोचना की है, किन्तु वैष्णवो के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन किया है।

(घ) *महाराष्ट्रीय सन्त सम्प्रदाय—सन्त सम्प्रदाय का बहुत कुछ रूप उत्तरी* भारत मे उसके प्रचार से पूर्व महाराष्ट्र मे तैयार हो चुका था। महाराष्ट्र मे बारहवी तेरहवीं शताब्दी मे महानुभाव सम्प्रदाय तथा वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी, जिनकी विचारधारा, साधना पद्धति और अभिव्यजना शैली मे सन्त काव्य से गहरा साम्य है। महानुभाव सम्प्रदाय की स्थापना श्रीचक्रधर स्वामी ने (११९४—

१२७४ ई०) में की थी। उन्होंने एक ओर तो कृष्ण-भक्ति का उपदेश देते हुए जीव, देवता और परमेश्वर आदि को अनादि बताया, दूसरी ओर अद्वैतवाद के सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया। उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्त्व दिया। इसी सम्प्रदाय के साथ ज्ञानेश्वर ने वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना की। ज्ञानेश्वर ने अद्वैतमत, सगुणमत और भक्ति-भावना का समन्वय किया। इसी परम्परा में नामदेव हुए, नामदेव का बाद में सगुणवाद से विश्वास उठ गया, जब उन्होंने दक्षिण देश में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा मूर्तियों को भग्न होते हुए देखा। इन महाराष्ट्रीय सन्तों में से कइयों ने हिन्दी-भाषा में भी काव्य-रचना की। भगवान् के प्रति दृढ़ानुराग, मिलनाकांक्षा, प्रणय निवेदन, अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन आदि बातें महाराष्ट्रीय और हिन्दी सन्त कवियों में समान रूप से मिलती हैं। इन महाराष्ट्रीय सन्त में नामदेव का नाम कबीर तथा रैदास आदि ने बड़े आदर से लिया है। हमारे विचारानुसार हिन्दी साहित्य में इस परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय नामदेव को ही है। यह दूसरी बात है नामदेव की वाणी में मृदुता रही है और कबीर में परिस्थिति जन्य अधिक कर्कशता।

(ङ) इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वानों ने सन्त काव्य की अनेक प्रवृत्तियों—निर्गुणोपासना, वर्णव्यवस्था और मूर्ति-पूजा विरोध आदि को मुस्लिम प्रभाव से बताया है। किन्तु इन सब बातों का विकास भारतीय धर्म-साधना में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था, जिनका विवेचन हम अनेक सम्प्रदायों के प्रभाव के अन्तर्गत कर चुके हैं। हाँ, सन्त कवियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन अवश्य तात्कालीन परिस्थितिजन्य है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "सन्त मत के खडनात्मक पक्ष में इस्लाम का अस्तित्व है, उसका मण्डनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्वों से परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान करते समय वे राम-गोविन्द-हरि का नाम लेते हैं, अल्ला या खुदा का नहीं। ससार की असारता घोषित करते हुए वे अद्वैतवाद और माया की बातें करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलने वाली बहिश्त और आखिरी क्लाम की नहीं, विधि निषेधों की चर्चा करते हुए वे हिन्दू शास्त्र का आधार ग्रहण करते हैं, कुरान का नहीं।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त काव्य किसी विदेशी साहित्य या अभारतीय धर्म साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है, अपितु वह तत्कालीन भक्ति आन्दोलन से प्रभावित है तथा अपभ्रंश साहित्य की विशेष काव्य-धारा का विकसित रूप है। सन्त मत वस्तुत-भक्ति आन्दोलन की एक विशेष शाखा है, जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों के द्वारा न होकर निम्न वर्ग के अशिक्षित वर्ग के द्वारा हुआ।

इन प्रभावों के होते हुए भी सन्त कवियों की विचार-दृढ़ता और मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आया। इन्होंने "सार सार को गहि रहा थोथा दिया उड़ाय" की प्रवृत्ति का सर्वत्र निदर्शन प्रस्तुत किया है। बहुश्रुत होने के कारण साधु-सगति में

बैठकर अपने सामान्य भक्ति-मार्ग के लिए जिस तत्व को व्यावहारिक और ग्राह्य समझा, उसका समावेश अपने मत मे कर लिया। सन्त मत किसी धर्म विशेष की शास्त्रीय व्याख्या नहीं, बल्कि उनकी सहज अनुभूतियों का सुन्दर समुच्चय है।

सन्त काव्य की परम्परा और विकास

यह हम पहले कह चुके हैं कि सन्त काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म से महायान तथा हीनयान सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ, महायान से मन्त्रयान और मन्त्रयान से वज्रयान और इसी वज्रयान की घोर तान्त्रिक प्रक्रिया मे नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को लेकर सन्त मत अवतरित हुआ। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया मे जो जीवन तत्त्व उभरे, उन सबका समावेश सन्त मत में हुआ। जब सन्त मत का उदय उत्तरी भारत में हो रहा था, उस समय नाथ पंथ अपनी अव्यावहारिकता के कारण ह्रासोन्मुख था। उत्तरी भारत में उस समय दक्षिण के भक्ति आन्दोलन का स्वामी रामानन्द उन्नयन कर रहे थे। उनकी शिष्य परम्परा में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त थे। स्वामी रामानन्द की भक्ति मे ऊँच-नीच, जाति-पाँति एवं छुआछूत की भावनाएँ नही थी। महात्मा कबीर स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे।

बहुत से विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में संत मत का प्रवर्त्तक कबीर को माना है किन्तु यह सर्वथा निर्भ्रान्ति नहीं है। हम पहले लिख चुके हैं कि महाराष्ट्र के विट्ठल सम्प्रदाय में, जो कि काल क्रम से कबीर से पहले ठहरता है, सन्त सम्प्रदाय के प्रायः सभी बीजों का वपन हो चुका था, जो कि बाद मे सन्त काव्य मे पल्लवित और पुष्पित हुए। कबीर को सन्त सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक सिद्ध करने वालों का यह कहना है कि कबीर से पहले अनेक निर्गुण भाव के साधक हुए किंतु संत मत की जो सहज धारा हिन्दी साहित्य की कविता में प्रवाहित हुई, उसका आरम्भ कबीर से हुआ। कबीर से पूर्व महाराष्ट्र के कुछ निर्गुण भाव के साधकों की कविताएँ मिलती हैं। इनमे मुख्य हैं—महाराज सोमेश्वर (११२७ ई०), चक्रधर महाराज (शाके ११९४), नामदेव (१२६७ ई०), ज्ञानेश्वर मुक्ताबाई आदि। नामदेव की भाँति एक पुराने भक्त कवि जयदेव के, जो कि गीत गोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं, कुछ निर्गुण भाव के पद मिलते हैं। नामदेव ने हिन्दी भाषा में भी काफी लिखा। उन्होंने प्रायः उत्तरी भारत का भ्रमण भी किया था। नामदेव की कुछ कविताएँ गुरु ग्रंथ साहिब में भी संगृहीत हैं। हमारे विचार में सन्त काव्य का प्रवर्त्तक कबीर की अपेक्षा नामदेव को मानना अधिक उपयुक्त है। यह दूसरी बात है कि नामदेव के व्यक्तित्व म मृदुता है और कबीर मे प्रखरता है, जिसके कारण वे प्रकाश में आ सके। मे सन्देह सम्राट् अकबर ने मुगल साम्राज्य की नींव को दृढ़ आधार प्रदान किया, इतने । बाबर का मुगल साम्राज्य के संस्थापक पद से तो वंचित नहीं किया जा सकता।

से पद हिन्दी में भी हैं जिनका संकलन आदि ग्रन्थ में है। नामदेव प्रथम सगुणोपासक थे, इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है—

धनि धनि मेवा रोमावली धनि धनि कृष्ण ओढ़े काँवली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह घर रमैया कवला पति।

नाथपंथी वारकरी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरांत वे हिन्दू-मुसलमानों की मिथ्या रूढ़ियों का विरोध करने लगे जैसे—

"हिन्दू अन्धा तुरको काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना।'
हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमान मसीत॥
नामा वहीं सेविये जहाँ देहुरा न मसीत॥

इसी प्रकार इनके साहित्य में सम्प्रदाय वाली सामग्री मिल जाती है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इनका साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारे विचारानुसार, हिन्दी साहित्य में सन्त मत के प्रवर्तन का श्रेय सन्त नामदेव को देना ही समीचीन है।

कबीर—जीवन वृत्त—मध्ययुगीन अन्य अनेक सन्त और भक्त कवियों के समान कबीर का जीवन वृत्त भी प्राय अन्धकारमय है। उनके जन्म, मृत्यु, वास स्थान वश और यहाँ तक कि यथार्थ नाम के सम्बन्ध में असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे सिकन्दर लोधी के समकालीन थे। नाभादास के भक्तमाल और बील, हंटर, प्रिंस मेकलिफ, स्मिथ तथा भंडारकर आदि के इतिहास ग्रंथों से भी उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। कबीरदास ने अपने साहित्य में जयदेव और नामदेव का उल्लेख किया है, इससे सिद्ध है कि वे इनके परवर्ती थे। नामदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना गया है। सन्त पीपा ने बड़ी श्रद्धा से कबीर का नाम स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि कबीर पीपा से पहले थे। पीपा का जन्म सं० १४८२ में हुआ। 'कबीर चरित्र बोध' में १४५५ वि० ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार को कबीर की जन्म-तिथि स्वीकार की गई है, जिसका आधार निम्नांकित दोहा है—

चौदह सौ पचपन साल गए चन्द्रावार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उक्त दोहे में 'गए' शब्द का अर्थ व्यतीत लगाकर १४५६ को कबीर का जन्म सम्वत् माना है। डॉ० हजारीप्रसाद ने भी इसी सम्वत् को स्वीकार किया है, किन्तु डॉ० माताप्रसाद गुप्त प्रभृति विद्वानों ने स० १४५५ ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार को कबीर की जन्म तिथि माना है क्योंकि इण्डियन क्रोनोलॉजी के आधार पर गणना करने से यही तिथि ठीक बैठती है, अत स० १४५५ में इनका जन्म मानना अधिक उपयुक्त और तर्क सगत है।

स्वामी रामानन्द कबीर के दीक्षा गुरु थे। इस कथन की पुष्टि अन्त साक्ष्य के आधार पर भी हो जाती है। कबीर का कहना है "काशी में हम प्रगट भये,

रामानन्द चेताये।" नाभादास के भक्त-माल और अनन्तदास के 'प्रसङ्ग परिजात' से भी उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। कुछ एक विद्वानों ने शेख तकी को कबीर का गुरु माना है किन्तु यह बात अन्त साक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर सर्वथा अमान्य है। कबीर ने शेख तकी के प्रति कहीं भी श्रद्धा प्रकट नहीं की है। शेख तकी को सम्बोधन करते हुए कबीर द्वारा कहे गये 'सुनहु शेख तकी तुम' इन शब्दों में जो कठोरता और कर्कशता है वह कबीर जैसे गुरु-भक्त से अपने गुरु के प्रति आशातित नहीं थी।

कबीर के जन्म के सम्बन्ध मे भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ एक का कहना है कि एक विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लाजवश अपने नवजात शिशु कबीर को काशी के लहरतारा नामक तालाब के निकट फेंक दिया था, जिसका पालन पोषण निःसन्तान जुलाहा दम्पत्ति नीरू और नीमा ने किया। इस बात का समर्थन कबीर का अपने आपको जुलाहा कहने से भी हो जाता है। कबीर पंथियों ने कबीर का जन्म ही नहीं माना है। उनका कहना है कि अमावस्या की रात्रि को जबकि नभमण्डल घटाटोप मेघों से आच्छादित था और विद्युत कौंध रही थी, उस समय लहरतारा नामक तालाब मे एक कमल प्रकट हुआ फिर वह ज्योति मे परिणित हुआ और वह ब्रह्म स्वरूप ज्योति ही कबीर है। अस्तु! यह सारी कहानी कबीर को अलौकिक महत्त्व प्रदान करने के लिए गढ़ी हुई प्रतीत होती है। किसी सौभाग्यवती माता ने कबीर को निश्चित रूप से जन्म दिया था और उसका लालन पालन जुलाहा परिवार में हुआ। डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार कबीर जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने से पहले जोगियों के अनुयायी थे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर का सम्बन्ध जुगी जाति से जोड़ा है। *यह जाति हिन्दुओं में बड़ी अस्पृश्य और हेय समझी जाती थी।* इसका सम्बन्ध नाथपंथी योगियों से था। मुसलमानों के आगमन पर इसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। कबीर इसी जाति के रत्न थे। अस्तु! कबीर का जन्म सं० १४५५ में काशी में हुआ और निधन १५७५ में मगहर में हुआ।

कबीर गृहस्थी थे। इनकी पत्नी का नाम लोई था। डॉ० रामकुमार ने इनकी एक अन्य पत्नी भी मानी है जिसका नाम धनिया या रमजनिया था। कमाल और कमाली इनके पुत्र और पुत्री थे। कबीर की कई उक्तियों से आभास मिलता है कि इनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था। कुछ विद्वानों ने इनके निहाल और निहाली दो और पुत्र तथा पुत्री भी माने हैं।

व्यक्तित्व—महात्मा कबीर परम सन्तोषी, उदार, ज्ञानप्रणेता, निर्भीक, सत्यवादी, अहिंसा, सत्य और प्रेम के समर्थक, सात्विक प्रकृति, बाह्याडंबर विरोधी तथा क्रान्तिकारी सुधारक थे। वे मस्तमौला, लापरवाह एवं फक्कड़ फकीर थे। वे जन्मजात विद्रोही थे और उनमें एक अदम्य साहस एवं अपूर्व आत्म विश्वास था। वे प्रखर प्रतिभा तथा विलक्षण एवं सशक्त व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। वे सिकन्दर लोदी के सामने झुके नहीं, हिन्दू और मुसलमानों के प्रबल रोष ने उन्हें तनिक भी विचलित

नहीं किया, वे योगियों के प्रभाव से आहत नहीं हुए और न ही सूफी उन्हें अपने सम्प्रदाय मे मिला सके। उन्होंने कदाचार का डटकर विरोध किया। वे जीवन-पर्यंत अपनी अटपटी वाणी से उत्तरी भारत का नेतृत्व करते रहे। सुकरात के समान वे सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक व्यवस्था पर तीव्रतम आघात करते थे। सुकरात के ही समान शासक वर्ग ने कबीर को भी विष का प्याला पीने को दिया, किन्तु वे पीकर पचा गये। कबीर का व्यक्तित्व कुछ अजीब-सा है। डॉ० हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"वे सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग प्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमें *वर्तमान थी इसलिए वे युग प्रवर्तन कर सके।"*

ग्रन्थ—'बीजक' कबीर की प्रामाणिक रचना मानी गई है। इसमें कबीर के उपदेशों का उनके शिष्यों द्वारा सकलन है। 'बीजक' के तीन भाग हैं —साखी,' शब्द, रमैनी। कई विद्वानों ने कबीर के ग्रंथो की सख्या ५७ से ६१ तक मानी है। अनुराग सार, उग्रगीता, निर्भय ज्ञान, शब्दावली और रेखतों आदि पुस्तको को कबीर रचित कहा गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कबीर की कविता के मुक्तक होने के कारण परवर्ती सन्त कवियों ने मनमाने ढंग से उसे घटाया और बढ़ाया। कबीर की रचनाओं का बहुत-सा भाग ऐसा है जो कबीर के भक्तों ने रचा और महत्त्व के लिए कबीर के नाम पर प्रचारित कर दिया। इस प्रकार कबीर के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं मे से कबीर की वास्तविक रचना को खोज पाना बहुत कठिन है।

कबीर के सिद्धान्त—कबीर निराकारवादी हैं। निराकार की प्राप्ति ज्ञान से सम्भव है। वह घट में बसता है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है—"हिरदै सरोवर है अविनासी।" कबीर ने बार-बार 'राम' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका राम सगुण अर्थात् दाशरथि राम न होकर परम *ब्रह्म का प्रतीक है। कबीर राम को पुकारने की आवश्यकता निश्चित रूप से महसूस* करते हैं, इसलिए उन्हें कोई न कोई नाम भी देना ही पड़ता है। उनके ही शब्दों में—

दशरथ सुत तिहु लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना॥ तथा
तू हरसि हरसि गुण गाई।

कबीर एकेश्वरवादी हैं, किन्तु उनका एकेश्वरवाद मुस्लिम एकेश्वरवाद से भिन्न पड़ता है। मुसलमान धर्म के अनुसार ईश्वर समस्त *प्राणियों और स्थानों* से भिन्न और परम समर्थ है। परन्तु कबीर द्वारा प्रतिपादित ईश्वर व्यापक है, वह समस्त संसार में रम रहा है और इसमें समस्त ससार रम रहा है। वह अलख, अगोचर और वर्णनातीत है। वह केवल शास्त्रों और पुराणों के अध्ययन एवं ज्ञान

से नहीं जाना जाता है बल्कि वह प्रेमपूर्ण भक्ति से प्राप्य है। निर्गुण राम और भक्ति-तत्त्व कबीर को सिद्धों और नाथों से अलग कर देते हैं, और इसी कारण कबीर में अधिक सरसता आ गई है। कबीर की भक्ति अनन्य भाव से सम्पन्न है। उनमें कर्म-काण्ड के विधि-विधानों और बाह्याचारों के लिए अवकाश नहीं है, वह सर्वथा निष्काम है। भक्ति के मार्ग में माया कनक और कामिनी के रूप में व्यवधान डालती है, अतः कबीर ने इसकी कटु भर्त्सना की है। कबीर की भक्ति एक ऐसा राज-मार्ग है जिस पर सभी सुगमता से चल सकते हैं, उसमें ऊँच-नीच, ब्राह्मण, शूद्र और स्पृश्यास्पृश्य का कोई प्रश्न नहीं है—

"जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।"

हाँ, भक्ति में प्रेम अपेक्षित है। कबीर की इसी प्रेम भावना ने भक्ति को मधुर एवं सहज बना दिया है। कबीर ने भक्ति और प्रेम के सहारे ब्रह्म से तादात्म्य करना चाहा है और वहीं शुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद की सृष्टि हो जाती है। वैसे तो कबीर ने परमात्मा के माता-पिता आदि अनेक रूपों की कल्पना करके अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहा है किन्तु परमात्मा को पति और आत्मा को पत्नी रूप में कल्पना करके प्रेम का एक महान् भारतीय आदर्श रूप उपस्थित किया, जो कि अत्यन्त भव्य बन पड़ा है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने कबीर के इस प्रेम को सूफियों से प्रभावित कहा है, किन्तु यह समीचीन नहीं है। हाँ, कबीर में प्रेम की मादकता आंशिक रूप से सूफियों की देन अवश्य कही जा सकती है। सूफियों का रहस्यवाद और कबीर का रहस्यवाद समता की अपेक्षा विषमता अधिक रखते हैं। इस दिशा में सूफियों में विदेशी पद्धति है जबकि कबीर में विशुद्ध भारतीयता है।

नाथपंथियों के समान कबीर ने इन्द्रिय-साधना, प्राण-साधना और मन-साधना पर भी बल दिया है। अजपा, सुरति, सहज, निरंजन, नाड़ी साधन और कुंडलिनी साधन आदि बातें कबीर में मिलती हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कष्ट-साध्य होने के कारण हठयोग उन्हें पसन्द नहीं था, उन्हें अभिप्रेत तो सहज योग ही था। कबीर का सहज रूप की ओर झुकना कदाचित् रामानन्द के प्रभाव का फल है। यही कारण है कि कबीर हिन्दू और मुसलमानों की साधना की जटिल क्रियाओं, आडम्बरों, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का कड़ा विरोध करते हैं। कबीर में वैष्णवों का प्रपत्तिवाद है, जैनों की अहिंसा और बौद्धों की बुद्धिवादिता है। आचार्य शुक्ल ने कबीर के एकेश्वरवाद को इस्लामिक माना है जबकि हरिऔध ने इनके एकेश्वरवाद को उपनिषदों के अद्वैतवाद से प्रभावित माना है। हमारे विचारानुसार डॉ० त्रिगुणायत सत्य के अधिक निकट हैं। कबीर को कोई भी व्यवस्थित शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। वे बहुश्रुत और सारग्राही थे। उन्हें जो भी बात जिस सम्प्रदाय की ग्राह्य प्रतीत हुई, ले ली। उन्हें एक सामान्य भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करनी थी और उसके लिए यही माध्यम उपयुक्त था। विविध सम्प्रदायों के प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी उन पर वैष्णवों का विशिष्ट प्रभाव है। उन्होंने अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा वैष्णवों के प्रति

अधिक श्रद्धा प्रदर्शित की है। सच तो यह है कि विभिन्न मत-मतान्तरो के प्रभावों के होते हुए भी उनका निजी व्यक्तित्व कहीं भी तिरोहित नहीं हुआ। वे साधना क्षेत्र मे युग-गुरु और साहित्य क्षेत्र मे युग स्रष्टा हैं। सम्प्रदाय चाहे जो भी हो और जैसा हो उसकी अनुगति की उन्हे कोई आवश्यकता नहीं थी, बल्कि उसे वे एक ढकोसला मानते थे। परम व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ही उनके विचार-दर्शन का मूल आधार था।

रहस्यवाद—कबीर हिन्दी साहित्य में आदि रहस्यवादी कवि माने जाते हैं और इस क्षेत्र में उनका अत्यन्त उच्च स्थान है। आचार्य शुक्ल के अनुसार साधना क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। दूसरे शब्दों मे रहस्यवाद ब्रह्म से आत्मा के तादात्म्य का प्रकाशन है। आलोचकों ने रहस्यवाद की दो कोटियाँ कर दी हैं—(क) भावनात्मक रहस्यवाद (ख) साधनात्मक रहस्यवाद। कबीर मे रहस्यवाद के दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। भावनात्मक रहस्यवाद को भी अनेक अवस्थाओं मे विभक्त कर दिया गया है—

प्रथमावस्था में परमात्मा की आत्मा दिव्य ज्योति के दर्शन से आकर्षित एवं चकित हो जाती है। कबीर अपने प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य पर विमुग्ध हैं। उनके लिए ईश्वर गूंगे के गुड़ के समान अनिर्वचनीय एव अकथनीय है। वे कहते हैं—

"कहत कबीर पुकार कै, अदभुत कहिए ताहि।"

द्वितीय अवस्था मे परमात्मा से मिलने की आतुरता प्रकट की जाती है। इस अवस्था में विरह-मिलन, आशा-निराशा, अभिलाषा-वेदना की अत्यन्त सजीव सरल अभिव्यक्ति होती है। कबीर इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे अद्वितीय ठहरते हैं। कबीर की सी अनुभूति की तीव्रता, वेदना की पुकार और व्याकुलता की गहराई कदाचित् आज के कलाविज्ञ रहस्यवादी कवियो मे भी नहीं मिलती है। कबीर ने मिलन की आतुरता का जिस कलात्मकता और विरह-वेदना का जिस मार्मिकता से वर्णन किया है, वह हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है। एक-दो शब्द चित्र द्रष्टव्य हैं —

आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़ या राम पुकारि-पुकारि।।
सुखिया सब संसार है खावै और सोवै।
दुखिया, दास कबीर है, जागै अरु रोवै।।

तृतीय अवस्था आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की है। इस सम्बन्ध में कबीर के चित्र अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं भी गई मैं हो गई लाल।।

तथा

- ज्यूं जल में जल पैसित निकसे, यूं ढरि मिल्या जुलाहा।

डॉ० त्रिगुणायत कबीर के रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं—"कबीर के

काव्य मे प्रेममूलक भावना-प्रधान रहस्यवाद का अनुभूतिमय प्रकाशन है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अनुभूति के आश्रय से होती है। अनुभूति भावना से सम्बन्धित है। भावना प्रेम की प्रधान प्रवृत्ति है। यह अनुभूति प्रेम पर अवलम्बित होने के कारण जीव और ब्रह्म मे एक अविच्छिन्न और अनन्य सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में देखी जाती है। अत रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और विरहिणी के आश्रय मे होती है।" कबीर अपने प्रियतम की अखड सुहागिनी का स्वाग रचते हुए कहते हैं—

> दुलहिन गावहु मगलाचार।
> तन रति करि मैं मन रति करिहौं पच तत्त बराती।
> रामदेव मोरे पाहुन आये हौं जोबन मदमाती॥

कबीर के प्रियतम मिलन की आतुरता ससार के किसी भी प्रेम व्यापार से अधिक तीखी और चुटीली है। ससार के विरही जनो के विरह का भले ही कभी अन्त होता हो परन्तु कबीर को सदा के लिए विरह व्यथा को झेलना है। रात्रि की समाप्ति के पश्चात् चकवी के लिए चकवे से मिल सकना सभव है, परन्तु कबीर के लिए दिन-रैन दोनों समान हैं। उनके विरह का न अर्थ है न इति :—

> चकवी बिछुरी रैन की आई मिली परभाति।
> जो जन बिछुरे राम से ते दिन मिले न राति॥
> विरह कमडल कर लिये बैरागी दोऊ नैन।
> मांगे दरस मधूकरी छके रहें दिन रैन॥
> बासरि सुख ना रैन सुख, ना सुख सपने माँह।
> कबीर बिछुड्या राम सू ना सुख धूप न छाँह॥

कबीर मे गभीर रहस्यमय अनुभूतियों, विरह-व्याकुलता, आत्म-समर्पण की उत्कण्ठा, प्रेमपूर्ण भक्ति, आन्तरिक प्रेम की निष्ठा, परमात्मा-मिलन की उत्कट अभिलाषा, विरहिणी के विरह-पेशल हृदय की नाना स्थितियों के बडे ही हृदयप्लावी कलात्मक चित्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें भावनात्मक रहस्यवाद का आदर्श अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया है।

कबीर के प्रणयात्मक चित्रो में शृगार का स्वरूप चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक, उसमें एक अनुपम रस है। वह अपने लौकिक रूप मे घर-गृहस्थियों के लिए जितना आह्लादक है उतना ही वह मुमुक्षुजनो के आतम-राम के लिए आनन्ददायक है। उनका शृगार उनके व्यक्तित्व, धर्म और दर्शन के समान कुछ विलक्षण और निराला है। एक ओर जहाँ वह अपने परिप्लुत रूप में लोक-सीमाओं को छूता है, तो दूसरी ओर ऊर्ध्व प्रयाण की बलवती प्रेरणा देता है।

कुछ विद्वानों ने कबीर के रहस्यवाद में अभिव्यक्ति प्रेम-पक्ष को सूफियों से प्रभावित माना है, किन्तु हमारे विचार में प्रेम का यह स्वरूप सन्त मत मे महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन के विट्ठल संप्रदाय के परपरागत रूप से आया है। सूफियों और

कबीर के रहस्यवाद मे एक मौलिक अन्तर है, कबीर के रहस्यवाद में दाम्पत्य भाव की कल्पना का स्वरूप विशुद्ध भारतीय है, जबकि सूफियो में यह कल्पना विदेशी पद्धति पर आधारित है। हाँ, इस दिशा में प्रेम की मादकता दोनों में समान है।

कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद भी देखा जा सकता है। सन्त सम्प्रदाय का सीधा विकास योगियों के नाथ सम्प्रदाय से हुआ, अत: कबीर पर योगियों व हठयोग का प्रभाव है। इनके साहित्य में इगला, पिगला, सुषुम्ना, षट्दल, त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र सूर्य और चन्द्र आदि हठयोग के पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जिनसे आत्मा और परमात्मा के ऐक्य को द्योतित किया गया, जैसे—

गगन गरजै अमी बादल गहिर गम्भीर।
चहुदिसि दमके भीजै दास कबीर॥

इसी प्रकार—

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।"

कभी-कभी इन्होंने उलटबाँसियो के द्वारा रहस्य भावना को प्रकट करना चाहा है यथा—

"बरसे कम्बल भीजै पानी।"

कहीं कबीर के रहस्यवाद पर शकर के अद्वैतवाद का भी प्रभाव स्पष्ट है, जैसे—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कहौ गयानी॥

जिस प्रकार शकर आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया का प्रबल अवरोध स्वीकार करते हैं, वैसे ही कबीर ने भी माया को अवरोधक तत्त्व माना है। कबीर ने माया के प्रतीक कनक और कामिनी की कड़ी भर्त्सना की है। कबीर ने शकर के समान ईश्वर को ज्ञानगम्य कहा है। कहीं-कहीं पर शकर के समान इन्होंने ससार को मिथ्या भी माना है।

कबीर के पास रूपकों और अन्योक्तियों का भडार भरा पड़ा है। रहस्यमयी अनुभूतियो को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने रूपकों और अन्योक्तियो का कलात्मक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए—

हसा प्यारे सरवर तजि कह जाय ?
जोहि सरवर बिच मोती चुगते बहु बिध केलि कराय॥

इसी प्रकार उनका एक रूपक देखिये—

सन्तो भाई आयी ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उडानी माया रहे न बाँधी॥

कबीर भावना की अनुभूति से युक्त हैं, उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं और जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

कबीर काव्य का सामाजिक पक्ष—कबीर मूलत भक्त हैं, परन्तु उनकी

भक्ति केवल आत्म-भक्ति तक ही सीमित रही हो, ऐसी बात नहीं। उसमें अन्त-संघर्ष के साथ लोक-संघर्ष और निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति भी है। वे एक साथ भक्त, कवि, सुधारक और युग-नेता भी हैं। वे समय का परवाना लाए थे, हस उजाले के लिए। कबीर ने यह सब-कुछ धर्मोपदेशों के माध्यम से किया है। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के अधिकार की माँग वास्तव में धार्मिक सामाजिक न्याय की माँग थी और उन बनावटी तथा ऊपर से थोपी गई मर्यादाओं को तोड़ने की माँग थी, जो विशाल जन-समूह को अपने अधिकारों से वंचित किये हुई थीं। यही कारण है कि उस समय के तमाम जन-आन्दोलनों का बाह्य रूप धार्मिक था, तमाम उद्बुद्ध नेता धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानव-मात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे। उन सबने उन तमाम सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, सांप्रदायिक कट्टरताओं, बाह्य विधि-विधानों और कर्मकांड के आडम्बरों पर खुलकर आक्रमण किया है। उस युग के नेता का उद्देश्य था किसी भी माध्यम से जन-समाज में होने वाले किसी भी शोषण को, चाहे वह सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक हो, समाप्त करना। इस प्रकार इतिहास परक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि कबीर-काव्य में उस युग की मूलभूत समस्याओं का यथार्थ चित्रण है। इस बात का सारा दायित्व उस समय की परिस्थितियों को है।

निःसंदेह कबीर के समय मे मुस्लिम शासन काफी दृढ़ता के साथ भारत में पाँव पसार चुका था और तलवार के बल पर अपने धर्म प्रचार के लिए पूर्णतः कटिबद्ध था, किन्तु उस समय हिन्दुओं का उच्च सत्ताधारी वर्ग संबद्ध इस्लाम का मुकाबला करने की कोशिश कर रहा था। उस समय यहाँ ब्रह्मचारी, कर्मकांडी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेक मत प्रचलित थे, जो स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि पर आधारित थे। स्मार्त पंडितों ने शास्त्रीय विवेचन के आधार पर समाज को संगठित करने का प्रयत्न किया, किंतु उन्होंने निम्न जातियों को वर्जनशील समझा। इसकी प्रतिक्रिया में सिद्धों, योगियो तथा सतों ने उच्च-सत्ताधारी वर्ग तथा शासक वर्ग के प्रति विद्रोही स्वर अलापा। मुस्लिम आक्रमण भारत के लिए कोई नई वस्तु नहीं थी, हाँ एक रूप मे यह नवीन अवश्य था। इससे पूर्व का आक्रांता वर्ग भारतीय संस्कृति और सभ्यता मे आत्मसात् हो गया, किन्तु मुस्लिम अपनी ऐकान्तिक कट्टरता के कारण भारतीय जनता से अलग-अलग बने रहे, शासक और शासित का भेद-भाव बना रहा। हिन्दू और मुस्लिम जातियों में परस्पर वैमनस्य और विद्वेष चरम सीमा को पहुँचता गया। मुसलमानो के प्रारम्भिक आक्रमणों के कुछ समय पूर्व उत्तर भारत में निम्न वर्ग की जातियो की ओर से विद्रोह का झण्डा लहराया जाने लगा था। बिहार में बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान संप्रदाय के रूप में बौद्ध सिद्धों का प्रभाव पड़ा, जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियो से आते थे। नाथ सम्प्रदाय इन सिद्धो का विकसित रूप है। सिद्धो और नाथो ने शास्त्रीय

स्मार्त मत को ठुकराया तथा उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र के मतवाद को हेय ठहराया। इन्होंने *वर्णाश्रम व्यवस्था पर सीधी चोट की और कर्मकांड के जटिल विधि-विधानों* पर निमम प्रहार किये। इधर सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तों का भक्ति का आन्दोलन अब रामानन्द के नेतृत्व में उत्तर भारत में पहुँच चुका था जिसमें ऊँच-नीच का कोई भेद भाव नहीं था और भक्ति क्षेत्र में सबको समान अधिकार प्राप्त था। कबीर रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे।

कबीर के समय देश में धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी, वह थी सूफी साधना की धारा। सूफी लोग इस्लाम के एकेश्वरवाद से सन्तुष्ट न थे और भगवान् को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह मानते थे। ये लोग मुसलमान उलमाओं की तरह कट्टर और सकीर्ण मतवादी न थे और न ही इन्हें मुस्लिम धर्म के कर्मकाड पक्ष (शरीयत) पर विश्वास था। इस प्रकार कबीर के समय में और उससे पहले धार्मिक आन्दोलनों के रूप में जनता का विद्रोह तीन धाराओं में फूटा और जनवादी कबीर ने इन तीनों को सम्यक् रूप से आत्मसात् करके सर्वसाधारण जनता के लिए एक सामान्य मार्ग का निर्देश किया .

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय॥

डॉ० हजारी प्रसाद के शब्दों में "कबीर ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर भक्ति मार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर योग मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष, गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। कबीर का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।"

कबीर ने जातिगत, वर्णगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत और शास्त्रगत रूढ़ियों और परम्परा के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया है। एक ओर वे पंडितों को खरी-खोटी सुनाते हैं तो दूसरी ओर मुल्ला की कटु आलोचना करते हैं। एक ओर मन्दिर तथा तीर्थाटन आदि की निस्सारता बताते हैं तो दूसरी ओर मस्जिद और हज्ज-नमाज की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। वे पुकार उठते हैं—

"अरे इन दोउन राह न पाई,
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।"

वर्णाश्रम व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—'तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र, हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं और तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो।" इधर बनारस के ठग संतों का भंडा फोड़ते हुए कहते हैं—'साढ़े तीन गज की धोती पहने हुए, तिहरे तागे लपेटे हुए, गले में जपमाला डाले हुए और

हाथ में माला लिये हुए इन प्रमाणों को हरि का मत नहीं कहना चाहिए, ये लोग तो बनारस के ठग हैं।" राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडम्बर पर चोट करते हुए वे कहते हैं—"काजी तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बना, हम तो दीन बेचारे ईश्वर के सेवक हैं और तुम्हारे मन को रागमी बातें ही भाती हैं। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर, धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी।" सच तो यह है कि वे सुकरात थे जो सत्य न्याय के लिए बड़ी से बड़ी यन्त्रणा को सहने को तैयार थे। उन्होंने युगानुरूप मानवीय आदर्शों की स्थापना की। कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामन्ती व्यवस्था की रूढ़ियों, पाखण्ड और मिथ्याचार के प्रति एक जिहाद है। मध्य युग के गहन कुहासे में कबीर की वाणी ने अमर आलोक का काम किया और आज का प्राणी भी उससे बहुत कुछ प्रकाश पाता है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में "यह कहकर कि 'साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय' उन्होंने मानव मात्र की समानता का सिद्धांत प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के लिए सबके लिए समान अधिकार की माँग की। इस विराट् जन-आन्दोलन के सबसे प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा, उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए जीवन संदेश भी। कबीर की यह मान्यता थी कि व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की सप्राणता और सुगठिता व्यक्ति के गुणों और आचरण पर निर्भर करती है। समाज की सम-रूपता तभी निश्चित है जबकि जाति, वर्ग और वर्गभेद न्यून से न्यून हो। कबीर की *साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है।* प्रसिद्ध इतिहासकार बर्कले मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की परिस्थितियों का सिंहावलोकन करते हुए लिखते हैं—'जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्म-काल के समय में हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूलकर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित होकर दोनों जातियाँ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्गप्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं, तथापि भारतीय नव युग के समाज सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है, क्योंकि भारतीय धर्म के अन्तर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्मवाद तीनों का समावेश है।" कबीर ने शताब्दियों की सङ्कुचित चित्तवृत्ति को परिमार्जित कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उदार बना दिया, यही उनकी विशेषता है।

काव्य-समीक्षा—कबीर संत पहले हैं, कवि बाद में। उनकी वाणी में धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता है, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। कविता उनका उद्देश्य नहीं थी बल्कि वह समरथ का परवाना एवं संदेश पहुँचाने की साधना थी, साध्य नहीं थी। उन्होंने कागद-मसी को *छुआ तक नहीं था और न ही कवि-कर्म का उन्होंने विधिवत्* अध्ययन किया था। उन्होंने कहीं भी कविता करने की प्रतिज्ञा भी नहीं की, परन्तु फिर भी उनकी काव्य गगरी में अमित रस एकत्रित हुआ है, जो कि किसी भी साहित्य का

शृंगार हो सकता है। डॉ० रामकुमार इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छन्द और अलंकार गौण है, संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है। उस संदेश के प्रकट करने का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुए भी काव्यमय है।"

हिन्दी के कुछ आलोचकों ने कबीर को कवि स्वीकार करने में संकोच दिखाया है। उनका कहना है कि कबीर को छन्द और अलंकार शास्त्र का ज्ञान नहीं था। वे दोहा छन्द को ठीक-ठीक नहीं लिखते और न ही अनुप्रासादि अलंकारों की चकाचौंध पैदा कर सकते हैं उनकी भाषा अटपटी और बेठिकाने की है, उसमें ग्राम्य दोष है। वस्तु कबीर की योगपरक रचनाओं में नीरसता है, उनकी उलटबाँसियों में शुष्कता है और उनकी आलोचनात्मक कटूक्तियों में काव्य के स्थान पर भर्त्सना और तिलमिला उठने की भावना है। परन्तु इतना होने पर भी कबीर को कवि पद से वंचित करना कदाचित उनके साथ अन्याय करना होगा।

सच्चे काव्य और सच्ची कला की कसौटी अनुभूति की सच्चाई है। कबीर इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। उन्हें कागद लेखी पर विश्वास नहीं, आँखन देखी पर विश्वास है। उन्होंने बिना किसी लाग-लपेट, आडम्बर और कृत्रिमता के जन-जीवन सम्बन्धी अनुभूतियों को सरल और सीधे ढंग से अभिव्यक्त किया है, उन पर अलंकारों का मुलम्मा चढ़ाने की चेष्टा नहीं की, परन्तु फिर भी उनमें जीवन का सत्य निर्मल स्फटिक मणि के समान देदीप्यमान है। कबीर की वह सरल शब्दों में आत्माभिव्यक्ति उनके उस अतुल आत्मविश्वास की शक्ति से अनुप्राणित है कि वह सहज में हृदय पर प्रभाव करती है। मीरा का काव्य अलंकारों और पिंगल की खराद पर पूरा नहीं उतरता किन्तु इसी आधार पर उन्हें कवि पद से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में है। यह विवेचना कबीर में पर्याप्त है। कबीर के कवि में यथेष्ठ सरसता, द्रवणशीलता और मार्मिकता है। कबीर काव्य उस स्थान पर तो बहुत ऊँचा उठ गया है, जहाँ उन्होंने विरहिणी आत्मा के स्पन्दन, हास और रुदन, मिलन और बिछुड़न के साकार चित्र अंकित कर दिये हैं। ऐसे स्थानों में उनके सन्त, साधक, कवि, भक्त, सुधारक और नेता समस्त रूप एक हो गये हैं और दरअसल यहाँ पर उनका काव्य एक अलौकिक वस्तु बन गया है। उनके एक दो ऐसे सौन्दर्यपूर्ण चित्र द्रष्टव्य हैं—

> सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
> आँख न खोलूँ डरपता मति सपना हो जाय॥
> नैनों अन्दर आव तू नैन झाँपि तोहीं लेऊँ।
> ना मैं देखूँ और को ना तोहि देखन देऊँ॥

कबीर के काव्य का विषय भक्ति है जो एकमात्र अनुभूति का विषय है। उसकी अभिव्यक्ति भाषा की शक्ति से बाहर है, किन्तु उस सूक्ष्म विषय की कबीर की वाणी में अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यह कबीर के सफल कवि के लिए कोई कम गौरव और महत्त्व की बात नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में "इस प्रकार के कबीर ने रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना की है, कथन के सहारे अकथ्य को कहा और इसी में हमें कबीर के काव्य का चरम रूप मिलता है। काव्य-शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि-कर्म की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं।"

भले ही कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु वे बहुश्रुत अवश्य थे। वे एक सिद्ध कवि की भाँति काव्य परम्पराओं, कवि-समयों तथा कवि-कर्म के अन्य ज्ञातव्य रहस्यों से परिचित थे। उन्हें यह सब कुछ परम्परा से प्राप्त हुआ था। उन्हें भावों को सहज में चमत्कृत कर देने वाले अलंकारों का भी ज्ञान था। उनके काव्य में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, यमक, अनुप्रास, मालोपमा, विरोधाभास, निदर्शना, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास तथा पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है। रूपक अलंकार के प्रयोग में वे इतने लब्धप्रतिष्ठित हैं, जितना कि कालिदास अपनी उपमाओं के लिए। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाई।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाई।।

कबीर अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। उनका समस्त काव्य मुक्तक शैली में है। उनके व्यक्तित्व के समस्त भोलापन, अक्खड़पन और मौजीपन उनकी शैली में अवतरित हो गये हैं, अतः उसमें प्रभावात्मकता, बल और ओज हैं। इनकी भाषा खिचड़ी भाषा है, जिसको कि कई विद्वानों ने अव्यवस्थित और अपरिष्कृत कहा है, पर यह स्मरण रखना होगा कि उनकी भाषा में अभिव्यक्ति के सभी आवश्यक उपकरण मौजूद हैं। उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कहीं भी भाषा-सम्बन्धी विवशता का अनुभव नहीं किया। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया; बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ लाचार-सी कबीर के सामने नजर आती है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता है।"

कबीर का अभिव्यक्ति-पक्ष चाहे सूर, तुलसी और केशव का-सा न हो, परन्तु जो कुछ है, वह इतना पर्याप्त है कि वे किसी रियासत से नहीं बरन् ईमानदारी से कवि कहला सकते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं चढ़ाया, जो अलंकार मिलते हैं, वे उन्होंने खोज-खोजकर नहीं बिठाये।" मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, किन्तु सच्ची कला के लिए तथ्य की आव-

श्यकता है। "भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडम्बरों के बन्धन से निर्मुक्त तथ्य है।" एक विद्वान् द्वारा प्रयुक्त इस काव्य परिभाषा को यदि काव्य क्षेत्र मे प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि मे आ सकेंगे। किन्तु कबीर का आसन इस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। सर्वप्रियता और प्रभाव भी कवि सफलता के मानदण्ड स्वीकार किये जा सकते हैं, इस दृष्टि से कबीर साधना-क्षेत्र में युग गुरु और साहित्य क्षेत्र में भविष्य-स्रष्टा हैं। सन्त सम्प्रदाय तो इनसे प्रभावित है ही, साथ साथ सूफी कवि जायसी, रहीम और रसखान आदि को भारतीय भावना अपनाने की प्रेरणा कबीर से मिली। सिक्खों के आदिगुरु नानक तथा दूसरे गुरु कवि इनसे प्रभावित हैं। आज के राष्ट्रीय कवियों मे मैथिलीशरण गुप्त तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता का पथ कबीर बहुत पहले से प्रशस्त कर चुके हैं। हिन्दी के सूक्तिकार वृन्द, गिरधर और दीनदयाल आदि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कबीर के ऋणी हैं। रहस्यवादी क्षेत्र मे वे आदि कवि ठहरते हैं। इस क्षेत्र में रवीन्द्र तथा हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवि कबीर के प्रति आभारी हैं। गांधीजी इनके सत्यानुप्राणित काव्य से अत्यन्त प्रभावित थे। कबीर के भाव प्रवण-हृदय की भावुकता कहीं-कहीं हठयोग के सैद्धान्तिक निरूपण से दब गई है, किन्तु अधिकांश पदों मे प्राय समीकरण का रम्य सौरभ है, जो जन-मन कलिका को आह्लादित और विकसित कर देता है। सच यह है कि कबीर की वाणी जनता की वाणी है, इसलिए वह अनायास ही जनता के हृदय का हार बन सकी और कबीर भारतीय जनता के सुख-दुःख के साथी बन गये। इस सबंध मे आचार्य द्विवेदी लिखते हैं—"सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसलिए इनके सन्त रूप के साथ कवि रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु हैं साथी और मित्र भी हैं।" कबीर के अप्रतिम व्यक्तित्व के समान इनके काव्य के विलक्षण प्रभाव को आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है "भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों मे कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है।" आचार्य हजारी प्रसाद के शब्द भी इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण बन पड़े हैं—' हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कबीर साहित्य और धर्म के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति के जनक थे, आलोचना की एक नवीन शैली के जन्मदाता तथा एक सफल कवि थे। कबीर के काव्य के सौष्ठव को जानने के लिए उनके समस्त काव्य की थाह लेनी होगी। केवल उसकी सतह को छूने से शायद कुछ भी उपलब्ध न हो। कबीर की निम्नांकित उक्ति जीवन और उनके काव्य पर समान रूप से चरितार्थ होती है—

जिन ढूंढा तिन पाइयां गहरे पानी पैठि।
मैं बपुरा बूडन डरा, रहा किनारे बैठि ॥

प्रियादास का निम्नलिखित कथन कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व को काफी सीमा तक उजागर करता है—

भक्ति विमुख जो धर्म सो, अधरम करि गायो,
जोग जग्य व्रतदान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक प्रमान, रमैनी सबदी साखी
पछ पात नहिं वचन, सबहिं को हित की भाखी।
आरूढ़ दसा ह्वै जगत, पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट्दरसनी ॥

रैदास (रविदास)—जीवन वृत्त—रैदास (रविदास) रामानन्द की शिष्य परम्परा मे थे। कबीर के समकालीन सन्तो मे इनका नाम बडे आदर से लिया जाता है। आप कदाचित् आयु मे कबीर से बडे थे। इन्होने स्वय अपनी जाति चमार बताई है—"कह रैदास खलास चमारा।" इनके महत्त्व को बढाने के लिए इन्हें पूर्व जन्म मे ब्राह्मण बताया गया है। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये नित्य प्रति ढोरों का व्यवसाय करते हुए माया का परित्याग करके भगवद्दर्शन मे समर्थ हो सके थे। आप काशी मे रहा करते थे। सन्त रविदास पढ़े-लिखे नही थे, कबीर के समान बहुश्रुत थे। मीराबाई ने इन्हें अपने गुरु के रूप मे स्मरण किया है। चमार जाति के लोग अपने आपको रविदासी कहते हैं।

मन्तव्य—इनमे सतो की सहज सरलता, उदारता, निस्पृहा सतुष्टि और तितिक्षा आदि गुण थे। ये भगवत् प्राप्ति के लिए अहकार की निवृत्ति को आवश्यक मानते थे। कबीर के समान इनके भी ईश्वर निराकार थे। इन्होने भी कबीर की भांति निराकार को हरि आदि शब्दो से पुकारा है, किन्तु इनके ईश्वर सगुण न होकर निर्गुण हैं। इनकी भक्ति प्रेम-भाव की है। कबीर का माधुर्य भाव भी इन्हें अभीष्ट है। इनका कहना है कि उस परमात्मा का यथार्थ परिचय केवल सुहागिन ही प्राप्त कर सकती है क्योकि वह अपने आपको सर्वात्मना भावेन अर्पण कर देती है।

रचनाएँ एव काव्य-महत्त्व—गुरु ग्रथ साहब तथा अन्य कई सग्रहों में इनके पद बिखरे हुए मिलते हैं। कहा जाता है कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ राजस्थान मे अभी तक हस्तलिखित रूप में मिलती हैं। इनकी रचनाओं का एक सग्रह "रैदास की बानी" बेलवेडियर प्रेस प्रयाग मे प्रकाशित हो चुका है। इनकी भाषा काफी सरल और सुगम है। इनकी बाणी मे फारसी के शब्दो की बहुलता है। सभवत: फारसी भाषा उस समय तक राज-सम्मान प्राप्त कर चुकी थी और जन-साधारण में भी उसका प्रवेश हो गया था। आचार्य द्विवेदी इनकी कविता की विशेषता बताते हुए लिखते हैं—"साधारणत: निर्गुण सन्तों में कुछ-न-कुछ सुरति, निरति और इगला, पिंगला का विचार आ ही जाता है। रैदास के कुछ भजनों मे भी वे स्पष्ट आये हैं परन्तु रैदास की बाणियाँ इन उलझनदार बातो से मुक्त हैं यद्यपि उनमे अद्वैत वेदान्तियों

के परिचित उपमानों तथा नाथों और निरंजनों के [सहज, शून्य आदि शब्द भी आ जाते हैं, फिर भी उनमें किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नहीं है और न ज्ञान के दिखाने का आडम्बर ही है। आगे चलकर वे लिखते हैं—'आडम्बर सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम सन्तों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निःसन्देह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।' इनकी कविता का नमूना देखिये '

तीरथ बरत न करौं अंदेशा। तुम्हारे चरन कमल भरोसा।
जहं तहं जाओ तुम्हारी पूजा। तुमसा देव और नहीं दूजा॥

नानक देव जीवन-वृत्त—सिक्ख मत के प्रवर्त्तक श्री गुरु नानक देव जी का जन्म सं० १५२६ विक्रमी तिलवंडी नामक गाँव मे हुआ। इनके पिता का नाम कालूराम था जो एक साधारण पटवारी थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। १७ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह बटाला (गुरदासपुर) निवासी मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्खना से हुआ। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए—श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। श्रीचन्द प्रसिद्ध उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बने। गुरु नानक देव बाल्यकाल से ही साधु वृत्ति के थे। किसी नौकरी या व्यवसाय में इनका मन नहीं लगा। बाल्य-काल में इनकी शिक्षा प० ब्रजनाथ शर्मा तथा मौलाना कुतुबुद्दीन के यहाँ हुई। इनका पंजाबी, हिन्दी, फारसी तथा संस्कृत से अच्छा परिचय था। गृहस्थी में नानक का मन रमा नहीं। इन्होंने देश-विदेश का भ्रमण किया तथा यात्रा में अनेक जैन साधुओं, मुसलमानों, फकीरों, योगियों तथा सन्तों का सत्संग किया। रैदास तथा नामदेव के साथ इनकी भेंट हुई थी। किंवदन्ती है कि इनकी भेंट कबीर से भी हुई थी, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

मन्तव्य—नानक देव अधिक विद्वान् तथा शास्त्री-ज्ञानी नहीं थे। वे बहुश्रुत तथा निजी अनुभव के धनी थे। वे निराकारवादी थे। उन्होंने अवतारवाद, मूर्ति पूजा, ऊँच-नीच और वर्णभेद का विरोध किया है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए तथा ब्रह्म (अकाल पुरुष) की प्राप्ति के लिए सीधे-सादे उपदेश दिये। उनमें कहीं भी वक्रता और खण्डनात्मकता नहीं है। उनकी आध्यात्मिकता क्षेत्र सम्बन्धी मान्यताएँ प्रायः वे ही हैं जो कि दूसरे सन्तों की। उनके पदों में भक्ति, सरलता, दीनता और आत्म-समर्पण की भावनाएँ मार्मिक बन पड़ी हैं।

रचना : उसका महत्त्व—गुरु नानक देव समय-समय पर जो पद रचते रहे उसका संग्रह होता रहा। उनके तथा उनके पीछे के गुरुओं के द्वारा रचे गये पदों को सिक्ख धर्म के छठे गुरु अर्जुन ने १६०४ ई० में संकलित करके "गुरु ग्रंथ साहब" का निर्माण किया। दसवें गुरु गोविन्द सिंह तक गुरु द्वारा रचे गए पदों को जोड़ दिया गया। आज यह ग्रन्थ सिक्ख सम्प्रदाय का सिद्धांत ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में संकलित पद पंजाबी, ब्रज भाषा तथा नागरी भाषा में हैं। इसमें कहीं भी विचारों की संकीर्णता, अनुदारता तथा साम्प्रदायिक असहिष्णुता नहीं। इसमें अभि-

व्यक्त विचार एक शुद्ध निर्गुणवादी हिन्दू के हैं। सिक्खों को हिन्दू धर्म को अलग समझने की प्रवृत्ति अंग्रेजों की राजनीति की देन है, जो कि आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी अपने नये रंग ला रही है।

गुरु नानक देव की वाणी में एक अद्भुत प्रेरणादायिनी शक्ति है। ऐसी अलौकिक शक्ति किसी भी अन्य मध्ययुगीन सन्त की वाणी में नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आत्म-बल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निःसन्देह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते हैं। यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है।" इनकी कविता का एकाध नमूना देखिये—

रैन गंवाई सोइ के, दिवसु गंवाइया खाय।
हीरे जैसा जन्मु है, कउड़ी बदले जाय॥

दादू दयाल : जीवन वृत्त—इनका जन्म सं० १६०१ विक्रमी में गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में हुआ। इनके जन्म के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि दादू एक छोटे से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए किसी ब्राह्मण को मिले थे। कुछ इन्हें लोदी रामनागर का पुत्र मानते हैं। इनके शिष्य रज्जब ने भी इन्हें धुनिया कहा है। बंगाल के बाउल सम्प्रदाय में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इससे भी इनके मुसलमान धुनिया होने का अनुमान लगाया जा सकता है। सम्भवतः ये निरक्षर थे। इन्हें कबीर पंथी वृद्धन बाबा (वृद्धानन्द अथवा ब्रह्मानन्द) से दीक्षा मिली थी। ये गृहस्थी थे। इनके पुत्र-पुत्रियों का नाम भी लिया जाता है। ये काफी भ्रमणशील थे। सन् १५८६ ई० में अकबर के निमन्त्रण पर वे फतहपुर सीकरी गये और वहाँ अकबर के साथ काफी दिनों तक आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। सम्राट् अकबर इनके उपदेश से अत्यन्त प्रभावित हुआ था। इनका देहान्त १६०३ को नरौना जयपुर में हुआ।

मन्तव्य—दादू का स्वभाव अत्यन्त सरल था। वे त्यागी और क्षमाशील थे। प्रायः सन्त मत की समस्त मान्यताएँ इनके काव्य में देखने को मिलती हैं। ये स्वभाव से बड़े दयालु थे, कदाचित् इसी कारण ये दादूदयाल कहलाये। इन्होंने ब्रह्म या परब्रह्म नाम का एक सम्प्रदाय चलाया किन्तु वह आज दादू सम्प्रदाय के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के लोग कोई साम्प्रदायिक चिन्ह धारण नहीं करते, जप करने की केवल सुमिरनी लिए रहते हैं। सूफियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को भगवान् की जाति और रूप कहा है।

रचना : उसका महत्त्व—दादूदयाल के शिष्यों ने इनकी वाणी के संग्रह "हरडे बाणी" तथा "अंग बधू" नाम से किये थे। वर्तमान युग में अजमेर, काशी, जयपुर और प्रयाग से इनके संकलन प्रकाशित हुए हैं और प्रसिद्ध विद्वान् क्षितिमोहन सेन ने

बगला मे दादू नाम का जो अध्ययन ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, उसमे भी उनका समावेश है। दादू दयाल की रचनाओं की सख्या बीस हजार कही जाती है किन्तु हमारा विचार है कि यह उनके पदो की सख्या होगी और यह सख्या भी असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फारसी के शब्दो का भी उसमे बहुत प्रयोग है। इनकी वाणी में कबीर जैसा वाग्वैदग्ध्य नहीं है, पर सरसता और गम्भीरता पर्याप्त है। उसमें आध्यात्मिक वातावरण की सुन्दर सृष्टि हुई है। दादू मे *खडनात्मकता का स्वर इतना तीव्र नही जितना कि कबीर* मे। आचार्य द्विवेदी दादू और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं—'कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और सयोग के रूपको मे वैसी मस्ती नही ला सके, पर स्वभावत सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुर असर बना सके हैं। .... दादू को मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और उसमे उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले।'

दादू की कविता का एक नमूना देखिये, जिसमें उनके मत का सार समाहित है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीव सौं, दादू यहै मत सार॥

सुन्दरदास जीवन वृत्त—सुन्दरदास दादू के शिष्यों में सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न महात्मा थे। वे वसुर गोत के खडेलवाल वैश्य थे। इनका जन्म स० १६५३ में जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी द्यौसा में हुआ। इन्होंने छोटी ही अवस्था में दादू दयाल का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। ग्यारह वर्ष की आयु मे इन्होंने काशी जाकर दर्शन, साहित्य, व्याकरण, वेदान्त और पुराणों की गम्भीर अध्ययन निरन्तर अठारह वर्ष लगाकर किया। फारसी से भी इनका परिचय अच्छा था। भ्रमण की ओर इनकी विशेष रुचि थी। इनका देहान्त स० १७४६ को हुआ।

रचनाएँ—सुन्दरदास ने कुल मिलाकर छोटे-बडे ४२ ग्रन्थो की रचना की है। ये सभी रचनाएँ सुन्दर ग्रन्थावली के नाम से सकलित हैं। इनके ग्रन्थो में "सुन्दर विलास अथवा सवैया" बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में गृहीत विषयों के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं—"*विषय अधिकांश में सस्कृत ग्रन्थो मे सगृहीत तत्ववाद है* जो हिन्दी कविता मे नई चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले सहृदयों के लिए विशेष आकर्षक नहीं है। छत्र बध आदि प्रहेलिकाओं से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। असल में सुन्दरदास सन्तों में अपने बाह्य उपकरणो के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सदेह नहीं कि शास्त्रीय ढग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं।" सन्त कवियों में इन्हें एकमात्र काव्य-कौशल निष्णात कहा जा सकता है। इनकी कविता सम्बन्धी मान्यता है—

बोलिये तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तो मुख मौन गहि चुप ह्वय रहिये।
जोरिये तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिये॥

ये शृंगार रस के प्रबल विरोधी थे। संत होते हुए भी इन्हें हास्य-रस से विशेष अनुराग था। इनकी बहुत-सी उक्तियों में हास्य, व्यंग्य एवं विनोद की सुन्दर सृष्टि हुई है। इन्होंने नारी की निन्दा भी भरपूर की है। काव्य-शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होने के कारण इनकी कविता में रस निरूपण तथा अलंकारों की सृष्टि विधिवत हुई है। कई आलोचकों ने इन्हें कवि के नाते सन्त सम्प्रदाय के कवियों में शीर्ष स्थान प्रदान किया है। किन्तु यह स्मरण रखना कि भावना का सहज एवं अकृत्रिम विकास जो अन्य निरक्षर सन्तों में हुआ है वह सुन्दरदास में नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी के विचार द्रष्टव्य हैं—"इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी कविता के बाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से कदाचित् निर्दोष हो सके थे, पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग जो इस जाति के संत की सबसे बड़ी विशेषता है कम हो गया।"

मलूकदास—सन्त मलूकदास का जन्म इलाहाबाद जिले के कड़ा गाँव में सं० १६३१ में हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दरलाल खत्री था जिनकी ककड़ की उपाधि थी। मुरार स्वामी नाम के महात्मा से इन्हें दीक्षा मिली थी। ये आजीवन गृहस्थी रहे और सं० १७३६ में इन्होंने कड़ा गाँव में प्राण छोड़े।

रचनाएँ—निम्नलिखित रचनाएँ इनसे सम्बद्ध बताई जाती हैं—(१) ज्ञान बोध, (२) रतन खान, (३) भक्त बच्छावली, (४) भक्त विरुदावली, (५) पुरुष विलास (६) दस रत्न ग्रन्थ (७) गुरु प्रताप, (८) अलख बानी (९) रामावतार लीला। पर इनमें कितनी प्रामाणिक रूप में मलूक द्वारा लिखित हैं, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इनके चुने हुए ग्रन्थों और साखियों का एक संग्रह मलूकदास जी के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

मन्तव्य—इन्होंने मलूक पंथ के नाम से एक पंथ चलाया। इनके विश्वासानुसार आत्म ज्ञान ही मुक्ति है। आत्म-समर्पण इनकी भक्ति का सार कहा जा सकता है। निम्नांकित दोहा जो आलसियों का एकमात्र मूल मन्त्र है, मलूकदास से सम्बद्ध बताया जाता है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करै न काम॥
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥

पर हमारे विचारानुसार यह दोहा मलूक पंथ प्रवर्तक से सम्बद्ध न होकर किसी और मलूक नाम के व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है।

काव्य समीक्षा—इनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी के शब्दों का प्राचुर्य है परन्तु फिर भी यह काफी सरल और सुव्यवस्थित है। इनके कई-कई पद तो अच्छे कवियों के पदों से टक्कर ले सकने वाले हैं। इनकी कविता का एक और नमूना द्रष्टव्य है—

माला फेरूँ न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पाया बिसराम॥

सन्त काव्य के साहित्य व असाहित्य का प्रश्न

"कागद मसी छूयो नहिं कलम गहि नहिं हाथ" कबीर की यह उक्ति सन्त काव्य के प्रणेताओं पर प्राय समान रूप से लागू होती है। ऐसी स्थिति मे एक सहज प्रश्न उठता है कि इनकी रचनाओं को साहित्य-कोटि मे रखा जाए अथवा नहीं ? यह नि सदिग्ध है कि सन्त काव्य के रचयिता समाज के उपेक्षित निम्न वर्ग मे उत्पन्न हुए थे। ये लोग साहित्य भाषा, व्याकरण, काव्यशास्त्र एव छन्द शास्त्र के अध्ययन से वंचित रहे, अतः इनके साहित्य मे यथोचित भाषा के परिस्कार और साहित्य सपदा का अभाव है। कवि कर्म से अनभिज्ञ इन सन्तो का काव्य विषयक तथा भाषा सम्बन्धी आदर्श सन्त दरिया साहब के निम्न कथन मे प्रतिबिंबित हो जाता है—

सकल कवित का अर्थ है, सकल बात की बात।
दरिया सुमरिन राम का, कर लीजै दिन रात॥

वस्तुत. सन्त कवि परमात्मा के स्मरण और भगवद्भक्ति के अलौकिक रस मे इतने अधिक लीन और तन्मय थे कि उन्हें लौकिक व अलौकिक रस की सुध नही थी। अत. इनके साहित्य में न तो शास्त्रीय विधि से रस का परिपाक है, न ही कोई साहित्यिक सौष्ठव और न ही सक्षम अर्थाभिव्यजन के लिए सायास भाषा सधान। उनका साध्य जन मन तक अपना सदेश पहुँचाना था न कि काव्योत्कर्ष की साधना। उनकी सधुक्कडी भाषा मे सरलता अवश्य है किन्तु उसमे राम या कृष्ण-काव्य जैसी परिपक्वता अथवा उदात्तता नही है। नि सन्देह सन्त कवियो ने भावो के स्पष्टीकरण के लिए प्रतीको, उपमाओ और रूपको की योजना अवश्य की है किन्तु केवल इसी आधार पर सच्चे अर्थों मे कवि के गौरवपूर्ण पद को शोभायमान नही कर सकते और न ही उन सब का साहित्य काव्य क्षेत्र में परिगणनीय है। इस साहित्य का सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से जो महत्त्व है, वह साहित्य की दृष्टि से नही है। सन्त मत के कुछ थोडे ही कवियो मे रहस्यात्मक उक्तियाँ प्रभाव-शाली प्रवाहमयी भाषा तथा गभीर अनुभूतियो का कलात्मक प्रकाशन विद्यमान हैं किन्तु अन्यत्र अनलकृत व अपरिमार्जित भाषा में जन सामान्य तक अनुभूतियो को पहुँचाने का प्रयास लक्षित होता है, अत इसे जन साहित्य कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। जन साहित्य की कुछ अपनी परिसीमायें हुआ करती हैं। स्पष्ट है कि उस की परिधि में परिनिष्ठित साहित्यिकता, परिष्कृत काव्य शास्त्रीयता तथा परिमार्जित भाषागत उदात्तता को नही बाँधा जा सकता। हाँ, सन्त साहित्य पारमार्थिक, अलौकिक तथा दार्शनिक अनुभूतियो के कारण अवश्य महत्त्वपूर्ण है। भले ही उसमे अपेक्षित साहित्य-रस न हो किन्तु उसमे दिव्य रस की आर्द्रता अवश्य है। वह अपने लौकिक

रूप में घर गृहस्थियों के लिए जितना आह्लादक है उतना ही वह मुमुक्षुजनो के लिए आनन्ददायक है।

भक्ति काल : सूफी प्रेम काव्य

साधारण परिचय— भारत के मध्य युग के इतिहास मे जहाँ निराकारवादी सन्तो ने सर्वसाधारण के लिए भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा की और ईश्वर को ज्ञानगम्य एव प्रेम प्राप्य कहकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच भेद-भाव की खाई पाटने का प्रयत्न किया, उसी समय सूफी फकीरों ने भी हिन्दू-मुसलमानों की एकता की दिशा मे स्तुत्य प्रयास किया और इस कार्य में उन्हें कबीरदास आदि की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। कारण, एक तो कबीर आदि का ज्ञान हृदय से सम्बद्ध न होकर मस्तिष्क से सम्बद्ध था, दूसरे कबीर आदि के खण्डनात्मक स्वर की कर्कशता से हिन्दू मुसलमानो दोनो को चिढ हुई, किन्तु इन सूफी फकीरो ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दू मुस्लिम हृदयो के अजनबीपन को मनोवैज्ञानिक ढग से दूर किया और साथ-साथ खण्डनात्मकता के स्थान पर दोनों सस्कृतियो का सुन्दर सामजस्य प्रस्तुत किया। निर्गुनिये सतों के मार्ग (ज्ञानाश्रयी शाखा) तथा सूफियो के प्रेम मार्ग (प्रेमाश्रयीशाखा) मे कोई पौर्वापर्य अथवा किसी प्रकार का जन्यजनक भाव, कारण-कार्य भाव नही है और न ही इन दोनों का उदय किसी पारस्परिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। दोनो के मूलोद्गम स्रोत भिन्न हैं, यह दूसरी बात है कि कुछ तत्व दोनों में समान रूप से मिलते है। सन्त मत का समस्त ताना-बाना भारतीय भूमि पर तैयार हुआ, जबकि सूफी मत का बहुत कुछ ढाँचा विदेशी भूमि पर तैयार हुआ। यह अलग बात है कि सूफी मत का पोषक तत्व भारतीय वेदान्तवाद है चाहे वह ईरान आदि की यात्रा करता हुआ अरब पहुँचा हो अथवा भारतीय दर्शन से प्रभावित नव अफलातूनी दर्शन के रूप में अरब को प्रभावित किया हो।

सूफी प्रेम काव्य कोमल हृदय की सुन्दर एव सरस अभिव्यक्ति है। मुसलमानी शासन भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था। प्रारम्भिक दिनो में शासक और शासित वर्ग में काफी तनातनी बढी, किंतु अब धीरे धीरे दोनों के हृदय एक-दूसरे के निकट आने लगे थे। यह सच है कि कुछ कट्टर पन्थी मुसलमान शासको ने अपने उद्दत स्वभाव के कारण हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार ढाये और तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करना चाहा, पर दूसरी ओर कुछ ऐसा भी मुस्लिम शासक वर्ग था जो हिंदुओ के प्रति अत्यन्त उदार था और उन्हें अपने पथ पर चलने की आज्ञा देकर गौरव का अनुभव करता। बाबर और शेरशाह सूरी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन शासको के समय के सहानुभूतिपूर्ण वातावरण ने सभी को उदार बना दिया था। इसी उदारता का साहित्यिक रूप सूफी कवियो की ये प्रेम कहानियाँ हैं। सबके प्रति सहिष्णुता, सब मे समन्वय और सब में सग्राहक बुद्धि का उदय इस

युग की विशेषता थी। प्रेम काव्य की रचना मे इसी भावना का आधार है और यह भावना जायसी के काव्य में पूर्णत अभिव्यक्त हुई है।

सूफी मत का उद्‌भव और विकास

व्युत्पत्ति—सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानो के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् "सूफ" को सफ शब्द से निकला हुआ मानते हैं। जिसका अर्थ है अग्रिम पंक्ति मे खडे होंगे, वे सूफी होंगे। कतिपय विद्वान् मदीना की मस्जिद के समक्ष सुफ्फा—चबूतरे पर बैठने वाले फकीरो को सूफी कहते हैं। तीसरा मत यह है कि सूफी शब्द सोफिया का रूपान्तर है जिनका अर्थ ज्ञान है, ज्ञान के कारण ही इन्हें सूफी कहते हैं। कुछ विद्वानो ने सूफी शब्द का सम्बन्ध सफा से जोडा है जिसका अर्थ पवित्र और शुद्धता है। उनके मतानुसार सूफी शब्द का अर्थ पवित्र और शुद्ध आचरण वाले व्यक्ति हैं। अन्य लोगो ने इन्हें सूफा (अरब की एक जाति विशेष) या सुफ्फाह् (भक्त विशेष) का एक रूपान्तर माना है। उपर्युक्त मत किसी-न-किसी अटकलपच्चू पर आधृत हैं, अतः किसी के आधार पर सूफी शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय नही किया जा सकता है। इनसे कही अधिक तर्कसगत अनुमान उन लोगो का है जिन्होने सूफी शब्द का सम्बन्ध सूफ (ऊन) से माना है। कहते हैं कि पहले सूफी लोग मोटे ऊनी कपडो को धारण किया करते थे, और यह सम्भवत. उन कतिपय ईसाई सन्तों के अनुकरण मे था, जो ससार को त्याग कर सन्यासियो जैसा जीवन व्यतीत करते थे। इनका आचरण सीधा-सादा और पवित्र था। ऐसे रहन-सहन के कारण पहले इनकी निन्दा भी हुई किन्तु इसकी परवाह न करते हुए इस पहरावे को इन्होंने एक विशिष्ट प्रकार का रूप दे दिया। सूफी शब्द मूलतः अरब और ईराक के उन व्यक्तियो को सूचित करता है, जो मोटे ऊनी वस्त्रो का चोगा पहनते थे। इनका विरक्तों और सन्यासियो जैसा साधनापूर्ण जीवन था और कदाचित् इसी कारण ये लोग मुस्लिमो की अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे।

उद्‌भव एव विकास—सूफी मत को इस्लाम धर्म का प्रधान अग स्वीकार किया जाता है, किन्तु इस दिशा में यह स्मरण रखना होगा कि सूफी मत इस्लाम धर्म की शरीयत (कर्म-काड) की प्रतिक्रिया का उसी प्रकार फल है जिस प्रकार हिन्दू धर्म-साधना मे वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया का फल वैष्णव मत है। अनेक सूफियो ने अपने आपको हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित धर्म से पृथक् माना है परन्तु फिर भी उन पर उक्त धर्म का प्रभाव यत्किंचित् मात्रा मे निश्चित रूप से देखा जा सकता है। वस्तुत. सूफी मत पर ये चार प्रभाव—इस्लाम की गुह्य विद्या, आर्यों का अद्वैत-वाद एव विशिष्टाद्वैतवाद, नव अफलातूनी मत एव विचार-स्वातन्त्र्य स्पष्ट है। सूफी मत जीवन का एक क्रियात्मक धर्म तथा नियम है। इसमें किसी प्रकार की कट्टरता नही है। सूफी लोग उदार तथा मुलायम प्रकृति के थे। सूफी मत के स्वरूप के विषय मे एक विद्वान् ने लिखा है "Tasawwuf" said Juuaya, "is this that God

should make thee die from thyself and should make the live in Him" ईश्वर द्वारा पुरुष मे व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वर की उद्बुद्धि का नाम तसव्वुफ है। यह एक प्रकार से रहस्यवाद है और आदर्शवाद से भिन्न है कि सूफीमत का आदम मे बीजवपन हुआ, नूह मे अकुर जमा, इब्राहीम मे कली खिली, मूसा मे विकास हुआ, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ। इस कथन की सत्यता को सूफी मत के क्रमिक विकास के सम्यक् बोध के लिए, ऐतिहासिक आलोक मे देख लेना आवश्यक है।

मुसलमानो के पतन के पश्चात् मसीह लोग सूफीमत को अपनी ओर खीचने लगे और वे प्रारम्भिक सूफी को यूहन्ना या मसीह का शिष्य कहने लगे। किन्तु इन दोनों मतों मे मौलिक अन्तर है। मसीह का मूलमन्त्र विराग है जबकि सूफीमत के मूल में प्रेम का निवास है, अत मसीह मत को सूफीमत का मूल नहीं कहा जा सकता है। मसीह मत मे प्रेम का प्रसार सूफीमत के ससर्ग का परिणाम है। यही कारण है कि मसीह मत के प्रेम मे सूफीमत की प्रेम भावना की अपेक्षा आध्यात्मिकता का अभाव है।

सूफीमत का आदि स्रोत हमे शामी जातियों की आदिम प्रवृत्तियों मे मिलता है। सूफीमत की आधार-शिला रति भाव था, जिसका पहले-पहले शामी जातियों ने बहुत समय तक विरोध किया। मूसा और मुहम्मद साहब ने सयत भोग का विधान किया। मूसा ने प्रवृत्ति मार्ग पर जोर देकर लौकिक प्रेम का समर्थन किया। सूफी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढी मानते हैं। सूफियो के इलहाम और हाल की दशा का मूल भी शामी जातियों में पाया जाता है। कुछ शामी रति-दान घृणा करने के कारण नबी सतान कहलाए। कभी-कभी वे देवता के वश मे होकर जो कुछ बोलते थे, वह इलहाम कहलाया और इनकी ऐसी दशा हाल। सूफियो ने परिपरस्ती और समाधि-पूजा भी शामियों से ली। शामियों मे मूर्तिचुम्बन की परिपाटी सूफियो में बोसे और वस्ल के रूप में प्रचलित हुई। सूफियों के प्रमुख तत्त्व प्रेम का स्रोत भी शामियो की गुह्य मण्डली थी, जिसमें निरन्तर सुरा-सेवन होता रहता था। कहीं हाल आ रहा था, कहीं करामात दिखाई जा रही थी। उस आधार पर कहा जा सकता है कि सूफियों के पूर्व पुरुष ये नबी ही हैं, जो सहजानन्द के उपासक थे और आत्मशुद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपायों का आश्रय लेकर प्रेम का राग अलापते थे। इन्हीं की भावना सूफी मत मे पल्लवित होकर पुष्पित हुई। यद्यपि यहोवा के आविर्भाव के कारण उक्त नबियों की प्रतिष्ठा क्षीण हो गई थी, फिर भी सूफीमत को उन्हीं का प्रसाद समझना चाहिए। पहले यहूद यहोवा के उपासकों की कट्टरता और सकीर्णता के कारण मादक भाव (हाल) को काफी क्षति पहुँची किन्तु बाद में यही भाव उनमें कव्वाली के रूप में मान्य हुआ। यहोवा ने रति-क्रिया से दूर रहने की काफी चेष्टा की कि यहोवा मन्दिरों में देव-दासों और देव-दासियों के रूप में प्रेम का यह स्रोत फूट पडा। हुगैम को यहोवा के इस प्रेम में अपने अली

के प्रेम का प्रमाण मिला । सूफियो के इश्क मजाजी और इश्क हकीकी मे यही भावना निहित है। सुलेमान के गीतो मे भी प्रेम की इसी दशा के दर्शन होते हैं। परमात्मा और आत्मा इन गीतों के दूल्हा और दुलहिन होते हैं। इन गीतो मे लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति है और यही पद्धति सूफियो के यहाँ मान्य हैं।

यसमियाह ने अह ब्रह्मास्मि की घोषणा करके अद्वैत की प्रतिष्ठा की। उसके गान में करुणा, वेदना और कामुकता का सम्मिश्रण है। सक्षेप मे वे अगत सूफी हैं।

मसीह के आविर्भाव से सामी जातियो मे विराग की प्रवृत्ति जागी, किन्तु धीरे-धीरे उसके उपासको मे प्रणय भावना प्रचारित होती गई। एक स्थान पर मसीह को दूल्हा तथा उनके भक्तो को दुलहिन कहा गया है। शायद इस पर यूनान की गुह्य टोलियो या अफलातून के प्रेम का प्रभाव पड़ा हो। जिनका मसीह पर विश्वास न जमा, उन्हें नास्तिक कहा गया। नास्तिक मत का प्रवर्तक साइमन नामक मत था। इस नास्तिक मत का प्रभाव सूफी मत पर पडा। इसी से सूफी आज पीरेमुगां का जाप करते हैं तथा उससे मधुपान की याचना करते हैं। मादन भाव नास्तिक मत का प्रधान अग था। सूफीमत का प्राचीन नाम भी नास्टिक मत मिलता है। नास्टिक *मत की बिखरी शक्तियो से मानी मत का विकास हुआ। सूफीमत के विकास मे* मानी मत का बडा योगदान है। मानी मत पर बुद्ध का प्रभाव पडा था। गुरु शिष्य परम्परा का विधान, मूर्तियो के खण्डन और जन्मान्तर-निरूपण के सम्बन्ध मे मानी मत ने जिस विचार-धारा को जन्म दिया वह, सूफी मत का दर्शन हो गया। सूफियों का स्वतन्त्र मत जिन्दी मानी मत का अवशेष है। मानी मत की परिणति तसव्वुफ हो गई।

मसीह के मत के यूनान मे पहुँचने पर उस पर अफलातून के दर्शन का प्रभाव पड़ा। फिर प्लेटिनस के द्वारा उस पर भारतीय दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। प्लेटिनस ने पृथ्वी से लेकर नक्षत्र मण्डल तक व्याप्त अलौकिक सत्ता के आलोक का वर्णन बड़े अनूठे ढग से किया है। सूफियों की अध्यात्म भावना इससे अत्यन्त प्रभावित है। सूफी मत में इस प्रभाव से जो आनन्द प्रस्फुटित हुआ, वह प्रजा और प्रेम का प्रसाद है।

सूफी मत के इतने विकास के उपरांत मुहम्मद साहब नबी के रूप मे प्रकट हुए। *उन्होंने कुरान को इलहाम कहकर इस्लाम धर्म का प्रवर्तन किया। उन्होने* ईमान और दीन की अपेक्षा इस्लाम पर अधिक बल दिया। यही कारण है कि उन्हें पूर्णरूपेण सूफी नहीं कहा जा सकता है। उनकी भक्ति मे प्रेम की भावना नही बल्कि *दास्य भावना है। प्रेम और सगीत के अतिरिक्त सूफियों के प्राय. सभी लक्षण* मुहम्मद साहब मे पाये जाते हैं। अत स्पष्ट है कि सूफी मत का पूर्ण विकास मुहम्मद साहब से पूर्व हो चुका था। किन्तु कालान्तर मे इस्लाम के सीमित क्षेत्र मे सूफी मत को भी प्रतिष्ठा मिली।

सूफीमत का भारत प्रवेश—यूनानियों के भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के माध्यम से मसीह मत भारतीय आध्यात्मिकता से प्रभावित हुआ और उसका प्रभाव सूफी मत पर पड़ा। भारत में सूफी मत का प्रचार प्रसिद्ध सूफी अल्हुज्विरी के आगमन काल से (१२ वीं शताब्दी) मे होता है। इसके अनन्तर विविध सम्प्रदायों के रूप मे सूफी मत का भारत मे प्रचार हुआ। 'आइने अकबरी' मे सूफियों के १४ सम्प्रदायों का उल्लेख है जिनमें प्रसिद्ध ये हैं—कादरी सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, नक्शबन्दी तथा चिश्ती सम्प्रदाय।

इन सबमे प्रसिद्ध चिश्तिया सम्प्रदाय हुआ। इस सम्प्रदाय की सातवीं पीढ़ी में ख्वाजा मुईनद्दीन हुए, जिन्होंने भारत मे सूफीमत का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय मे कुतुबुद्दीन, काकी, फरीदुद्दीन, शकर गज के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यह सम्प्रदाय आगे चलकर अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। काकी को सम्राट् अल्तमश को दीक्षित करने का गौरव प्राप्त हुआ। संगीत इनके प्रचार का प्रमुख साधन था। सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रचार कार्य भारत में बहाउद्दीन जाकरिया ने किया। यह सम्प्रदाय भी अनेक शाखाओं मे विभक्त हो गया। कादरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन बारहवीं शती में अब्दुल कादिर ने किया। इस सम्प्रदाय मे सैय्यद मुहम्मद गौस को इतनी ख्याति मिली कि सिकन्दर लोदी ने अपनी पुत्री की शादी उनसे कर दी थी। नक्शबन्दी सम्प्रदाय का प्रचार १७वी शताब्दी मे अहमद फारूकी ने किया। इस सम्प्रदाय की मान्यता हजरत मुहम्मद के समान थी। इनके सुधारों से सूफियों के संगीत-विधान, नृत्य एवं साष्टाग दण्डवत् आदि कार्य बन्द हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में सूफी मत का प्रचार ९ वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। १० वीं शताब्दी में इनका विशिष्ट प्रचार हुआ। १६ वी शती में मुगल साम्राज्य के साथ इस मत का भी ह्रास हो गया।

सूफी मत के सिद्धान्त

सूफियों मे अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं और उनमें आध्यात्मिक सिद्धान्तों के विषय में थोड़ा-बहुत अन्तर भी है। किन्तु फिर भी सभी सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। ईश्वर के साथ एकीकरण के लिए प्रेम पीर का उदय आवश्यक है। अहंभाव की समाप्ति ही साधना की सफलता की कुंजी है। आत्म-समर्पण से ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। मनुष्य में जब इच्छाएँ लुप्त हो जाती हैं तो वह ब्रह्म (अल्लाह) में मिल जाता है। यही अन-अलहक (अहं ब्रह्मास्मि) है। यही तसव्वुफ का चरमोत्कर्ष तथा सूफी दर्शन की पराकाष्ठा है। ईश्वर के साथ तादात्म्य का एकमात्र उपकरण प्रेम है।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि इस्लाम के उदय के पूर्व ही सूफी मत का विकास हो चुका था। किन्तु इस्लाम के उदय के अनन्तर यह मत उसमें बहुत कुछ घुल-मिल-सा गया है और साथ-साथ इस पर अन्य मतों के सिद्धान्तों का भी प्रभाव पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि सूफी मत के कितने ही सम्प्रदाय अपने-आपको

इस्लाम से अलग अलग बनाये रहे और यही कारण है कि सभी सूफी सम्प्रदायों का दर्शन पक्ष एक-जैसा नहीं है। निम्नांकित पंक्तियों मे इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जायगा—

१ ईश्वर—इसके सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों की विभिन्न मान्यतायें हैं। इजादिया सम्प्रदाय एकेश्वरवाद का समर्थक है। शुहूदिया सम्प्रदाय प्रतिबिम्बवाद या सर्वात्मवाद को मानता है। वुजूदिया सम्प्रदाय केवल ईश्वर को ही मानता है तथा ससार की समस्त वस्तुओं में उसकी झलक देखता है। ईश्वरसम्बन्धी सूफियों का यही प्रधान एव मान्य मत है। सूफी लोग किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। सूफी प्रत्येक धर्म के प्रति सहानुभूतिशील हैं, क्योंकि इन्हे प्रत्येक धर्म में प्रकारान्तर से ईश्वरीय सत्ता का आभास मिलता है।

२ ईश्वर और जगत का सम्बन्ध—कुछ लोग ईश्वर को जगत् से परे मानते हुए भी उसे जगत् में लीन स्वीकार करते हैं। दूसरे ईश्वर और जगत् को भिन्न भिन्न नहीं मानते बल्कि ईश्वर ही जगत् का रूप है ऐसा स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत कुछ एक ने ईश्वर और जगत् को भिन्न भिन्न मानकर एकेश्वरवाद का समर्थन किया है। अधिकांश सूफी लोग ईश्वर को न जगत् के बाहर समझते हैं, न जगत् में लीन। वह जगत् के बाहर भी है और अन्दर भी। वास्तव मे उसका रूप अकल्पनीय तथा अचिन्तनीय है। वह निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध स्वरूप तथा निरपेक्ष है। सूफियो के मतानुसार उस ईश्वर की प्रकृति मे—वनस्पति, पशु पक्षी, जीव-आदि में—अग प्रत्यग की छाया है। सूफी उसी सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मूल सौंदर्य के दर्शन करना चाहता है और उसी मे लीन हो अपने आपको हक समझने लगता है।

३ सृष्टि की उत्पत्ति—सूफियो के अनुसार ईश्वर ने अपने गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए सृष्टि रची है। जिली का कहना है कि अल्लाह चन्द्रकान्त मणि के रूप में था। सृष्टि की कामना से उसने अपने स्वच्छ स्वत्व पर दृष्टिपात किया और वह द्रवीभूत होकर पानी के रूप में हो गया, जिससे स्थूल द्रव्य फेन की भाँति ऊपर छा गया। उसी से सप्त पृथ्वी की रचना की गई। उसके सूक्ष्म तत्त्वों से सप्त लोक और फरिश्ते बने। अधिकांश सूफियों का यह विश्वास है कि ईश्वर ने सर्वप्रथम मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की। वह आलोक बीज में बदला। उसी से पृथ्वी जल, वायु और अग्नि की उत्पत्ति हुई, फिर आकाश और तारे बने। तत्पश्चात् सप्त भुवन, धातु, उद्‌भिज पदार्थ, जीव-जन्तु एव मानव की रचना हुई।

४ सृष्टि में मानव सर्वोपरि—मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और इसमें ईश्वर के रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। मानव शरीर मे जड अश भी है और आध्यात्मिक अश भी। नफस अर्थात् जड आत्मा मनुष्य को पाप की ओर ले जाती है और रूह आत्मा की ईश्वरीय शक्ति का दर्शन हृदय के स्वच्छ दर्पण में कराती है। वह प्रियतम के साथ मिलन कराती । नफस को मारना ही मानव का परम कर्तव्य है।

५ पूर्ण मानव की मान्यता—पूर्ण मानव ईश्वर की एकमात्र पूर्ण अभिव्यक्ति है। प्रत्येक मनुष्य में परिपूर्णता का बीज सुप्तावस्था मे रहता है और उसमें प्रस्फुटन की सम्भावना रहती है। मुहम्मद सर्वश्रेष्ठ पूर्ण मानव है, अत उनके ज्ञान का विशेष महत्त्व है। सूफी साधुओं को भी पूर्ण मानव माना जाता है और उन्हें वली या पीर कहा जाता है। ईश्वरीय साक्षात्कार के लिए सूफी मत में पीर या सद्गुरु की अपार मान्यता है। सूफियों ने फना और बका को भी माना है। फना मानवीय गुणों का नाश है और बका ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति है।

६ साधना सोपान—सूफी मत में साधना के सप्त सोपान माने गये हैं। ये सप्त सोपान हैं—अनुताप, आत्म-सयम, वैराग्य, दारिद्र्य, धैर्य, विश्वास, सन्तोष और प्रेम। इनमें प्रेम की बडी महत्ता है। प्रेम के अभाव मे साधना मे सिद्धि नितान्त असम्भव है। सप्त सोपानों को सिद्धि के साधक में अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है। ईश्वर को सत्तर हजार पर्दों के पीछे माना गया है। इन सोपानों से मानव अन्धकार के पर्दों को छिन्न-भिन्न करता हुआ प्रकाशमय पर्दों की ओर जाता है। इस साधना से मानवीय गुणों का ह्रास और ईश्वरीय गुणों का आविर्भाव होता है।

इन सप्त सोपानों के अतिरिक्त सूफी मत में चार उच्चतर सोपान भी स्वीकार किये गए हैं, जिन्हें मुकामात भी कहा गया है। पहला मुकाम मारफत है, जहाँ मानव हृदय ईश्वर की उपलब्धि अनुभूति के द्वारा करता है। दूसरा मुकाम वह है, जहाँ प्रेम का उदय होता है। वह प्रेम उन्माद का रूप धारण कर लेता है, जिसे समाधि कहते हैं। आगे चलकर इसी समाधि की दशा मे वस्ल का अवसर प्राप्त होता है और यही दशा आत्मा परमात्मा के अभेद की सूचक है।

७ हाल की चार अवस्थाएँ—हाल की दशा में साधक अपनी ओर से निरपेक्ष होकर अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देता है। साधक की प्रथम अवस्था नासूत कहलाती है, जिसमें वह शरीअत का अनुसरण करता है। दूसरी दशा मलकूत है जिसमें साधक तरीकत या उपासना में प्रवृत्त होता है। तीसरी दशा जबरूत है, जहाँ वह आरिफ बन जाता है। चौथी अवस्था लाहूत है, जहाँ पहुँचकर इसे हकीकत (परम तत्त्व) की उपलब्धि हो जाती है।

८. शैतान—सूफी मत में शैतान की सत्ता स्वीकार की गई है, जो शकर की माया के समान है। शैतान साधक के मार्ग में व्याघात उपस्थित करता है। सूफियों में शैतान को हेय न मानकर उसे श्रेयस्कर माना है, क्योंकि इससे साधक की सच्ची परीक्षा होती है। शैतान के द्वारा साधना में और परिपक्वता आती है।

९ पीर की महत्ता—सूफी मत में गुरु की बडी मान्यता है। पीर या गुरु साधक को शैतान के शिकंजे से मुक्त करके उसे सिद्धि की ओर अग्रसर करता है। इनके यहाँ गुरु का अधानुकरण भी श्रेयस्कर समझा जाता है। पीर और औलिया की उपासना भी इनमें प्रचलित है।

में कोई सहायता नही मिलती। कभी-कभी तो कोरा वस्तु परिगणन कर दिया गया है, जिससे एक तो नीरसता आ गई है और दूसरे कथा के प्रवाह मे व्याघात भी उपस्थित हुआ है। नगरो का वर्णन करते हुए वहाँ के सरोवरो, वाटिका, महल, चित्रशाला और घाटो का वर्णन बहुत विस्तार से कर दिया गया है। रूप-सौन्दर्य और स्वभावगत विशेषताओ का परिचय देते हुए भी इन्होने काव्य रूढियो का अधिक प्रयोग किया है, वस्तु की यथार्थ स्थिति को कम प्रस्तुत किया है। कुछ कवियो ने अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शनार्थ विभिन्न रागो और रोगो तक का विवरण प्रस्तुत कर दिया है, जोकि प्रसंगानुसार अनावश्यक प्रतीत होता है।

(ग) इन काव्यो की क्रम-योजना प्राय. समान ही है। सर्व-प्रथम मगलाचरण में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन, तत्पश्चात् हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियो की प्रशसा कर दी जाती है। इनके अनन्तर शाहे वक्त का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, अपना तथा पीर का परिचय और कभी-कभी अपने सम्प्रदाय का उल्लेख रचना निर्माण काल आदि के द्वारा रचना का प्रथम अश समाप्त कर दिया जाता है। कथा के सूत्रपात मे नायक या नायिका के देश, कुल, आचार आदि का उल्लेख रागोत्पत्ति के लिए कर दिया जाता है। नायक और नायिका के देश दूरवर्ती होते हैं। नायक नायिका की प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग कर आँधी-तूफानों का सामना करते हुए घर से चल निकलता है। इस प्रकार नायक मे एक अपूर्व क्रियाशीलता आ गई है। कथा मे गति लाने के लिए इन्होंने भारतीय काव्यो मे व्यवहृत काव्य-रूढियों का उपयोग किया है। जैसे—चित्र-दर्शन स्वप्न द्वारा अथवा शुक सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुन कर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियो की बातचीत से भावी घटना का सकेत पाना, मन्दिर, चित्रशाला उपवन अथवा किसी अन्य गुप्त स्थान पर प्रेमी युगल का मिलना, इत्यादि। कभी-कभी इन्होंने ईरानी काव्य की रूढ़ियों का भी व्यवहार किया है, जैसे प्रेम व्यापार मे देवों और परियों का सहयोग, उडने वाली राजकुमारियों द्वारा राजकुमारियो के प्रेमी को गिरफ्तार करवा लेना आदि-आदि। प्रेमी युगल मे प्रेमाशक्ति के भाव जागृत होने के पश्चात् विविध प्रयास प्रारम्भ होते हैं। उन्हें कडी से कडी परीक्षा में डाला जाता है। नायक और अन्य सुन्दरियो के प्रलोभन द्वारा आकर्षण तथा मोहपाश मे डाला जाता है किन्तु वह सफल उतरता है। नायिका का विरह-दशा की अधीरता को कम करने के लिए पक्षी आदि साधनो की कल्पना कर ली गई है। सूफी विरह दशा का विस्तृत वर्णन करते समय प्रेमतत्त्व का निरूपण भी करते चलते हैं। कथा के बीच-बीच में प्रतिनायक और प्रतिनायिकाओ की भी सृष्टि कर ली गई है। प्रेम और प्रेमिका का मिलन हो जाता है, पर वह स्थायी रूप ग्रहण नहीं कर पाता जैसे पद्मावती और रत्नसेन का मिलन। पद्मावत, मृगावती, इन्द्रावती और हस जवाहर आदि प्रेम कथाओं के नायक अन्त में किसी न किसी कारणवश मर जाते और नायिकाएँ सती होकर या वैसे ही जीवन दे देती हैं। इस प्रकार कथा का अन्त दुःखमय हो जाता है।

कुछ प्रेम कथानक सुखान्त भी हैं।

(२) भाव-व्यंजना—सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने अत्यधिक महत्त्व दिया है। यही कारण है कि उन्होंने जितना ध्यान प्रेमी और प्रेमिकाओं के वियोग उसकी अवधि में भले जाने वाले कष्टों तथा अन्त करने के लिए किए गये विविध प्रयत्नों का वर्णन करने मे दिया है, उतना उनके अन्तिम मिलन पर नही। सच यह है कि प्रेम का असली रूप विरह मे ही निखरता है, मिलन में नहीं। विरह मे क्रियाशीलता बनी रहती है जबकि मिलन मे जड़ता आ जाती है। विरह अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होने बारहमासे के वर्णन को भी बहुत महत्त्व दिया है और इस सम्बन्ध मे भारतीय पद्धति का ही व्यवहार किया है। किन्तु कहीं कहीं फारसी साहित्य की प्रचलित रूढियो से भी प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। उस समय इनके वर्णन अत्यरंजित हो गये हैं। उन प्रसगों मे इनके द्वारा वर्णित रक्त के आँसुओं की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वे बीभत्स एव अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं। इन सूफियों मे से ऐसे बहुत कम कवि होंगे, जिन्होंने विरह-वर्णन के समय उचित अनुपात एव मर्यादा का ध्यान रखा हो।

सयोग-अवस्था का वर्णन कभी-कभी अश्लीलता की कोटि का स्पर्श करने लगता है। मिलनपरक आनन्दानुभूति का ये कोई उत्कृष्ट परिचय नही दे सके हैं। इन कवियो ने सयोग अवस्था को या तो भोग विलास के लिए उपयुक्त वातावरण मान लिया है या कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ भी कर डाला है। इन कवियों में से उन लोगो ने, जिन्होंने यथार्थ जीवन को खुली आँख से देखा था, काव्यों मे प्रेम भावना के अतिरिक्त प्रसगवश, उत्साह, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, कपट, दया, सहृदयता और सौजन्य-परक भावो की भी व्यजना सुन्दर रूप मे हुई है।

प्राय सूफी कवियो ने प्रेम तत्त्व की व्याख्या करते हुए सौन्दर्य के स्वरूप एव प्रभाव पर बहुत कुछ कह डाला है। किसी किसी कवि ने इस प्रसग मे अपने सम्प्रदायिक सिद्धांतो का भी उल्लेख कर दिया है।

(३) चरित्र-चित्रण—इन प्रेम काव्यों में नायक और नायिकाओं के जीवन के उतने अशों को ग्रहण किया गया है, जिनसे प्रेम के विविध प्रसगों और व्यापारों की अभिव्यक्ति सभव थी। प्रबन्ध-काव्योचित जीवन के विविध दृश्य इन काव्यो मे नहीं हैं। इन काव्यों की नायिकाएँ ह्रासोन्मुख सस्कृत साहित्य की नायिकाओं के समान एक ही साँचे मे ढली हुई हैं। उनमे जीवन के विविध घात-प्रतिघातो का अभाव है। नायक का स्वरूप भी प्राय पूर्व से निश्चित सा दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने कहीं-कहीं काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि कर ली है। कई ऐतिहासिक पात्र भी इन काव्यों मे सूफियो के उद्देश्यानुसार कुछ भिन्न रग पकड लेते हैं। काल्पनिक पात्र, जो देवताओं और नदियों में से हैं, उनका रूप इतना अतिरंजित, रूढिबद्ध और अलौकिक बन गया है कि वह नितान्त अप्राकृतिक लगता है। सस्कृत साहित्य के समान इनके नायक सामन्ती वातावरण से सम्बद्ध हैं। वे राजकुमार होने के नाते

पराक्रमशील भी हैं, किन्तु उनका यह पक्ष गौण है। वे सभी साधक के नाते प्रेम के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर बढ़ने वाले हैं। अन्य पात्रों में भी इन कवियों ने जीवन की विविधता को प्रदर्शित नहीं किया। उन प्रेम काव्यों का अथ और इति प्रेम है और सभी पात्र उसकी साधना एवं सिद्धि में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में रत हैं। इन प्रेमाख्यानों में जो पात्र चीन, बलख, रूस जैसे देशों के निवासी कहे गये हैं, उनका भी चित्रण अधिकतर उसी रूप में हुआ जैसा कि किसी भारतीय का हो सकता है। ऐतिहासिक पात्रों— राघव चेत आदि में कल्पना का अत्यन्त गहरा रंग चढ़ा दिया गया है।

(४) लोक पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति—प्रेम पथिक इन सूफियों का प्रेम सन्तों के प्रेम से कुछ भिन्न है। कबीर आदि सन्तों के प्रेम में वैयक्तिकता अधिक है जब कि उनके प्रेम के परिवेश में वैयक्तिकता के साथ-साथ समष्टिगतता तथा और भी बहुत कुछ है। यही कारण है कि इनके प्रेम काव्यों में लोक जीवन का भी चित्रण है, जैसे—सर्वसाधारण का अन्ध विश्वास, मनौतियाँ, यंत्र तंत्र प्रयोग, जादू-टोना, शकुनों की बातें, विभिन्न लोकोत्सव, लोकव्यवहार, तीर्थ, व्रत, सांस्कृतिक वातावरण, बड़ी सफलता से अंकित किये गए हैं। इनके द्वारा व्यवहृत प्रचलित कथा रूढ़ियाँ तत्कालीन जीवन के समझने के लिये और भी सहायक सिद्ध होती हैं।

इन प्रेम-काव्यों के रचयिताओं ने हिन्दू घरानों की प्रेम कहानियाँ लेकर उनका तदनुरूप वर्णन किया है। उस युग में सांस्कृतिक समन्वय और संग्राहकता की भावनाएँ जागृत हो चुकी थीं। इन सूफियों को हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का सामान्य परिचय था। इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन सहन और आचार विचार का सुन्दर वर्णन किया है। हिन्दू पात्रों में हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई। षट् ऋतुओं और बारहमासा का वर्णन भारतीय पद्धति पर है। पद्मावत में रत्नसेन के गृह त्याग पर माता पिता का रोना, पद्मावती का रस रंग, विदा, समागम, यात्रा, युद्ध, सपत्नी कलह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल, सतीत्व, अभिसार, पासा खेलना, बहु-विवाह वर्णन, योग की नौ परियों का वर्णन, इन सब बातों से प्रतीत होता है कि उन्हें हिंदू जीवन का परिचय था। उनका नख-शिख का वर्णन काम शास्त्र से प्रभावित है। प्रसंगानुसार इन्होंने भारतीय ज्योतिष, रसायन शास्त्र तथा आयुर्वेद के ज्ञान का भी परिचय दिया है। इन्हें पुराणों का भी थोड़ा-बहुत परिचय था। जायसी ने सैरन्ध्री गांगेय, पारथ, कुबेर आदि का उल्लेख किया है। पर इनको यह जानकारी को, पक्की न थी। जायसी ने अलकापुरी को कुबेर की नगरी बताया है। नारद को शैतान के रूप में बताया है। सरग को आसमान कहा है। रत्नसेन की उपमा रावण से दी है और चन्द्रमा का स्त्री रूप में वर्णन किया है।

(५) शैतान—सूफी प्रेम काव्यों में शैतान को माया के समान साधक को प्रेम के साधना-मार्ग से भ्रष्ट करने वाला माना गया है। एक साधक पीर गुरु की कृपा से शैतान के पंजे से मुक्त हो सकता है। पद्मावत काव्य में राघवचेतन शैतान के

रूप मे चित्रित है। सन्त कवियो ने माया को हेय सिद्ध किया है, किन्तु सूफियो ने शैतान को त्यागने योग्य नहीं माना है क्योंकि शैतान के द्वारा उपस्थित व्यवधानो से साधक की अग्नि परीक्षा होती है और उसके प्रेम मे दृढ़ता तथा उज्ज्वलता आती है।

(६) समन्वयात्मकता—वैसे तो निराकारवादी सन्तो ने भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा से हिन्दू-मुस्लिम जातियों मे धार्मिक एकता का श्रीगणेश कर दिया था किन्तु उन्हें अपने उद्देश्य में यथेष्ट सफलता न मिली। कारण उनके स्वर मे खंडना त्मकता की चुभने वाली कर्कशता थी, जिससे हिन्दू-मुसलमान दोनो चिढ़े, किन्तु इन मुलायम स्वभाव के सूफियो ने किसी सम्प्रदाय विशेष का खंडन नहीं किया बल्कि दोनों जातियों के एकता के उद्देश्य में इन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। कारण, इनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक थी। आचार्य शुक्ल इस विषय मे लिखते हैं— प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानो दोनो को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यो को हटाकर पीछे कर दिया।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

(७) नारी चित्रण—सूफी काव्यों की यह बड़ी विशेषता है कि उनमें प्रेम का प्रमुख स्थान नारी पात्र को ठहराया गया है। वह परमात्मा का प्रतीक है। नारी एक वह नूर है जिसके बिना विश्व सूना है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—"सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु-मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन सामग्री भी नहीं कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है, प्रेमाख्यानों में नायक और नायिका का विवाह सम्बन्ध अवश्य दिखा दिया जाता है, वह इसलिए क्योंकि पात्र अधिकतर हिन्दू होते हैं और विवाह ही उनके संयोग एवं मिलन का एक-मात्र वैध उपाय ठहरता है। प्रायः इन काव्यों में स्वकीया का चित्रण है, हाँ कहीं-कहीं पर परकीया का भी चित्रण है।

(८) प्रेम कहानियों की मूल प्रेरणा हिन्दी के कतिपय विद्वानों का विचार है कि इन सूफी *कवियों का हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों की व्याज से प्रच्छन्न रूप* में इस्लाम का प्रचार करना अभीष्ट था, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इस सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी के विचार द्रष्टव्य हैं—'इन कवियों ने अपनी रचनाओं में इसकी ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम विकास अथवा अन्त तक भी कोई ऐसा प्रसग छेड़ा, जिससे उनका कोई

साम्प्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहाँ तक घटनाओं की क्रम योजना का प्रश्न है, उसे इस प्रकार निभाया गया है, जिससे सूफी प्रेम साधना का भी मेल बैठ जाए। परन्तु फिर भी ऐसी बातें अधिक से अधिक केवल दृष्टान्तों के ही रूप मे पाई जाती हैं जिस कारण उनमे साम्प्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नही है। इसके सिवाय इन प्रेमाख्यानो के नायक-नायिका, उनके दैनिक व्यापार, वातावरण तथा उनके सिद्धात व संस्कृति मे कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता और न कहीं पर यह चेष्टा की जाती है कि कथा-प्रवाह के किसी अश मे किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के महापुरुषों द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाए। इनमे प्रसगतः यदि कोई हिन्दू जोगी व तपी आता है तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और दोनो लगभग एक उद्देश्य से काम करते पाये जाते हैं।" मुसलमान होने के नाते संस्कारवश प्रसंगानुकूल इस्लाम की चर्चा स्वाभाविक जान पड़ती है। जैनियों के प्रेम काव्यो मे भी ऐसा ही हुआ है। सूफियो ने किसी साम्प्रदायिक आग्रह के कारण ऐसा किया हो, इस प्रकार की किसी भी भावना का आभास नहीं होता है।

६. रस— इन प्रेमाख्यानो मे प्रधानत: शृगार रस की व्यजना हुई है। सर्वप्रथम नायक नायिकाओ से आकर्षित होते हैं। उनकी प्राप्ति के लिए विरह-वेदना तथा नाना अन्य सकटो को झेलना पड़ता है। पूर्व राग को जागृत करने के लिए गुण-श्रवण, प्रत्यक्ष दर्शन तथा चित्र दर्शनादि उपायों का आश्रय लिया गया है। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सूफियो ने सखा-सखी, वन, उपवन, ऋतु परिवर्तन तथा भारतीय साहित्य मे वर्णित अन्य उपकरणो का उल्लेख किया है। प्रासगिक रूप से इन्होने अनेक अनुभवो का भी दिग्दर्शन करा दिया है। सयोग शृगार के वर्णन में इन्होने इतनी रुचि नही दिखाई, जितनी कि विप्रलम्भ शृगार के वर्णन मे, और न ही इन्होने नायक एव नायिकाओ के भेदो की उद्धरणी प्रस्तुती की है। इनके शृगार-वर्णन मे काम-शास्त्र का भी प्रभाव है।

शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसो का इन्होंने कम वर्णन किया है। वीर रस का वर्णन उन स्थलो पर हुआ है, जहाँ नायक ने आततायियो के दमन के लिए साहसिक कार्य किया है। पद्मावत में अलाउद्दीन के प्रस्ताव पर रत्नसेन द्वारा प्रकट किए गए रोष तथा गोरा बादल युद्ध के प्रसगों मे वीर रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इन रचनाओ में कुछ प्रसग ऐसे भी मिल जाते हैं, जहाँ पर करुण, शात एव बीभत्स जैसे रसो की किंचित् अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु इन कवियो ने शृंगारेतर रसो के परिपाक की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। हाँ इस दिशा मे जायसी और नूर मुहम्मद अपवाद कहे जा सकते हैं।

१० प्रतीक विधान—सूफी कवियों का उद्देश्य लौकिक प्रेम कहानियो द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना करते हुए अव्यक्त सत्ता का आभास देना था। इस रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए सांकेतिक विधान या प्रतीकों का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी रचनाओ में प्रयुक्त कतिपय

शब्दो को सांकेतिक रूप दे दिया है। जहाँ ऐसा नही किया गया वहाँ उस रचना के अन्त मे कथा के वास्तविक रहस्य को समझा दिया गया है। जायसी के पद्मावत मे "तन चितउर मन राउर कीन्हा' जैसी पंक्तियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हुई दीख पड़ती हैं। उसमान ने अपनी चित्रावली मे नायक-नायिका तथा वस्तुओं और स्थलों के नाम तक सांकेतिक दिए हैं, जैसे—उनके कथा के नायक का नाम सुजान है। नायिका के निवास स्थान का नाम रूपनगर है। स्थलो एव पहाडो के नाम कवि ने क्रमश सोगपुर, गोरखपुर और नेहनगर दिए हैं। कासिमशाह की रचना हस जवाहर मे नायक का नाम हस है जो कि जीवात्मा का बोधक है। कही-कही पर इन्होंने प्रकृति के माध्यम से भी अव्यक्त सत्ता की सर्वव्यापकता का सकेत किया है, जैसे पद्मावत मे "रवि ससि नखत दिपत ओहि जोती।" शुक्ल जी का कहना है कि भावात्मक रहस्यवाद की जैसी दृष्टि इनमे हुई है, वैसी कबीर आदि सतो में नहीं हुई।

११. विविध प्रभाव—हम पहले ही लिख चुके हैं कि सूफी मत पर चार प्रभाव विशिष्ट रूप से पडे हैं—आर्यों का अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद, इस्लाम की गुह्य विद्या, नव अफलातूनी मत तथा विचार स्वातन्त्र्य। इन पर भारतीय प्रभाव तो स्पष्ट ही है। सूफियो ने वैष्णवो की अहिंसा को क्रियात्मक रूप से अपनाया है। उपनिषदों के प्रतिबिम्बवाद के अनुसार नाना रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जायसी ने अनेक स्थलो पर जैसे 'नयन जो देखा कमल भा······" में प्रतिबिम्बवाद के साथ ही विचारसाम्य दिखाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भारतीय पच महाभूतो मे आकाश को छोडकर अन्य चार स्वीकार किए हैं। हठयोग का प्रभाव इन पर स्पष्ट ही है। इन्होने अनेक स्थलो पर यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। यौगिक के समान इन्होंने सिद्धपीठ भी माना है। इनके शृगार का नख सिख वर्णन कामशास्त्र से प्रभावित है। कुछ विद्वानो का यह विश्वास है कि भारतीय सूफी कवियों की प्रणय भावना पर फारसी साहित्य का अत्यधिक प्रभाव है, किन्तु यह विचार समीचीन नही है। सूफियो की प्रणय-भावना भारतीय शृगार रस की परम्परा में आती है। हमारा यह दृढ विश्वास है कि कम से कम उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानो की प्रणय भावना पर फारसी का प्रभाव नगण्य सा है। फारसी प्रेम-पद्धति का प्रभाव यदि कही पडा है तो वह दक्षिणी-भारत के हिन्दी प्रेमाख्यानों पर है और वह भी वजही और परवर्ती लेखकों पर है।

१२. काव्य प्रकार—सूफियो की प्रेममूलक रचनाएँ साहित्य शास्त्र के अनुसार महाकाव्य की कोटि मे आती हैं, किन्तु इनमे भारतीय महाकाव्यों जैसी सर्गबद्धता नहीं, बल्कि कुछ शीर्षकों का प्रयोग किया गया है और न ही इनमे नायक के उच्च कुल का ध्यान रखा गया है क्योंकि यहाँ कवि का उद्देश्य किसी महान् चरित्र की अवतारणा न होकर प्रेम तत्त्व का प्रतिपादन है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने इनकी शैली को मसनवी कहा है। मसनवी पद्धति के आधार पर कथा आरम्भ के

पूर्व ईश्वरवदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा तथा आत्म-परिचय आदि दिया जाता है। इस विषय मे एक बात स्मरण रखनी होगी कि इन कवियो ने अपनी कथाओ पर भारतीय रग चढ़ाने के लिए भरसक प्रयत्न किया है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो में—"जहाँ तक इन कवियो द्वारा अपनी रचनाओं का आरम्भ करते समय मगलाचरण जैसे प्रसगो के लाने का प्रश्न है, हम यहाँ पर भी इन्हें केवल मसनवी के रचयिताओ का ही अनुकरण करते नही पाते, क्योकि इसका भी एक रूप हमें जैन चरित्र-काव्यो मे दीख पडता है। यहाँ पर हमे पैगम्बरों व नबियो की स्तुति की जगह तीर्थंकरो की वदना मिलती है, शाहे वक्त की प्रशसा की जगह आश्रयदाता के लिए कहे गये देश-भक्ति सूचक शब्द दीख पडते हैं तथा प्राय एक ही प्रकार से बतलाये गये वे आत्म-परिचय उपलब्ध होते हैं, जिनमें अपनी विनम्रता सूचित की गई रहती है।" आगे चलकर वे सूफियो के काव्य प्रकारो को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है, जिसमे किसी प्रबन्ध काव्य के प्राय सभी तत्त्व वर्तमान हैं, किन्तु जिसमें इसके साथ ही, कथा आख्यायिका, जैन चरित काव्य एव मसनवी की भी विशेषताओ का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बडी विशेषता है।"

इन रचनाओ मे प्रबन्ध शैली के अतिरिक्त मुक्तक शैली का भी प्रयोग किया गया है। मुक्तक शैली में दोहा, चौपाई, झूलना तथा कुण्डलियाँ आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है। प्रबन्ध काव्य मे दोहा-चौपाई शैली को अपनाकर जायसी कदाचित् इस दिशा मे महाकवि तुलसी के पथ प्रदर्शक बने हैं।

हिन्दी सूफी साहित्य मे यद्यपि गद्यसाहित्य का अभाव है तथा जायसी का अखरावट, हाफ़ी वली का प्रेमनामा, वजहन का मलिफनामा और किसी कवि का अल्लानामा आदि ग्रन्थ फारसी के निबन्ध साहित्य के आधार पर लिखे गये प्रतीत होते हैं, जिनमे सूफी सिद्धातो का सुन्दर विवेचन किया गया है, इनको हम पद्यबद्ध निबन्ध कह सकते हैं।

१३. *भाषा—सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा प्राय सर्वत्र अवधी है। उसमान* और नसीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मुहम्मद ने कही कहीं व्रज भाषा का भी प्रयोग किया है। इन कवियो ने अवधी भाषा मे तद्भव शब्दो का बहुत प्रयोग किया है। सूफी कवियो ने अवधी भाषा के मुहावरो तथा लोकोक्तियो का भी अच्छा प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि जायसी की लोक प्रचलित अवधी भाषा में जो स्वाभाविकता है, वह तुलसी की साहित्यिक अवधी मे नही।

१४. छन्द—सूफियो ने अपने प्रेमाख्यानो में अपभ्रंश के चरित काव्यो के समान दोहा-चौपाई शैली को अपनाया है। कितनी अर्द्धालियो के बाद घत्ता देने के लिये दोहा या अरिल्ल आदि छंद का प्रयोग किया जाये, इस सम्बन्ध मे किसी एक नियम का पालन नही किया गया। दोहा, चौपाइयों अथवा द्विपदिका के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानो में सोरठे, सवैये, प्लवगम और बरवै जैसे छदो का प्रयोग भी

कभी-कभी कर लिया है। कहीं-कहीं पर फारसी की बहारों का भी प्रयोग कर लिया गया है।

१५ अलंकार—इस दिशा में इन्होंने बहुधा प्रचलित परम्परा का अनुसरण किया है। फारसी साहित्य से बहुत कुछ प्रभावित रहने पर भी इन्होंने भारतीय क्षेत्र से उपमानादि का ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध मे परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—'किसी रमणी के विरह पीडित शरीर को नितात रूप से गला व जला हुआ बतलाना अथवा उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशसा करते समय उसके गले से उतरती पीक को बाहर से स्पष्ट झलकती हुई कह डालना फारसी साहित्य की वर्णन शैली का स्मरण अवश्य दिला देता है, किन्तु ऐसे कथन भी यहाँ प्राय उपयुक्त स्थलो पर ही पाये जाते हैं और वे उतने हास्यास्पद भी नहीं बन जाते।' सूफियो ने समासोक्ति का प्रयोग बहुत सुन्दर किया है। सूफी कवियो मे समासोक्ति के सबसे अधिक सफल प्रयोक्ता जायसी हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि अलकारो का भी इन्होंने सम्यक् प्रयोग किया है।

सूफी रचनाओ मे जहाँ एक ओर लोकरंजन है, वहाँ उनमे लोक-मगल का भी विधान है। जहाँ इन रचनाओ द्वारा, धर्म, सम्प्रदाय और वर्गगत भेदभावों को हटाने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ प्रेम के सार्वभौम स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है। सूफी प्रेमाख्यानो का सदेश एव सार है—

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाडि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि॥

१६ मध्ययुगीन प्रेम काव्यो की समान परम्परा—मध्य युग मे प्रणीत सूफी एव असूफी प्रेम कथाओ मे प्रवृत्तियाँ समान रूप से विद्यमान हैं। इन प्रेमगाथाओ मे विस्मय, दैवी और अलौकिक तत्व समान रूप से मिलते हैं। रोमास प्रधान होने के कारण इन सबमे साहसिकता और शौर्य का भी सम्मिश्रण है। सभी प्रेम कहानियो में भारतीय वातावरण बना रहा है। चाहे इसका कथानक भारत से लिया गया अथवा विदेश से। सभी में भारतीय शृगार की परम्पराओ का पालन है। सबमें समान रूप से कथानक रूढियो का प्रचलन रहा है। ऐतिहासिक और काल्पनिक प्रेम कथाओ की अपेक्षा लोकगाथाओ पर आधृत प्रेमकथाओं मे लोकतत्व की मात्रा अधिक है।

संत एव सूफी काव्यों की प्रवृत्तियों की तुलना

सत तथा सूफी मतो का उदय हिन्दू मुसलमानों में एकता की प्रतिष्ठा के लिए हुआ। सन्तों ने उसे धार्मिक अभिन्नता के प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न करना चाहा ज्बकि सूफियों ने दोनों जातियों की सास्कृतिक एकता द्वारा उसे पूरा किया। सभवत इस दिशा मे सूफियों को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। सन्त एव सूफी मतो मे कोई पौर्वापर्य या जन्य जनक भाव नहीं है। सूफी धर्म का प्रवेश भारत मे ईसा की

बारहवी शताब्दी मे हुआ । ईरान और अरब देशो के उपकरणो को लेता हुआ भी यह मत भारतीय वातावरण, धर्म, सस्कृति और साहित्य से प्रभावित हुआ । इन प्रभावो का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं । इधर सन्त मत का प्रादुर्भाव भक्ति-*आन्दोलन की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ । यह मत भारत भूमि मे जन्मा और पला, अत* इसके प्राय सभी उपकरण भारतीय ही थे । कुछ विद्वानो ने सन्त मत को इस्लाम का विशुद्ध भारतीय सस्करण माना है, परन्तु यह एक बडी भारी भ्रान्ति है । सन्त मत पर आशिक रूप से इस्लाम का प्रभाव तो पडा और ऐसा होना स्वाभाविक भी था । उस युग मे शनै शनै सद्‌भाव बुद्धि हिन्दू और मुसलमानो मे उत्पन्न हो चुकी थी और प्रत्येक क्षेत्र मे पारस्परिक आदान प्रदान भी आरम्भ हो गया था । नि सदेह कुछ मुस्लिम शासक अत्यन्त कट्टर और कठोर थे, परन्तु कुछ शासक ऐसे भी थे जो कि सहिष्णु और उदार थे । बाबर, शेरशाह और अकबर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

दारा शिकोह जैसे मुसलमान बादशाह ने उपनिषद ज्ञान प्राप्त किया था । सूफी फकीर तबियत के अत्यन्त मुलायम थे । इन्होने समस्त विश्व मे प्रेम की सर्वव्यापकता देखी और भारतीय दर्शन के प्रति विशेष रुचि तथा आस्था दिखाई । इस प्रकार राजाओ से लेकर दरवेशो तक ने भारतीय दर्शन के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित की । स त और सूफी मत दोनो ही एक उद्देश्य को लेकर चले, दोनो एक ही वातावरण मे पनप कर समान स्रोत से प्रेरणा ले रहे थे, अत दोनो मे बहुत कुछ साम्य आ गया और दोनो अपनी कतिपय मौलिक मान्यताओ को भी बनाये रहे, अत उनमे वैषम्य भी बना रहा । निम्नलिखित पक्तियो मे हम इन मतो के काव्यो के साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट करेंगे—

साम्य—१ दोनो काव्यो मे गुरु या पीर को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है । गुरु ही साधक को सिद्धि तक पहुँचाने का माध्यम है । गुरु कृपा से माया तथा शैतान के व्यवधानो का विध्वस होता है । कुछ विद्वानो का विचार है कि सन्तो मे यह गुरुवाद सूफियो की खिलाफत से आया है, क्योकि भारतीय सस्कृति मे भी गुरु अथवा आचार्य का महत्त्व केवल ज्ञानदाता अथवा विद्या प्रदाता के रूप में स्वीकृत है, सूफीमत के समान यह मुक्ति प्राप्ति का साधन नहीं है अस्तु । भारतीय सस्कृति मे भी गुरु मुक्ति प्राप्ति का समर्थ हेतु है । गुरु के बिना ज्ञान नही और ज्ञान के बिना मुक्ति नही ।

२ *दोनो काव्यों में प्रेम का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है ।* दोनो के मतानुसार निराकार प्रेम गम्य है । सन्तो के यहाँ प्रेम व्यक्तिगत साधनो मे व्यवहृत है, जबकि सूफियो ने लौकिक प्रेम कहानियो के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यजना करके प्रेम की सार्वभौमिकता दिखलाई है । सूफी मत मे प्रेम मुख्य रूप से स्वीकृत है, जबकि सन्तो में वह गौण रूप से ।

३ दोनो साधक हैं । दोनो का साधना-पथ विविध प्रभावों से प्रभावित है । दोनों पर हठयोग, भारतीय अद्वैतवाद, वैष्णवी अहिंसा का समान रूप से प्रभाव है ।

दोनों का ईश्वर निराकार है। उसे प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है, उसमें जाति पाँति, ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं है। दोनों की सामाजिक मान्यताएँ प्रायः एक-सी हैं।

४ माया या शैतान को दोनो ने साधना पथ मे व्यवधान के रूप में स्वीकार किया है। सन्तों ने कनक और कामिनी को माया का प्रतीक माना है। सन्तों ने *माया को सर्वथा त्याज्य माना है जबकि सूफियों ने साधक की प्रेम परीक्षा के लिए* तथा उसमे दृढता प्रदान करने के लिए शैतान की आवश्यकता स्वीकार की है।

५ दोनो ने अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति का सकेत किया है अत दोनो रहस्यवादी हैं। दोनो के अनुसार उस रहस्यमय *का मिलन प्रेम से सम्भव है।* आचार्य शुक्ल का कहना है कि "सूफियों का रहस्यवाद शुद्ध भावात्मक कोटि मे आता है, जबकि सन्तो का रहस्यवाद साधनात्मक कोटि में, क्योंकि उसमे विविध यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है।

६. दोनो ने विरह का उन्मुक्त गान किया है। दोनो मे एक अनूठी कसक और वेदना है। सूफियो का विरह विश्वव्यापी है। रवि, शशि और नक्षत्र उसी के विरह मे जल रहे हैं। सूफियो के विरहियो के साथ चराचरात्मक जगत् सहानुभूति प्रकट करता है, उसमे पादक और पक्षी तक समान रूप से भाग लेते हैं। सन्तो ने जगत् को मिथ्या माना है, अत. प्रकृति उनके विरह-वर्णन मे उपेक्षणीय रही है और उनका विरह व्यक्तिगत बनकर रह गया है। उसमे सूफियों जैसी विश्व व्यापकता नहीं।

वैषम्य—१. सन्तो की प्रणय-भावना विशुद्ध भारतीय है। इन्होंने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप में माना है, जबकि सूफियो ने आत्मा को प्रियतम और परमात्मा को प्रियतमा के रूप में कल्पित किया है। इनकी यह कल्पना ईरानी प्रभाव का परिणाम है। सन्तो ने *मिलनोत्सुकता* आत्मा रूप पत्नी मे दिखाई है जबकि इसके विपरीत सूफियो ने वह उत्कठा आत्मा रूपी पति मे चित्रित की है। सन्तों के प्रेम का मूल स्रोत भारतीय है, जबकि सूफियो का इस दिशा मे प्रेरणा स्रोत *फारसी साहित्य है।*

२. सन्तों ने हिन्दी-मुस्लिम-एकता के उद्देश्य की पूर्ति धार्मिक एकता द्वारा सम्पन्न की, जबकि सूफियों को उस उद्देश्य की उपलब्धि सांस्कृतिक एकता द्वारा अभीष्ट थी और कदाचित् इस दिशा मे सूफी अधिक कृतकार्य रहे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी, वह जायसी ने पूरी की।"

३. कबीर आदि सन्तो ने सामाजिक सुधारों और धार्मिक एकता के लिए खण्डनात्मकता के प्रखर शस्त्र का उपयोग किया। इससे अनेक सम्प्रदाय, हिन्दू तथा मुस्लिम पूरी परन्तु चिढ़ उठे। जायसी आदि ने किसी सम्प्रदाय विशेष का खण्डन नहीं

किया, बल्कि हिन्दू घरो की प्रेम कहानियों द्वारा प्रेम की विश्वजनीनता का प्रतिपादन किया। सास्कृतिक एकता के लिए उन्हे ऐसा करना अनिवार्य था।

४. कबीर आदि सन्तो का व्यक्तित्व एकमात्र अक्खड है। कबीर तो यहाँ तक दावा करते हुए चुनौती देते हैं कि जिस शरीर रूपी चादर को मुनिवरो ने ओढ कर मलिन कर दिया है, उसी को कबीर ने उसी ही रूप मे धर दिया है, जिस रूप मे वह मिली थी। कभी-कभी कबीर अपने मुख से कहने लगते हैं—समरथ का सन्देशा लाये हस उबारन आये।" सूफियो के व्यक्तित्व मे सरलता और विनम्रता है। इनके व्यक्तित्व का यह गुण उनकी रचनाओ मे सर्वत्र प्रतिफलित हुआ।

५ सन्तों ने अपने भावो की अभिव्यक्ति मुक्तक काव्य के रूप मे की है, उनके साहित्य में अधिकाश मे दोहे और भजन मिलते हैं जबकि सूफियो ने प्रबन्ध काव्यो के द्वारा भावाभिव्यक्ति की है। सूफियो ने कही-कही मुक्तक शैली का भी प्रयोग किया है। इनके "आखरी कलाम" जैसे ग्रथ पद्यात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध मे सूफी लोग सन्तो की अपेक्षा कुछ आगे बढे हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

६. सन्त काव्यो की भाषा सधुक्कडी या खिचडी है। इसमे भिन्न-भिन्न प्रान्तो की भाषाओ का सम्मिश्रण है, जबकि सूफियो की भाषा अपेक्षाकृत व्यवस्थित है, इनकी भाषा लोक-प्रचलित अवधी है। उसमान और नसीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मोहम्मद ने कही-कही ब्रजभाषा के शब्दो का भी प्रयोग किया है। इनमे अरबी और फारसी शब्दो का प्रयोग भी मिलता है।

७. दोनो का ईश्वर निराकार है। सन्तो ने उसे ज्ञान तथा प्रेम से लभ्य माना है। इनके यहाँ ज्ञान प्रधान है और प्रेम गौण। सूफियो ने ईश्वर का एकमात्र प्रेम-गम्य बताया किन्तु इनके यहाँ भी ज्ञान की स्वीकृति है, पर यह गौण रूप मे। सन्त कर्म-कांड की उपेक्षा करके केवल ज्ञान-काण्ड को चाहते हैं, पर सूफी कर्म-काड तथा ज्ञान-काण्ड दोनो मे रुचि रखते हैं।

८ सन्त काव्य में अन्त साधना पर बल दिया गया है। इनका निर्गुण राम घट घट में है। इनकी धारणानुसार ईश्वर सत्य है और जगत् मिथ्या है। अत. इन्होने प्रकृति को उदासीन दृष्टि से देखा है। सूफियो का प्रेमस्वरूप ईश्वर प्रकृति के कण-कण मे व्याप्त है। अत प्रकृति उनके लिए आकर्षणमय एव स्पृहणीय है। इन्हे 'रवि, ससि नखत उसकी दीप्ति' से दीपित दिखाई पडते हैं। सूफियो के काव्य मे प्रकृति का रागात्मक वर्णन है। इन काव्यो मे प्रकृति प्रेमियों के विरह मे शरीक होती दिखाई पडती है।

९. सन्त मत पर सिद्धो और नाथो का प्रभाव स्पष्ट है। सिद्ध और योगी लोग अपने अलौकिक चमत्कारो से चमत्कृत कर रहे थे—और इसलिए वे कुछ उलटी-सीधी बातो का विधान कर रहे थे। सन्तो ने कदाचित् इन लोगो के परिणामस्वरूप उलटबाँसियो का प्रयोग किया, जिनमे उनका केवल पाडित्य प्रदर्शित हुआ है। सूफियों

ने लोकरंजक एवं मंगलविधायक प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि की है, उनमें कहीं भी ऐसी उलटबाँसियाँ नहीं हैं।

१०. सन्त साधक हैं और उनका उद्देश्य हंस को सन्देश देना है, उन्हें धर्म, जाति और वर्ग के भेद को तथा बाह्य विधि विधानों को दूर करना है। उनके इस सन्देश में कविता का पुट भी आ गया है किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य समरथ का परवाना पहुँचाना है। सूफी साधक भी हैं और कवि भी। उनकी साधना सहज और सरल है। उसमें काव्य की भी नैसर्गिक छटा है। सन्त काव्य में परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ, जबकि सूफी काव्यों में यह बात अपेक्षाकृत कम हुई।

फारसी व हिन्दी के सूफी प्रेम काव्यों की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

प्रायः विद्वानों ने हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानों को फारसी की मसनवी शैली पर लिखे गए प्रेमाख्यानों की अनुकृति मात्र कहा है, जो कि संगत नहीं है। उक्त दोनों काव्यों की प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। दोनों काव्यों में कतिपय समानताएँ हैं, किन्तु समानताओं की अपेक्षा इनमें वैषम्य अधिक है।

समानताएँ

(१) **कथानक**—दोनों काव्यों में प्रेम की प्रधानता है। कथानकों का नियोजन प्रेम के उत्कर्ष को दर्शाने के लिये किया गया है। परिणामतः कथानकों के प्रेमाश्रित होने के कारण वे गौण रह गए हैं। दोनों के कथानकों में पत्रवाहक और संदेशवाहक पक्षी हैं। इस दिशा में कबूतर, सुआ तथा हंस आदि की चर्चा की गई है। इस दिशा में यह स्मरणीय है कि नाना पक्षियों के समावेश से भी काव्यों में कहीं असमानीयता नहीं है। कई प्रेम काव्यों के कथानक ऐतिहासिक हैं किन्तु उसकी ऐतिहासिकता अक्षुण्ण नहीं रह सकी है। लेखकों ने प्रेम के घात-प्रतिघातों को दिखाते समय इतिहास को भुला दिया है।

(२) **चरित्र चित्रण**—प्रेम काव्यों के नायक रूपवान तथा परम प्रेमी हैं, उनमें रसिकता नहीं है। वे वासना-पूर्ति के लिये नायिकाओं के जीवन के साथ विडम्बना नहीं करते हैं। नायिकाएँ भी आदर्श प्रेमिकाएँ हैं। दोनों ओर से सहर्ष प्राणों का उत्सर्ग तक कर दिया जाता है। प्रायः नायिकाएँ सती होने के लिए तैयार रहती हैं।

(३) **कथोपकथन**—उपर्युक्त दोनों काव्यों में कथोपकथनों में मनोवैज्ञानिकता से काम लिया गया है।

(४) **वियोग-वर्णन**—फारसी प्रेम-काव्यों में नायक नायिकाओं के वियोग वर्णन में बाह्य पक्ष पर अत्यधिक बल दिया गया है, किन्तु सूफियों के प्रेमाख्यानों में

वियोग के बाह्य और आभ्यन्तर दोनो रूपों का अपेक्षित ध्यान रखा गया है। फारसी प्रेम काव्यो मे वियोग का आतरिक पक्ष नग्न-सा है।

(५) शैली—फारसी के मनसवियों के समान सूफी प्रेम-काव्यो मे भी स्तुति-खण्ड है, जिसमें ईश्वर, मुहम्मद, उनके खलीफा, तत्कालीन शासक तथा गुरु आदि की प्रशसा की गई है। दोनो में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्ति अलकारो का प्रचुर प्रयोग है।

असमानताएँ

(१) कथानक—सूफी प्रेमाख्यानो मे प्रसगानुसार यत्र-तत्र गूढाभिव्यंजना दृष्टिगोचर होती है जबकि फारसी के प्रेम-काव्यो मे इसका प्राय अभाव है। फारसी मसनवियो मे नायिका की प्राप्ति और उसके साथ विवाह कर लेने पर नायक का अन्यो के साथ विवाह करवा दिया जाता है, जबकि हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानो मे प्राय बहु विवाह को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। नायक का प्रधान अभीष्ट नायिका की उपलब्धि है। भारतीय सूफी प्रेमाख्यानो मे भारतीय वातावरण की स्थापना पर बराबर ध्यान रखा गया है।

(२) चरित्र-चित्रण—फारसी प्रेम-काव्यो मे नायक साधारण कोटि के पुरुष हैं और नायिका का भी सुन्दर होना आवश्यक नही है। मजनू और फरहाद साधारण पुरुष हैं। लैला कोई विशेष सुन्दरी नही है। हिन्दी प्रेमाख्यानो के नायक ऐश्वर्य-सम्पन्न राजकुमार या राजा हैं। उनके रूप और गुणो की सर्वत्र चर्चा होती है जिससे कि नायिकाएँ आकर्षित हो जाती हैं। नायिकाएँ भी पद्मिनी और चित्रणी कोटि की हैं। फारसी तथा हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान-काव्यो के प्रतिनायको के स्वरूप मे भी महान् सत्ता है।

(३) कथोपकथन—फारसी प्रेम-काव्यो के कथोपकथनों का आकार-प्रकार विशाल है। कहीं-कहीं तो उनमे आनुपातिकता की भी अवहेलना की गई है। हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों के कथोपकथन अपेक्षाकृत सक्षिप्त हैं।

(४) वर्णन-शैली—हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानो मे मध्यकालीन वर्णनात्मक शैली का व्यवहार किया गया है। इनमे नगर, उपवन तथा सरोवर आदि के वर्णन हैं। स्त्रीभेद, कामशास्त्रीय वर्णन, बारात वर्णन, भोजन-वर्णन, अश्व और गजादि वर्णन तथा इसी प्रकार के अन्य वर्णनो का बाहुल्य है। मध्यकालीन भारतीय वाङ्मय की इस प्रकार की वर्णन शैली को वर्णक नाम से अभिहित किया गया है। फारसी प्रेम काव्यो मे इसका अभाव है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान काव्यों की तथाकथित मसनवी शैली फारसी की मसनवी शैली से भिन्न है। इसकी चर्चा हम यथा-प्रसग आगे करेंगे।

(५) फारसी प्रेमाख्यान काव्यो के प्रणयन का उद्देश्य धनार्जन है जबकि हिंदी सूफी प्रेमाख्यान मनोरजनार्थ प्रणीत हुए हैं। कतिपय इतिहास-लेखको ने हिन्दी

सूफी काव्यों के लिखे जाने का उद्देश्य धर्म प्रचार माना है जो कि नितांत भ्रामक है। इसकी चर्चा भी यथाप्रसग आगे की जावेगी। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि इन दोनो काव्यो मे साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। इन दोना के बाह्य पक्षो मे समानता होते हुए भी आन्तरिक पक्ष के महत्त्वपूर्ण भेद हैं।

सूफी काव्य परम्परा और विकास

हिन्दी साहित्य मे सूफी काव्यो के आरम्भ के समय के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहो कहा जा सकता है। सूफी कवि जायसी ने अपने पद्मावत म अपने पूर्ववर्ती कुछ प्रेम काव्यों का उल्लेख किया है।

विक्रम धसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा।
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी॥
राज कुँवर कचनपुर गयउ। मृगावति कह जोगी भयउ।
साधा कुँवर खडावत जोगू। मधुमाल तिकर कीन्ह वियोगू।
प्रेमावति कह सुरसरि साधा। ऊषा लागि अनिरुधि उर बाँधा।

उक्त पद्य के अनुसार जायसी से पूर्व—स्वप्नावती मुग्धावती, खडरावती, मधुमालती और प्रेमवती काव्य लिखे जा चुके थे। किन्तु उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानो से काल क्रमानुसार सर्वप्रथम रचना "चन्दायन' ही समझी जाती है। इसका रचनाकाल सन् १३७७ या १३७९ ई० (स० १४३४ १४३६) जान पडता है। तब से अर्थात् चौदहवी शताब्दी से लेकर लगभग आज तक छ सौ वर्षों के समय तक सूफी काव्यो की रचना होती रही है। इन रचनाओ के क्रमिक विकास के अनुसार हम इस दीर्घ अवधि को तीन युगों मे विभाजित कर सकते हैं।

(क) आदि काल (ई० सन् की चौदहवी शती के उत्तरार्ध से लेकर १५वी शती के अन्त तक)
(ख) मध्ययुग (ई० सन् की सोलहवी शती से लेकर १८वीं शती के अन्त तक)
(ग) उत्तर काल (१९वी शती से लेकर बीसवी शती की आज तक की अवधि तक)

(क) आदि काल—इस काल की एकमात्र उपलब्ध रचना 'चन्दायन' है। हम केवल उसी के आधार पर तत्कालीन सूफी काव्यो की प्रवृत्तियो का अनुमान लगा सकते हैं। उन दिनो केवल घटनाओं के विवरण को महत्त्व दिया जाता था तथा नायको के अलौकिक बल, वीर्य, दैवी शक्ति की सहायता एव चमत्कारपूर्ण प्रसगो का समावेश किया जाता था। इस काल के प्रमुख रूप से दो रचनाएँ उल्लेखनीय हैं—मुल्लादाऊ कृत 'चन्दायन' तथा शेख कुतबन कृत 'मृगावती'।

मुल्लादाऊद फ़ीरोज़शाह तुगलक के समय मे हुए। इनकी रचना चन्दायन की कथा प्रचलित एक लोक गाथा है। इसके पात्र एव घटना निम्न वर्ग व समाज के साथ

सम्बद्ध हैं। इसमें शुभाशुभ शकुन, जादू-टोना और मत्रादि का भी उल्लेख है। घटना वर्णन पर अत्यधिक बल दिया गया है। इसकी भाषा और रचना-शैली सीधी-सादी है।

शेख कुतुबन की मृगावती भी एक प्रेम कहानी लेकर चलती है। इसका नायक राजकुमार है। नायिका भी इसी कोटि की है। यहाँ नायिका को उड़ने की विद्या में निपुण बनाया गया है। वह न केवल अपने प्रेमी को धोखा दे सकती है, अपितु अपने पिता का देहान्त हो जाने पर उसकी जगह राज्य का भार भी सभालने लग जाती है। इसमें भी कौतूहलवर्धन के लिए घटनाओं पर अत्यधिक बल है। लेखक शैली के प्रति अपेक्षाकृत कुछ अधिक सतर्क रहा है।

रंजन का समय मुल्लादाऊद के बाद आता है। 'प्रेमवनजीव निरजन' इनकी रचना कही जाती है, जायसी ने इसे शायद प्रेमावती के नाम से अभिहित किया है।

(ख) मध्य युग—सूफी प्रेम काव्यों का यह स्वर्ण युग है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "इस काल के प्रथम सौ वर्षों में हमें वस्तुत: पूर्वकालीन बातों की ही आवृत्ति उन पर आश्रित काव्य-सौन्दर्य एवं रचना-चातुर्य की विविध अभिव्यक्तियों के साथ दीख पड़ती है। फिर उसके दूसरे सौ वर्षों में हमें इनके पात्रों के क्षेत्रों के अन्तर्गत कुछ अधिक व्यापकता आ गई लक्षित होती हैं और इनके पात्रों के स्वभावादि में भी आ गये कुछ न कुछ परिवर्तनों के दर्शन होने लगने हैं, तथा इसी प्रकार कभी इनमें फारसी साहित्य से उधार ली गई कतिपय बातों का अन्तर्भाव भी प्रकट होने लग जाता है। इसके अन्तिम दो सौ वर्षों में तो हमें इस बात के भी प्रमाण अच्छी मात्रा में मिलने लगते हैं कि सूफियों की इस रचना-पद्धति का मूल उद्देश्य वस्तुत: साम्प्रदायिक ही रहा होगा।"

मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत सूफी काव्य परम्परा में एक जगमगाता रत्न है। इनकी रचना मृगावती के १७ वर्ष बाद में हुई। यह एक प्रौढ रचना है, इसमें काव्य-सौन्दर्य की एक अनुपम छटा है। इस ग्रंथ का विस्तृत परिचय आगे चलकर दिया जायेगा।

मझन की रचना मधुमालती में नायक राजकुमार है और नायिका राजकुमारी है। इन दोनों का प्रेम सम्बन्ध परियों के द्वारा सम्पन्न होता है। परियाँ राजकुमार मनोहर को मधुमालती की चित्रसारी में रातों-रात पहुँचा देती हैं और फिर उसे लौटा भी जाती है। मधुमालती माँ के शाप से चिड़िया के रूप में बदल जाती है। राजकुमार राज्य छोड़कर जोगी बन जाता है। इस कहानी के अध्ययन के पश्चात् कहा जा सकता है कि रचयिता ने जायसी की अपेक्षा कुतुबन के आदर्शों का पालन अधिक रुचि से किया है।

उसमान की चित्रावली में घटना विस्तार पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। चित्रावली की कथा का आरम्भ शीघ्र नहीं होता। इसका नायक चित्रावली

का चित्र देखकर एक अपना चित्र भी बना देता है। नायक और नायिका के मिलन-कार्य में एक दूत का उपयोग किया गया है। एक मन्दिर मे दोनो का मेल होता है घटना विस्तार-प्रियता के कारण नायक को जगल मे पहुँचा दिया जाता है, वहाँ उसे अजगर निगल जाता है। एक बार उसे हाथी की चपेट भी सहनी पडती है। इसके सिवाय नायक को एक अन्य नायिका से विवाह भी करना पड जाता है। अन्त मे कथा को सुखान्त बना दिया गया है। यह रचना बहुत कुछ पद्मावत के ढग पर रचित दीख पडती है। इसम एक बात और भी नई है कि इनके जोगी अग्रेजो को भी देख आये थे।

इसी समय मे रचित जलालुद्दीन के ग्रन्थ "जमाल पच्चीसी" की एक हस्त-लिखित प्रति उपलब्ध हुई है। इसकी कविता साधारण सी है।

उसमान के समसामायिक कवि जान ने अनेक छोटे-बडे ग्रथो की रचना की। उन्होंने उनमे कई नवीन बातो का भी समावेश कर दिया है। उन्होंने अपनी "रत्नावली" रचना के सम्बन्ध मे बतलाया है कि वह किसी रूम निवासी महागुनी राय द्वारा महमूद गजनवी के लिए कही गई अद्वितीय कथा का भारतीय रूप है। मधुकर मालती नामक अपनी रचना के सम्बन्ध मे उसने दास-प्रथा, हारूँ-रशीद, तुर्किस्तान और अरमनी आदि का उल्लेख किया है। कवि ने अपनी रचनाओ के लिए जहाँ एक ओर प्रसिद्ध भारतीय पौराणिक कथा नल-दमयन्ती को चुना वहाँ दूसरी ओर 'लैला मजनूँ' तथा "कथा खिजरखाँ साहिजादे" को चुना। कथा कहने मे ये अत्यन्त निपुण थे। ये फतेहपुर (जयपुर) के निवासी थे।

उसमान के एक अन्य समकालीन कवि शेख नबी ने "ज्ञान दीप" नाम की रचना की सृष्टि की। इस रचना म कवि ने बिल्कुल भारतीय प्रेम-परम्परा का पालन किया है। इसमे कहीं कहीं सामी प्रभाव भी आ गया है। इस ग्रन्थ मे राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की प्रेम कथा का वर्णन है।

इस युग मे कवि मुहम्मद हुए। इनके दोहे, सोरठे आदि अत्यन्त उत्तम बन पडे हैं।

इधर हिन्दवी या दक्खिनी हिन्दी के साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि यह काल वहाँ प्रेमाख्यान रचने के लिए स्वर्ण युग बन गया था। इसी समय वहाँ के प्रसिद्ध कवि गवासी, वज्ही, तबई और हाशमी ने सीमा कथाओ को लेकर अथवा उनके आदर्शों पर अपनी मसनवियाँ लिखीं। मुकीमी नुसरती और गुलाम अली ने भी इसी कार्य को पूरा किया। इन रचनाओ का प्रभाव उत्तरी भारत के सूफियो पर भी पडा। उदाहरणार्थ "अनुराग बाँसुरी" की रचना करते समय नूर मुहम्मद ने मुल्ला वजही के ग्रथ 'सब रस' का अनुकरण किया। कासिम शाह ने अपने 'हस जवाहर' नामक ग्रथ को लिखते समय बहुत कुछ गवासी के 'सैफुलमुलक' का अनुसरण किया है। शेख निसार ने भी हाशमी के युसुफ जुलेखाँ को अपनी कथा-वस्तु का आधार बनाया। इन सूफी कवियो मे एक नई प्रवृत्ति काम करने लग गई थी। नूर मुहम्मद

ने अपनी अनुराग बाँसुरी की रचना इसलिए की थी कि वह कदाचित् सखवाद की रीति का मिटाने मे समर्थ हो। उनका स्पष्ट शब्दो म कहना है कि 'मेरी इस हिन्दी रचना का कोई विपरीत अर्थ न लगाये, क्योंकि मैं इसके द्वारा हिन्दू मार्ग पर नही चल रहा हूँ।"

(ग) उत्तर युग—इस युग मे कोई अधिक सख्या मे सूफी प्रेमाख्यानो का प्रणयन नहीं हुआ। इस काल की रचनाओ की प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं —"उन्नीसवीं शती से लेकर बीसवी शती की अवधि तक इस प्रकार की सारी उमगें प्राय ठडी पडती सी प्रतीत होती हैं। इस अन्तिम युग की अन्तिम रचनाओ मे न तो कहीं जायसी की प्रतिभा है, न मझन या उसमान की सहृदयता है, न ज्ञान की योग्यता है, न नबी का पाडित्य है, न नूर मुहम्मद की कट्टरता है। इस खेमे के सूफी कवियो की यदि कोई विशेषता है तो यह कदाचित् इस बात से भिन्न नही है कि उन्होंने अपनी रचनायें न्यूनाधिक व्यक्तिगत रुचि या आग्रह के कारण प्रस्तुत की हैं तथा भरसक व्यर्थ के आडम्बरो से भी बचाया है।" इस काल की तीन रचनाएँ हैं। प्रतापगढ के ख्वाजा अहमद ने सन् १६०५ मे नूरजहाँ नाम का ग्रथ रचा। इसमे ईरान के शहजादे तथा शहजादी की प्रेम कथा है। इसमे कहानी व पात्र कल्पित हैं। कहानी के अन्त मे कहानी का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। शेख रहीम ने सन १६१५ मे "भाषा प्रेम रस' की रचना की। इसकी भी कथा कल्पित है। कवि नसीर ने सन् १६१७ मे "प्रेम दर्पण" नामक काव्य रचा। इसके कथानक का मूल स्रोत युसुफ जुलेखाँ की सामी प्रेम गाथा है। इस प्रकार सूफी प्रेमकाव्य की परम्परा १४ वी शती से आज तक बराबर चली आ रही है।

प्रेम पीर के प्रचारक कवि जायसी

जीवन वृत्त— सूफी कवियो मे सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी के जन्म सम्वत् के सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। हाँ अन्त साक्ष्य के आधार पर अनुमानत इस विषय मे अवश्य कुछ कहा जा सकता है। जायसी ने अपनी रचना "आखिरी कलाम" मे एक स्थान पर लिखा है—

भौ अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी।

अर्थात वे नवी सदी हिजरी मे जन्मे थे और तीन वर्ष की अवस्था मे उन्होंने आखिरी कलाम का प्रणयन आरम्भ कर दिया था। जायसी ने आखिरी कलाम की रचना ९३६ हि० मे से ३० वर्ष निकाल देने पर ९०६ हि० सन् आता है जो कि इनका जन्म सवत् स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचना पद्मावत मे शेरशाह को शाहे वक्त बताया है—शेरशाह देहली सुलतानू, चारिउ खड तपै जस भानू।' शेरशाह का शासन काल ९४७ हि० से आरम्भ होता है। पद्मावत का रचना-काल उन्होंने ९२७ हि० बताया है—

सन नव सै सत्ताइस यहा,
कथा प्रारम्भ बैन कवि कहा ।

कुछ विद्वानो ने यहाँ ६२७ के स्थान पर ६४७ हि० उपयुक्त माना है । उनके कथनानुसार इस प्रकार जायसी के शेरशाह सूरी के समसामयिक होने मे कोई असंगति नही आती । परन्तु हमारे विचार मे यह मत असमीचीन है । कवि ने कथा का आरम्भ तो ६२७ हिजरी मे कर दिया था, परन्तु जब कथा समाप्ति पर आई उस समय शेरशाह दिल्ली की गद्दी पर आसीन हो चुके थे । बगाल के कवि अलाओल ने पद्मावत का जो अनुवाद बगला मे किया है उसमे उसने इसका रचना काल ६२७ हि० ही बताया है । अस्तु अन्त साक्ष्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि इनका जन्म ६०६ ई० मे अर्थात् सन् १९४८ में हुआ । इनकी मृत्यु सन् १५४२ मे बताई जाती है । ६११ हि० मे एक बहुत बडा भूकम्प आया था और ६१२ मे सूर्य ग्रहण भी हुआ था । जायसी ने अपनी रचनाओ मे इन दोनो बातो का उल्लेख किया है ।

निवास स्थान—"जायस नागर मोर अस्थानू' के अनुसार जिला रायबरेली मे जायस नगर मे ये जन्मे । जायस नगर मे जन्म लेने के कारण ही ये जायसी कहलाये । डॉ० सुधाकर द्विवेदी तथा आचार्य ग्रियर्सन ने निम्नांकित पंक्तियो के आधार पर—

जायस नगर मोर अस्थानू,
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू ।
तथा
तहाँ दिवस दस पाहुने आएऊँ ।

अनुमान लगाया है कि जायसी किसी दूसरे स्थान से आकर यहाँ बसे थे, किन्तु शुक्ल जी का कहना है कि ये जायस नगर के ही निवासी थे । मेहमान तो वे साधक के नाते थे । दूसरे, यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग ही है । जायसी ने अपनी रचनाओ मे अन्य किसी स्थान का उल्लेख नही किया है ।

गुरु—इन्होने अपने पीर के सम्बन्ध मे स्वयं लिखा है—

सैय्यद अशरफ पीर हमारा ।
जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा ॥

माता पितादि—इनके पिता का नाम मलिक शेख ममरेज या मलिक राजे अशरफ था । बचपन मे ही माता पिता की मृत्यु के कारण ये साधुओ और फकीरों की संगति में रहने लगे । किंवदन्तियो के अनुसार जायसी का विवाह भी हुआ था और इनके पुत्र मकान के नीचे दब कर मर गये थे । अन्त साक्ष्य के द्वारा यह स्पष्ट है कि जायसी कुरूप, एक नेत्र से विहीन तथा एक कान से रहित थे । यह सब कुछ शीतला के प्रकोप का फल था । एक दफा जब शेरशाह ने इनकी कुरूपता का उपहास उड़ाया तो इन्होने बडे शान्त भाव से उत्तर दिया "मोहि का हँससि, कि कोहरहि ?" अर्थात् तुम मुझ पर हँसे हो अथवा उस कुम्हार (ईश्वर जिसने मुझे

बनाया है) पर। शेरशाह अत्यन्त लज्जित हुए और इनका अत्यधिक सम्मान किया। अमेठी नरेश रामसिंह भी इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। जायसी उनके गुरु थे। कहा जाता है कि जायसी के आशीर्वाद के फलस्वरूप अमेठी नरेश के यहाँ पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ था। भगवान् ने जहाँ इन्हें रूप देने में कृपणता दिखाई थी, वहाँ शुद्ध प्रेमपारायण हृदय देने में तथा मधुर कंठ प्रदान करने में उतनी ही उदारता दिखाई थी। जायसी के नागमती के बारहमासे के नीचे के दोहे से अमेठी नरेश बहुत प्रभावित हुए थे—

कवल जो विगसा मानसर बिन जल गएउ सुखाय।
रूखि बेलि फिरि पलुहै जो पिउ सींचै आय॥

इनका प्राणान्त अमेठी के आस-पास के जगलो मे एक शिकारी के तीर से हुआ। अमेठी नरेश ने जायसी की यहीं पर एक समाधि बनवा दी, जो अब भी मौजूद है।

रचनाएँ—अभी तक जायसी की तीन रचनाएँ प्रकाश मे आई हैं—(१) आखिर कलाम ६२७-६३६ हि० (२) पद्मावत ६२७ ६४७ हि०, (३) अखरावट पद्मावत के बाद की रचना। आखिरी कलाम और अखरावट का साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्त्व है, साहित्यिक दृष्टि से कुछ महत्त्व नहीं। आखिरी कलाम मे सृष्टि के अन्त तथा मुहम्मद साहब के महत्त्व का वर्णन है। इसमे बताया गया है कि सृष्टि के अंत में क्या अवस्था होती है तथा उस समय जिब्राईल आदि फरिश्ते क्या करते हैं। यह एक सूफी सिद्धातो का ग्रन्थ है।

अखरावट मे ईश्वर, जीव, ब्रह्म, सृष्टि निर्माण, गुरु तथा धर्माचार आदि की सैद्धांतिक विवेचना की गई। कवि की आध्यात्मिक विचार धारा के अध्ययन के लिए अखरावट का अध्ययन आवश्यक है। इसकी रचना बारह खड़ी प्रणाली पर की गई है।

पद्मावत हिन्दी साहित्य का एक अनमोल रत्न है। इसमे रत्नसेन और पद्मावती की लौकिक प्रेम कहानी के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यजना की गई है जहाँ दूसरे सूफी कवियो ने अपने प्रेमाख्यानों में काल्पनिक कहानियाँ अपनाईं वहाँ जायसी ने पद्मावत मे लोक प्रचलित कथा मे ऐतिहासिकता का भी सुन्दर समन्वय कर दिया है। इस ग्रन्थ की एक खास विशेषता है कि इसमे प्रेम की साधना और सिद्धि दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। पद्मावत बाबर के शासन काल की सहानुभूतिशीलता और उदारता का साहित्यिक रूप है। सहिष्णुता, समन्वयात्मकता और सग्राहक बुद्धि का उदय उस युग की एक खास विशेषता है। इसी ग्रन्थरत्न के द्वारा वे हिन्दू मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाने में समर्थ हो सके थे। पद्मावती को अन्योक्ति काव्य न कहकर समासोक्ति काव्य कहना अधिक समीचीन है। इस ग्रन्थ के बीच बीच मे रहस्यवाद की सुन्दर सृष्टि हुई है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियो से बहुत महत्त्व है। इसकी प्रबन्ध-शृंखलना दर्शनीय है। इसमे

केवल एकान्तिक प्रेम ही नहीं बल्कि लोक-पक्ष भी है। विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में जायसी अपने उपमान आप ही हैं। निःसंदेह प्रेम के उदात्त स्वरूप की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से पद्मावत हिंदी का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। फ्रेंच और इंगलिश आदि भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में—

'जायसी महान् कवि है, उसमें कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उसने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।"

जायसी काव्य का लोक-पक्ष—कबीरदास हिन्दू-मुसलमानों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। कबीर की भर्त्सनामयी वाणी का प्रभाव पण्डितों और मुल्लाओं पर तो नहीं पडा किन्तु साधारण जनता राम और रहीम की एकता मानने लगी थी। बहुत दिनों तक दोनों एक दूसरे के साथ रहने के कारण परस्पर अपना हृदय खोलने लगे थे। हिन्दू मुसलमानों की दास्तान हमजा सुनने को तैयार हो चुके थे तो मुसलमान हिन्दुओं की राम-कहानी सुनने के लिए लालायित हो उठे थे। मुसलमान हिन्दुओं की नल दमयन्ती की कथा को जानने लगे थे तो हिन्दू लैला-मजनू की। दोनों एक-दूसरे के साथ बैठकर सामान्य मार्ग की सलाह भी कर लिया करते थे। इधर आचार्य और महात्मा भगवत्-प्रेम की लीला और महिमा गा रहे थे तो उधर सूफी इश्के हकीकी की। हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच सायुज्यता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। बहुत से मुसलमान फकीर अहिंसा का सिद्धांत स्वीकार कर मांस भक्षण को बुरा कहने लगे थे। ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान फकीर प्रेम पीर की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के घरों की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखा दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य-मात्र के हृदय में विद्यमान है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंगों के भेदों की ओर से ध्यान हटा कर एकत्व का अनुभव करने लगता है।

अमीर खुसरो ने दोनों जातियों के हृदयों के योग करवाने में बहुत कुछ काम किया परन्तु अलाउद्दीन की कट्टरता के कारण दोनों हृदय दूर खिंच गए थे। कबीर की अटपटी वाणी से दोनों दिल साफ न हो सके। मनुष्य मनुष्य के बीच में जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के व्यवहार में जिस हृदय साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उसमें न हुई। *जिस प्रकार दूसरी जाति या मत वालों का हृदय है, इसी प्रकार हमारे यहाँ भी है*, प्रिय का वियोग जैसे दूसरे को व्याकुल करता है वैसे हमें भी, माता का जो हृदय दूसरे के यहाँ है वह हमारे यहाँ भी है, जिन बातों से दूसरों को सुख-दुख होता है, वैसे ही हम भी, इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण जायसी की प्रेम कहानी द्वारा हुआ। अपनी प्रेम कहानियों द्वारा उन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन की उन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य-मात्र के हृदय पर एक सा

प्रभाव दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में दोनों हृदयों को आमने सामने रखकर अजनबी पन मिटाने वालों में उन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। उन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानी को हिन्दुओं की बोली में सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत हुई परोक्ष एकता की सत्ता का आभास दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

इन प्रेम गाथाओं का समय बाबर के समय से लेकर मुगल साम्राज्य के अन्त तक रहा। कबीर का ज्ञान शुष्क होने के कारण सर्वप्रिय न बन सका। बाबर के समय में सहानुभूतिपूर्ण वातावरण ने सभी को उदार बना दिया था। उसी उदारता का साहित्यिक रूप ये कहानियाँ हैं। सबके प्रति सहिष्णुता, सबमें समन्वय और सबमें सग्राहक बुद्धि का उदय इस युग की विशेषता थी और ये सभी तत्त्व जायसी में पूर्णतः स्पष्ट हुए हैं। पद्मावत उस युग की साधना ही सिद्ध हुई और उसके प्रतिनिधि हुए जायसी। उनका यह उद्घोष सर्वत्र गूंज उठा—

"बिरछि एक लागीं दुई डारा, एकहिं तें नाना प्रकारा।"
"माता के रक्त पिता के बिन्दू उपने दुवौ तुरक और हिन्दू।"

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जायसी कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक जन जीवन के निकट पहुँचे हुए थे। लोक-समूह के लिए कहानी का माध्यम सबसे आकर्षक होता है। कहानी में अद्भुत घटनाओं का समावेश, लोक प्रचलित धर्म एवं विश्वासों का अवलम्ब और बोलचाल की भाषा को अपनाना ऐसे तत्त्व हैं, जो जायसी में मिलते हैं और ये उपकरण जायसी को लोक-कवि बना देते हैं। जायसी ने जहाँ हिन्दू घराने की लौकिक प्रेम कहानी के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की वहाँ हिंदू-मुस्लिम सस्कृतियों का भी समन्वय किया।

जायसी हठयोग से तो प्रभावित थे ही, साथ साथ हिन्दू जीवन के लोकप्रिय सिद्धांतों से भी परिचित थे। उन्होंने अपनी कथा को हिन्दू धर्म की प्रधान बातों पर आधारित किया और उनकी हँसी न उड़ाकर गम्भीरतापूर्वक उन्हें सामने रखा। जहाँ उन्होंने अवधी भाषा का प्रयोग किया, वहाँ भारतीय छंदों दोहा, चौपाई आदि का भी सुन्दर निर्वाह किया। हिन्दू सस्कृति के अन्तर्गत अनेक दार्शनिक और धार्मिक बातों की चर्चा की, हालांकि यह चर्चा अनेक रूपों में अपूर्ण है। उनका संयोग और वियोग शृगार यद्यपि मसनवी शैली से प्रभावित है पर अन्ततः हिन्दू सस्कृति के आधार पर ही है। उन्होंने हिन्दू पात्रों में हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू-जीवन से साम्य रखता है। इनके पात्र दो प्रकार के हैं सतोगुणी और तमोगुणी। अन्त में पुण्य की पाप पर विजय होती है। इनका षड् ऋतु [illegible] और बारहमासा-वर्णन हिन्दू-शैली है। [illegible] के वर्णन में भी

हिन्दी-काव्य की परिपाटी का अनुसरण किया है। लगता है जैसे कि ये मुसलमान सम्प्रदाय के हिन्दू अनुयायी हों और शरीर से अभारतीय होते हुए भी हृदय से भारतीय हों। जायसी ने यद्यपि मसनवी शैली के प्रेम का स्वरूप प्रधान रखा किन्तु बीच-बीच में भारत के लोक-व्यवहारों का समावेश भी उसमें हो गया है। उनका पद्मावत लोक पक्ष से शून्य नहीं है। राजा का जोगी होकर घर से निकलना, माता तथा रानी का उसे रो रो कर रोकना, रत्नसेन तथा पद्मावती का रस रंग वर्णन, विदा होते समय पद्मावती की सखियों का दुःख प्रथम समागम के समय क्रीड़ा और प्रश्नोत्तर, सपत्नी कलह, पति के भावी अनिष्ट से घबरा कर पद्मावती का राघवचेतन को स्वर्ण कंगण देना, शिव आदि अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख, दाम्पत्य जीवन के साथ साथ यात्रा और युद्धादि का वर्णन, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व आदि विषयों के समावेश से इनकी प्रेम कहानी एकांगी होने से बच गई है, किन्तु फिर भी इसमें रामचरितमानस के समान मनुष्य जीवन के विभिन्न सम्बन्धों और परिस्थितियों की विविध झाँकियाँ नहीं हैं। राजा के बन्दी होने पर रानी के विरह व्याकुल हृदय में उद्योग और साहस का अच्छा प्रदर्शन किया गया है। वह गोरा बादल के पास जाकर उन्हें राजा की मुक्ति के लिए तैयार करती है। नागमती पति परायणा आदर्श हिन्दू पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। अभिसार पासा खेलना और ज्योनार आदि का वर्णन भी पद्मावत में उपलब्ध होता है। पुरुषों के बहु विवाह से उत्पन्न प्रेम की व्यावहारिक जटिलता का वर्णन दार्शनिक ढंग से किया गया है। गोरा बादल की क्षात्र तेज से परिपूर्ण प्रतिज्ञा, दूती के आने पर पद्मावती के सतीत्व गौरव की अपूर्व व्यंजना, लोभ निन्दा, दान-महिमा और रिश्वत आदि की बुराई की बातें प्रत्यक्षतः लोक जीवन से सम्बद्ध हैं। अपने पद्मावत में दधीची, गांगेय, भीष्म, पारथ आदि पौराणिक नामों का भी इन्होंने उल्लेख किया। पौराणिक जानकारी इन्हें थी तो अवश्य, पर वह पक्की नहीं थी। इन्होंने नारद को शैतान के रूप में रखा है। स्वर्ग को आसमान कहा है। रत्नसेन को रावण की उपमा दे दी और चन्द्रमा को स्त्री के रूप में चित्रित किया। इनके पद्मावत में भारतीय ज्योतिष, हठयोग कामशास्त्र और रसायन शास्त्र की बातों का भी उल्लेख है।

हिन्दी के प्रेमाख्यानों में जायसी का स्थान निश्चित रूप से सर्वोच्च है और उनका पद्मावत हिन्दी के प्रेमाख्यान-परम्परा का एक जगमगाता रत्न है। इन्होंने ईरान या ईराक के शहजादों तथा शहजादियों की प्रेम कथा को न कह कर हिन्दू राजकुमार तथा राजकुमारी की कथा कही है और उसे पूर्ण भारतीय संस्कृति के रूप में उपस्थित किया है। कथा के बीच-बीच में पीर और पैगम्बरों की प्रवक्ता न करके साधु-सन्तों और शिव आदि की अवतारणा की है। यह कहना कि जायसी ने पद्मावत के व्याज से इस्लाम का प्रच्छन्न रूप से प्रचार करना चाहा है, सर्वथा भ्रम होगा।

नि सदेह इनके पूर्व कबीर आदि सन्त 'अरे इन दोउन राह न पाई" कहकर हिन्दू मुस्लिम एकता की नीव डाल चुके थे पर वे अपनी भर्त्सनामयी वाणी तथा ज्ञान की शुष्कता के कारण इस दशा मे अधिक सफल न हो सके। कबीर ने अपने निर्गुण पर प्रेम और माधुर्य का आवरण चढाया तो अवश्य किन्तु वह उसकी झीनी बीनी चदरिया के समान इतना झीना था कि उसमे निर्गुण की शुष्कता छिप न सकी और कबीर की ज्ञान महल की सेज सूनी पडी रही। जायसी ने प्रेम की अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा बडी कोमलता और काव्यमयता के साथ हिन्दू-मुस्लिम हृदयो के अजनबीपन को मिटाया।

जायसी का रहस्यवाद—रहस्यवाद आत्मा की वह स्थिति है जबकि वह बाह्य वस्तुओ से सम्बन्ध तोडकर भावनामय लोक मे पहुँच जाती है, जहाँ वह अपने और परमात्मा के बीच एकरूपता का अनुभव करने लगती है और उसे एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। जायसी मे सूफी रहस्यवाद पूर्ण रूप मे पाया जाता है किन्तु वे भारत के कवि थे अत उनके रहस्यवाद पर अद्वैतवाद की भावना का भी यथेष्ट प्रभाव है। सूफी कवियो ने अपने प्रेम कथानकों की प्रेमिका को परमात्मा का प्रतीक माना है और प्रमी को आत्मा। जायसी ने भी अपनी प्रेम कहानी मे पद्मावत को परमात्मा और रत्नसेन को आत्मा के रूप मे कल्पित करके अनेक लौकिक प्रसगों से अलौकिक पक्ष का सकेत किया है। जायसी ने जगत् के समस्त पदार्थों को ईश्वरीय छाया से उद्भासित कहा है। उनके काव्य मे समस्त प्रकृति उस प्रियतम के समागम के लिए उत्कठित दिखाई पडती है। पद्मावत का प्रेम खड रहस्यवाद का सुन्दर निदर्शन है। नख-शिख वर्णन तथा अन्य कुछ वर्णन भी रहस्यवादी प्रवृत्ति लिए हुए है। पद्मावत सम्पूर्ण रूप से रहस्यवादी काव्य है। ऐसा समझना सर्वथा भ्रम होगा तथा इसके प्रत्येक प्रसग मे रहस्यवाद को खोजने का प्रयास बुद्धि-विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। इसी प्रकार पद्मावत को अन्योक्ति काव्य न कहकर समासोक्ति काव्य कहना अधिक समीचीन है।

रत्नसेन हीरामन तोते के द्वारा पद्मावती के नख शिख के सौन्दर्यमय वर्णन को सुनकर बेसुध हो जाता है, उसे इस अवस्था मे परम ज्योति के आनन्द की अनुभूति होने लगती है, जिसके भग होने पर उसे ऐसा लगता है जैसे कोई बावला जागृत अवस्था को प्राप्त हो गया हो। रत्नसेन नवजात बालक के समान रोता हुआ कहता है कि हाय मैंने ज्ञान खो दिया, हाय मैं अमरपुर को जाकर फिर मृत्युलोक मे कैसे वापस आ गया।

> जब भी चेत उठा बैरागा। बाउर जनों सोई उठि जागा।
> आवत जग बालक जस रोवा। उठा रोइ हा ज्ञान सो खोवा।
> हौं तो कहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आय हुँ कहाँ।

उन्होंने प्रकृति के कण-कण मे परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य की झलक देखी है —

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥

जायसी ने यद्यपि यह दिखाया है कि परमात्मा की ज्योति सर्वत्र व्याप्त है तथापि उन्होंने अपने अन्तर को भी परमात्मा के प्रकाश से रहित माना है। उनका यह कथन है कि परमात्मा हृदय में निहित है, केवल उसके साक्षात् कराने वाले की आवश्यकता है —

पिउ हृदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई ॥

जिस दिन जीव को उक्त रहस्य का पता चलता है तो उसी दिन वह विरह ज्वाला में दग्ध होने लगता है, उसे समस्त जगत् प्रियतम के विरह-बाणों से विद्ध दिखाई देता है :—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गनें। वै सब बान ओहि के हनें॥

जायसी की सी तीव्र विरह-अनुभूति बहुत कम कवियों में पाई जाती है। उन का विश्वास है कि प्रेम में ही प्रियतम निवास करता है :

पेमहिं माह बिरह रसरसा। मैन के घर मधु अमृत बरसा।

इस विरह की चरम अनुभूति ही मानस में प्रियतम के सामीप्य को दृष्टि-गोचर कराती है और उससे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह विश्व में व्याप्त दिखाई देता है :—

देख मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरन रवि छूटी॥
कँवल बिगस तस बिहँसि देही। भँवर दसन होई के रस लेहीं॥

जायसी के पद्मावत के अन्त में जो निम्नांकित संकेत कोष दिया है उससे भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति अर्थात् लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना का आभास मिलता है :—

तन चितउर मन राउर कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥ आदि

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनका रहस्यवाद सूफी रहस्यवाद के अनुकूल है और साथ-साथ उसमें भारतीय अद्वैतवाद की भी झलक है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि हिन्दी कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैतवादी रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्च कोटि की है।

इसके अतिरिक्त इनमें साधनात्मक रहस्यवाद भी उपलब्ध होता है, जहाँ इन्होंने योग की नौ पौरी आदि का वर्णन किया है। कुछ आलोचकों ने रत्नसेन तथा पद्मावती के रतिरस के वर्णन में आध्यात्मिक अर्थ लगाना चाहा है, किन्तु यह उनका व्यर्थ का प्रयास है। ऐसे प्रसंगों में अश्लीलता आ गई। वहाँ परोक्ष सत्ता का आभास नहीं मिला। डा० कुलश्रेष्ठ के शब्दों में 'जिस प्रकार सागर की कुछ लहरें सागर

का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती उसी प्रकार जायसी का पद्मावत रहस्यवादी काव्य नहीं कहा जा सकता है। हम उसे रहस्यवादी काव्य नहीं कह सकते हैं। हम उसे सरलता से लौकिक प्रेम गाथा का रूप दे सकते हैं।

कबीर और जायसी का रहस्यवाद—आचार्य शुक्ल का इस विषय मे कथन है कि 'कबीर मे जो कुछ रहस्यवाद मिलता है वह बहुत कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर जो वेदान्त तथा हठयोग मे निर्दिष्ट हैं पर इन प्रेम प्रबन्धकारों ने बीच बीच मे जिस रहस्यवाद के संकेत किए हैं, वे स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी हैं।' शुक्ल जी के अनुसार जायसी मे शुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद मिलता है और कबीर मे चिन्तनात्मक। आचार्य श्यामसुन्दरदास के अनुसार कबीर हिन्दी के आदि रहस्यवादी कवि हैं और इनमें शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद की सुन्दर सृष्टि हुई है। हम यहाँ कबीर और जायसी के रहस्यवाद के मौलिक अन्तर को स्पष्ट करेंगे। जायसी के लिए रहस्यात्मकता कबीर की भांति साध्य नहीं है। इन्होने कथा के बीच समासोक्ति द्वारा कई स्थलो पर परोक्ष सत्ता की ओर सुन्दर संकेत किये हैं। कबीर ने अपने प्रियतम का साक्षात्कार केवल अन्तस्तल मे किया है। बाह्य जगत इनके लिए मिथ्या और माया का प्रतीक है जबकि जायसी ने उस परम ज्योति की छटा अतस्तल में जहाँ देखी—'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई।" वहाँ बाह्य जगत् मे भी उसी की दीप्ति को द्योतित देखा—"रवि ससि नखत दिपत ओहि जोती"। यही कारण है कि जायसी के रहस्यवाद मे अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शिता तथा अनेकरूपता है। कबीर का रहस्यवाद साधना-क्षेत्र मे आता है जबकि जायसी का रहस्यवाद भावना क्षेत्र मे। ये दोनों भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित हैं। अद्वैतवाद का अर्थ है आत्मा और परमात्मा का एकत्व तथा जगत और ब्रह्म एकत्व। जायसी के लिये जगत तथा प्रकृति मिथ्या नहीं हैं। इनके लिए प्रकृति के कण कण मे वह ब्रह्म व्याप्त है और प्रकृति प्रेमी अपने प्रियतम के मिलनार्थ विरहातुर है। कबीर की दाम्पत्य भावना भारतीयता से प्रभावित है। इन्होने आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति माना है जबकि जायसी की दाम्पत्य भावना विदेशीपन को लिए हुए है। जायसी ने आत्मा-रत्नसेन को पति और पद्मावती परमात्मा को पत्नी रूप में कल्पित किया है। जायसी के रहस्यवाद मे मिलनातुरता और तड़प दोनों हैं। जायसी का आराध्य आराधक के लिए उतना ही तड़पता है जितना कि आराधक स्वयं और इसका कारण है जायसी के हृदय की प्रशस्य द्रवणशीलता।

आत्मा-परमात्मा की एकता दो साधनों से सम्भव है—एक है कोरी साधना से तथा हठयोग की प्रक्रिया से और दूसरा है सर्वात्मना भाव से अपने आपको ईश्वर में मिला देने से। इस प्रकार रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक तथा भावात्मक। साधनात्मक रहस्यवाद में चिंतन की प्रधानता है और इसमे हठयोग का लेखा-जोखा भी होता है। भावात्मक रहस्यवाद मे भावावेश की प्रधानता है। साधक

इसी के द्वारा ससार में अद्वैत सत्ता का अनुभव करने लगता है। कबीर रहस्यवाद की अत्र प्रथम श्रेणी मे आते हैं जबकि जायसी दूसरी श्रेणी मे। भावात्मक रहस्यवाद को शुद्ध रहस्यवाद माना गया है। जायसी मे भी हठयोग का प्रभाव है। वैसे तो दोनो रहस्यवादी कवि हैं किन्तु इनके रहस्यवाद के प्रकार तथा मात्रा में अन्तर है। एक साधना-क्षेत्र के प्रतिनिधि हैं तो दूसरे भावना क्षेत्र के। कबीर मुख्य रूप से चिंतक हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनसे भावात्मक रहस्यवाद ही नहीं। कबीर की विरहिणी आत्मा जहाँ प्रिय मिलन के लिए तड़प उठी है, वे चित्र निःसन्देह मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं किन्तु ऐसे चित्र अपेक्षाकृत कम हैं। जायसी प्रेम पीर के प्रचारक हैं। रहस्यवाद में विरहानुभूति अत्यन्त आवश्यक है। विरह में अमरत्व का गुण है। वियुक्त जीव मे विरह-व्यथा का होना अनिवार्य है। जायसी विरह परमाणुओ से बने हुए थे और उनकी प्रत्येक सांस विरह की थी। रहस्यवाद प्रेम की अकथ कहानी है। रहस्यवाद के तीन अग हैं—विरह, प्रयत्न और मिलन। जायसी मे इन सभी दशाओं का खुलकर वर्णन मिलता है। उनके अनुसार सूर्य विरह की आग मे तप्त है। समासोक्ति के आधार पर इन्होंने प्रयत्न और मिलन के अतीव मनोरम चित्र उतारे हैं।

कबीर और जायसी दोनो रहस्यवादी कवि हैं। दोनो सन्त और फकीर हैं। दोनों का ईश्वर निराकार है। दोनों का उद्देश्य परम सत्ता के साथ एकता है। दोनों में साधन प्रेम और ज्ञान है। जायसी में प्रेम की प्रधानता है जबकि कबीर में ज्ञान की। दोनो हठयोग तथा भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित हैं किन्तु दोनो में प्रकार और मात्रा का भेद है। कबीर की प्रणय-भावना भारतीय है जबकि जायसी की सूफी मत से प्रभावित। कबीर के लिए जगत मिथ्या है जबकि वह जायसी के परम ज्योति के दिव्य सौन्दर्य से अनुप्राणित। कबीर साधनात्मक क्षेत्र के प्रतिनिधि हैं जबकि जायसी भावात्मक और साधनात्मक दोनो के। शुद्ध रहस्यवाद कबीर की अपेक्षा जायसी मे अधिक है।

पद्मावत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति—समस्त पद्मावत में रूपक तत्त्व ढूँढना व्यर्थ होगा। वस्तु वर्णन में कवि ने कई प्रसगो मे ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ का भी बोध अनायास हो जाता है। उदाहरणार्थ—सिंहलगढ के वर्णन के प्रसगो में नौ पौरी, तथा दसवें दरवाजे वाले नगर का संकेत पाठक को अपने नौ छिद्रों और दसवें ब्रह्म रन्ध्रवाले शरीर का बोध करा देते हैं। राजा रत्नसेन बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया वहाँ कवि ने इस प्रसग को रखन हुए भी दिल्ली को परलोक के रूप में प्रस्तुत किया है। अर्थ-द्योतन की इस पद्धति को समासोक्ति पद्धति कहा गया है। समासोक्ति एक अलकार है, जिसमें समान विशेषणों के बल पर अप्रस्तुत प्रस्तुत की व्यजना की जाती है। इसमें अभिप्रेतार्थ तथा व्यग्यार्थ दोनों को मुख्यता दी जाती है। इसे विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति-मूलक अलकार कहा गया है। यह अन्योक्ति और श्लेष दोनों से भिन्न है। अन्योक्ति

मे व्यंग्यार्थ की मुख्यता दी जाती है—जैसे "बाज पराये पानि परि तू पच्छीनु न मारि" मे बाज और पक्षियो को प्रधानता नहीं है। इसमे मिर्जा राजा जयसिंह द्वारा मुगलो के प्राश्रय मे हिन्दू राजाग्रो के सताये जाने की बात मुख्य है। समासोक्ति मे दोनों पक्ष प्रधान रहते हैं जैसे रत्नसेन को बन्दी बना कर दिल्ली भेजने के प्रसग मे, जहाँ दिल्ली का अप्रस्तुत अर्थ परलोक लिया जायेगा। वहाँ इसके प्रसगगत घटनात्मक अर्थ को छोडा नही जा सकता है। पद्मावत की कथा को प्रस्तुत मानकर व्यग्य द्वारा हम आध्यात्मिक अर्थ लगाते हैं। श्लेष और समासोक्ति मे भी अतर है। श्लेष में कवि दो अर्थ बताने के लिये वचनबद्ध होता है किन्तु समासोक्ति मे वह समान विशेषणो के बल से केवल अप्रस्तुत अर्थ का सकेत कर देता है। समासोक्ति मे यह आवश्यक नही कि कवि आदि से अन्त तक दोनो अर्थों का निर्वाह करता जाय। हाँ जहाँ उसे मौका मिल जाता है, वह विशेषणो के प्रयोग से अप्रस्तुत अर्थ की भी अभिव्यजना कर देता है। जायसी ने अपने प्रबन्ध काव्य मे इसी समासोक्ति पद्धति को अपनाया है। ग्रथ के अत मे दिये गये—

तन चितउर मन राउर कीन्हा।

के सम्बन्ध मे आचार्य द्विवेदी का कहना है—"काव्य के अन्त मे 'तन चितउर मन राउर कीन्हा" का जो सकेत है वह मूल ग्रथ का नहीं है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियो से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसलिए जो लोग पद-पद पर पद्मावत मे रूपक-निर्वाह की बात सोचते हैं वे गलती करते हैं। पद्मावत का कवि रूपक निर्वाह के लिए प्रतिज्ञा बद्ध नही है।" वैसे पद्मावत के अत मे आजकल मिलने वाले सकेत कोश मे रूपक का निर्वाह कहाँ तक बन पडा है, प्रासगिक रूप से इसकी समीक्षा कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यहाँ सच्चा साधक राजा रत्नसेन मन का प्रतीक है, पद्मिनी ईश्वर से मिलने वाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य स्वरूप परमात्मा है। उसकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाला सुआ सद्गुरु है, नागमती दुनिया धधा है, राघव चेतन शैतान है और अलाउद्दीन माया है। वास्तव मे नागमती को दुनिया धन्धा कहना उसके साथ अन्याय है। वह एक आदर्श भारतीय पत्नी है जो कि विलास की अपेक्षा पति दर्शन को ही अधिक महत्त्व देती है। तोता यदि गुरु है तो उसे मार्जारी का भय क्यो ? अलाउद्दीन को माया कहा गया है और नागमती को दुनिया। माया और दुनिया धन्धा प्राय एक ही चीज है। पद्मिनी को सिंहल द्वीप का माना गया है जो कि गोरख-पथ की सिद्धि पीठ है, नही तो शुक्ल जी के मतानुसार वहाँ का सौन्दर्य कोई आक-र्षक नही और वहाँ के लोग काले होते हैं। इस सकेत कोश को देखते हुए कतिपय और प्रश्न भी सहज ही मे उठ पडते हैं—रत्नसेन और सिंहल दोनो मन के प्रतीक क्यों बनाये गये ? मन रूपी रत्नसेन का ज्ञान रूपी पद्मिनी से मेल हो जाने पर माया रूपी अलाउद्दीन और शैतान रूपी राघवचेतन द्वारा उनका विच्छेद क्यो ? शैतान और माया का काम साधक के मार्ग में व्याघात उपस्थित करना होता है, तब राघव-चेतन और अलाउद्दीन को कथा के पूर्वार्द्ध मे भी आना चाहिए था। इस विवेचन

के पश्चात् ऐसा लगता है कि यह अश प्रक्षिप्त है और ग्रंथ का मूल अश नहीं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इतनी व्यापक कथा मे सर्वत्र आध्यात्मिकता का प्रतिपादन जायसी का उद्देश्य नही है। हां, प्रसगवश समासोक्ति द्वारा जहाँ वे परोक्ष सत्ता का सकेत कर सके वहाँ आध्यात्मिकता अवश्य है। आचार्य द्विवेदी का इस सबध मे कहना है कि "परोक्ष सत्ता की ओर सकेत करने का उत्साह जायसी मे इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसगो को मानो खोजते फिरते हैं जिससे परोक्ष सत्ता की ओर इशारे करने का मौका मिल सके। ऐसा मौका बाह्य चित्रण मे अधिक मिलता है, जैसे सिहल गढ, उसके बगीचे, मानसरोवर, पद्मावती का बाह्य रूप आदि।" जायसी में भी महाकवि बाण की सी वर्णन-विस्तार प्रियता है। कहीं-कहीं इन्होंने छोटी सी बात को भी इतना विस्तार दे दिया है कि विषय के विश्लेषण मे सारी आध्यात्मिकता खो सी जाती है। पद्मावती और रत्नसेन के प्रथम मिलन के प्रसग में किये गये प्रेम वर्णन मे रूपक तत्व या आध्यात्मिकता खोजना व्यर्थ होगा। अन्त मे हम डॉ० कुल-श्रेष्ठ के शब्दो मे कह सकते हैं—"जिस प्रकार सागर की कुछ लहरें सागर का प्रतिनिधित्व नही कर सकती उसी प्रकार जायसी का पद्मावत रहस्यवादी काव्य नही कहा जा सकता। हम इसे सरलता से लौकिक प्रेम गाथा का रूप दे सकते हैं।"

पद्मावत का महाकाव्यत्व—नि सदेह पद्मावत हिन्दी का महाकाव्य है। पृथ्वीराज रासो को विशाल काव्य तो भले ही कहा जा सकता है, किन्तु महाकाव्य नहीं क्योंकि उसमे व्यापक जातीय चेतना का अभाव है। महाकाव्य के सभी लक्षणों का इस ग्रंथ मे सम्यक् निर्वाह हुआ है। कथा का पूर्वार्ध लोक प्रचलित और काल्पनिक है तथा उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक। इसका नायक राजकुल से सम्बद्ध है। पूरी कथा ५२ सर्गों, जिन्हें खड कहा गया है, मे विभक्त है। इसमें नाटक की सभी सन्धियाँ मिलती हैं। कथावस्तु में वस्तु वर्णन भी यथास्थान हुआ है। इसमें प्रधान रस शृगार है *किन्तु अन्य रसों का भी समावेश है। इसमें ऐकान्तिक प्रेम कहानी ही नहीं बल्कि* लोक पक्ष का भी सुन्दर समन्वय हुआ। कथा मे स्वाभाविक प्रवाह है। इसमे एक महाकाव्योचित कल्पना आन्तरिक तथा बाह्य अनुभूतियों और विचारो का अत्यन्त कलात्मक प्रकाशन हुआ है। मगलाचरण, सज्जनप्रशसा तथा दुर्जन निंदा आदि सभी बातें मिलती हैं।

काव्य समीक्षा—जायसी के काव्य में प्रधानता रसराज शृगार की है। पद्मावत मे शृगार के सयोग और वियोग दोनो का अच्छा परिपाक हुआ, किन्तु उस मे प्रधानता वियोग पक्ष की है। *नागमती के माध्यम से वर्णित विप्रलम्भ शृगार* इनके प्रबन्ध पक्ष का एक आलोक स्तम्भ है। इस क्षेत्र में कदाचित् ही कोई अन्य हिन्दी कवि इनकी समता कर सके। एक तो विरह जनित प्रेम मे एक विलक्षण तीव्रता, अनिवर्चनीय क्रियाशीलता तथा निराली तड़प होती है, दूसरे जायसी ने अपने प्रेम-विधुर हृदय की कोमल वेदना के आविल आँसुओं से भिगोकर उसमे मणि काचन-योग कर दिया है। जायसी के विरह-वर्णन मे इतनी *व्यापकता*, तीव्रता, मार्मिकता

और तन्मयता है कि समस्त जगत, जड एव चेतन उससे द्रवीभूत हो जाती है। उनके विरह की व्यापकता का एक चित्र देखिए —

नैनन चली रकत कै धारा, कया भीजि भएउ रतनारा।
सूरज बूँडि उठा हुइ राता, औ मजीठ टेसू बन राता॥
औ बसन्त राते बनसपती, औ राते सब जोगी जती॥

यह प्रकृति के द्वारा सहानुभूति प्रदर्शित की गई है, अंग्रेजी कवि रस्किन ने सवेदना को हेत्वाभास (Pathetic Falacy) कहा है। जायसी ने ऐसे कथन कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, किन्तु इनका लाक्षणिक अर्थ लेने पर प्रभावाधिक्य का ही बोध होता है। सूर ने भी कृष्ण विरह मे प्रकृति को व्यथित दिखाया है। किन्तु इस विषय मे उन्होने कुछ अधिक मर्यादा से काम लिया है। सूर ने प्रकृति के वे ही अग लिए हैं जो कृष्ण से सम्बद्ध थे। यमुना के विरह ज्वर से काले पडने पर गोपियाँ मधुवन से पूछ उठती हैं—'मधुबन तुम कत रहत हरे ?" साहित्य म विरह वणन के पकरण मे पशु पक्षी, पुष्प और पादपो से प्रियतम का पता पूछने के उदाहरण तो मिल जाते हैं जैसे कालिदास के मेघदूत में विरही यक्ष धुएँ और जल के सघात बादल को अपनी प्रेमिका के लिए सन्देश देता है, राम सीता के वियोग मे वन के खग मृग और मधुकर-श्रेणी से अपनी मृगनयनी के सम्बन्ध मे पूछते हैं किन्तु किसी पक्षी ने व्यथित होकर विरही के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की हो, ऐसी नवीनता केवल जायसी में ही मिलेगी। नागमती रत्नसेन के विरह में वन वन मे दिन रात बिलख और कलप रही है —

फिरि फिरि रोय कोई नहिं डोला, आधी रात विहगम बोला।
तू फिरि-फिरि दाहे सब पाँखी, केहि दुख रैन न लावसि आँखी॥

पद्मावत के प्रेम में किसी प्रकार की न्यूनता नही है फिर भी नागमती के विरह मे एक विशेष तीव्रता और मार्मिकता है। नागमती को पति वियोग तो था ही साथ साथ सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ने उसे और भी तीव्र बना दिया था। वह विरह में जलकर कोयला हो गई, उसके शरीर मे तोला भर मास न रहा, उसम रक्त तो नाम मात्र को भी न था। जायसी के शब्दो में —

हाड भये सब किंगरी, नसे भई सब ताँति।
रवि रोंव से धुनि उठें, कहौं बिथा केहि भाँति॥

नागमती एक आदर्श हिन्दू महिला है। उसमें पति भक्ति पूर्ण रूप से विद्यमान है। उसके प्रेम मे ऐन्द्रियता की अपेक्षा मानसिक पक्ष की प्रधानता है। उसमे एक महान् त्याग है जो उसे बहुत ऊँचा उठा देता है —

"मोहि भोग सो काम न बारी, सौंह दिस्टि को चाहनि हारी।'

नागमती के विरह वर्णन में बारहमासा का एक विशेष स्थान है। प्रत्येक मास की प्राकृतिक दशा के साथ नागमती के हृदय के शोक और हर्ष की जो अभिव्यजना की गई है वह वस्तुत, अनुपम है। नागमती के निम्नांकित शब्दों मे कितनी

स्वाभाविकता, कितना दैन्य, कितनी उत्कंठा और कितनी प्रेम निष्ठा है, इसका एक विरही हृदय ही अनुमान लगा सकता है—

यह तन जारौ छार कै, कहौं कि पवन उड़ाय।
मकु तिहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाय॥

नागमती का व्यथापूर्ण सन्देश अत्यन्त हृदयहारी बन पड़ा है—

पिउ सो कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥

आचार्य शुक्ल नागमती के विरह के सम्बन्ध में लिखते हैं "नागमती के इस विरह वर्णन में जायसी ने यद्यपि कहीं-कहीं ऊहात्मक पद्धति का सहारा लिया है, फिर भी उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। बिहारी की विरह-व्यंजना की भांति उसमें उछल-कूद और मजाक नहीं है। जायसी की अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होते हैं। फारसी की काव्य शैली से प्रभावित होने के कारण जायसी का विरह-वर्णन कहीं कहीं बीभत्स भी हो उठा है, परन्तु जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है वहाँ कोई अरुचिकारी बीभत्स दृश्य नहीं आने पाया।"

संयोग पक्ष—जायसी को अपने पद्मावत में जितनी सफलता वियोग पक्ष में मिली है उतनी संयोग पक्ष में नहीं। यद्यपि उनका यह पक्ष भी सजीव है और इस दिशा में उन्होंने काफी मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किए हैं पर उनमें इतनी व्यापकता, तीव्रता और गम्भीरता नहीं जितनी कि विप्रलम्भ शृंगार में है। इन्होंने संयोग शृंगार के वर्णन में षट् ऋतु का वर्णन किया है, जो कि आवश्यक है। रत्नसेन तथा पद्मावती के प्रथम समागम का बड़ा विशद वर्णन किया है और उसमें कुछ हास्य विनोद का भी विधान है। समागम के समय के हाव भावों के वर्णन में कहीं तो कोरी छेड़-छाड़ है जो फटकार और अश्लीलता की कोटि में पहुँच जाती है। प्रेमिका के वार्तालाप में श्लेष और अन्योक्ति द्वारा वाक्चातुर्य दिखाया गया है जो रसचर्वणा में सहायक की अपेक्षा बाधक सिद्ध हुआ है। समागम की रसधारा के बीच रसायनशास्त्र के लम्बे ब्यौरे देखकर अपनी बहुज्ञता दर्शाने लगते हैं जिससे रसास्वादन में आघात पहुँचा है। उनके संयोग-वर्णन में एक-एक अंग का अलग-अलग बिखरा हुआ सौन्दर्य भले ही हो पर वह किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर सकता। इनके संयोग के चित्रों में इतनी मार्मिकता नहीं कि वे पाठक को संयोग मधुर वातावरण में डुबो सकें। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के शब्दों में, "संयोग पक्ष के अन्य अंगों व क्रिया कलापों के वर्णन में भी जायसी ने असंयम से काम लिया है। उसके फलस्वरूप उनके संयोग-वर्णन अत्यन्त स्थूल, शिथिल एवं अश्लील हो गये हैं।"

अन्य रस—पद्मावत एक प्रबन्ध काव्य है, अतः इसमें शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का समावेश भी हुआ है। रत्नसेन के सिंहल गमन, रानियों का

विलाप तथा रत्नसेन की मृत्यु के प्रकरणों में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। युद्ध वर्णन में वीभत्स का अच्छा उद्रेक है। क्षात्र तेज सम्पन्न गोरा बादल आदि पात्रों में वीर रस की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। जायसी का वात्सल्य वर्णन कुछ शिथिल सा है। अलाउद्दीन की रत्नसेन को चिट्ठी प्रसग में रौद्र रस है पर उसका यथेष्ट परिपाक नहीं हुआ। रत्नसेन के वैराग्य वृत्ति धारण करने पर शान्त रस का निर्वाह हुआ है।

पदमावत एक घटना प्रधान काव्य है। जायसी ने इसे रसात्मक बनाने के लिए वर्णनात्मकता पर अत्यधिक बल दिया है। कहीं कहीं पर वर्णनात्मकता की वृत्ति इतनी बढ़ी चढ़ी हुई दिखाई देती है कि पाठक ऊबने लगता है। उदाहरणार्थ सिंहल द्वीप में फूलों और फलों का वर्णन, पकवानों की लम्बी सूची, रसायन सम्बन्धी क्रियाएँ तथा हठयोग का विस्तृत वर्णन, ये कुछ ऐसे प्रकरण हैं जिनसे कथा के प्रवाह में बाधा पहुँची है। इन सब बातों से जायसी एक वर्णन कवि ठहरते हैं।

प्रकृति चित्रण—प्रकृति चित्रण दो प्रकार का होता है—अन्त प्रकृति चित्रण और बाह्य प्रकृति चित्रण। अन्त प्रकृति चित्रण की दृष्टि से पद्मावत का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण पद्मावत में नहीं मिलता। मनुष्य के स्वभाव चित्रण की जो सूक्ष्मता और क्षमता तुलसी में है वह जायसी में नहीं है और यही कारण है कि पद्मावत में पात्रों का सर्वांगीण विकास नहीं हो सका। बाह्य प्रकृति के चित्रण में यह स्मरण रखना होगा कि जायसी का प्रकृति प्रेम विशुद्ध प्रकृति प्रेम न होकर ईश्वर तक पहुँचने का साधन है। जायसी ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकृति का चित्रण किया है। उनकी प्रकृति चित्रण की शैलियाँ ये हैं—परिगणन शैली, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली, उपमा शैली, प्रतीक शैली और रहस्यात्मक शैली।

चरित्र चित्रण—जायसी का चरित्र चित्रण एकदेशीय है। पद्मावत में रामचरित मानस जैसी अनेकरूपता नहीं है। तुलसी के राम में जैसे शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है वह जायसी के रत्नसेन में नहीं है। रत्नसेन एक आदर्श प्रेमी है, पद्मावती आदर्श प्रेमिका, नागमती एक आदर्श हिन्दू रमणी और गोरा बादल आदर्श वीर हैं। हाँ इतना अवश्य है कि जायसी ने अन्य सूफी कवियों की भाँति अपनी कथा को एकांतिक प्रेम कहानी होने से बचा लिया है क्योंकि इन्होंने उसमें लोकपक्ष का समावेश भी कर दिया। कथा की घटनात्मकता तथा इनकी वर्णन विस्तार प्रियता ने चरित्रों को उभरने नहीं दिया है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "मनोभावों का चित्रण तो ये बड़ी कुशलता से कर लेते हैं किन्तु विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पात्रों की व्यक्तिगत विशिष्टता और विलक्षणता प्रकट करने में वे सफल नहीं हो सके हैं। उनका आदर्श चित्रण एकदेशी है। रत्नसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का, किन्तु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों के पड़ने पर इनका कौन सा रूप निखरेगा, यह स्पष्ट नहीं हो सका, सर्वत्र एक सामान्यीकरण का

प्रयास है।" इन्होंने सात्विक और तामसिक दोनो प्रकार के पात्रो का चित्रण किया है। अलाउद्दीन तामसी पात्र है जो कामी और लोभी है। राघवचेतन छली और कृतघ्न। हिन्दू पात्रो का उनकी संस्कृति के अनुरूप बडी सहृदयता से चित्रण किया है।

अलंकार—जायसी ने सादृश्यमूलक अलंकारो का सफल प्रयोग किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इन्हें विशेष प्रिय हैं। अनेक स्थानो पर इन्होंने स्वभावोक्ति, अन्योक्ति और रूपकातिशयोक्ति अलंकारो का भी बहुत मनोरम प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त श्लेष, व्यतिरेक, तद्गुण, विभावना, सन्देह, अनुप्रास तथा निदर्शना आदि अलंकारो का भी इन्होने सफल प्रयोग किया है। इनके साहित्य में उपमानो की इतनी अधिक संख्या है जो शायद ही हिन्दी साहित्य के किसी अन्य कवि मे मिले।

छन्द—जायसी ने दोहा, चौपाई छन्दो को अपनाया है और उनका अवधी भाषा मे इतना सफल प्रयोग किया है कि वे कदाचित् हिन्दी के अमर ग्रंथ रामचरितमानस के कर्त्ता तुलसी के भी इस दशा मे पथ-प्रदर्शक बन सके।

भाषा—इन्होंने ठेठ अवधी के पूर्वीपन को अपनाया है। यद्यपि जायसी का अवधी प्रयोग असंस्कृत है किन्तु भाषा की स्वाभाविकता, सरसता और मनोगत भावो की प्रकाशन-सामग्री ने जायसी को अवधी साहित्य क्षेत्र मे मान्य बना डाला है। जायसी की अवधी मे तुलसी की सी साहित्यिकता और पांडित्य नही है और यह अच्छा भी हुआ, क्योंकि इससे उसका स्वाभाविक रूप बना रहा है अन्यथा संस्कृत के तत्सम शब्दो की भरमार से वह क्लिष्ट बन जाती। उनकी भाषा प्रसाद और माधुर्य गुण से परिपूर्ण है। इनकी भाषा कई स्थलो में अव्यवस्थित है। उसमे च्युत संस्कृति दोष है जो कि खटकता भी है, किन्तु फिर भी इन्होंने अवधी को साहित्य क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

निःसन्देह जायसी के काव्य मे अत्यधिक पुनरुक्तियाँ हैं, उसमें अनावश्यक पांडित्य-प्रदर्शन भी है, अत्युक्तियों की भरमार है, हिन्दू-संस्कृति का अपूर्ण ज्ञान है, भाषा सम्बन्धी च्युत संस्कृति दोष भी है, किन्तु फिर भी जायसी का भारतीय साहित्य और संस्कृति मे एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दू मुस्लिम हृदयो के सांस्कृतिक समन्वय का श्रेय तो इनको है ही, कवि के नाते हिन्दी साहित्य मे भी ये अत्यन्त उच्च ठहरते हैं। बाबू गुलाबराय के शब्दों में हम कह सकते है "जायसी महान् कवि हैं। उसमें कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को अपने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।"

कबीर और जायसी—दोनो प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। कबीर केवल बहुश्रुत है किन्तु जायसी इसके साथ फारसी के अच्छे विद्वान भी हैं। जायसी की भाषा लोकप्रचलित अवधी है जबकि कबीर की भाषा सधुक्कडी है। इन दोनो से तुलसी के पांडित्य और नन्ददास के भाषा-सौष्ठव की आशा नही की जा सकती है। जायसी ने

मसनवी शैली को अपनाया है, जबकि कबीर ने दोहे और भजन लिखे हैं।

दोनो का उद्देश्य जन सामान्य मे निर्गुण का प्रचार करना है। ये पहले सत और साधक हैं बाद मे कवि। अत कविता इनके लिए साधन थी न कि साध्य। कबीर का स्थान सन्त काव्य मे सर्वोच्च है जबकि जायसी का स्थान सूफी काव्य मे। कबीर का ज्ञान मस्तिष्क से सम्बद्ध है जबकि जायसी का प्रेम रहस्य से। जनता को प्रभावित करने मे जायसी कबीर की अपेक्षा अधिक सफल रहे हैं और वे इससे भी अधिक सफल रहते यदि उनका पद्मावत फारसी लिपि मे निबद्ध न होता। दोनो हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षपाती हैं किन्तु उनके साधन भिन्न-भिन्न है। कबीर ने खडनात्मकता की पद्धति को अपनाया जबकि दूसरे ने मडनात्मक पद्धति को। कबीर ने दोनो जातियो को धार्मिक क्षेत्र मे परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया जबकि जायसी ने सास्कृतिक समन्वय के द्वारा प्रत्यक्ष जीवन की आवश्यकता को पूरा किया और दोनो हृदयो के अजनबीपन को मिटाया।

जायसी कबीर की अपेक्षा अधिक उदार और सहिष्णु हैं। जायसी के लिए जैसे तीर्थ-व्रत हैं वैसे रोजा-नमाज, किन्तु कबीर बुरी तरह विपक्षी मत का खडन करते हैं। कबीर किसी भी कीमत पर अपने मत का प्रचार करना चाहते हैं। कबीर स्वभाव से अक्खड, फक्कड, मस्तमौला निर्भीक और स्वतन्त्र हैं, जबकि जायसी विनम्र और मुलायम तबीयत के हैं।

दोनो विविध मतो से प्रभावित हैं। दोनो पर अद्वैतवाद, सर्वेश्वरवाद तथा हठयोग का प्रभाव है। दोनो के साधन ज्ञान और प्रेम है, पर उनके अनुपात मे अतर है। दोनो भारतीय सस्कृति से प्रभावित हैं पर दोनो को उसका सम्यक् ज्ञान नहीं है। कबीर कभी एकेश्वरवाद की ओर जाते हैं तो कभी अद्वैतवाद की ओर और कभी वैष्णवो के प्रपत्तिवाद की ओर झुकते हैं। वे बहुश्रुत थे अत कभी कुछ और कभी कुछ कहते रहे। जायसी ने अपने पद्मावत में भारतीय सस्कृति का अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है पर कही-कही पर वे भूल भी कर गये हैं। उन्होने नारद को शैतान कह दिया और अपने नायक को रावण की उपमा दे दी।

जायसी का ज्ञान-क्षेत्र कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था, अत वे खडन पर नही उतरे। इस्लाम सस्कृति के साथ उन पर भारतीय सस्कृति का भी प्रभाव था। वे कबीर के समान केवल सत्सगी जीव नही थे प्रत्युत उन्हें फारसी साहित्य का गम्भीर ज्ञान था। उन्हे काव्यशास्त्रीय ज्ञान भी था, कदाचित् इसलिये वे हिन्दी क्षेत्र मे भी उसी गति के साथ बढ सके।

काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे जायसी कबीर की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरते हैं। कबीर सूक्तिकारो तथा गीतिकारो मे आते हैं, जबकि जायसी हिन्दी के प्रथम सफल प्रबन्धकार ठहरते हैं। और जिन्हें तुलसी का भी इस दिशा मे मार्गप्रशस्ता माना जा सकता है। जायसी के काव्य मे सभी रसो का समावेश है किन्तु विप्रलम्भ शृंगार

का परिपाक तो अपनी चरम सीमा पर है और इस विषय मे शायद ही हिन्दी का कोई दूसरा कवि इनकी समता कर सके। कबीर मे शान्त और शृगार रस है, किन्तु उसमे जायसी जैसी बुल दी नही। भले ही जायसी हिन्दी के प्रथम कोटि के कलाकारो मे न आते हो परन्तु वे निश्चित रूप से कबीर को अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरते हैं। हमारे विचारानुसार साहित्यिक दृष्टि से जायसी को कबीर की अपेक्षा श्रेष्ठ कहना साहित्यिक न्याय होगा।

सूफी प्रेमाख्यानो के प्रेम पर विदेशी प्रभाव

कतिपय विद्वानो ने हिन्दी के सूफी कवियो द्वारा चित्रित प्रेम पर विदेशी प्रभाव की चर्चा की है। डॉ० रामरतन भटनागर का कहना है कि 'परन्तु प्रेम का जो रूप इन प्रेम गाथाओ मे है वह भारतीय काव्य परम्परा से दूर पडता है—पहली बात निराधार पूर्वराग है। गुण श्रवण द्वारा पूर्व राग की उत्पत्ति हमारे शास्त्रकार मानते हैं परन्तु नायिका के सौंदर्य की बात सुनकर नायक को मूर्च्छा आ जाय यह कल्पना दूर की कौडी है— दूसरी बात है पुरुष का प्रयत्नशील होना। भारतीय काव्य परम्परा मे नायिका नायक से मिलने के लिए प्रयत्नशील होती है।" डॉ० सरल शुक्ल ने विदेशी प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है—'अन्य देशो की भांति यहाँ भी (अरब के) वीरगाथा कवियो का अनिवार्य सम्बन्ध प्रेम, सुरा और प्रिया के नखशिख वर्णन मे स था।...... इस प्रकार कविता सूफियो को परम्परा से मिली।" आगे चलकर वे लिखती हैं—'शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा ईरान देश के प्रभाव एव फारसी के माध्यम से सूफी साहित्य की विशेषता बन गई।' उपर्युक्त कथनो के आधार पर विद्वान् आलोचको को सूफियो के प्रेम पर जिन विदेशी प्रभावों का आभास मिला है। वे इस प्रकार हैं—

(क) सूफियो द्वारा वर्णित पूर्वराग भारतीय परम्परा के अनुकूल न होकर विदेशी परम्परा के अनुकूल है। भारतीय परम्परा मे पुरुष प्रयत्नशील न होकर नारी प्रयत्नशील होती है जबकि यहाँ प्रेमिका की प्राप्ति के लिए पुरुष को प्रयत्नशील दिखाया गया है।

(ख) सूफी काव्यो मे निरूपित प्रेम, सुरा और नख-शिख पर अरबी और फारसी साहित्य का प्रभाव है।

(ग) सूफियो से पूर्व शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम से प्रतीकात्मिक वर्णन की परम्परा भारत में नही थी। जैसे कि धर्म-क्षेत्र मे प्रेम प्रवेश का कार्य सूफियो के आगमन के पश्चात् हुआ हो।

बड खेद का विषय है कि आधुनिक भारत का मनीषी स्वरूप विस्मृति के कारण अपनी प्रत्येक वस्तु पर विदेशी प्रभाव की कल्पना करने मे तनिक भी विलम्ब नहीं करता। डॉ० विमल कुमार जैन ने आधुनिक कवियो महादेवी, प्रसाद, निराला की रहस्यवादी पीडा और वेदना का सम्ब ध सूफी मतवाद की फारस देश से उधा

सी हुई पीडा के साथ जोड दिया है। डॉ० ताराचन्द के अनुसार शकराचाय निम्बार्क, रामानुज रामानन्द वल्लभाचाय तथा दक्षिण के अलावार मत एव वीर शैव तथा लिगायत सम्प्रदाय ये सबके सब इस्लामी प्रभाव से आविभूत हुए। उनके अनुसार शकर का अद्वैतवाद इस्लाम की शिक्षा से निकला था और हिंदुओ का भक्ति आन्दोलन भी इस्लाम की देन है। डा० आबिद हुसैन तथा हुमायूँ कबीर ने भी भारतीय साहित्य और सस्कृति पर मुस्लिम प्रभाव की अतिरजनापूण कल्पना की है। लगता है जैसे कि ये सभी लेखक हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रोत्साहन काय के जोश मे अतिरिक्त भावुकता वश बहक गये हो। जैसे आज से कुछ वष पूव हिन्दुओं के भक्ति आन्दोलन पर ईसाइयत के प्रभाव का निराधार कोलाहल मचा और फिर रातोरात स्वय बैठ गया। इसी प्रकार इन तथाकथित प्रभावो की दशा समझनी चाहिए। कहने को तो शकराचाय को प्रच्छन्न रूप से बौद्ध धम का प्रचारक तक कह दिया गया है। किन्तु आज इन तथाकथित आरोपो की विश्वसनीयता सदिग्ध है। कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि यदि मुसलमान इस देश में न भी आये होते और हमारा सम्पक मुस्लिम जगत से न भी हुआ होता तो भी भारतीय साहित्य और चिंतन धाराओ का स्वरूप वसे ही चलता जसे आज है। हिन्दू धम दशन और साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव बिल्कुल सतही प्रभाव रहा है। रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार दशन और विचार की धरातल पर इस्लाम ने हिंदुत्व पर कोई प्रभाव नही डाला।'

हम पहले ही बता चुके हैं कि सूफियो का शृंगार वणन भारतीय साहित्य परम्परा और भारतीय वातावरण के अनुकूल हुआ है। यहाँ के काव्यशास्त्रियो द्वारा पूवराग की उत्पत्ति गुण श्रवण चित्र दशन स्वप्न-दशन तथा प्रत्यक्ष दशन से स्वीकार की गई है। सूफी काव्यो में पूवराग के उक्त चारो कारणो की यत्र तत्र चर्चा की गई है। गुण श्रवणादि से नायक का मूर्च्छित हो जाना सूफी सस्कारो के अतिरेक का परिणाम है। प्रेमिका की प्राप्ति के लिए नायक का प्रयत्नशील होना केवल फारसी के मसनवी काव्यो का ही विशिष्ट या अतिरिक्त गुण नही है भारतीय प्रेमाख्यानो मे भी प्रिया की प्राप्ति के लिए नायक को प्रयत्नशील दिखाया गया है। बाण की कादम्बरी तथा सुबुधु की वासवदत्ता इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भारतीय रस साधको ने इसीलिए रति का उभयपक्षीय होना आवश्यक माना है। भारतीय साहित्य म अभिसारिकाओं का प्रयोग प्रेम क्षत्र नारी के स्वातन्त्र्य का द्योतक है जबकि ईरानी साहित्य में पुरुष को एकमात्र प्रयत्नशील दिखाना वहाँ की नारियो के प्रेम स्वातन्त्र्य पर कठोर सामाजिक प्रतिबधो का परिचायक है।

सूफियो के प्रेमाख्यानो में वर्णित सुरा और नख शिख आदि का अरबी साहित्य से गठबधन करना न्याय सगत नही है। काम सूत्र मे अनेक प्रकार की गोष्ठियो का उल्लेख है जिनमे पान गोष्ठियाँ प्रमुख हैं। शिशुपाल वध काव्य म सुरा से उन्मत यादव दपतियो के अनक लीला बिहारो का उन्मुक्त वणन है। नख शिख वणन आलम्बनगत

उद्दीपन विभाव मे आता है जिसकी चर्चा हमारे यहाँ इस्लाम के जन्म से पूर्व रस-शास्त्री कर चुके थे। यहाँ पर नख-शिख और शिख-नख दोनो प्रकार के वर्णन की परम्परायें रही हैं। इस प्रवृत्ति के दर्शन सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश साहित्य मे बहुत पहले से होते हैं। नख शिख आदि का विषय भारतीय साहित्य मे अतीव प्रिय रहा है। शतक-शतक जैसे काव्यों का निर्माण इसका स्पष्ट द्योतक है। दिनकर जी का तो यहाँ तक विश्वास है कि "नायिका भेद-परम्परा फारसी के प्रभाव से नहीं आई क्योंकि अरबी और फारसी में यह परम्परा है ही नही। मुसलमान कवियो ने नायिका-भेद-वर्णन सस्कृत और हिन्दी की परम्परा से लिया।"

धर्म क्षेत्र में प्रेम-प्रवेश की प्रक्रिया सूफियो के आगमन से बहुत पहले प्रारम्भ हो चुकी थी। युद्ध व्यक्तिगत प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा भी इस देश के लिए कोई नई वस्तु नहीं है। जैनों की धर्म कथाओ मे यन्त्र-तन्त्र इस प्रकार से प्रेम के दर्शन होते हैं। वैष्णवाचार्यों, आलवार सन्तों, जैन मुनियो तथा वज्रयानी सिद्धो द्वारा धर्म-क्षेत्र मे प्रेम प्रवेश और उसके व्यक्तिगत रूप के वर्णन का कार्य सूफियो के आगमन से पहले सम्पन्न हो चुका था।

हिन्दी काव्य की शृगारी परम्परायें पूर्व के भारतीय साहित्य की शृगार-परम्पराओं से परिचालित रही हैं। हाल की गाथासप्तशती, गोवर्धन की आर्यासप्तशती, अमरुक शतक तथा इस प्रकार के सस्कृत आदि भारतीय भाषाओ के असख्य शृगारी ग्रथ प्रेम काव्यो के प्रेरणा स्रोत बने रहे हैं। हिन्दी के मुक्तक काव्यो पर तो इन ग्रथों का प्रभाव और भी अधिक उभरी हुई मात्रा मे पड़ा है। सस्कृत मे रचित ढेरो के ढेर ऐहिकता परक सरस काव्यों का प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर पड़ा। कवि आलम ने स्पष्ट शब्दो म उक्त प्रभाव को स्वीकार किया है—

> कछु अपनी कछु पर कृति चोरौं जथा सकति कर अक्षर जोरौं।
> सरस शृगार विरह की रीति माधव काम कन्दला प्रीति।
> कथा सस्कृत सुनी कछु थोरी, भाषा बाँधि चौपाई जोरि॥

हिन्दी काव्य के भाव पक्ष पर यदि फारसी का कोई प्रभाव पड़ा है तो वह है उसके अतिरिक्त भावुकता और जुगुप्सा तथा पीड़ा का मादक भाव। सस्कृत साहित्य मे भी मादकता के वर्णन हैं किन्तु फारसी साहित्य की मादकता की प्रकृति उससे कुछ भिन्न है। दिनकर जी ने संतों के बहुरियावाद को सूफीमत से प्रभावित माना है जो कि हमे स्वीकार नहीं है। आन्दाल नाम की आलवार साधिका बहुत पहले से इस भाव को अपना चुकी थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य मे स्त्री को पुरुषवत् सम्बोधन करने की प्रवृत्ति (बहुत ही थोड़े स्थलों में) भी किसी सीमा तक फारसी का प्रभाव मानी जा सकती है। ऐसा भाव समाज में प्रेम के स्वतन्त्र विकास पर बन्धना के कारण जन्म लेता है। नारी भी कभी-कभी पुरुष भाव में निजानुभूति करने लगती है किन्तु ऐसा तब होता है। जब पुरुष उसे लजीला दिखाई पड़ता है उस समय वह स्वय अपने हृदय को न्योछावर करती हुई आगे बढ़ती है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि इन प्रेमकाव्यों में सभी कुछ पुरानी भारतीय शृंगार-परम्परा का मिलता है। उसमें नागरकता है किन्तु विदेशी प्रभाव की सी हुस्न परस्ती या वेश्या विलास जैसी कोई भी वस्तु नहीं है। पुरातन भारतीय शृंगार-परम्परा और इन काव्यों के शृंगारी रूप में जो थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। उसका कारण है प्रत्येक युग की सांस्कृतिक, धार्मिक तथा कलात्मक अभिरुचियों और प्रवृत्तियों की विभिन्नता।

हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य और धर्म प्रचार

हिन्दी जगत् में अनेक विद्वानों ने इन प्रेमगाथाओं के निर्माण का उद्देश्य धर्म प्रचार स्वीकार किया है। इस विषय में डॉ० रामकुमार का कथन है— "पद्मावत की सारी कथा के पीछे सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा है किन्तु वे (जायसी) इसे निभा नहीं सके। अयोध्यासिंह उपाध्याय का भी ऐसा ही विश्वास है।" सूफी सम्प्रदाय के भावों को उत्तमता के साथ जनता के सामने लाने के लिए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत की रचना की। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद तथा आचार्य शुक्ल ने भी सूफी काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के पद्मावत का निर्माण का उद्देश्य सूफी सिद्धान्तों का प्रचार माना है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना होगा कि सूफी एवं असूफी प्रेमाख्यानों का उद्देश्य धर्म प्रचार नहीं है। शुक्ल जी के पश्चात् प्रायः उन्हीं का अनुकरण करते हुए विद्वानों ने यह धारणा बना ली कि इन सूफी काव्यों के निर्माण का उद्देश्य लौकिक प्रेम-कहानियों के माध्यम से परोक्ष रूप में सूफी धर्म या मुसलमान धर्म का प्रचार करना है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय साहित्याचार्यों के अनुसार काव्य निर्माण के उद्देश्य हैं—यश-प्राप्ति, अर्थोपार्जन, व्यवहार ज्ञान, पाप-नाश, मोक्ष-प्राप्ति तथा कान्ता के मन्द स्मित के समान मधुर उपदेश देना। अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन पुरुषार्थों में से किसी एक की उपलब्धि काव्य प्रणयन का उद्देश्य स्वीकार किया गया है। जायसी आदि कवियों का उद्देश्य काव्य-सृष्टि द्वारा पैसा बटोरना नहीं है। ये सूफी प्रेम-काव्य धर्म प्रचारार्थ भी नहीं लिखे गये और न ही इनके पाठक इन्हें धार्मिक ग्रन्थ मानकर पढ़ते हैं। मोक्ष प्राप्ति भी इनसे सम्भव नहीं क्योंकि इन काव्यों में किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिकता भी नहीं है। इन काव्यों के प्रणेताओं का लक्ष्य काम है। यहाँ हमें काम को उसके व्यापक अर्थ में ग्रहण करना होगा, जिसका अपर पर्याय आनन्द या स्वान्तः सुख है। इन प्रेम-काव्यों को लिखना और पढ़ना लेखक और पाठक दोनों के दृष्टिकोणों से आनन्द लाभ एवं मनोरंजन है। किसी भी कृति के निर्माण के मूल में अन्य उद्देश्यों को छोड़कर यशोलिप्सा की बलवती आकांक्षा सर्वदा सन्निहित रहती है। इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति सूफी कवि जायसी में बड़े स्पष्ट शब्दों में हुई है—

औ यह जानि कवित्त अस कीन्हा, मकु यह रहे जगत में चीन्हा।
केई न जगत जस बेंचा, केइ न लीह जस मोल।
जो यह सुनै कहानी हमैं संवेरे दुई बोल।।

चित्रावली के लेखक उसमान ने इस विषय मे बडी गर्वोक्ति से काम लिया है 'कि जिसकी बुद्धि अधिक हो, वह मुझ जैसी कथा को आकर कहे। मेरी इस कथा से बालकों को कथारस मिलता है युवक वर्ग मे काम की वृद्धि होती है और भोगी जनो के लिए सुख तथा भोग की प्राप्ति होती है"—

जाकी बुद्धि होइ अधिकाइ, आन कथा एक कहै बनाई।
बालक सुनत कामरस लावा, तरुनन्ह के सब काम बढ़ावा।
भोगी कह सुख भोग बढ़ावा ।।

उसमान का एक अन्य स्थान पर कहना है—"इस कथा को मैंने हृदय में उत्पन्न किया है, जो कहने मे मीठा जान पडे और सुनते समय सुन्दर लगे। इस कथा को बनाया जिससे रात अच्छी तरह कट सके।" भारत मे काव्यानन्द से धीमानो के लिए कालयापन की परम्परा चिर पुरातन है—

काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

नूर मुहम्मद ने अपनी रचना का उद्देश्य प्रेमरस का प्रचार करना बताया है—

नूर मुहम्मद यह कथा अहै प्रेम की बात।
जाहि मन होई प्रेम रस, पढ़ै सोई दिन रात।।

शेख निसार ने अपनी रचना यूसफ जुलेखा का प्रणयन अपने तरुण पुत्र के दारुण निधन पर शोक निवारण के लिए किया था। उसकी प्रबल आकांक्षा है कि उसकी अमर कीर्ति इस नश्वर संसार मे रह जाय—

जब ते सतीफ कर मरम बिसेख्यो।
तब सपत मिरषा देख्यो।।

हम न रहब आखर रह जाइ,·· ·· प्रेमी सुन प्रेम अधिकावै।।

मृगावती का निर्माण बगाल के शाह हुसेन की प्रेरणा से हुआ था। मुल्ला-दाऊद की नूरक चन्दा का उद्देश्य भी किसी धर्म विशेष का प्रचार करना नहीं है। मृगावती मे न कोई सूफी आदर्श है और न ही कोई धर्म प्रचार की भावना। इसकी रचना द्विजदेव की मृगावती है, जो कि कथासरितसागर के आधार पर बनी। डॉ० कमल कुल श्रेष्ठ के अनुसार जायसी से पूर्व पाठक राजवल्लभ ने १४६७ विक्रम संवत में पद्मावती की कहानी संस्कृत में लिखी थी। आचार्य हजारी प्रसाद के अनु-सार "नायिका के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति और रोमांसवादी काव्यों का बोध कराने के लिए "वती" प्रत्यय का प्रयोग बहुत पुरातन काल से होने लगा था। कई विद्वानो के अनुसार मनसी के पद्मावत का आधार कथासरित्सागर है। रीति-कालीन अमूरी मुस्लिम कवि आलम की अपनी रचना संयोग-वियोगात्मक प्रीतिमय

"माधवानल कामकन्दला" के द्वारा प्रेमीजनों के प्रेम और कामी रसिकजनों की रसिकता की अभिवृद्धि अभीष्ट है"—

कहौं बात सुनो सब लोग, कथा कथा सिंगार वियोग।
सकल सिंगार विरह की रीति, माधौ कामकन्दला प्रीति।
प्रीतिवन्त हूँ सुनै सोहोइ, बाढ़ै प्रीति हिए सुख होई।
कामी पुरुष रसिक जे सुनहिं ते या कथा रैनि दिन सुनहिं॥

उपर्युक्त कथनों के आधार पर यह निःसकोच कहा जा सकता है कि सूफी एवं असूफी मुसलमान कवियों के प्रेमाख्यानों के प्रणयन का उद्देश्य किसी प्रकार का कोई धर्म प्रचार नहीं था। यदि इन रचनाओं का उद्देश्य धर्म प्रचार होता तो ये रचनायें न तो इतनी जन प्रिय बन पाती और न ही इतनी चिरजीवी हो सकती। इसके अतिरिक्त धर्म प्रचार के लिए लिखी गई रचनाओं का परिगणन धर्मशास्त्र के अन्तर्गत होना चाहिए था सृजनात्मक साहित्य में नहीं। यदि इन कृतियों द्वारा किसी धर्म का प्रचार होता भी है तो वह है मानव धर्म अथवा प्रेमधर्म जिसकी अभिनन्दनीय अभिव्यक्ति कवि-कुल गुरु कालिदास, कवीन्द्र रवीन्द्र कबीर तथा विश्व के अन्य मूर्धन्य कवियों में हुई है। अतः सूफी रचनाओं के मूल में किसी सम्प्रदाय विशेष के सकीर्ण धर्म-प्रचार की कोई दुरभिसन्धि नहीं है।

अधिकतर मुस्लिम सूफी कवियों की प्रेम रचनाओं की सृष्टि बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के युग में हुई। यह युग गुण ग्राहकता, उदारता और सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में धार्मिक कट्टरता की सनक हिन्दू और मुसलमान, दोनों में नहीं थी। धार्मिक कट्टरता का विषैला बिरवा तो औरंगजेब के समय में फूला-फूला। यही कारण है कि परवर्ती सूफी कवियों, जान तथा नूर मुहम्मद की परवर्ती रचनाओं में गुप्त रूप से धर्म-प्रचार की भावना काम करने लग गई थी किन्तु पहले के सूफी कवियों—जायसी आदि में धर्म प्रचार के किसी उद्देश्य का आभास नहीं मिलता है। इसी प्रकार दक्खिनी हिन्दी काव्य-धारा के अन्तर्गत निर्मित प्रेम गाथाओं में गवासी से पूर्व किसी प्रकार के साम्प्रदायिक धर्म प्रचार का उद्देश्य नहीं मिलता है। उक्त काव्य-धारा के अन्तर्गत निर्मित प्रेमगाथाओं में धर्म प्रचार, साम्प्रदायिकता और हिन्दी के प्रति अनुदार नीति के बीजों का वपन गवासी (जान के समकालीन) के समय में हुआ जो कि बाद में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। गवासी के समय में ही यहाँ के मुस्लिम कवि की आँखें विषय वस्तु और उसकी बाह्य साज-सज्जा के लिए ईरान पर जा लगीं, और गुलन्दाम जैसे काव्य मसनवी शैली में लिखे जाने लगे तथा हिन्दी में संस्कृत के शब्दों का बहिष्कार किया जाने लगा, अन्यथा मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१६०३ ई०) के समय तक दक्खिनी हिन्दी में निर्मित प्रेम गाथाओं की कहानियाँ भारतीय हैं। उनके वर्णन का ढंग भारतीय है। उनमें चित्रित शृंगार का शरीर भारतीय परम्परा के अनुकूल है। मुहम्मद कुली कुतबी के प्रेम काव्य में तत्कालीन शृंगारी काव्य की सारी प्रवृत्तियाँ समुपलब्ध होती हैं। साम्प्रदायिकता

और धर्म प्रचार का समावेश तो बाद की वस्तु है । यदि उत्तरी भारत और दक्खिनी भारत के सूफी कवियों की रचनाओं में धर्म प्रचार की प्रवृत्ति को देखना हो तो दक्खिनी भारत के सूफी कवियों में—गवासी और उसके बाद में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है और उत्तरी भारत में धार्मिक कट्टरता नूर मुहम्मद और जान में आई, जो कि परवर्ती काल के कवि हैं ।

धर्म की चर्चा उत्तरी भारत के मुस्लिम सूफी कवियों में भी है, किन्तु वह उनके सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथों में है । सूफियों ने तीन प्रकार के साहित्य का निर्माण किया है—(क) निबन्ध साहित्य—इसमें इनके धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या है । (ख) जीवनी साहित्य इसमें सूफियों की जीवनियाँ निबद्ध हैं । (ग) प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य तथा फुटकर रचनायें—इसमें लौकिक प्रेम-कहानियाँ निबद्ध हैं । इनमें किसी प्रकार के धर्म के सैद्धान्तिक प्रचार की कोई गंध नहीं है । इन प्रेमाख्यानों में यत्र-तत्र जो धार्मिक प्रसंगों की चर्चा है, उसका मूल कथानक के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । इन प्रेमाख्यानों में प्रेम तत्त्व की प्रधानता है, प्रचारात्मकता की नहीं ।

सूफी-प्रेम काव्यों के निर्माण का लक्ष्य-मनोरंजन

सूफी कवि जायसी तथा उसमान ने अपनी काव्य सर्जना का उद्देश्य निर्भ्रान्त रूप से यशोलिप्सा, मनोरंजन तथा आनन्द लाभ कहा है—

औ मै जानि कवित्त अस कीन्हा,
मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।
केइ न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह सुनै कहानी, हइ सँवरै दुइ बोल । पद्मावत ।

उसमान की तो यहाँ तक गर्वोक्ति है कि उस जैसे प्रेमाख्यान रचने की सामर्थ्य है ही किस में । उसकी रचना के सुनने से बालकों में काम रस आता है तथा युवकों में काम की उद्दीप्ति होती है—

जा की बुद्धि होइ अधिकाई आन कथा एक कहै बनाई ।
बालक सुनत काम रस लावा, तरुनन्ह के तन काम चढ़ावा । चित्रावली ।

जायसी और उसमान की रचनायें अपने विशुद्ध रूप में प्रेम-कथायें हैं । हाँ, इनमें लेखकों की मूल प्रकृति के अनुरूप कहीं २ पर रहस्यात्मक संकेत अवश्य होते गये हैं, किन्तु इतने मात्र से इन्हें पूर्ण रहस्यवादी अथवा अध्यात्म परायण रचनायें नहीं कहा जा सकता है । इन रचनाओं में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का विधान अन्योक्ति न होकर समासोक्ति है । इन काव्यों के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य प्रेम-कथाओं का निरूपण है किन्तु इसके साथ २ इनमें मध्यकालीन वर्णक कवि के समान अन्य नाना विषयों का भी समावेश कर लिया गया है ।

पद्मावत के कथानक में रत्नसेन और पद्मावती की सुख क्रियाओं में सुरतान्त

तथा गुह्यांग वर्णन, रत्नसेन की रसिकता, स्त्री-भेद खड के अन्तर्गत पद्मिनी आदि नायिकाओं का काम शास्त्रीय आधार पर निरूपण, अश्वो, हाथियो, मकानो तथा वृक्षों की विस्तृत सूचियाँ, देव पाल और अलाउद्दीन द्वारा प्रेषित दूतियो का कुशल दौत्य, वेश्याओ का वर्णन और उनकी अर्थ-शोषण की विधियाँ, नागरक जैसे शयन कक्ष तथा रति शय्याओ का उन्मुक्त वर्णन, चौपड का खेल, प्रेमी प्रेमिका के बीच मे नाना हास परिहासात्मक प्रश्नो और पहेलियो का विधान, रति, सग्राम एव सुरतान्त क्रियाएँ, नायिका का मासल-नखशिख वर्णन, सोलह शृगारों की कामोद्दीपक चर्चा इसी प्रकार चित्रावली के काम खड में रस-रीतियों के सर्वागीण ब्यौरे तथा नाना अन्य लौकिक विषयो के समावेश को देखकर भी उक्त रचनाओ को अध्यात्म या रहस्यवाद परक मानना सचमुच एक बडे साहस की बात होगी क्योंकि उपर्युक्त विषयो का रहस्यवाद की मूल भाव धारा से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कोई भी सम्बन्ध नही है। सच तो यह है कि मध्ययुगीन-काव्यो में धर्म, दर्शन, लोक रजन तथा बहुज्ञता प्रदर्शन के बीच की दीवारें गिर गई थीं, अतः उस युग मे रचित काव्यो मे इन सब विषयो का समावेश अनायास होता रहा। जायसी आदि प्रेमाख्यान लेखको के काव्यो में मध्यकालीन काव्यों की उक्ति प्रवृत्ति (वर्णक शैली) स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। हमारा यह दृढ विश्वास है कि जायसी केशव तथा बिहारी आदि 'वर्णक कवि' की कोटि मे आते हैं। मध्यकाल मे रचित काव्यो में नाना प्रकार के विषयो के समावेश की उक्त प्रवृत्ति (वर्णक-शैली) बडे जोरो से चल रही थी। परिणामत सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानो मे कोक शास्त्र के उन सारे प्रसगो को उपन्यस्त कर दिया, जो मध्यकालीन विलासीजनो के लिए आवश्यक थे।

पद्मावत तथा चित्रावली में वर्णित काम केलियो और रति के अनावृत प्रसंगो को देख कर सहज मे अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में काम शास्त्र की चर्चा पर्याप्त लोकप्रिय हो गई थी और इस प्रकार के विषयों का समावेश वर्णक कवि के कवि धर्म वृत्त में परिगणित होने लगा था। साधारण पाठक कदाचित् इन ग्रथो मे प्रेम और धर्म की चर्चा के साथ २ काम शास्त्रीय विषयो तथा रति केलियो के अनावृत वर्णनो को देखकर कुछ चकित भी हो, किन्तु वास्तव मे यहाँ आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उस समय के युग की रुचि ही कुछ ऐसी बन चुकी थी। मध्ययुगीन चित्रकला, जगन्नाथ पुरी के मन्दिर और खजुराहो के उत्तीर्ण चित्रो में अश्लीलता और विलासिता उभरी हुई है। इसके कारण हैं—सिद्धो की गुह्य-साधना, तांत्रिक प्रभाव तथा मध्य युग में काम शास्त्रीय-रत प्रसगो के अनावृत वर्णनो का अश्लील या बहिष्कृत न समझा जाना।

वैष्णवी भक्ति का उदय और विकास

वैष्णवी भक्ति अर्थात् राम और कृष्ण की भक्ति का उद्भव वेदों में खोजना

प्रसंगत नहीं है। भारत की धरती पर इसका क्रमिक उदय और विकास हुआ अतः यह सर्वथा भारतीय वस्तु है। इस पर किसी विदेशी प्रभाव की कल्पना करना या इसे राजनीतिक नैराश्य से जन्य बताना अथवा इसे निर्गुणियों की प्रतिक्रिया में इसके पनपने को खोजना सर्वथा निराधार है। यह एक अकाट्य ऐतिहासिक तथ्य है और इसकी आधुनिक अनुसंधानों से सुपुष्टि भी हो चुकी है कि वैष्णवी भक्ति के प्रेम या राग तत्त्व तथा करुणा आदि तत्वों पर पाश्चात्य प्रभाव—अर्थात् ईसा का तनिक प्रभाव नहीं है बल्कि ईसा का इससे प्रभावित होना संभावित है। भक्ति-आन्दोलन क्रमशः तीव्र और बल सम्पन्न हुआ और यह मध्ययुगीन राजनीतिक दासता जनित निराशा की उपज नहीं है, इसकी हम पहले "हिन्दी साहित्य में भक्ति का उदय और विकास" शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। 'निर्गुणियें दभी साधकों से बचने और संसार को सार युत मानकर भगवद्भक्ति के पथ पर जनमानस को लाने के लिए सगुण-साकार अवतारी विष्णु की भक्ति का रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य आदि दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा भक्ति का पुनः प्रवर्तन किया गया।" ऐसा कहना भारतीय साधना-पद्धति के इतिहास के प्रति सर्वथा अपनी अनभिज्ञता को दर्शाना है।

वेदों में विष्णु का उल्लेख है किन्तु वह भागवत या सात्वत सम्प्रदाय में प्रतिपादित विष्णु के रूपों—राम और कृष्ण से भिन्न है। भागवत् धर्म का उदय ईसा से चार पाँच शताब्दियाँ पूर्व हो चुका था। महाभारत में भागवत और पांचरात्र मतों का उल्लेख मिलता है। पंचरात्र शब्द में रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है। पंचरात्र—पंचविध ज्ञान का तात्पर्य है—परम तत्त्व, भुक्ति, मुक्ति तथा विषय (संसार)। गीता तथा पुराणों में भी भागवत् तथा पंचरात्र धर्मों की चर्चा है। गीता भारतीय धर्म साधना का एक समन्वयात्मक ग्रंथ है और इसमें कृष्ण भक्ति का विशद चित्रण मिलता है। वैष्णव भक्ति के स्वरूप को स्वच्छ और स्पष्ट रूप में उद्घाटित करने की दिशा में मुनिवर शांडिल्य और देवर्षि नारद के भक्ति सूत्रों का विशेष स्थान है। शांडिल्य के अनुसार—"भक्ति पथ सभी भक्तों के लिए समान रूप से उन्मुक्त है। द्विजेतर वर्ग भी भक्तिमार्ग का अनुसरण कर भगवान की भक्ति कर सकता है। जब तक भक्ति का उदय नहीं होता आत्मा जन्म-मरण के चक्र में बंधी रहती है। भक्ति-भाव के आने पर ही भव चक्र का बंधन कटता है। भक्ति एक शुद्ध रागात्मिका वृत्ति है। इसके परा और अपरा दो भेद हैं।" नारद ने भक्ति को प्रेमाभक्ति की संज्ञा दी है और इसे ईश्वरीय प्रेम कहा है। "इस प्रेम को प्राप्त कर लेने पर भक्त न तो कुछ चाहता है, न चिन्ता करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न विषय भोगादि में उत्साही होता है। इस प्रेम रूपा भक्ति को पाकर भक्त सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।" इन भक्ति सूत्रों ने भक्ति को दृढ़ शास्त्रीय आधार प्रदान कर इसे व्यावहारिक साधना के लिए सरल तथा सुगम बना दिया। इसके पश्चात् पुराणों ने विष्णु के अवतार राम और कृष्ण के चरित्र और

लीलाओं को एक नया आयाम प्रदान किया। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप पर पुराणों का ध्यान इतना नहीं जमा जितना कि कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाओं पर। मध्य युग तथा वर्तमान समय में विष्णु का जो रूप निखरा वह पुराणों द्वारा प्रतिपादित तथा समर्थित है। पुराणों में से भी भागवत पुराण ने कृष्ण के अवतार को जिस व्यापक और विशद रूप से निरूपित किया, वह मध्य युगीन कृष्ण भक्त कवियों के लिए उपजीव्य बन गया।

राम-भक्ति शाखा का उद्भव और विकास—तुलसी से पूर्व और बाद में

वैदिक धर्म के कर्म काड की प्रतिक्रिया में एक ही साथ दो धर्मों का उदय हुआ—बौद्धधर्म तथा वैष्णव धर्म। ये दोनों धर्म अहिंसा, उदारता और सदाचार की भावनाओं को लेकर खड़े हुए। बौद्ध धर्म तो आत्मशुद्धि के प्रचार में लग गया और वैष्णव धर्म ने भगवान् की भक्ति का आश्रय लिया। आगे चलकर इसी वासुदेव धर्म या वैष्णव धर्म में अवतारवाद की भावना ने अपना स्थान बना लिया। बाद में विष्णु के दो रूप राम और कृष्ण माने जाने लगे। कालान्तर में भक्ति की यही धारा हिन्दी साहित्य में प्रकट हुई।

भक्तिकाल की यह धार्मिक भावना उत्तरी भारत में विकसित होने से पूर्व दक्षिणी भारत में पल्लवित और पुष्पित हो चुकी थी। यह भावना वैष्णव धर्म से उद्भव हुई थी जिसका सम्बन्ध भागवत या पाचरात्र धर्म से है। वैष्णव धर्म का आदि रूप हमें विष्णु के देवत्व में उपलब्ध होता है। विष्णु का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है किन्तु वहाँ वह प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं। इसे वहाँ सौर शक्ति के रूप में या इन्द्र के सहयोगी के रूप में देखा जा सकता है। विष्णु का परम ब्रह्ममय रूप जो कि इतिहास, महाकाव्यों और भागवत में प्रतिपादित है वह बाद का है। इसी विष्णु का राम और कृष्ण के रूप में प्रचार हुआ और लगभग यह भावना ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व उदित हो चुकी थी।

कुछ विद्वानों ने वैदिक सहिताओं में आये हुए राम, सीता, दशरथ और जनक आदि नामों को देखकर राम भक्ति का सम्बन्ध ठेठ वैदिक काल से जोड़ने का प्रयास किया है किन्तु वैदिक साहित्य में इन नामों के साथ वह कथा नहीं मिलती जो कि बाद में रामायण में मिलती है, फिर भी राम-कथा एक ऐसे युग की वस्तु प्रतीत होती है जबकि वैदिक युग के जीवन के आदर्श बने हुए थे। वाल्मीकि की रामायण में राम का रूप अवतार का नहीं महापुरुष का ही है, इसलिए रामकथा यदि वैदिक युग की वस्तु नहीं तो उसके कुछ ही पीछे की है।

महाभारत में जो रामोपाख्यान किया हुआ है वह अनेक स्थलों पर वाल्मीकि रामायण से शाब्दिक साम्य रखता है। रामकथा के कुछ अन्य स्रोत भी हैं, जैसे बौद्ध जातक ग्रंथ, जैन साहित्य तथा ब्राह्मणों का पुराण साहित्य। जातक ग्रंथों में रामकथा बहुत ही परिवर्तित रूप में मिलती है, जैन साहित्य में उसमें पर्याप्त हेर-फेर है किन्तु

पुराणों में रामकथा बहुत कुछ बाल्मीकि के अनुसार है।

प्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है कि कालिदास के समय तक राम को विष्णु का अवतार नहीं माना जाता था अन्यथा अमरकोष में विष्णु के जो नाम गिनाए गए हैं, वे कृष्ण के न होते। इससे यही सिद्ध होता है कि कृष्ण भक्ति भावना प्राचीन है। राम को भगवान मानने की भावना पांचवीं शताब्दी के बहुत बाद की है। इसी प्रकार डॉ० हरदेव बाहरी का कथन है कि राम का पूर्ण रूप गुप्त काल में विकसित हुआ। आचार्य चतुरसेन शास्त्री इनसे एक कदम और आगे बढ़ गये हैं। उनका कहना है कि राम और कृष्ण भक्ति का विकास ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ, किन्तु उपर्युक्त सभी मत असपूर्ण हैं। भास के प्रतिमा और पंचरात्र नाटक इस बात के प्रमाण हैं। डॉ० भंडारकर ने यह सिद्ध कर दिया है कि ईसा के ५०० वर्ष पूर्व राम और कृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में माना जाने लगा था।

आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का निरूपण किया और इससे बौद्धधर्म को महान् आघात पहुँचा। शंकर का मायावाद भक्ति के सन्निवेश के लिए उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी सन्निवेश था पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जिस दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वह स्वामी रामानुजाचार्य (१०७३) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चराचर उसी ब्रह्म का अंश है, भक्ति के द्वारा उसी का सामीप्य लाभ ही परम लाभ है। रामानुज की शिष्य परम्परा सारे भारत में बराबर फैलती गई और उनका भक्ति-मार्ग की ओर अधिकाधिक प्रकाशित होती रही। उनका सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें विष्णु या नारायण की उपासना पर बल दिया गया। इस सम्प्रदाय में अनेक अच्छे अच्छे सत और महात्मा होते रहे।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में श्री सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द हुए। राघवानन्द रामानन्द को दीक्षा देकर निश्चिन्त हुए। रामानन्द ने देशव्यापी पर्यटन द्वारा अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। इनके दो ग्रंथ मिलते हैं—"वैष्णव मताब्ज भास्कर" तथा "रामार्चन पद्धति"। इन्होंने रामानुजाचार्य के मतावलम्बी होने पर भी अपनी उपासना-पद्धति का विशिष्ट रूप रखा। इन्होंने उपासना के लिए बैकुंठ निवासी विष्णु का रूप न लेकर लोक में लीला करने वाले उसके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूल मन्त्र हुआ राम नाम। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इससे पूर्व इस देश में रामोपासक भक्त होते ही नहीं थे। रामानुजाचार्य ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्तक श्री शठकोपाचार्य उनसे पांच पीढ़ी पहले थे, जो कि स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर चुके थे—

दशरथस्य सुत बिना, अन्यशरणवान्नास्मि।

रामानुज के शिष्य कुरेश स्वामी हुए जिनमें राम की भक्ति विशेष रूप से मिलती है। रामानन्द ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में राम के रूप

को लोक के लिए अधिक कल्याणकारी समझ कर छाँट लिया। इसके साथ देश-भेद तथा जाति-भेद को मिटाकर भक्ति को सर्वजन-सुलभ बनाया। रामानुजाचार्य ने द्विज मात्र के लिए भक्ति का विधान किया था किन्तु रामानन्द ने इसके साथ-साथ शूद्रों तथा स्त्रियों को भी भक्ति-क्षेत्र मे अधिक ठहराया। इनको भक्ति का क्षेत्र अतीव व्यापक था—"जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" और यह उनका महानतम कार्य था। इससे यह समझना कि ये वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे, भूल होगी। कर्म के क्षेत्र मे शास्त्र-मर्यादा उन्हें मान्य थी। हाँ, उपासना क्षेत्र मे वे किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध नही मानते थे। रामानन्द से पूर्व ज्ञानदेव तथा नामदेव भी राम-भक्ति का प्रचार कर चुके थे। रामानन्द की भक्ति के उदार होने के कारण एक ओर तो कबीर, दादू, पीपा आदि निर्गुण पथ वाले इनकी शिष्य परम्परा में आये, जिनका राम निराकार था—"दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना", तो दूसरी ओर शेष सनातन तथा नरहरिदास जैसे सन्त भी थे जिन्होंने तुलसीदास जैसे भक्त को तैयार किया, जिसमे भक्ति का पूर्ण परिपाक हुआ।

तुलसीदास के पूर्व का हिन्दी का राम-साहित्य प्राय अप्रकाशित है। रामानन्द का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनकी एकमात्र प्राप्त हिन्दी रचना "रामरक्षा स्तोत्र" है। नाभादास के भक्तकाल के अनुसार उनके अनतानद, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावति, नरहरि, पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेना, सुरानन्द की स्त्री आदि अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए। इन भक्तों में से पद्मावती और भावानन्द के अतिरिक्त समस्त सन्तो के परिचयात्मक उल्लेख नाभादास ने किये हैं, किन्तु इनमे से किसी की रचना में राम का अवतारी रूप हमारे सामने नही आता।

भक्ति की इस परम्परा मे तुलसी से पूर्व के राम-भक्त कवियो मे विष्णुदास का भी नाम आता है। इन्हें वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी रूपान्तर-कर्ता माना जाता है। ईश्वरदास की रामभक्ति से सम्बद्ध दो रचनाएँ बताई जाती हैं—'भरत मिलाप' तथा 'अंगद पैज'।

कुछ जैन कवियो ने भी राम-कथा सम्बन्धी रचनायें प्रणीत की। मुनि लावराय की रचना 'रावण मन्दोदरी सवाद' है। जिनराज सूरि की भी इसी नाम की रचना बताई जाती है। इसी परम्परा में ब्रह्म जिनदास की दो रचनाएँ आती हैं। 'रामचरित या राम रास' और 'हनुमन्त रास'। ब्रह्मरायमल्ल तथा सुन्दरदास ने क्रम से "हनुमन्तगामी कथा" तथा "हनुमान चरित" ग्रंथ लिखे।

सूरदास सामान्यत पुष्टि मार्ग मे दीक्षित थे, परन्तु इनमें इस सम्प्रदाय के अन्य भक्तों के समान साम्प्रदायिकता बिल्कुल नहीं मिलती। इन्होंने अनेक पदो मे राम-चरित का गान किया है। तुलसीदास के राम-काव्य और कृष्ण-काव्य मे आकार-प्रकार विषयक जो अनुपात है लगभग वही सूरदास के कृष्ण काव्य और राम-काव्य में दिखाई पड़ता है। सूरदास के रामचरित सम्बन्धी अनेक पद कला की दृष्टि से अत्यन्त

सुन्दर बन पड़े हैं।

राम-भक्ति धारा में एक नवीन मोड़ आया जिसके आदि प्रवर्तक हैं अग्रदास, जिन्होंने अग्रअली के नाम से रचनायें की हैं। इन्होंने जानकी की एक सखी की भावना से राम-भक्ति की है। इन्हीं से तुलसी के पश्चात् राम-भक्ति की रसिकता की भावना का प्रवेश हुआ। इनकी इस भावना से सम्बद्ध दो प्रसिद्ध रचनायें हैं—"रामाष्टयाम" तथा "रामध्यान मंजरी"। इनके "रामाष्टयाम" में सीतावल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का वर्णन है। राम के ऐश्वर्य के साथ द्वादश लीला, संयोग-वियोग मधुर रति आदि का वर्णन किया गया है। नाभादास का "अष्टयाम" भी अग्रअली की इस पुस्तक से अत्यन्त प्रभावित है। अग्रअली की यह मधुर उपासना तुलसीदास के मर्यादावाद के सामने बहुत समय तक दबी रही, परन्तु सौ वर्ष पीछे यह धारा बड़े वेग से बह निकली और तत्पश्चात् हिन्दी का प्रायः सारा राम-भक्ति साहित्य उससे सराबोर हो गया। राम-भक्ति में रसिकता की भावना का समावेश कृष्ण-भक्ति धारा के प्रभाव और उसके अनुकरण पर हुआ। आगे चलकर राम की मधुर उपासना॰ मयी भक्ति में अनेक सम्प्रदाय चल निकले। इस माधुर्य भाव की उपासना में चिरान (छपरा) के निवासी श्री जीवाराम ने कुछ परिवर्तन किये। इन्होंने अपने सम्प्रदाय का नाम "तत्सुखी शाखा" रखा। अयोध्या के निकट इस भक्ति का खूब प्रचार हुआ। अयोध्या के राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय के भक्तों ने राम के चरित्र को प्रधानता दी जबकि जनकपुर के भक्तों ने सीता के चरित्र को प्रधानता दी। १८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कृपानिवास ने रामायत सखी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। अयोध्या के श्री रामचरणदास ने सखी सम्प्रदाय के "स्व सुखी" सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में अनेक कवि हुए। रामभक्त कवियों में प्राणचन्द चौहान, हृदयराम, केशव, सेनापति, प्रियदास, कला-निधि, महाराज विश्वनाथसिंह और महाराज रघुनाथसिंह आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी राम चरित-विषयक रचनाओं का प्रणयन हुआ। आधुनिक काल में रामचरित पर लिखने वाले कवि तथा रामकाव्य-लेखक और पुरातन कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग में राम को मानव रूप से ग्रहण किया गया है। आधुनिक काल के कवियों में रामचरित उपाध्याय, अयोध्यासिंह, मैथिलीशरण तथा निराला का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

निष्कर्ष रूप में हम डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में कह सकते हैं—"हिन्दी राम-भक्ति धारा में अनेक कवि हुए किन्तु रामभक्ति धा। का साहित्यिक महत्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसी में अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नहीं है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके। इसलिए इस धारा का अध्ययन

मुख्यत तुलसीदास मे ही केन्द्रित करना होगा।

राम-भक्ति-विकास के सम्यक् अध्ययन से राम के रूप के विकास की तीन अवस्थायें स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं—ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक। राम का ऐतिहासिक रूप लगभग पाँच शताब्दी ई० पू० बाल्मीकि रामायण मे प्रक्षुण्ण है। उनका साहित्यिक रूप एक शताब्दी ईसा पूर्व भास से लेकर कालिदासादि सस्कृत कवियो मे तथा कुमारदास (ई० ८वीं शती) तक। उनके साम्प्रदायिक रूप का विकास आल्वार सन्तो तथा शठकोपाचार्य (६वी शती) मे प्रस्फुटित हुआ। आगे चलकर आचार्य युग आता है, जिसमे रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा आती है। इस प्रकार हम राम-भक्ति के साम्प्रदायिक विकास को इन युगो मे बाँट सकते हैं—(क) आलवार युग—८०० से ११०० तक, (ख) आचार्य युग ११०० से १४०० तक, (ग) रामायत युग १४०० से १७०० तक, (घ) रसिक सम्प्रदाय आधुनिक युग के आरम्भ से पूर्व तक, (ङ) आधुनिक युग। इस प्रकार हम देखते हैं कि दशरथतनय राम राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु, विष्णु से परमब्रह्म स्वरूप राम और फिर आदर्श मानव बनते गये।

सगुण भक्ति काव्य की मान्यतायें एवं विशेषतायें

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल मे भक्ति की दो धारायें प्रवाहित हुईं—निर्गुण तथा सगुण। निर्गुण सन्तो मे भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता है जबकि सूफी कवियो मे प्रेम का अत्यधिक महत्व है, पर दोनो के यहाँ ईश्वर निर्गुण है। मध्य-कालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय की दोनो शाखाओं राम भक्ति धारा और कृष्ण भक्ति धारा मे ईश्वर सगुण है। इन्होने ज्ञान, कर्म और भक्ति मे से भक्ति को ही अपने उपजीव्य के रूप मे ग्रहण किया। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने ज्ञान की अवहेलना तो नही की पर उसे भक्ति जैसा समर्थ भी नही बताया। ज्ञान तारक तो है पर वह कष्ट साध्य और कृपाण की धार के समान है। इन भक्ति कवियो से पूर्व सिद्ध अपनी दुःसाध्य गुह्य साधना पद्धतियो से जनसामान्य को बुरी तरह से विस्मित कर चुके थे। नाथ पन्थी अपनी योग-प्रणाली के द्वारा लोक को चमत्कृत करने मे अपने आपको कृत कृत्य मान रहे थे, और इधर निर्गुणिये सन्तो की वाणी कर्मकाण्ड का घोर तिरस्करण करती हुई परम्परा के प्रति अनास्था को जन्म दे रही थी। इन सगुण भक्त कवियो ने एक नवीन भाव क्रान्ति को जन्म दिया। रामानुज, रामानन्द, वल्लभ और चैतन्य आदि इस भाव-क्रान्ति के नेता बने।

सगुण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि मे वैष्णव धर्म और भक्ति का समृद्ध साहित्य है। इस साहित्य के प्रमुख ग्रंथ हैं— भगवद्गीता, विष्णु और भागवत पुराण, पाँच-रात्रि संहितायें, नारद भक्ति सूत्र और शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र। इनके अतिरिक्त दक्षिण

के मालवार भक्तो की रचनाएँ भी वैष्णवो की अमूल्य निधि हैं। दक्षिण के आचार्यो—नाथ मुनि, यमुनाचार्य, रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने इस सगुण भक्ति धारा को निजी अनुभूतियो एव शास्त्रीय दार्शनिकता स सवलित किया। इन आचार्यों ने सगुण भक्ति के उस रूप की प्रतिष्ठा की जिनमे मानव हृदय विश्राम भी पाता है और कलात्मक सौन्दर्य मे मुग्ध और तृप्त भी होता है। सगुण काव्य की कतिपय सामान्य विशेषताओ का उल्लेख नीचे किया जाएगा।

(१) ईश्वर का सगुण रूप मध्यकालीन सगुण भक्त कवियो का उपास्य सगुण है। वैष्णव आचार्यो का कथन है कि सगुण के गुण अप्राकृत हैं। लौकिक गुण परिवर्तनशील, अस्थिर और कारण काम जन्य होते हैं, किन्तु प्रभु के दिव्य गुण ह्रास-विकास रहित हैं। भगवान् का यह स्वरूप हृदय और बुद्धि की पहुँच से परे है। यह सगुण भगवान् स्रष्टा, पालक और सहारक है। अन्त मे विष्णु के रूप मे इन रूपो का समाहार हो जाता है। वे ही सग, स्थिति और सहार के अधिष्ठाता हैं। इन भक्तो का ध्यान भगवान् के पालक रूप पर केन्द्रित है क्योकि पालन के साथ धर्म भावना सम्बद्ध है। इन्हें उपासना-क्षेत्र मे ईश्वर का सगुण रूप मान्य है अन्यथा इसके यहाँ भी निर्गुण ईश्वर की स्वीकृति है। इनके लिए भगवान् चल भी है और अचल भी, मूर्त भी है और अमूर्त भी, वामन भी है और विराट् भी, सगुण भी है और निर्गुण भी। वस्तुत वह अनिर्वचनीय है और कालातीत है किन्तु उसका अपनी समग्रता में किसी काल मे अवतरित होना असम्भव नही। सगुणवादियो के अनुसार मनुष्य वस्तुत ब्रह्म है, नर और नारायण एक है, अवतारी तथा अवतार सर्वथा अभिन्न हैं। 'नरो नारायणश्चैव तत्वमेक द्विधा कृतम्"—नर नारायण वस्तुत एक तत्व है, उनका द्वैधीकरण व्यावहारिक बुद्धि का भ्रम मात्र है।

२ अवतार भावना—अवतारवाद मध्यकालीन सगुण उपासना का एक प्रमुख अग है। सगुण भक्त कवियो का विश्वास है कि वह असीम सीमा को स्वीकार करके अपनी इच्छा स लीला के लिए अवतरित होते हैं। वैसे तो सारा ससार उस भगवान का अवतार है किन्तु इन वैष्णवो की अवतार-भावना के मूल मे गीता का विभूति एव ऐश्वर्य योग काम कर रहा है। ज्ञान, कर्म, वीर्य, ऐश्वर्य, प्रेम भगवान् की विभूतियाँ हैं। जो मनुष्य किसी क्षेत्र मे कौशल दिखाते हैं वे भगवान की विभूति को साकार करते हैं। अत गुणातीत और सगुण असीम और ससीम मे कोई विरोध नहीं है।

३ लीला रहस्य—सगुण काव्य मे लीलावाद का अत्यन्त महत्व है। चाहे तो तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम हो और चाहे सूर के व्रजराज कृष्ण हो, दोनो लीला-कारी हैं। उनके अवतार का उद्देश्य लीला है और लीला का उद्देश्य कुछ नही, लीला लीला के लिए होती है। तुलसी के लोकरक्षक राम रावण का सहार लीलार्थ करते हैं। तुलसी के लिए समस्त रामचरित लीलामय है। भले ही आज का आलोचक तुलसी के रामचरित मानस मे वस्तु सगठन तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से अनेक दोष

निकाले जैसे—राम को पहले से पता है कि सीता का अपहरण होने वाला है और इस सम्बन्ध मे वे सीता को पहले सूचित भी कर देते हैं। इस प्रकार राम के रुदन और विरह व्यथा, सीता की बेबसी तथा विलाप अपनी मर्मस्पर्शिता खो देते हैं, पर इस सम्बन्ध मे तुलसी के दृष्टिकोण को भूल नही जाना चाहिए। वे किसी भी ऐसी घटना या प्रसग का समावेश नही करना चाहते जहाँ राम की अनीशता ध्वनित हो। राम के लिए कुछ भी प्राप्तव्य या अनुसन्धेय नहीं हैं। तुलसी ऐसे प्रसगो मे राम की लीला कहकर उन्हें प्रा ेच्य नहीं रहने देते। कृष्ण तो हैं ही लीला-रमण और आनन्दसन्दोह। एक और जहाँ वे लीला करते हुए समस्त गोपी जनो को, जिन्होने लोक की सारी मर्यादाओ का अतिक्रमण कर दिया है, आकर्षित करते हैं वहाँ दूसरी ओर अघासुर एव बकासुर सदृश ... ा लीला ही लीला मे वध कर देते हैं। ईश्वर सर्वत्र आप्तकाम है। उसने किसी इच्छा स ससार की सृष्टि नही की बल्कि यह तो लीला का परिणाम है। सच तो यह है कि सगुण भक्ति लीला मे सच्चिदानन्द के आनन्द का जगम स्वरूप देखता है। लीला और आनन्द ध्वनि और प्रतिध्वनि के समान परस्पर सम्पृक्त है। हाँ, इसी सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि लीला मे किसी प्रकार की वर्जनशीलता या लोक विद्वेष नही। तथ्य तो यह है कि जीवन और दर्शन की चरम सफलता लीलावाद मे निहित है।

४ रूपोपासना—सगुण साधना मे रूपोपासना का विशिष्ट स्थान है। शकर ने नाम और रूप को मायाजन्य माना है। शतपथ ब्राह्मण मे ब्रह्म को अनाम और अरूप कहा गया है परन्तु सगुण साधना में भगवान् के नाम और रूप आनन्द के अक्षय कोष हैं। नाम और रूप से ही वैधी भक्ति का आरम्भ होता है। सगुण भक्त को भगवान् के नाम और रूप इतना विमुग्ध कर लेते हैं कि लौकिक छवि उसके पथ मे बाधक नही बन सकती। आरम्भ मे सगुणोपासक नामरूप युक्त अर्चावतार अथवा मूर्ति के समक्ष आकर उपासना करता है परन्तु निरन्तर भावना, चिन्तन एव गुण-कीर्तन से वह अपने आराध्य मे ऐसा सन्निविष्ट हो जाता है कि उसे किसी भौतिक उपकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। रूप ही शृगार रस को जगाता है। व्रजेश कृष्ण रस-राज शृगार के अधिष्ठाता देवता हैं। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखा मे कृष्णाश्रित शृगार का सागोपाग वर्णन है। पुष्टिमार्गी कवि के लिए लौकिक शृगार के सभी उपकरण मोहन के मादन भाव के सामने फीके हैं। उनके कृष्ण भूमा सौन्दर्य की अतुल राशि हैं। यद्यपि तुलसी के राम मे शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है और तुलसी का काव्य समवभक्तिीय है फिर भी उनके राम अपनी अप्रतिम छवि से त्रिभुवन को लजाने वाले हैं। हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति साहित्य मे भक्ति के गृहीत स्वरूपों—दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य मे रूप और रस का एक विलक्षण महत्त्व है।

५ शकर के अद्वैतवाद का विरोध—भागवत के अतिरिक्त हिन्दी के सगुण काव्य पर रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का

प्रभाव पड़ा है। इन सभी आचार्यों ने शंकर के ज्ञान मूलक अद्वैतवाद का, जो भक्ति को परम सत्य नहीं मानता, खंडन किया और भक्ति-तत्त्व का समाधान करते हुए भगवत्प्राप्ति में उसकी अनिवार्यता सिद्ध की। रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्म प्रकारी है और जीव तथा प्रकृति उसके प्रकार हैं। जीव की कृत-कृत्यता इसी में है कि वह अपने आपको भगवान का विशेषण माने। आत्मसमर्पण के द्वारा जीव को यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। परमात्मा अंशी है और जीव उसका अंश है। मध्वाचार्य ने जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी है किन्तु ब्रह्म को स्वतन्त्र और जीव को परतन्त्र माना है। वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय में लयात्मक सायुज्य की भी स्वीकृति है जो शंकर के मोक्ष का ही रूप है परन्तु इस *लयात्मक सायुज्य* को उच्चतम स्थिति नहीं माना गया है। पुष्टि मार्ग में प्रवेशात्मक सायुज्य ही काम्य है, जिसमें भक्त भगवान् की आनन्द लीला में अप्राकृत देह धारण करके प्रवेश करता है। रास-लीला प्रवेशात्मक सायुज्य का ही रूप है।

६. विविध-स्रोत—मध्यकालीन भक्ति काव्य के उपजीव्य ग्रन्थ हैं—रामायण और भागवत। रामायण की अपेक्षा भागवत की छाप इस काव्य पर अत्यन्त गहरी है। समस्त कृष्ण साहित्य तो इससे अनुप्राणित है ही, राम-काव्य भी इससे कम प्रभावित नहीं है। तुलसी-काव्य पर इस अलौकिक ग्रन्थ का प्रभाव यत्र-तत्र देखा जा सकता है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यों का कोई विशेष प्रभाव नहीं, बल्कि इस पर साक्षात् रूप से संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा। संस्कृत के भगवद्गीता, विष्णु पुराण, पाञ्चरात्र संहिताओं, नारद-भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र तथा कई अन्य काव्यों और नाटक ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, विष्णु स्वामी और चैतन्य आदि आचार्यों ने जिन सिद्धान्तों को पुरस्कृत किया वे सगुण काव्य के दार्शनिक मेरुदण्ड हैं। भक्तिकाल की रागानुगा भक्ति में दक्षिण के आलवार सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि इस साहित्य में सब कुछ उधार लिया हुआ है, या यह साहित्य पुरातन साहित्य परम्परा की प्रतिध्वनिमात्र है, प्रत्युत यह काव्य भक्तों की अपनी सुन्दरतम मौलिक अनुभूतियों से सजीव है।

७ भक्ति क्षेत्र में जाति भेद की अमान्यता—इस काल के सगुण भक्ति कवियों तथा आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति का बन्धन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कर्म क्षेत्र में इन सबने वर्णाश्रम व्यवस्था पर बल दिया है, परन्तु भगवद्भक्ति क्षेत्र में किसी के शूद्र होने के नाते उसे भक्ति के अधिकार से वंचित नहीं किया। सगुण भक्ति-साहित्य में भक्ति क्षेत्र में कबीर का निम्नांकित कथन मान्य रहा—

जाति-पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

८. गुरु की महत्ता—सगुण भक्तों के यहाँ भी निर्गुण सन्तों और सूफियों के समान गुरु का अत्यन्त महत्त्व है। इस साहित्य में गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और पद

है। सगुण साहित्यकारों ने संसार की सब वस्तुओं में गुरु को उच्चतम माना है और उसकी महत्ता की भूरि भूरि श्लाघा की है। सूर और तुलसी का साहित्य इस तथ्य का सुन्दर निदर्शन है। नन्ददास ने बल्लभ को ब्रह्मा के रूप में ग्रहण किया है। इनका विश्वास है कि गुरु के बिना ज्ञान असम्भव है और ज्ञानाभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान से भक्ति और भक्ति से उसका सायुज्य प्राप्त होना है।

६ भक्ति—हिन्दी के मध्यकालीन सगुण उपासकों के लिए भगवान् सगुण हैं। वह एकमात्र भक्ति से ससेव्य है। वह अक्षर ब्रह्मज्ञान द्वारा भी प्राप्य है पर वह ज्ञानियों का विषय है। भक्ति और ज्ञान दोनों भव सम्भव खेद के अपहारक हैं, परन्तु ज्ञान कृपाण की धारा के समान है। भक्ति माया की विभीषिका से रहित है। भक्ति उपाय भी है और उपेय भी। उसके समक्ष मोक्ष भी तुच्छ है। भगवान की भक्ति एवं प्रेम का उद्देश्य है उसकी निकटता प्राप्त करके उसमें रमण करना तथा उसकी लीलाओं में अपने आपको लीन करना।

विष्णु मूलतः ऐश्वर्य-सम्पन्न देव हैं, अतः रामानुज सम्प्रदाय में भगवान् की ऐश्वर्य-उपासना पर अत्यधिक बल है। रामानुज की शिष्य परम्परा में होने वाले रामानन्द के सम्प्रदाय में भगवान् का यही रूप स्वीकार है। बैकुंठ निवासी विष्णु और तुलसी के सर्वदा पुरुषोत्तम राम लक्ष्मी या सीता के प्रति प्रेमार्द्र चेष्टायें नहीं करते। वल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदाय में भगवान् के ऐश्वर्य की अपेक्षा उसकी माधुरी को अधिक महत्त्व दिया गया है। चैतन्य मत में कान्ताभाव की भक्ति का पूर्ण परिपाक हुआ है। वल्लभ सम्प्रदाय में शान्त, सख्य और वात्सल्य भावों की भक्ति का विशिष्ट स्थान है जबकि चैतन्य सम्प्रदाय कान्ताभाव की भक्ति को आग्रहपूर्वक पकड़े हुए है। युगल लीला की प्रतिष्ठा वल्लभ चैतन्य और निम्बार्क सम्प्रदायों में हुई है। परवर्ती सम्प्रदायों में राधा वल्लभी और हरिदासी युगल-लीला के आधार पर ही अपनी पृथक् सत्ता को स्थिर रख सके हैं।

मध्यकालीन सब भक्त कवियों ने नवधा भक्ति को अत्यन्त महत्त्व दिया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन भक्ति की ये नव विधाएँ इन्द्रिय, मन और हृदय को भगवान् के प्रति निवेदित करती हैं। इनसे भक्त अपने आपको रामार्पण एवं कृष्णार्पण कर देता है। ऐसी स्थिति में भक्त कवि के लिए प्राकृत जन गुणगान का प्रश्न ही नहीं उठता। एक ओर तुलसी कह उठते हैं—"प्राकृतजन कीन्हें गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" तो दूसरी ओर वल्लभ ने अपनी भक्ति के वरदान में उस वियोगानुभूति को माँगा है जिसने नन्द, यशोदा और गोपीजनों को व्यथित किया था। भक्ति की दो अन्य विधाएँ भी हैं— वैधी भक्ति, रागानुगा भक्ति। वैधी भक्ति सामाजिक स्तर से सम्बन्ध रखती है और उसकी कृतकृत्यता इसी में है कि वह प्रेमाभक्ति को जन्म दे सके। प्रेमा-भक्ति में रसरूप कृष्ण ही उपास्य हैं। भगवान् का असुर संहारक रूप उनका श्रेष्ठ स्वरूप नहीं क्योंकि असुरों का संहार भी इसलिए होता है कि वे धर्म के साथ-साथ

रसानुभूत में व्याघात डालते हैं। वैधी भक्ति भक्ति के क्लधौत भवन का प्रथम सोपान है जबकि प्रेमानुगा उसका अन्तिम सोपान। यही कारण है कि सूर के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम से रसेश व्रजेश उच्चतर है।

नारद भक्तिसूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं—माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति। दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भगवत् प्रेम की उत्तरोत्तरपूर्ण अवस्थायें हैं। सख्य प्रेम अपने शुद्ध रूप में अहैतुक होता है। सख्य भक्ति में खेलन में को काको गुसैंयाँ की भावना होती है। उसमें किसी को अपनी विशिष्टता जतलाने का अधिकार नहीं होता है। भक्त सखा भगवान् से किसी वस्तु की याचना भी नहीं करता, नहीं तो समता कैसी। कान्ता-भक्ति में वैष्णव भाव में सब प्रकार के व्यवधान और अन्तराय दृष्टिगोचर होता है। पति पत्नी भाव में सब प्रकार के व्यवधान और अन्तराय विगलित हो जाते हैं। कान्ताभाव के अनुसार गोविन्द ही एकमात्र पुरुष है अन्य जीवात्मायें स्त्रियाँ हैं। किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि इस काव्य में स्त्रैणता आ गई है। स्त्री-भाव की प्राप्ति गोपीरमण से मिलने के लिए ही है।

(१०) **लोक जीवन**—*कृष्ण काव्य और राम काव्य में* अपने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार लोक-जीवन का सम्यक चित्रण हुआ है। अष्टछाप के कवियों में भारतीय ग्राम्य जीवन का मनोरम अंकन है। जिन दृश्यों और प्राकृतिक परिवेश में कृष्ण की बाल लीलाओं का सन्निवेश हुआ है उनके भावना द्वारा मन में विलक्षण आनन्द का संचार होता है। अष्टछाप में तत्कालीन भारतीय जीवन की एक सुन्दर सांस्कृतिक झांकी प्रस्तुत की गई है। तुलसी के राम असत् से संघर्ष करते हुए सत् का उद्धार करते हैं। वे अपने व्रत के लिए नाना कष्टों को सहते हैं। उनमें हम उस प्रयत्न को देखते हैं जिसके कारण लोक-सत्ता विशीर्ण न होने पाये। धर्मोद्धार, पापनाश, साधुरक्षण, दुष्टदलन तथा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये भगवान् युग-युग में अवतार लेते हैं। राम और कृष्ण में शील, शक्ति, सौन्दर्य का अमित सन्दोह है। वे दोनों असुरनिकन्दन हैं और लीलाधारी हैं। यह दूसरी बात है कि इनमें उक्त गुणों का आनुपातिक भेद है। एक मर्यादा पुरुषोत्तम है तो दूसरा व्रजेश रसेश। भगवान् के ये दोनों रूप लोक-संग्रह की दृष्टि से अभिलषणीय एवं अभिनन्दनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि *हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव साहित्य एक ही रस से सरस है*—व्रजरस अथवा रामरस। पद-पद पर विविधता के लिए लालायित और एकरसता से शीघ्र ऊब जाने वाले व्यक्ति का मन इस साहित्य का आनन्द नहीं ले सकता। इसमें न तो आधुनिक मनोविकास की सूक्ष्म बारीकियाँ हैं और न ही मन्मर्मक के विशिष्ट साँचा में ढले हुए, केवलमात्र कौतूहलोत्पादक चरित्र हैं। यह साहित्य एक भिन्न आदर्श को लेकर चला है और वह है एकनिष्ठ आदर्श प्रेम का। इस साहित्य का आलोचन प्रत्यालोचन उचित परिवेश में ही करना समीचीन होगा।

प्रोफ़ेसर ब्रजलाल गोस्वामी इस साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं—"वह जिस रस का स्रोत है उसको पीने वाले नव लौकिक रसों को हेय समझते है। उस आनन्द के सामने लौकिक सुख की वैसी ही स्थिति है जैसे सूर्य के समक्ष जुगनू की। उसकी माधुरी समस्त लौकिक माधुर्य का तिरस्कार करती है। इस प्रकार इस साहित्य में भावों की जो कल्लोलिनी है उसका जल स्वच्छ है। कई पवित्रमन्य व्यक्तियों ने इस जल को कुलषित कहकर इसकी अवहेलना की है, परन्तु यह उनका भ्रम है। धूलि से भरे हुए पैरों से तो स्वच्छ जलधारा गदली हो ही जाएगी।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"इस प्रकार *मध्यकालीन सगुण काव्य में हिन्दी साहित्य ने उत्कर्ष के* चरम बिन्दु को छू लिया है। इसमें मनुष्य की समस्त वृत्तियों के प्रसादन की शक्ति है। इसमें सौन्दर्य धर्म का घातक अथवा द्वेषी बनकर नहीं आता। सौन्दर्य भी भगवान् की ही विभूति है जो धर्म जीवन से आनन्द रस और सौन्दर्य को निकाल *देने की प्रेरणा देता है वह एकांगी है। इस साहित्य के साधकों ने अन्तर और बाह्य* वैषम्य को लीला में एक रस कर दिया है। हमें लीला तत्त्व पर ध्यान मननपूर्वक करना चाहिए और इसकी गम्भीरता की थाह लेनी चाहिए।" उपर्युक्त दृष्टि से देखने पर वैष्णव साहित्य हिन्दी की एक अक्षय निधि सिद्ध होता है।

रामभक्ति साहित्य की प्रवृत्तियाँ

हम पीछे लिख चुके हैं कि रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानन्द हुए जिन्होंने उत्तर भारत मे रामभक्ति की लहर चलाई। उन्ही के अनुकरण मे हिन्दी के भक्ति काल मे रामभक्ति साहित्य का उदभव हुआ। "रामभक्ति धारा मे अनेक *कवि हुए किन्तु रामभक्ति धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण* है। इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यत तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।" निम्नांकित पंक्तियों मे हम उक्त साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे।

(१) राम का स्वरूप—रामभक्त कवियों के उपास्यदेव राम विष्णु के अवतार हैं और *परम ब्रह्म स्वरूप हैं। वे पाप विनाश और मर्यादार के लिए युग-युग में अवतार* लेते हैं। कृष्ण भक्त कवियों के कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक हैं, गोपियाँ जीवात्मा हैं और स्वय कृष्ण भक्त अपने आप पर गोपी का आरोप करके अपने आपको कृष्ण सेवा में अर्पित करता है। किन्तु रामभक्ति-साहित्य में यह प्रतीकवाद नहीं है। राम विष्णु का अवतार है और भक्त कवि मानव रूप में उनका साधक है।

इनके राम मे शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है। सौन्दर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दलन करते हैं और भक्तों को सकट से मुक्त करते हैं। वे अपने शील गुण से लोक को आचार की शिक्षा देते हैं। वे अपनी करुणामयता से पतितों और अधमों का उद्धार करते हैं। उनका लोकरक्षक-रूप प्रधान है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और आदर्श के प्रतिष्ठापक हैं। कदाचित् यही कारण है

कि राम और सीता के नाम पर परवर्ती साहित्य में उच्छृंखल प्रेम उस रूप से चित्रित नहीं हुआ जैसा कि राधा और कृष्ण के नाम पर। यद्यपि आगे चलकर राम-भक्ति परम्परा मे रसिकता का उदय हुआ और उसमें सखी 'सप्रदाय" आदि चल निकले, पर यह सब कृष्ण-भक्ति साहित्य के अनुकरण पर ही हुआ।

(२) समन्वयात्मकता—राम काव्य का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है उसमें एक विराट् समन्वय की भावना है। इसमे न केवल राम की उपासना है। बल्कि कृष्ण, शिव, गणेश आदि देवताओं की भी स्तुति की गई है। तुलसीदास ने सेतुबन्ध के अवसर पर राम द्वारा शिव की पूजा करवाई है। यद्यपि रामभक्ति काव्य में राम-भक्ति को श्रेष्ठ माना है तो भी उसकी भक्ति भावना अत्यन्त उदार है। निःसन्देह रामभक्तों ने भक्ति को सुसाध्य माना है फिर भी उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म के बीच समन्वय स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है। इस काव्य में सगुणवाद तथा निर्गुणवाद मे एकरूपता बताई गई है। राम भक्तों का आराध्य सगुण भी है और निर्गुण भी, तो भी भगवान् का सगुण रूप भक्ति-सुलभ है।

(३) लोक संग्रह की भावना—लोक-कल्याण-भावना की दृष्टि से भी यह साहित्य अत्यन्त उपादेय है। इस साहित्य में जीवन की अनेक उच्चावच भूमियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इन्होंने गृहस्थ जीवन की उपेक्षा नहीं की बल्कि लोक-सेवा और आदर्श गृहस्थ राम-सीता को उपस्थित करके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। राम काव्य का आदर्श पक्ष अत्यन्त उच्च है। राम आदर्श पुत्र है, वे आदर्श राजा भी हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं, कौशल्या आदर्श माता हैं, लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं, और सुग्रीव आदर्श सखा हैं। इस काव्य में जीवन का मूल्यांकन आचार की कसौटी पर किया गया है। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति पत्नी, भाई-भाई, स्वामी सेवक और पड़ोसी-पड़ोसी के सुन्दर प्रपंच स्वस्थ सम्बन्धों पर आधृत समाज आचार के बल पर ही जी सकता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। आदर्शों की प्रतिष्ठा उनके जीवन का अथ और इति है।

(४) भक्ति का स्वरूप—राम का चरित्र त्रिलोकातिशायी है। राम-भक्त कवि राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। यही कारण है कि राम-भक्त कवि ने अपने और राम के बीच सेवक-सेव्य-भाव को स्वीकार किया है। तुलसीदास का कहना है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

राम-भक्त कवियों का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार है। निःसन्देह राम-भक्ति को यहाँ सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, किन्तु अन्य देवी-देवताओं की पूजा की भी यहाँ अस्वीकृति नहीं है जैसे कि सूर को छोड़कर अन्य पुष्टिमार्गी कवियों में। राम-भक्त कवि ज्ञान और कर्म की अलग-अलग महत्ता स्वीकार करते हुए भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। राम-भक्त कवियों की भक्ति पद्धति वैधी कोटि में आती है। इसमें नवधा भक्ति के प्राय: सभी अंगों का विधान है। ये भक्त विशिष्टाद्वैतवाद से

प्रभावित हैं। इनके लिए जीव भी सत्य है क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है। जीव और ब्रह्म में अंश-अंशी भाव है।

(५) रस—राम कथा अत्यन्त व्यापक है। उसमें जीवन की विविधताओं का सहज सन्निवेश है। राम काव्य के समविभक्तांग होने के कारण उसमें सभी रसों का समावेश है किन्तु सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति होने के कारण निर्वेदजन्य शान्त रस की प्रधानता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और भक्त कवि भी मर्यादावादी है, कदाचित् यही कारण है कि इस साहित्य में श्रृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों का सम्यक् परिपाक नहीं हो सका। यह बात अधिकतर तुलसी के साहित्य पर चरितार्थ होती है। वैसे तो अग्रअली के साहित्य में रसिकता की भावना का समावेश हो चुका था किन्तु तुलसी के सम्मुख यह भावना उभर न सकी। १८वीं शती की राम भक्ति में माधुर्य भावना बल पकड़ती गई। ऐसा कदाचित् कृष्ण-साहित्य के अनुकरण पर ही हुआ होगा। आगे चलकर राम-भक्ति साहित्य परम्परा में रामायत सखी सम्प्रदाय में नखशिख, अष्टयाम आदि रति उत्तेजक विषयों का वर्णन होने लगा। राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में श्रृंगार रस का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तुलसी के साहित्य में—विशेषकर रामचरित मानस में सभी रसों का समावेश है। युद्ध-वर्णन में वीर और रौद्र रस हैं। नारद मोह में हास्य रस की सुन्दर सृष्टि हुई है। राम के विलाप में तथा लक्ष्मण की मूर्च्छा प्रसंगों में करुण रस है। राम के ब्रह्मत्व के प्रतिपादन के प्रकरणों में अद्भुत और भक्ति रस की अच्छी छटा है। राम साहित्य में सर्वत्र एक रस है—वह है राम-रस और उनके आस्वादन की योग्यता राम की लीला में रमण करने वालों में ही हो सकती है।

(६) पात्र तथा चरित्र-चित्रण—राम काव्य के पात्र आचार और लोक मर्यादा की आदर्श व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इनका चरित्र महान् एवं अनुकरणीय है। इनमें जीवन की सभी वृत्तियों का चित्रण किया गया है अतः इनमें सर्वांगीणता है। इनमें रजोगुणी, तमोगुणी तथा सत्वगुणी सभी पात्रों की अभिव्यक्ति है और अन्त में सत्य की असत्य पर या रामत्व की रावणत्व पर विजय दिखलाई गयी है। तुलसी के काव्य में राम नाना रूप में लीला करते हुए पूर्ण ब्रह्म हैं। राम के इस ब्रह्मत्व का स्मरण तुलसी पग-पग पर दिलाते हैं। इससे पाठक के अहंभाव को आघात पहुँचता है, कथा-प्रवाह में बार-बार आवृत्ति के कारण व्याघात होता है जो कि काव्य-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवांछनीय है, परन्तु राम-काव्य के पात्रों और उसकी कथावस्तु की आलोचना करते समय हमें तुलसी के दृष्टिकोण को भुलाना नहीं होगा। राम ब्रह्म होते हुए भी मानवस्वरूप में लीला कर रहे हैं। कथावस्तु में किसी भी ऐसे प्रसंग का समावेश तुलसी को अभीष्ट नहीं है जहाँ राम की अनीशता ध्वनित हो। निर्गुण सन्तों के राम 'दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' ऐतिहासिक न होकर ब्रह्म है, परन्तु सगुण काव्य में वे ऐतिहासिक होते हुए कालातीत हैं।

(७) राम भक्ति में मधुर रस का समावेश—तुलसी के पूर्व और उसके समय में भी राम-साहित्य मे मधुर रस का समावेश हो चुका था किन्तु तुलसी के समय मे वह अपने पूर्ण रूप मे उभर नही सका। इसके दो कारण हैं—एक तो मधुर रस की प्रकृतिगत सहज गोपनीयता और दूसरे प्रधानत दास्यभाव के भक्त तुलसी का मर्यादावाद। तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जिस दुष्ट दमनकारी रूप की कल्पना की थी वह कुछ समय के बाद धीमी पड़ गई। १६वीं शताब्दी के बाद के साहित्य में कृष्ण भक्ति काव्य की प्रेम-लीलाओ के समान राम-साहित्य छबीले राम की रसिकता-पूर्ण लीलाओ से भर गया। इसमे राम और जानकी के प्रणय, विलास, हास, वन और जल विहारो तथा काम-केलियो का निःशक भाव से चित्रण किया जाने लगा। तुलसी जितनी दृढ़ता के साथ मर्यादावाद का पालन करते रहे उसके परवर्ती साहित्य-कारो ने प्रतिक्रियात्मक रूप मे मर्यादा की उतनी अवहेलना कर राम भक्ति-साहित्य में रसिकता का समावेश किया। तुलसी के परवर्ती राम-साहित्य की कहानी बुद्ध निर्वाण के पश्चात् महायान शाखा की गतिविधियो की कहानी के समान समझनी चाहिए।

(८) काव्य शैली—सगुण परम्परा के कवि या तो स्वय विद्वान् थे अथवा विद्वानो की सत्सगति से साहित्य के धर्मों के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। अलकार-शास्त्र की अवहेलना इनमें दृष्टिगोचर नहीं होती है। इनका अनेक काव्य शैलियों पर अधिकार था। राम-काव्य में सब शैलियो की रचनाएँ मिलती हैं। रामचरितमानस और अष्टयाम में वीरगाथाओ की प्रबन्ध पद्धति है। राम गीतावली और राम ध्यान मजरी मे विद्यापति की गीत पद्धति, रामायण महानाटक और हनु-मन्नाटक में सस्कृत के राम कवियों की सवाद-पद्धति है और रामचन्द्रिका रीति पद्धति पर रची गई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसी में इन काव्य-रूपो—दोहा, चौपाई वाले चरित काव्य, कवित्त-सवैया, दोहों में अध्यात्म और धर्म नीति में उपदेश, बरवै छन्द, सोहरछन्द, विनय के पद, लीला के पद, वीर काव्य के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति, दोहों में सगुण विचार और मगल काव्य का उल्लेख मिला है।

(९) छन्द – रचनाभेद, भाषाभेद, विचारभेद, अलकारभेद के साथ राम काव्य मे छन्दभेद भी पाया जाता है। वीरगाथाओ के छप्पय, सन्त काव्य के दोहे, प्रेम काव्य के दोहे, चौपाई और इनके अतिरिक्त कुण्डलियाँ, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभगी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। दोहा, चौपाई का मुख्य प्रयोग हुआ है। तुलसी ने इनका प्रयोग अधिकारपूर्ण किया है। केशव ने अनेक छन्दों में कला का प्रदर्शन किया है, परन्तु उनमे भावानुकूलता नहीं है।

(१०) अलकार—राम भक्त-कवि पडित हैं। इनमें अलकारशास्त्र के प्रति अवहेलना नही है। जहाँ इन्होंने विविध छन्दो का प्रयोग बडी कुशलता से किया है वहाँ अलकार के प्रयोग में अत्यन्त विदग्धता प्रदर्शित की है। केशव को छोड़कर

इनमे से किसी ने भी शब्दालकारों का आदर नही किया। वैसे तो तुलसी काव्य मे प्राय सभी अलकार मिल जाते हैं, परन्तु वे उपमा और रूपक के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं।

(११) भाषा—राम काव्य की भाषा प्रधानत अवधी है। केशव की रामचन्द्रिका में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। बाद के राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय के कवियो ने प्राय ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। तुलसी ने अवधी तथा ब्रज दोनो भाषाओं का सफल प्रयोग किया है। राम-काव्य मे भोजपुरी, बुन्देलखडी, राजस्थानी, सस्कृत और फारसी भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। तुलसी ने भाषा का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। डॉ० हरदेव बाहरी के शब्दों में—'उसमे न तो वीरगाथाओं की कर्कशता है, न प्रेम-काव्य की ग्रामीणता और न ही असगति तथा विशृखलता। तुलसी का शब्द चयन पाडित्यपूर्ण है। उसमे वह शब्द चमत्कार तो नही जो केशव अथवा सूर में है, परन्तु उनकी भाषा की भावात्मकता, रसानुकूलता अथवा उपयुक्तता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। तुलसी की भाषा अलकृत न होकर के स्वाभाविक, सरस और भावव्यजक है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकालीन रामकाव्य मात्रा और परिमाण की दृष्टि से कृष्ण काव्य से न्यून है और सम्भव है कि सन्त काव्य और प्रेम-काव्य से भी न्यून हो, जब तक इस धारा के रसिक सम्प्रदाय के कवियों का साहित्य प्रकाश में न आ जाये, पर यह साहित्य काव्य रूपों, शैली और भाषा की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। भाषा की दृष्टि से तो यह साहित्य महान् ही है। इसमे दोनों जन भाषाओं ब्रज और अवधी का बडा ही सफल प्रयोग हुआ है।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा तुलसीदास

जीवन वृत्त—हिन्दी साहित्य गगन के परम प्रकाशमय नक्षत्रो—सूर और तुलसी का जीवन-वृत्त अभी तक अपेक्षाकृत अन्धकारमय है। कारण, अपने इष्टदेव के सम्मुख निजी व्यक्तित्व का प्रतिफलन इन्हे इष्ट नहीं था। गोस्वामी तुलसीदास के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में अन्त साक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य दोनो मिलते हैं। अन्त साक्ष्य मे तुलसीदास के अपने ग्रन्थ आते हैं और बाह्यसाक्ष्य के अन्तर्गत गोस्वामी गोकुलनाथ द्वारा लिखित दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता, नाभादास का भक्तमाल, बाबा माधव वेणीदास कृत भक्तमाल का टीका प्रमुख हैं। गोसाई चरित और तुलसी चरित की प्रामाणिकता सदिग्ध है। तुलसीदास के जीवन परिचय के लिए हमे बाह्यसाक्ष्यों की अपेक्षा अन्तसाक्ष्य पर अधिक निर्भर करना पडेगा। कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का समस्त जीवन वृत्त मतभेदो से भरा पडा है।

जन्म-तिथि—तुलसीदास के जन्म-सवत् के विषय मे विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद हैं। तुलसीदास के शिष्य बाबा वेणीमाधवदास कृत 'मूल गोसाई चरित' के अनुसार इनकी जन्म तिथि स० १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी है परन्तु यह ज्योतिष

गणना के अनुसार दिए गये दिन, ग्रह और राशि से मेल नहीं खाती। दूसरे इस गणना के अनुसार उनकी आयु १२६ वर्ष की बैठती है। यह आयु एक सदाचारी महात्मा के लिए असम्भव तो नहीं, परन्तु नितान्त सहज सम्भव भी नहीं। इसके अतिरिक्त इस हिसाब से उनकी अमर कृति रामचरितमानस का आरम्भ ७० वर्ष की अवस्था में होना चाहिए जो कि ऐसी प्रौढ रचना के लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ता। गोसाईं चरित और तुलसी चरित को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। तुलसीचरित की बातें स्वयं तुलसीदास के अन्त साक्ष्य के विरुद्ध पड़ती हैं और गोसाईं चरित में सत्य शिव सुन्दरम् के उल्लेख के कारण उसकी नवीनता प्रदर्शित होती है। जन-श्रुति के अनुसार पं० रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म संवत् १५८९ माना है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार किया है, और आधुनिक शोधों के आधार पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

जन्म-स्थान—इनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में भी भारी मतभेद है। ठाकुर शिवचरणसिंह सेंगर और रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म-स्थान राजापुर को माना है। राजापुर से एक सनद भी मिली है जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। इस मत के अनुयायियों ने रामचरितमानस के अयोध्या-काड के तापस प्रसग को अपने मत के समर्थन के लिए उद्धृत किया है। गोसाईं चरित और तुलसी चरित में भी राजापुर को तुलसी का जन्म स्थान बताया गया है। खैर, उक्त ग्रंथों की तो प्रामाणिकता ही संदिग्ध है। इधर प० गौरीशंकर द्विवेदी तथा रामनरेश त्रिपाठी ने सोरों को तुलसी का जन्म स्थान बताया है। बादा जिले के गजेटियर में तुलसीदास जी को सोरों से आया हुआ बतला कर उनके द्वारा राजापुर बसाये जाने की बात लिखी है। गजेटियर का प्रमाण सोरों के पक्ष में है। तुलसी ने भी सकूर क्षेत्र का उल्लेख किया है जो कि कदाचित् सोरों ही है। अस्तु! सोरों को तुलसीदास का जन्म स्थान मानने वालो के पास काफी पुष्ट प्रमाण हैं। अभी इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। डॉ० हजारीप्रसाद का इस सम्बन्ध में कहना है—'मुझे सोरों के प्रामाणिक या अप्रामाणिक होने के पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है। जहाँ तक पुस्तकों से पढ़कर समझने का प्रश्न है, मेरा विचार है कि सोरों के पक्ष में दिये जाने वाले प्रमाण बहुत महत्वपूर्ण न होते हुए भी काफी वजनदार हैं। उनको यों ही टाल नहीं दिया जा सकता।' अस्तु! जो कुछ भी हो यह एक निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है।

माता पितादि—तुलसी के माता पिता तथा वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ कम मतभेद नहीं है। जनश्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम था और वे पत्यौंजा के दूबे थे—"तुलसी परासर गोत, दूबे पति औजा के।" आचार्य शुक्ल तथा अन्य लोग भी इन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज माना है। संभव है पत्यौंजा के दूबे कान्यकुब्ज हों। अस्तु! इतना तो निर्विवाद है कि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

तुलसी की माता का नाम हुलसी था। श्री चन्द्रबली पांडे ने हुलसी को तुलसी की माता न मानकर पत्नी माना है जो कि एकदम निराधार है। अन्त साक्ष्य, बाह्य साक्ष्य तथा जनश्रुति तीनों से इस बात की पुष्टि होती है कि तुलसी की माता का नाम हुलसी था—

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी,
तुलसीदास हित हिय हुलसी सी।

इसी प्रकार रहीम की उक्ति—

"गोद लिए हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय।"

इनके वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध मे भी मतभेद है। उन्होंने विनयपत्रिका मे लिखा है "ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।" शायद यह उस समय का कथन हो जबकि वे गृहस्थ जीवन के बन्धनो से मुक्त हो गये हो। जनश्रुति के अनुसार इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। उनके तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ था जिसकी मृत्यु हो गई थी। अत्यधिक आसक्ति के कारण तुलसी को रत्नावली से मीठी भर्त्सना "लाज न आई आपको दौरे आएहु नाथ" भी सुननी पडी थी, जिसने उनकी जीवन-सरिता का रुख एकदम बदल दिया था। तुलसी चरित के अनुसार उनके तीन विवाह हुए थे। तीसरा विवाह कंचनपुर के लच्छमन उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ था। इस विवाह मे तुलसीदास के पिता ने ६००० रुपये लिये थे। इस ग्रंथ की घटनायें तुलसी के अन्त साक्ष्य मे नहीं मिलती। तुलसी का बाल्यकाल का नाम इसमे तुलाराम है और स्वय उन्होने राम बोला कहा है। पिता द्वारा पैसे लेने की बात "माता-पिता जग जाहि तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई' के विरुद्ध पडती है। जनश्रुति के अनुसार तुलसी अभुक्त मूल नक्षत्र मे पैदा होने के कारण माता-पिता द्वारा त्याग दिये गए थे। पाँच वर्ष तक मुनिया नाम की दासी ने इनका लालन-पालन किया, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् इन्हें नाना कठिनाइयो का सामना करना पडा और दर दर की ठोकरें खानी पडी। विनय-पत्रिका तथा कवितावली मे इस बात का उल्लेख उन्होने अनेक स्थलो पर किया है—

"बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन।
जानत हौं चारि फल, चारि ही चनक को॥"

गुरु—उसी अवस्था मे इनके दीक्षा गुरु बाबा नरहरिदास की इन पर दया-दृष्टि हुई। तुलसी ने अपने गुरु का रामचरित-मानस में अनेक स्थलो पर स्मरण किया है। इन्ही से तुलसी ने शूकर क्षेत्र या सोरो मे राम-कथा सुनी थी। शेष-सनातन के पास काशी मे निरन्तर १६-१७ वर्ष रहकर वेद, पुराण, उपनिषद् रामायण तथा भागवत आदि का गम्भीर अध्ययन किया। इन्होंने अनेक तीर्थ स्थानो की यात्रा की और अन्त मे काशी में रहने लगे। काशी मे तुलसीदास का मान बढता गया। राजा टोडरमल, रहीम और मानसिंह तुलसीदास के अनन्य मित्र थे।

दोहावली में वे लिखते हैं—

घर घर माँगे टूक, पुनि भूपति पूजे पाँय।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय॥

वृद्धावस्था में उनका शरीर रोग से जर्जरित हो गया था। उन्होंने विनय-पत्रिका में इस बात का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

"पाँय-पीर, पेट पीर, मुँह पीर ज़ाजर सकल सरीर पीरमई है।"

उन दिनों काशी में महामारी का प्रकोप पड़ा, किन्तु उसके शान्त होने पर कुछ दिन बाद तुलसी का शरीरान्त हुआ। इनके स्वर्गवास की तिथि सर्वमान्य है—

संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥"

नाभादास ने अपने भक्त-माल में इनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इनके व्यक्तित्व और महत्त्व के सम्बन्ध में लिखते हैं—'तुलसीदास का महत्त्व बताने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार की तुलनामूलक उक्तियों का सहारा लिया है। नाभादास ने इन्हें कलिकाल का वाल्मीकि कहा था, स्मिथ ने उन्हें मुगल काल का सबसे बड़ा व्यक्ति माना था, ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोकनायक कहा था और यह तो बहुत लोगों ने बहुत बार कहा है कि उनकी रामायण भारत की बाइबिल है। इन सारी उक्तियों का तात्पर्य यही है कि तुलसीदास असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।"

रचनाएँ—तुलसीदास के नाम पर कोई अब तक तीन दर्जन से ऊपर पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं परन्तु पं० रामगुलाम द्विवेदी ने केवल १२ ग्रंथों को ही प्रामाणिक माना है जिनमें छ छोटे और छ बड़े हैं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने इन्हीं १२ ग्रंथों को प्रामाणिक मानकर प्रकाशित किया है। (१) दोहावली—इसमें नीति, भक्ति, नाम-महात्म्य और राम-महिमा विषयक ५७३ दोहे हैं। (२) कवितावली में कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्दों का संग्रह है, जिसमें छन्द रामायणी कथा के कांडों के अनुसार संग्रह कर दिये गये हैं, पर कथा क्रमबद्ध नहीं है। (३) गीतावली में राम कथा को सात कांडों में विभाजित कर दिया गया है इसमें कुल ३२८ पद हैं। (४) कृष्ण-गीतावली में कृष्ण महिमा की कथा है। इसकी रचना अनेक राग रागनियों की पद्धति पर हुई है। इसमें कुल ६१ पद हैं। (५) विनयपत्रिका में अनेक देवी-देवताओं की स्तुति है और राम के प्रति किए गए विनय के पदों का संग्रह है। (६) रामचरितमानस इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसमें रामकथा सात कांडों में विभक्त है। इसकी रचना का काल सं० १६३१ माना जाता है। (७) रामलला नहछू—सम्भवत यह ग्रंथ राम के जनेऊ के अवसर को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इसमें कुल २० छन्द हैं। (८) वैराग्य-संदीपिनी—छोटी सी पुस्तक है जिसमें संत,

महिमा, सत-स्वभाव और शान्ति का वर्णन दोहा-चौपाइयों मे किया गया है। (६) बरवै रामायण मे ६६ छन्दों में रामकथा का वर्णन है। आचार्य द्विवेदी इसके सम्बन्ध में लिखते हैं—"इसकी एक बड़ी प्रति मैंने देखी जिसमें राम-कथा का क्रमबद्ध वर्णन है। इस बड़ी प्रति के केवल आठ दस बरवै इसमे (छोटी बरवै रामायण में) संग्रहीत हैं।" (१०) पार्वती मंगल—१६४ छन्दों मे शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है किन्तु मिश्रबन्धु इसे प्रामाणिक नही मानते। (११) जानकी मंगल में २१६ छन्दो में राम के विवाह का वर्णन है। (१२) रामाज्ञा प्रश्न में सात सर्ग हैं और प्रत्येक सप्तक में सात-सात दोहे हैं। यह सगुन विचारने के लिए लिखा गया है।

लोकनायक तुलसीदास की समन्वय-साधना—पाश्चात्य मार्क्सवादी दर्शन जहाँ द्वन्द्वात्मकता में समस्याओं का हल खोजता है वहाँ भारतीय दर्शन और संस्कृति भिन्न-भिन्न विरोधी तत्वों के सुन्दर समन्वय मे हल ढूँढते हैं। यही भारत का पाश्चात्य जगत् से मौलिक अन्तर है और यही भारत की विशेषता है। तुलसी भारतीय संस्कृति के एक ज्वलन्त प्रतीक हैं वे कलिकाल के वाल्मीकि हैं, मुगल-शासन काल के सबसे बड़े व्यक्ति हैं और कदाचित् महात्मा बुद्ध के पश्चात् भारत के सबसे बड़े लोकनायक हैं। तुलसी ने जिस समाज को देखा था वह बड़ा ही अजीब सा था। तुलसी के ग्रन्थों से इस बात का स्पष्ट आभास मिल जाता है कि उस समय का समाज किसी ऊँचे आदर्श पर नहीं चल रहा था। उच्च स्तर के लोग विलासिता में चूर थे और निचले स्तर के लोग अशिक्षित थे। पंडितो और ज्ञानियो का समाज से कोई सरोकार ही नहीं था। जाति-पाँति की प्रथा अधिकाधिक कठोर होती जा रही थी। उस समाज मे आत्मरक्षा के अतिरिक्त सावधानता के कारण कसाव आ चुका था। सामाजिक मर्यादाओं का खुलकर अतिक्रमण हो रहा था। उस समय जीवन एक संघर्ष न रहकर पलायन का पर्याय बनता जा रहा था—"नारि मुई घर सम्पत्ति नासी, मूड मुँडाय भये सन्यासी।" इस प्रकार वैरागी या सन्यासी हो जाना साधारण सी बात थी। इन्ही अधकचरों के द्वारा वेद, पुराण, शास्त्र, धर्म, साधु-सन्तो तथा पुरातन भारतीय संस्कृति के आदर्शों और मर्यादाओं की कड़ी निन्दा की जा रही थी।

इधर देश का धार्मिक क्षेत्र नाना प्रकार के सम्प्रदायो और अखाड़ो से भर चुका था। एक ओर अलख जगाने वाले नाथ-पंथी योगियो का अशिक्षित वर्ग पर प्रभाव पड रहा था, नाथपंथी कर्म की घोर निन्दा करके मठो के भीतर की कुच्छ कहानी सुना रहे थे तो दूसरी ओर जात-पाँत विरोधी कबीर अलखोपासना का सन्देश दे रहे थे। इधर शाक्त सम्प्रदाय का जिनके यहाँ शक्ति के रूप में प्रकृति, स्त्री या देवी की उपासना प्रमुख थी और इसमें भी दक्षिण-पक्षी और वाम पक्षी दो भेद हो गये थे। इन वाम-पक्षियो ने मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारों की उपासना शुरू की। एक ओर शैवों और वैष्णवों में विरोध था तो दूसरी ओर वैष्णवों—राम तथा कृष्ण के अनुयायियों—मे पारस्परिक मतभेद था। द्वैतवाद,

अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद न जाने कितने दार्शनिक मतवाद परस्पर टक्कर ले रहे थे। इसके अतिरिक्त तलवार के बल पर धर्म की जड़ जमाने वाले मुस्लिम सम्प्रदाय के कतिपय कट्टर शासकों के अत्याचार प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। सूफी फकीरों के प्रेमाख्यानों की चाशनी ऊपर से मीठी अवश्य थी किन्तु उसमें भी रोगग्रस्त हिन्दू शरीर का निदान निहित नहीं था। इस प्रकार हिन्दू जनता, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उचित पथ-प्रदर्शन के अभाव मे आदर्श-विहीन, उच्छृंखल, पगु एवं विशृंखल हो चुकी थी।

तत्कालीन समाज आर्थिक रूप से भी कोई कम विपन्न नहीं था। इस सम्बन्ध में तुलसी के साहित्य मे अनेक स्थलों पर सकेत हैं—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को न बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहे एक-एकन सों, कहाँ जायँ का करी।

तुलसी लिखते हैं कि एक तो कलिकाल था दूसरे उसमें अनेक शूल थे। वेद और धर्म दूर हो चुके थे। भूप भूमि-चोर बन चुके थे। सज्जन लोग सर्वत्र दुःखित तथा व्यथित थे। सर्वत्र पाप ही पाप था। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी के समय का समाज नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ह्रासोन्मुख था। प्रबुद्धचेता, स्वतन्त्र कलाकार, जनता के प्रतिनिधि कवि तुलसी के सम्मुख एक महान् कार्य था। जिसे कि उन्हें अत्यन्त कौशल और कलात्मकता से सम्पन्न करना था। जिस प्रकार महाभारत काल मे योगिराज कृष्ण ने ज्ञान कर्म और भक्ति के समन्वय से तत्कालीन जन-समूह का मार्ग प्रशस्त किया और जिस प्रकार महात्मा बुद्ध ने वैदिक कर्मकांड और हिंसावाद का घोर विरोध करके जनता का नेतृत्व किया, उसी प्रकार तुलसी ने भारत देश की भिन्न विचार पद्धतियों, साधनाओं, विरोधी संस्कृतियों और विभिन्न जातियों में सामंजस्य स्थापित करके जीवन, साहित्य और दर्शन सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का विराट् आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने यह महत् कार्य करके सही अर्थों में अपने आपको लोकनायक सिद्ध कर दिया। आचार्य द्विवेदी का कहना है—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता मे नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचार, निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता मे समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय काव्य है।" इस समन्वय कार्य मे उन्हें अतीव सफलता मिली। कारण, एक समन्वयवादी लोकनायक के

समझौते की जो प्रवृत्ति होती है वह उनमें थी। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"*समन्वय का मतलब है कुछ झुकना और कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य* करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ता है। ऐसा करने की जिस असामान्य क्षमता की जरूरत थी वह उनमें थी।" उनमें समन्वय करने का अपार धैर्य था और साथ-साथ उन्होंने भारतीय समाज की नाना संस्कृतियों, साधनाओं, आचार-विचारों और पद्धतियों को खुली आँख से देखा था। वे स्वयं समाज के नाना स्तरों में रह चुके थे। उच्च ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ। दरिद्रता के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा। एक ओर जहाँ इन्हें काशी के दिग्गज विद्वानों के सम्पर्क में आना पड़ा वहाँ उन्हें अशिक्षित एवं संस्कृति विहीन भारतीय जनता में रहने का अवसर मिल चुका था। एक ओर उन्होंने जीवन की आसक्ति की पराकाष्ठा देखी थी तो दूसरी ओर उन्हें तप और सन्यास की चरम सीमा का अनुभव था। जहाँ उन्हें कटु से कटु निन्दा सुननी पड़ी और नाना विरोधों का सामना करना पड़ा वहाँ उन्हें आशातीत आदर और सम्मान भी मिला। उन्होंने नाना पुराण और निगमागम का अध्ययन किया था और साथ साथ लोकप्रिय साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित समस्त काव्य पद्धतियों को आत्मसात् किया था। भारत के *नाना धर्म, दर्शन, समाज और साहित्यगत विरोधों और असंगतियों* को देखकर *उनकी* समन्वयात्मक बुद्धि में सहिष्णुता और स्याद्वाद की विमल भावनाओं का उदय हुआ। यह उनकी एक मनोवैज्ञानिक सूझ बूझ थी और इसका सदुपयोग करते हुए अपने युग की नाड़ी को टटोला। इस प्रकार उन्होंने अपने युग के सभी विरोधी तत्वों का परिहार एवं समाज के विकृत रूप का परिष्कार करते हुए धर्म, दर्शन, साहित्य और समाज में समन्वय की भावना को मूर्त रूप दिया तथा सच्चे लोक-धर्म की प्रतिष्ठा करके प्रशस्त लोक-नेतृत्व का दायित्व पूरा किया। इस सबका श्रेय उनकी सारग्राहिणी समन्वयात्मिका बुद्धि को है। अब हम उनके भिन्न भिन्न क्षेत्रों में किये गए समन्वय की विवेचना करेंगे।

धार्मिक क्षेत्र—तुलसीदास एक महान् स्रष्टा और जीवन-द्रष्टा कवि हैं। इन्होंने मध्ययुगीन भारत की सम्पूर्ण चेतना को काव्यमयी वाणी दी है। तुलसी से पूर्ववर्ती दार्शनिक विचार-धाराओं और सम्प्रदायों के परस्पर विरोध का कारण केवल मात्र सैद्धान्तिक नहीं था बल्कि सामाजिक वास्तविकता की परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ भी थीं। तुलसी ने इन दोनों का मूल निदान खोजा। उन्होंने शाक्तों और विशेषत वामपक्षियों की निन्दा इसलिए की क्योंकि उसमें लोक विद्वेष थी और धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार था—

"तजि श्रुति पथ वाम पथ चलहीं, वचक विरचि वेष जग छलहीं।"

वर्ण व्यवस्था के समर्थक तुलसी ने कबीर की जात-पाँत विरोधी अलखोपासना को *जन-सामान्य के लिए अश्रेयस्कर समझा और कहा—*

हम लखि लखहि हमार, लख हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि, राम नाम जपु नीच ॥

उन्होंने नाथपंथियों की कृच्छ योग साधना को लोक विरोधिनी मानकर उसे अनुचित ठहराया—"गोरख जगायो जोग, भगति भगायो भोग।" इधर प्रेममार्गियों की उपासना-पद्धति को श्रेयस्कर न समझते हुए 'कहि-कहि उपाख्यान……' कह कर अवांछनीय ठहराया। तुलसी के समय में शैवों और वैष्णवों में पर्याप्त कटुता आ चुकी थी। इन्होंने अपनी रामायण में अनेक स्थलों पर राम को शिव का और शिव को राम का उपासक बताकर उनकी अभिन्नता द्वारा पारस्परिक वैमनस्य का परिहार किया है। तुलसी के राम की स्पष्ट घोषणा —

शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहिं सपनेहु नहिं पावा ॥

उन्होंने सगुण, अगुण, ज्ञान, भक्ति, कर्म का उचित स्थान निर्धारित करते हुए उनके महत्व का प्रतिपादन किया है। गोस्वामी जी की भक्ति एक मात्र अभीष्ट है। भक्ति का साधन ज्ञान है और ज्ञान की प्राप्ति के लिए जप, तप, व्रत, अध्ययन और सन्त समागम आदि कर्म आवश्यक हैं—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं श्रुति पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगति प्रेम बस सगुन सो होई ॥

तुलसी ने यह सब कुछ पक्षपात रहित होकर कहा है। उसमें कहीं भी गर्व और गुमान नहीं है। उन्होंने लोक मयहात्मक वेद, पुराण तथा सन्त मत का बखान किया है। उन्होंने द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद अपने समय के सभी दर्शनिक सिद्धान्तों का महत्व प्रतिपादित करते हुए सब में समन्वय प्रस्तुत किया है। उनका सब मतावलंबियों से विनम्र निवेदन है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, युगल प्रबल कोई मानें।
तुलसीदास परिहरहि तीनि भ्रम, सो आपुन पहिचानें ॥

तुलसी का विश्वास है कि जगत् को सत्यासत्य, सत्य और मिथ्या मानने वालों के भ्रम से ऊपर उठने पर ही सिया-राममय जगत् की पहचान हो सकती है जो कि परम काम्य है—

सियाराममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

इस प्रकार तुलसी ने अपने समय के प्रचलित विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दना पौराणिक प्रतीकों के रूप में की है और लोक-प्रचलित मंगलकारी ईश्वर के सभी रूपों की वन्दना की। किन्तु उनके दार्शनिक समन्वय को देखते हुए यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी लोक-मर्यादा, वर्ण-व्यवस्था, सदाचार व्यवस्था सबका श्रुति सम्मत होने का सदा ध्यान रखते हैं। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन तमाम दार्शनिक विचारों और उपासना-रूपों तथा देवी-देवताओं के कुछ न कुछ वर्णन तुलसी-साहित्य में होने से कोई उन्हें अद्वैतवादी, कोई विशिष्टाद्वैतवादी,

कोई केवल दास्यभाव का भक्त, कोई केवल वैष्णव, तो कोई स्मार्त वैष्णव मानते हैं, किन्तु तुलसी इनमे सबको साथ लेकर इन सबसे अलग थे। वह नाना पुराण निगमागम की बात कहते हुए भी लोक धर्म की उपेक्षा नही करते थे। उनका दार्शनिक समन्वयवाद सामाजिक मर्यादाओं को वर्ण और वेद के अनुसार प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न था, जिस पर सामन्ती संस्कारों की छाप थी, किन्तु लोक-कल्याण मे उनकी आस्था उनके उदार मानवतावाद की परिचायक है जिसकी व्यापक प्रेरणा से वे इतनी विभिन्नताओं का विराट् समन्वय करके युग को अपने अनुकूल बनाने की महान् कला-साधना सम्पन्न कर सके।"

सामाजिक क्षेत्र—तुलसी के समय का समाज आदर्श-विहीन, सस्कृति-रहित पथ-भ्रष्ट मर्यादा पतित तथा नितात ह्रासोन्मुख था। उनके 'कलि महिमा' वर्णन मे तत्कालीन अधोमुख समाज का नग्न चित्र और उनके 'राम-राज्य' वर्णन में उसके आदर्श रूप की कल्पना की गई है। तुलसी ने सामाजिक जीवन का मूल्याकन आचार की कसौटी पर किया है। उनका दृढ विश्वास है कि कोई भी समाज अथवा राष्ट्र आचार के बल पर जी सकता है। पुरातन धार्मिक तथा सास्कृतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले समाज का नाश अवश्यम्भावी है। व्यक्ति और परिवार आदर्श समाज की आधार शिलाएँ हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं, कौशल्या आदर्श माता हैं लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं और सुग्रीव आदर्श सखा हैं। तुलसी ने राम रसायन के पुटपाक द्वारा मुमूर्षु हिन्दू राष्ट्र के जर्जर शरीर में अपार बल और अदम्य शक्ति का सचार किया जिसके करण वह समय के विकट से विकट थपेडों को खाकर भी तनिक विचलित नही हुआ। आज का हिन्दू धर्म तुलसीकृत धर्म है और आज का हिन्दू राष्ट्र तुलसी निर्मित राष्ट्र है। तुलसी की मान्यता के अनुसार आदर्श समाज के लिए वर्ण व्यवस्था का पालन आवश्यक है—

बरनाश्रम निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखह, भय शोक न रोग॥

तुलसीदास लोक मगल भावना की दृष्टि से समाज में समर्याद छोटी बडी श्रेणियो का विधान अनिवार्य मानते हैं। मर्यादा के बिना समाज उच्छृंखल हो जाता है और उसका शरीर जीर्ण, शीर्ण हो जाता है। समन्वयवादी होते हुए भी वे मर्यादावाद के प्रबल सार्थक हैं। उन्हें समझौते के नाम पर मर्यादा विरोधी तथा लोक विद्वेषिणी असत् प्रवृत्तियों के सम्मुख झुकना कदापि इष्ट नहीं है। हाँ, वे अपने इस मर्यादावाद से किसी को अनावश्यक ठेस भी नहीं पहुँचाना चाहते हैं। आदर्श एव स्वस्थ जीवन मे वे सन्तुलन के पक्षपाती हैं। उनके राम में शील-शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है और वे मर्यादा की मेड से एक तिल भर भी नहीं हटते। सच तो यह है कि तुलसी ने अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों का निनाद वर्ण-व्यवस्था के प्रतिपादन के साथ-साथ उदार भक्ति-परम्परा के निरूपण में उचित समझा। उन्होंने न्याय और समता की व्यवस्था का आदर्श सामने रखकर लोक-सघर्ष को प्रेरणा दी।

साहित्यिक क्षेत्र में भी तुलसीदास ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में—"उन्होंने नाना पुराणों और निगमागम का अध्ययन किया था और साथ ही लोकप्रिय साहित्य और साधना-मार्ग की नाड़ी पहचानने का उन्हें अवसर मिला था। उस युग में प्रचलित सब प्रकार की काव्य-पद्धतियों को उन्होंने अपनी शक्तिमती भाषा की सवारी पर चढ़ाया था। उनकी काव्य-पद्धति का अध्ययन करने से उनकी अद्भुत समन्वयात्मिका बुद्धि का परिचय मिलता है। शिक्षित जनता में जितने प्रकार की काव्य-पद्धतियों का प्रचलन था उन सब को उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया था। चन्द के छप्पय, कुंडलियाँ, कबीर के दोहे और विनय के पद, सूर और विद्यापति की लीला-गान-विषयक भाव प्रधान गीतिपद्धति, जायसी, ईश्वरदास आदि की दोहा-चौपाइयों की शैली, गंग आदि भाट कवियों की सवैया कवित्त की पद्धति, रहीम के बरवै, सबको उन्होंने अपनी अद्भुत ग्राहिका शक्ति के द्वारा आत्मसात् कर लिया। उस समय पूर्व भारत में अनेक प्रकार के मंगल काव्य प्रचलित थे··· तुलसीदास ने इस शैली को भी अपनाया। उन्होंने पार्वती मंगल और जानकी मंगल नाम के काव्य लिखे थे। इस प्रकार उन दिनों साधारण जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चाचर और वसन्त आदि रागों में भी उन्होंने काव्य लिखे। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीति पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य-रूपों को उन्होंने अपनाया है।" इस प्रकार इनमें प्रबन्ध और मुक्तक, श्रव्य और दृश्य, ब्रज और अवधी, भाषा और संस्कृत, भाषा और भाव, छन्द और अलंकार, भक्ति और कविता, लोकहित और मर्यादा सबका कलात्मक सामंजस्य है। समाज, साहित्य, संस्कृति और दर्शन सभी क्षेत्रों में तुलसीदास के समन्वयकारी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है। प्रोफेसर बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में—"गीता का अनासक्तियोग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग, शाक्त का जप, शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति भावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, रामोपासना, बालकृष्णोपासना, चैतन्य का प्रेम, गोरखादि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाम-महात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्म-समाज की ब्रह्म-कृपा, आर्य समाज का आर्य संगठन और गांधीवाद की सत्य,अहिंसा मूलक आस्तिकतापूर्ण लोकसेवा आदि सब कुछ तो उसमें हैं ही, साथ ही मुसलमानों का मानव-बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी क्रीड़ा कर रहा है।"

जनता के प्रतिनिधि कवि तुलसी—प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन अक्षरशः सत्य है—"भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इसी (तुलसी) महानुभाव को ही। इसमें व्यक्तिगत साधना के साथ लोकधर्म की अत्यन्त उज्ज्वल छटा वर्तमान है।" कविता उनका साधन है—साध्य है राम भक्ति। किन्तु अपने साध्य तक पहुँचने के लिए गोस्वामी जी ने जिस साधन को स्वीकार किया, उसे इतना पूर्ण और समर्थ बना दिया

उस वैयक्तिक साधना मे इतनी मात्रा मे समष्टिगतता आ गई कि उनका मानस जन मानस हो गया। उनका साहित्य स्वान्त सुखाय होते हुए भी सर्वहिताय सिद्ध हुआ। उनके अन्त सघर्ष में लोक सघर्ष और उनकी भक्ति मे लोक-सग्रह सनिहित है। भक्ति और साहित्य दोनो क्षेत्रो में उन्हें जितनी सफलता मिली है उतनी अन्य किसी कवि को नही मिली। उनकी कविता मे मानव जीवन की अधिक से अधिक दशाओ का सन्निवेश हुआ है। अन्य कवि जीवन के किसी एक अग या पक्ष को लेकर चले हैं-वीरगाथा काल के कवि उत्साह को, भक्ति काल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, रीति काल के कवि शृगार को, पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावो और व्यवहारो तक है।

नि सन्देह तुलसी पहले भक्त हैं और बाद मे कुछ और। उन्होने स्वान्त-सुखाय साहित्य की सृष्टि की पर वह सर्वसुखाय सिद्ध हुई। उनका कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदात्त है—

"कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

अथवा

कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

उनकी वाणी एक ओर तो व्यक्तिगत साधना के मार्ग मे विरागपूर्ण शुद्ध भक्ति मार्ग का उपदेश देती है तो दूसरी ओर लोक पक्ष मे आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यो का सौन्दर्य दिखाकर मुग्ध करती है। रामचरित के भक्ति सरोवर में जहाँ तुलसी स्वय मज्जन करके निष्कलुष बने वहाँ जनता को उनका रसामृत पान कराके युगो तक अमर बना दिया। वे कोरे भक्त नही और न ही उनके रामचरित-मानस को कोरी भक्ति का ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमे लोक सग्रह की भावना अत्यन्त उभरी हुई है। उनकी भक्ति मे एकान्तिक साधना नहीं बल्कि उसमे अन्त सघर्ष के साथ लोक-सघर्ष छिपा हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने काम क्रोध, लोभ, मद और मोह को मनुष्य का प्रबल शत्रु बताया है किन्तु इनका मर्यादित रूप जन-जीवन के लिए आवश्यक नही अनिवार्य भी है। इनकी अतिशयता अवाछनीय एव त्याज्य है। रामचरितमानस में रावण और शूर्पणखा ने काम की मर्यादा का अति-क्रमण किया किन्तु तुलसी ने उचित दड भी दिलवाया। नारद को अपने ब्रह्मचर्य पर घमंड हो गया और उन्होने काम का सर्वथा परित्याग कर दिया, किन्तु वही नारद काम के फेरे मे ऐसे पडते हैं कि जग हँसाई होती है। इसके विपरीत राम मे काम का मर्यादित रूप है अत उसे किसी प्रकार की उलझन का सामना करना नहीं पडता। तुलसी ने रावण और परशुराम मे मद की अतिशयता दिखाई हैं। उन्हें इतना गर्व हो गया कि यथार्थ का ज्ञान तक न रहा। इसके विपरीत राम को भी अपनी वीरता पर गर्व है लेकिन गर्व अपनी सीमायें नहीं लाघता। राम नम्रता, किन्तु दृढता के साथ परशुराम को चेतावनी देते हैं। परशुराम में क्रोध की अतिशयता को तुलसी ने हास्यास्पद बताया है किन्तु राम के समुद्र के प्रति प्रकट किये गये क्रोध को उचित ठह-

गया है क्योंकि राम ने कोप या क्रोध की मर्यादा बाँधी। राम आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं, कौशल्या आदर्श माता हैं, लक्ष्मण और भरत आदर्श राजा हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं और सुग्रीव आदर्श सखा हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मर्यादा और आदर्श की प्रतिष्ठा ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। राम जीवन की विकट से विकट परिस्थिति का सामना अपने अपार मनोबल से करते हैं। उन्होंने विपत्ति में विचलित होना सीखा ही नहीं। सच यह है कि रामचरितमानस के पात्रों द्वारा तुलसीदास ने जिन नैतिक मूल्यों की स्थापना की वे जनता के मनोबल को दृढ़ करने वाले थे, उसे संघर्ष के रास्ते पर आगे बढ़ाने वाले थे। वस्तुतः तुलसीदास ने समग्र उत्तरी भारत के जीवन को राममय बना दिया है। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध मे लिखते हैं – 'तुलसी के मानस से जो शील, शक्ति सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकलती है, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति मे पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया है। रामचरित की इसी जीवन व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा-रंक, धनी-दरिद्र मूर्ख-पंडित सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया है। किसी श्रेणी का हिन्दू हो वह अपने जीवन में राम को पाता है। सम्पत्ति मे, विपत्ति में, वन मे, रण-क्षेत्र मे, आनन्दोत्सव में, जहाँ देखिये वहीं राम।...उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुकूल सौन्दर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति मे धैर्य धरती है, कठिन कर्म मे उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है, मानव जीवन के महत्त्व का अवलम्बन करती है।" इसी प्रकार तुलसी अपने राम के समान जनता के जीवन मे घुल-मिल गये हैं। उन्होंने जन-जीवन के अध्यायों को ध्यान से पढ़ा और समझा और कदाचित् जीवन की व्याख्या उन्होंने रामत्व की कल्पना में प्रस्तुत की।

तुलसीदास सकल जगत को राममय जानते हैं और इस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने धर्म की जो कल्पना की वह बड़ी विशाल थी। इस विशाल कल्पना के फलस्वरूप वे धार्मिक सम्प्रदायों का समन्वय कर सके।

रामत्व की रावणत्व पर विजय की जो कल्पना इन्होंने की है, उनके मूल में तत्कालीन भारत की राजनीतिक दुरावस्था थी, जिससे दुखित होकर उन्होंने प्रच्छन्न रूप से संकेत किया है। एक युग-प्रवर्तक कवि के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था उनके रामत्व की रावणत्व पर विजय की कल्पना केवल भारतीय समाज के लिए ही नहीं प्रत्युत विश्व समाज के लिए पथ-प्रदर्शिका है। यह वह आलोक है जो गाँधी जी का पथ प्रशस्त करता रहा। तुलसीदास कोरे वैरागी बाबा नहीं, विरक्त होकर भी आसक्त हैं, वे भारत के ऋणी हैं, वे अपने समाज का मुख, वाणी और मस्तिष्क हैं। तुलसी साहित्य मे तत्कालीन भारतीय समाज मुखरित हो उठा है। कृष्ण-भक्त कवियों के समान उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी नहीं है और न ही

इन्होंने समाज के प्रति अपनी आँखें बन्द की हुई हैं। इनके साहित्य में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक घात प्रतिघात सजीव हो उठे हैं। राष्ट्र और समाज के साथ उनका पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन का आदर्श अत्यन्त भव्य है। रामचरितमानस पारिवारिक और व्यक्तिगत आदर्शों का खजाना है। उनकी धारणा थी कि व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज तथा समाज से राष्ट्र का *निर्माण सम्भव है। कदाचित् यही कारण है कि उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म व्यवस्था पर अत्यधिक बल दिया है क्योंकि इससे समाज में उच्छृंखलता एवं विशृंखलता के स्थान* पर मर्यादा और एकता की प्रतिष्ठा होती है। किसी आलोचक विद्वान् के तुलसीदास के प्रति कहे गये शब्द अत्यन्त भाव पूर्ण हैं—"तुलसी कवि थे, भक्त थे, पंडित थे, सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में इनका कोई भी रूप घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा, जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।" तुलसी के काव्य ने जिस रूप और जिस मात्रा में जन मन-वाहन की सवारी की है शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि के काव्य को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इन्होंने धर्म और संस्कृति, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में भारतीय जनता का सफल नेतृत्व किया है। सद्‌गुरुशरण अवस्थी के शब्दों में—"गोस्वामी भारतवर्ष के उऋण ऋणी हैं। *भारतीय संस्कृति की वे कीर्ति हैं।* सच्चे साधु हैं, निश्छल भक्त हैं, छिपे हुए शिक्षक और धीमे सुधारक हैं। *मर्त्य और स्वर्ग का ऐसा अनूठा सोहाग विश्व के* साहित्य में कदाचित् ही मिले।" *विदेशी विद्वान् नोक्स* (Knox) का कहना है कि—"भारत का किसान भी दूसरे देशों के नेताओं से अधिक संस्कृत है। इस बात का श्रेय बिना किसी पक्षपात के तुलसी को दिया जा सकता है क्योंकि आज के भारत का धर्म और संस्कृति तुलसी-सम्मत धर्म और संस्कृति हैं।"

तुलसी का काव्य-कौशल—"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिये। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में पहले-पहल दिखाई पड़ा।"—आचार्य शुक्ल। विषयव्यापकता, काव्य-सौष्ठव और भाषा का परिमार्जित रूप तथा उसकी अभिव्यक्ति-शक्ति इनके काव्य में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई हैं। इन्हें भाषा के सहज मर्म की परख है और नाना शैलियों पर इनका पूर्ण अधिकार है।

विषय-व्यापकता—वीर गाथाओं के कर्ता चारण कवियों के भावों का दायरा *सीमित था। उन्होंने प्रधानतः वीर तथा शृंगार रस का चित्रण किया। उनके साहित्य का सर्जन स्वामिनः सुखाय हुआ और उसमें प्राकृत जन-गुणगान है। जन जीवन के साथ उस कविता का कोई सरोकार नहीं। उसमें सर्वत्र आभिजात्य वर्ग का* जीवन है।

कबीर का काव्य जन-जीवन को तो साथ लेकर चला, किन्तु उसकी भर्त्सना

मयी अटपटी वाणी से शिक्षित जन समुदाय तथा उच्च वर्ग तिलमिला उठा। उनके द्वारा की गई कर्मकाड की निन्दा तथा वर्णव्यवस्था के विरोध मे एक प्रकार से लोक धर्म का विरोधी स्वरूप सन्निहित था और इससे समाज के विशृखल हो जाने की निश्चित रूप से आशका भी और साथ साथ शास्त्र मर्यादा के विध्वस्त हो जाने का भी भय था। सम्भव है कि तुलसी को कबीर और योगपथियो की अन्त साधना तथा कोठो के भीतर की बात सुनकर प्रतिवाद रूप मे कहना पडा था—'अलखहि अलखहि का जपं राम नाम जप नीच" तथा "अन्तर्जामिहु ते बड बाहिरजामी।" इस प्रकार तुलसी ने भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करके लोक-धर्म, रीति नीति तथा मर्यादा की प्रतिष्ठा की।

प्रेममार्गी कवि प्रेम के एकागी क्षेत्र को लेकर चले। वे जीवन के समूचे रूप को न देख सके। लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यजना भले ही उन्होने की किन्तु उसकी पद्धति भारतीयता के अनुकूल नही थी। अत वह भारतीय समाज के लिए कवच का काम न दे सकी।

कृष्ण भक्त कवियो ने कृष्ण के रजक रूप को सामने रखकर मुक्त कठ से उनके प्रेम के गीत गाये। समाज कहाँ जा रहा था। इस बात की उन्हें तनिक चिन्ता नही थी। वे राधा और कृष्ण की प्रणय लीला और बालगोपाल के भाव-चित्र उतारने मे लगे रहे। उनमे भक्ति और शुद्ध कला की अभिव्यक्ति हुई, किन्तु लोक सग्रह की भावना उपेक्षित रही।

तुलसीदास का गृहीत विषय अत्यन्त व्यापक है। उन्होने जीवन के किसी एक अग विशेष का ग्रहण न कर उसके समूचे रूप का चित्रण किया। उनकी पहुँच मानव जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशाओ और वृत्तियो तक थी। उन्होने राम जीवन के व्यापक आदर्श से समस्त उत्तरी भारत के जीवन को राममय बना दिया। उनके काव्य मे ऐकान्तिक रूप से भक्ति ही नही, प्रत्युत सामाजिक पक्ष भी बराबर चलता रहता है। उन्हे लोक धर्म और लोक-मर्यादा का सदा ध्यान रहा है। उनका काव्य सम विभक्ताग (Balanced) है। उनमे सभी रसो का कलात्मक चित्रण हुआ है। उनके काव्य मे प्रबन्ध सौष्ठव, चरित्र चित्रण और कलात्मक सौन्दर्य पूर्ण परिपाक को पहुँचे हुए हैं। यह सब कुछ साहित्य जगत् मे एक महत्त्वपूर्ण घटना है तथा एक अद्भुत चमत्कार है। तुलसी स्वय महान् हैं, उनका काव्य सम्बन्धी आदर्श 'स्वान्त सुखाय' एव 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई' महान् है, अत उनके काव्य भी महान् हैं। उसमे हिन्दी काव्य की सम्पूर्ण शक्ति साकार हो उठी है। उनका काव्य मर्त्य और स्वर्ग का एक अनठा सोहाग है। उसमे व्यक्तिगत साधना के साथ लोक-धर्म भी बराबर चलता रहा है। तुलसी धर्म, सस्कृति और साहित्य के अभिनव भगीरथ हैं। भक्त नाभादास का अधलिखित कथन महाकवि तुलसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर पूर्णत चरितार्थ होता है—

त्रेता काव्य निबन्ध करिय सत कोटि रमायन,
इक अच्छर उद्धरं ब्रह्म इत्यादि परायन ॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी,
राम चरन रस भक्त रहत अह निशि व्रतधारी ॥
ससार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो,
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो ॥

परिमार्जित भाषा—वीरगाथाओं के कवि भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशिष्ट शैली को निभाते रहे। चलती भाषा का सस्कार और उन्नति उनके द्वारा न हुई। कबीर ने चलती बोली मे अपना सन्देशा सुनाया, पर वह वेठिकाने की थी, उसका कोई नियत रूप नही था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिए स्वीकृत हो चुका था, उससे कबीर का लगाव न था। उन्होने सधुक्कडी बोली से काम चलाया। अशिक्षित होने के कारण उनकी भाषा का कोई निश्चित एव स्थिर रूप नही था। कभी-कभी तो वे अपनी साध्य भाषा मे नदिया मे नाव डुबाने की पहेली-बुझौवल ही डालते रहे।

सगुणोपासक भक्त कवियो द्वारा प्रचलित भाषा को कुछ आश्रय मिला। भक्तवर सूरदास ब्रज की चलती हुई भाषा को परम्परा से चली आती हुई काव्य भाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोक व्यवहार के मेल में ले आये। परन्तु उनमे भी क्रियाओ के कुछ पुराने रूप तथा अवंमान के कुछ घिसे-पिटे रूप बने ही रहे। आचार्य शुक्ल तुलसी और सूर की भाषा के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"उनकी (तुलसी) सी भाषा की सफाई और किसी कवि मे नही। सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार आगे बढाने में कुछ भी योग देते नहीं पाये जाते, केवल पाद-पूर्त्यर्थ ही लाये हुए जान पडते हैं। इसलिए तुकान्त के लिए शब्द तोडे मरोडे हैं। पर गोस्वामी जी की वाक्य रचना अत्यन्त प्रौढ और सुव्यवस्थित है। उसमें एक भी शब्द फालतू नही है।"

अवधी भाषा का स्वरूप ईश्वरदास की 'सत्यवती' कथा में तथा मुसलमान कवियों जायसी आदि ने अपने ग्रन्थों मे निर्धारित किया था। तुलसी ने सस्कृत के परम पडित होते हुए लोक-भाषा को अपने काव्य के लिए चुना। पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी इन दोनो पर उनका समान अधिकार था। उन्होने लोक-प्रचलित भाषा के रूप को अपनाते हुए उसे स्थायी साहित्य रूप दिया। इसके साथ-साथ तुलसी ने ब्रजभाषा का भी साधु प्रयोग किया। इनकी ब्रजभाषा मे सूरदास के समान पाद-पूर्ति के लिए भारती के शब्दो का प्रयोग नहीं। इसकी भाषा की सबसे बडी विशेषता है उसमे सस्कृत की कोमल-कात पदावली की सुमधुर झकार तथा विदेशी भाषा के शब्दो का हिन्दी की प्रकृति के अनुसार प्रयोग नही। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों मे—"भाषा की दृष्टि से तुलसी की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती। उनकी भाषा में एक समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास की भाषा जितनी

लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उसमें संस्कृत का मिश्रण बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है भाषा अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसीदास से पूर्व किसी ने इतनी मार्जित भाषा का प्रयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तो तुलसी कमाल करते हैं।"

विविध शैलियाँ—तुलसी के समय में काव्याभिव्यक्ति के लिए अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनमे प्रमुख पाँच हैं। गोस्वामी जी ने पाँचो शैलियो का सफल प्रयोग किया है—

(क) **वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति**—यद्यपि इस रचना पद्धति पर उन्होंने अधिक नहीं लिखा पर जो कुछ लिखा उसमे इनकी निपुणता झलकती है। *राम-जीवन के ओजस्वी चरित्रों तथा युद्ध-वर्णनो मे उनकी उक्त पद्धति दर्शनीय है—*

> कतहुँ विटप भूधर, उपारि पर सेन बरक्खत।
> कतहुँ वाजि सो वाजि मर्दि गजराज करक्खत ॥ आदि

(ख) **विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति**—यद्यपि विद्यापति और सूरदास इस पद्धति का प्रवर्तन कर चुके थे। पर सूरदास की रचना मे संस्कृत की कोमल-कांत पदावली और अनुप्रासो का उतना सफल प्रयोग नहीं है जो तुलसीदास मे है। गोस्वामीजी के गीत संस्कृतगर्भित होते हुए भी शुद्ध देश-भाषा के माधुर्य से सवलित है। इनमें संस्कृत का लालित्य और देश-भाषा का माधुर्य दोनो समन्वित हैं। इनके गेय पदो में प्रसंगानुकूल कोमलता और कर्कशता दोनो मिलती हैं। गेयता की दृष्टि से इनकी विनयपत्रिका अत्यन्त उत्तम बन पडी है। गीतावली के मधुर पदों में हृदय के विभिन्न भावो की अभिव्यंजना अतीव मर्मस्पर्शिनी है। भारत की आत्मग्लानि का एक चित्र देखिए—

> जो पै हौं मातु मते हूँ हौं।
> तो जननी ! जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?

(ग) **गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्धति**—उनकी कवितावली की रचना इस पद्धति पर हुई है। उन्होंने इस पुस्तक में सारी राम-कथा को बडी रसात्मकता और विदग्धता से कह डाला है। इसमें नाना रसो का समावेश है। शब्द-योजना एकदम रसानुकूल है—

> राम का रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं।
> याते सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं ॥

(घ) **नीति के उपदेश की सूक्ति पद्धति**—*काव्य की यह पद्धति* भारतीय साहित्य की पुरानी परम्परा के अनुकूल अपभ्रंश साहित्य मे प्रचलित थी। तुलसीदास ने इस पद्धति का प्रयोग अपने रामचरितमानस तथा दोहावली में बडी सफलता से किया है—

> लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
> करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास ॥

(ङ) **दोहा चौपाई की प्रबन्ध पद्धति**—मलिक मुहम्मद जायसी आदि प्रेम मार्गी कवि इस शैली को पहले अपना चुका थे, किन्तु गोस्वामी जी ने अपने र... चरितमानस में इसे अपने चरम विकास पर पहुँचा दिया। जायसी और तुलसी दोनो की भाषा अवधी है पर दोनो के पदविन्यास में अन्तर है। जायसी मे केवल ठेठ अवधी भाषा का माधुर्य है जबकि गोस्वामी जी मे अवधी का माधुर्य और संस्कृत का लालित्य दोनो हैं। तुलसी शास्त्र-पारगत विद्वान् थे अत: उनकी शब्द योजना साहित्यिक है। उदाहरणार्थ—

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन गन बस करनी॥

आचार्य हजारीप्रसाद ने तुलसी के दस काव्य रूपो की गणना की है—(१) दोहा चौपाई वाले चरित काव्य, (२) कवित्त सवैया, (३) दोहे में अध्यात्म और नीति के उपदेश, (४) *बरवै छन्द*, (५) सोहर *छन्द*, (६) *विनय के पद*, (७) लीला के पद, (८) वीर-काव्यो की छप्पय-पद्धति, (९) दोहो मे सगुन विचार, (१०) मंगल काव्य। काव्य-रूपो मे तुलसीदास ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनो रूपो मे समान अधिकार दिखाया है। इनके गेयपद लालित्यपूर्ण हैं और प्रबन्ध रचनाओ मे *जीवन की सर्वांगीणता है। रस, रीति, गुण, अलंकार छन्द और शब्द-शक्तियों पर* उनका पूर्ण अधिकार है। वे अपनी रचना मे शब्दाडंबर के भद्देपन और व्यर्थ के प्रदर्शन को नही आने देते। साराश यह है कि इन्होंने काव्य-अभिव्यक्ति के समस्त उपकरणो के सत्प्रयोग से हिन्दी की अभिव्यक्ति शक्ति को अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। डा० बलदेवप्रसाद के रामचरितमानस के सम्बन्ध मे प्रकट किए गये उद्गार अवलोकनीय हैं—"हिन्दी भाषा की पाचन-शक्ति का बढ़िया नमूना देखना हो तो रामचरितमानस देखा जाय। भाषा के प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण की सच्ची बानगी देखनी हो तो *रामचरित मानस देखा जाय*। शब्दो की अभिधा-लक्षण और व्यंजना शक्तियो के चमत्कार देखने हो तो रामचरितमानस देखा जाय। मुहावरों का सफल प्रयोग, उनका मूल्य और हृदयहारिता देखनी हो तो रामचरितमानस देखा जाय।"

प्रबन्ध सौष्ठव—*रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता और भाव-प्रवणता आदि सभी* गुणो का इनमे एक अपूर्व समाहार मिलता है। रामचरितमानस में कथा के सभी अवयवो का उचित योग है। इतिवृत्ति, वस्तु-व्यापार वर्णन, काव्य-व्यंजना और संवाद सभी मे आवश्यक सन्तुलन हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाल लीला, *नख शिख वर्णन*, वाटिका मे जानकी-दर्शन, अभिषेकोत्सव आदि के वर्णन इतने लम्बे हो पाये हैं और न ही पात्रों के संवादो मे प्रेम, शोक आदि भावो की व्यंजना विस्तृत हो पाई है। इतिवृत्त की शृंखला कही भी नही टूटती। इस काव्य की कथा बडे सौष्ठव के साथ ग्रथित है। रामायण का आरम्भ बडी धूम-धाम से होता है। रामावतार की आवश्यकता का प्रतिपादन है तथा इसके अनन्तर कथा अपने वेग के साथ आगे बढ़ती है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने कथानक मे नाना पुराण, निग-

आगम तथा लोक-प्रचलित राम-सम्बन्धी सामग्री का सदुपयोग किया है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक आदि ग्रंथों का आधार लेकर भी कथा में कई नवीन प्रसगों की उद्भावना की है। रामचरितमानस चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी राम के ब्रह्मत्व का स्मरण दिलाकर चेतावनी देते जाते हैं। और अपने पाठकों को राम के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर करने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने पाठको की मेघा शक्ति पर अविश्वास है। कदाचित् यही कारण है कि ऐसे प्रसगों में पाठक के ब्रह्मभाव को चोट पहुँचती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे प्रसगों में अस्वाभाविकता भी आ गई है और साथ-साथ आवृत्ति भी। किन्तु अनेक वक्ता और श्रोता होने के कारण वे आवृत्ति दोष से मुक्त हो जाते हैं। वस्तु विन्यास, चरित्र चित्रण, रस-वर्णन, कल्पना सृष्टि, अलकार विधान, उक्ति वैचित्र्य, प्रकृति-वर्णन, भाषा और छन्द आदि की दृष्टि से इनका प्रबन्ध-काव्य रामचरितमानस सफल बन पडा है। इसमे महाकाव्य के सभी लक्षण देखे जा सकते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसके धीरोदात्त नायक हैं। इसमे सभी रसो का कलात्मक समावेश है। महाकाव्योचित वीर, शान्त और शृंगार रसो से यह अनुप्राणित है और प्रमुख है इसमें शान्त रस। चतुर्वर्ग की प्राप्ति इसका महान् आदर्श है। किसी प्रबन्ध-काव्य की सफलता उसमे मर्मस्पर्शी स्थलो के नियोजन मे निहित होती है। इस दृष्टि से भी रामचरितमानस सफल प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है। ऐसे प्रसगो मे कवि की भावप्रवणता और मानव हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियो की पहचान का ज्ञान होता है। मानस में सीता-राम का परस्पर दर्शन, राम वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्म-ग्लानि, वन-मार्ग मे जाते हुए सीता और राम के साथ स्त्री पुरुषों की सहानुभूति, सीताहरण, युद्ध मे लक्ष्मण को शक्ति लगना आदि प्रसग अत्यन्त हृदयहारी बन पडे हैं। तुलसी ने इसमे तीन प्रकार के पात्रों का समावेश किया है सात्विक, राजसिक और तामसिक। अन्त मे रामत्व की रावणत्व पर विजय दिखला कर धर्म की अधर्म पर विजय दिखलाई है। चरित्र-चित्रण मे तो तुलसी सिद्धहस्त ही हैं। राम, सीता, लक्ष्मण, कौशल्या, भरत, हनुमान और सुग्रीव आदि के चरित्र हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे एक नवीन सन्देश देते हैं। तुलसी ने देव, मनुज, दनुज, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों की अन्त प्रकृति के चित्रण मे अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है। इसमें सात कांड हैं आरम्भ मे मगलाचरण है, सज्जनों की प्रशसा तथा दुर्जनों की निन्दा की गई है, नदी, पर्वत, नगर, सन्ध्या, प्रातः आदि वस्तु-वर्णन भी विद्यमान हैं, प्रधान कथानक को प्रासगिक कथायें बल देती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, और अपेक्षित छन्द परिवर्तन भी है। एक सच्चे महाकाव्य के समान इसमे एक उज्ज्वल जातीय-सास्कृतिक प्रतिबिम्ब भी है। सौष्ठव की दृष्टि से रामचरित मानस का स्थान हिन्दी-साहित्य में अत्युच्च है। पार्वती मगल और जानकी मगल भी इनके प्रबन्ध काव्य हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से पार्वती मगल अच्छा बन पडा है।

रस—यद्यपि कविता इसका साधन है साध्य नही है, साध्य तो है इनकी भक्ति, फिर भी तुलसी एक रससिद्ध कवीश्वर हैं। उनका समस्त काव्य भक्ति के दिव्य रस से ओत-प्रोत है। इनका काव्य समविभक्ताग है और उसमे सभी रसो का कलात्मक चित्रण है। कारण, तुलसी की मानव-मन के अन्तस्तल तक पहुँच थी और वे सभी अवस्थाओ एव परिस्थितियो मे मानव हृदय की सूक्ष्म मनोवृत्तियो के सफल जानकार थे। उन्होने मानव-जीवन के विविध रूपो को गहराई से देखा था और उसके मर्मों को पहचाना था। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपो के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामजस्य हम देखते हैं उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नही। यदि कही सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष, पुलक गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखड है तो कुढन, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतघ्नता, महत्त्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान हैं।" वस्तुत उनका काव्य विराट् है। उसमे काव्य के सभी उपकरण यथास्थान अवस्थित हैं। मर्यादावाद के कारण यद्यपि तुलसी का शृ गार रस अधिक प्रस्फुटित नही हुआ फिर भी इसमे सयोग और वियोग की अच्छी झाँकी मिल जाती है। पुष्प-वाटिका प्रसग में सीता के आभूषणो की ध्वनि से राम की मन स्थिति का कवि ने अच्छा परिचय दिया है किन्तु वहाँ पर भी वे अपनी मर्यादा को नही छोडते। कवितावली मे विवाह के पश्चात् के वर्णन मे शृगार रस का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया गया है—

राम को रूप निहारति जानकी, ककन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

वन मार्ग पर ग्राम-वधुओ द्वारा पूछी गई सीता के उत्तर मे शृ गारी चेष्टाओ का सुन्दर निरूपण हुआ है—

बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी, पिय तन चित्ते भौंह करि बाकी।
खजन मजु तिरीछै नैननि, निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

इसका वियोग वर्णन भी समयदि है। राम के विरहोन्माद की ये पक्तियाँ अत्यत प्रसिद्ध हैं—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी।

करुण रस के मानस मे अनेक प्रसग हैं, जिनमे दशरथ-मरण, राम-वनवास, लक्ष्मण को शक्ति लगना तो अत्यत ही हृदयस्पर्शी हैं। लक्ष्मण की मूर्च्छा के प्रसग मे राम के ये शब्द *"जो जनतेउ वन बन्धु बिछोहू"* कितने हृदयद्रावक हैं। नारद मोह हास्य रस की अच्छी सृष्टि हुई है—

'जप तप कछु न होइ तेहि काला, हे विधि मिलै कवन विधि बाला।"

मानस में लकाकाण्ड और सुन्दरकाण्ड मे वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। लक्ष्मण की यह दर्पोक्ति दर्शनीय है—

"जौ तुम्हार अनुशासन पाऊँ, कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ।"

लक्ष्मण-परशुराम सवाद तथा राजा दशरथ के वर न देने पर कैकेयी की क्रोधाभिव्यक्ति के प्रसगो मे रौद्र रस का अच्छा परिपाक हुआ है। लकादाह के प्रसग मे भयानक और बीभत्स रसो का सुन्दर निर्वाह देखा जा सकता है। कवितावली की निम्न पक्तियो मे क्रम से इनके उदाहरण देखिये—

'लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ।"

तथा

"सोनित सो सानि-सानि गूदा खात सतुआ से ॥"

शान्त रस तो सारे तुलसी-काव्य मे ओत-प्रोत है। सारी राम कथा का पर्यवसान शान्त रस मे हुआ है। विनयपत्रिका और कवितावली के उत्तरकाण्ड मे शुद्ध शान्त रस है। विनय पत्रिका का एक उदाहरण देखिये—

मन पछितैहै अवसर बीते।

दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु ही तें।

राम के ब्रह्मत्व के प्रसगो मे भी अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। हनुमान के पहाड ले आने के प्रसगो मे भी अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। वात्सल्य रस के वर्णन के लिए रामचरितमानस तथा गीतावली के बालकाण्ड द्रष्टव्य हैं।

अलकार—रससिद्ध कवि तुलसीदास केशव के समान अलकारो के पीछे मारे-मारे नही फिरे। बल्कि अलकार उनके काव्य मे सहज रूप मे आये हैं। यही कारण है कि इनकी वाणी बाह्य चमत्कार के भद्दे खिलवाड मे कही नही उलझी। इन्होंने अलकारो का प्रयोग भावो के उत्कर्ष दिखाने, वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने के लिए किया है। पात्रो का गुण तथा स्वभाव के चित्रण में इन्होंने उत्प्रेक्षा, उदाहरण तथा दृष्टान्त अलकारो का प्रयोग किया है। भावो और मनोवेगो के चित्रण मे कवि ने उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उपमा अलकारो का अधिक उपयोग किया है। वस्तु चित्रण मे भी कवि अधिकतर उत्प्रेक्षा का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने सन्देह, प्रतीप, उल्लेख, व्यतिरेक, परिणाम, परिसख्या, अर्थान्तरन्यास प्रश्नोत्तर तथा अनुप्रास आदि का भी साधु प्रयोग किया है। इनके अलकारो के कुछ उदाहरण देखिए—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कबिन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता, पर दुख द्रवै सन्त सुपुनीता ॥ (व्यतिरेक)

निम्न पद मे एकत्र ही रूपक और अतिशयोक्ति की छटा देखिए—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मन्दर सिंगारू, मथहिं पानिपकज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥

छन्द—हम [illegible] रह चुके [illegible] कि तुलसी एक पारगत विद्वान् थे। उनका

भाषा, शैली, अलंकार तथा छन्दों पर अबाध अधिकार था। भाषा के सम्बन्ध में इन्होंने दृढ़तापूर्वक कह दिया था—"का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँच। काम जु आवे कामरी का लै करै कमाच।" इनकी कामरी ही कमाच से अधिक मूल्यवान सिद्ध हुई। उन्होंने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों का जिस विदग्धता से उपयोग किया, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। साहित्य क्षेत्र में उनकी समन्वयात्मकता के प्रसंग में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि उनका अनेक छंदों पर भी असामान्य अधिकार था।

अभिव्यंजना शैली तथा उक्ति वैचित्र्य—शैली की दृष्टि से इन्होंने प्रबन्ध तथा मुक्तक, दोनों प्रकार की पद्धतियों में काव्य-रचना की। तुलसी की प्रारम्भिक कृतियों में शैली में प्रौढता नहीं। रामलला नहछू, वैराग्य, संदीपनी रामाज्ञा प्रश्न आदि रचनायें भाषा तथा भाव की दृष्टि से इतनी परिपक्व नहीं है जितनी कि इनकी बाद की रचनायें। बाद की रचनाओं में एक अनुपम प्रांजलता और विविधता है, जिससे यह स्पष्ट है कि तुलसी महान् शैली-निर्माता और ज्ञाता हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त इनकी शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"तुलसी की शैली के मौलिक गुण हैं उसकी ऋजुता, उसकी सरलता, उसकी सुबोधता, उसकी निर्व्याजता, उसकी अलंकार-प्रियता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता और उसका प्रवाह। ऐसा प्रतीत होता है कि शैली की ये विशेषतायें अपेक्षाकृत उसके जीवन का एक प्रतिरूप उपस्थित करती हैं। ये वास्तव में कवि के सुलझे हुए मस्तिष्क को, उसके सादे जीवन और उच्च विचार के आदर्श को, उसकी स्वभावगत सरलता और आडम्बरविहीनता को, उसके ध्येय की एकाग्रता को, और इन सबसे अधिक अपने विषय में उसकी पूर्ण आत्मविस्मृत और उसके साथ पूर्ण तल्लीनता को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा व्यक्त करती हैं। इस प्रकार तुलसी का व्यक्तित्व उनकी शैली में भली-भाँति वर्तमान है।" इसके अतिरिक्त उनका उक्ति वैचित्र्य भी दर्शनीय है। उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक और प्रभाव-शालिनी हैं। राम-वन गमन के समय जब राम, सीता को साथ न ले जाने की युक्तियाँ *बार-बार देते हैं तो उस समय राम को निरुत्तर कर देने वाली सीता की यह उक्ति* देखिए—

"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू।"

राम को उस समय की उक्ति, जब वह देखना तो जनकपुरी को स्वयं चाहते हैं किन्तु लक्ष्मण के ब्याज से वशिष्ठ से कहते हैं—

नाथ लखनपुर देखन चहहीं, प्रभु सकोच उर प्रकट कहहीं।"

इसमें पर्यायोक्ति की कितनी विलक्षण भव्यता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तुलसी-काव्य में कलापक्ष और भावपक्ष अपने अत्यन्त प्रौढ रूप में हैं जो उन्हें एक अप्रतिम प्रतिभाशाली, क्रान्तदर्शी कवि सिद्ध करते हैं। उनकी रचना स्वान्तः सुखाय होते हुए भी सर्वांत सुखाय है। यद्यपि साध्य उनकी भक्ति थी, फिर भी उसमें कलागत सभी उपकरण प्रचुर परिमाण में हैं। भाव,

भाषा शैली, अलकार, रस, पदलालित्य, कथावस्तु, विन्यास ये सारी की सारी वस्तुएँ अपने इतने उच्च स्तर पर हैं कि इस विषय मे शायद ही हिन्दी का कोई अन्य कवि इनकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके। तुलसी की कला की कृतार्थता भक्ति के साथ व्यापक मानवता तथा लोक-सग्रह भावना के चित्रण मे है। इसी मौलिकता के कारण उनका नाम विश्व के मूर्धन्य कलाकारों मे नि सकोच लिया जा सकता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दो मे—"तुलसी हिन्दी कविता-कानून का सबसे बडा वृक्ष है। उस वृक्ष की शाखा प्रशाखाओ के काव्य-कौशल की चारुता और रमणीयता चारो ओर बिखरी पडी है।" यह सच है कि तुलसी-प्रणीत राम रसमयी कविता—मजरी पर बैठा पाठको का मन भ्रमर रस लेते अघाता ही नहीं। उसमे नित्य नवीन सौन्दर्य है। तुलसी कला के द्वारा उपकृत नहीं हुए प्रत्युत कला उनसे उपकृत हुई है—

"कविता करके तुलसी ने लसै, पै कविता लसी पा तुलसी की कला।"

उनके काव्य में मर्त्य और स्वर्ग का एक अनूठा सोहाग है। गोस्वामी भारतवर्ष के उऋण ऋणी हैं और वे अभिनव भारतीय सस्कृति के अभिनव भगीरथ हैं। अन्त मे हम डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों मे कह सकते हैं—"तुलसीदास के काव्य मे उनका निरीह भक्त रूप बहुत स्पष्ट हुआ है, पर वे समाज-सुधारक, लोकनायक, कवि पडित और भविष्य स्रष्टा भी थे। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें से उनका कौन-सा रूप अधिक आकर्षक या और अधिक प्रभावशाली था। इन सब गुणो ने तुलसी मे एक अपूर्व समता ला दी। इसी सतुलित प्रतिभा ने उत्तर भारत को वह महान् साहित्य दिया जो दुनिया के इतिहास मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही जानता।"

तुलसी का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण

तुलसी की नारी के प्रति क्या धारणा थी, इस बहु विवादास्पद विषय मे न पडते हुए यह स्वीकार करना उचित है कि नारी के विषय मे एक युग कवि होने के नाते वे इतना ऊँचा नही उठ सके हैं जितना कि अपेक्षित था। उनका दोष बस इतना ही है इससे अधिक नहीं। नारी सम्बन्धी हीनोक्तियो की सस्कृत साहित्य की विशाल परम्परा उनके सामने थी और उन्होंने उसका उपयोग भी किया। चाहे राम हों या भरत, सती हो या अनसूया, सीता हो या मन्दोदरी, समुद्र हो या रावण अथवा कवि स्वय हो या कोई अन्य पात्र, रामायण में जिस किसी माध्यम से नारी के विषय में अभिव्यक्त किये गये कटु विचारों के पीछे मातृ-सत्ता-युग की समाप्ति के पश्चात् क्रमश स्वार्थी पुरुष द्वारा नारी के अध पतन तथा उनके दम-घोटू शोषण का इतिहास सन्निहित है। मध्ययुगीन नारी इस प्रकार आत्म-विश्वास से वचित और हीनता-ग्रन्थियो से युक्त हो गई थी कि वह स्वय अपनी भर्त्सना के लिए सकोच नही करती। इससे उसका स्वरूप विस्मरण ही समझना चाहिए जिसका आभास आज भी स्वतन्त्र प्रजातन्त्रवादी भारत में सदाधिक मनोबलहीन नारियों में मिल जाता है। अस्तु !

समुद्र द्वारा कहलवाई गई तुलसीदासजी की चिरनिन्दित अर्धाली .—

ढोल गवार शूद्र पशु नारी,
ये सब ताडन के अधिकारी।

का आधार गग सहिता का एक श्लोक है। इसमे तुलसीदास की निजी कोई भी धारणा नही है। हमारा विद्वद्वर्ग से यह विनम्र निवेदन है कि उक्त अर्धाली मे ताडन शब्द का वाच्यार्थ न लेकर इसे कामशास्त्रीय आलोक मे ग्रहण करें। इसमे ही इसके वास्तविक अर्थ की सगति है। इस विषय में हम अपने विचार एक स्वतन्त्र लेख के रूप में प्रकट करेंगे।

सूर-सूर तुलसी ससि—सूर और तुलसी दोनों माँ-भारती के दो उज्ज्वल नेत्र हैं—एक दायाँ और एक बायाँ। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, इनमें कोई बडा और कोई छोटा नहीं। रामचरित-गान करने वालों में तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं और कृष्ण चरित गान करने वालो मे सूरदास। दोनो को अपने दृष्टिकोणों के अनुसार अपने अपने क्षेत्रो मे अपूर्व सफलता मिली है। दोनो के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं पर दोनो ने अपने-अपने क्षेत्रो मे *काव्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया है जो अपनी दिशा से सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ है।*

प्रतिभा क्षेत्र—भगवान के कृष्ण ब्रह्म हैं, गीत-गोविन्द मे वे *नटवर हैं तथा* गोपीवल्लभ हैं, महाभारत मे वे नीतिविशारद हैं, शिशुपाल-वध के कृष्ण वीरनायक हैं, पर सूर के कृष्ण नन्दनन्दन, बालगोपाल, गोपीवल्लभ और राधावल्लभ हैं। सूर द्वारा गृहीत कृष्ण उनकी निजी उद्‌भावना का प्रतिफल है। सूर के कृष्ण मनमोहन और रसिक शिरोमणि हैं। भ्रमरगीत की कल्पना उनकी अपनी मौलिक देन है। बाद के कवियो ने इस परम्परा का अनुकरण तो किया पर वे इस दिशा मे कृतकार्य नहीं हो सके। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर अद्वितीय हैं। वात्सल्य का तो वे कोना-कोना झाँक आये हैं। सूर वात्सल्य और वात्सल्य सूर है।

तुलसीदास ने नाना पुराण निगमागम, *बाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म रामायण,* रघुवश तथा हनुमन्नाटक आदि का आधार लिया है पर फिर भी इन्होंने अपने कथानक के बीच अनेक नवीन प्रसगो की उद्‌भावना की है। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं जो नर होकर नारायण हैं। उनमे शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। एक ओर तुलसी मे बाल्मीकि और कालिदास का कवित्व है तो दूसरी ओर अध्यात्म रामायण की आध्यात्मिकता और धार्मिकता। एक ओर इनका रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है तो दूसरी ओर वह एक महान् पवित्र धर्म-ग्रन्थ। अपने अपने क्षेत्रों तथा विषयो मे सूर तथा तुलसी बहुत ऊँचे हैं।

दृष्टिकोण—सूर-काव्य की सृष्टि स्वान्त सुखाय हुई है। सूर विशुद्ध रूप से लीलावादी कलाकार हैं। इनके कृष्ण लोकरजक हैं। इनके काव्य का उद्देश्य है केवल आनन्द। सूर अध्यात्म पक्ष मे इतने ऊँचे हैं कि लोकपक्ष को भूल गये। वे कृष्ण के माधुर्य और प्रेममय रूप मे इतने तन्मय [illegible] गोपाल हैं, स्वय गोपी हैं, स्वय नन्द और स्वय यशोदा हैं। वे पुष्टि सम्प्रदाय के जहाज है और शुद्धाद्वैतवाद

के कर्णधार।

तुलसी भक्त, सुधारक, महात्मा, कवि, राजनीतिज्ञ और लोकनायक सब कुछ हैं। इनके काव्य का दृष्टिकोण अधिक उदार तथा व्यापक है। इनके काव्य में भक्ति के साथ-साथ लोकनीति, समाजनीति तथा राजनीति भी हैं। राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा लोकरक्षक हैं। उनमें शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसी 'कीरति भनति भूति भलि सोई' के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। तुलसी राम काव्याकाश में इतने ऊँचे उठे कि इस दिशा मे इन तक कोई भी न पहुँच सका। यह एक बडी आश्चर्य जनक बात है कि तुलसी के पश्चात् राम-साहित्य का विकास प्रायः अवरुद्ध सा हो गया। कदाचित् इसका कारण परवर्ती राम कवियों का तुलसी की महत्ता को न पहुँच पाना था। अस्तु! दोनों की महत्ता अपने अपने क्षेत्रों में अक्षुण्ण है।

भक्ति—सूर में सख्य भाव, माधुर्य भाव और दैन्य भाव की भक्ति दृष्टि गोचर होती है पर प्रधानता सख्य भाव की है। कृष्ण केवल सुन्दर हैं, अतः इन्होंने उनके लोकरक्षक रूप को न के बराबर दिखाया है और वह भी लीला ही लीला में उनके द्वारा राक्षसों का नाश करवा दिया है। सूर अपनी वृत्ति में मस्त रहने वाले जीव हैं। समाज किधर जा रहा है इस बात की उन्हें परवाह नहीं है। इन्होंने कृष्ण जीवन के कोमलतम अंगों को अपने वर्णन का विषय बनाया है।

तुलसीदास दास्य-भाव के भक्त हैं, अतः उन्हें मर्यादा और नैतिकता का पग पग पर ध्यान है। इनके काव्य में लोकपक्ष अत्यन्त उभरा हुआ है। राम जैसा आदर्श चरित्र अन्यत्र नहीं मिल सकता। राम लोकरक्षक हैं और उनमें शील-शक्ति सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसी की भक्ति में सर्वांगीण जीवन का चित्रण है, जिसे मानवता की व्याख्या कहा जा सकता है।

रस—सूर मे वात्सल्य शृंगार तथा शान्त रस का प्रमुख रूप से चित्रण है प्रथम दो रसों में तुलसी ही क्या कोई भी कवि उन तक नहीं पहुँच सका। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नही कि उसमे जीवन की विभिन्न दशाओं का समावेश हो, पर जिस परिमित पुण्य भूमि मे उनकी वाणी ने सचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनो क्षेत्रो मे तो इस महाकवि ने मानों औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नही।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली मे बाल लीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया तो सही, पर उसमे बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमे रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टाओं के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।" इस क्षेत्र मे तुलसी की असफलता का कारण है, उनकी दास्य-भक्ति और मर्यादावाद। वे भगवान् राम के त्रिभुवन मोहक ऐश्वर्य पर दूर से ही विमुग्ध हो जाते हैं। सेव्य सेवक भाव की भक्ति 'खेलन मे को काको गुसैयाँ, वाली अभिन्नता और नैकट्य मे

व्यवधान उपस्थित करती है। सच यह है कि इन दो क्षेत्रों मे सूरदास ने भगवान् को भगवान् से मिलाया है।

तुलसीदास मे मानव-जीवन की समूची दशाओं और उनकी सारी वृत्तियो— प्रेम, भक्ति, उत्साह, धैर्य, क्रोध, घृणा और शोक आदि—का चित्रण है। तुलसी के सर्वांगीण काव्य मे सभी रसो का उचित समावेश है। वात्सल्य और शृंगार रस को छोडकर तुलसी अन्य रसो के वर्णन मे सूर से निश्चित रूप से आगे निकल गये हैं। तुलसीदास का रस वर्णन सयत है। उसमे सूरदास के समान गलदश्रुपन नही है। उसमे भावना और चिन्तन मे बराबर सन्तुलन बना रहता है।

अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति चित्रण—मानव की अन्त प्रकृति के चित्रण मे तुलसी निश्चय ही श्रेष्ठ हैं। बाह्य प्रकृति के चित्रण मे भी तुलसी सूर से बढ जाते हैं। वैसे तो तुलसी का प्रकृति चित्रण भी सूर के समान उद्दीपन रूप मे हुआ है, पर उसमे कही कही सश्लिष्ट योजना के द्वारा प्रकृति का जीता-जागता रूप भी उपस्थित कर दिया गया है। चित्रकूट के वर्णन मे कवि की वृत्ति खूब रमी है। भले ही तुलसी काव्य मे सस्कृत कवियो जैसा प्रकृति का बिम्बग्राही रूप है, किन्तु सूर की अपेक्षा *इनका प्रकृति वर्णन काफी अच्छा है। मुद्राओं के वर्णन मे भी तुलसी को पर्याप्त* सफलता मिली है। मानव प्रकृति चित्रण मे दोनो ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक सूझ बूझ से काम लिया है। चरित्र-चित्रण मे निश्चित रूप से तुलसी सूर से आगे हैं। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दो मे—'चरित्र-चित्रण मे तुलसीदास की तुलना ससार के गिने-चुने कवियो के साथ की जा सकती है। उनके सभी पात्र उसी प्रकार हाड-मांस के जीव हैं, *जिस प्रकार काव्य का पाठक परन्तु फिर भी उनमे अलौकिकता है। सबसे* अद्भुत बात यह है कि इन चरित्रो की अलौकिकता समझ मे आने वाली चीज है। जीवन्त-पात्र सिर्फ श्वास-प्रश्वास ही नही लेते, सिर्फ हमारी भाँति नाना प्रकार की सवेदनाओं को ही नही अनुभव करते बल्कि वे आगे बढते हैं, पीछे हटते हैं, अपनी उदात्तवाणी और स्फूर्तिप्रद क्रियाओ से हमारे अन्दर ऊपर उठने का उत्साह भरते हैं, हमें साथ ले लेते हैं, हम उनका सग पा जाने पर उल्लसित होते हैं, उमगते हैं और सन्मार्ग पर चलने मे जो विघ्न बाधाएँ आती हैं, उन्हें जीतने का प्रयास करते हैं। *तुलसी के जीवन्त पात्र इस श्रेणी के हैं।"*

शैली—सूर ने गीत-शैली मे लिखा है और उनकी यह शैली अपने पूर्ण परिपाक मे दृष्टिगोचर होती है। उनकी यह शैली विद्यापति, तानसेन तथा ब्रज की लोक-प्रचलित गीति पद्धति से प्रभावित है। सूर एक उत्तम गायक हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"सूर का सगीत वर्णन" प्रेम सगीतमय जीवन की गहरी चलती धारा है, जिसके अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नही दिखाई पडता। राधा कृष्ण के रग रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं *कि सूर का हृदय नाना उमगो का अक्षय भडार प्रतीत होता है।"* सूर मे उपर्युक्त गीति शैलियो के सकलन होने पर भी उनमे अपनी एक विशेषता है जो सूर को सूर

बना देती है।

तुलसी मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार के काव्यों के लेखक हैं और उन्हें दोनों रूपों में आशातीत सफलता मिली है। इस सम्बन्ध मे देशी-विदेशी दोनो विद्वानो ने इनकी मुक्तकण्ठ से सराहना की है। इन्होंने अपने समय मे प्रचलित सभी शैलियो का सुन्दर प्रयोग किया है, जिनकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं।

भाषा—सूर ने लोक प्रचलित व्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है जो कि काफी सुन्दर है, किन्तु उसे सर्वथा निर्दोष नही कहा जा सकता। उसमे वाक्यदोष और लिंग दोष सम्बन्धी त्रुटियाँ है। कई शब्दों की पादपूर्ति के लिए निरर्थक आवृत्ति है। कहीं-कहीं पर क्रियाओ के पुराने रूपो का व्यवहार किया गया है।

तुलसी ने ब्रज और अवधी का समान सफलता के साथ प्रयोग किया है। सूर की अपेक्षा व्रजभाषा पर तुलसी का अधिक अधिकार है। तुलसी की भाषा शुद्ध और परिमार्जित है, उसमे संस्कृत की कोमल कान्त पदावली की मधुर झंकार है। ये सभी बातें तुलसी के पांडित्य की परिचायक हैं। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि तुलसी की व्रजभाषा शुद्ध भले ही है पर सफलता उन्हें अवधी मे मिली है।

छन्द—दोनो ने विषयानुसार मात्रिक छन्द, रोला, चौपाई, हरिगीतिका, कुंडलिया, छप्पय, सोरठा आदि छन्दो का प्रयोग किया है। दोनो मे अनेक राग-रागनियाँ हैं। इस क्षेत्र में तुलसी ने सूर की अपेक्षा अधिक छन्दो का प्रयोग किया है, पर इस का तात्पर्य यह कदापि नही कि इस विषय में वे सूर की अपेक्षा बहुत हैं :

अलंकार—दोनो ने सादृश्यमूलक अलंकार का अधिक प्रयोग किया है। तुलसी उपमा और रूपक के प्रयोग मे सिद्धहस्त हैं तो सूर उत्प्रेक्षा के प्रयोग मे गुरु हैं।

वाग्वैदग्ध्य—उक्ति का अनूठापन काव्य के उत्कर्ष मे विशेष महत्व रखता है। उक्ति वैचित्र्य दोनो मे है जो कि अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। विद्वानो का कहना है कि सूर तुलसी की अपेक्षा इस क्षेत्र मे अधिक सफल हुए हैं। सूर के काव्य मे उपालम्भ, बनावट, मीठी-तीखी चोट दर्शनीय हैं—"उर मे माखन चोर गड़े", "ऊधो मन नाहीं दस बीस", "वह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहि ते कारे", "लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे", "जोग ठगौरी व्रज न बिकैहै" आदि उक्तियाँ सीधे ही हृदय को पकड़ती हैं। तुलसी मे भी यह उक्ति वैचित्र्य तो है पर उस मार्के का नही जैसा सूर में।

निष्कर्ष—दोनों कवियो का दृष्टिकोण और क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। अपने अपने क्षेत्र में दोनो कवि पूर्णतया सफल रहे हैं। ऐसी दशा मे एक को सूर्य और दूसरे को चन्द्रमा कहना उचित नहीं। प्रत्येक कवि को उस समय की परिस्थितियों के आलोक मे परखना न्याय होगा। तुलसीदास के महान् सन्देश है। उन्होंने जन-जीवन को आलोकित किया है। जीवन के दोषो को दूर कर उसे गुणों की ओर अग्रसर किया है। उन्होंने राम के आदर्श से समाज को आदर्शमय बनाना चाहा, संस्कृति की रक्षा की और शुद्ध भक्ति का निरूपण किया। तुलसी-काव्य मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष

को लेकर चला अत वह सर्वांगीण है। तुलसी ने सूर्य के समान अपने प्रकाश से मानव-मन से मोह, भ्रम और ह्रास के अन्धकार को दूर किया। सूर ने अपनी रसवती शीतल ज्योति से तथा आमोद प्रमोद और रस-रंग की धारा से मानव-जन की अनुरंजनकारी वृत्ति को रस स्निग्ध किया। सूर की ज्योति मे तेज की वह प्रखरता नहीं उसमे तो चन्द्रमा का सौम्य तथा आह्लादकत्व है। अत यह कहना होगा कि यमक के किसी लोभी ने सूर सूर तुलसी ससि' कह दिया अन्यथा इसका रूप होना चाहिए था—"तुलसी रवि ससि सूर हैं अथवा 'सूर चन्द्र तुलसी रवि।" प्रश्न उठता है तब ऐसी उक्ति क्यो ? हाँ, इसका एक कारण अवश्य यह हो सकता है कि काल-क्रमानुसार सूर पहले आते हैं और तुलसी बाद मे। सूर्य पहले आता है चन्द्रमा बाद में। तुलसी ने सूर्य का यथेष्ट अनुकरण किया और बहुत कुछ लिया भी। चन्द्रमा अपने प्रकाश को सूर से लेता है। इस दृष्टि से सूर सूर हो सकते हैं और तुलसी ससि। किसी को भी चन्द्रमा और सूर्य कह लीजिए, इससे इन दोनो के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नही आती। दोनो ही हिन्दी-साहित्य और हिन्दू समाज के गौरव तथा शृंगार हैं।

सगुण साहित्य में मधुर एवं रसिक भक्ति

बहुत से विद्वानो का विश्वास है कि राम भक्ति मे मधुर उपासना की परम्परा का प्रवेश तुलसी से पूर्व हो चुका था, किन्तु तुलसी के प्रखर व्यक्तित्व के सामने वह उभर न सकी। इसका एक कारण मधुर उपासना की प्रकृतिगत सहज गोपनीयता है। अस्तु ! हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य युग के आरम्भिक काल मे उक्त उपासना पद्धति के एक सुदृढ सम्प्रदाय को महत्त्व दिया गया। 'सप्रदाय की विभिन्न शाखायें—जानकी सप्रदाय, रहस्य सप्रदाय, जानकी बल्लभ सप्रदाय आदि नामो से प्रसिद्ध हैं, किन्तु सामूहिक रूप से इन सबको रसिक सप्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। इन सब में राम के रसिक या भोग विलासी रूप की कल्पना कर ली गई है। इस सप्रदाय के उपासक अपने आप को रसिक भक्त कहना अधिक पसन्द करते हैं।"

मधुर रस की कल्पना—'हनुमत संहिता' और महा-कौशल ग्रन्थ' राम भक्ति के रसिक-सप्रदाय के दो आकार ग्रथ माने जाते हैं। हनुमत सहिता के अनुसार मधुर रस मे माधुर्य-मूर्ति कमनीय किशोर श्री रामचन्द्र विषयालबन हैं, प्रेयसी गण आश्रयालबन, सौशील्य माधुर्य, कामनीय किशोरत्व, भूषणालकार, बसन्त, कोकिल-कूजन आदि उद्दीपन विभाव हैं। कटाक्ष, स्मित, भ्रूविक्षेप, आदि अनुभाव हैं। रोमाच, वैवर्ण्य, प्रस्वेद आदि सात्त्विक भाव हैं। आलस्य निर्वेदादि सचारी भाव है। प्रियता-रति, स्थाई भाव है। उक्त संहिता मे राम को मधुर उपासना को परम गोपनीय तथा शृंगार रसाश्रित कहा गया है। बडे आश्चर्य की बात है कि जिस भक्ति को रामानन्द तथा कबीर ने जन साधारण की वस्तु बताया था, वह रसिक सप्रदाय मे परम गोपनीय बन गई और उसका सम्बन्ध केवल रसिक भक्तो तक ही सीमित रह गया। भारतीय रस-

साधना मे जहाँ शृंगार रस को सर्व सम्बन्ध और सम्प्रेषणीय कहा गया है वहाँ रसिकों की शृंगार रसाश्रित मधुर-उपासना परम गुह्य हो गई। इसका कारण कदाचित् मधुर उपासना में भगवदाश्रित काम-केलियों की उन्मुक्त विवृति है।

रसिक सम्प्रदाय में शृंगार वर्णन

रसिक-सम्प्रदाय में रसिक भक्त, रसिक-राम और रसिया सीता की रस रंग पूर्ण प्रेम केलियों को सखी के रूप में बड़े मनोयोग से देखते हैं। राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय वालो ने सम्भोग शृंगार के अन्तर्गत वन विहार, जल विहार, वसन्त विहार, हास परिहास, सखियों का नृत्य, हिंडोला, राम क्रीडा काम की रह केलियों, नर्म-सखाओं के कला-कौशल, अष्टयामी लीलाओं और नख शिख आदि को चित्रित किया है। इनकी रचनाओं में अविश राम रसिक शिरोमणि हैं तथा सीता सुन्दरी-सुरसिका। रसिकता में कृष्ण और राधा से बढकर हैं। अत राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय वालो ने प्रत्येक क्षेत्र में राम के विलासी एव रसिक रूप की कल्पना कृष्ण से कई गुणा अधिक की।

महात्मा बाल-अली के राम रस के ख्याल से रमण करने के लिए केलि भवन जाते हैं और सखियाँ उन्हें देखकर निहाल हो जाती हैं। आत्मा बाल अली की वास्तविक तृप्ति तो तभी होती है जब वे राम और सीता को युगबद्ध रूप मे आबद्ध देखते हैं। रसिक सम्प्रदाय वालों के ऐसे शृंगार-वर्णन निश्चित रूप से अतीव स्थूल और कामोत्तेजक हैं। इनके राम और सीता के केलि भवन नागरोचित मनोविनोद के सभी उपकरणो से सुसज्जित हैं। इन रसिक भक्तों ने बेचारी सीता को अमरुक की नायिका जैसा रूप दे डाला है। सखियाँ सीता से रति रस के मधुर अनुभवो के बारे मे पूछती हैं। वह थोडी सकुचाती है, किन्तु बाद में पजर स्थित वाचाल शुक रति के दृश्यों को बताने की आतुरता प्रकट करता है। बेचारी सीता को तोते के मुख में भूषण नग देकर उसे चुप कराना पडता है। महात्मा कृपा-निवास ने राम के द्वारा रस-लोलुप चपल नायक के समान नीवी स्रसन आदि व्यापारों को सम्पन्न करवा दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय मे भक्ति के माध्यम में रसिकता का चित्रण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। कामुकता की इतनी उन्मुक्त विवृत्ति शायद कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायो मे भी नहीं हुई जितनी कि राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में हुई है।

राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन

भक्ति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन करते समय हम बता चुके हैं कि ईश्वर भक्ति, आत्म-समर्पण, ईश्वर के अनुग्रह पर विश्वास, नामरूप कीर्तन और गुरु-भक्ति की प्रवृत्तियाँ भक्ति काल के साहित्य की सभी धाराओं मे समान

रूप में मिलती है पर निर्गुण भक्तिधारा और सगुण भक्ति-धारा में अन्तर है। जैसे, निर्गुण धारा के अन्तर्गत सन्त काव्य तथा सूफी प्रेम काव्य में भेद है, इसी प्रकार सगुण काव्य में जहाँ साम्य है वहाँ दोनो काव्य—राम-काव्य तथा कृष्ण काव्यों—मे अन्तर भी है। सगुण राम-काव्य के राम और कृष्ण-काव्य के कृष्ण दोनो विष्णु के अवतार है। दोनो के प्रति सगुण भक्ति का विधान है और दोनो के प्रति आत्म समर्पण तथा अनन्य निष्ठा प्रदर्शित की गई है परन्तु फिर भी दोनो काव्यों मे सिद्धान्तगत तथा शैलीगत पर्याप्त अन्तर है और दोनो मे दृष्टिकोण सम्बन्धी काफी भेद हैं।

सिद्धान्तगत भेद—राम-काव्य मे दास्य भाव की भक्ति है जो कि वैधी भक्ति के अन्तर्गत आती है। इसमे मर्यादा पर अत्यधिक बल दिया गया है। राम-काव्य मे वर्णाश्रम धर्म, कर्मकाड और वेद मर्यादा आदि पर पूर्ण आस्था प्रकट की गई है। रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक एव प्रवर्तक हैं जिसके अनुसार जीव ब्रह्म का अश है अत ब्रह्म के साथ-साथ जीव भी सत्य है। यही कारण है कि तुलसी सियाराममय जगत् को कर जोरि प्रनाम करते हैं। राम-काव्य मे ब्रह्म को जीव मर्यादा का पालन करते हुए दिखाया गया है। राम नारायण होते हुए भी नर हैं और नर होते हुए नारायण हैं। राम काव्य के अन्य पात्र विभीषण, अगद, हनुमान, लक्ष्मण, भरत और जानकी किसी न किसी रूप से राम के दास्य भाव के भक्त चित्रित किए गए हैं। सेव्य-सेवक भाव की भक्ति मे, जो कि लोक सग्रह की दृष्टि से अत्यन्त हितकर है मर्यादा का तिल भर भी अतिक्रमण वर्जित है। यही कारण है कि राम-काव्य प्रत्येक क्षेत्र मे अपेक्षाकृत अधिक सयत और सन्तुलित है। हाँ, आगे चलकर इस काव्य मे भी कृष्ण काव्य की भाँति अतिरिक्त रसिकता का समावेश हो गया। रसिक सप्रदाय के काव्य मे कदाचित् मर्यादा का अतिक्रमण भी देखा जा सकता है। इसके विपरीत कृष्ण काव्य मे सख्य और माधुर्य भाव की भक्ति प्रधान रूप से है जो कि रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत है। प्रेम लक्षणा भक्ति मे मर्यादा के लिए कोई स्थान नहीं है। पुष्टि मार्ग के शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म और जीव में कोई मर्यादा नही दोनो मे अभेद है। कृष्ण भक्त कवि कृष्ण के सखा हैं। सख्य मे कोई बडा और कोई छोटा नही होता 'खेलन मे को काको गुसैयाँ।" इसी प्रकार माधुर्य भाव की भक्ति मे भी ब्रह्म जीव की दूरी का नितान्त तिरोधान हो जाता है। ऐसी दशा मे वेद मर्यादा तथा कर्मकाड आदि सब बाह्य उपकरण निष्फल हो जाते हैं। पुष्टि मार्ग के अनुसार जीवन का साफल्य कृष्ण लीला मे एकमात्र तादात्म्य है। शुद्ध भक्ति की दृष्टि से वैधी भक्ति को ईश्वर सान्निध्य का यदि प्रथम सोपान स्वीकार किया जा सकता है तो रागानुगा भक्ति को उसका अन्तिम सोपान। राम-काव्य मे जहाँ लोक-सग्रह एव लोक रक्षक की भावना की प्रधानता है वहाँ कृष्ण-काव्य मे लोक रजन की। शुद्ध कला की दृष्टि से कृष्ण काव्य काफी कुछ खरा उतरा है। राम-काव्य मे किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिक-प्रतीकात्मकता नहीं जब कि कृष्ण-काव्य के सभी

पात्र प्रतीकात्मक हैं।

जन-सम्पर्क—इस दृष्टि से राम-काव्य अधिक समृद्ध है। यह प्रायः स्वान्तः सुखाय होते हुए भी सर्व सुखाय है। निःसन्देह इस काव्य का मूल उद्देश्य भक्ति की अभिव्यक्ति है, पर वह ऐकान्तिक रूप में भक्ति नहीं है। उसमें व्यक्तिगत साधना के साथ साथ लोक-धर्म की उज्ज्वल छटा भी वर्तमान है। राम-काव्य में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का सजीव घात-प्रतिघात है। तुलसी साहित्य में इससे सम्बद्ध यत्र-तत्र संकेत हैं। तुलसी काव्य के पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अलौकिक होते हुए भी हम जैसे लगते हैं जो जीवन की प्रत्येक विकट परिस्थिति में हमें प्रेरणा तथा स्फूर्ति देते हैं। यही कारण है कि राम-चरित-मानस का प्रचार रंक की कुटिया से लेकर राजा के महल तक है। लोकप्रियता में तुलसी-काव्य अपने आधार ग्रन्थों वाल्मीकि-रामायण आदि से भी बढ़कर है। आचार्य शुक्ल तुलसी की वाणी के प्रसार और प्रभाव के सम्बन्ध में लिखते हैं—"उनकी वाणी की प्रेरणा से आज जनता अवसर के अनुकूल सौन्दर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति पर धैर्य धारण करती है, कठिन काम में उत्साहित होती है; दया से आर्द्र होती है, बुराई से घृणा करती है, शिष्टता का आलम्बन करती है और मानव-जीवन का महत्त्व अनुभव करती है।" विराट् जन-समूह का इतना विशाल पथ-प्रदर्शन शायद ही हिन्दी का अन्य कवि करता हो। इसके विपरीत कृष्ण-काव्य पर मानो युग की कोई छाप ही नहीं है। कृष्ण-भक्त मथुरा और आगरा में बैठे हुए भी दिल्ली में होने वाले घात-प्रतिघातों में अछूते रहे हैं। उनकी मथुरा सचमुच तीन लोक से न्यारी रही है। वे अपनी भक्ति और आध्यात्मिकता में इतने तन्मय थे कि इन्होंने समाज का तनिक भी ध्यान नहीं किया कि वह कहाँ और किधर जा रहा है। वे आध्यात्मिकता के आवेश में लीन होकर 'जोबी कोमल धीरे मधुराई' कहते रहे किन्तु समाज और साहित्य पर इसका क्या अनिष्ट प्रभाव पड़ेगा, यह बात इन्होंने नहीं सोची। मानो एक प्रकार से इन्होंने समाज की ओर से अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। यह ठीक है कि भक्तिकाल की राम-भक्ति का परवर्ती साहित्य रसिकता की भावना से ओत-प्रोत हो गया, उसमें मर्यादा-पालन का विशेष ध्यान नहीं रखा गया, किन्तु फिर भी राम-काव्य में कृष्ण-काव्य की अपेक्षा जन-जीवन का संपर्क अधिक है वह सर्वांगीण काव्य है और उसमें नाना रसों का सम्यक् सन्निवेश है।

भाषा—राम-काव्य में अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है जो राम की जन्म-भूमि अवध से सम्बन्धित है। व्याकरण की दृष्टि से अपेक्षाकृत यह परिमार्जित और दृढ़ है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने अपने काव्य में ब्रज भाषा का भी सफल प्रयोग किया है। उनका दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। कृष्ण-काव्य में केवल ब्रज भाषा का व्यवहार हुआ है। नन्ददास भले जड़िया कवि हैं, पर अन्य कृष्ण काव्यकारों की भाषा ब्रज की लोक-प्रचलित भाषा का साहित्यिक रूप है। भाषा की शुद्धि और

संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली जो तुलसी में है वह कृष्ण काव्य में कदाचित् ही दृष्टिगोचर हो।

रचना-शैली—सिद्धान्तगत भिन्नता के कारण इन दोनों काव्यों के रूपों, प्रकारों एवं परिमाण में भी अन्तर रहा है। राम-काव्य में प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन हुआ जबकि कृष्ण-काव्य मुक्तक शैली को लेकर चला। दोनों काव्यों में यह अन्तर स्वाभाविक भी है, क्योंकि राम का चरित्र विभिन्न राष्ट्रीय आदर्शों को आत्मसात् किए हुए है। वे आदर्श पुत्र, आदर्श राजा और आदर्श स्वामी हैं। उनका चरित्र जीवन की विभिन्न ऊँची-नीची भूमियों पर स्थित है, अत वह महाकाव्य का विषय है। राम-भक्ति-साहित्य में महाकाव्य की परम्परा भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक बराबर चली आ रही है। इसके अतिरिक्त राम-साहित्य में मुक्तक शैली का भी प्रयोग हुआ है। तुलसी ने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों का सुन्दर प्रयोग किया है। इस साहित्य में दृश्य काव्यों का भी प्रणयन हुआ। कृष्ण काव्य में मुक्तक शैली के अपनाये जाने का कारण यह है कि अधिकांशत कृष्ण का चरित्र बालकृष्ण के रूप में चित्रित किया है और वह अतिमानव के रूप में। इन कवियों ने कृष्ण जीवन के कोमलतम पक्षों का चित्रण किया है जो प्रबन्ध काव्यों के अनुरूप नहीं थे, अत उनकी अभिव्यक्ति मुक्तक गीतों में हुई। राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समाहार है जबकि कृष्ण सुन्दरम् के प्रतीक हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। तुलसीदास ने काव्य में मर्यादावाद का पूर्ण पालन किया है, परन्तु इस धर्म का निर्वाह प्रत्येक कवि के बस की बात नहीं। यही कारण है कि मात्रा और परिमाण की दृष्टि से राम काव्य कृष्ण काव्य की अपेक्षा न्यून रह गया, पर काव्य-रूपों और शैली की विविधता की दृष्टि से यह काव्य पर्याप्त समृद्ध है।

दृष्टिकोण—राम भक्तों और कृष्ण भक्तों ने अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार अपने उपास्यों के प्रति भक्ति की नाना विधाओं को अपनाया। राम-काव्य में दास्य भाव की भक्ति है जबकि कृष्ण-काव्य में सख्य और माधुर्य भाव की। कृष्ण-साहित्य में मधुरा रति का महत्त्व सबसे अधिक माना गया है। राम-काव्य समन्वय के व्यापक दृष्टिकोण को लेकर चला है। भाव, भाषा, शैली, छन्द तथा इष्टदेव सब क्षेत्रों में इसमें समन्वय है। नि सन्देह तुलसी ने राम को अत्यधिक महत्त्व दिया है, किन्तु इन्होंने कृष्ण तथा अन्य देवी-देवताओं की स्तुति की है। सूर को छोड़कर कृष्ण-भक्ति के पुष्टिमार्गी कवि अपनी साम्प्रदायिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार राम-काव्य और कृष्ण-काव्य मूलत सगुणवादी काव्य होते हुए भी बहुत-सी बातों में परस्पर भिन्न हैं। हाँ, दोनों काव्यों को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि सगुणवादी कवि केवल चिन्तनशील भक्त ही नहीं बल्कि कवि भी हैं। इनके काव्यों में आलंकारिकता, कला तथा कवित्व का सुन्दर सामञ्जस्य मिलता है।

तुलसी के बाद राम-साहित्य का विकास—प्राय यह कह दिया जाता है कि "तुलसी के पश्चात् राम-साहित्य का विकास एकमात्र अवरुद्ध हो गया" किन्तु यह

धारणा सर्वथा निर्मूल है। हाँ, यह दूसरी बात है कि तुलसी के बाद उसके द्वारा निर्मित पद्धति पर राम-भक्ति-साहित्य का विकास न हो सका। तुलसी के अनन्तर राम-साहित्य का एक नवीन दिशा में निश्चित रूप से विकास हुआ और वह नवीन दिशा है राम-भक्ति साहित्य में रसिक भावना का समावेश। यह भावना तुलसी के पूर्व भी विद्यमान थी और कदाचित् वे उससे थोड़े प्रभावित हुए थे। तुलसी के पश्चात् तो यह धारा अबाध गति से प्रवाहित हुई। वास्तव में इस पद्धति के साधक कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसी अपने समकालीन भक्ति-क्षेत्र में प्रसुत शृंगारी भक्ति के एक अपवाद से प्रतीत होते हैं। यह दूसरी बात है कि इस सम्प्रदाय का इतना विख्यात प्रतिभासम्पन्न कोई कवि नहीं जो तुलसी की समकक्षता में आ सकता। दूसरी बात यह है कि रामोपासना की इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक सम्प्रदाय विशेष तक सीमित था, और इसके सिद्धान्तों की गोपनीयता इसके द्रुत विकास में बाधक सिद्ध हुई। गोस्वामी जी मर्यादावादी हैं। अतः उनका यह मर्यादावाद जीवन के समान काव्य-क्षेत्र में भी अक्षुण्ण रहा। तुलसी के राम मर्यादा के रक्षक लोक विरोधी तत्त्वों के उन्मूलक और लोक-धर्म के प्रवर्तक हैं। तुलसी के राम में शील शक्ति-सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसी ने अपूर्व दक्षता के कारण राम के मर्यादावादी चरित्र में रागात्मकता का भी समावेश कर लिया, किन्तु बाद के राम भक्त कवियों के लिए मर्यादा के साथ रागात्मकता को निभा पाना दुष्कर था, अतः उन्होंने तुलसी की पद्धति का अनुसरण न करके अग्रअली की माधुर्य भाव की उपासना को अपनाया, अतः तुलसी की ऐश्वर्य-प्रधान पद्धति उपेक्षित रह गई।

तुलसी में एक अद्वितीय काव्य-कौशल की अद्भुत प्रतिभा थी। उन्होंने अपनी असामान्य दक्षता से राम के व्यापक चरित्र के विविध सूत्रों को सन्तुलित रूप में सम्भाले रखा। अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण तथा अपने सर्वग्राही व्यक्तित्व के कारण धर्म, दर्शन, समाज, साहित्य, लोकनीति और राजनीति सभी क्षेत्रों में वे इतने ऊँचे उठे कि परवर्ती राम कवि वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ थे। निःसन्देह केशव ने रामचरितमानस की होड़ में रामचन्द्रिका का प्रणयन किया, किन्तु वह मानस के समान विविध भावों और विषयों-रूप मणिरत्नों से परिपूर्ण सरोवर न होकर विविध छन्दों और अलंकारों की मंजूषा मात्र रह गई। जयशंकरप्रसाद हिन्दी नाटक-क्षेत्र के सम्राट् थे, किन्तु उनके समकालीन नाटककार प्रसाद का अनुकरण न करके एक भिन्न दिशा में चले, क्योंकि इनके लिए प्रसाद के व्यक्तित्व की गम्भीरता और दार्शनिकता सहज अनुकरणीय नहीं थी। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि और कालिदास में जो स्वाभाविकता, गम्भीरता और काव्य-सौष्ठव हैं वे परवर्ती संस्कृत में अनुकरणीय न हो सके। भक्ति काव्य में रामचरित की उज्ज्वलता के स्थान पर व्याकरण और छन्दों का कौशल आ गया। ठीक यही बात तुलसी के साथ समझनी चाहिए। इसके अतिरिक्त तुलसी में राम भक्ति-काव्य का विकास इतने-अग्र और सर्वांगीण

रूप में हुआ कि उस विषय पर लिखने की तनिक भी गुंजाइश नहीं रही। परिणामतः तुलसी से भिन्न दिशा में राम-भक्ति-साहित्य का विकास हुआ और इस दिशा में विपुल साहित्य की रचना हुई। परिमाण की दृष्टि से सम्पूर्ण राम-भक्ति-साहित्य का दो तिहाई से अधिक भाग रसिक भक्तों के द्वारा रचा गया, क्योंकि इस दिशा में लिखने के लिए पर्याप्त अवकाश था। राम-भक्ति का रसिक साहित्य निश्चित रूप से तुलसी-साहित्य के समान जन-मानस को आकृष्ट नहीं कर सका। कारण, तुलसी-साहित्य के सौष्ठव और व्यापकता में जनता की मनोवृत्ति इस रूप से रमी कि उसने इस दिशा में रचे गये साहित्य की परवाह न की। जिस प्रकार सूर के वात्सल्य-वर्णन के पश्चात् उस क्षेत्र में अन्य कवियों के लिए जूठन रह गयी और जिस प्रकार महाभारत में सबवि पर्वों के सांगोपांग-वर्णन के अनन्तर अन्य कवियों के लिए केवल मात्र उन विषयों की आवृत्ति रह गई, इस प्रकार तुलसी द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र के सर्वांगीण वर्णन के पश्चात् परवर्ती राम-कवियों के लिए कुछ भी नहीं रह गया था और यदि कुछ रहा था तो वह था कृष्ण के समान राम का छैल छबीला रूप। आगे चलकर राम के इसी रूप पर प्रभूत साहित्य का निर्माण हुआ।

राम के उपर्युक्त रूप के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ भी कोई कम उत्तरदायी नहीं हैं। तुलसी सम्राट् अकबर के समकालीन थे। अकबर के समय तक देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रही। अकबर के पश्चात् जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासन-काल में राजनीति एव समाज विकासोन्मुख हो गए। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में तुलसी काव्य का लोक रक्षक और मर्यादावादी रूप जनता की चित्तवृत्ति को सतुष्ट नहीं कर सकता था। उस समय की जनता की चित्तवृत्ति भगवान् के मधुर रूप के लिए लालायित थी। इस माँग की पूर्ति तुलसी की वैधी भक्ति में न होकर कृष्ण भक्त कवियों की प्रेम-लक्षणा भक्ति में निहित थी, जहाँ कृष्ण का रूप एकमात्र प्रेममय है, और जहाँ किसी मर्यादा विशेष के पालन की आवश्यकता नहीं थी। कृष्ण-काव्य जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल पड़ा, क्योंकि उसमें जन-मन रंजन की पर्याप्त क्षमता थी। निःसन्देह कृष्ण भक्ति काव्य मे अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिकता एव प्रतीकात्मकता भी थी किन्तु साधारण जनता का उससे कोई सरोकार नहीं था, उसके रीझने के लिए तो कृष्ण का साँवला सलोना रूप ही काफी था। यही कारण है कि राम-काव्य की अपेक्षा कृष्ण काव्य अधिक लोकप्रिय हुआ। इसके फलस्वरूप तुलसी के परवर्ती राम-साहित्य में रसिकता का खुलकर समावेश हुआ तथा इस साहित्य का राजाओं तथा जनता में अभीष्ट प्रसार एव प्रचार हुआ। राम भक्ति साहित्य में रसिकता की भावना के समावेश का आंशिक कारण राजदरबारों में लसने वाले फारसी और उर्दू कवियों के संसर्ग भी हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि ब्रजभाषा के साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने

प्रकाश नही पड़ता। परवर्ती पुराणों—हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्म-वैवर्त आदि मे उनकी बाल्यावस्था सम्बन्धी आख्यानों और गोप जीवन-सम्बन्धी क्रीडाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कृष्ण की रासलीला एव गोपियो के प्रेम का विस्तृत रूप मे चित्रण लगभग नवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण मे हुआ है। इसमें कृष्ण की एक विशेष आराधिका गोपबाला का भी उल्लेख हुआ है जो कि ब्रह्म-वैवर्त पुराण मे गोपियो में सर्वाधिक प्रभावशालिनी राधा के रूप मे चित्रित हुई है। वस्तुत कृष्ण के उपर्युक्त तीनों रूप भागवत धर्म की तीन भिन्न अवस्थाओं के परिचायक हैं। आरम्भ में भागवत धर्म मे सरल और भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी जिसका प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद् और गीता के कृष्ण द्वारा हुआ है। महाभारत-युग में भागवत धर्म, भावना प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी नहीं, अत उसमे कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण हुआ है। सम्भवत महाभारत में चित्रित व्यक्तित्व कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है जो परवर्ती साहित्य मे धीरे धीरे परिवर्तित, विकसित एव विकृत होता गया। पौराणिक युग मे भागवत धर्म बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्रयान एव तान्त्रिको की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता और विलास से पूर्ण होता गया जिससे वह जनसाधारण के आकर्षण का केन्द्र बन सके। डॉ० भडारकर गोपालकृष्ण को वासुदेव कृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका यह मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डॉ० ए० डी० पुसाल्कर ने लिखा है कि कृष्ण ने गोकुल मे गोपियो के साथ सामूहिक नृत्य गानादि में भाग लिया था जो उनके कला प्रेम का द्योतक है। आगे चलकर इसी को प्रणय-क्रीडा का रूप दे दिया गया। अत मूलत गोकुल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नही मिलता जिससे उनकी सत्ता महाभारत के कृष्ण या गीता के कृष्ण से भिन्न मानी जाये।

ग्रियर्सन, कैनेडी और वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानो ने अनुमान लगाया था कि गोपाल कृष्ण का बाल चरित्र जिसे वैष्णव भक्तों ने प्रेमाभक्ति के अवलम्बन रूप मे अपनाया क्राइस्ट के बाल चरित का अनुकरण है। किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक है—पूतना को वर्जिल तथा प्रसाद को लवफीस्ट मानने का विचार सर्वथा अमान्य है।

सम्भावना यह है कि गोपाल कृष्ण मूलत शूरसेन प्रदेश के सात्वत वृष्णि-वंशी पशु-पालक क्षत्रियो के कुल देव थे और उनके क्रीडा-कौतुक की मनोरजक कथायें खूब लोक-प्रचलित थीं। कुछ जातियो में आज तक बाल और किशोर कान्ह की ललित लीलायें जातीय उत्सवों का विषय बनी हुई हैं। मध्यकालीन भाषा-कवियो ने भी कृष्ण की मधुर और ललित कथाओ को जो कि लोक-गीतों और लोक-कथाओं के माध्यम से प्रचलित थी, अपने साहित्य का विषय बनाया। उनका ध्यान महाभारत तथा पुराणो मे वर्णित कृष्ण के ऐश्वर्य एव पराक्रमपूर्ण चरित्र पर नहीं गया। अस्तु! हरिवंश तथा अन्य पुराणों मे कृष्ण के शृगारी रूप के दो पक्ष मिलते हैं—एक उसका राजसी वैभव विलास का ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र तथा दूसरा उनका गोपाल रूप में ग्रामीण केलिक्रीडा का माधुर्यपूर्ण चरित। हरिवंश और विष्णु पुराण में गोपाल

कृष्ण की लीला भागवत, पद्म और ब्रह्मवैवर्त की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त रूप में दी गई है। पुराणों में सबसे पहले भागवत में ही गोपाल कृष्ण का जन्म से लेकर द्वारिका-प्रवास तक का सम्पूर्ण चरित्र विस्तृत रूप से दिया गया है। इसमें कृष्ण के ऐश्वर्य और मधुर रूपों का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। मध्यकालीन भाषा कवियों पर भागवत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ऐसा जान पड़ता है कि भागवतकार ने भी गोपाल कृष्ण की लोक विश्रुत कथाओं और अप्रचलित लोक वार्ताओं का सदुपयोग करके अपनी उर्वरा कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। गोपाल कृष्ण की ललित कथा के लोक-प्रचलित होने के प्रमाण कुछ पाषाण मूर्तियों तथा शिला-पट्टों पर उत्कीर्ण चित्रों में भी मिले हैं। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी, सातवीं शताब्दी तक है। अस्तु ! कृष्ण-जीवन के इन तीनों रूपों—ऋषि, राजनीतिज्ञ नरेश और बाल गोपाल—का अध्ययन अत्यन्त रोचक तथा कौतूहलजनक है। भारतीय साहित्य और संगीत, धर्म और अध्यात्म, संस्कृति और सभ्यता कृष्ण के चरित्र से अद्वितीय रूप से प्रभावित हुई हैं।

कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा और विकास—महाभारत में अनेक ऐसे स्थल देखे जा सकते हैं जहाँ कृष्ण के पूजे जाने के उल्लेख हैं। महाभारत के कृष्ण केवल नीति विशारद न होकर धर्मात्मा भी हैं। अर्जुन और युधिष्ठिर उन्हें पूज्य बुद्धि से देखते हैं। वेद व्यास जैसे ऋषि ने कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरंधर स्वीकार किया है। महाभारत के पश्चात् शताब्दियों तक कृष्ण-पूजा का प्रचार अधिक नहीं हो सका किन्तु जातियों और प्रदेशों में कृष्ण-पूजा का प्रचलन अवश्य रहा। चौथी शताब्दी ईसा के पूर्व में मथुरा के आस-पास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण में मिलता है। आगे चलकर जैनों और बौद्धों की प्रतियोगिता में भागवत धर्म के प्रचारकों ने विष्णु के अवतार राम-कृष्ण की उपासना एवं भक्ति का प्रचार किया। फिर भी मौर्य-युग तक बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार नहीं हो सका। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त सम्राटों ने भागवत धर्म स्वीकार करके उसकी खूब उन्नति की। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार जोरों से हुआ। वहाँ के प्रसिद्ध आलवार भक्तों में से अनेक कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान करने वाले भागवत पुराण की भी दक्षिण में ही रचना हुई।

संस्कृत काव्यों में कृष्ण-भक्ति का स्वरूप बहुत प्राचीन काल से विकसित हो गया था। अश्वघोष (प्रथम शताब्दी) के बुद्ध चरित में गोपाल कृष्ण की लीला का उल्लेख मिलता है। हाल सातवाहन (प्रथम शती) ने लोक-प्रचलित प्राकृत गाथाओं का संग्रह करवाया। उनमें कृष्ण, राधा, गोपी और यशोदा आदि का उल्लेख हुआ है। इन गाथाओं में कृष्ण की अनेक लीलाओं का उल्लेख है। यद्यपि इन गाथाओं में भक्ति-भावना के दर्शन नहीं मिलते फिर भी इन गाथाओं का कृष्ण-भक्ति में काफी उपयोग हुआ। आलवार सन्तों में कृष्ण-भक्ति के विकास से सम्बन्ध

में हम पहले ही लिख चुके हैं। भट्टनारायण (८वीं शती) ने अपने वेणीसंहार नाटक में नांदी के श्लोक में रास के अन्तर्गत राधा के केलि-कुपित होने पर कृष्ण के अनुनय का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन (६वीं शती) के ध्वन्यालोक तथा दसवीं शताब्दी के कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में कृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद उपलब्ध होते हैं। बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में राधा-कृष्ण-सम्बन्धी दो पद उद्धृत किये हैं। इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि बारहवीं शती में राधा-कृष्ण सम्बन्धी अनेक नाटकों और काव्यों का प्रणयन हुआ। लीलाशुक का कृष्णमत स्तोत्र इसी शताब्दी की रचना है। जयदेव का गीत-गोविन्द राधा-माधव के उद्दाम शृंगार का वर्णन करते हुए भी एक धार्मिक काव्य है। विद्यापति गीत-गोविन्दकार से अत्यधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। गीत-गोविन्द के अनुकरण पर संस्कृत साहित्य में अनेक कृष्ण काव्यों की रचना हुई। बारहवीं शताब्दी के बाद अनेक कृष्णचरित सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य लिखे गये। सोलहवी शती में गौडीय वैष्णव मत के अनुयायी विद्वान रूप-गोस्वामी ने नाटक-चन्द्रिका में केशव-चरित तथा उज्ज्वल-नीलमणि में गोविन्द-विलास के नामोल्लेख-सहित उद्धरण प्रस्तुत किये। रूप गोस्वामी की उज्ज्वल-नीलमणि ने मध्यकालीन कृष्ण काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इस प्रकार आधुनिक भाषाओं में कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना होने से पहले प्राकृत और संस्कृत साहित्य की एक लम्बी परम्परा थी। इस साहित्य का लोक-गीतों तथा लोक-गाथाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा वह अधिकतर *गीति तथा मुक्तक* रूप में था। जो रचनायें प्रबन्ध-काव्य और नाट्य के रूप में हुई, उनमें भी कदाचित् गीति-भावना प्रधान ही रही होगी। सम्भवतः इसी कारण संस्कृत साहित्य में उन्हें अधिक गौरव का स्थान नहीं मिल सका। परन्तु आगे चलकर *परिस्थितियाँ* बदल गईं, जिसके फलस्वरूप काव्य की *प्रेरणा*, भावना, *रूप और भाषा* में आमूल परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के क्रम में हिन्दी-कृष्ण-काव्य को जन्म मिला, जिसकी प्रकृति मूलतः धार्मिक है।"

आठवीं-नवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकर के मायावाद के फलस्वरूप भक्ति आन्दोलन तेजी से नहीं चल सका, परन्तु आगे चलकर रामानन्द (११ वीं शती), मध्व (११९९-१३०३), निम्बार्क (१२-१३वीं शती), वल्लभ (१४७९ से १५३०), चैतन्य (१६वीं शती), *हित हरिवंश (१७ वीं शती)* आदि आचार्य हुए जिन्होंने भक्ति विरोधी सिद्धांतों का खंडन करके भक्ति का प्रचार किया तथा अपने-अपने सम्प्रदायों की स्थापना की। कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित सम्प्रदाय है—निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ और राधावल्लभ। हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य पर वल्लभ सम्प्रदाय का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा।

हिन्दी में कृष्ण-काव्य का आरम्भ बहुधा विद्वानों ने विद्यापति से माना है किन्तु इस सम्बन्ध में स्मरण रखना होगा कि विद्यापति-पदावली में राधा और कृष्ण के मादक शृंगारी चित्र हैं जिनमें भक्ति का अभाव है और वासना का रंग गहरा

है। विद्यापति पदावली को विशुद्ध रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। यह सिद्ध हो चुका है कि विद्यापति शैव भक्त थे। कृष्ण काव्य में सरसता और प्राणों का संचार करने का श्रेय महाकवि सूरदास को है। सूर के द्वारा कृष्ण काव्य को अत्यन्त लोकप्रियता मिली। सम्भव है कि इसी लोकप्रियता के परिणाम-स्वरूप तुलसी ने अपनी "कृष्ण गीतावली" में कृष्ण की सरस लीलाओं का चित्रण किया हो। पुष्टि मार्ग के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति के प्रसार एवं प्रचार में अमूल्य योगदान दिया। सूरदास इन कवियों में सर्वप्रथम हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवि हैं कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें भी नन्ददास तथा कृष्णदास का साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है।

अष्टछाप के इन कवियों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध अन्य सम्प्रदायों—राधावल्लभी सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय—के कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति काव्य के विकास में सक्रिय सहयोग दिया। इस दिशा में राधावल्लभी सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामी हितहरिवंश राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं और बहुत ही उच्च कोटि के कवि भी हैं। गदाधर भट्ट का सम्बन्ध गौड़ीय सम्प्रदाय से है। जहाँ ये संस्कृत के महान् पंडित थे, वहाँ ब्रज भाषा में कृष्ण-भक्ति अत्यन्त सरस कविता भी किया करते थे। स्वामी हरिदास निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ये गायन-विद्या में अत्यन्त निपुण थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि बैजूबावरा इनका शिष्य था। स्वामी हरिदास में कविता और संगीत कला का अद्भुत सम्मिश्रण है। श्री भट्ट भी निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके कृष्ण की रस-रूपोपासना सम्बन्धी पदों में मधुर रस की अत्यन्त उज्ज्वल छटा है।

इस दिशा में राजस्थान की प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई भी विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भक्ति दाम्पत्य भाव की है और इन्होंने राधा का स्थान स्वयं ही ग्रहण कर लिया। इनका काव्य भक्ति के गाम्भीर्य, सरसता और तन्मयता की दृष्टि से अपूर्व बन पड़ा है। अकबर के समकालीन कवि सूरदास मदनमोहन गौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी पद अत्यन्त सरस हैं और वे सूर साहित्य में इस रूप से घुल मिल गये हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है। हरिराम व्यास राधावल्लभी सम्प्रदाय में दीक्षित थे। ये कृष्ण की रासलीला के बड़े प्रेमी थे। इनके राधा-विषयक पद अत्यन्त हृदयहारी बन पड़े हैं। ध्रुवदास भी राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इन्होंने प्रेमाभक्ति विषयक सुन्दर पदों की रचना की है। सुदामा-चरित के प्रसिद्ध लेखक कवि नरोत्तमदास अपनी प्रेममयी रचना के लिए अत्यन्त लब्ध प्रतिष्ठ हैं। अकबर दरबार के कवियों में गंग, रहीम, रसखान, बीरबल और टोडरमल प्रमुख हैं। कृष्ण-भक्त स्त्री कवयित्रियों में प्रवीणराय, कुँवरिबाई, साईं, रसिक, बिहारी, रसिकुँवरि तथा सुन्दरकुँवरि आदि ने कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी सुन्दर रचनाएँ की हैं। रीतिकाल के कृष्णोपासक कवियों में नागरीदास, अलबेली,

अलि जी, चाचा हितवृन्दावन दास, भगवत रसिक, ललित किशोरी तथा सहचरीगण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रामधारीसिंह दिनकर का कहना है कि भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवियों मे जो स्थान सूरदास का है रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियो मे वही स्थान आनन्दघन का है। भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य तथा रीतिकालीन कृष्ण-काव्य में प्रेरणा और उद्देश्य का मौलिक अन्तर है। आधुनिक काल मे भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल मे कृष्ण सम्बन्धी रचनाएँ लिखी गई, किन्तु उनमें भक्ति की अपेक्षा देश प्रेम और सुधार की भावनाओं की अधिकता है। आधुनिक कृष्ण-काव्य में मौलिकता बहुत कम है। पिष्टपेषण प्राय सबमे पाया जाता है। आधुनिक कृष्ण-काव्य मे कृष्ण को मानव रूप मे चित्रित किया गया है जो कि कदाचित् बुद्धिवादी युग का प्रभाव है। आधुनिक कवियो मे भारतेन्दु, जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त का नाम लिया जा सकता है।

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय धर्म-साधना, संस्कृति, साहित्य और कलाएँ बहुत प्राचीन काल से आज तक *कृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से अद्वितीय रूप से* प्रभावित हुई हैं। यह प्रभाव ईसा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण-भक्त भाषा कवियों में अत्यन्त ही गहरा और लोकव्यापी हो गया जो शायद ही कभी पहले इतना गहरा और व्यापक हुआ हो। हिन्दी के मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों के साहित्य मे सरसता, माधुर्य, तल्लीनता और काव्य सुधा अनुपम है। वस्तुत हिन्दी साहित्य को कृष्ण-भक्त कवियो पर गर्व है।

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति के नाना सम्प्रदाय

श्रुति और स्मृति पर आधृत वैष्णव, भक्ति के नाना सम्प्रदायों से मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य अत्यधिक प्रभावित हुआ है। अत. उपर्युक्त साहित्य के पोषक तत्त्वों को सम्यक् जानकारी के लिए उक्त सम्प्रदायो का अवबोध आवश्यक है। इन सम्प्रदायो मे रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, विष्णु गोस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का निम्बार्क सम्प्रदाय, माध्व का द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय, रामानन्द जी का विशिष्टाद्वैतवादी रामानन्द सम्प्रदाय, वल्लभाचार्य का पुष्टि सम्प्रदाय चैतन्य महाप्रभु का गौडीय अथवा चैतन्य सम्प्रदाय, हित हरिवंश का राधावल्लभी सम्प्रदाय तथा हरिदासी सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबका मूल उद्देश्य शंकर के मायावाद का खंडन कर भक्ति की स्थापना करता है।

विष्णु सम्प्रदाय – विष्णु सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक विष्णु गोस्वामी की स्थिति कब और कहाँ थी अभी तक यह बात विवादास्पद है। इस विषय में बहुत सी किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कई विद्वानो का विचार है कि वल्लभाचार्य विष्णु गोस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे और उन्होंने अपने पुष्टी मार्गी सम्प्रदाय की दार्शनिक भित्तिविष्णु स्वामी के दर्शन के आधार पर खडी की। इस विषय में कतिपय विद्वानों का यह

कहता है कि महाराष्ट्र के भागवत प्रचलित धर्म पर आधृत वारकरी सम्प्रदाय विष्णुस्वामी की दार्शनिक मान्यताओं का रूपान्तर मात्र है। प्रसिद्ध भक्त नामदेव और ज्ञानदेव का सम्बन्ध वारकरी सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है। इस सम्प्रदाय को रुद्र सम्प्रदाय की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। यह सम्प्रदाय शुद्धाद्वैतवादी है।

निम्बार्क सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक *निम्बार्काचार्य निम्बादित्य*, निम्ब भास्कर तथा नियमानन्दाचार्य आदि कई नामों से प्रसिद्ध हैं। निम्बार्क आदि नामों के पीछे एक अतीव मनोरंजक किंवदन्ती है। अस्तु! यह सम्प्रदाय द्वैताद्वैतवादी है। निम्बार्क द्वारा लिखे हुए दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—"वेदान्त पारिजात सौरभ" तथा "दश श्लोकी"। ये दोनों इस सम्प्रदाय के मूल भूत ग्रन्थ हैं और इन दोनों का आधार ब्रह्म सूत्र है।

माध्व सम्प्रदाय—निम्बार्क के समान इन्हें भी कई दूसरे नामों से अभिहित किया जाता है। मध्वाचार्य के अतिरिक्त इनके "रामानन्द तीर्थ" तथा "पूर्ण प्रतिज्ञ" नाम भी मिलते हैं। इन्होंने शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद का खंडन कर द्वैतवाद की स्थापना की। मध्वाचार्य रामानन्द के बाद में हुए हैं। इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रेरणा स्रोत प्रथ भागवत पुराण है। इनके अनुसार परम ब्रह्म कृष्ण-भक्ति से प्राप्य है। *इस सम्प्रदाय में राधा को कोई मान्यता नहीं दी गई है।*

रामानुज का श्री सम्प्रदाय—श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक-श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। इन्हें शेष का अवतार माना जाता है। इन्होंने शंकर के मायावाद तथा अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्य की स्थापना की। पदार्थत्रय की स्थिति में इनका पूर्ण विश्वास है। इनके अनुसार परम ब्रह्म (विष्णु) चित् (जीव) तथा अचित् (अचेतन दृश्य जगत्) ये तीनों अनश्वर हैं। चित् और अचित् परम स्वतन्त्र परम ब्रह्म पर निर्भर करते हैं। इनके तीन ग्रन्थ वेदार्थ-संग्रह, श्री भाष्य तथा गीता भाष्य इनके श्री सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं के ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

रामानन्दी सम्प्रदाय—चौदहवीं शती के आरम्भ में श्री रामानन्द ने रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय को लोकव्यापी और सर्वप्रिय बनाने में भरसक चेष्टा की। इस सम्प्रदाय में भी विशिष्टाद्वैतवाद को मान्यता प्रदान की गई है। रामानुजाचार्य के विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर राम और उनकी भक्ति की बलवती स्थापना की। रामानुजाचार्य ने उपासना-क्षेत्र में कर्म कांड को भी महत्त्व दिया था किन्तु इन्होंने उसकी उपेक्षा कर एकमात्र भक्ति को भगवत्प्राप्ति का अन्यतम साधन माना। भक्ति-क्षेत्र में इन्हें जाति-पाँति का भेद अस्वीकार्य है। राम और सीता की मर्यादापूर्ण भक्ति की स्थापना में रामानन्द अग्रणी हैं। यह इनकी भक्ति-विषयक उदाराशयता का परिणाम है कि जहाँ एक ओर सम्प्रदाय में स्वनामधन्य गोस्वामी तुलसीदास दीक्षित हुए वहाँ कबीर भी।

वल्लभ सम्प्रदाय—पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्य के सम-

कालीन थे। इनका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद का है जिसमें शंकर की माया के लिए कोई स्थान नहीं है। वल्लभ सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताएँ विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क के सिद्धान्तों पर निर्भर करती हैं। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सत्, चित्, और आनन्द के रूप में सर्वव्यापक है। वह ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से प्रकट होता है। अग्नि से चिंगारियों के समान ब्रह्म से जीव और प्रकृति से आविर्भूत होते हैं। यह सब कुछ उसकी रचनात्मक शक्ति का परिणाम है। इसमें माया के लिए कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म-स्वरूप कृष्ण के अनुग्रह से ही उसकी अनुभूति होती है। वह अनुग्रह ही पोषक है जिसे पुष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग कहलाया। इस सम्प्रदाय साहित्य में वात्सल्य और सख्य भाव की भक्ति का प्राधान्य है।

चैतन्य सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु वल्लभ के समकालीन हैं। चैतन्य का जन्म बंग प्रान्त में हुआ। उस समय बंग प्रान्त में शाक्तों का अत्यधिक प्रभाव था। बंगाल में वैष्णव भक्ति के प्रचार का सारा श्रेय चैतन्य जी को है। चैतन्य जी की भक्ति-पद्धति परकीया भाव की है जिसका प्रेरणा-स्रोत भागवत पुराण है। कृष्ण के साथ राधा की उपासना को महत्त्व देना इस सम्प्रदाय की विशेषता है। चैतन्य महाप्रभु गलदश्रु भाव से चंडीदास जयदेव और विद्यापति के पदों का नृत्यपूर्ण गान करते हुए आत्म विभोर हो जाया करते थे। यद्यपि चैतन्य सम्प्रदाय की दार्शनिक भित्ति रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी के समय हुई फिर चैतन्य जी की निजी आस्था निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद पर अधिक थी। निःसन्देह चैतन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष का वल्लभ सम्प्रदाय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु विट्ठलनाथ के समय वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य भाव की भक्ति, चैतन्य की कीर्तन-पद्धति नृत्य और वाद्यों का अनुकरण किया जाने लगा। रूप गोस्वामी विरचित उज्ज्वल नीलमणि के अनुकरण पर नन्ददास ने रस मंजरी जैसे नायक-नायिका-प्रख्यापक रसशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। सूरदास आदि पुष्टि मार्गी कवियों ने अपने भाव रस-शास्त्र में चर्चित प्रेम की नाना परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्त किये। गौड़ देश में अत्यधिक प्रचलन के कारण चैतन्य सम्प्रदाय को गौड़ीया सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इसे चित्याचित्य-भेद सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

राधा वल्लभी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हित हरिवंश जी हैं। इसका प्रचलन पुष्टि मार्गी कवियों के समकाल में हुआ। स्वामी हितहरिवंश पहले माध्व और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे किन्तु बाद में इन्होंने राधा कृष्ण की पूजा का प्रचार किया। इन्होंने कर्म और ज्ञान का खंडन कर भक्ति में एक मात्र प्रेम की स्थापना की। यद्यपि इन्होंने युगल उपासना में परमानन्द की प्राप्ति मानी है। किन्तु कृष्ण की अपेक्षा राधा की पूजा और भक्ति को महत्त्वशाली बताया है। यह सम्प्रदाय एक साधन मात्र था। बाद में इसका दार्शनिक पक्ष तैयार हुआ। राधा कृष्ण की कुन्ज केलियों को निहारना इस सम्प्रदाय में परम काम्य माना गया है।

श्री राधा चरण प्रधान हृदै मति सुहृद उपासी।
कुंज केलि दंपति तहाँ की करत खवासी॥

नाभादास ने इस साधना-पद्धति को दुरूह बताया है। श्री राधा कृष्ण को शृंगारिक लीलाओं में विधि निषेध का ध्यान न रखकर आनन्द लेना और अपनी लौकिक वासनाओं का उन्नयन करना वस्तुतः एक कठिन योग है। यह सब कुछ था तो वासना के उन्नयन का प्रयत्न किन्तु इससे हुआ वृत्तियों का अवनमन ही। इस सम्प्रदाय वालों का विश्वास है कि जिन लोगों की मनोवृत्ति लौकिक रति में अत्यधिक लिप्त है और जिनका मन दास्य भाव में नहीं रमता है वे वासना-कृत्यो को राधा कृष्ण की शृंगार लीलाओं मे देखें। अस्तु! इस प्रकार भक्ति का प्रभाव जन-सामान्य पर अच्छा नहीं पड़ा। इस सम्प्रदाय में सयोग शृंगार की विविध लीलाओं का चित्रण है। शृंगार के वियोग-पक्ष का अभाव है। उक्त सम्प्रदाय वालों ने राधा-कृष्ण की कुंज लीलाओं के मनन तथा निहारने को परम रस या माधुरी भाव कहा है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि इस सम्प्रदाय का आविर्भाव पुष्टि मार्ग के सम-काल हुआ। अतः इस सम्प्रदाय के शृंगारी पदों का प्रभाव वल्लभ के उत्तर भाग में तथा विट्ठलनाथ के समय अष्टछापी कवियों पर निश्चित रूप से पड़ा और सूरदास तक भी उक्त प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

हित जी के दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं—"राधा सुधानिधि" (संस्कृत), "हित चौरासी पद।"

हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास थे जो कि प्रसिद्ध गायक तानसेन के गुरु थे। इनकी भक्ति का उद्देश्य राधा-कृष्ण युगल की उपासना थी। ये राधा कृष्ण की विहार-लीलाओं का आनन्द सखी भाव के अवलोक में से लूटा करते थे। अतः यह सम्प्रदाय सखी या हरिदासी कहलाया। स्वामी हरिदास परम रसिक थे और गान-विद्या में गन्धर्व के समान थे। रसिकता, तन्मयता और मधुरता पूर्वक गाये हुए इनके सखी भाव के पदों का जन सामान्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। अकबर जैसे राजा तक इनके दर्शन को आया करते थे।

चैतन्य और राधा-वल्लभी सम्प्रदायों के समान सखी सम्प्रदाय मे भी पहले साधना पक्ष की प्रधानता थी। इसका दर्शन-पक्ष बाद में तैयार हुआ। 'ललित प्रकाश' में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त और गुरु परम्परा का क्रमात्मक विकास दिया हुआ है।

इन मुख्य मुख्य सम्प्रदायों के अध्ययन के उपरान्त यह विदित होता है कि इनमें श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने विष्णु या नारायण की भक्ति पर बल दिया। इसी परम्परा में श्री रामानन्द ने विष्णु या नारायण के दो अवतारों कृष्ण और राम में से राम की मर्यादापूर्वक भक्ति पर अत्यधिक बल दिया। निम्बार्क, मध्व और विष्णु गोस्वामी ने कृष्ण भक्ति पर जोर दिया। इन तीनों के सम्प्रदाय के दर्शन का आधार ब्रह्म सूत्र थे। वल्लभ ने अपने पुष्टि मार्ग का दार्शनिक आधार निम्बार्क

और माध्व के सम्प्रदायों की मान्यताओं पर खड़ा किया। इन्होंने कृष्ण भक्ति में सख्य भाव और वात्सल्य पर अत्यधिक बल दिया। चैतन्य, हित हरिवंश तथा स्वामी हरिदास के सम्प्रदाय पहले साधन-पक्ष प्रधान थे। इनके दार्शनिक आधार बाद में तैयार हुए। चैतन्य ने कृष्ण भक्ति में परकीया-भाव की मधुर भक्ति पर अत्यधिक बल दिया। हित जी के राधा वल्लभी सम्प्रदाय मे भक्ति तो स्वकीया भाव की थी, किन्तु इसमे कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति को प्रश्रय दिया गया और राधा कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के अवलोकन में परमानन्द रस की उपलब्धि बताई गई। हरिदासी या सखी सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की कुंज-केलियो की खवासी (पवासी) के स्थान पर सखी भाव से देखने पर जोर दिया गया है। चैतन्य राधा वल्लभी तथा हरिदासी सम्प्रदायो का प्रधान प्रेरणा स्रोत भागवत पुराण है। इन सम्प्रदायो ने भगवान् के लोकरक्षक तथा लोक-रजक रूपों के प्रचार के साथ-साथ जनता की भाषा का धर्म-प्रचार तथा साहित्य-रचना के क्षेत्र में प्रशस्य प्रयोग किया है।

चैतन्य की प्रेमलक्षणा परकीया भाव की मधुरा भक्ति, हित हरिवंश का राधा-कृष्ण की काम केलियो को खवासी भाव से देखना तथा स्वामी हरिदास का चिन्तार्पण के लिए राधा कृष्ण की रह-केलियो को सखी भाव से निहारना आदि सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही विधि सम्मत और समीचीन हो किन्तु व्यावहारिक जगत् में इन सबका दुष्परिणाम निकला। यह हुआ तो सब कुछ वासनाविमुख चित्तवृत्तियों के परिष्कृतीकरण के लिए था, किन्तु हुआ उनसे विकृतीकरण ही। इन सम्प्रदायों से काम का उन्नयन नहीं हुआ, बल्कि उसे प्रोत्साहन मिला।

कृष्ण भक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—भारतीय धर्म-साधना क्षेत्र में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनका उद्देश्य शकर के मायावाद का खडन करके भक्ति का प्रचार करना था। सोलहवीं शताब्दी मे स्थापित सम्प्रदायो मे, विशेष रूप से जहाँ तक कृष्ण-भक्ति साहित्य का सम्बन्ध, वल्लभ का पुष्टिमार्ग, चैतन्य का गौडीय, स्वामी हित हरिवंश का राधावल्लभी तथा स्वामी हरिदास का सखी या टट्टी सम्प्रदाय है। इन सम्प्रदायों मे पुष्टि मार्ग को छोडकर शेष सभी सम्प्रदाय साधना पक्षी थे और उनमें कोई विशेष दार्शनिक विवेचन नहीं था किन्तु बाद में इन सम्प्रदायों में भी दार्शनिक भित्ति को सुदृढ़ बनाने का प्रयास जारी रहा। कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर विशेषत वल्लभ के पुष्टिमार्ग तथा हित हरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा।

ब्रह्म—वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और अनेक देवी-देवता उसी के चित् और सत् के अंश है। ब्रह्म आनन्दमय है। प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवता उसी ब्रह्म के काल, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्रकट होने वाले रूपान्तर हैं। श्री कृष्ण का नाम भी ब्रह्म है, वह नित्य है। वल्लभ का यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। चैतन्य के अचिन्त्य भेदाभेदवाद के अनुसार परम तत्व एक है और वह अनन्त शक्तियो का आगार है। उसमें शक्तियाँ

अचिन्त्य है; क्योंकि उसमें एक साथ ही पूर्ण एकत्व और पृथकत्व तथा अंशभाव और अंशी भाव विद्यमान रहते हैं। सभी सम्प्रदायों के अनुसार ब्रह्म सगुण है और पूर्ण रस-मय है जो साक्षात् कृष्ण हैं। सभी सम्प्रदाय वालों ने कृष्ण को भगवान् मानकर उनमें मानवीय गुणों का आरोप किया है। श्रीकृष्ण का धाम गोलोक है जो नित्य और आनन्द स्वरूप है। गोपी, गौरी, यमुना, वन, वृक्ष, लता, कुंज आदि कृष्ण से अभिन्न हैं। इनमें अधाधीभाव है। सभी सम्प्रदायों ने कृष्ण और राधा को अपना इष्टदेव माना है। किन्तु सम्प्रदाय में बाल-गोपाल की उपासना-पद्धति चलाई थी किन्तु स्वामी विट्ठलनाथ के समय राधा की महत्ता बढ़ गई। राधावल्लभी तथा चैतन्य मत में राधा को अधिक महत्ता प्रदान की गई। सभी सम्प्रदायों में प्रेमाभक्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

कृष्ण-भक्ति का एकमात्र आधार प्रेम—प्रेम को सभी सम्प्रदाय वालों ने अत्यधिक महत्त्व दिया है। प्रेम के सामने कर्म काण्ड के विधि-निषेध केवल उपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अतिक्रमणीय भी है। कृष्ण के प्रति प्रेम जब अदम्य आसक्ति के रूप में उत्पन्न हो जाय तब सांसारिक विषय-विलासादि के प्रति विरक्ति स्वतः पैदा हो जाती है। इस प्रकार इन वैष्णवों के प्रेम में प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक अद्भुत अथच कलात्मक सामंजस्य हुआ है। कृष्ण के प्रति किया गया प्रेम रति है जो कि भक्तों के स्वभाव भेद पर निर्भर करता है। कृष्ण-भक्ति साहित्य में दैन्य भाव की भक्ति को महत्त्व नहीं दिया गया है। कृष्ण-भक्त अपने भगवान् से अधिकाधिक ममता और घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, अतः वह दैन्यपूर्ण वचनों से सन्तुष्ट नहीं रहता। स्वभाव-भेदानुसार यह प्रेम कृष्ण-भक्तों में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य इन तीनों रूपों को धारण कर लेता है। प्रेम का चरम रूप माधुर्य-मयी भक्ति में है, क्योंकि इसमें भक्त और भगवान् में कोई व्यवधान रह ही नहीं जाता।

माधुर्य भाव का स्वरूप—कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति का प्रतिपादन सभी सम्प्रदायों में हुआ। पर उनके स्वरूप में थोड़ा बहुत अन्तर विद्यमान है। निम्बार्क सम्प्रदाय में कृष्ण की राधा और गोपियों के साथ की गई लीलाओं का विशद चित्रण है, किन्तु उनका यह माधुर्य-भाव स्वकीया-प्रेम तक सीमित है और इसमें संयोग को अधिक महत्त्व दिया गया है। चैतन्य सम्प्रदाय ने परकीया प्रेम में माधुर्य भाव की चरम परिणति मानी है। उनका कहना है कि जो तीव्रता परकीया प्रेम में है। वह स्वकीया-प्रेम में नहीं। प्रेमानुभूति को अनुरक्तता, विविधता और नित्य नवीनता की दृष्टि से भी परकीया प्रेम अधिक अनुकूल पड़ता है। चैतन्य के इस परकीया-प्रेम का इतना व्यापक प्रसार हुआ कि आगे चलकर वल्लभ सम्प्रदाय वालों ने भी परकीया भाव को अपना लिया। राधावल्लभी सम्प्रदाय में परकीया भाव की अस्वीकृति है। उसके अनुसार निकुंज लीला का नित्य वृन्दावन-रस नित्य मिलन-रूप में मिलता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनुसार राधा और कृष्ण नित्य

विहार लीला में लीन रहते हुए दूसरे के सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा वल्लभी सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य सभी सम्प्रदायों ने विरह को भी अत्यन्त महत्त्व दिया है, क्योंकि विरह में प्रेम की तीव्रता और अतीन्द्रियता सहज सुलभ हैं। उसमें मानसिकता की प्रधानता है और मासलता का अभाव है। कृष्ण-भक्तों के इस परकीया भाव में किसी प्रकार की अश्लीलता एवं अनैतिकता की कल्पना करना व्यर्थ ही होगा। वस्तुत परकीया भाव आदर्श प्रेम का प्रतीक मात्र है। राधा कृष्ण एव गोपियाँ वास्तव मे एक दूसरे से अभिन्न हैं। लौकिक दृष्टि से देखने पर उसमें स्वकीया भाव ही दृष्टिगोचर होगा। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—"वस्तुत पति तो एकमात्र कृष्ण ही हैं, उनसे भिन्न जो भी है, चाहे वह लीला के हेतु स्वय राधा या गोपियाँ हो, या माधुर्य भाव को अपनाने वाले उनके अश रूप स्त्री-पुरुष भक्तगण वे सब उन्हीं प्रियतम कृष्ण की प्रेमिकायें हैं। स्पष्ट है कि प्रेम का यह स्वरूप सर्वथा अतीन्द्रिय तथा अलौकिक है। लौकिक अर्थ में वह जितना निकृष्ट और गर्हित है भक्ति के सदर्भ में उतना ही परिष्कृत और उदात्त है।"

प्रेमा भक्ति में साधन-निरपेक्षता—कृष्ण भक्ति कवि का एकमात्र विश्वास है कि समस्त चेतना रागमय तथा कृष्णमय हो जाना सच्चा ज्ञान है और यह ज्ञान प्रेम लक्षणा भक्ति के द्वारा भक्तो के लिए सुलभ है, ज्ञानियो के लिए नही। ज्ञानियों के ज्ञान के लिए वैराग्य का होना अनिवार्य है, किन्तु पुष्टिमार्गी भक्त को यह सब कुछ प्रभु के अनुग्रह से सहज सुलभ है। कृष्ण भक्तो के निकट प्रेम का पथ ही बडा है, उसके सामने जप, तप, योग तुच्छ है। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति में वेद मर्यादा, कर्मकाड के विधि निषेधो तथा दूसरे बाह्याचारों की अवहेलना की है। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में कृष्ण भक्ति में अनेक प्रकार का कर्मकांड विकसित हो गया।

सतसग तथा गुरु-महिमा—मध्य युग के अन्य भक्ति-सम्प्रदायों की भाँति कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी सम्प्रदायों मे सतसगाचरण पर बहुत बल दिया गया है। कृष्ण भक्ति के अन्तर्गत हरि विमुखो, असाधुओं और अभक्तों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। कृष्ण-भक्ति सप्रदायों में गुरु महिमा का भी खुलकर वर्णन किया गया है। वल्लभ सप्रदाय में नन्ददास ने वल्लभ तथा विट्ठलनाथ को भगवानवत् मानकर स्तुति की है। राधावल्लभी सप्रदाय में हितहरिवश को ही हरि रूप माना गया है। आगे चलकर इनके विग्रहो की पूजा होने लगी। गुरु की कृपा से भक्त साधनों में प्रवेश पाता है तथा वह उसमें दृढ़ सकल्पशील रहता है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय—मूल रूप में यह भक्ति सप्रदाय निवृत्ति-प्रधान होते हुए भी प्रवृत्ति का पोषक रहा है। कृष्ण भक्ति का उद्देश्य है सर्वात्मना अपने आपको कृष्णार्पण करना। मनोविकारों और इन्द्रियो की सभी प्रवृत्तियों का कृष्णोन्मुख करने के लिए कृष्ण लीलाओं का अधिकाधिक वर्णन किया गया है तथा मन्दिरों में राधा कृष्ण की मूर्तियों का साज-शृंगार किया गया है। मन, आँखो

तथा कानों के आकर्षण के लिए मुरली की अवतारणा की गई है। अपने मन को विषय वासना से हटाने के लिए कृष्ण नाम का स्मरण, उनकी लीला और गुणों का गान किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्रकार से नवधा भक्ति कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत आ जाती है। कृष्ण-भक्ति और उनके साहित्य का महत्व बतलाते हुए डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा लिखते हैं—'कृष्ण भक्ति का यह रूप जिस साहित्य के माध्यम से उद्घाटित हुआ है उसमें हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य का अन्यतम स्थान है। कृष्ण-भक्ति की प्रकृति में ही जीवन के आध्यात्मिक और ऐहलौकिक पक्षों का जो अद्भुत सम्मिश्रण है, उसमें मध्य-कालीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य को जहाँ धर्म सम्प्रदायों के अन्तर्गत अत्यन्त सम्मानित, उच्च, धार्मिक साहित्य होने का गौरव मिला, वहाँ दूसरी ओर उसने सहज ही लोक की सामान्य भावनाओं का उन्मुक्त प्रकाशन करके जन-साधारण के हृदय में भी ममतापूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि संप्रदायों के तत्वाधान में रचे जाने पर भी उसमें संकीर्णता और कट्टरता का प्रायः एकान्त अभाव है।"

में रामचरित-गान भी बडी तन्मयता से किया है। हाँ, भागवत के आधार पर जहाँ सूरदास ने भक्ति का सैद्धान्तिक निरूपण अपने सागर में करना चाहा है वहाँ ये असफल रहे हैं। इनके भक्ति निरूपक स्थल-भाषा और शैली की दृष्टि से शिथिल हैं तथा विचार की दृष्टि से अस्पष्ट एव अपर्याप्त हैं। सामूहिक रूप से कहा जा सकता है कि सूरदास सांप्रदायिक सकीर्णता की परिधि से बाहर हैं। वस्तुत कोई भी सच्चा कवि साम्प्रदायिक सिद्धात विवेचन की उलझन में उलझना नहीं चाहता। यही कारण है कि सूरसागर में घुल मिल गये हित हरिवश, हरिराम व्यास तथा सूरदास मनमोहन के पदो को पृथक् कर पाना यदि असभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

सूरदास को छोडकर अष्टछाप के अन्य कवियो मे साम्प्रदायिकता के प्रति आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है। इस दिशा में नन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनमे पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त-सम्मत कथन तो यत्र तत्र मिलते ही हैं साथ साथ उन्होंने बल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, उनके पुत्रों का नामोल्लेख करके उनकी प्रशस्तियाँ और बधाइयाँ भी गाई हैं। उनके भवरगीत के गोपी उद्धव सवाद मे शुद्धाद्वैतवाद की व्याख्या मिल जाती है। उनके राम पचाध्यायी, सिद्धान्त पचाध्यायी और दशम स्कध में पुष्टिमार्गी भक्ति पद्धति के स्वरूप के प्रतिपादन की चेष्टा देखी जा सकती है। भले ही कृष्णदास अधिकारी ने सकुचित मनोवृत्ति के कारण बगाली वैष्णवों के प्रति दूषित व्यवहार किया परन्तु उनके पदो में साम्प्रदायिक सकीर्णता का अभाव है।

निम्बार्क सप्रदाय के प्रवर्त्तक की रचनाओ मे उक्त सप्रदाय का दार्शनिक आधार प्रतिपादित है। श्री भट्ट निम्बार्क सप्रदाय के अनुयायी हैं जो कि प्रकाड पडित और शास्त्रार्थ महारथी हैं, किन्तु उनकी रचना युगल शतक के आधार पर निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का ज्ञान सभव नही है। इस सप्रदाय के अन्तर्गत भगवत रसिक अपेक्षाकृत अधिक साम्प्रदायिक जान पडते हैं। उन्होंने द्वैत अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि शब्दो का प्रयोग किया है किन्तु दार्शनिक मतवाद का विवेचन उनकी शक्ति से बाहर का है।

वल्लभ सप्रदाय के बाद राधावल्लभी सप्रदाय ने मध्यकालीन कृष्ण-काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। इस सप्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हितहरिवश स्वय एक रससिद्ध भक्त कवि थे। उनकी रचनाओ में सिद्धान्तवाद का सीधा प्रतिपादन नही है बल्कि भक्ति रस का सुन्दर उद्घाटन है। इस सप्रदाय मे अनेक सिद्धान्तवादी विवेचक हुए हैं। श्री सेवक ने जहाँ हितहरिवश की वाणी की साम्प्रदायिक व्याख्या की वहाँ उन्होंने राधावल्लभी रसरीति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया तथा रसिक भक्तों के लक्षणो का भी निरूपण किया। नि सन्देह इन्होंने भाव परक कृष्ण-लीलाओ का भी वर्णन किया परन्तु इनकी वृत्ति जितनी सिद्धान्त पक्ष मे रमी उतनी काव्य के भाव पक्ष मे नही। इस सप्रदाय के अनुयायी हरिराम व्यास ने राधावल्लभी सिद्धान्तो के साथ साथ भक्ति धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट किया, परन्तु इनकी एव

विशेषता है कि ये अपने सिद्धान्त विवेचन को कवित्व से समन्वित करते जाते हैं। उक्त सप्रदाय के सिद्धान्तवाद को समझने के लिए चतुर्भुजदास, ध्रुवदास और बाबा हितहरिवंश की रचनायें महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं।

कृष्ण भक्ति के अनेक परवर्ती कवियों को किसी सप्रदाय के सिद्धान्तवाद के चौखटे में बन्द नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि रसखान को पुष्टि मार्गी कहा गया है, परन्तु उनकी रचनाओं में साप्रदायिक मतवाद ढूंढना व्यर्थ है। इसी प्रकार घनानन्द को उनकी रचनाओं के आधार पर निम्बार्क मतानुयायी कहना कठिन है। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त मीराबाई को कृष्ण भक्ति के किसी सप्रदाय विशेष का अनुयायी नहीं कहा जा सकता है। एक ओर तो उनके काव्य पर निर्गुण सन्तमत का प्रभाव है तो दूसरी ओर उसमें "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" का भरपूर आख्यान है। वे कृष्ण में राम और राम में कृष्ण को देखती हैं। उनका काव्य अद्वितीय है। सच तो यह है कि सच्चे भावप्रवण भक्तो की दृष्टि में साप्रदायिक सकीर्णता, ऊँच-नीच और व्यवस्था आदि के भेद नगण्य थे। भक्ति उनका उद्देश्य था और इस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम था कविता।

इस बात के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के सप्रदाय पारस्परिक द्वेष वैमनस्य, कट्टरता और सकीर्णता के भी शिकार थे। इस सम्बन्ध में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में मीराबाई जैसे भक्त के सम्बन्ध में अनेक कटु बातें हैं। कारण कृष्णदास अधिकारी के प्रयत्न करने पर भी मीराबाई पुष्टिमार्ग में दीक्षित नहीं हुई थी, अतः वार्ताकार की भृकुटि मीरा के प्रति चढ़ी हुई है। श्रीनाथ के मन्दिर से बगाली वैष्णवों को निकालने के लिए कृष्णदास ने जघन्य से जघन्य उपायों का व्यवहार किया। अस्तु फिर भी एक सच्चा भावुक कवि राजनीति के इन दाँव पेंचों और साप्रदायिक सकीर्णता से दूर रहकर अपने कवि कर्म में ही लीन रहा। अन्त में डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—'वे सभी कृष्ण भक्त कवि जो वस्तुत कवि कहलाने के अधिकारी हैं सम्प्रदायों की सकीर्ण परिधियों के भीतर रहते हुए भी कृष्ण और राधा-कृष्ण की उस भक्ति के व्यापक और सम्मिलित सप्रदाय के अनुयायी थे। उन सबका समान रूप से एक ही उद्देश्य था— रस, आनन्द और प्रेम की मूर्ति श्री कृष्ण और राधा कृष्ण की लीला का गायन। 'वे सदा व्रज रस' कृष्ण रस एव राधा रस का अनवरत पान करते रहे।

कृष्ण-भक्ति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

(१) कृष्ण-लीला वर्णन— हम देख चुके हैं कि कृष्ण के चरित्र में उत्तरोत्तर धार्मिकता और भक्ति भावना का समावेश होता गया। कृष्ण के तीन रूपों—धर्मोपदेष्टा ऋषि, नीतिविशारद क्षत्रिय नरेश तथा गोपालकृष्ण एव गोपीवल्लभ कृष्ण में से अन्तिम रूप १५ वीं सोलहवीं शताब्दी में प्रधान हो गया। मध्यकालीन कृष्ण-भक्त

भाषा कवियों ने लोकरंजनकारी कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान किया। उनकी लीला का प्रयोजन लीलानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लीला का उद्देश्य अखण्ड आनन्द मे जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यंजना करना है। इस लीला के उन्होने अनेक रूप कल्पित किये। बालगोपाल की वात्सल्यपूर्ण लीलायें, सख्य रूप मे लीलायें तथा माधुर्य भावपूर्ण लीलायें ही समस्त मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में व्याप्त हैं। कवियो ने उस अखण्ड आनन्द का चरम रूप स्त्री पुरुष के रतिभाव मे कल्पित किया। निम्बार्क, चैतन्य, हरिवंश और हरिदास इन सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों मे माधुर्य भाव का सर्वाधिक महत्व है। राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम लीलाओ का श्रवण, स्मरण, चिन्तन एवं गायन ही कविकर्म की इतिश्री बन गया। इस प्रकार समूचा कृष्ण-भक्ति काव्य माधुर्य-भाव में ही केन्द्रीभूत हो गया और वल्लभ सम्प्रदाय भी इनसे अप्रभावित न रह सका। सूर काव्य में कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का सबसे अधिक विस्तार है। राधावल्लभी, चैतन्य के गौडीय और हरिदास से सखी सम्प्रदाय के सभी कवि कृष्ण की प्रणय लीलागान में लीन रहे। सूरदास ने कृष्ण की प्रणय लीला वर्णन में एक निश्चित विवेक, एक निश्चित एवं सूक्ष्म अध्यात्म भावना, मानसिक वीतरागत्व तथा स्वरूप संयम से काम लिया, जो कि बाद में कृष्ण भक्त कवियों ने भुला से दिए। इन कवियों के प्रेम-वर्णन कुछ चुने हुए प्रसगों तक सीमित रह गये। कृष्ण का क्रीडास्थल केवल यमुना कुंज, लता निकुंज और अंत पुर प्रकोष्ठ ही रह गया। उनमें सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता और आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता आ गई। परिणामत कृष्ण भक्ति दीपक की उज्ज्वल आभा से कज्जल का प्रभूत कालिमा ही एकत्रित हुई। कृष्ण की प्रणय लीलायें आगे चलकर रीति काल मे घोर लौकिक शृंगारिकता मे परिणत हो गईं।

(२) विषय वस्तु में मौलिक उद्‌भावना—हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य की रचना से पूर्व संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में कृष्ण सम्बन्धी काव्य की सृष्टि प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी और इसके साथ साथ विविध कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस सकल कृष्ण-काव्य का उपजीव्य काव्य भागवत पुराण है। मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य भी वैष्णव धर्म के अक्षय स्रोत भागवत का आधार लेकर चला है, क्योंकि मध्यकाल में भागवत इतना लोकप्रिय था कि उसे आधार बनाये बिना कवि कर्म एवं आचार्य पद की पूर्ति असम्भव थी। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य भागवत का अनुवादमात्र है। मध्यकालीन कृष्ण भक्ति कवि ने पर्याप्त मौलिक उदभावना से भी काम लिया है। उदाहरणार्थ—भागवतकार के कृष्ण निर्लिप्त हैं, वे गोपियों की प्रार्थना पर लीला में शरीक होते हैं जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण गोपियो की ओर स्वय उन्मुख होते हैं और अपनी हृदयहारी लीलाओं से उनके हृदयो को जीतते हैं। भागवत में आदि से अन्त तक कृष्ण का ब्रह्मत्व और उनके चरित्र का अलौकिकत्व बने रहते हैं, जबकि

हिन्दी-कवियों के कृष्ण में बहुत कम स्थानों पर म्रालौकिकता है— वे बाल रूप में बाललीलायें और युवा रूप में प्रणय-लीलायें करते हैं। भागवत मे कृष्ण के साथ प्रेम करने वाली एक गोपी का दर्शन है, उसमें राधा का नामोल्लेख नही है जबकि सूरदास आदि कवियों ने राधा की कल्पना द्वारा प्रणय-चित्रण मे एक अलौकिक भव्यता ला दी है। भागवत मे गोपियों के प्रेम की पवित्रता निष्कलक नही रहती, कृष्ण की अनुपस्थिति मे मदिरोन्मत बलराम उनसे व्यवहार करने लगते हैं, किन्तु हिन्दी काव्य मे गोपियों को सर्वत्र एकोन्मुख दिखाया गया है। हिन्दी कवियो ने जयदेव तथा विद्यापति का आधार लेते हुए भी यथेष्ट कल्पना शक्ति से काम लिया है। विद्यापति मे राधा और कृष्ण के प्रेम-वर्णन मे जहाँ स्थूलता और उद्दामत्ता है वहाँ इनमे आध्यात्मिक सूक्ष्मता एव सयम है। वस्तुत हिन्दी कवियो ने कृष्ण चरित में नवीन रूप रग भर कर उसे उभारा तथा निखार दिया है। इन्होने लोक प्रचलित कृष्ण लीलाओं का सदुपयोग करके कृष्ण-भक्ति की अभिवृद्धि मे एक नवीन योगदान दिया। अपने युग तथा समाज के वातावरण के अनुसार इन कवियो ने अनेक नवीन प्रसगों की उद्भावना की है।

(३) रस-चित्रण—हिन्दी कृष्ण काव्य मे एक ही रस है और वह है व्रजरस या भक्तिरस। इस दृष्टि से इस साहित्य में रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यदि शास्त्रीय शब्दावली में इस रस को सज्ञा देना चाहें तो वात्सल्य, शान्त तथा शृगार रस कह सकते हैं। भले ही इन रसों में विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो का पृथक्-पृथक् रूप से विन्यास न हुआ हो पर इससे रस-वर्णन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। रस की दृष्टि से कृष्ण-साहित्य अत्यन्त भव्य बन पड़ा है। सूर और मीरा में यत्र-तत्र निर्वेद का चित्रण हुआ है। कुछ अन्य कवियो ने भी ससार-माया, भ्रम-अविद्या, अज्ञान अन्धकार की विगर्हणा की है। ऐसे स्थलों पर शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है। सासारिक जीवन के प्रति वैराग्य जगाना ही उनका लक्ष्य है। प्राय: सभी कृष्ण भक्त कवि ससार को त्याग कर या कम से कम मानसिक सन्यास का संकल्प लेकर अपनी साधना में प्रवृत्त हुए थे। अस्तु[1] सामूहिक रूप से कृष्ण भक्ति साहित्य मे निर्वेद की भावना को कोई प्रत्यक्ष महत्त्व नहीं दिया गया है। भक्ति में दैन्य भावना का पाया जाना आवश्यक होता है। सूर के प्रारम्भिक पदों में दैन्य भावना मिल जाती है। मीरा के कतिपय पदों मे भी उच्च भावना उपलब्ध होती है, किन्तु समूचे रूप से कृष्ण-भक्ति-साहित्य में इसकी उपेक्षा की गई है, क्योंकि अतुल सौन्दर्य-राशि, आनन्द के परमधाम कृष्ण के रूप के साथ इसकी सगति नहीं बैठती। दूसरे प्रेम में जो आत्मीयता है वह दैन्य मे नहीं। कदाचित् यही कारण है कि वल्लभ, चैतन्य, हितहरिवश और हरिदास आदि ने दैन्य को कृष्ण-भक्ति के अनुकूल नहीं माना। कृष्ण भक्ति साहित्य में दैन्य, स्थायीभाव की अपेक्षा सचारी रूप में अधिक पाया है, पर यह एक दूसरी बात है कि उस सचारी भाव में एक विशेष प्रकार की निरन्तरता है।

वात्सल्य और शृंगार के चित्रण मे कृष्ण-भक्त कवि अद्वितीय है। सूर वात्सल्य है और वात्सल्य सूर है। वात्सल्य के चित्रण में जितने विविध प्रसगो और उसके सदर्भ में उठने वाले नाना भावो की उद्भावना सूर ने की है, उनका साहित्य-शास्त्रियो द्वारा परिगणित सचारियो में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। सूर की निम्नांकित पक्तियों—'मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौं',"मैया कबहि बढ़ैगी चोटी",'सदेशो देवकी सों कहियो" मे जो मार्मिकता है वह अकथनीय है।

वात्सल्य ही नहीं, सख्य भाव के चित्रण मे भी कृष्ण-भक्त कवियो ने अद्वितीय कौशल दिखाया है। केवल वात्सल्य ही नहीं, बल्कि सख्य चित्रण में भी सूर अप्रतिम है। कृष्ण भक्ति के अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियो ने सख्य भाव का अत्यन्त मनोविज्ञान-सम्मत वर्णन किया है। कृष्ण-भक्ति काव्य का सर्वाधिक लोकप्रिय क्षेत्र है—माधुर्य रति का चित्रण, जिसे काव्यशास्त्र की भाषा में शृ गार की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। माधुर्य भाव या शृगार का कोई ऐसा पक्ष नही है जो सूर की दृष्टि से बच पाया हो। राधा और कृष्ण तथा कृष्ण और गोपियों के प्रणय का विकास मनोविज्ञान के धरातल पर अत्यन्त सहज रूप मे हुआ है। सूर को मनुष्य के भाव-लोक का इतना गहन परिचय है कि शायद ही किसी अन्य कवि को हो। शृगार के सयोग और वियोग दोनो पक्षों का वर्णन अतीव मनोरम बन पडा है। कृष्ण-भक्ति काव्य में सयोग की अपेक्षा वियोग-वर्णन उत्कृष्ट बन पडा है। सूरदास तथा हितहरिवश ने तो इस दिशा में कमाल ही कर दिया है। सूर और मीरा को मिलन मे भी वियोग का आभास होता है। उदाहरण के लिए सूर के कुछ पद देखिये—

> अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
>
> × × × तथा
>
> हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
>
> भयो कठोर बज्र ते भारी, रहिके पापी कहा कियो।
>
> × × ×

इन रसों के अतिरिक्त प्रासगिक रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य मे वीर, अद्भुत तथा हास्य रस आदि का भी चित्रण हुआ है।

(४) भक्ति-भावना—कृष्ण भक्ति के मूल मे एकमात्र भगवद्-रति काम कर रही है जो कि पात्र के स्वभाव-भेद के अनुसार वात्सल्य, सख्य और कान्ता-भाव मे परिणत हो जाती है। कृष्ण-भक्ति-काव्य की यह प्रेमलक्षणा भक्ति वैधी भक्ति से भिन्न है। कृष्ण-प्रेम के सामने सामाजिक विधि-निषेध, लोक, वेद और शास्त्र की मर्यादा सभी नगण्य हैं। यहाँ तक कि उल्लघनीय हैं जब कि वैधी भक्ति मे मर्यादा की सत्ता अक्षुण्ण है। यह ठीक है कि भक्ति श्रद्धा और प्रेम पर आधारित होती है और प्रेम वैधी भक्ति में भी उपलब्ध होता है किन्तु स्मरण रखना होगा कि दोनों के प्रेम में आनुपातिक अन्तर है। वैधी भक्ति में भगवान् के ऐश्वर्यमय रूप की प्रधानता

रहती है जब कि प्रेमा भक्ति मे उसके सौन्दर्यमय रूप की। वैधी भक्ति में लोक संग्रह की चिन्ता अधिक बनी रहती है। साधना क्षेत्र में वैधी भक्ति प्रथम सोपान है जब कि रागानुगा भक्ति अन्तिम सोपान। कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों में कान्ताभाव की भक्ति को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया-भाव पर बल दिया गया है और चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया-प्रेम में माधुर्य भाव की चरम परिणति मानी गई है। आगे चलकर वल्लभ-सम्प्रदाय में परकीया भाव की भक्ति का प्रचलन हो गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भी भाव की अस्वीकृति है। कृष्ण-भक्तों के इस परकीया भाव में किसी प्रकार की अश्लीलता तथा अनैतिकता की शंका करना व्यर्थ है। वस्तुतः परकीया भाव आदर्श प्रेम का प्रतीक मात्र है। भक्ति की इन विधाओं के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति काव्य में दास्य भाव की भक्ति तथा नवधा भक्ति के अन्य अंगों का भी चित्रण मिलता है किन्तु प्रधानता रागानुराग भक्ति को ही दी गई है।

(५) पात्र एवं चरित्र-चित्रण—राम-काव्य में पात्रों के चरित्र के जैसे विविध पक्ष हैं वैसे कृष्ण-भक्ति काव्य में नहीं। तुलसी ने राम के समूचे जीवन को प्रबन्ध काव्य का विषय बनाया जबकि कृष्ण-कवियों ने कृष्ण-जीवन के कोमलतम अंशों को अपने काव्य का विषय बनाया जिसमें प्रेम की बहुविध झाँकियाँ नहीं आ सकीं। कृष्ण-कथा के नायक श्रीकृष्ण में मानव और अतिमानव के विरोधी तत्त्वों का सम्मिश्रण है। इन भक्तों के कृष्ण महाभारत के नीति कुशल, व्यवहारवादी योद्धा कृष्ण नहीं हैं वे हैं बालगोपाल तथा साँवले-सलौने छलिया कृष्ण। कृष्ण के साथ सम्बद्ध पात्र हैं नन्द-यशोदा, गोपी-ग्वाल, जो कि कृष्ण के प्रति वात्सल्य और सख्य रूप में प्रेम को दर्शाते हैं। कृष्णावतार का उद्देश्य लीला है और इन पात्रों का उद्देश्य है लीला में शामिल होना। राधा रसरूपिणी है जिसके चरित्र के दो पक्ष हैं—वास्तव में वह कृष्ण से अभिन्न है, किन्तु व्यवहार में उसे कृष्ण-प्रेम को उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए चित्रित किया गया है। कृष्ण के सखाओं में उद्धव का चरित्र महत्त्वपूर्ण है। इन भक्त कवियों ने उद्धव के माध्यम से बुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिष्क पर हृदय की, ज्ञान पर भक्ति की और निर्गुण पर सगुण की विजय दिखलाई है।

कृष्ण-काव्य के इन पात्रों के चित्रण की एक विशेषता है—प्रतीकात्मकता। राधा माधुर्य-भाव की भक्ति का उच्चतम प्रतीक है। वह आनन्द-स्वरूप कृष्ण से अभिन्न और उन्हीं की ह्लादिनी शक्ति है। माधुर्य-भाव से प्रेम करने वाली गोपियाँ भी कृष्ण से अभिन्न हैं। वामन पुराण में गोपियों को वेद भगवान् की ऋचाएँ कहा गया है। श्रीकृष्ण ने अपने आनन्दमय रूप का परिचय देने के लिए नित्य वृन्दावन का एक दृश्य दिखाया है और भविष्य में गोपिका बनकर उस लीला में भाग लेने का वरदान दिया। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और गोपियाँ जीवात्माएँ। वे निरन्तर प्रेम से व्याकुल होकर परम आनन्दधाम कृष्ण में लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं। किन्तु स्मरण रखना होगा कि समस्त कृष्ण काव्य की व्याख्या प्रतीकात्मकता के आधार पर

सम्भव है क्योंकि उसका आधार लोक-विश्रुत कथायें तथा पुराण हैं और उसके उपकरण इन्द्रियग्राह्य हैं।

(६) **प्रकृति चित्रण**—कृष्ण-भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। बाह्य प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पृष्ठभूमि मे हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए अथवा अलकारों के अप्रस्तुत विधान के रूप मे। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का चित्रण प्राय न के बराबर है। परन्तु यह नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि प्रकृति मनोरम और अनुकूल, भयानक और प्रतिकूल रूपो के चित्रण मे कृष्ण भक्त कवियो ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। डॉ० व्रजेश्वर के शब्दों मे—'दृश्यमान जगत् का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन प्रान्त, यमुना कूल तथा कुंज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे नि शेष कर दी है। इन कवियो ने मानव प्रकृति-चित्रण में भी अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है—"मानव-हृदय के अमूर्त सौन्दर्य चित्रण, अर्थात् रस निरूपण में भी कृष्णभक्त कवियों की भावना और कल्पना जिन मधुमती वीथियों मे विचरण करती है उनमें से अनेक ऐसी हैं जिनका पूर्ववर्ती कवियो को परिचय भी नहीं था।"

(७) **रीति तत्त्व का समावेश**—कृष्ण-भक्ति काव्य में शृगारिक चित्रणों के साथ-साथ रीति-तत्त्व का भी उल्लेख मिलता है। सूरदास तथा नन्ददास की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। सूरदास की साहित्य-लहरी में नायिका-भेद तथा अलकारो का वर्णन मिलता है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने इसे भक्त कवि सूरदास की रचना न मानने का आग्रह किया है, किन्तु हमारा निजी विश्वास है कि यह कृति कदाचित् सूरदास ने रीति शिक्षा के उद्देश्य से लिखी होगी। उन्होने इसका प्रणयन शायद नन्ददास अथवा कृष्णदास के निमित्त किया था। सूरदास के समय में ही विट्ठल जी ने शृगार रस मे उन्हीं जैसा रीतिपरक ग्रन्थ लिखा। उस समय चैतन्य-सम्प्रदाय मे भक्ति को काव्य शास्त्र का सांगोपांग रूप देने के लिए भक्ति रसामृत सिन्धु और "उज्ज्वलनीलमणि" की रचना हो चुकी थी। चैतन्य सम्प्रदाय का पुष्टि मार्गी कवियो पर असदिग्ध प्रभाव है। नन्ददास की एक मजरी में नायिका-भेद, हाव, भाव, हेला रति आदि का विस्तृत विवेचन है। विरह-मंजरी में विरह के अनेक काव्य शास्त्रीय भेदों की चर्चा है। रूप मजरी में यद्यपि किसी प्रकार के काव्य शास्त्रीय भेदो का तो उल्लेख नहीं है पर उसमें भी परोक्ष रूप से वय सन्धि तथा प्रथम समागम आदि की दशाओं का वर्णन है। अष्टछाप के अन्य कवियो में भी नायिका-भेद के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

(८) **प्रेम की अलौकिकता**—कतिपय विद्वानो ने कृष्ण भक्ति साहित्य में चित्रित रति को चिदुन्मुख कह कर इसे शृगार रस से भिन्न मधुर रस की कोटि में रखा है तथा इसके प्रेम की अलौकिकता घोषित की है किन्तु स्मरण रखना होगा मधुर या उज्ज्वल रस शृगार रस से भिन्न नहीं है। उज्ज्वल नीलमणि मे प्रतिपादित

उज्ज्वल रस के आलंबन-आश्रय-नायक, नायिका उनका सहायता वर्ग, आदि सब बातें हैं और शृंगार रस को उज्ज्वल नाम से भी अभिहित किया है। हमारा विचार है कि मधुर रस की स्थापना कदाचित् कृष्ण और राधा के प्रेम-व्यापारों के उन्मुक्त वर्णन के व्याज से की गई है। यदि कृष्ण और भक्ति-काव्य में चित्रित शृंगारी वर्णनों में कवियों के सूर आदि उपमानों को पृथक् कर दिया जाए तो वे वर्णन निश्चित रूप से जयदेव विद्यापति तथा रीतिकालीन शृंगारी परम्परा में परिगणित किये जा सकेंगे। कृष्ण भक्ति-साहित्य में विपरीत-रति जैसे प्रसंगों की बलात् आध्यात्मिक *व्याख्या बौद्धिक व्यायाम के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कृष्ण-भक्ति काव्य में* घोर शृंगारिक वर्णनों के कई कारण मौजूद थे—एक तो मन्दिरों का वातावरण क्रियात्मक रूप से विलास-प्रधान होता गया दूसरा अधिकारी वर्ग का दृष्टिकोण भी विलासोन्मुख हो गया था। भगवान् कृष्ण के लिए सुन्दर भोजनों की व्यवस्था की जाने लगी। युवा कृष्ण के मनोरंजन के लिए रूपवती वेश्यायें बुलाई जाने लगी। गोस्वामियों को भगवान् का प्रतिरूप मानकर सेविकायें सर्वात्मना अपने आपको उनके अर्पण करने लगीं। कृष्ण भक्ति-साहित्य पर चैतन्य, हित हरिवंश हरिदास तथा राधा स्वामी के सम्प्रदायों के प्रभाव ने भी राधाकृष्णाश्रित शृंगार के लौकिक चित्रणों को भूरि प्रेरणा दी। इस दिशा में जयदेव और विद्यापति तो पथ प्रशस्त कर ही चुके थे।

(९) **सामाजिक पक्ष**—यद्यपि कृष्ण-भक्ति-काव्य लीलावादी काव्य है और लीला लीला के लिए होती है, लोक मंगल भावना या समाज से कोई विशेष सरोकार नहीं होता, परन्तु फि र भी इस काव्य में उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दशा का यत्किंचित् यथार्थ वर्णन मिल जाता है। सूर के पदों में जहाँ वे सांस्कृतिक विषय-वासना से अभिभूत अपने आप की विगर्हणा करते हैं वहाँ परोक्ष रूप से समाज की भी झलक है। सूर ने परीक्षित के पश्चात्ताप तथा भागवत के कुछ *अन्य प्रसंगों को चुनकर तत्कालीन जीवन की उद्देश्यहीनता एवं इन्द्रिय परायणता* की आलोचना की है। उद्धव-गोपी सम्वाद में अलखवादी, निर्गुनिया, सन्तों, पाण्डित्याभिमानी, अद्वैत-वेदान्तियों, निष्फल कायाकष्ट में निरत हठयोगियों आदि की अच्छी खबर ली है। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते हुए इन कवियों ने वर्णाश्रम-धर्म पतन, सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक विडम्बनाओं का चित्र प्रस्तुत किया है। कृष्ण-भक्त कवियों की साधना वैयक्तिक होते हुए भी लोक-मंगल भावना से नितान्त शून्य नहीं है।

(१०) **ऐतिहासिक पक्ष**—नि सन्देह मथुरा और वृन्दावन में बैठे हुए कृष्ण भक्त कवि पर दिल्ली में होते राजनीतिक घात प्रतिघातों की छाया नहीं है, किन्तु इनके साहित्य में उनके अपने ढंग की ऐतिहासिकता अवश्य है। भक्तों की स्तुतियाँ और प्रशस्तियाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों ने वल्लभ कुल का परिचय दिया। राधावल्लभी

भक्तों ने हित हरिवंश को अवतार मानकर उनका यशोगान किया है। कई भक्त कवियों ने अनेक भक्तों के चरित्रों को अंकित किया है। इन सबका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। अष्टछाप के कवियों में तत्कालीन सुन्दर सांस्कृतिक झांकी मिलती है।

(११) काव्य रूप—कृष्ण कवियों का साहित्य प्रमुख रूप से गेय मुक्तक रूप में लिखा गया है। इन कवियों ने कृष्ण के जीवन के जिस अंश को अपने काव्य के लिए चुना वह सर्वथा मुक्तक के उपयुक्त था। सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में प्रबन्ध रचना बहुत कम पाई जाती है। फिर भी कृष्ण भक्त-कवियों में कृष्ण-जीवन के किसी विशेष अंश की क्रम-बद्ध कल्पना अवश्य मिल जाती है भले ही उस कथा का प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र भी है। सूरदास के काव्य में ब्रजवासी कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण को सम्पूर्ण कथा देने का प्रयत्न ब्रज विलासदास ने अपने ब्रजविलास में किया है। नन्ददास के भवरगीत, रुक्मिणी, मंगल और रास पचाध्यायी आदि मे कथात्मकता की मनोवृत्ति देखी जा सकती है। इस दिशा मे हित वृन्दावनदास का लाड सागर भी उल्लेखनीय है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य पर दृष्टिपात करने के अनन्तर हमें उसमे इन कथात्मक सूत्रों—कृष्ण-जन्म, गोकुल आगमन, शिशु लीला, नामकरण, अन्न-प्राशन, वर्षगांठ आदि संस्कारों तथा जागने, कलेऊ करने, खेलने, हठ करने, भोजन करने, सोने आदि का पता चलता है।

इस काव्य मे ब्रजभाषा गद्य का भी थोड़ा बहुत प्रयोग हुआ है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन की वार्ता इस बात के प्रमाण हैं। राधावल्लभी भक्त अनन्य अली का "स्वप्न प्रसंग", ध्रुवदास का "सिद्धान्त विचार" तथा प्रियादास का "राधानेह" गद्य की रचनायें हैं। इन रचनाओं मे गद्य का स्वरूप शिथिल और अशक्त है।

(१२) शैली—कृष्ण-भक्ति-काव्य में मुख्य रूप से गीतिशैली का व्यवहार किया गया है। इन कवियों के साहित्य में गीति शैली के सभी तत्त्व—भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता तथा भाषा की कोमलता आदि पूर्ण रूप में मिलते हैं। राधा-कृष्ण की प्रेम की कहानी के वर्णन में यद्यपि इन कवियों के लिए व्यक्तिकता अभिव्यंजना के लिए कोई विशेष क्षेत्र नहीं था फिर भी इन्होंने गोपियों की अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्तिकता का कलात्मक रूप से समावेश कर लिया है। कृष्ण-भक्त कवियों मे अनेक अभिव्यंजना-शैलियों के दर्शन होते हैं। अकेले सूर-सागर मे भावव्यंजना की अनेक शैलियाँ मिल जाती हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—"जहाँ एक ओर वर्णनात्मक प्रसंगों मे विषय के अनुकूल सरल ग्रामीण अथवा धार्मिक पदावली में वाच्यार्थ ही प्रधान हैं, वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भाव-चित्रण में—विशेष रूप से विरह के प्रसंग में, लाक्षणिकता की भरमार है तथा अत्यन्त सरल और ठेठ शब्दों में भी ऐसी गूढ़ और मार्मिक व्यंजनायें की गई हैं, कि कवि की अनुभूति की गम्भीरता तथा उसके भाषा अधिकार पर आश्चर्य होता है।" नेत्रादि अंगों के न जाने

इन्होंने कितने नवीन से नवीन उपमान जुटा दिए हैं। शब्द-शक्ति, अलकार, काव्य गुण आदि सभी काव्य के उपकरणों से कृष्ण-साहित्य-सम्पन्न है। सूरदास के दृष्टकूटों को इस बात का अपवाद समझना होगा। सम्भव है कि विषय की गोपनीयता एव गूढ़ता के कारण सूरदास ने ऐसा किया हो। डॉ० वर्मा सामूहिक रूप से इस काव्य के शिल्प-विधान की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"उनके द्वारा भाषा की मधुरता, मर्मव्यजकता और काव्योपयुक्त चित्रण-शक्ति की अतीव वृद्धि हुई है। उन्होंने भाव, भाषा, अलकार उक्तिवैचित्र्य, छन्द-योजना, सगीतात्मकता आदि की ऐसी अनूठी सम्पत्ति अपने बाद की पीढ़ियों के लिए इकट्ठी की कि जिसके अश मात्र को लेकर कितने ही महान् कवि बन गए। परवर्ती रीतिकाल की समस्त कवि-चातुर्य नखशिख-वर्णन, अलकार योजना, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, सूक्ति-सौष्ठव सभी कुछ कृष्ण-भक्ति काव्य की देन है, अन्तर केवल यही है कि जहाँ भक्ति काव्य में ये विषय भावाश्रित है जहाँ रीतिकाल में उन्हीं की प्रधानता है। कृष्ण काव्य के कलापक्ष की विशेषताएँ व्रजभाषा के कवियों की अविरल परम्परा में आधुनिक काल तक चली आई हैं।"

(१३) छन्द—भावात्मक काव्य होने के नाते अधिकतर इस साहित्य में गीतिपदों का प्रयोग हुआ है। कलात्मक प्रसगों मे चौपाई, चौबोला, सार तथा सरसी छन्दों का प्रयोग किया है। नन्ददास ने रूप-मजरी तथा रासमजरी आदि ग्रन्थों में दोहा और चौपाई दोनों का प्रयोग किया है। दोहा-रोला और रोला दोहा का मिश्रित रूप भी इस काव्य मे प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति-काव्य में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल तथा कुछ और छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

(१४) भाषा—इस काव्य में व्रजराज की जन्म-भूमि व्रज की लोक-प्रचलित भाषा प्रयुक्त हुई है और वह इतनी लोकप्रिय हुई कि समस्त उत्तरी भारत में साहित्य भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। उसने सुदूर बगाल की भाषा को भी प्रभावित किया। परवर्ती रीतिकाल मे व्रजभाषा का निरन्तर प्रयोग हुआ और यहाँ तक कि आधुनिक युग के भारतेन्दु-काल के कवियो का इस भाषा के प्रति अगाध मोह बना रहा। परन्तु एक बात इस सम्बन्ध में स्वीकार करनी होगी कि भाषा के परिमार्जन, रूप-निर्धारण, स्थिरीकरण और व्याकरण-व्यवस्था की ओर न तो कृष्ण-भक्त कवियों ने ध्यान दिया और न ही रीतिकालीन कवियों ने। व्रजभाषा के अच्छ से अच्छे कवियो में शब्दों की तोड़-मरोड़, लिंग-सम्बन्धी गड़बड़, अर्थभेद, अप्रयुक्त एव ग्राम्य प्रयोग आदि मिल जाते हैं, भले ही नन्ददास आदि एक दो कवि इसके अपवाद हों। अस्तु! इस भाषा की आश्चर्यजनक व्यापकता को देखते हुए यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि—"बिना किसी आन्दोलन के साहित्यकार किसी भाषा की प्रतिष्ठा में किस प्रकार अभिवृद्धि कर सकते हैं।"

कृष्ण-भक्ति साहित्य आनन्द और उल्लास का साहित्य है। इसमें सर्वत्र व्रज-

रस व्याप्त है जो कि एकदम अद्भुत और विलक्षण है। शुद्ध कलात्मक दृष्टि से यह साहित्य अनुपम है। इस साहित्य की अपनी विशेषताएँ भी हैं और अपनी परिसीमायें भी। आचार्य द्विवेदी इस साहित्य के गुणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"मनुष्य की रसिकता को उद्बुद्ध करता है, उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है।" आगे चलकर वे इस साहित्य की परिसीमा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"यह प्रेम साधना एकान्तिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान् के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है। यही उसका दोष है क्योंकि जीवन केवल प्रेम-निष्ठा तक ही सीमित नहीं, यह केवल उसका एक पक्ष है।"

अष्टछाप : कतिपय प्रमुख कवि

अष्टछाप—हिन्दी में कृष्ण-काव्य का बहुत कुछ श्रेय श्री बल्लभाचार्य को है क्योंकि इन्हीं के चलाये हुए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने अत्यन्त मूल्यवान् कृष्ण-साहित्य की रचना की। बल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के सूरदास आदि आठ कवियों की मंडली अष्टसखा के नाम से भी अभिहित की जाती है। सम्प्रदाय की दृष्टि से ये आठों कवि भगवान् कृष्ण के सखा हैं। गुसाईं विट्ठलनाथ ने सं० १६०२ के लगभग अपने पिता बल्लभ के ८४ शिष्यों में से चार तथा अपने २५२ शिष्यों में से चार को लेकर सम्प्रदाय के इन आठ प्रसिद्ध भक्त कवि तथा संगीतज्ञों की मंडली की स्थापना की। अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभ के चार प्रसिद्ध शिष्य थे—कुम्भनदास, परमानन्ददास, सूरदास तथा कृष्णदास अधिकारी और गुसाईं विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध शिष्य थे—गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास। इन अष्टछाप के कवियों में सबसे ज्येष्ठ कुम्भनदास थे तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम स्थान सूरदास का है तथा द्वितीय स्थान नन्ददास का। पद-रचना की दृष्टि से परमानन्ददास का है। गोविन्द स्वामी संगीत-मर्मज्ञ हैं। कृष्णदास अधिकारी का साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है पर ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। कृष्ण-भक्तों में साम्प्रदायिकता, लीलाओं में आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता, श्रीनाथ के मन्दिर में विलास प्रधान ऐश्वर्य, कृष्ण-भक्ति साहित्य में नख-शिख तथा नायिका-भेद के वर्णन का बहुत कुछ दायित्व इन्हीं पर है। इस बात के सम्यक् ज्ञान के लिए दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता का अध्ययन उपयोगी रहेगा। अष्टछाप के शेष कवियों की प्रतिभा साधारण कोटि की है।

अष्टछाप के ये आठों भक्त समकालीन थे। ये पुष्टि सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये सभी भक्त अपनी-अपनी पारी पर श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन, सेवा तथा प्रभुलीला\ सम्बन्धी पद रचना करते थे। गुसाईं विट्ठलनाथ ने इन अष्ट सखाओं पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई अत. इनका नाम

अष्टछाप पड़ा।

हिन्दी साहित्य में महत्व—हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का साहित्यिक, साम्प्रदायिक, धार्मिक, कलात्मक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान है। अष्टछाप के सभी कवि भगवान् कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं से सम्बद्ध पदों की रचना किया करते थे। इन सब कवियों में भगवान् के माधुर्यमय रूप के वर्णन की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेम-लोक की विविध भावदशाओं का जो अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वर्णन इन कवियों ने किया है, वह इनके काव्य-कौशल का उत्कृष्ट नमूना है। सूर के सम्बन्ध में अवसर कहा जाता है—'न भूत न भविष्यति।' नन्ददास आधुनिक कवि पन्त के समान शब्दों के कुशल शिल्पी हैं—"अन्य कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।" परमानन्ददास के पद सौरस्यपूर्ण हैं और गोविन्द स्वामी में प्रशंसनीय संगीत का मधुर रस है। अष्टछाप के कवि प्रतिभाशाली साहित्यकार, सुकीर्तनकर्ता एवं अच्छे गायक हैं। अतः इनके साहित्य में काव्य-कला तथा संगीतकला का प्रशस्य गंगा-यमुना संयोग है। ब्रजभाषा का काव्य क्षेत्र में निरन्तर कई शताब्दियों तक जो एकाधिपत्य बना रहा, वह इन्हीं महानुभावों के कारण है। इन कवियों की परिमार्जित एवं प्रौढ भाषा को देखकर सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी एक सुनिश्चित परम्परा थी। वह कोई एक दिन की गढ़ी हुई भाषा नहीं। यद्यपि अष्टछाप के कवियों ने स्वयं कोई भी रचना ब्रजभाषा गद्य में नहीं लिखी फिर भी उनके प्रासंगिक चरित ब्रजभाषा गद्य में लिखे गये। इस सम्बन्ध में 'अष्ट सखान की वार्ता', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के नाम उल्लेखनीय हैं।

कवित्व की सबसे ऊँची वस्तु है तन्मयता और तल्लीनता, कविता का यह गुण सूरदास आदि कवियों में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन भक्ति भाव की रचनाओं के प्रचार के बाद लौकिक रस की परम्परा फीकी पड़कर निर्जीव हो गई। इन कवियों ने उसमें नया प्राण संचारित किया और नया तेज भर दिया। परवर्ती काल की ब्रजभाषा का लीलानिकेत भगवान् कृष्ण के गुणगान के साथ एकान्त भाव से बाँध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को प्राप्त है।" यह दूसरी बात है इन कवियों की कविता का एक निश्चित विषय है, उसमें विविधता के लिए अवकाश नहीं है।

अष्टछाप का धार्मिक और साम्प्रदायिक महत्व भी अक्षुण्ण है। ये आठों कवि श्रीनाथ के अन्तरंग सखा हैं और जो उनकी नित्य लीला में शरीक होते हैं। गिरिराज निकुंज के आठ द्वार हैं और यह उन द्वारों के अधिकारी हैं। लौकिक लीला में वे भौतिक शरीरों से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लीला की समाप्ति पर भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य लीला में लीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नन्ददास का साहित्य पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों को जानने के लिए तथा कृष्ण-भक्ति की साम्प्रदायिकता के बोध के लिए उपयोगी है। इनके साहित्य से तत्कालीन धार्मिक

एव सामाजिक स्थिति का भी परोक्ष रूप मे बोध हो जाता है। कलि प्रभाव वर्णन और गोपी उद्धव सवाद आदि में इस बात के स्पष्ट सकेत हैं। तत्कालीन सरल ग्रामीण जीवन की सहज छटा इनके साहित्य से मिल जाती है। उत्सवो, पर्वों तथा लीलाओ के वर्णनो में उस समय की सास्कृतिक झाँकी एव कलाप्रियता का बोध हो जाता है। इन्होंने विभिन्न नैमित्तिक उत्सवो के लिए विविध राग रागनियो में पदों की रचना की, जो आज तक भी गायको के गले का हार बने हुए हैं।

महाकवि सूरदास जीवन परिचय—बडे आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी-साहित्यकाश के सूर्य महात्मा सूरदास का, जिसमें भक्ति, काव्य, सगीत का एक अभूतपूर्ण समन्वय था, जीवन वृत्तान्त पूर्णतया ज्ञात नहीं है। आज से कुछ वर्ष पहले उन पर विल्व मगल आदि अन्य सूरदासो की जीवन घटनायें इस प्रकार आच्छ दित थीं कि इ का वास्तविक जीवन वृत्त दब सा गया था।

सूर-साहित्य के अत साक्ष्य तथा समकालीन और परवर्ती रचनाओ के बहि -साक्ष्य के आधार पर सूर के शोधकर्त्ता विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि स० १५३५ की बैसाख शुक्ल ५ को इनका जन्म हुआ था। इनका जन्म स्थान वल्लभगढ (गुड़गाँव) के निकटवर्ती सीही नामक गाँव है। वे एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के चतुर्थ पुत्र थे। इसके अतिरिक्त इनके माता पिता, कुटम्बी जनो एव बन्धु बांधवों का कुछ भी पता नहीं है। कुछ विद्वानो ने अकबर के दरबारी गायक बाबा रामदास को इनका पिता माना है किन्तु यह मत अब अप्रमाणित हो चुका है। सूर की साहित्य-लहरी में इनकी वशावली का परिचय इस प्रकार मिलता है—वे ब्रह्म भट्ट थे और चन्दवरदायी के वशज थे, किन्तु विद्वानो ने साहित्य-लहरी के उस पद को जिसमें उक्त वश का परिचय है, प्रक्षिप्त माना है। बहुत से विद्वान् तो साहित्य-लहरी को ही अप्रामाणिक मानते हैं।

यह तो निर्विवाद है कि सूरदास नेत्र-विहीन थे। किन्तु वे जन्माध थे अथवा बाद मे अन्धे हुए थे, यह विवादग्रस्त है। सूर काव्य मे दृश्य जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म यथार्थ, पारदर्शी और सर्वांगीण वर्णन को देखकर यह विश्वास नही होता है कि वे जन्माध थे। इसलिए आज के अनेक विद्वान् सूर की जन्माधता पर विश्वास नहीं करते हैं, अन्यथा उनके पास जन्माधता के विरुद्ध कोई ठोस प्रमाण नही है। सूरदास ने जहाँ अपने आपको जन्माध तग्` अभागा कहा है वहाँ कदाचित् उन्होंने आत्मग्लानि वश कहा है। ऐसे स्थलो मे अक्षरार्थ को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। ऐसे प्रसगों में लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता है। सम्भव है कि ज्ञान चक्षुओ के अभाव के द्योतन के लिए ऐसा कहा गया हो। सूरदास का साहित्य किसी जन्माध व्यक्ति का लिखा हुआ नही हो सकता है।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार सूरदास अपने बहुत से सेवको के साथ सन्यासी-वेष मे मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे। प्रभु वल्लभाचार्य जब अड़ेल से ब्रज पधारे तब गऊघाट पर सूर ने उनसे भेंट की। वल्लभ के कहने पर

सूर ने बड़ी तन्मयता से "प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ" गाया जिसे सुनकर आचार्य जी ने कहा "जो सूरे ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है। कछु भगवत-लीला वर्णन करि।" वल्लभ ने इन्हें अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करके भागवत के आधार पर लीलापद रचना के लिए कहा। तत्पश्चात् सूरदास आचार्य की आज्ञा से श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन करने लगे और नित्य सुललित पदों से भगवान् कृष्ण की पावन लीलाओं का गान करने लगे। श्रीनाथजी के मन्दिर से कुछ दूरी पर पारसौली नामक स्थान में सूरदास रहा करते थे। वहाँ प्रतिदिन श्रीनाथ जी के मन्दिर में प्रतिदिन आकर कीर्तन करना और सायं-काल को वापस लौट जाना उनका दैनिक कार्यक्रम था। उन्होंने लगभग अपनी ३३ वर्ष की अवस्था में श्रीनाथ के मन्दिर मे कीर्तन करना आरम्भ किया था और वे अपने देहावसान तक १०५ तक नियमित रूप से लीला-गान में निरत रहे। अपने १०५ के सुदीर्घ जीवनकाल में उन्होंने प्राय एक लाख पदों की रचना की थी जो कि बाद में सूर की कृतियों में संकलित किए गए हैं। पारसौली में गुसाईं विट्ठलनाथ, रामदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी और चतुर्भुजदास आदि की उपस्थिति में, इन्होंने अपने प्रयाण के समय "खजन नैन रूप रस माते" पद का गान करते हुए अपने भौतिक शरीर को छोड़ा और कृष्ण के नित्य लीला-धाम में प्रविष्ट हुए।

पूर्व संस्कार, जन्मजात प्रतिभा, गुणियों के सत्संग और निजी अभ्यास के कारण छोटी आयु में ही सूरदास विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता हो गए। इनकी ख्याति गायक और महात्मा के नाते खूब फैली। कहा जाता है कि सम्राट् अकबर ने मथुरा में इनसे भेंट की थी। गोस्वामी तुलसीदास भी इनसे मिले थे। उस समय सूरदास अति वृद्ध थे और अपने अधिकांश काव्य की रचना कर चुके थे, जबकि तुलसीदास युवा थे और उन्होंने अपनी काव्य रचना का आरम्भ ही किया था। तुलसीदास सूर के लीला-पदों से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने बाद में सूर की शैली पर भगवान् राम की बाल-लीलाओं का वर्णन किया। तुलसीदास की गीतावली में ऐसे कई प्रसंग हैं जो सूरदास से स्पष्ट प्रभावित हैं।

रचनाएँ—सूरदास ने श्रीमद्भागवत के आधार पर कृष्ण-लीला सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की थी जिनकी संख्या सवा लाख बताई जाती है। उनके जीवन काल में ही इतने असंख्य पद सागर कहलाने लगे थे जो कि बाद में संगृहीत होकर सूरसागर कहलाने लगे। परन्तु अब सूरसागर के चार-पाँच हजार पद प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की अनुसंधान विवरण पत्रिका और आधुनिक विद्वानों की खोज के अनुसार सूर-प्रणीत चौबीस ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। इनमें से साहित्य-लहरी, सूरसारावली आदि उल्लेखनीय हैं। सूरदास के इन दोनों ग्रंथों की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

सूरसारावली में ११०३ तक पद हैं। संग्रहकार ने पुस्तक के प्रारम्भ में लिख दिया है कि रचना सूरकृत है तथा यह सूरसागर का सार एवं उनके पदों की अनुक-

मणिका है। परन्तु उक्त ग्रंथ के अध्ययन से विदित होता है कि यह अनुक्रमणिका न होकर स्वतन्त्र ग्रंथ है। दूसरे सूरसारावली में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनका उल्लेख सूरसागर में नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों में कृष्ण-जीवन-सम्बन्धी घटनाओं में वैषम्य पाया गया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा की धारणा है कि संभव है कि इस ग्रन्थ का प्रणेता सूरसागर के कर्त्ता सूरदास से विभिन्न कोई दूसरा हो। अस्तु। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

साहित्य लहरी को सूरसागर का अंश बताया गया है। इसमें सूरदास के वे पद हैं जिनमें नायिका भेद, अलंकार एवं रस निरूपण है। इसमें अनेक दृष्टिकूट के पद भी संकलित हैं। किंवदन्ती है कि अष्टछाप के दूसरे प्रमुख कवि नन्ददास को रसरीति से परिचित कराने के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था। साहित्य लहरी के ११२ वें पद में सूर का वंश-परिचय दिया गया है जिसमें उसे चन्दवरदाई का वंशज माना है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस प्रकार जन्मांध सूर कुएँ में गिरे और भगवान् ने सातवें दिन उन्हें निकाला और फिर अन्तर्ध्यान हो गए। भगवान् ने उन्हें यह भी बताया कि दक्षिण के ब्राह्मण कुल से शत्रु का नाश होगा। दक्षिण के ब्राह्मण कुल से पेशवाओं का बोध होता है। अधिकतर विद्वानों ने इस पद को प्रक्षिप्त माना है। आचार्य द्विवेदी ने इस सारी की सारी रचना को संदेहास्पद माना है। उनका कहना है कि यह बहुत अजब है कि सूरदास जैसा सहज भक्त अलंकार और नायिका-भेद के प्रदर्शन की उलझन में उलझा हो, दूसरे ग्रन्थ के १०१ पद में ग्रन्थ की तिथि और समाप्ति का निर्देश कर चुकने के बाद वह अपने वंश और जाति का उल्लेख करने लगेगा। इस ग्रन्थ का निर्माण समय १६२० ई० पड़ता है जो कि सूरदास की मृत्यु के बाद का समय है। जहाँ तक द्विवेदी जी के प्रथम तर्क का सम्बन्ध है वह कोई इतना पुष्ट नहीं। कृष्णदास अधिकारी की प्रेरणा से सूरदास को नन्ददास के लिए अलंकार, नायिका भेद और रस-रीति पर कुछ लिखना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सूर-साहित्य में कई घोर शृंगारिक पद मिलते हैं जिन्हें अधिकारी जी का प्रभाव कहा जा सकता है। ऐसे पदों का आध्यात्मिक अर्थ लगाना केवल अटकल पच्चू मात्र होगा। अस्तु! द्विवेदी जी के अन्य दो तर्क बड़े सबल हैं। यह बहुत संभव है कि साहित्य लहरी किसी अन्य सूरदास की रचना हो और इसमें सूरदास के भी कुछ पद मिल गये हों। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि यह किसी भाट का सूरदास को स्वजातीय बनाने का प्रयत्न है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इस कृति को सूरदास-कृत नहीं माना है। अस्तु! इस पुस्तक को इतना अधिक महत्व देना उचित नहीं।

सूरसागर इनकी एक मात्र प्रामाणिक रचना है। यह एक गेय मुक्तक काव्य है जिसमें भगवान् की लीलाओं का विस्तारपूर्वक फुटकर पदों में वर्णन किया गया है श्रीमद्भागवत के समान इसमें भी बारह स्कंध हैं। यह ग्रंथ भागवत को आधार बनाकर लिखा गया है किन्तु इस भागवत का अनुवाद समझना भूल होगी। इसमें

सूरदास ने पर्याप्त मौलिक उद्भावना से काम लिया है। सूरसागर के दशम स्कन्ध में ३६३२ पद हैं जो कि कृष्ण-भक्ति काव्य का गौरव और सूर साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। भागवतकार कृष्ण के समूचे जीवन को लेकर चला है जबकि सूर ने कृष्ण के जीवन के कोमलतम अंशों पर असंख्य लीला-पद रचे और दूसरे प्रसंगों को चलता-सा किया। भागवत् में कृष्ण की अनन्य प्रेमिका किसी गोपी का उल्लेख है जब कि यहाँ प्रेम-रस में आमूल-चूल सिक्त राधा की कल्पना की गई है। भ्रमर-गीत की कल्पना उनकी कृष्ण-भक्ति काव्य को एक मौलिक देन है। सूरदास ने लोक-प्रचलित कृष्ण की प्रेम कथाओं का अपने सागर में स्तुत्य प्रयोग किया है। सूरदास का काव्य मुक्तक काव्य होते हुए भी प्रबन्धात्मकता के सूत्रों को भी सम्भाले हुए है। इनके लीलापदों में कृष्ण जीवन की क्रमात्मक कथा मिल जाती है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"शिल्प में गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसी ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिक्ल है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतिकाव्यात्मक है।"

भक्ति-भावना - सूरदास की भक्ति-भावना का मेरुदण्ड पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त भगवदनुग्रह है। इसी को आधार मानकर वे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव की नाना पद्धतियों में भाव व्यंजना में लीन रहे। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व वे विनय के पदों की रचना किया करते थे। उनके कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें निर्गुण साधना-पद्धति का संकेत मिलता है—

नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप। —सूरसागर

ऐसे पदों में सूर ने ब्रह्मज्ञानियों के समान माया का वर्णन किया है। वैष्णव भक्ति परम्परा में विनय-भक्ति की भावना में सात भूमिकाएँ—दीनता, मानमर्षता भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा स्वीकार की गई हैं। सूरदास ने दीनता का अच्छा परिचय दिया है। वल्लभ की साधना-पद्धति लीला-प्रधान है। दास्य भाव की भक्ति में भक्त भगवान् के समकक्ष नहीं हो सकता। यह बात लीला सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती है। वल्लभ सम्प्रदाय में लीला के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि भगवान् का साक्षात्कार बड़ी बात नहीं, बड़ी बात है भगवत्प्रेम। भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है और लीला उसी प्रेम का प्रपंच है। लीला का प्रयोजन लीला ही है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के पश्चात् सूर ने विनय भाव और दास्य भक्ति को छोड़कर सख्य भाव की भक्ति को अपनाया। उन्होंने भगवान् की लीला का गान करते हुए नवधा भक्ति के कीर्तन, स्मरण आदि सभी रूपों का वर्णन किया। पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह पर सर्वाधिक बल दिया गया है। भगवान् का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण कर सकता है। इस साधना पद्धति में ज्ञान, योग और कर्म को निरर्थक कहा गया है। सूर साहित्य में नारद-भक्ति सूत्र का ग्यारह आसक्तियों

का वर्णन है पर उनका मन सख्य, वात्सल्य, रूप, कान्ता और तन्मयता शक्ति में अधिक रमा है। भ्रमर गीत में विरहासक्ति का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप देखा जा सकता है। सूर-साहित्य में जहाँ दार्शनिक विवेचन हुआ है वह वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार है। सूर ने जहाँ राम कथा का उल्लेख किया है वहाँ विष्णु के अवतार होने के नाते कृष्ण और राम की भक्ति को रागानुराग कहा जा सकता है। व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से कांता-भाव की भक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। सूर ने गोपियों के माध्यम से माधुर्य भाव की अभिव्यंजना की है। सूर द्वारा वर्णित गोपी-कृष्ण-प्रेम में ऐन्द्रियता नहीं बल्कि हृदय की पवित्रता, उदारता, अनन्यता और सर्वात्म-समर्पण हैं। उनमें किसी प्रकार की अश्लीलता नही। सूरदास ने माधुर्य भाव की भक्ति द्वारा स्वयं भी *ब्रज रस का खुलकर पान किया और ब्रजवासियो को आकंठ उस रस* से आप्लावित किया।

सूर की भक्ति और समाज—सूर-भक्ति-क्षेत्र में इतने आगे निकल गये कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। वे पहले भक्त हैं और बाद में कवि। शुद्ध लीलावादी कवि होने के नाते कला कला के लिए समान उनका काव्य स्वान्तः सुखाय है। लीला का प्रयोजन लीला ही है। सूर में तुलसी की भाँति लोक-संग्रह भावना नहीं मिलती है। वस्तुतः वे कृष्ण के रंग में इतना लीन हो गये थे कि समाज चाहे नष्ट हो जाए या रहे, उन्हें कोई परवाह नहीं थी। वे सासारिक प्रलोभनों से दूर थे, यहाँ तक कि कृष्ण के समक्ष भी उन्हें कोई प्रलोभन नहीं था। एक उदारात्मा खिलाडी के समान विजय, पराजय से उन्हें कोई सरोकार नहीं है उन्हें तो प्रेम की सकरी गली में कृष्ण-लीलानन्द का खेल खेलना है। सूर के साम्राज्य में केवल वे और कृष्ण ही रहे। सूर का अपना एक छोटा-सा प्रेम का एक ससार है जिसमें वे हैं और उनका बाल-गोपाल है, गोप और गोपियाँ हैं, मनसुखा और राधा है रास और रंग हैं, लीला और विहार है, मुरली और तानपूरा है, माखन और दूध है, गौएँ और बछडे हैं। यमुना और कुंज हैं, यशोदा और नन्द हैं, जहाँ सदा उल्लास, *माधुर्य और आनन्द है। वहाँ विषाद का चिन्ह नहीं है, खिन्नता का आभास नहीं।* वहाँ नित्य नवजीवन और यौवन-उन्माद है। सचमुच उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी है जो कि एकमात्र कृष्ण-लीलाधाम है। उनमें रीति और नीति का प्रवेश नहीं है।

सूर का युग वही है जो कि तुलसी का है। तुलसी साहित्य में उस युग की राजनीतिक छाप स्पष्ट है जिसे वे प्रच्छन्न रूप से रामत्व की रावणत्व पर विजय की कल्पना से अभिव्यक्त करते हैं। उनके 'कलि-महिमा' वर्णन में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र है और राम-राज्य में आदर्श भावी समाज का। सूर का साहित्य तत्कालीन राजनीतिक घात प्रतिघातों तथा सामाजिक क्रियाओं प्रतिक्रियाओं से एकदम अछूता है। उनके साहित्य में सर्वत्र कृष्ण के प्रेम-रस की मधुर मुहर लगी हुई है। समाज किधर जा रहा है, शासक क्या कर रहे हैं, समय की गतिविधि क्या है, इन

प्रश्नों से मानो उन्हें कोई लगाव ही नहीं था। सूरदास उस अष्टछाप के अन्यतम कवि हैं, जिसके एक कवि का कहना है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम।" सूर के समाज के प्रति इस तटस्थता में पुष्टिमार्गी दार्शनिकता का भी कोई कम हाथ नहीं। उसके अनुसार संसार दुःखमय है। जीव को आनन्द का आविर्भाव करने के लिए आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की लीलाओं में प्रवेश करना है, कृष्ण के असुरनिकन्दन या दुष्टदलन रूप में नहीं। राक्षस वध, कोई पूर्व नियोजित वस्तु नहीं। पूतना वध, बकासुर और अघासुर वध तथा कालियदमन आदि तो कृष्ण की लीला ही लीला में सम्पन्न हो गये हैं। पुष्टिमार्गी भक्त भगवदनुग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी साधन पर विश्वास नहीं रखता। लोकादर्श सदसद्विवेक आदि का इस भक्ति पद्धति में प्रवेश नहीं है। पुष्टिमार्ग में कृष्णार्पणम् की भावना ही प्रमुख है।

माधुर्य-भाव की उपासिका गोपियाँ समाज-सम्बन्ध तोड़कर कृष्ण लीला में सम्मिलित होती हैं। सूरदास स्वयं एक गोपी के रूप में उस लीला-विहारी के साथ विहार करते होंगे। प्रेम का पूर्ण निर्वाह लोक-समाज और शास्त्र की अवहेलना में है न कि उनकी मर्यादाओं के पालन में। सूरदास का कहना है —

> प्रेम प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पाइए।
> प्रेम बन्ध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिए॥
> एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।
> सांचो निश्चय प्रेम को, जहिरें मिलें गोपाल॥

प्रेमी अपने प्रेम-पात्र क सौन्दर्य पर सदा न्यौछावर होता है। सूर की गोपियाँ सौन्दर्य के अथाह सागर श्रीकृष्ण में आजीवन गोते लगाते रहीं और उसकी थाह प्राप्त करने का यत्न करती रहीं, उनके पास समाज और संसार की थाह पाने का अवकाश ही कहाँ था? सूर के कृष्ण सुन्दर के प्रतीक हैं। सुन्दर का चित्रण कोई आसान कार्य नहीं, क्योंकि सौन्दर्य क्षण-प्रतिक्षण नित्य नवीन होता है।

प्रबन्ध-काव्य में समाज का चित्रण सहज में होता है, किन्तु वैयक्तिकता-प्रधान गीति काव्य में ऐसा होना सम्भव नहीं है। गीत काव्य में भावों की तीव्रानुभूति होती है और उसकी परिमित परिधि में व्यापक लोक चेतना का समावेश होना कठिन है। सूरदास गीतिकार थे। उनके गीतों में छायावादी गीतों के समान सामाजिकता नहीं आ सकती थी।

सूरदास की एक ही आशा और अभिलाषा है—कृष्ण-लीलागान। उनकी सख्य भाव की भक्ति में किसी प्रकार के मर्यादा-नियम, विधि-विधान एवं आदर्श की अपेक्षा नहीं। कृष्ण-भक्ति के अनुसार कृष्ण ही केवलमात्र पुरुष हैं, शेष सभी जीवात्मायें हैं जो कि सदा कृष्ण-लीला और विहार में लिप्त रहती हैं। उन्हें समाज की कोई चिन्ता नहीं है। सूरदास राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में इतने तन्मय थे और शुद्ध भावना ने उन्हें इतना आध्यात्मिक रूप दिया है कि "नीवी खोलत धीरे मदुराई" तक नि:संकोच कह जाना और राधा-कृष्ण के शुद्ध प्रेम को, उनके

विहार और रीति भावना को अनेक तरल पदों मे गा दिया। उन्हें कदाचित् यह ज्ञात नही था कि इसका प्रभाव साधारण जन समाज पर क्या पडेगा। उन्हें यह भी पता नही था कि उनके राधा और कृष्ण रीतिकालीन कवियो के अनाधिकारी हाथों मे पहुँच कर साधारण नायिका और नायक बन जायेंगे। रीति कवि ने राधा और कृष्ण की आड मे मानसिक फफोले फोडे इससे हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी भली भाँति परिचित है। यहाँ तक कि रीति काल के कवि ने "कैलि राति अघाने नाहि ......" आदि में विपरीत रति सुख का वर्णन राधा कृष्ण की आड मे कर डाला।

सूरदास ने यशोदा और नन्द के स्वस्थ गृहस्थी जीवन का चित्र भी खीचा है, उसमें कृष्ण अपनी लीलायें दिखाते हैं। ऐसे दृश्य हम अपने साधारण घरो में नित्यप्रति देखते हैं। किन्तु कृष्ण के व्यापक जीवन से केवल इतने ही अश का समाज के साथ सम्बन्ध नगण्य सा है। वास्तव मे बात तो यह है कि सूर ने कृष्ण के जीवन के मृदुल एव माधुर्यमय अशो पर अपने तानपुरे का ऐसा सुर अलापा कि वहाँ समाज का कोलाहल पहुँच ही नही पाया। सूर का मस्त कलाकार नि शक रूप से गाता रहा—

देखो माई सुन्दरता को सागर।

तथा

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौं।

आचार्य द्विवेदी के शब्दो मे "भक्तों मे मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि-जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है।"

सूर की काव्य साधना—सूर हिन्दी साहित्य के कमनीय कलाकार हैं। उनके साहित्य मे न तो कबीर के समान कलापक्ष की अवहेलना है और न ही तुलसी के समान मर्यादा और नैतिकता का आग्रह। 'यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नही कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओ का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य भूमि मे उनकी वाणी ने सचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनो क्षेत्रों मे तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोडा ही नही।" सूर का समस्त काव्य विनय, वात्सल्य और शृ गार की त्रिवेणी है। *उनमें भक्ति, कविता और सगीत इस रूप से घुल-मिल गये हैं कि उन्हें पृथक् करना सहज व्यापार नही है।*

विनय के पद—वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूरदास दैन्यपूर्ण पदों की रचना किया करते थे। इन पदो में भक्त-हृदय की समस्त ग्लानि, दीनता, पश्चात्ताप, निरीहता, ससार के प्रति विरक्ति, आत्मविस्मृति और सर्वभावेन आत्म समर्पण ओत प्रोत हैं। इन पदो मे किसी प्रकार की दार्शनिकता नहीं है बल्कि इनमें हैं भक्त का कातर तथा निश्छल हृदय। इन पदो में उनका आत्मनिवेदन अतीव सुन्दर बन

पड़ा है—' माधव नँनु हटको गाइ", "प्रभु हौं पतितन को टीको' तथा "जैमेहि राखौ तैसेहि रहौं।"

वात्सल्य वर्णन—सूर वात्सल्य हैं और वात्सल्य सूर हैं। यह एक बड़ी ही आह्लादक एव आश्चर्यपूर्ण बात है कि सूर से पूर्व किन्ही हिन्दी कवि ने वात्सल्य रस का चित्रण नहीं किया पर सूर ने पहली बार इस क्षेत्र में इतना सुन्दर कहा है कि इस सम्बन्ध मे औरो के लिए कुछ कहने को नही रहा। सूर के वात्सल्य वर्णन के बाद सब उसकी जूठन। सूर वात्सल्य रस का कोना-कोना झाँक आये हैं। उन्होंने बाल्य जीवन को साधारण से साधारण घटनाओं और चेष्टाओं का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और कलात्मक वर्णन किया है। इनके वात्सल्य रस के वर्णन मे पृथ्वी भी स्वर्ग बन जाती है। इस प्रसग मे सूर का पाठक सूर के स्वर में स्वर मिलाकर कह उठता है—

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नित जसुमति पावै।"

सूर को माता-पिता के हृदय और बालकों के मन की गहरी पहचान है। सूर गोप न कृष्ण का कभी भी साथ छोडते नही हैं। कभी तो यशोदा के ममतापूर्ण हृदय मे बैठकर गोपाल कान्ह की नयनाभिराम लीलाओ को निहारते हैं तो कभी बाबा नन्द के दिल की गहराइयों मे बैठकर कन्हैया की स्नेहमय झाँकियाँ देखते हैं। कभी वे रेता, पेता और मनसुखा बनकर कृष्ण के साथ माखन चुराने, दूध और दधि लुढ़काने और गौएँ चराने में कृष्ण के साथ-साथ बने रहते हैं, तो कभी इस सम्बन्ध म गोपियो के द्वारा कृष्ण को दिलाये गये उपालभो मे मीठा आनन्द लेते हैं। तो कभी बलराम और कृष्ण की परस्पर की छेड़छाड मे रसास्वादन करते हैं, कभी वे यशोदा के द्वारा भिजवाये करुणार्द्र सदेशो मे द्रवित होते हैं तो कभी व्रजवासी वृद्ध गोप और गोपियों के प्रेमोद्‌गारो मे गद्‌गद हो उठते हैं। सूर के कलाकार का भोले भाले बालक का सा हृदय है। उनकी विराट् प्रतिभा के सामने बाल्य जीवन की कोई भी वृत्ति तिरोहित न रही। कृष्ण के बाल्य जीवन से सम्बद्ध सम्पूर्ण क्रीडाओ—कृष्ण-जन्म, नाल-छेदन, नामकरण, वर्षगाँठ, कृष्ण का पालने में झूलना, अगूठा चूसना, लोरियों के साथ सोना, प्रभातियों के साथ जागना, हँसना, मचलना, बहाने बनाने का अत्यन्त सूक्ष्म और विशद विवेचन सूर ने किया है।

नन्द और यशोदा को प्रौढ़ अवस्था मे बालक कृष्ण की प्राप्ति होती है। उनका कृष्ण के प्रति अतिशय स्नेह स्वाभाविक था। जैसे कृष्ण-साहित्य मे राधा प्रेमवर्षिणी है वैसे ही यशोदा वात्सल्य-रसधारिणी है। उनका समस्त व्यक्तित्व ही कृष्ण प्रेम मे घुलमिल गया है। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते चौबीसो घंटे उन्हें कृष्ण का ही ध्यान है। वे कृष्ण को सुलाती, झूला झुलाती और लोरियाँ गाती हैं—"जसोदा हरि पालने झुलावै" वे कृष्ण के घुटनों के बल चलने और उनको दतुलियो के निकलने पर उल्लसित हो उठती हैं। वे उसे आँगन मे अंगुली के सहारे चलना सिखाती हैं, और नाना प्रलोभन देकर दूध पिलाती हैं और उन्हें कृष्ण

की मीठी-मीठी बातो "मैया कबहिं बढैगी चोटी" के सुनने का सुअवसर मिलता है। बालकों मे सहज ईर्ष्या का चित्र भी कितना हृदयहारी बन पडा है—"मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो' तथा 'तू मोहि को मारन सीखो दाउहिं कबहुँ न खीझै।" गोपियो के उलाहना देने पर कृष्ण का चातुर्यपूर्ण उत्तर—"मैया मैं नाहिं माखन खायो' सूर का बाल मनोविज्ञान की गहरी पहचान का परिचायक है और अन्ततोगत्वा कृष्ण को माँ को खरी तीखी बात—'मैया मैं न चरैहो गैयाँ" कितनी मार्मिक और रसपूर्ण बन पडी है। कृष्ण के खेलने के लिए दूर चले जाने पर ममतामयी माँ का हृदय आशका से भर जाता है और वह कह उठती है—'खेलन दूर जात कित कान्हा।" कहने का तात्पर्य यह है कि सूर ने बालक सुलभ हृदय की किसी वृत्ति या भाव को छोडा ही नहीं। सूर के वात्सल्य वर्णन का वैशिष्ट्य इस बात में है कि उनके कृष्ण तुलसी के राम के समान जन-जीवन से अलग नही हैं। आज भी सद्गृहस्थियो के घर कृष्ण जैसे बालकों की क्रीडाओं, हर्ष, उल्लास, हास्य और परिहास से भर जाते हैं और लाखो यशोदायें खिल उठती हैं। तुलसी ने भी बालभाव का वर्णन किया है किन्तु वे अपनी ऐश्वर्योपासना के कारण यह नहीं भूलते कि उनके राम राजकुमार हैं। उनके बालक राम भी मर्यादा मे बधे हैं। तुलसी ने सूर के समान कौशल्या स पालनादि झुलवाया है, पैदल चलना सिखाया है और बडे होने की अभिलाषा भी प्रकट की है किन्तु राजकुमार राम मे शील का प्राबल्य है। उनके पास रेता, पेता और मानसखा की पहुँच नही है। सूर के कृष्ण अपने सखाओं के साथ गौएँ चराते हैं। उन पर खीजने पर सुननी भी पडती है—"खेलन में को काको गुसैंया।" तुलसीदास राम के प्रति दास्य भाव को भूल नही सके। वात्सल्य के लिए जो स्वतन्त्रता चाहिए वह तुलसीदास अपने बालचरित वर्णन मे नही ला सके। वस्तुत सूरदास इस क्षेत्र मे असदिग्ध रूप से सम्राट है। आचार्य द्विवेदी जी इस सबध में लिखते हैं—'ससार के साहित्य की बात कहना तो कठिन है क्योकि वह बहुत बडा है और उसका एक अश मात्र हमारा जाना है। परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुए बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओ के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दो की कमी होती है, न अलकार की, न भावो की, न भाषा की।" सूर काव्य की यह अपनी विशेषता है उसमें पुनरुक्तियाँ होते हुए भी हृदय पर द्विगुणित प्रभाव डालता है। ईश्वरोपासना में बालभाव अपनी निरीहता और निश्छलता के लिए प्रशस्त माना है। क्राइस्ट (Christ) ने कहा था 'Suffer little chidren to come unto me for theirs is the kingdom of Heaven" मनु कृतात्मा के लिए कहते हैं—बाडवज्जड वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्।"

शृगार वर्णन—सूर ने शृगार रस की विश्व व्यापक भावभूमि को भक्त की उच्चतम भव्यता प्रदान करके उसे उज्ज्वल रस की सज्ञा से विभूषित किया है। सूर ने शृगार रस को भक्ति रस के पुटपाक से जितना सौम्य और भव्य बनाया है वह

कदाचित् ही अन्यत्र मिले। सूर के शृंगार रस में रति स्थायीभाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक हुआ है। गोपियों और राधा का प्रेम एक आकस्मिक घटना न होकर सचमुच एक बिरवा या बेल के समान बढ़ा है। उनके शैशव का प्रेम यौवन के माधुर्य रस में परिणत हो गया—

'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत।'

"बारे ते बलबीर बढ़ाई, पोसी प्याई पानी।"

सूर की गोपियों में प्रेम के संस्कार पक्के हैं। इनमें विद्यापति की गोपियों के समान रूपलिप्सा नहीं वरन् सहचर (Fellowship) की भावना है। वे भावना प्रधान हैं, नन्ददास की गोपियों के समान वकील नहीं। "वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधिका की तरह पग-पग पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब तले हिंडोले पर जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है, वहीं पर अपने आप में ही पूर्ण है, मानो यह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई दूसरा ही उसकी खबर रखता है।" सूर ने आलंबन के रूप में कृष्ण के रूप और सौन्दर्य का विस्तृत चित्रण किया है और गोपियों के रूप माधुर्य का इस रूप में बहुत कम वर्णन किया है। हम भले ही इस रूप में सूर के शृंगार को एकांकी कह सकते हैं, किन्तु शृंगार के इस एकांगी रूप में भी उन्होंने प्रेम की विविध दशाओं का वर्णन किया है। "सूर ने बड़ी सच्चाई के साथ प्रेमी हृदय में रति की उत्पत्ति, प्रिय-मिलन की लालसा, प्रिय मिलन का हर्ष और चापल्य, प्रियस्मृति, लोक-लाज, प्रेम की विकलता, साहस और उन्माद का ऐसा प्रभावोत्पादक विशद चित्रण किया है कि एकांगीपन खटकता नहीं। पनघट, यमुना स्नान, दान-लीला और रस के प्रसंगों में गोपियों का प्रेम उज्ज्वलतम है। गोपियों का यह प्रेम विलास नहीं, बल्कि यह आत्मानुराग का स्वच्छन्द प्रकाशन है, उसमें किसी प्रकार का लुकाव-छिपाव नहीं। गोपियों के स्वकीया-प्रेम में सात्विकता है।"

सूर ने गोपियों और राधा के माध्यम से अपने हृदय को द्राक्षारस के समान निचोड़ कर रख दिया है। इन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम-वर्णन में प्रेम का चरम आदर्श उपस्थित किया है। राधा और कृष्ण की युगल लीलाओं के वर्णन में सूर ने अपनी समस्त प्रतिभा और सकल काव्य-कौशल का उपयोग किया है। इन्होंने भागवतकार की अपेक्षा कृष्ण, गोपियों और राधा के प्रेम-निरूपण में अधिक कला का परिचय दिया है। प्रेम के इस व्यापक चित्रण—नखशिख और संयोगादि में कहीं कहीं पर रीतिशास्त्र का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उसमें किसी प्रकार का वासना-कालुष्य नहीं। यह सारी प्रेम-कहानी आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। उसमें आत्मा का उज्ज्वलतम प्रकाशन है और सर्वत्र है भक्ति रस।

विप्रलम्भ शृंगार—सूर का संयोग चित्रण जितना सुखद और उल्लासमय है वियोग चित्रण उतना करुण, मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही है। कारण, कृष्ण की वियोगानुभूतियों का निरूपण वल्लभ भक्ति के अत्यन्त अनुकूल पड़ता है। सूर संयोग और वियोग चित्रण में दुनिया को भूल अपने आप में मस्त है। 'सूर का प्रेम संयोग के समय सोलह आने संयोगमय है और वियोग के समय सोलह आने वियोगमय है क्योंकि उनका हृदय बालक का था। जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में अधीर हो उठता है, क्षणिक सम्मिलन में सब कुछ भूलकर किलकारियाँ मारने लगता है।" इनका वियोग-वर्णन अत्यन्त संयम एवं मनोवैज्ञानिक है। इन्होंने जायसी की भाँति प्रत्येक वस्तु में विरह की झलक नहीं दिखाई और न ही गेहूँ का हृदय विरह से विदीर्ण दिखाया है। इन्होंने विरह-वर्णन में उन वस्तुओं को लिया है जो कृष्ण से सम्बद्ध हैं। तुलसी की कौशल्या और सूर की यशोदा का विरह एक जैसा है, किन्तु सूर में जो अनोखी व्यन्जना है वह तुलसी में नहीं। तुलसी का मर्यादावाद पग-पग पर अड़ जाता है। राम के एक पत्नीव्रत होने के कारण उसमें उपालम्भ और असूया का अभाव है।

सूर-साहित्य में वियोग शृंगार का आरम्भ कृष्ण के मथुरा गमन से होता है। कृष्ण मथुरा क्या गए कि समस्त व्रज का उल्लास और आनन्द समाप्त हो गया। माता यशोदा का हृदय विरह-व्यथा से पीड़ित है और वह शतधा फटा जा रहा है। गोपियों के आँसुओं से व्रज डूबने को हो जाता है। गौएँ, बछड़े व्याकुल हो उठते हैं। गोपी और कृष्ण के सखाओं का बुरा हाल हो जाता है। प्रकृति उन्मनी हो जाती है मानो समस्त व्रज की कविताओं पर तुषारापात हो जाता है। यशोदा मानसिक सन्ताप से विक्षिप्त होकर नन्द से लड़ने लगती है। वह दीनताभरी आवाज में कह उठती है—"नन्द व्रज लीजै ठोक बजाय।" व्रजेश के विरह में गोपियों का दुःख अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वे एकमात्र जड़ हो जाती हैं। कृष्ण के बिछुड़ते समय उनका हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया, ये निर्मोही अभागे प्राण चले क्यों न गये, बस इसी भर्त्सना में उन बिचारियों के पहाड़-जैसे दिन बीतते हैं। कृष्ण से सम्बद्ध व्रज की प्रत्येक वस्तु इन्हें खाने को दौड़ती है। पावस के घन और शीतल शशि उन्हें दाहकारी लगते हैं। रात उन्हें सापिन सी प्रतीत होती है—'पिया बिनु सांपिन कारी रात।" इस प्रकार गोपियों का कोमल हृदय करुणा की सहस्रधा तरल-तरंगों में द्रवित हो जाता है। यही नहीं, कृष्ण के विरह में प्रकृति की प्रत्येक वस्तु इसका अनुभव करती है। उसकी प्यारी गौएँ दीन और हीन हो गई हैं और वे कृष्ण को न देखकर पछाड़ खाकर गिर जाती हैं। गोपियों की आशा लता तो एक दम छिन्न-भिन्न तथा विदीर्ण हो गई। ये बार-बार सोचती हैं कि यदि उस सांवले का पुनर्मिलन होना होता तो वे बताकर तो जाते या कम से कम मथुरा से सन्देश तो भेजते। बस, कृष्ण की यही हृदय-कठोरता उन्हें रात-दिन आँसू बहाने पर विवश कर देती है।

राधा के वियोग-वर्णन में सूर ने और भी कमाल कर दिया है। सूर ने राधा

के माध्यम से प्रेम का जो परिमार्जित रूप उपस्थित किया है वह शायद ही भारतीय साहित्य में मिले। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—'वियोग-समय की राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन समय की मुखरा, लीलावती, चचला और हँसोड़ राधिका, वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ अन्य गोपियाँ काफी बक-झक करती हैं पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उसम पत्थर भी पिघल जाता है।' उन्होंने राधिका की आँखों से निरन्तर अश्रुओं का गिरते देखा था। आँखें धस गई थी और शरीर कंकाल मात्र रह गया था। राधा दरवाजे में आगे नहीं बढ सकी। प्रिय के लिए सन्देश मांगने पर वह मूर्च्छित होकर गिर पडी। वह माधव माधव रटते-रटते स्वयं माधव हो गई थी। सच यह है कि सूर का यह एकान्त विरह अमर है। उनका अमरगीत विरह और उपालम्भ काव्य का चरम निदर्शन है। वैसे तो सूर ने कृष्ण की सयोग-लीलाओं में पर्याप्त रस लिया है पर वियोग-पक्ष में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। कारण, रति की आध्यात्मिक परिणति वियोग-विरह से जितनी सभव है,वह सयोग के मिलन-सुख मे नही, क्योकि मिलन में एक प्रकार की जडता है और विरह में क्रियाशीलता है। सच तो यह है कि शृगार का रसराजत्व कदाचित् उसके वियोग-पक्ष से है।

सौभाग्यवश सूरदास ने विशाल आयु प्राप्त की, अत उनके साहित्य पर नाना प्रभाव पडे। पुष्टि मार्गी प्रभाव के कारण जहाँ उन्होंने वात्सल्य और सख्य भावों का निरूपण किया वहाँ चैतन्य और हरिवंश के सप्रदायों से प्रभावित होकर उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रणयात्मक जीवन के सरस पद भी लिखे। कहीं-कहीं तो सूर पर हरिवंश जी का इतना प्रभाव है कि दोनों के पदों को पृथक् करना भी कठिन हो गया है। चैतन्य सप्रदाय में राधा कृष्ण के प्रेम का चित्रण परकीया भाव से किया गया है किन्तु सूरदास ने अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखते हुए राधा कृष्ण के प्रेम का चित्रण स्वकीया-भाव से किया है।

सूर के विरह वर्णन पर एक आक्षेप—आचार्य शुक्ल सूर के विरह-वर्णन के सम्बन्ध में लिखते हैं—"सूर का वियोग वर्णन वियोग वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीडा करते-करते किसी कुंज या झाडी में जा छिपते हैं, या यों कहिए कि थोडी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं, बस, गोपियाँ मूर्च्छित गिर पडती हैं। उनकी आँखों में आँसुओं की धारा उमड चलती है। पूर्ण वियोग दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह-वर्णन असगत प्रतीत होता है।" आगे चलकर वे लिखते हैं—'सूर की गोपियों का विरह ठाली बैठे का-सा कार्य दिखाई देता है। उनके विरह में गम्भीरता नहीं है। चार कोस पर मथुरा में बैठे हुए कृष्ण से गोपियाँ क्यों नहीं मिल आतीं ?" हमारे विचारानुसार आचार्य शुक्ल का यह आक्षेप आक्षेप के लिए है और कदाचित् सूर के भक्ति सिद्धान्त को न समझने का परिणाम है। यह आक्षेपकर्ता कदाचित् तुलसी को सूर

से अधिक प्रश्रय देने के लिए भी हो सकता है। दूसरे, शुक्ल की आलोचना के मानदण्ड रामचरितमानस पर आधारित हैं। वे तुलसी की नैतिकता, मर्यादा और लोक-संग्रह की भावना को सूर में भी देखना चाहते हैं, जबकि ऐसा करते समय सूर के कविता संबंधी दृष्टिकोण को भूलना नहीं चाहिए। वस्तुतः मानस और सागर भिन्न-भिन्न वातावरण में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हैं। अतः सागर को सूर के दृष्टिकोण से देखना समीचीन होगा।

सूरदास में रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता है जिन्हें शुक्ल भी स्वीकार करते हैं। आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण उसमें लीन होने के लिए छटपटाती है। जलबिन्दु नाना रूपों में सागर में मिलते हैं। कृष्ण परमात्मा है और गोपियाँ जीवात्माएँ। कृष्ण के ओझल हो जाने पर गोपियों का मूर्छित हो जाना इसी बात का द्योतक है। जायसी के वियोग-वर्णन में भी इसी प्रकार की आध्यात्मिकता है।

कृष्ण बिना किसी आश्वासन के मथुरा चले जाते हैं। गोपियों की आशा-लता छिन्न भिन्न हो जाती है। कृष्ण का इस प्रकार जाना गोपियों के आत्म-विश्वास और श्रद्धा की न्यूनता का सूचक है। गोपियों के हृदय में स्त्री-सुलभ मान की भी कमी नहीं। वे अपनी ज़िद पर अड़ी हैं-क्यों जावें हम, वह क्यों न आये। यह मान नारी जाति के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। गुप्त की यशोधरा के शब्दों में—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान् ।
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान ।।

गोपियों का प्रेम सर्व प्रकार से पवित्र है। वे अपने प्रेम का ढोल नहीं पीटतीं। वे उद्धव को कृष्ण का अभिन्न सखा मानकर उनसे अपना हाल कृष्ण तक पहुँचाने के लिए कहती हैं। स्त्री अन्य किसी पर-पुरुष से अपने रतिजन्य भावों को भूलकर भी नहीं कहती। गोपियों ने कृष्ण की चिट्ठी के प्रत्युत्तर में किसी प्रकार की पत्रिका नहीं भेजी। भेजे अपने आँसू, आहें और संचित मधुर स्मृतियाँ, जो कि एक सच्चा प्रेमी अपने प्रियतम के पास भेज सकता है। गोपियों के प्रेम में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं बल्कि स्वाभाविकता है। प्रेम में दो मील की दूरी और हज़ार मील की दूरी एक-सी होती है। दूरी आखिर दूरी है। स्वच्छ और स्वच्छन्द प्रेम एक वह नशा है जो सदा एक-सा रहता है। संयोग-दशा में जब कृष्ण उनके जीवन के आधार हैं तो वियोग-दशा में उनके लिए शेष था ही क्या—विरहोद्गारों में अपने प्यारे को देखना। गोपियों के मथुरा न जाने का कारण स्पष्ट है—उन्हें कंस की मथुरा से उत्कट घृणा है। वे उस ओर मुँह भी करना नहीं चाहतीं। निपट गंवार अहीरनियों का महाराज कृष्ण के पास जाने में सुदामा के समान संकोच स्वाभाविक था। सुदामा पुरुष हैं। स्त्री द्वारा धकेले जाने पर वे यथाकथंचित चले भी जाते हैं पर ग्वालिनें कैसे जा सकती हैं। आज के युग और उस युग में आखिर भेद है ही। गोपियों का मथुरा

जाने का सबसे प्रधान कारण है सौतिया-डाह। सौत से डाह मनोवैज्ञानिक घरेलू सत्य है। कुब्जा गोपियों के लिए एक जहर की बेली है। कृष्ण कुब्जा के रस मे मस्त होकर उन्हें और मदा रहे हैं। उनका उद्धव को भेजना जले पर नमक छिकडना है। गोपाल के पास नहीं, ऐसे निष्ठुर और राजा कृष्ण के पास जाकर गोपियो के लिए अनुनय-विनय करना और न्याय की भीख माँगना, उनके स्वभाव के प्रतिकूल था और उनके आत्म-सम्मान को एक चुनौती।

गोपियों की लरिकाई का प्रेम यौवन मे परिणित हो गया। यह प्रेम एक झटके से टूटने वाला नही था। यह वह प्रम था जो नाना धाराओं म फूट निकला, जिसमे कदाचित् सूरदास को ब्रज के डूबने की आशका नही हुई होगी किन्तु आधुनिक आलोचक अपेक्षाकृत अधिक चिन्तित और शकित हो उठा है। अस्तु! सूर के विरह-वर्णन मे—"इन्तहाय लागरी" और बिहारी की पैंडुलम जैसी नायिका वाली अतिरंजना, अतिशयोक्ति या हास्यास्पदता नहीं है और न ही इसमे काटरो के चलने तथा रक्त बहने आदि के वीभत्स दृश्य हैं।

गोपियों का प्रेम लौकिक या अलौकिक होते हुए भी न्याय सगत, लोक-व्यवहार की दृष्टि से सुन्दर तथा अभिनन्दनीय है। गोपियो के प्रेममय साम्राज्य मे भारत के नवीन सविधान की धाराओं और न जोराते हिन्द के कानूनों को लागू करना भूल होगी।

सूर का भ्रमर गीत—सूर सागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमर गीत है। जहाँ कवित्व और शास्त्र एकाकार हो गये हैं। भ्रमर गीत म सगुण ने निर्गुण पर, सरसता ने शुष्कता पर, प्रेम ने दर्शन पर, भक्ति ने ज्ञान पर, राग ने वैराग्य पर, आसक्ति ने अनासक्ति पर और सयोग ने वियोग पर विजय पाई है। आचार्य द्विवेदी के शब्दो मे—'भक्तो मे मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। सूर न अपने काव्य में एक ही जगह भगवान का साथ छोड़ा है—भ्रमर गीत मे। और इस बात म कोई सन्देह नही कि इस अवतार पर सूरदास को दूना रस मिला था।" आचार्य शुक्ल का कहना है कि—'ऐसा सुन्दर उपालम्भ काव्य दूसरा नही मिलता। उसम गोपियो की वचन वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है। गोपियों की वियोग-दशा का जो धारा प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का सचार उसके भीतर है, कौन गिन सकता है? सूर ने ऐसे भावो का वर्णन किया है जिनकी गणना आचार्यों ने सचारी आदि भावों में नहीं की है। इसके लिए अलग नामों के आविष्कार की आवश्यकता है। शृगार रसराज कहलाता है, इस दृष्टि से यदि सूरदास को रस सागर कहें, तो बेखटके कह सकते हैं।"

उद्धव कृष्ण भक्त होने के साथ निर्गुण मार्ग के अनुयायी भी थे। कृष्ण ने उनके ज्ञान को चूर करने के लिए उन्हें गोपियो के पास अपना सन्देश कहने को भेजा। वे उद्धव को भक्ति और प्रेम की तीव्रता का अनुभूत कराना चाहते थे। उद्धव

कृष्ण का सन्देश लेकर गोपियों के पास पहुंच गये। वे अपने निर्गुण ब्रह्म पर व्याख्यान देने लगे। उद्धव और गोपियों के बीच अनेक मान मिलाप नोक झोंक और तर्क वितर्क हुए। अन्त में उद्धव निराश हृदय से हारे हुए योद्धा के समान लौटकर कृष्ण को गोपियों के अनन्य प्रेम की करुण कहानी सुनाते हैं। पर इस छोटे से स्थल में जो वचन वक्रता वाग्वदग्ध्य और कलात्मकता है वह अत्यन्त सुन्दर है। सूर ने इस प्रसंग में अनेक मौलिक उद्भावों से काम लिया है। भागवत में उद्धव यशोदा और नन्द को सन्देश देने आते हैं। गोपियाँ उन्हें एकान्त में बुलाकर कुछ सुनती और सुनाती है। किन्तु यहां सूर ने नवीन कल्पना की है। उद्धव गठरी को संभाले ही आ रहे थे कि उनके रथ को दूर से देखकर गोपियाँ सगबग भागी जाती हैं और उद्धव से अपने प्रिय मनमोहन के कुशल मंगलमय का प्रश्न पूछती हैं। उन्हें यह पता ही नहीं था कि उनके हृदय पर निराकार और योग की गाज इतने निर्मम रूप से पडेगी। यहाँ गोपियां और उद्धव के बीच नन्द और यशोदा का व्यवधान नहीं है। सूरदास की ध्वनि भ्रमर और मधुप आदि की योजना अत्यन्त मनोहारिणी है। उद्धव गोपियों के अतिथि और प्रियतम के सन्देश वाहक थे। आदरणीय अतिथि को बुरा भला कहना आतिथ्य धर्म के प्रतिकूल था। अत भ्रमर के ब्याज से उन्होंने अपने अरमान निकाले। उद्धव और कृष्ण दोनों भ्रमर व्रतधारी हैं। ऊपर से तो काले थे ही भीतर से भी काले थे— *यह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे।* भ्रमर प्रेम की रीति नहीं जानता। यह रस लोभी होता है। कृष्ण भी गोपियों को छोड़कर कुब्जा में रम गये थे अत वे भ्रमर ही हैं। सूरदास ने अपने इस गोपी उद्धव सवाद में राधा को तटस्थ दिखाया है।

सूर के इस भ्रमरगीत-काव्योद्यान का अपना वैभव और एक अपना लावण्य है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

विवशता— *ऊधो मन नहीं हाथ हमारे।* *ऊधो मन नाहीं दस बीस*

सारल्य— उर में माखन चोर गड़े। निर्गुन कौन देश को बासी?

तर्क वितर्क—काहे को रोकत मारग ऊधो।

सुन मधुर निर्गुन कटक से राज पथ क्यों रूंधो॥

व्यंग्य हास उपालंभ— यह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे।

आयो घोष बड़ो ब्यौपारी। जोग ठगौरी ब्रज न बिकहै।

सूर स्याम जब तुम्हें पठत बाये नकहु मुसकाने।

गोपियों की विजय—मौन ह्वै रह्यौ ठगो सूर सो सब मति नासी।

उनो कम कियौ मातुल वधि मदिरा मत प्रमाद।

सूरदयाम एते अवगुन ते निर्गुन ते अति स्वाद॥

सच यह है कि सूर ने भ्रमरगीत में गोपियों के माध्यम से अपने हृदय के समस्त मधुर रस को द्राक्षारस के समान निचोड़ कर रख दिया है जहाँ सब ओर रस ही रस और माधुर्य ही माधुर्य है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में— "सिरा सूरसागर

नहीं पड़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल मिल गया है।" सूरदास का यह भ्रमर गीत चाहे भागवत का आधार लेकर चला है फिर भी अपनी मौलिकता और नवीनता के कारण बिहारी की सतसई और कालिदास के मेघदूत के समान अनेक भ्रमर गीतों की परम्परा का कारण बना है।

नन्ददास के भ्रमर गीत में तर्क प्रमाण एवं बुद्धितत्व की अधिकता है। वहाँ गोपियाँ एक चतुर वकील हैं। उनमें और उद्धव में एक बड़ा विवाद हो चल पड़ता है उद्धव—"जो उनके गुन होय वेद क्यों नेति बखानें।" गोपियाँ —'जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।" इसमें उद्धव का उद्देश्य उपदेश है—'ऊधो का उपदेश सुनो ब्रज नागरी" 'कहि सन्देसो नन्दलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ।" इसमें परिहास और भर्त्सनामयी उक्तियाँ भी हैं—'यह नीची पदवी हुती गोपी नाथ कहाय।" नन्ददास के जड़िया होने के कारण इनका यह भ्रमर गीत भाषा की दृष्टि से उत्तम बन पड़ा है। भावों के क्षेत्र में सूर का भ्रमरगीत बहुत आगे है। रत्नाकर में सूरदास की भावुकता, नन्ददास का तर्क और रीतिकालीन अलंकारिता का सम्मिश्रण है। इनके उद्धव शतक का आरम्भ भी बड़ा विचित्र हुआ है। भावपेशलता में ये सूर को नहीं पहुँच सके। उपाध्याय जी के प्रियप्रवास में चाहे भ्रमरगीत नाम का उल्लेख नहीं फिर भी गोपी उद्धव संवाद अवश्य है यहाँ नन्द और यशोदा को नवीन रूप दिया गया है। राधा और कृष्ण से देशभक्ति का सन्देश दिलवाया गया है। सत्यनारायण कविरत्न में गोपी हैं ही नहीं। यशोदा पर मातृभूमि का आरोप किया गया है और कंस-वध के समान अंग्रेज-वध की प्रार्थना की गई है। यह गोपियों का भ्रमर गीत न होकर भारत का करुण विलाप है।

वात्सल्य और शृंगार के चित्रण के अतिरिक्त सूरसागर में प्रासंगिक रूप से वीर करुण, हास्य, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का भी चित्रण हुआ है पर वे रमे वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में हैं। इन दोनों रसों के ये सम्राट् हैं और हिन्दी का कोई भी कवि इनकी तुलना नहीं कर सकता।

प्रकृति चित्रण—सूर-काव्य का निर्माण ब्रज मण्डल में प्रकृति के परिवेश में हुआ, अतः उनका प्रकृति चित्रण नैसर्गिक और विशद है। सूर ने प्रकृति-चित्रण स्वतंत्र रूप में न करके कृष्ण-लीलाओं की पृष्ठभूमि के रूप में किया है। वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में इन्होंने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ग्रहण किया। कृष्ण-जीवन के समान इन्हें प्रकृति का भी कोमल रूप अधिक प्रिय लगा है। इनके काव्य में प्रकृति और मानव हृदय के उद्गारों में सुन्दर सामंजस्य है। इनमें न तो केशव के समान पाण्डित्य का प्राबल्य है और न ही तुलसी के समान नीति एवं दर्शन का आग्रह। संस्कृत कवियों

के समान प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों की आशा सूर से तो क्या हिन्दी के किसी भी कवि से नहीं की जा सकती है।

कलापक्ष– *सूर का भाव पक्ष तो उज्ज्वल है ही, कला-पक्ष भी पर्याप्त निखरा* हुआ है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं 'सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकारशास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे पीछे दौड़ा करता है उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में स्वयं कवि वह जाता है। वह अपने आपको भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देख कर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइए, केवल उपमाओं और रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षण और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार चार, दस दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज *प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ।"*

सूर काव्य चलती हुई व्रज भाषा के साहित्यिक रूप का उत्तम नमूना है। उनकी भाषा समृद्ध, सुडौल, परिमार्जित, प्रगल्भ एवं काव्यगुणपूर्ण है। भले ही उस में *लिंग और वाक्य व्यवस्था सम्बन्धी गड़बड़ है किन्तु भाषा के प्रवाह में कुछ खटकता* नहीं और भावों की उदात्तता में पाठक आगे बहने-सा लगता है। 'वास्तव में सूर के शब्द प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने शब्दों के निर्वाचन में साहित्यिक असाहित्यिक अथवा शिष्ट अशिष्ट का कोई विचार नहीं किया और परिस्थिति के विचार से जिन शब्दों को उन्होंने उपयुक्त समझा उनका प्रयोग करने में उन्हें इस बात का संकोच नहीं हुआ कि वे किस श्रेणी अथवा किस उद्‌गम के हैं। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द, खड़ी बोली, पूर्वी हिन्दी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी, गुजराती, *पंजाबी, अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनसे इनकी भाषा* को और भी अधिक बल मिला है। इन्होंने वात्सल्य और शृंगार रस के वर्णन में माधुर्य और प्रसाद गुणों का समुचित प्रयोग किया है। शब्द-चयन भावानुसार है। *वाक्य व्यवस्था काफी सजीव है।* लोकोक्तियों, मुहावरों और अलंकारों के सफल प्रयोग से अर्थ में सौन्दर्य एवं गाम्भीर्य गुणों का समावेश हुआ है।

सूर काव्य में भक्ति, कविता और संगीत की सुन्दर त्रिवेणी है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—सूर की कविता में संगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि *हमें यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में* मन्दाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हैं। सूरदास तो स्वभावतः ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे हैं उनमें संगीत की ध्वनि इतनी समधुर रीति से समाई है कि वे पद संगीत के जीते जागते अवतार से हो गये हैं।" सूर के गीत सहृदय-संवेद्य हैं। उनमें *एक अनुपम तन्मयता* और भावानुभूति है।

भक्त नाभादास के भक्त माल में उपलब्ध एक छप्पय सूर के काव्य की महत्ता के भली भाँति प्रदर्शित करता है—

> उक्ति चोज अनुप्रास बरन् अस्थिति अति भारी।
> बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
> प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
> जनम करम गुन रूप सबै रसना प्रकासी॥
> विमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन स्रवननि करै।
> सूर कवित सुनि कौन जो नहि सिर चालन करै॥

इसी प्रकार :—

> किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
> किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर॥

सूर काव्य सहृदयो और संगीत-रसिको दोनो के लिए गले का हार है। भले ही इन्होंने कृष्ण के रंजनकारी रूप को चित्रित किया है जिसकी चित्रपटी मे जीवन के सर्वांगीण चित्रण और लोक-मंगल का अंकन तुलसी जैसा नहीं हो सका, पर अपनी स्वीकृत परिमित पुण्य भूमि में जितने दूर तक इनकी वाणी ने सचरण किया है वहाँ तक तुलसी तो क्या हिन्दी का कोई भी कवि नहीं पहुँच सका। यह निश्चित है कि विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि से सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके कृतित्व और महत्त्व की अनेक प्रशस्तियों से हिन्दी-साहित्य भरा पड़ा है—

> सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
> अबके कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश।
> उत्तम पद कवि गंग के, कविता के बलबीर।
> केशव अर्थ गम्भीरता, सूर तीन गुन धीर॥

नन्ददास – जीवन-वृत्त—इनका जन्म संवत् १५७० के लगभग सूकर क्षेत्र (जि० एटा) के समीपवर्ती ग्राम रामपुर में हुआ। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास इनके चचेरे भाई थे। माता पिता के देहान्त हो जाने के कारण इनका लालन पालन इनकी दादी के द्वारा हुआ। संस्कृत और संगीत में इन्होंने अभीष्ट दक्षता प्राप्त कर ली थी। एक स्त्री पर लट्टू होने की बात इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है ही। उसके पीछे ये गोकुल जा पहुँचे जहाँ विट्ठलनाथ ने अपने सदुपदेश से पुष्टि-मार्ग म दीक्षित किया। उस समय तक इनके हृदय मे वासना के अंकुर थे और वैराग्य की दृढ़ता उत्पन्न नहीं हुई थी, अत इन्हें सूरदास के सत्संग मे रहने के लिए पारसौली भेज दिया गया था। सूरदास ने नन्ददास की तात्कालिक रुचि के अनुसार माधुर्य भक्ति द्वारा ही उनका विरोध करने के लिए रस-रीति के ग्रंथ साहित्य लहरी के पदों का प्रणयन किया था। कहते हैं कि सूरदास ने इन्हें विवाह कर लेने का परामर्श दिया था। फलस्वरूप इन्होंने अपने ग्राम रामपुर म कमला नाम की कन्या से विवाह कर लिया था। इनके एक कृष्णदास नाम का पुत्र भी हुआ।

कुछ काल तक गृहस्थ सुख भोगने के पश्चात् ये विरक्त होकर गोवर्धन पर आकर रहने लगे। इनका देहान्त सं० १६४० में हुआ। यह बड़े विचित्र संयोग और आश्चर्य की बात है कि अष्टछाप के अधिकांश कवियों की मृत्यु सं० १६४०-४२ के बीच हुई।

रचनाएँ—नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-पत्रिका के अनुसार इन्होंने १६ ग्रन्थ तथा कुछ फुटकर पदों की रचना की, जिनमें से इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं— भंवरगीत, रास पंचाध्यायी दशम स्कन्ध भागवत, विरह मंजरी और रस मंजरी। इनमें भी भँवरगीत और रास पंचाध्यायी प्रसिद्ध हैं। सूर और नन्ददास के भँवरगीत का विवेच्य विषय एक ही है किन्तु नन्ददास के भँवरगीत में उपदेश, तर्क और बुद्धितत्त्व की प्रधानता है। एक मित्र की प्रेरणा से इन्होंने रास पंचाध्यायी का निर्माण किया था। यहाँ इन्होंने पाँच अध्यायों में कृष्ण की रास-लीला, कृष्ण का नख शिख वर्णन, गोपियों के विलाप और उपालंभ, और प्रकृति के उन्माद दृश्यों का अत्यन्त भव्य चित्रण किया है। इसका आधार ग्रंथ भागवत ही है।

'रस मंजरी', 'रूप मंजरी" तथा "विरह मंजरी" इनके रीति विषयक ग्रंथ कहे जा सकते हैं। रस मंजरी में रति, नायक और नायिका आदि भेदों का निरूपण है। विरह मंजरी में विरह के अनेक प्रकार से विरह के काव्य शास्त्रीय भेदों का वर्णन है। उन्होंने इन ग्रंथों का निर्माण एक अपने मित्र को रस रीति की शिक्षा देने के लिए किया था क्योंकि इसके जाने बिना रति की आस्वादन-क्षमता आनी दुष्कर है। डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव ने अपने शोध प्रबन्ध भारतीय प्रेमाख्यान काव्य में रूप मंजरी को एक अन्योपदेशिक ग्रंथ कहकर इसमें आध्यात्मिकता का आरोप किया है जो कि हमें सर्वथा अमान्य है। हमारा विश्वास है कि रूप मंजरी में नायक स्वयं नन्ददास हैं और नायिका उनकी प्रमिका है जिसे इन्होंने रसिक मित्र कहा है जिसकी शिक्षा के लिए इन्होंने रीति सम्बन्धी ग्रंथों का प्रणयन किया।

काव्य सौष्ठव—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के पश्चात् नन्ददास का नाम विशेष प्रसिद्ध है। अष्टछाप के कवियों में सिर्फ नन्ददास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने पद-रचना के अतिरिक्त कृष्ण चरित सम्बन्धी खण्ड काव्यों की रचना की और इन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली। कारण, नन्ददास की वृत्ति कथात्मकता में विशेष रमती थी। भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की ओर इन्होंने विशेष जागरूकता से काम लिया है, शब्दों के तो ये कुशल शिल्पी ही हैं और कदाचित् इसीलिए इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—"अन्य कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।" कृष्ण-भक्त कवियों में नन्ददास का नाम शैलीकार के नाते उल्लेखनीय है—"सूरदास की अधिकांश रचना पदों में है, भिन्न शैलियों में कम है। किन्तु नन्ददास की रचना पदों में कम और भिन्न शैलियों में अधिक है।" इन्होंने जायसी और तुलसी की चौपाई-शैली में भी काव्य रचना की है। नन्ददास की काव्य प्रतिभा में मौलिकता की मात्रा विशेष नहीं है। इनके अत्यन्त प्रसिद्ध काव्यों भवरगीत और रास पंचाध्यायी पर भागवत तथा सूरदास का विशेष प्रभाव है।

नन्ददास में भक्ति और शृंगारी कवि के रूपों का सम्मिश्रण है। यहाँ इस विवाद में पड़ना अप्रासंगिक होगा कि वह पहले भक्त हैं या शृंगारी कवि, किन्तु इतना तो निश्चित है कि शृंगारी और भक्ति की वृत्तियाँ दोनों बराबर चलती रही हैं। ब्रज-भाषा के जड़ाव कार्य में नन्ददास निःसन्देह अग्रणी हैं। सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय दिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई पर नन्ददास में ये बातें पूर्ण रूप में पाई जाती हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग से इनकी भाषा में प्रभावशीलता आ गई है। इनकी भाषा की अनुप्रासिकता, चमत्कारकता लाक्षणिकता और चित्रोपमता दर्शनीय है। नन्ददास भक्त, उच्चकोटि के कवि, प्रकांड पण्डित, रीतितत्त्वज्ञ, रसतत्त्वज्ञ, जड़िया और शैलीकार हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्यों की साम्प्रदायिकता अष्टछाप के कवियों में से इनमें सबसे अधिक है। वियोगी हरि के शब्दों में इनकी रास पंचाध्यायी को हिन्दी का गीत गोविन्द कहा जा सकता है।

गोस्वामी हितहरिवंश—जीवन वृत्त—राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म १५५६ में मथुरा से चार मील दूर दक्षिण बाद गाँव में हुआ था। पं० गोपाल प्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सं० १५३० में माना है जो कि ठीक नहीं है। ये जाति से गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदेव मिश्र था और माता का नाम तारावती। हितहरिवंश के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पहले ये मध्व सम्प्रदाय के अनुयायी थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मन्त्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया। वृन्दावन में राधावल्लभ की मूर्ति की स्थापना की और राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। गोस्वामी हितहरिवंश के नाम के पहले हित शब्द उनका उपनाम मात्र नहीं, उनके द्वारा उद्घाटित परम तत्त्व हित (प्रेमतत्त्व) का सूचक है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी इन्हें श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार मानते हैं। ये संस्कृत और भाषा काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे।

रचनाएँ—हित हरिवंश जी ने हिन्दी में केवल चौरासी पद (हित चौरासी) और २७ फुटकर पद रचे हैं। संस्कृत में भी राधा-सुधानिधि तथा यमुनाष्टक उनकी दो रचनाएं हैं। इन सब रचनाओं में राधा और कृष्ण के प्रेम-तत्त्व का सम्यक् उद्-घाटन किया गया है। श्री हितहरिवंश की वाणी का वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण की प्रेम कामभयी लीलाओं का गान करना है। परन्तु जिस रस की दृष्टि से इन्हें चित्रित किया गया है, वह हित जी की वाणी की अपनी वस्तु है। उसका आश्रय लिए बिना राधावल्लभ की रस-रीति का वर्णन सम्यक् रूप से नहीं किया जा सकता है। हित जी ने कृष्ण की प्रगट और अप्रगट दोनों प्रम-लीलाओं का वर्णन किया है जिसे इन्होंने प्रेम रस वृन्दावन रस कहा है। इनके अनुसार प्रेम में मधुकरी वृत्ति उत्तम है। हितहरिवंश की माधुर्यमयी वाणी का प्रभाव तत्कालीन सभी कृष्ण भक्त कवियों पर पड़ा।

काव्य सौष्टव—इतनी अल्प रचना होते हुए भी हितहरिवंश जी उत्तम कोटि के भक्त माने जा सकते हैं। इनकी ब्रज भाषा मे रचित हित चौरासी अत्यन्त सरस और हृदयहारिणी रचना है। ब्रजभाषा की श्री-वृद्धि के प्रसार में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'वास्तव मे स्वय पद रचना करके उत्तम आदर्श उपस्थित करने से भी अधिक हित हरिवंश का महत्त्व उस वातावरण के निर्माण में है जिससे प्रेरणा पाकर कितने ही भक्त और कवि बन गए। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बड़े चुभते पद कहे हैं। सेवक जी, ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बड़ी सुन्दर रचना कर गये हैं। इनके हित चौरासी पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी। वृन्दावनदास ने इनकी स्तुति और वन्दना मे हित जी की सहस्र नामावली और चतुर्भुज दास ने हितजू को मगल' लिखा है। इसी प्रकार हित परमानन्द जी और ब्रज जीवनदास ने इनकी जन्म बधाइयाँ लिखी। इनकी हित चौरासी पर प्रेमदास ने ब्रज भाषा गद्य मे एक अत्यन्त विस्तृत टीका लिखी।

इनके पदो मे भावो की सरसता, सगीत माधुर्य और कलात्मकता, जयदेव, विद्यापति तथा सूरदास के ही काव्यो में उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए उनकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर
तो बिन कुंवर कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर।
गद गद सुर विरहाकुल पुलकित श्रवत विलोचन नीर॥

मीराबाई—जीवन-वृत्त—मीरा का जन्म राठौरो की मेड़तिया शाखा के अन्तर्गत राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह के घर में कुड़की, गांव में सवत् १५५५ के आस-पास हुआ। शैशव मे माता के देहांत हो जाने के कारण इनका पालन पोषण पितामह दादू के द्वारा हुआ जो कि परम वैष्णव भक्त थे। इन्हीं के ससर्ग से मीरा के हृदय मे कृष्ण-भक्ति के सस्कार पड़े जो कि बाद मे माधुर्य-भाव की भक्ति मे विकसित हुए। १२ वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह चित्तौड के महाराणा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज से हुआ, परन्तु कुछ वर्षों के बाद पति के देहान्त हो जाने के कारण कृष्ण की अनन्य अनुरागिणी हो गईं। वह बाल्यकाल से ही गिरधर गोपाल को अपना पति समझती थी। वह साधु सगति, भजन एव कीर्तन में मग्न रहने लगीं। इनके लिए उन्होंने राजमर्यादा लोक-लाज को छोड़ा और राजकुल का अत्यन्त कठोर विरोध भी सहा। स० १६०३ में द्वारिका में इनकी मृत्यु हुई। किंवदन्ती है कि रणछोड जी की मूर्ति ने इन्हें अन्तर्हित कर लिया था—

"अब मिलि बिछुरन नहिं कीजै।"

ऐसा प्रसिद्ध है कि मीरा ने घर वालों के व्यवहार से तंग आकर गोस्वामी तुलसीदास को एक पद लिखकर भेजा था और उनसे परामर्श मांगा था जिसके उत्तर में गोस्वामी जी ने "जाके प्रिय न राम बैदेही" लिखकर भेजा। मीरा के गुरु के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि इन पर सन्त समुदाय और चैतन्य मता-

नुयायी दोनों का प्रभाव पड़ा था। भक्त नाभादास की निम्नस्थ पंक्तियाँ मीरा के जीवन पर पर्याप्त आलोक डालती हैं—

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलि जुगहिं दिखायो,
निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्दिम कीयो,
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो।
भक्ति निसान बजाय के काहू ते नाहिन लजी,
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी।

रचनाएँ—निम्नांकित रचनाएँ इनके नाम से सम्बद्ध बताई जाती हैं—नरसी जी का माहरो, गीत गोविन्द की टीका, मीरानी गरबी, मीरा के पद, राग सोरठ के पद, राग गोविन्द। नरसी जी का माहरो में नरसी मेहता के भाव भरने की कथा का उल्लेख है। गीत गोविन्द की टीका अभी तक अप्राप्य है। राग गोविन्द के सम्बन्ध में अनुमान है कि इन्होंने रचा होगा। राग सोरठ के पद में मीरा, कबीर और नामदेव के पदों का संग्रह है। मीरानी गरबी या गीत के गीत रास मडली के गीतों के समान गाये जाते हैं। मीरा के फुटकर पद कोई २०० के करीब मिले हैं। पुरोहित हरिनारायण जी उनके पदों की संख्या ५०० बताते हैं। मीरा के पद गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि में मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'दास मीरा लाल गिरधर' अथवा "मीरा के प्रभु गिरधर नागर" नाम से अनेक पद बाद में जोड़े जाते रहे हैं। मीरा के अन्य ग्रन्थ या तो मिलते ही नहीं और जो मिलते भी हैं वे अपूर्ण हैं। अतः मीरा के साहित्य के महत्त्व के अंकन के लिए इनके उपलब्ध पदों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

काव्य-सौष्ठव—मीरा भारत के प्रधान भक्तों में तो है ही, साथ-साथ हिन्दी काव्य में एक उच्च स्थान की अधिकारिणी है। उनका काव्य आँसुओं के जल से सिक्त, पल्लवित एवं पुष्पित प्रेम-बेल की मनोहारिणी सुगन्ध से सुवासित है। "काव्य और प्रेम दोनों नारी हृदय की सम्पत्ति है। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुतः नारी का हृदय ही है। प्रेम एवं काव्य संवेदन-अनुभूति मग्न है।" मीराबाई की भक्ति माधुर्य-भाव की है और सचमुच वह इस क्षेत्र में तुलसी और सूर से बढ़ जाती है। तुलसी का दास्य भाव की भक्ति में मर्यादावाद राम की अत्यन्त निकटता में बाधक है। सूर ने अपनी माधुर्य-भाव की भक्ति में गोपी और राधा के माध्यम से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना चाहा है पर मीरा स्वयं राधा बन गई हैं। उनके सांवलिया और उनमें कोई दुराव एवं छिपाव नहीं है। मीरा ने प्रेम के अत्यन्त सजीव एवं अनुभूतिमय चित्र उतारे हैं। उनके पदों में वियोगजन्य दुःख की व्यंजना कोई सुगम नहीं है। उनमें मिलन, उत्सुकता, आशा और प्रतीक्षा से सम्बद्ध पद सभी अनुपम हैं। मीरा के पदों में रहस्यात्मकता है। कारण, माधुर्य भाव की भक्ति में

रहस्यात्मकता का समावेश आवश्यक है, साथ साथ इस पर सन्तो के निर्गुण का भी प्रभाव है। दूसरे इस ढग की उपासना का प्रचार उस समय सूफी लोग भी कर रहे थे। अत उनका सस्कार भी कुछ इन पर अवश्य पड़ा। एक बात का ध्यान इस सम्बन्ध मे रखना होगा कि इनकी शृगारी कविता मे वासना लेश मात्र भी नही है। यह सर्वत्र आध्यात्मिक रग से रगी हुई है। मीरा का काव्य गीति काव्य का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। भले ही इनके गीतों मे सूर जैसी साहित्यिकता नही परन्तु अनुभूति की तीव्रता अवश्य है। लोक गीत होने के कारण मीरा के गीतों में सूरदास के पदों की अपेक्षा साधारणीकरण की मात्रा अधिक है। सूर जैसा काव्योत्कर्ष तो मीरा में नहीं मिलता। शब्द चयन, अलकार विधान, चुभती उक्तियाँ सूर में अधिक हैं, परन्तु मानना पड़ेगा कि हृदय की जो गहराई मीरा में है वह सूर में सर्वत्र उपलब्ध नही होती। मीरा का दर्द दीवानापन उनके काव्य को निराला बना जाता है। प्राय आधुनिक कवयित्री महादेवी वर्मा की तुलना मीरा से की जाती है पर हमारे विचार में महादेवी जी को मीरा जैसी तन्मयता लाने के लिए न जाने कितनी देर तक साधना की अपेक्षा है। मीरा के कुछ पद तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा में। पर सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। मीरा के काव्य में सूर की क्रीडा, तुलसी की दृढ़ता और कबीर की रहस्यात्मकता के साथ साथ प्रेम का ऐसा पुनीत उन्माद था, जो आज भी पाठक के हृदय को पिघला कर नेत्रो के द्वारा अपना महान् प्रभाव प्रत्यक्ष कराता है।

रसखान—रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होने प्रेमवाटिका में अपने आपको शाही खानदान का कहा है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे कुछ भी प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता है। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में जो इनकी एक बनिये के लड़के के प्रति आसक्ति का उल्लेख है, तथा उसमे जो इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ का कृपापात्र शिष्य कहा गया है, इन सारी बातो को आचार्य चन्द्रबली पाडेय ने निराधार ठहराया है। उनका कहना है कि यह सब कुछ अन्त साक्ष्य से मेल नहीं खाता है। पाडेय जी ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि रसखान न तो विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न उनका कृष्ण-काव्य पुष्टिमार्ग की भक्ति पद्धति पर लिखा गया है। इनके काव्य में सूफियो के प्रेम की पीर की प्रधानता मिली है। रसखान ने प्रेम पीर का कृष्ण को मूत अवलबन बना दिया है। इनके विषय म प्रचलित किवदन्तियो से इतना निष्कष निकाला जा सकता है कि रसखान एक रसिक जीव थे और उनका लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में बदला गया था। पाडेय जी ने इनकी भक्ति के सम्बन्धी में लिखा है कि रसखान नारद भक्त थे, वल्लभी नही। प्रेम उनके जीवन और काव्य का मूल आधार है—

आनन्द अनुभव होत नहीं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द कै, ब्रह्मानन्द बखान॥

रचनायें—इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें 'प्रेमवाटिका' और सुजान रसखान'

प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रथम पुस्तक में प्रेम विषयक दोहों का संग्रह है और दूसरी में कवित्त-सवैया छंद में एकनिष्ठ प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना की है। इन्होंने कृष्ण भक्त कवियों के समान गीति काव्य का आश्रय न लेकर कवित्त सवैया को भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है।

काव्य सौष्ठव—रसखान सचमुच रससान हैं। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार-सम्बन्धी कवित्त सवैयों को ही रसखान कहने लगे—जैसे कोई रसखान सुनाओ।" सूफी काव्य के दीदार और दीवाना की भाँति विलोकना और बिकाना इनके काव्य की पृष्ठभूमि में काम करते हैं। झाँकना और मन्द मन्द मधुर मुस्कान का भी इनके काव्य में महत्त्वपूर्ण योग है। सच तो यह है कि रसखान ने ब्रजलीला को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना विलोकन और मुस्कान को। इन्होंने संयोग और वियोग शृंगार के दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन किया है। रसखान का मन जितना किशोर लीला में रमा है उतना बाल लीला में नहीं। हाँ, दान लीला में भी रसखान का मन खूब रमा है। रास और चीरहरण-लीला को उन्होंने चलता-सा बना दिया है। बाँसुरी के चमत्कार और कुब्जा पर इनकी पैनी दृष्टि पड़ी है। ब्रज भूमि सम्बन्धी पद काफी सरस बन पड़े हैं। रसखान में केवल रस ही नहीं, कला भी है। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडम्बरयुक्त है। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानन्द की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। रसखान अलंकारों और छन्दों के अनावश्यक आडम्बर में नहीं फँसे। कदाचित् ऐसे सहृदय कवियों के प्रेम विह्वल भक्ति के उद्गारों को लक्ष्य रखकर भारतेन्दु जी ने कहा था—

> 'इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।"

रसखान की कविता का उद्घोष है—

> ऐसे ही भये तो कहा कीन्ह रसखान जु पै।
> चित्त दै न कीन्हीं प्रीत पीत पटवारे सों॥

कृष्ण भक्ति काव्य के प्रेम में स्थूलता का समावेश

जनमन-कलुष निकन्दिनी, कृष्ण-भक्ति-काव्य धारा-मन्दाकिनी में, क्रमशः शैवाल और कर्दम एकत्र होने लगे। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में नवनीत प्रिय कृष्ण की उपासना की पद्धति प्रचलित थी। उसमें वात्सल्य और सख्य भावों का प्राधान्य था, किन्तु आगे चलकर राधावल्लभ गोपी प्रिय कृष्ण के शृंगारी पदों का उन्मुक्त गान होने लगा। पुष्टि मार्ग में राधा की उपासना को विशेष महत्व नहीं था किन्तु वल्लभ के जीवन के उत्तरकाल में और विट्ठलनाथ जी के समय में चैतन्य, राधावल्लभी दासी तथा राधा स्वामी सम्प्रदायों के प्रभाव स्वरूप राधा और कृष्ण के प्रणय जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव-भंगियों की खुलकर अभिव्यक्ति होने लगी।

चैतन्य सम्प्रदाय मे परकीया भाव की भक्ति प्रचलित थी। यह परकीया भाव केवल भक्ति मत्र तक ही सीमित नहीं था, बल्कि किंवदन्तियों के अनुसार चैतन्य और चडीदास ने निज व्यावसायिक जीवन मे भी इस भाव का अनुभव किया था। चैतन्य महाप्रभु आत्मविभोर होकर जयदेव विद्यापति और चडीदास के पदो को गाया करते थे। जयदेव और विद्यापति के पदो मे विलास, कला, हरि-स्मरण, सगीत और काव्य-कलाओ का अद्भुत मिश्रण था। हमारे विचार मे जयदेव और विद्यापति मे राधा और कृष्ण के प्रेमी जीवन मे नायक और नायिका के विविध कायकलापों मे रस रीतिवाद (काम केलियो) का प्रतिपादन प्रधान हो गया और भक्ति का स्वर अत्यन्त क्षीण पड गया। इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के गौडीय सम्प्रदाय मे शृगार रस के दिव्यीकरण के अनेक प्रयत्न हुए। भक्ति रसामृत सिन्धु तथा 'उज्ज्वल नील मणि' इस प्रयत्न के साक्षात् निर्देशन हैं। यह सब कुछ राधा और कृष्ण के प्रणय-जीवन के नाना कृत्यो का उन्मुक्त गान करने के व्याज मे हुआ। उज्ज्वल नीलमणि मे राधा कृष्णाश्रित शृगार को मधुर या उज्ज्वल रस की सज्ञा स अभिहित किया गया है। उज्ज्वल नील मणि के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि तथाकथित मधुर रस उज्ज्वल रस तथा भक्ति रस और भरत मुनि प्रतिपादित शृगार रस में सात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं हैं। पहले के रस-शास्त्रियों ने भगवदाश्रित रति को भाव के अन्तर्गत रखा था किन्तु उज्ज्वल नीलमणि कार रूप गोस्वामी ने राधाकृष्णाश्रित रति को शृगार रस क समान स्वतन्त्र रस प्रतिष्ठित किया। इन दोनों रसो मे नाम-भेद के अतिरिक्त और कोई भी मौलिक भेद नहीं है।

कुछ विद्वानो ने शृ गार रस में वर्णित रति को जडोन्मुख कह कर इसे काम-प्रधान और मधुर रस मे रति को चिन्दुन्मुख बतला कर इसे अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेम का रूप प्रदान करना चाहा है। इस विषय में हमारा यह विनम्र निवेदन है कि कृष्ण भक्ति-काव्य मे आलबन और आश्रय रूप मे गृहीत राधा और कृष्ण मे चिन्दुन्मुखता का कोई चिन्ह नही है। मधुर रस क अन्तर्गत शृगार रस के समस्त स्थूल काय व्यापारो—सभोग, आलिगन, चुम्बन, अधरपान, नख क्षत, नायक-नायिका समागम तथा क्रीडाजन्य रसानुभूति आदि का विस्तृत उल्लेख मिलता है। तथाकथित मधुर या उज्ज्वल रस में भी शृगार रस के समान नायक के दक्षिण, अनुकूल, शठ और धृष्टादिभेद, नायिकाओ के सभोग-दुखिता, खडिता आदि भेद, नर्म सचिवों नाना भूमिकाओं तथा अनेक विध प्रेमविहारो की चर्चा मिलती है। काम के परिष्कृती-करण और सुसस्कृतीकरण की प्रक्रिया यदि कहीं मध्यकालीन साहित्य मे उपलब्ध होती है तो वह कबीर और मीरा आदि मे है। वहाँ रति की चिदुन्मुखता भले ही हो किन्तु कृष्ण-भक्ति काव्य के रति के उन्मुक्त वर्णनों, जहाँ प्राकृतिकता और कलात्मकता म काम नहीं लिया है, मे विलास की मात्रा अधिक है उसमे कोई अलौकिकता या आध्यात्मिकता नहीं। ऐसे प्रसगो के आध्यात्मिक अर्थ लगाना कृष्ण

भक्ति काव्य के प्रणय-चित्रण के सही मर्म को भ्रम-कुहेलिका मे प्रावृत करने के सिवाय और कुछ भी नही होता। मधुर रस एक मानात्मक कवच था जिसे पहन कर कृष्ण-भक्त कवि ने राधा कृष्ण के प्रणय-जीवन के स्थूल से स्थूल कार्यकलापों को निधड़क रूप से कह दिया। नन्ददास के शब्दों में—

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव को निधरक बरनों ताहि॥

कृष्ण-भक्ति-काव्यकारो का परिचय साक्षात् रूप से जयदेव और विद्यापति से सम्भावित है और यदि ऐसा न भी हुआ हो, तो चैतन्य के माध्यम से जयदेव और विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा। विट्ठलनाथ के समय मे वृन्दावन बगालियो का उपनिवेश सा बन गया था। चैतन्य स्वय वृन्दावन आये थे और उनके आने पर व्रज के एक छोर से दूसरे छोर तक जयदेव, विद्यापति, चडीदास तथा उमापति के पदों की सगीत लहर गूँज उठी। वल्लभ ने माधवेन्द्र पुरी को गोवर्द्धन पूजा का काम सौंपा था। उस समय कृष्ण दास मन्दिर के अधिकारी थे। तब बगाली पुजारी पूजा का काम किया करते थे। उनके द्वारा भजन और कीर्तन मे गाये गये। विद्यापति आदि के पदो से कृष्ण-भक्त-कवियो का परिचय होना सुनिश्चित है। बगाली अर्चन-पद्धति मे सेवा, भजन, मगल, शयन, भोग आदि का विधान था। इस पद्धति का प्रभाव पुष्टिमार्गी, राधावल्लभी, सखी तथा राधा स्वामी सब सम्प्रदायो पर पड़ा। पूजन-पद्धति आगे चलकर अपनी मूलमता का परिहार करती हुई विकृत हो गई और इसका अनिष्ट प्रभाव कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायो पर पड़ना अवश्यम्भावी था।

कृष्ण-भक्ति-काव्य के शृगार मे स्थूलता का एक महत्वपूर्ण कारण श्रीनाथ जी के मन्दिर का विलासी वातावरण है। मन्दिरो और मठों का ऐश्वर्यप्रधान विलासी वातावरण तत्कालीन राजा नवाबो को ईर्ष्या का विषय बन गया था। एक ओर तो गोस्वामी विट्ठलनाथ ने शृगार-रस-मडन लिखकर राधाकृष्ण की शृगारी लीलाओं के चित्रण के लिए द्वार खोल दिया, दूसरी ओर मन्दिर मे ठाकुर जी की वैभव वृद्धि के लिए सारी व्यवस्थायें जुटाई जाने लगी। ठाकुर जी के दुग्धपान के लिए सैकड़ो गायें रखी गई, बाग बगीचा के बसने के लिए हाथी, घोड़ों और पालकियो की व्यवस्था की जाने लगी, ठाकुर जी के मनोविनोदार्थ प्रसिद्ध रूपवती नर्तकियो और वेश्याओं को निमन्त्रित किया जाने लगा। एक ओर सेवक सेविकाओं को वहाँ सम्बन्ध की स्थापना के लिए उन्हें ठाकुर जी को सर्वात्मा समर्पण का उपदेश दिया गया तो दूसरी ओर गोस्वामियों को ठाकुर जी का प्रतिरूप घोषित कर उन्हें भी सेविकाओं के भोग का अधिकारी बना दिया गया। वैसे नायक-नायिका-भेद का द्वार जयदेव, विद्यापति तथा रूपगोस्वामी खोल चुके थे। अब कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र से राधा और गोपियो के खडिता, सभोग-दुखिता, वचिता आदि के भेदो के उदाहरण की सृष्टि की जाने लगी। शास्त्र की घोर अवज्ञा की दिशा दी जाने लगी, जिनका वह मनमाना क्षेत्र मे स्वच्छतापूर्वक प्रयोग कर सकें। ऐसे ऐश्वर्य प्रधान विलासी वातावरण मे

कृष्ण भक्ति काव्य के शृंगार में स्थूलता का आ जाना स्वाभाविक था। औरों की बात ही क्या, भक्तवर सूरदास और हित हरिवंश तक के कृष्ण काक कला प्रवीण बन गये और विपरीत रति का आनन्द लने लगे। ऐसी दशा में सूरदास का साहित्य लहरी और नन्ददास का रसमजरी तथा विरह मजरी आदि नायिका भेद और शृंगार-रस सम्बन्धी ग्रथों को बनाना आश्चर्यजनक नहीं है। कुछ विद्वानों ने नन्ददास को रूप मजरी को अन्यापदेशिक ग्रथ कहा है जो कि उचित नहीं है। रूप मजरी का नायक स्वय नन्ददास है और रूप मजरी कोई प्रेमिका या सेविका है जिसके प्रति रसिक नन्ददास आकर्षित हुए थे। इन पर आत्मा और परमात्मा का आरोप करना निरर्थक है।

कृष्ण भक्ति काव्य में राधावल्लभ हरिदासी तथा राधा सम्प्रदायो के प्रभाव परिणाम-स्वरूप राधा-कृष्ण के कुंज विहारों, काम-केलियो का अमर्याद वर्णन होने लगा। अब भक्त कवि सखी और दासी रूप में उन गुप्त लीलाओ को निहारने लगा। *फलत कृष्ण-भक्ति काव्य में गुह्यता और स्थूल शृंगारिकता का अबोध समावेश होने लगा।* निःसन्देह दार्शनिक दृष्टि से ऐसा हुआ तो लौकिक वासनाओ के उन्नयन के लिए, किन्तु हुई उनकी विकृत विवृति ही। भारतीय धर्म साधना मे बोद्धो तान्त्रिकों, सिद्धों आदि में काम के उदात्तीकरण के लिए भरसक प्रयत्न हुए किन्तु काम अपने अदम्य स्वभाव के कारण परिष्कृत या दमित न होकर अपने उग्र रूप में प्रगट हुआ। कृष्ण भक्ति-काव्य में भी वासनाओं के उन्नयन की कहानी की भी यही दशा समझनी चाहिए। यह दशा केवल कृष्ण-भक्ति-काव्य की ही नहीं हुई बल्कि राम-भक्ति-काव्य में भी मधुर भाव के प्रवेश से मर्यादापुरुषोत्तम राम सरयू तट-बिहारी, छैल छबीले नायक के रूप में चित्रित होने लगे।

भक्ति काल : एक स्वर्ण युग

भक्ति काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से निश्चित रूप से उत्तम है। हिन्दी-साहित्य का आदि काल और रीतिकाल दो इसकी प्रतिद्वन्द्विता में बिल्कुल नहीं टहर सकते। हाँ, आधुनिक काल का साहित्य अपनी व्यापकता और विविधता की दृष्टि से कुछ अर्थों में भक्ति काल से आगे निकल जाता है। परन्तु अनुभूति की गहनता और भावप्रवणता के क्षेत्र में वह भी हिन्दी के भक्ति-साहित्य की समकक्षता में नहीं आ सकता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दो में 'समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।" यह साहित्य एक महती साधना और प्रेमोल्लास का देश है, जहाँ जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुंठाएँ घुल जाती हैं। भारतीय जनता भक्ति-साहित्य के श्रवण श्रावण से उस युग मे आशान्वित होकर सान्त्वना प्राप्त करती रही है, आज भी उसे तृप्ति मिल रही है। भविष्य मे भी यही साहित्य उसके जीवन का सबल बना रहेगा। भक्ति-काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है

वहाँ उसमें उच्च कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। रस की दृष्टि से भी यह काव्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह काव्य एक साथ लोक तथा परलोक का स्पर्श करता है। यह साहित्य परम भक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बरविहीन एक सुचितापूर्ण सरल जीवन की सरल झाँकी है।" डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली थी उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति-युग कहते हैं। निश्चित ही वह हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण युग था।" आगे चलकर वे लिखते हैं— "हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्ष की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाए हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हित हरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल हैं।" यह साहित्य एकदम अनुपम और विलक्षण है। यह साहित्य कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण, काव्य सौष्ठव, भावपक्ष और कलापक्ष, संगीत, भारतीय संस्कृति और सभ्यता, भिन्न-भिन्न काव्य रूपों, लोक मंगल, लोकरंजन और भाषा सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम बन पड़ा है।

काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण—भक्ति काव्य के साहित्यकार का कविता-सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। उसने अपनी वाणी का उपयोग प्राकृत जन-गुणगान में नहीं किया। इनका काव्य आदि काल और रीति काल के कवि के समान राज्याश्रय में पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हुआ, बल्कि आत्म प्रेरणा का फल है अतः यह स्वान्तः सुखाय न होकर स्वान्तः सुखाय अथवा सर्वान्तः सुखाय सिद्ध हुआ। भक्ति काल के कलाकार को न तो सीकरी से कोई सरोकार था और न ही किसी नरेश की फरमाइश की परवाह, उसका साहित्य निश्छल आत्माभिव्यक्ति है, जिसमें सत्य, उल्लास, आनन्द और युगनिर्माणकारिणी प्रेरणा है।

भावपक्ष और कलापक्ष—भक्ति काव्य में मर्त्य और अमर्त्य लोक का एक सुखद संयोग है। उसमें भावपक्ष और कलापक्ष परस्पर इतने गुम्फित गये हैं कि उन्हें पृथक् करना सहज व्यापार नहीं है। भक्ति काव्य का अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष सन्तुलित, सशक्त और परस्पर पोषक है। कविता से तुलसी की शोभा नहीं बढ़ी, प्रत्युत् तुलसी के द्वारा कविता महिमा सम्पन्न हुई है। सूर का काव्य भक्ति कविता और संगीत की सुन्दर त्रिवेणी है। कबीर, जायसी, मीरा, रसखान, हित हरिवंश, नन्ददास और नानक की कलाकृतियों पर हिन्दी साहित्य-विश्व-साहित्य के सम्मुख गर्व कर सकता है। भक्ति-काव्य विश्व-जनीन एवं शाश्वत काव्य है। रीति.

काल के साहित्य का भावपक्ष की अपेक्षा शिथिल और कलापक्ष की अपेक्षा अधिक सबल है। रीतिकाल में अलंकरण तथा प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का प्राधान्य है अतः प्रायः उसमें आत्मा की सहज स्फूर्ति और प्राणों के स्पन्दन का अभाव है। सीमित परिधि में नायिका भेद की रूढ़ियों तथा आलंकारिक चमत्कार का प्रदर्शन ही रीति कवि का उद्देश्य बन गया था। उसमें वह व्यापकता नहीं जो भक्ति-काव्य में उपलब्ध होती है। इसमें कविता के बहाने राधा-कान्ह का स्मरण होता रहा और साथ-साथ शास्त्र कर्म के निर्वाह की भी लालसा बनी रही। परिणामतः कला के सहज उद्रेक से रीति-काव्य शून्य हो रहा। अस्तु ! अपवाद तो सर्वत्र मौजूद होते ही हैं। आदिकाल की प्रायः रचनायें संदिग्ध और अप्रामाणिक हैं। ऐसी स्थिति में उनके भावपक्ष और कलापक्ष के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कह सकना कठिन है। किन्तु एक बात तो निश्चित है कि आदिकाल का साहित्य प्रामाणिक होने की दशा में भी भक्ति-काव्य की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति—भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता, आचार और विचार सभी कुछ भक्ति-काव्य के सुदृढ़ एवं सुन्दर कलेवर में सुरक्षित हैं। जैसे राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की स्वतन्त्रता प्राप्ति के निमित्त किए आन्दोलन का सही इतिहास जानने के लिए मुन्शी प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के सम्यक् अवबोध के लिए भक्ति-काव्य का अवलोकन अनिवार्य है। इसमें सगुण-निर्गुण भक्ति, योग दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और आदर्श जीवन के भव्य चित्र सन्निहित हैं। तुलसी के रामचरितमानस का उत्तरी भारत में वही स्थान है जो यूरोप में बाइबिल का। आधुनिक भारतीय धर्म और संस्कृति तुलसी निर्मित है। तुलसी का मानस नाना पुराण-निगमागम का सार है। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और कर्म की समन्वयात्मक त्रिवेणी से मुमूर्षु राष्ट्र के शरीर में अमर प्राणों का संचार किया। भारत के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनके किसान भी दूसरे देशों के नेताओं से अधिक सुसंस्कृत हैं, यदि यह सत्य है तो इसका समूचा श्रेय प्रातः स्मरणीय तुलसी को ही है। भक्ति काव्य में ऐसी धार्मिक भावनाओं का समावेश है जिनका मुसलमानी धर्म से कोई विरोध नहीं बल्कि उसमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व सन्निहित हैं। मेरे विचार में भक्ति काल का समस्त साहित्य समन्वय की विराट चेष्टा है। आदिकाल के साहित्य में युग पुरुषों का चित्रण इतना अतिरंजनापूर्ण है कि वे इतिहास के व्यक्ति न रहकर कोरे काव्यगत पात्र रह गये हैं। रीतिकाल के कवि ने कविता के ब्याज से राधा-कृष्ण का स्मरण किया, किन्तु राधा-कृष्ण साधारण नायिका और नायक से ऊपर नहीं उठ सके। उसने राधा और कृष्ण के नाम पर मानसिक फफोले फोड़े जिससे अजस्र वासना की धारा बही। उसने अपनी सारी शक्ति-नायिका के कच और कुच के महीन से महीन चित्र उतारने में लगा दी। "तुलसी के राम और सीता तो अलौकिक और आदर्श व्यक्ति हैं ही, सूर, नन्ददास आदि के कृष्ण तथा राधा भी समग्र रूप में रीति-

कालीन राधा-कृष्ण के समान असयत नहीं हैं। वे पतित पावन बहुत अधिक हैं और लीला-विलासी बहुत कम। कुल मिलाकर भक्ति-कालीन साहित्य तत्कालीन जनता का उन्नायक, प्रेरक एव उद्धर्ता है, तथा भारतीय सस्कृति और आदर्श का सशक्त उपदेष्टा है, वह राम, श्याम-सुन्दर, गिरधर-गोपाल, अलख निरजन और एक ओंकार का स्मारक है, जो आज भी हिन्दू जन-जीवन के लिए प्रात स्मरणीय है।"

सगीत—भक्तिकाल मे भाषा और भाव, काव्य और सगीत का मणि-काचन योग है। काव्य मे सगीतात्मकता के सन्निवेश के लिए जिस आत्म-विश्वास, तीव्रानुभूति, सहज स्फूर्ति और अन्त प्रेरणा की आवश्यकता होती है, भक्त कवि मे वह पर्याप्त मात्रा मे थी। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श साहित्य मे गीतिकाव्य का निर्माण पहले से हो चुका था किन्तु गीति की अवतारणा हिन्दी मे सर्वप्रथम भक्ति काव्य मे हुई जो कि परवर्ती रीतिकाल में प्राय लुप्त हो गई, क्योकि रीतिकवि मे गीति अपेक्षित आत्म-विश्वासादि आवश्यक उपकरणों की कमी थी। सूर, मीरा, तुलसी, कबीर, परमानन्ददास और नानक के पद भक्त, साहित्य रसिक और गायक सबके हृदयों और कंठों में आज तक रहे हैं और रहेगे। कौन है जो सूर की कविता को सुनकर झूमने नहीं लगता और दरद-दीवानी मीरा के पदों को सुनकर भाव-विह्वल और मस्त न होता होगा।

काव्य रूप—काव्य-रूपों की विविधता की दृष्टि से भी भक्तिकाल काफी समृद्ध है। इसमें प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य, सूक्ति-काव्य, सगीत-काव्य, गेय, नाटक, कथा-काव्य, जीवन-चरित्र, गद्य-काव्य और उपदेश काव्य सभी कुछ उपलब्ध होता है। काव्य-रूपों की विविधता की दृष्टि से आधुनिक काल नि सन्देह भक्तिकाल से उत्कृष्ट है, पर जहाँ तक आदि काल और रीतिकाल का प्रश्न है, वे भक्ति काव्य के सम्मुख इस दिशा मे नगण्य हैं।

भाषा—अवधी और ब्रजभाषा दोनों ही भक्ति-काव्य में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तुलसी के द्वारा अवधी का खूब परिमार्जन और परिष्करण हुआ, तो दूसरी ओर ब्रजभाषा सूर और नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के द्वारा सुव्यवस्थित और सुसस्कृत हुई। उसकी पाचन शक्ति और व्यापकता मे अपूर्व उन्नति हुई। यह ठीक है कि भक्ति-काव्य में ब्रजभाषा के अपेक्षित व्याकरण का समस्त रूप तैयार न हो सका, किन्तु रीतिकाल में प्रयुक्त ब्रज भाषा की अपेक्षा उसका रूप साधु था। रीति काल मे ब्रज भाषा के साथ खिलवाड़ हुआ और शब्दों की कलाबाजी के कारण उसका रूप विकृत हो गया। आदि काल की भाषा संक्रमण काल की भाषा है।

लोकरजन एव लोकरक्षण—निर्गुणवादी कबीर तथा जायसी ने अपने-अपने माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम, धार्मिक एव सास्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किया। तुलसी के राम मे शील, शक्ति और सौन्दर्य का सुखद समन्वय है। सूर के कृष्ण में सुन्दरता की प्रधानता है। तुलसी ने जहाँ मृतप्राय हिन्दू राष्ट्र की धमनियों म नव-

निर्माण के नवीन रक्त का सचार किया वहाँ सूर के जीवन मे सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन करके जीवन के प्रति आसक्ति और आस्था को प्रतिष्ठित किया। भक्ति काव्य जहाँ एक ओर परलोक की ओर झाँकता है वहाँ दूसरी ओर इस लोक को भी पैनी दृष्टि से देखता है। भक्ति काव्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की बुभुक्षा को शान्त करता है। हृदय और मन के लिए उच्च कोटि का काव्य सौन्दर्य और धार्मिकता अपेक्षित है और आत्मा की तृप्ति के लिए आध्यात्मिकता। ये सभी वस्तुएँ भक्ति काव्य मे हैं। सचमुच भक्ति काव्य मर्त्य और अमर्त्य का एक अनूठा सोहाग है।

सक्षप मे यह कहा जा सकता है कि विचारो की उत्तमता, भावनाओ और अनुभूतियो की प्रकृष्टता, काव्य-सम्बन्धी उद्देश्य और दृष्टिकोण की उदारता कला-पक्ष और भावपक्ष की उच्चता, भावनाओ की मधुरता, सगीत की आस्वादनीयता काव्यात्मक रूपों, शैलियो तथा भाषाओ की विविधता, सहज रसनीयता और भारतीय सस्कृति की भास्वरता आदि की दृष्टि से भक्ति कालीन साहित्य अतुलनीय है। ऐसा वरिष्ठ साहित्य किसी देश को बड़े सौभाग्य से ही रिक्थ में प्राप्त हुआ करता है। भक्ति साहित्य के पीछे एक बलवती साधना है अतएव उसका साध्य उच्च अभिनन्दनीय तथा परम रमणीय है। किन्तु भक्ति साहित्य की कतिपय परिसीमाएँ भी हैं। उसने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को इतना अधिक महत्त्व दे दिया कि उसका भौतिक पक्ष उपेक्षणीय रह गया। इसके अतिरिक्त इसमे गद्य-काव्य के नाना रूपो— उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना और एकाकी आदि का सर्वथा अभाव है। अत इसमें साहित्य के नाना रूपो की विविधता और व्यापकता नही आ सकी। कविता-क्षेत्र मे नि सन्देह भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है किन्तु गद्य और पद्य दोनो की उच्चता, गहनता और व्यापकता की सामूहिक दृष्टि से आधुनिक काल प्रकृष्ट है।

भक्ति काल में रचित गद्य साहित्य

भक्ति काल में रचित गद्य साहित्य भाषा, शैली, विषय एव सांस्कृतिक अध्ययन आदि अनेक दृष्टियो से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस युग का गद्य आधुनिक युग के गद्य की भूमिका प्रस्तुत करता है। इस काल मे रचित ललित गद्य मात्रा मे कम है और असाहित्यिक (अललित) गद्य ग्रन्थों की सख्या भी कम है। कई ग्रन्थो का आकार दो-तीन पृष्ठो तक सीमित है और कई ग्रन्थो का आकार यथेष्ट है। इस युग में रचित हिन्दी गद्य हिन्दी की अनेक विभाषाओ—ब्रज राजस्थानी खडी, भाषी तथा दक्खिनी हिन्दी—म उपलब्ध होता है। ललित गद्य के लेखन मे कथा, बात, वर्णन, चरित्र और वचनिका आदि गद्य रूप व्यवहृत हुए जबकि अललित गद्य मे गुर्वावली, पट्टावली, वशावली, प्रश्नोत्तर, वचनामृत, पत्र और गोसट आदि रूपो का प्रयोग किया गया है। व्याख्या एव अनुवाद आदि के अमौलिक गद्य लेखन मे "बालावबोध, वृत्ति, सबपूरि,

टवा, टिप्पण टीका, तर्जुमा और तफसीर आदि अनेक रूप प्रयुक्त हुए हैं।

भक्तिकालीन गद्य के वर्ण्य विषय रहे हैं – धर्म, दर्शन, अध्यात्म, चिकित्सा, ज्योतिष, भूगोल, शकुन शास्त्र, व्याकरण और गणित। टीकाओं और टिप्पणियों के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत तथा फारसी भाषा के अनेक ग्रन्थों का गद्यानुवाद राजस्थानी, ब्रजभाषा और दक्खिनी हिन्दी में हुआ।

ब्रज-भाषा-गद्य—ब्रज भाषा गद्य में धर्म, अध्यात्म, दर्शन, भूगोल, ज्योतिष इतिहास, गणित, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि विषयों का प्रतिपादन मिलता है। यह गद्य मुख्यतः चार रूपों में प्राप्त होता है—मौलिक, अनूदित, टीकात्मक तथा पद्य प्रधान। मौलिक गद्य तत्कालीन कृष्ण भक्ति के नाना सम्प्रदायों के वचनामृतों, वार्ता ग्रन्थों, धार्मिक व सैद्धान्तिक रचनाओं, दर्शन ग्रन्थों, वैद्यक तथा ज्योतिष आदि उपयोगी विषयों, पत्रों, शिलालेखों तथा अन्य कागज पत्रों के रूप में प्राप्त होता है। व्याख्यात्मक गद्य टीका-टिप्पण आदि के रूप में उपलब्ध होता है।

ब्रज भाषा-गद्य परम्परा में प्राप्त गोरख पन्थी ग्रन्थों के गद्य रूप और शैली को देखकर उन्हें सत्रहवीं शती से पहले का नहीं कहा जा सकता। वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ के नामों से युक्त अनेक ब्रजभाषा गद्य ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है किन्तु उक्त दोनों धर्माचार्यों ने ब्रजभाषा में न लिखकर संस्कृत में लिखा। अतः उनके नामों से सम्बद्ध ब्रजभाषा-गद्यमय ग्रन्थों को उनके अनुयायियों ने परवर्ती काल में लिखा होगा जो कि भाषा शैली के आधार पर अठारहवीं शती के प्रतीत होते हैं। यही दशा अष्टछापी कवि नन्ददास के नाम से प्रसिद्ध "नासिकेत पुराण भाषा" की है। इस काल की प्रमुख ब्रजभाषा गद्य रचनाएं हैं—ध्रुवदास कृत सिद्धान्त विचार, नाभादास कृत अष्टयाम, वैकुण्ठमणि शुक्ल कृत वैशाख महातम और अग्रहण महातम, विट्ठलनाथ तथा गोकुलनाथ के शिष्यों द्वारा लिखित वचनामृत आदि। इसके अतिरिक्त तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य का एक शाही इश्तिहार, सती समाधिलेख व चिट्ठियाँ भी प्राप्त हुई हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के वार्ता साहित्य के अन्तर्गत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' विशेष उल्लेखनीय है। पुष्टि सम्प्रदाय के सेवकों द्वारा निबद्ध वचनामृत ब्रज-भाषा के गद्य के रूप तथा इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। टीका ग्रन्थों में हित चौरासी पर रसिकलाल की 'हित सम्बोधिनी' गद्य पद्यमयी टीका उल्लेखनीय है। पृथ्वीराज रासो, केशव की रसिक प्रिया तथा कवि प्रिया पर भी टिप्पणी परक गद्यांश १७ शती में लिखे गये।

खड़ी बोली गद्य—उत्तर भारत में खड़ी बोली के गद्य में निर्मित रचनाएँ १७ वीं शती में प्रमाणिक रूप में मिलने लगती हैं। जटमल द्वारा रचित 'गोरा बादल की कथा' को इस विषय की सर्वप्रथम रचना स्वीकार किया जा सकता है। गंग कवि द्वारा रचित बताई जाने वाली 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' तथा सिद्ध कुमरिया द्वारा लिखी गई "योगस्याम मुद्रा टिप्पण" परवर्ती रचनाएँ हैं। 'कुतुब शतक', 'मौला पुराण', 'गणेश गोसठ' तथा 'पाथी सधु सार' ये चारों रचनाएँ निश्चित रूप से रीति

काल मे पूर्ण लिखित हैं। इनमे से 'गणेश गोसट' तथा 'नोगलु पुरान' का साहित्यिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही है। इनमे कुतुब शत (कुतुबुद्दीन शतक) एक कथात्मक वर्णनात्मक रचना है। 'पोथी-सच खड' मे व्याख्या सहित नानक की जीवनी है। तत्कालीन जन-भाषा के अध्ययन की दृष्टि से उक्त दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओ के अतिरिक्त नव बोली छन्द, भव भाषा, सकुनावली महादेव-गोरख गुष्ठि गोरक्ष शतम टिप्पण आदि कुछ और खडी बोली गद्य की रचनाएँ मिलती हैं, जो कि साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही हैं।

दक्खिनी गद्य—उत्तरी भारत मे जहाँ हिन्दी मे साहित्य का सृजन हुआ वहाँ दक्षिणी भारत मे भी हिन्दी साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया बराबर चलती रही। इस विषय मे राहुल सांकृत्यायन की "दक्खिनी हिन्दी काव्य धारा" पुस्तक अवलोकनीय है। दक्खिनी हिन्दी का साहित्य सूफी तथा इस्लामी सन्तों द्वारा लिखा गया है। यह साहित्य प्राय प्रेमाख्यानात्मक धार्मिक और उपदेश परक है। दक्खिनी हिन्दी की प्राचीनतम गद्य रचना गेसूद राजकृत 'मेराजुल आशिकीन' है, जो १५ वी शती की न होकर पर्याप्त परवर्ती मालूम पड़ती है। गेसूद राज बन्दानवाज के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ रचनाएँ हैं—हिदायतनामा, शिकारनामा और तर्जुमा वजूदुल आरिफीन। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ लेखकों की कतिपय रचनाएँ हैं— कल्मितुल-हकायक, अहका मुस्सलात, वजही का सबरस तथा तफसीर वहावी। क्रमश. इनके विषय हैं—सूफी सिद्धान्त, इस्लाम, अन्योक्ति पद्धति की सूफी कथा तथा कुरान की व्याख्या। सब रस का गद्य साहित्यिक और महत्त्वपूर्ण है।

राजस्थानी-गद्य—हिन्दी के परिवार की भाषाओं मे गद्य का सर्वप्रथम विकास राजस्थानी में प्राप्त होता है। इसमें ईसा की तेरहवीं शती में गद्य-लेखन प्रारम्भ हो गया था। राजस्थानी की विभाषाओ मे केवल मारवाडी मे उपलब्ध गद्य साहित्य विषय तथा शैली की दृष्टि से समृद्ध है। इसमें धार्मिक, इतिहास विषयक, व्यावहारिक चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, कामशास्त्र, काव्य शास्त्र तथा जन्त्र-मन्त्र आदि विषयो में वर्णनात्मक या कथात्मक ललित गद्य मिलता है। इसके प्रमुख गद्य रूप हैं—कथा, वचनिका, चरित्र, वर्णन गुर्वाली, पत्र, बालावबोध, टबा तथा अवचूरि। इसकी कतिपय गद्य रचनाएँ आदि काल की सीमा मे आती हैं। राजस्थानी मे रचित भक्ति कालीन गद्य की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—तत्त्व विचार प्रकरण, बालावबोध, तपोगच्छ गुर्वाली, ये तीनो रचनाएँ जैन धर्म से सम्बन्ध रखती हैं। उपदेश माला, शीलोपदेश माला, योग शास्त्र और षष्टिशतक भी धार्मिक रचनाएँ हैं। साहित्यिक दृष्टि से माणिक्य सुन्दर सूरि कृत—'पृथ्वीचन्द चरित्र' तथा अचलदास लिखित 'वचनिका' विशेष उल्लेखनीय है। इन रचनाओ के अतिरिक्त "आदिनाथ चरित्र, कलिकाचार्य कथा, श्रावक व्रतादि अतिचार, सिद्धान्त सारोद्धार, प्रश्नोत्तर ग्रन्थ, गणित सार, मुग्धावबोध मौक्तिक टीका तथा कोक शास्त्र बालावबोध तथा उक्ति सग्रह भाष्य नामक रचनाएँ राजस्थानी गद्य मे मिलती हैं। वंशावली, पट्टावली, गुर्वाली तथा पीढ़ियावली जैसी

रचनाएँ इतिहास की मूल्यवान् सामग्री को प्रस्तुत करती हैं। इस सम्बन्ध में गाडौड़ा की वचावली महत्त्वपूर्ण रचना है। कुशल धीर कृत—वेलि किसन रुखमणी की टीका भक्ति काल के अन्त की टीका है।

भक्तिकालीन गद्य के सम्बन्ध में संक्षेप से कहा जा सकता है कि इस काल में रचित गद्य ग्रंथों में साहित्यिक और असाहित्यिक दोनों रचनाओं की सख्या कम है। इसके कारण हैं—छापेखाने का अभाव, जन सामान्य की धर्मप्रियता, काव्य के प्रति सहज अनुराग, भक्ति आन्दोलन की तीव्रता तथा पद्यमय-काव्य को कंठस्थ करने की सुकरता आदि। गद्य का उपयोग अधिकतर दर्शन और धर्म के ग्रन्थों के सिद्धान्त-निरूपण, *व्याख्या तथा स्पष्टीकरण में हुआ। यद्यपि इसमें गद्य रूपों की कमी नहीं,* फिर भी आधुनिक गद्य के विषय और विधाओं की विविधता के सम्मुख वह नगण्य है। भक्ति काल का खड़ी बोली गद्य ब्रज, पजाबी तथा राजस्थानी के शब्दों से युक्त है। *दक्खिनी गद्य पर अरबी फारसी का अधिक प्रभाव है।* उक्त गद्य के सभी रूपों में संस्कृत की तत्सम शब्दावली प्राय सर्वत्र थोड़ी बहुत मात्रा में पाई जाती है। शैली की दृष्टि से उक्त गद्य दो रूपों—तुकान्त और अतुकान्त में मिलता है। चंपू पद्धति के आधार पर गद्य के साथ पद्य और पद्यों के बीच गद्य रखने की प्रवृत्ति सर्वत्र लक्षित होती है। आकार की दृष्टि से भक्तिकालीन गद्य के ग्रन्थ-तीन रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं—कुछ रचनाएँ काफी बड़ी हैं, कुछ संक्षिप्त और कुछ बहुत ही संक्षिप्त दो, दो, तीन-तीन, पृष्ठों की हैं।

रीतिकाल

(उत्तर मध्य काल) (विक्रमी १७००-१६००)

साहित्य में एक नवीन मार्ग

रीतिकाल का साहित्य हिन्दी-साहित्य में एक नवीन प्रकार का साहित्य है। भक्ति-काल म पारलौकिकता की प्रधानता रही। हिन्दी साहित्य के आदि काल में अनेक साहित्यिक गतिविधियों का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, जबकि रीतिकाल के साहित्य म परलोक तथा मोक्षादि की चिन्ता नहीं। इस साहित्य में जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण को अपनाया गया, अतः इसे भौतिकवादी साहित्य के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु इसे लोक-साहित्य (Secular Literature) नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लोक-साहित्य में वैयक्तिकता का उभरा हुआ होना अनिवार्य होता है। पर रीतिकालीन साहित्य मे इस तत्व का नितान्त अभाव है। राजनीति के घोर पराजयमय उस युग मे रीतिकालीन साहित्यकार में वैयक्तिकता का उभरना तनिक असम्भव भी था। अस्तु ! न ही तो इस साहित्य को शुद्ध शास्त्रीय साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है और न ही इसे पूर्णत लौकिक साहित्य कहा जा सकता है। इस साहित्य की अपनी ही कोटि है जो लोक-साहित्य तथा सिद्धान्त-साहित्य के बीच की वस्तु है। रीतिकाल में पाण्डित्य प्रदर्शन-प्रवृत्ति का सभी क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित हो चुका था। साहित्यिक क्षेत्र में भी उसी प्रदर्शन प्रवृत्ति का बोल-बाला रहा। पाण्डित्य प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप रीति साहित्य मे कवि कर्म तथा आचार्य कर्म का एक साथ निर्वाह होता रहा। इस काल की कविता में भावुकता और कला का अद्भुत समन्वय हुआ। वास्तव मे हिन्दी वाङमय के इतिहास में रीतिकालीन कवि ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप मे ग्रहण किया। रीतिकालीन कविता अपना साध्य स्वय थी। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न ही सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की प्रचारिका थी। इस काल के साहित्य का अपना ही महत्त्व था। इस काल के साहित्य मे ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। रीतिकालीन साहित्य के जीवन तथा काव्य के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण डॉ० भगीरथ मिश्र के इन शब्दो मे भली भांति हो जाता है—"रीति-काव्य की परम्परा ने शुद्ध-काव्य के लिए एक निश्चित मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध-काव्यो मे या तो इतिहास ग्रन्थ थे और वे राजा महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण-गाथा मे ओत प्रोत थे अथवा वे धार्मिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ थे

दिया, हालांकि विद्वानों को आदि काल का यह नामकरण स्वीकार नहीं है। मध्य काल मे दो भिन्न प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुई। अत शुक्ल जी ने उसे दो भागो मे विभक्त कर दिया। प्रथम भाग को पूर्व मध्य काल या भक्ति काल कहा जिससे तत्कालीन *साहित्य की भक्ति परक प्रवृत्ति का पता पाठक को सहज मे लग सके। दूसरे भाग* को उत्तर मध्य काल कहकर उसे रीति काल की संज्ञा दी जिससे कि उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति अवगत हो सके। आधुनिक काल मे गद्य-लेखन की प्रमुखता देखकर *उसे गद्य-काल के नाम से अभिहित किया। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि* शुक्ल जी के नामकरण का प्रमुख आधार तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं।

साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन कृति, कर्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। *कभी-कभी नामकरण के किसी दृढ आधार के उपलब्ध* न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर ही उस काल का नामकरण कर दिया जाता है। जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग आदि। कभी-कभी साहित्य-सृजन की शैलियों के आधार पर काल विभाजन कर दिया जाता है। जैसे छायावादी युग, प्रगति वादी युग तथा प्रयोगवादी युग।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल का उत्तर मध्यकाल का रीति काल नामकरण पद्धति-विशेष के आधार पर है जो कि नितान्त समीचीन है, क्योंकि इस काल में रीति-पद्धति पर लिखने की प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था। उस युग के प्रायः प्रत्येक कवि ने *रीति-परम्परा के साँचे में ढलकर ही लिखा, क्योंकि तभी* उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। डॉ० भागीरथ के शब्दो मे "उसे रस, अलकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग मे उदाहरणो पर विवाद होते थे। इस बात पर कि उसके भीतर कौन-सा अलकार है? कौन-सी शब्द-शक्ति है? कौन सा रस या भाव है? उसमें वर्णित नायिका किस भेद के अन्तर्गत है? काव्यो की *टीकाओं और व्याख्याओं से काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए* भी उसके भीतर अलकार, रस, नायिका भेद को भी स्पष्ट किया जाता था। कवि-गोष्ठियो में भी यही प्रवृत्ति थी। अत यह युग रीति पद्धति का ही युग था। और इसमे इससे सम्बन्धित *असख्य ग्रन्थ लिखे गये।" यह है भी तथ्य कि रीतिकालीन* साहित्य के रसास्वादन के लिए रस, अलकार, नायिका भेद आदि के ज्ञान के बिना काम नही चल सकता। रीतिबद्ध कवियों के साहित्य के समझने का रहस्य तो नायिका आदि भेद मे निहित है ही *साथ-साथ रीति सिद्ध और रीति-मुक्त कवियो के ग्रन्थो की पार्श्वभूमि में* भी नायिका भेद, रस और अलकारादि का प्रौढ़ ज्ञान काम करता हुआ सा दिखाई देता है।

हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने रीति काल को अलकरण काल, अलकृत काल, कला काल तथा शृङ्गार काल के नामों से भी अभिहित किया। इन नामो के

औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करने के लिए रीति काल तक पहुँचते-पहुँचते रीति शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

संस्कृत काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम वामन (९वीं शती) ने रीति शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः' है। वामन ने इसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया। इसके तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पाचाली। पर आगे चलकर आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि-सम्प्रदाय की काव्य जगत् में विशेष प्रतिष्ठा हुई। काव्य के अन्य सम्प्रदायों—अलंकार, वक्रोक्ति—के समान रीति-सम्प्रदाय की महत्ता भी नष्ट हो गई। अब रीति रस की उपकारक मात्र ही रह गई। हिन्दी में रीति शब्द का अर्थ विद्यापति के समय से एक अन्य अर्थ में होने लगा, वह है काव्य रचना-पद्धति तथा उसका निदर्शक शास्त्र। रीतिकालीन, आचार्य कवियों ने इसी अर्थ में पथ शब्द का भी प्रयोग किया है। रीति काल में इस अर्थ में अन्य भी बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए। जैसे कवित्त-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, छन्द-रीति अलंकार-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-रीति, कविपथ और कविता-पथ। अतः रीति काल तक आते-आते रीति-शब्द का अर्थ रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, छन्द आदि काव्यांगों का निरूपण ही रह गया और वामन द्वारा गृहीत अर्थ से इसका व्यापक रूप हो गया। अतः रीति कवि या रीति ग्रन्थ में प्रयुक्त रीति शब्द का सम्बन्ध काव्य-शास्त्र से समझना चाहिए। निःसन्देह संस्कृत साहित्य में रीति-शब्द का व्यवहार विशिष्ट पद-रचना के अर्थ में हुआ है, परन्तु जब हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रीति शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद-रचना से नहीं होता वरन् उपर्युक्त सभी काव्य सिद्धान्तों के आधार पर काव्य-अंगों के लक्षण-सहित या उनके आधार पर लिखे गये उदाहरणों के आधार पर होता है। अतः हिन्दी में रीति-काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है—लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य। रीति काल का मूल मूत आधार कवि शिक्षा थी। यह प्रवृत्ति मध्य प्रदेश में बहुत पुराने समय से प्रचलित थी। हिन्दी में जब रीति-सम्बन्धी ग्रंथों का प्रणयन हुआ, उस समय मराठी, गुजराती तथा पंजाबी आदि भाषाओं में भी रीति-विषयक ग्रन्थ लिखे गये। यह दूसरी बात है कि तत्कालीन हिन्दी में प्रणीत रीति-ग्रन्थों का आकार और प्रकार अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। सच तो यह है कि इस प्रकार की परम्परा का श्री गणेश राजशेखर की काव्य-मीमांसा से हो गया था। इसी परम्परा की प्रतिध्वनि केशव तथा ठाकुर आदि में सुनाई पड़ती है—

समुझैं बाला बालकहु वर्णन पंथ अगाध।
कवि प्रिया केशव करी छमियो कवि अपराध॥ (केशव)
चित्र हू आप तिलें समझें।
कवितान की रीति में बार ते पार॥ (घनानन्द)

उक्त अर्थ के लिए रस-रीति, रस-रहस्य, रस-प्रबोध, रस-विलास, भाव-विलास

तथा भाव-विनोद आदि ग्रन्थ अनेक शब्द प्रचलित थे। यहाँ रस शब्द से भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस का काव्य-शास्त्रीय गम्भीर विवेचन अपेक्षित नहीं है। यहाँ रसिकता के लिए शृङ्गार रस आदि का सामान्य वर्णन मात्र है।

इस काल के साहित्य के लिए रीति शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल का कोई नवीन आविष्कार नहीं है, परन्तु उनके कवि ने ही इसी अर्थ मे रीति शब्द का प्रयोग कर दिया था। 'मिश्रबन्धु विनोद' मे भी रीति शब्द की इसी अर्थ में व्याख्या की गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की इतनी देन अवश्य स्वीकरणीय है कि उनके पूर्व रीति-शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे ग्रन्थो मे जिनमें रीति-कथन तो नहीं था, परन्तु रीति बन्धन अवश्य था, आचार्य शुक्ल ने उन्हें भी रीति के अन्तर्गत परिगणित किया। शुक्ल जी का मन्तव्य था कि जिसने लक्षण-ग्रन्थ रचा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।

अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि रीतिकाल को अलंकृत काल या कलाकाल कहना कहाँ तक उपयुक्त है ? हमारे विचार में इन दोनो नामो से विवेच्य काल की सामान्य प्रवृत्ति का बोध नहीं हो पाता है। रीतिकाल की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति रीति-परम्परा है। इन उक्त दोनो नामो से उसकी सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। फिर यहाँ अलंकृत या अलंकरण शब्दो से क्या समझा जाये ? ऐसी कविता जिसमे अलंकारो का प्राधान्य हो या ऐसी कविता जिसमे अलंकरण पर अधिक बल दिया गया हो। ये दोनो प्रकार की कल्पनाएँ सार्थक प्रतीत नहीं होती हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि प्रस्तुत काल मे अलंकारो का लक्षणोदाहरण रूप मे निरूपण हुआ, अत इसे अलंकृत काल की संज्ञा से अभिहित किया गया है तो भी संगत नहीं, क्योंकि अलंकारो के साथ-साथ काव्य के अन्य अंगो का भी तो इस काल मे निरूपण हुआ और फिर रीतिकालीन कवि कविता-कामिनी बाह्य अलंकरण मे उलझा रहा हो, ऐसी बात भी नहीं, क्योंकि रीति कालीन साहित्य मे उस समय के भावुक और रसिक कवि के भाव-प्रवण हृदय के सरस और मनोरम भाव-रत्न भी तो प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हैं।

मिश्रबन्धुओ द्वारा इस काल को अलंकृत काल के नाम से पुकारा गया है, जबकि उन्होंने स्वयं रीतिकालीन कवियों के ग्रन्थों को रीति ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति-कथन कहा है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' मे उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति रीति की व्याख्या इन शब्दों में की है—"इस प्रणाली के साथ रीति ग्रन्थों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई। आचार्य लोग तो स्वयं कविता करने की रीति सिखलाते थे। मानो वे संसार से यों कहते है कि अमुक-अमुक विषयो के वर्णन में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी।" आश्चर्य होता है कि मिश्रबन्धुओं ने उस काल की सामान्य प्रवृत्ति रीति की इतनी स्पष्ट व्याख्या करते हुए उस समय में इसकी प्रधानता देखते हुए भी अपने काल

विभाजन का आधार उसे क्यों नहीं बनाया ?

रीतिकालीन साहित्य मे कला-पक्ष की प्रधानता को देखकर इसे कला-काल कहना भी असमीचीन है। तथ्य तो यह है कि साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष परस्पर इस प्रकार सपृक्त होते हैं कि उनमें विभाजक रेखा खींचना कठिन व्यापार है और फिर इस काल के साहित्य में हृदय-पक्ष का उद्घाटन भी अत्यन्त अनुपम है। मिश्र-बन्धुओ के शब्दो मे—"इसी से इन कवियों की रचना में वाणी के ऐश्वर्य का बहुत बड़ा कोश मिलता है। वाणी के विस्तार की सीमा वस्तुत ये ही जानते थे। भावों का कोश वाणी के प्रतीको द्वारा उद्घाटित करने की शक्ति इन्हीं मे थी।" ये शब्द उन्होंने घनानन्द आदि के सम्बन्ध में कहे हैं। इन शब्दों से रीतिकालीन कवियों के भाव-उत्कर्ष एव प्रकर्ष का सहज में ही अनुमान हो जाता है। घनानन्द के स्वसम्बन्ध में कहे हुए शब्द एकमात्र सत्य है :—

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मोरे कवित्त बनावत।"

वस्तुत सौन्दर्य एव प्रेमोपासक रीतिकालीन कवि की वाणी मनोमुग्धकारिणी है। उसमें भाव पक्ष की उपेक्षा हो ऐसी बात नही।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनेक युक्तियो के द्वारा हमारे विवेच्य काल का नाम शृङ्गार काल सिद्ध किया है। शृङ्गार रस की प्रमुखता को लक्ष्य रखकर उन्होंने रीतिकाल को शृङ्गार काल कहा है। इस सम्बन्ध में हमे इतना नम्र निवेदन करना है कि क्या रीतिकालीन कवियो ने शृङ्गार रस के समूचे अगों का सम्यक् विवेचन किया है ? और फिर शृङ्गार रस के रति स्थायी भाव तथा उसके आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और सचारियों का विशद निरूपण उनके साहित्य में कहाँ तक बन पड़ा है ? समस्त रीतिकालीन कविता के विहगम अवलोकन के पश्चात् कहा जा सकता है कि तत्कालीन कृतियो मे ऐसी परिपाटी नहीं रही है। फिर कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि शुद्ध शृङ्गार रस न होकर शृङ्गाराभास हो। इस काल म शृङ्गार की प्रधानता सर्वनिश्चित है, परन्तु वह स्वतन्त्र नहीं, सर्वत्र रीति पर आश्रित है। विद्वानो ने इस काल के समस्त कवियो को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) रीति-बद्ध (२) रीति-सिद्ध और (३) रीति-मुक्त। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-परम्परा का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी पर है। इस प्रसग मे हमे रीति शब्द के व्यापक अर्थ को समक्ष रखना होगा। रीति शब्द का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना तथा लक्षण-ग्रन्थ। रीतिबद्ध कवियो ने तो अपने लक्षण ग्रन्थो में साक्षात् रूप से रीति-परम्परा का निर्वाह किया ही, रीति सिद्ध कवियो की रचनाओं की पृष्ठभूमि मे भी अप्रत्यक्ष रूप से रीति परिपाटी काम कर रही है। रही रीति मुक्त कवियो की बात, उनमें भी एक प्रकार की चमत्कारपूर्ण पद रचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रीति साहित्य मे सीधे या टेढे रूप से रीति परम्परा ही घूम एव चक्कर लगा रही है। ऐसी स्थिति मे शृङ्गार की प्रमुखता का प्रश्न ही नहीं

उठता और न ही शृङ्गार काल के नाम का। शृङ्गार काल की संज्ञा रीतिकाल की आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करती है। यही कारण है कि हिन्दी-जगत् में शृङ्गार काल के नाम का अनुसरण नहीं किया गया है। आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक और इतिहासकार अपने इस विवेच्य काल को रीतिकाल के नाम से पुकारते हैं। अत हिन्दी-साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीति काल के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है। इस प्रसग मे यह कहना कि प्रस्तुत काल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धारा के कवियो मे शृङ्गार की प्रधानता रही है अत इस काल का नाम शृङ्गार काल उपयुक्त है, उचित नहीं। शृङ्गार रस की प्रधानता तो इस काल में असदिग्ध है परन्तु स्मरण रखना होगा कि वह शृङ्गार रीति के परिवेष्टन के रूप मे आया है। इस साहित्य में प्रमुखता रीति प्रवृत्ति की है। आचार्य शुक्ल ने अपने इन शब्दो मे स्वय उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार किया है—"वास्तव मे शृङ्गार और वीर इन दो रसो की *कविता इस काल में हुई। प्रधानता* शृङ्गार रस की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गार काल कहे तो कह सकता है।" शुक्ल जी के इस कथन मे 'कोई' शब्द विशेष रूप से साभिप्राय है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि उन्हें स्वय इस काल को रीतिकाल के नाम से अभिहित करना अभिप्रेत था क्योंकि उन्हें प्रस्तुत काल के साहित्य मे व्यापक रूप से रीति की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। शुक्ल जी के उक्त शब्दो में काल विभाजन सम्बन्धी उनकी असतुष्टि का अनुमान लगाना कदाचित् उन्हें अच्छी प्रकार न समझने का परिणाम है। हम पहले ही कह चुके हैं कि रीतिकाल के नामकरण से रीतिमुक्त कवियो—बोधा, आलम और घनानन्द आदि—की किसी भी प्रकार से उपेक्षा नहीं होती है। शेष रही शुक्ल जी द्वारा फुटकर खाता खोलने की बात, सो विवेच्य काल को शृङ्गार काल के नाम से अभिहित करने पर ही फुटकर खाता तो रखना ही पडेगा क्योंकि *किसी काल की प्रमुख प्रवृत्ति उस समय के सभी साहित्यकारों* मे पाई जाये, यह आवश्यक नहीं और है भी स्वाभाविक। वृन्द, गिरधर आदि सूक्तिकारो को रीति काल अथवा शृङ्गार काल, दोनो नामकरणो की दशा में फुटकर खाते मे ही रखना पडेगा। रीतिकालीन कविता की सभी गतिविधियो का निरीक्षण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस काल की व्यापक और प्रमुख प्रवृत्ति रीति है अत हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है। अलकृत काल और शृगार काल नाम उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस विषय मे डॉ० भागीरथ मिश्र के निष्कर्ष को उपन्यस्त करना अधिक सगत प्रतीत होता है, "कला काल कहने से कवियो की रसिकता की उपेक्षा होती है, शृगार काल कहने से वीर रस *और राज प्रशसा* की। रीतिकाल कहने से प्राय कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। *यह युग रीति-पद्धति का युग था।* यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।"

वस्तुत तथाकथित रीतिकाल भक्ति काल—पूर्व मध्य युग का बढ़ा हुआ रूप है अत इसे उत्तर मध्य काल कहना अधिक समीचीन है। रीति-पद्धति निःसन्देह इस काल में प्रबल रही है किन्तु इसके साथ-साथ भक्ति और वीरता की धारायें भी अत्यन्त वेगवती रही हैं और इन्हें किसी भी दशा में रीति-पद्धति से गौण नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस काल में संस्कृत के पौराणिक काव्यों, चरित-काव्यों और पुराणो के अनुवाद की परम्परा भी प्रवाहमयी रही। संस्कृत साहित्य के वैज्ञानिक विषयो ज्योतिष, काम शास्त्र, शालि होत्र, अश्व-शास्त्र आदि सम्बद्ध ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी ब्रज भाषा मे प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भक्ति काल पूर्व मध्य काल के साहित्य की लगभग सारी प्रवृत्तियाँ उत्तर मध्यकाल मे देखी जा सकती हैं। जिस प्रकार पूर्व मध्य काल मे पौराणिक युग की भक्ति के आन्दोलन का पुनर्जागरण देखा जा सकता है, इसी प्रकार उत्तर मध्य काल में भी भारतीय संस्कृत साहित्य को हिन्दी मे उत्थाने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। अत उक्त काल को क्षेत्र विस्तार सृजन की विविधता, प्रकाश में आई नवीन सामग्री तथा नये दृष्टिकोण के आधार पर उत्तर मध्य काल कहना अधिक संगत है।

रीतिकाल की पूर्वापर सीमा

सभ्यता और संस्कृति के समान साहित्य के इतिहास के युग को कालावधि निश्चित तिथि एव सम्वत् मे निर्धारित करना अतीव कठिन है। किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति के पुष्ट रूप के पीछे यदि कुछ शताब्दियाँ नही तो एक सुदीर्घ समय तो अवश्य काम कर रहा होता है। किसी काल की सीमा निर्धारित करते समय उस समय में प्रचलित अनेक विचारधाराओं मे प्रबल प्रवृत्ति का आश्रय लेकर सीमा निर्धारण करना श्रेयस्कर होगा। रीतिकाल से पूर्व भक्ति-काल में प्रेम एव शृंगार का वर्णन करने वाले अनेक भक्त कवि हुए किन्तु प्रवृत्ति की दृष्टि से भक्ति काव्य की आत्मा शृंगारनिष्ठ न होकर भक्तिनिष्ठ है। अतः उसे भक्ति काल की संज्ञा मिली। इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल मे भक्ति-भावना का सर्वथा लोप नहीं हुआ, अनेक भक्त कवि अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे भी हुए किन्तु रीति काव्य की प्रचुरता ने उस समय भक्ति की विरल धारा को आच्छादित कर लिया। अतः उसका नाम रीतिकाल पड़ा। इस काल की सीमा निर्धारित करते हुए हमें यह ध्यान रखना होगा कि रीति काव्यों का प्रणयन कार्य प्रचुरता से कब प्रारम्भ हुआ। वैसे तो रीति-काव्यों का प्रारम्भ भक्त-काल मे कृष्ण भक्त कवियों मे देखा जा सकता है। कुछ कवियों ने कृष्ण भक्ति के परिवेश में अलकार तथा नायिका भेद आदि का वर्णन किया। सूर की साहित्य लहरी इस बात का उदाहरण है। नन्ददास की 'रस मजरी' भानुदत्त की 'रस मजरी' के आधार पर लिखी गई है। इसमे प्रत्यक्ष रूप में नायिका भेदों का उल्लेख है। कृपाराम ऐसे कवि हुए जो सर्वप्रथम रस अलकार आदि काव्याग निरूपण म प्रवृत्त हुए। उनकी 'हित तरंगिणी" कवि शिक्षा के लिए लिखा गया एव

शुद्ध रीति ग्रथ है। कृपाराम के पश्चात् सत्रहवी शती से करनेस, रहीम, बलभद्र मिश्र और गग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस सम्पूर्ण रीति काव्यकारों ने सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के आधार पर रस, अलकार तथा नायिका भेद आदि का वर्णन किया। परन्तु रीति ग्रन्थो की प्रणयन परम्परा को रीति काव्य की काल सीमा के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है। कारण वे भक्ति की अजस्र गति से बहने वाली वेग वती धारा मे विलीन होकर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। भले ही भक्तिकाल मे रीति काव्यो का प्रणयन आरम्भ हो गया था, परन्तु इस काल की काव्यात्मा रीति ग्रथो मे न होकर भक्ति ग्रन्थो मे है।

रीतिकाल का वास्तविक आरम्भ विक्रम सवत् १७०० से मानना चाहिए क्योकि इस काल के शृगार प्रधान रीतिकाव्य ने भक्ति-धारा के प्रबल वेग को एकमात्र कु ठित कर दिया। रीति काव्य का यह व्यापक प्रभाव १९०० शती तक रहा। अत रीतिकाव्य की पूर्व सीमा स० १७०० और उत्तर सीमा स० १९०० स्वीकार करनी चाहिए। वैसे तो भारतेन्दु-युग मे रीति-परम्परा पर रचना करने वालो की विशाल परम्परा मिलती है और यह क्रम १९५० स० तक चलता रहा परन्तु इस काल को रीतिकाल की अवर सीमा नही माना जा सकता है। सवत् १९५० तक रीतिकाव्य लिखा अवश्य गया किन्तु इस काल मे रीतिकालीन शृगार परम्परा का प्राधान्य न होकर नवीन काव्य चेतना की प्रधानता थी। वास्तव मे भारतेन्दु युग को हम रीति शृगार का उपसहार काल कह सकते हैं। इस काल मे कुछ परम्परा वादी कवि रीति-परम्परा का पिष्टपेषण करते रहे। भारतेन्दुकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक आन्दोलनो द्वारा रीतिकालीन रीति शृगार की कविता अपदस्थ कर दी गई थी। यथार्थ मे रीति-परम्परा के विस्तार का समय स० १७०० से १९०० तक ही है। इस परम्परा से पूर्व के और बाद के रीति-काव्यो को इस काल की भूमिका और उपसहार के रूप मे समझना चाहिए।

रीतिकालीन परिस्थितियाँ

किसी भी काल की साहित्यिक गतिविधियो को यथार्थ रूप मे समझने के लिए उस समय के साहित्य की तत्कालीन बाह्य परिस्थितियो के आलोक में देखना अनिवार्य सा हो जाता है। इस दृष्टि से रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियो का अध्ययन कर लेना आवश्यक होगा।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल स १७०० से १९०० तक स्वीकार किया जाता है। इस समूचे समय मे व्यक्तिवादी, निरकुश राजतन्त्र का बोलबाला रहा। रीतिकाल के पूर्व सम्राट अकबर ने अपनी सहिष्णुता की नीति के द्वारा तथा हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों जातियो के पारस्परिक सास्कृतिक समन्वय के द्वारा विशाल मुगल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा की। अकबर के पश्चात् जहाँगीर ने राज्य के सम्बन्ध मे कोई योगदान नही दिया, हाँ उसकी सुरा और सुन्दरी के प्रति

पदम्य लोलुपता और असतुलित लालसा उत्तराधिकारियो को विरासत में अवश्य मिली। शाहजहाँ मे एक ओर तो धार्मिक सहिष्णुता थी और दूसरी ओर उसमे सास्कृतिक और कलागत उदारता। यह समय प्राय सुख शान्ति तथा समृद्धि का काल था। ऐसी स्थिति मे निरकुश राजतन्त्रीय शासक शाहजहाँ प्रदर्शन प्रधान प्रवृत्तियो का जाग उठना स्वाभाविक था। कदाचित् इस प्रदर्शन प्रधान प्रवृत्ति का समस्त हिन्दी-साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। स० १७७१ मे शाहजहाँ रोगग्रस्त हुआ। उसने राजगद्दी के लिए लडते हुए हिंस्र पशुओ के समान अपने पुत्रो को देखा। दारा की मृत्यु क्या हुई, मानो मानवता की हत्या हुई और प्रायश मुगल वश मे धार्मिक सहिष्णुता और उदारता खड-खड हो गई। औरगजेब की साम्राज्य विस्तार लिप्सा बढती ही गई जिसने उसे आजीवन आराम से बैठने नहीं दिया। उसकी अतीव धार्मिक कट्टरता की नीति तथा अमानुषिक व्यवहारों से अनेक देशी नरेश बौखला उठे तथा हिन्दू जनता विक्षुब्ध हो उठी। इसी नीति के परिणामस्वरूप उसे मराठो और सिक्खों से चिरकाल तक लोहा लेना पडा। औरगजेब का व्यक्तित्व रागात्मक तत्त्वो से सर्वथा विहीन था। साहित्य, सगीत, कला, सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा विलास के प्रति उसे घोर चिढ थी। कदाचित् उसने सगीत का तो जनाजा भी निकलवा दिया था। वेश्यावृत्ति तथा मद्यपान के पूर्ण निषेध सम्बन्धी उसने सरकारी फरमान भी जारी करवा दिये थे। परन्तु इनका बन्द हो जाना सरल नहीं था। उस समय अनेक सामन्तो के अनेक हरम थे और उनमे असख्य रक्षिताएँ और नर्तकियाँ भी थी। औरगजेब की मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विकट तथा शोचनीय हो गई। राजनीति की दृष्टि से इस काल को घोर निराशा और अन्धकार का युग समझना चाहिए। औरगजेब के उत्तराधिकारी एकदम अयोग्य, असमर्थ, विलासी, पगु एव नपुसक सिद्ध हुए। केन्द्रीय शासन के जीर्ण हो जाने से अनेक प्रदेशो के शासक स्वतत्र हो गए। आगरे मे जाटो, राजस्थान में राजपूतों तथा पजाब मे बन्दा वैरागी ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर को बुरी तरह तग कर रखा था। दक्षिण मे मराठा शक्ति पूर्णतया अपना सिर उठा चुकी थी। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से मुगल राज्य की रीढ की हड्डी टूट गई। समस्त देश मे फैले वैमनस्य का लाभ उठाते हुए अग्रेजो ने बक्सर की लड़ाई मे शाहआलम को पराजित करके एक प्रकार से मुगल शासन की इतिश्री कर दी। मुगल वश के नाम शेष सम्राट अग्रेजो के हाथो मे कठपुतलियाँ बनकर रह गये। यह है उस समय की राजनीतिक गतिविधियो की दारुण एव करुण कहानी। औरगजेब के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी मुगल सम्राट् अमीर वर्ग के हाथों की कठपुतलियाँ बनकर रह गये। सम्राट् जहाँदारशाह के सम्बन्ध मे एक कवि ने लिखा है कि वह दर्पण और कघा हाथ मे लिए एक सुन्दर स्त्री के समान अपने केशो का पुजारी था। लालकुँवर वेश्या का उस पर अत्यधिक प्रभाव था। सारा राज्य कार्य रक्षिता लालकुँवर के सकेतो पर चलने लगा। उस वेश्या के अनेक सम्बन्धियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया, जिन्होने अन-

सामान्य पर मनमाने अत्याचार किये। नगर के श्रेष्ठ प्रसाद उन्हें दे दिये गये। इस प्रसग में एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं—"गिद्धों के नीडों में उल्लू रहने लगे तथा बुलबुलों का स्थान कागों ने ले लिया।" सारगी-वादक तथा तबलचियो की नियुक्ति उच्च पदों पर की गई। जाहिरा कुंजडिन को बडी-बडी जागीरें दी गई। सम्राट् मुहम्मदशाह को तो इतिहासकारो ने रगीले की उपाधि दी है। वह अपना समय नाच रग तथा मदिरापान मे व्यतीत किया करता था। उसका मत्री क्मरुद्दीन उसका साथी था। शाह को वेश्या ऊधमबाई से अनन्य प्रेम था। उससे उत्पन्न ही उसका पुत्र उत्तराधिकारी बना। वास्तव मे यह युग घोर नैतिक पतन की पराकाष्ठा का काल है। जिसके राजमहलो में वेश्याओं और हिजडों की ऐसी तूती बोलती हो उसके नैतिक स्तर का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। देशी नरेशो के हरमों मे भी वेश्याओं और रक्षिताओ की कमी नही थी। उनके महल भी विलास मे मुगल हरमो की होड ले रहे थे। यह है शासक-वर्ग की जीवन चर्या तथा चरित्र की एक झाँकी, जिसमें उनके मनोबल का सरासर दिवाला है।

सामाजिक परिस्थितियाँ—"यथा राजा तथा प्रजा" की उक्ति इस काल पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। कुल मिलाकर इस युग को विलास-प्रधान युग कहा जा सकता है। यो तो मुगल वश के ऐश्वर्य और वैभव मे विलासिता की प्रधानता आरम्भ काल से चली आ रही थी फिर भी बाबर, हुमायूँ तथा अकबर ने अपने आपको बहुत कुछ नियन्त्रित रखा। शराब के नशे में मखमूर रहने वाले तथा नूरजहाँ पर कुर्बान होने वाले जहाँगीर के व्यक्तित्व मे विलासिता उग्र रूप मे प्रकट हुई। शाहजहाँ की वैभवप्रियता, विलासलिप्सा और प्रदर्शन प्रवृत्ति का तत्कालीन सामन्तीय जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पडा। महलों मे लगने वाले रूप-बाजारों का प्रभाव जन-सामान्य पर भी पडा। फलस्वरूप पौरुष का ह्रास हुआ, अभिजात्य संस्कृति के नाम पर केवल विलास और प्रदर्शन की प्रवृत्ति शेष रह गई। मनोबल की कमी के साथ समाज का बौद्धिक स्तर भी बहुत नीचा हो गया। अनेक छोटे-मोटे सामन्तो के पास रखेलो की भरमार थी। एक पत्नी व्रत का अनादर पहले से ही मुगलों सम्राटो के द्वारा हो चुका था। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ की अनेक पत्नियाँ थीं। उनके महलो मे रखेलो और परिचारिकाओं की भी कमी नहीं थी। नारी को केवल मनोरजन और विलास की सामग्री समझा गया। सामन्तीय युग की दृष्टि का प्रसार उसके शारीरिक लावण्य एव कोमलता तक ही सीमित रहा, उसकी अनुपम शक्ति सम्पन्न अन्तरात्मा तक न पैठ सकी। सामन्तीय जीवन आरम्भ से जीवन की विकतियो से भली भाँति परिचित हो जाता था। जीवन के सघर्षों से उसका कोई सरोकार नही था। यौन-सम्बन्ध में उस समय के जीवन के लिए किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नही था। मद्यपान तथा द्यूत-क्रीडा इनके जीवन का अग बन गये थे।

जन साधारण मे अन्ध विश्वास तथा रूढियाँ घर कर गई थी। ज्योतिषियों की वाणी, शकुन शास्त्र तथा सामुद्रिक शास्त्र पर उनका अगाध विश्वास था।

उस समय की जनता में विलास की प्रधानता के कारण भक्ति की भावना मन्द पड गई थी। जनता प्राय अशिक्षित थी। उनमे बाल विवाह और बहु विवाह की प्रथाएँ चल निकलीं। सर्वत्र सुन्दर दासियों की माँग प्रबल हो उठी। जनता में नागरिकता का पूर्ण अभाव था। स्वार्थान्ध होकर विलास के उपकरण एकत्रित करना उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह गया था। उत्तरी भारत में प्रशासन क्षेत्र मे जागीरदारो का दबदबा था। श्रीमिक वर्ग अत्याचार से पीडित था। उस समय के युग को कई महामारियो का प्रकोप भी सहना पडा। कृषक समाज जीविका निर्वाह के साधनो से रहित था। कला-कौशल और व्यापार को भी शासकों की ओर से उपेक्षित होने पर महान् प्रघात पहुँचा। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति के ह्रास के साथ-साथ उस युग को महान् आर्थिक संकट भी देखना पडा।

धार्मिक परिस्थितियाँ—रीतिकालीन समय संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से ह्रास का युग है। नैतिक बन्धन ढीले पड चुके थे और अनुदिन बौद्धिक ह्रास हो रहा था। इस विकट दशा मे धर्म के किसी भी उदात्त रूप की आशा दुराशा मात्र है। इस युग मे अन्धविश्वासो, रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। पडित और मुल्ला लोग इस क्षेत्र मे सर्वेसर्वा समझे गये। उस समय की जनता के लिए उनके कथन तथा फरमान वेदवाक्य और कुरान थे।

सूरदास आदि के द्वारा प्रतिपादित राधा और कृष्ण की सात्विकता मधुर भक्ति मे सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूल ऐन्द्रियता और पवित्रता के स्थान पर लोलुपता और कामुकता की भावनाएँ आ गई। कृष्ण-भक्तो की रागात्मिका भक्ति के रहस्य को समझने की शक्ति न तो रीतिकाल के अनाधिकारी कवियो में थी और न ही उस समय की अपरिष्कृत-मस्तिष्क जनता मे। राधा और कृष्ण की आड मे कामुकता की खुलकर अभिव्यक्ति हुई। यहाँ तक कि शायद अगले जन्म मे राधा को अपना 'राधा' नाम भी बदलना पडे। मन्दिरो और मठो के पुजारियो तथा महन्तो के जीवन मे दिव्य पुन्य प्रेम के स्थान पर वासना ने घर कर लिया। चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय की गद्दियाँ तक सस्ती रसिकता म निमग्न हो गई।

राम भक्ति मे विभिन्न सम्प्रदायो की भी यही गति थी। शक्ति के प्रतीक, लोक रक्षक, मर्यादा पुरुषोत्तम राम अब एक छैल-छबीले बाके नायक के समान सरयू के किनारे काम-क्रीडा करने लगे। आदर्श की मूर्ति सती सीता अब एक विलासप्रिय सामान्य रमणी के रूप में चित्रित होने लगी। काम-भक्ति मे रसिक सम्प्रदाय चल निकला, जिसमे भक्त राम और सीता की सयोग लीलाओ की सखी बनकर निहारने लगे। राम-भक्ति मे पौरुष के स्थान पर स्त्रैण भावना आ गई।

उस समय निर्गुण भक्ति परम्परा मे भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन का आचार-व्यवहार भक्ति के सगुण सम्प्रदायो की अपेक्षा उन्नत था, किन्तु इन पर भी युग की विलासपरक दृष्टि का प्रभाव अवश्य पडा। तत्कालीन सूफियो के अनेक सम्प्रदायो म स्थूल शृगार, नखशिख-वर्णन एव नायिका भेद का समावेश होने लगा।

कलात्मक परिस्थितियाँ—इस युग मे जीवन के अन्य क्षेत्रो के समान कलाक्षेत्र में प्रदर्शन प्रवृत्ति की ही प्रधानता रही। सामन्ती वातावरण मे फूलने-फलने वाली कला मे वासनात्मकता का आ जाना नैसर्गिक था। रीतिकाल मे परम्पराबद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह होता रहा, उसमे मौलिक प्रतिभा और सप्राणता का नितान्त अभाव है, इसके स्थान पर उसमे नग्नता की मात्रा अधिक है। 'स्वामिन सुखाय.' अद्भुत कला में सात्विकता की अपेक्षा बाजारूपन अधिक होता है। प्रदर्शन-प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक-नायिकाओ की बधी-बधाई प्रतिकृतियाँ (Models) तैयार होती रही। उस समय की चित्रकला की नायक-नायिकाओ के रूढिबद्ध चित्र, पौराणक कथाओ पर आधृत चित्र तथा राग-रागनियो के प्रतीक चित्रो का बाहुल्य है। इन चित्रो मे कलाकार की आत्मा की निश्छल अभिव्यक्ति नही हो पाई। युग-रुचि के अनुसार उनमे रुग्ण शृगारिकता का आधिक्य है। कृष्ण और राधा के तो उस युग ने अश्लील चित्र बने हो, साथ ही साथ शिव और पार्वती को भी उसी कोटि मे लाकर रत्थू और कल्लू के रूप मे खडा कर दिया गया। तत्कालीन कला मे आत्म-प्रेरणा के तत्व के अभाव के कारण उसमे प्रशस्ति-तत्त्व अधिक है। उस समय की मूर्तिनिर्माण-कला की भी यही दशा रही। उसमे रीतियुगीन सभी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। परम्परा बद्ध शैली अलकरण की अतिशयता, चमत्कार-वृत्ति रोमानी वातावरण की सृष्टि-दरबारी अदब कायदो की जकड बन्दी—ये सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य के समान कला-क्षेत्र म भी दृष्टिगोचर होती हैं। रही सगीत-कला, उसके सम्बन्ध मे सक्षेप मे इतना जान लेना उपयोगी होगा कि "वास्तव मे रीतिकालीन कवि और सगीतज्ञ दोनो की एक ही दशा थी, दोनो ही आश्रयदाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिए दोनो को ही शृगारपरक प्रतिपाद्य और कला प्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पडा।

सांस्कृतिक व कलात्मक परिस्थितियाँ

सामाजिक आदि अवस्थाओ के समान इस युग की सास्कृतिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। औरगजेब की कट्टरता की नीति से अकवर आदि की उदारतावादी नीति पर गहरी ठेस लगी। विलास वैभव के खुले प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने हिन्दू और मुस्लिमो के धार्मिक सम्प्रदायो को बुरी तरह प्रभावित किया। वैष्णव सम्प्रदायो के मठाधीश राजाओ और सामन्तो को गुरुदीक्षा देने मे गौरव का अनुभव करने लगे। फलत मन्दिरो मे ऐश्वर्य व विलास की लीला होने लगी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि मन्दिरो मे पुजारी राम और कृष्ण का केवल अतिशय शृगार ही नही बल्कि उनके विलासी जीवन म अपने जीवन की सगति खोजने लगे थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिए वाह्याचरण ही धर्म-पालन मात्र रह गया। अब धर्म का नैतिकता के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। पुजारी और मुल्ला जनता के अन्धविश्वास का अनुचित लाभ उठा रहे थे। इससे धर्मस्थान व्यभिचार तथा भ्रष्टाचार के अड्डे बन गए।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—रीतिकाल का आरम्भ शाहजहाँ के शासन काल के उत्तरार्ध से होता है। उस युग में प्रदर्शन और अलकरण की प्रवृत्तियो की प्रधानता थी। प्रदर्शन प्रधान रीतिबद्ध काव्य-शैली तथा काव्य में रसिकता प्रधान शृगार की अभिव्यक्ति का बहुत कुछ श्रेय उस युग की उक्त प्रवृत्तियो को है। देशव्यापी समृद्धि एव शाति शाहजहाँ की रगीन-मिजाजी, साहित्य और कला की ओर उसकी रुचि, साहित्य के विकासप्रदायी हैं। प्रतिभावान कलावन्तो के लिए शाह का दरबार सदा खुला था। उस युग में कलाकारो मे भी प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की भावनायें चलती ही थी। सामन्तो की भी यही दशा थी। वह निज गुण गान के लिए उत्तम कलाकार की सदा ताक मे रहता था।

मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी मे दो शैलियाँ प्रचलित थी—एक भारतीय ईरानी शैली और दूसरी शुद्ध ईरानी। प्रथम शैली के प्रतिनिधि लेखक अबुल फजल थे। उनकी शैली मे अलकरण की एकमात्र प्रधानता थी। उस समय फारसी शैली में लैला मजनूं आदि की रोमानी कहानियाँ भी निबद्ध हो रही थी, जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिन्दी काव्य पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्म प्रशसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। अत उसके दरबार में कसीदे (प्रशस्ति-गान) बडी शानोशौकत के साथ पढे जाते थे। तत्कालीन नवाबो, सामन्तो और छोटे-छोटे नरेशो मे भी यह प्रवृत्ति अत्यन्त जोरों पर थी। फलस्वरूप दरबारी कवि-दगलो मे तत्कालीन तथाकथित कविपुंगवो के द्वारा "बख्त बुलन्द महाराज तेरे चाहिए" के नारे बुलन्द होने लगे।

हम प्राय रीतिकालीन कवि द्वारा राधा और कृष्ण के नाम पर उतारे गये कुत्सित एव हीन शृगारी चित्रो को देखकर उससे खीजने और नाक-भौं चढाने लगते हैं और यहाँ तक कि हम तत्कालीन साहित्य को गन्दी नालियो मे बहाने को भी तैयार हो जाते हैं। किन्तु मेरे विचार में यह सारे का सारा दोष रीतिकालीन साहित्यकार पर नही मढा जा सकता। इसका बहुत कुछ दायित्व तत्कालीन नरेशो की मनोवृत्ति और उस समय के चतुर्दिग् व्याप्त वातावरण पर है। हिन्दी कवि को उस समय के दरबारी फारसी के कवि से होड लेनी थी। भारतीय साहित्य परम्परा में गजल की शृगारिकता, गुलो बुलबुल, लैला मजनूं, शीरी फरयाद के साहसिक प्रेम की बातें नहीं थीं। भारतीय नायक थे आदर्श राम और कृष्ण थे और नायिकाओं की सीता तथा राधा। भले ही भारतीय-साहित्य में राधा का परकीया का रूप भी प्रचलित था, परन्तु उसमे भी मासलता और चांचल्य की अपेक्षा सूक्ष्मता अधिक थी। रीति कवि को फारसी के कवि की प्रतियोगिता मे आने के लिए तथा उससे बाजी मारने के लिए परिस्थितियों से बाध्य होकर राधा और कृष्ण का रूप फारसी नायक और नायिकाओ के अनुरूप गढना पडा। हिन्दी रीति कवि को कामसूत्रकार वात्स्यायन मुनि से ऐसा करने के लिए नैतिक अनुमति पहले से मिल चुकी थी। फिर क्या था, उसने खुलकर खेला और घुटनशील वातावरण में घोर शृगारिक चित्र उतारे। इसे मनोवैज्ञानिक रूप

से क्षति-पूर्ति ही समझना होगा।

शाहजहाँ के समय से ही हिन्दी कवियों ने राजाओ के दरबारो मे आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया था। भले ही उसके द्वारा हिन्दी और सस्कृत को कुछ सरक्षण भी मिला, परन्तु दबदबा उसके दरबार में फारसी का था। औरगजेब की कट्टर नीति से तो मुगल दरबार से हिन्दी का बहिष्कार ही हो गया। अत रीतिकालीन कविता को सामन्ती छत्र-छाया मे पोषण मिला। राजस्थान के नरेशो तथा सामन्तो की छत्र-छाया मे हिन्दी कविता का दरबारी रूप पनपा। ओरछा, कोटा, बूँदी, जयपुर, जोधपुर और यहाँ तक कि महाराष्ट्र के राजदरबारो मे भी वही प्रदर्शन-प्रधान और *शृगार-परक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति में काव्यधारा चलती रही। सरक्षण में* पनपने के कारण उसमे गम्भीर प्रेरक तत्त्वो का अभाव रहा और उसका स्तर छिछला बना रहा। उस समय का सामन्ती जीवन अपेक्षाकृत कम जटिल और कम समस्यामय था, अत रीति काव्य मे जीवन-सघर्षों का स्वर उभर न सका, वह नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की सकीर्ण परिधि मे चलता रहा। विवेकहीन विलास उस युग का प्रधान स्वर हो गया था। यही कारण है कि राज्याश्रित कवियो को वाणी वैभव और विलास की मदिरा पीकर बेसुध हो उठी। ऐसी स्थिति मे साहित्य सृजन का उद्देश्य चमत्कार तथा पाडित्य प्रदर्शन और आश्रयदाता की रुचि का प्रसादमात्र रह गया। रीतिकाव्य में नवीन उद्भावनाओ और मौलिकता के अभाव का मूल कारण कदाचित् उनका महलों के बन्द घेरे मे रहना है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति अब उनमे नहीं रही थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

रीतिकालीन साहित्यिक परिस्थितियो का विश्लेषण करते हुए हम देखते हैं कि उस समय के साहित्यकार ने एक साँस मे कवि और दूसरे साँस मे आचार्य बनने का प्रयत्न किया। शृगारिकता और आचार्यत्व दोनों परस्पर अभिन्न रूप से गुथे हुए मिलते हैं। उस काल के हिन्दी कवि की शृगारिकता का प्राय वही स्वरूप रहा जो कि बिहारी के समकालीन एक उर्दू कवि वली के शब्दों मे उर्दू कविता मे था —

शुगल बेहतर है इश्कबाजी का,
क्या हकीकी क्या मजाजी का॥

उर्दू और फारसी के कवि के—शीशे, मैं और पैमाने का अपने रूप मे साहित्यीकरण करते हुए हिन्दी का कवि भी पुकार रहा था —

सेज हैं, सुराही है, सुरा और प्याला है।
सुबाला है दुशाला है, विशाल चित्रशाला है॥

ऐसे लगता है जैसे कि रीति-कवि के पास कामसूत्रकार के नागरिक के भोग ऐश्वर्य के सभी उपकरण मौजूद हो।

रीतिकालीन शृंगार के मूल कारणो का विवेचन करते हुए प्राय इतिहास-लेखक यह कह उठते हैं कि मुगल शासन-काल की शान्ति और समृद्धि, विलास तथा

भोगमय वातावरण ही उसके अश्लील और रसिकता-प्रधान होने के एकान्तिक कारण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी काल का साहित्य तत्कालीन परिस्थितियों की उपज हुआ करता है, पर तत्कालीन परिस्थितियाँ ही एकमात्र उसके स्वरूप का विधान करती हों यह भी आवश्यक नहीं। साहित्य अपने अतीत के अनेकविध स्रोतों से भी प्रेरणा लिया करता है, उस प्रेरणा का माध्यम परोक्ष हो या प्रत्यक्ष यह एक दूसरी बात है। रीतिकालीन शृंगार पर वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रभाव असंदिग्ध रूप से पड़ा। उक्त प्रभाव केवल शृंगार के स्वरूप तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए, बल्कि वह रीति काव्य के शास्त्रीय पक्ष पर भी पड़ा। इसका हम विस्तृत विवेचन 'रीतिकालीन काव्य के प्रेरणा-स्रोत' नामक शीर्षक में करेंगे।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि उत्तर मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था में राजतन्त्र और सामन्तवाद के प्राधान्य ने साहित्य और कला को अपने रूप में नितान्त रंग दिया। डा० सावित्री कुमारी सिन्हा के शब्दों में 'स्वार्थपरायण राजनीतिक व्यवस्था, सामन्तीय वातावरण, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और सामाजिक अव्यवस्था तथा विलासमूलक वैभवजन्य, प्रदर्शन प्रधान अलंकरण प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एवं विविध ललित कलाओं की गतिविधि पर बड़ा प्रभाव रहा है। तद्युगीन कलाकार की आत्मा पर ये बाह्य परिस्थितियाँ एक प्रकार से हावी हो गई थीं। चेतना के सूक्ष्म, सार्वभौम और नित्य तत्त्व बाह्य जीवन की स्थूल साधना में लुप्त हो गये थे। स्थूल की सूक्ष्म पर विजय के कारण ही युग में रीति-काव्य लिखा गया।''

रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

रीतिकालीन साहित्य की सृष्टि सामन्तीय वातावरण में हुई। उस समय के राज दरबारी कवि से 'स्वान्तः सुखाय' रचना की आशा नहीं की जा सकती है। प्रदर्शन-प्रवृत्ति प्रधान युग का कवि भक्तिकालीन कवि के साहित्य-सम्बन्धी आदर्शों 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' तथा 'प्राकृत जन कीन्हें गुण गाना'—को सर्वथा छोड़कर स्वामि मनस्तोष की छोटी सी तलैया की वासनात्मक अथवा सकोर्ण लहरियों में आकंठ निमग्न हो बेसुध बह गया। उसकी वाणी में सूर और तुलसी जैसी तन्मयता, सात्विकता, ऊर्जस्विता और उदात्त चेतना नहीं है। रीतिकालीन कवि की समस्त अन्तश्चेतना सुरा, सुन्दरी और सुराही के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही थी। दरबारी वेश्याओं तथा रक्षिताओं के मणि मंजीर की मधुर ध्वनि को छोड़कर वह विशाल जन-कोलाहल को सुनने के लिए कभी भी बाहर नहीं निकला। भाव सौंदर्य की अपेक्षा उसे रूप सौन्दर्य अधिक आकर्षित करता रहा। रीतिकालीन कवि ने अपनी समस्त शक्ति नारी-शरीर के रूप चित्रण में लगा दी, उसकी अन्तरात्मा तक वह कभी नहीं जा सका। रीति कवि की इन प्रवृत्ति का प्रधान कारण उस समय का घुटनशील वातावरण है। विदेशी प्रभुसत्ता के सामने देशी रजवाड़े नतमस्तक होकर हतप्रभ हो

चुके थे। सत्तागत तेज के ह्रास हो जाने के कारण उस समय का नरेश वर्ग उस कमी की पूर्ति के लिए कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्य के उपकरणो के भोग द्वारा अपना गम गल्त करना चाहता था। जब मन की गाँठ बाहर नही खुल पाई तो वह नारी शरीर मे चतुर्दिक केन्द्रित हो गई और रीतिकालीन कवि नारी-शरीर के महीन से महीन चित्र उतार कर क्षतिपूर्ति के साधन जुटाने लगा। फलत उस समय में शृंगार रस की प्रधानता मे प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया। इस रसिकता की अभिव्यक्ति उस काल के कवि ने सर्वत्र रीति के परिवेश में की।

(१) शृंगारिकता—शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाल मे सर्वत्र प्रचुरता के साथ दृष्टिगोचर होती है। भक्ति काव्य परम्परा से उन्हें अपने अनुकूल कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हो गई थी जिससे शृंगारिक और कभी-कभी घोर शृङ्गारिक कविता लिखने के लिए उस काल के कवि के लिए द्वार खुल गया। निर्गुण-उपासक सन्त कवि "रति इक तन मे सचरे" कहकर प्रेम को जीवन का सार कह चुके थे। प्रेम-पीर के साधक सूफी कवि लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना कर चुके थे, कृष्ण भक्ति मे जीवन के मृदुल अंश प्रेम भाव का व्यापक वर्णन हो चुका था, साथ-साथ राम भक्ति काव्य मे भी रसिक भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अत रति को या प्रेम भाव को प्रधान मानकर शृंगार की रसराज के रूप मे प्रतिष्ठा उस युग के *लिए स्वाभाविक सी बात थी। उस समय का भौतिक वातावरण भी रीतिकालीन* शृंगारिक मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। इसको शास्त्रीय आधार-भूमि सस्कृत काव्य शास्त्र के रस-नायिका भेद और अलकार ग्रन्थो से प्राप्त हो चुकी थी। अपभ्रंश और प्राकृत के लोक शृंगार परक काव्यो से भी इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रेरणा मिली। नैतिक अनुमति उसे काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो से मिल चुकी थी। भक्ति-काल मे राजनैतिक दासता के शिकार होते हुए भी यहाँ के निवासियो की आध्यात्मिक ज्योति मलीन नही पडी थी, जीवन के प्रति उनकी आस्था का दीप बुझा नहीं था, किन्तु रीतिकाल के वैभव-विलास के उन्मादक वातावरण मे उस समय के कवि की समूची वृत्तियाँ छिछले शृंगार के चित्रण मे रम गईं। किन्तु इस बात का सारा दोष रीतिकालीन कवि पर नहीं मढ़ा जा सकता, इसका बहुत-कुछ दायित्व उस युग के सामन्तो की मनोवृत्ति को है।

शृंगार-वर्णन रीति काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यद्यपि रीतिकालीन कवियों का प्रमुख दार्य विषय नायिका-भेद, नख शिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना है, फिर भी उनके माध्यम से शृंगार का प्रतिपादन किया है। वास्तव मे यही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है। "साधिका आहे जैसा भी रहा हो इसमे दली शृंगारिकता ही।" इसकी अभिव्यक्ति मे उन्होने किसी प्रकार से सकोच नहीं किया। इसलिए उनकी शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रंथियाँ नही हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित अनुचित प्रयत्न। जीवन की वनिता उन्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति मे चाहे वंचित नहीं रही हो, परन्तु शृंगारिक

कुण्ठाओं से ये मुक्त थी। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमडन अथवा मानसिक छलना नहीं है।" डा० नगेन्द्र के उपर्युक्त शब्दों में रीतिकालीन शृंगारिकता का एक विशद एवं निष्पक्ष विवेचन है।

शृंगार रस को मोटे रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—संयोग और वियोग। दर्शन श्रवण, स्पर्श और सलाप संयोग शृंगार में पाये जाते हैं। उक्त भावों को हाव अनुभाव के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। हाव क्रीडापरक है जबकि अनुभाव क्रीडापरक। चमत्कारप्रिय रीतिकालीन कवि हावों के चित्रण में विदग्ध है। इस दिशा में बिहारी का निम्न दोहा एक सुन्दर निदर्शन है —

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनु हँसै दैन कहै नटि जाय॥

रीतिकालीन कवियों ने संयोग में स्पर्श सुख का भी खुलकर वर्णन किया है। देव का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

स्वेद बढ़यो तन, रूप उरोजनि, पोंछिन आंसू, कपोलनि हाँसी।

इन कवियों ने संयोग शृंगार में सुरत-वर्णन के अवसर को भी हाथ से जाने नहीं दिया। "करति कोलाहलु किंकिनी—गह्यो मौन मजीर" लिखना उस कवि के लिए अस्वाभाविक हो नहीं था। अस्तु! इतना ही नहीं उसने तो विपरीत रति के घिनौने चित्र तक उतार दिये हैं। संयोग के प्रसग में हास-परिहास का भी विशेष स्थान होता है, इससे प्रेम में निबिडता और गहनता आ जाती है तथा कथन में एक विशेष भंगिमा के दर्शन होने लगते हैं। इस सम्बन्ध में बिहारी की निम्न पंक्ति दर्शनीय है —

गोरसु चाहत फिरत हौं, गोरस चाहत नाह।

यहाँ नायिका ने नायक पर एक तीखा तथा चोखा व्यंग्य बाण छोड़ा है। नख शिख के चित्रण में अनेक सुन्दर पक्तियाँ हैं, परन्तु उनमें पुनरुक्ति दोष भी है।

रूप-लोलुप रीति-कवियों ने संयोग-पक्ष में स्वयं पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं किया जितना इससे सम्बद्ध हिंडोला और तीज-त्योहार का। पावस में जहाँ प्रेमी प्रेमिका का मिलन हुआ वहाँ कवि रम सा गया। तीज के पर्व पर नायिका के मानसिक उल्लास को देखिए —

काम भूलै उर में, उरोजनि में दाम भूलै,
स्याम भूलै प्यारी को अनियारी अँखियन में।

संयोग-पक्ष के रूप चित्रण में रीतिकालीन कवि विशेष सिद्धहस्त हैं। इस तथ्य का अनुमान इन शब्दों से भली-भाँति लगाया जा सकता है—"परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन कवियों की पहुँच गहरी थी। दूसरी ओर मतिराम, देव, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने में पूर्ण रूप से रमे हैं। उदाहरण के लिए, नयनों के कटाक्षों और चपलता का

इतना सुन्दर वर्णन विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है। जैसे—पद्माकर —

"पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी।"

शृंगार का अन्य पक्ष है वियोग। इसमे पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण आते हैं। रीतिकालीन साहित्यकारो मे देव ने मुग्धा का चित्रण अधिक किया है क्योंकि उसमे भावुकता का अतिरेक होता है। प्राय. सभी रीति-कवियो ने वियोगिनी की दसो दशाओ का मनोरम वर्णन किया है। इन दस दशाओ मे स्मृति, गुणकथन और प्रलाप के द्वारा प्रियतम के हृदय का विश्लेषण किया है। देव ने नायक और नायिका के स्मृति चित्रो का अच्छा वर्णन किया है। पद्माकर की नायिका अपने नायक के गुण का कथन करती हुई कहती है —

"छलिया छबीलो छैल छाती छूवै चलो गयो।"

प्रलाप दशा मे प्रिय के मिलन परिरम्भण आदि के सुख का बखान किया जाता है। इन दशाओ का वर्णन करते समय रूपासक्ति पग-पग पर लक्षित होती है। इन दशाओ का वर्णन करते समय इन्होंने कडिता, मानवती आदि नायिकाओ का उपयोग किया है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर सबने ऐसी नायिकाओ के वियोग शृंगार का वर्णन किया है। नायिका के मानसिक अवसाद का वर्णन देव ने अत्यन्त बारीकी से किया है—

साथ में राखिये नाथ उन्हें,
हम हाथ में चाँहती चार चुरी है।

इसमे कितना दैन्य, कितना विषाद और विवशता भरी हुई है।

इन कवियो ने वियोग वर्णन मे परम्परात्मक रूप से ऋतु-वर्णन भी किया है उसमें किसी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को नही अपनाया। रीतिकालीन नायिका को शुभ्र चन्द्रमा कसाई प्रतीत होता है, किंशुक और अनार उसे अंगार से लगते हैं, चन्दन, चाँदनी और बादल उसके लिए आग बरसाते हैं।

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियो की शृंगारिकता के पर्यवेक्षण के अनन्तर निष्कर्ष रूप मे इनके शृंगार रस के सम्बन्ध मे हम डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दों मे कह सकते हैं—'शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यत भोगपरक था, इसलिए प्रेम के उच्चतर सोपानो की ओर वे नहीं जा सके। प्रेम की अनन्यता, एकनिष्ठता, त्याग, तपश्चर्या आदि उदात्त पक्ष भी उनकी दृष्टि में बहुत कम आए हैं। उनका विलासोन्मुख जीवन और दर्शन सामान्यत प्रेम या शृंगार के बाह्य पक्ष शारीरिक आकर्षक तक ही सीमित रहकर रूप को मादक बनाने वाले उपकरण ही जुटाता रहा। यह प्रवृत्ति नायिका भेद, नख शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन, अलकार-निरूपण सभी जगह देखी जा सकती है।" इन कवियो का प्रेम-वर्णन रसिकता की कोटि से ऊपर नही उभर पाया है। हाँ, घनानन्द आदि रससिद्ध रीतिमुक्त कवियो का शृंगार इस बात का अपवाद समझना चाहिए। इनकी कविता में शुद्ध हृदय से नि सृत प्रेम के उदात्त उद्-

गार हैं। इनके शृंगार मे वासना की दुर्गन्ध नही है और न ही उन्होंने राधा-कन्हाई के सुमिरन के बहाने अपने मानसिक फफोले फोड़े हैं। रीतिबद्ध कवियों की शृंगार-भावना में जो रुग्ण भावना है वह इनमे नही है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इन्हीं कवियो की सृष्टि को मनोमुग्धकारिणी कहा है। वस्तुत इन सौन्दर्योपासक प्रेमी कवियो का शृंगार वर्णन काफी स्वस्थ और मनोरम है। इस दृष्टि से रीतिकाल मे इन कवियों का स्थान अमर है।

(२) आलंकारिकता—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है आलंकारिकता। प्रदर्शन, चमत्कार और रसिकता—प्रधान युग मे इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक भी था। वैसे तो साहित्य मे जनव्यवहृत भाषा की अपेक्षा प्रभविष्णुता तथा ग्रहणशीलता की मात्रा अधिक होती है, किन्तु उक्त चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियो का लक्ष्य और सफलता का मापदंड बन गया था। एक तो उस समय का विलासी राजदरबारी वातावरण था, दूसरा जन-सामान्य की मनोवृत्ति भी कुछ इस प्रकार की बन चुकी थी कि राजदरबारी कवि को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रगों मे रंगना पड़ा। इस आलंकारिकता का एक अन्य कारण था अलकार शास्त्र के अनुसार अपनी कविता-कामिनी को साँचो मे ढालना। बहुत सारे कवियो ने अलकारो के लक्षण और उदाहरण रचे। परन्तु जिन्होंने केवल उदाहरण रचे, उनके मन मे भी अलकारो के लक्षण और स्वरूप काम कर रहे थे। अलंकारशास्त्र के ज्ञान के बिना उस समय के कवि को सम्मान मिलना कठिन था, इसलिए आलंकारिकता इस युग मे खूब फूली फली, और यहाँ तक कि अलंकार साधन से साध्य बन गए और कविता-कामिनी की शोभा बढाने की अपेक्षा उसके सौन्दर्य के विघातक बन गए। उसके फलस्वरूप काव्य का आंतरिक पक्ष निर्बल पड़ गया।

काव्य मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विधान, भावप्रेषणीयता और गहनता तथा तरलता लाने के लिए जरूरी हुआ करता है, किन्तु इन दोनों का सम्यग्विधान वही कवि कर सकता है, जिसे जीवन और जगत् का विस्तृत अनुभव हो। किन्तु सीमित कठघरे मे बन्द रीतिकालीन कवि के पास यह वस्तु थी ही कब। वह तो पिटी राह का राही था। वह संस्कृत के अलंकार शास्त्र के रूढ़िगत उपमानों को लेकर उनका ही पिष्ट-पेषण करता रहा। इस सम्बन्ध मे उसने किसी नवीन मौलिक उद्भावना से काम नही लिया। परिणामत उसके नख-शिख-वर्णन रूढ़िबद्ध और अवैयक्तिक ही बने रहे। रूप-सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत-विधान की अपेक्षा धर्म-सादृश्य विधान सूक्ष्मतर होता है। रीतिबद्ध कवियों मे इस प्रकार के अप्रस्तुतों के विधान को कमी है। घनानन्द मे भले ही इस विधान की प्रचुरता है। रीतिबद्ध कवियों मे देव ने धर्म-सादृश्य-मूलक विधान का अधिक प्रयोग किया है। प्रभाव सादृश्य का प्रयोग रीति साहित्य मे अत्यन्त विरल है क्योंकि इसमें धर्म सादृश्य की अपेक्षा और भी अधिक सूक्ष्मता वाछनीय होती है। सम्भावनामूलक उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग इस

काल के कवि ने खूब किया है। इसका कारण यह है कि इसमे कल्पना की उडान और चमत्कार-प्रदर्शन की काफी छूट रहती है। चमत्कार प्रिय होने के नाते यह अलकार रीति कवि को खूब रुचा। चमत्कारमूलक अलकारो मे से श्लेष, यमक और अनुप्रास का अधिक प्रयोग हुआ। बिहारी ने ऐसे चमत्कारमूलक अलकारो का अधिक प्रयोग किया है, जिन्हे देखकर पाठक आश्चर्यचकित होकर दाद देने पर भी कभी-कभी बाध्य हो जाता है किन्तु स्मरण रखना होगा कि कोरे शाब्दिक चमत्कार प्रदर्शन मे रसोद्रेक की क्षमता बहुत कुछ समाप्त-सी हो जाती है। प्रभाव-उत्पादन के लिए यदि सीमा के अन्तर्गत अतिशयमूलक अलकारो का प्रयोग किया जाए तो निश्चित रूप मे काव्य सौन्दर्य मे अभिवृद्धि होती है, किन्तु जब कवि सीमा का अतिक्रमण करके दूर की कौडी पकडने लगता है तो वहाँ हास्यास्पदता आ जाती है। बिहारी और केशव ने चमत्कार की अतिस्पृहा से ऐसे ऊहात्मक प्रयोग किए हैं कि शोभासृष्टि के स्थान पर अशोभनता आने लगी है। शुक्ल जी ने कदाचित् बिहारी की इसी अतिरजना को देखकर उसकी साँसो के हिंडोले मे झूलने वाली नायिका को घडी के पेंडुलम की उपमा दे दी। केशव तो अलकारो के मोह मे इतने ग्रस्त थे कि उन्होंने रामचन्द्र को उल्लू की उपमा दे डाली और ग्रामीण बालाओ से श्लेष अलकार में वार्तालाप कराने लगे। रीतिकालीन इस आलकारिकता के विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि प्राय उन कवियो ने परम्परा-मुक्त अलकारो का प्रयोग किया है। इसमे काव्य सौन्दर्य मे कोई विशेष अभिवृद्धि नही हुई। निसदेह कही-कही तो अलकारो से बोझिल पक्तियाँ भी मिलती हैं, परन्तु कही-कही अलकारो के रूप मे सुन्दर अप्रस्तुत विधान की योजना भी की गई है। जहाँ कवि एकमात्र अलकार के चमत्कार के पीछे दौडा है वहाँ तो काव्य रूप की विकृति हो गई है अन्तत अधिकाश प्रसगों मे अलकार अनभूति को तीव्र करने के लिए आए हैं। प्रतिनिधि रीति काव्यो मे बिहारी सतसई को छोडकर शेष में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति की बहुलता नही मिलेगी।

(२) **भक्ति और नीति**—रीति-काव्य मे भक्ति और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई मिल जाती हैं, पर इनके आधार पर हम रीति कवि को न तो अनन्य भक्त कह सकते हैं और न उसे राजनीतिनिष्णात। भक्ति के बारे मे उसने सुकविताई के प्रस्थापन की सोची थी। इस बात का नीचे की पक्तियो मे स्पष्ट सकेत है—

रीझि है सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका-सुमिरन को बहानो है॥

राधा-कृष्ण के नामोल्लेख मात्र से रीति कवि को भक्त-परम्परा मे बिठाना नितांत भ्रांत होगा। रीतिकालीन कवि का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता या रसिक को रिझाना। उनके रीझने पर ही कवि अपनी रचना को सफल काव्य मानने को तैयार है नहीं तो अगर वह न रीझे तो बाद म वह सन्तोष

कर लेगा कि चलो कविता न सही तो राधा-कृष्ण का सुमिरन तो हो ही गया। उनकी रचनाओं में राधा-कृष्ण सम्बन्धी भक्तिपरक उद्गार कभी भी स्वीकार नहीं किए जा सकते। इस सम्बन्ध में हमें उस युग की परिस्थितियों को भूल नहीं जाना होगा।

अपनी समसामयिक परिस्थितियों से तंग आकर बेचारे ग्वाल कवि को राधा-कृष्ण से क्षमा माँगनी पड़ी होगी।

श्री राधा पदपद्म को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध को, कियो जु कथन रसाल॥

नीति और भक्ति-सम्बन्धी उक्तियाँ शतक ग्रंथों में उपलब्ध हो जाती हैं। रस ग्रंथों में भक्ति-सम्बन्धी उक्तियों की कमी नहीं। कदाचित इस युग की इन उक्तियों का मूलस्रोत ये ही ग्रन्थ हैं। नीति-सम्बन्धी उक्तियों के लिए जीवन के जिन घात-प्रतिघातों के अनुभव की आवश्यकता होती है वह विलासोन्मुख रीति कवि के पास कहाँ थी। वस्तुतः यह युग अनेक स्वादों का युग था और उस समय के कवि ने अनेक स्वादों से अपने ग्रन्थों को भरना चाहा है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में बिहारी के शब्द द्रष्टव्य हैं—

"करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद"

रीतिकालीन भक्ति के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के विचार विशेष दृष्टव्य हैं—"यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है—हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उसके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसलिए रीति काल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक नायिका के लिए बार-बार हरि-हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया है।

सच तो यह है कि नीति और भक्ति उसके जीवन के अवसान और थकान की द्योतक हैं, *राग की अतिशयता से ऊबकर मनुष्य या तो भक्ति और वैराग्य की साधना* करता है या भ्रियमाण नैतिकता का आँचल पकड़ता है। रीतिकाव्यों के रचयिता इस बात के अपवाद नहीं थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकाल में रचित रीति-आश्रित काव्यों में यत्र-तत्र उपलब्ध भक्ति के कविता खंडों में उसके किसी उदात्त रूप की कल्पना नहीं की गई है किन्तु आधुनिक अनुसंधानों के प्रकाश में आये हुए उत्तर मध्य काल में रचित

शुद्ध भक्ति सवलित असख्य ग्रन्थो से यह स्पष्ट प्रकट है कि उक्त काल मे भक्ति की धारा इतनी क्षीण नही थी जितनी कि प्राय उसे समझा जाता है। नि सन्देह देव मतिराम तथा बिहारी आदि रीति कवियो के भक्ति सम्बन्धी छन्दो पर "राधा कन्हाई सुमिरन को बहाना है" की उक्ति चरितार्थ होती है किन्तु इसी समय मे गुजरात, राजस्थान, पजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मिथिला आदि में सैकडो भक्त सन्त, सूफी तथा जैन कवियो ने शताधिक भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थो का प्रणयन किया जो कि अद्यावधि उपेक्षित रहा है। राम और कृष्ण-भक्ति से सबद्ध रचनाओं की प्रक्रिया भक्ति काल तक ही सीमित अथवा अवरुद्ध नही हो गई बल्कि यह परम्परा रीतिकाल मे भी अखड रूप से गतिशील रही। इस काल मे विशुद्ध रूप से ब्रज भाषा मे प्रणीत तथा गुरुमुखी लिपि मे लिखित ब्रज भाषा सम्बन्धी राम-भक्ति काव्यो की सख्या बहुत अधिक है। कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध नाना सप्रदायो—राधा वल्लभ सखी निम्बार्क चैतन्य, वल्लभ तथा ललित सम्प्रदाय के कवियो तथा पजाब और हरियाणा में गुरुमुखी लिपि मे निबद्ध कृष्ण-भक्ति काव्यो की सख्य सौ से भी ऊपर है। इस युग मे रचित जैन और सन्त कवियो की रचनाएँ अध्यात्म और भक्ति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी सख्या हजार से भी ऊपर चली जाती है। इनमे प्रतिपादित धर्म, नीति, भक्ति और आध्यात्मिकता मे जनता के नैतिक स्तर को काफी ऊँचा उठाया गया है। रीतिकाल मे उपलब्ध भक्ति काव्य परिमाण और साहित्यिकता की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है, अत इसका विशेष अध्ययन अपेक्षित है। राम और कृष्ण से सम्बद्ध मुक्तक, खड तथा प्रबन्धात्मक सभी प्रकार के काव्य उपलब्ध होते हैं। शिव-पार्वती से सम्बद्ध एक रचना का भी पता चला है।

(४) काव्य रूप—रीति कवि के काव्य की सृष्टि का उद्देश्य उस युग के राजाओं और रईसो की रसिकता की वृत्ति को सतुष्ट करना था। वह सर्वत राजदरबारी वातावरण से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति मे चमत्कार उत्पादनार्थ तथा वाहवाही प्राप्ति के लिए उसके मुक्तक काव्य शैली अधिक अनुकूल पडी। वह समय प्रबंधकाव्य निर्माण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। जिन राजदरबारो मे कविपुगवो के दगल लगते हो, और जहाँ पर एक-दूसरे से बाजी मार जाने की होड चलती हो, वहाँ प्रबन्ध-काव्य निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता और फिर इस दिशा मे जो थोडा बहुत साहस किया भी गया हो तो वह निषेध फलीभूत भी नहीं हुआ। प्रबन्ध काव्यों के लिए निरन्तर एकरसता और धैर्य की आवश्यकता होती है, ये दोनो वस्तुएं न तो उस समय के कवि के पास थी और न ही श्रोता के पास।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मुक्तक के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमे कथा प्रसग की परिस्थिति मे अपने आपको भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे रस के ऐसे छीटे पडते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक

चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।' उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ध्वनित है कि आचार्य शुक्ल ने रसमग्नता की दिशा में मुक्तकों को उपेक्षणीय दृष्टि से देखा है। परन्तु स्मरण रखना होगा कि भले ही मुक्तकों में अविच्छिन्न रस धारा के दर्शन नहीं होते किन्तु उनमें गहराई अवश्य पाई जाती है। संस्कृत साहित्य में कवि अमरुक के एक-एक मुक्तक पद्य को शत-शत प्रबन्ध काव्यों की क्षमता रखने वाला कहा गया है। हिन्दी के विद्यापति, सूरदास, घनानन्द के मुक्तक पद्यों के सम्बन्ध में भी उक्त तथ्य पूर्णतः चरितार्थ होता है। बिहारी के कुछ दोहों में पूरी गहराई और रसोद्रेक क्षमता के दर्शन होते हैं। देव में भी रसोद्बोधन पर्याप्त मात्रा में है। रीतिकाव्य के सम्बन्ध में समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है कि उनकी मुख्य विशेषता रसोद्रेक में न होकर चमत्कार-प्रदर्शन में है।

रीतिकाव्य में, अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि बीच-बीच में छप्पय, बरवै, हरिपद आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है किन्तु रीति-कवियों की प्रवृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में ही रमी है। कारण, कि ये छन्द ब्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पड़ते थे और जिन भावों का वर्णन इनमें किया उनके भी ये उपयुक्त पड़ते थे। अवधी भाषा का बरवै छन्द भी लालित्य में इनके समान बैठता है अतः उसका प्रयोग भी इस काल में किया गया। रीतिकालीन कवि चमत्कारप्रिय थे। इस चमत्कार प्रदर्शन के लिए जिन शब्दालंकारों—यमक अनुप्रास आदि का आश्रय लिया है तथा अर्थालंकारों का ग्रहण किया है, उनके द्योतन के लिए भी उपर्युक्त छन्द अनुकूल पड़ते थे। दूसरे, रीति कवि को ये छन्द अपने पूर्ववर्ती साहित्य से परम्परा-रूप में भी प्राप्त हुए थे फिर इन्हें निज रुच्यनुकूल पाकर उन लोगों का सारा ध्यान इन्हीं छन्दों पर ही केन्द्रित हो गया। रीतिकाल में शृङ्गार रस का अधिक उपयोग हुआ है। ये छन्द उसकी प्रकृति के भी सर्वथा अनुकूल थे। नीति और सूक्तियों को भी दोहा जैसे छोटे छन्द से सफलतापूर्वक लिखा जा सकता है। कवित्त और सवैया जैसे छन्द वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए बड़े सफल सिद्ध हुए।

वैसे तो इस युग में कुछ प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये परन्तु वे मुक्तक काव्यों की अजस्रधारा के सामने विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सके।

(५) **ब्रजभाषा की प्रधानता**—ब्रजभाषा इस युग की प्रमुख साहित्यिक भाषा है। आलंकारिकता-प्रधान युग में भाषा के सजीव और शृंगार के सम्बन्ध में कवि को विशेष सतर्कता और जागरूकता से काम लेना पड़ता है। भारतीय-साहित्य में

लालित्य के क्षेत्र मे सस्कृत भाषा के पश्चात् व्रजभाषा का स्थान आता है। एक तो यह मध्यदेशीय भाषा थी, दूसरी यह प्रकृति से मधुर थी और साथ ही कोमल रसो की सुन्दर ग्रभिव्यक्ति की इसमे अपार क्षमता थी। यही कारण है कि रामचरित-मानस तथा पदमावत जैसे ग्रवधी भाषा मे लिखे हुए काव्यो के होने पर भी रीति-कवि व्रजभाषा के प्रति आकर्षित हुग्रा, उसे सजाया, सवारा और निखारा। डॉ० नगेन्द्र इस काल के कवि की भाषा के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"भाषा के प्रयोग मे इन कवियो ने एक खास नाजुक मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द को गुंजाइश नही, जिसम माधुय नही है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरो के गुम्फन मे इन्होंने कभी भी त्रुटि नही की। सगीत के रेशमी तारो मे इनके शब्द मणिक्य मोती की तरह गुंथे हुए हैं। नागरकता और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।"

वर्ण मैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मक, शब्द गति, शब्द शोधन, अनेकार्थता, व्यग्य आदि की विशेषता इस काव्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलती है। यह काल व्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है। इस समय व्रजभाषा मे विशेष निखार, माधुर्य और प्रञ्जलता का समावेश हुआ और भाषा मे इतनी प्रौढता आई कि भारतेन्दु-काल तक कविता-क्षेत्र मे इनका एकमात्र आधिपत्य रहा और आगे के समय मे भी इसके प्रति मोह बना रहा। यह व्रजभाषा के माधुर्य का परिणाम था कि हिन्दी मे मुसलमान कवियो न भी इसी भाषा का प्रयोग किया और बगाल के कुछ वैष्णव भक्त-कवियो ने भी इसका प्रयोग किया। दास ने तो व्रजभाषा की सीमा ही बढा दी। वे केवल व्रजमडल मे बोली जाने वाली भाषा को ही व्रजभाषा कहने को तैयार नही वरन् व्रजभाषा तो अपने मधुर रूप में कवियो की रचनाओ मे ही मिलती है परिणामत उसमे अवधी, राजस्थानी और बुन्देलखण्डी के शब्दो का भी समावेश हुआ। पूर्वी और छत्तीसगढी आदि अनेक बोलियो के कोमल तथा व्यजक शब्द इनमे समाविष्ट हुए। अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण इसने अरबी और फारसी जैसी विदेशी भाषाओ से शब्दो का चयन किया। एक ओर तो व्रजभाषा मे बोलियो के सम्मिश्रण की प्रक्रिया चलती रही दूसरी ओर कवियो ने उनके शुद्ध व्याकरण-सम्मत रूप के प्रयोग पर विशेष ध्यान नही दिया बल्कि स्वेच्छानुसार उसे तोडा-मरोडा भी। ऐसे कवियों में भूषण और देव का नाम खास तौर पर बदनाम है। भूषण ने व्रजभाषा के शब्दों के साथ-साथ अरबी, फारसी के शब्दो की तोड मरोड की है। देव ने तुक, अनुप्रास तथा यमक के आग्रह स शब्दो की तोड-मरोड मे मनमाना व्यवहार किया है। पद्माकर की भाषा भी उक्त दोष से रहित नही है। बिहारी की भाषा मे अवधी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी आदि प्रादेशिक भाषाओ की गहरी छाप है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा म कारक चिन्हो की गडबडी, लिंग-सम्बन्धी दोष, क्रिया रूपो की अनक रूपता, पद विन्यासगत शिथिलता आदि के दोष देखे जा सकत हैं। हाँ, इन कवियो मे बिहारी की कविता भाषा अपने कतिपय दोषो के बावजूद भी टकसाली भाषा का

नमूना है। हालांकि रीतिकाल तक पहुँचते-पहुँचते ब्रजभाषा में च्युत संस्कृति आदि दोषों का सर्वथा परिहार हो जाना चाहिए था पर वह हुआ नहीं, यह एक आश्चर्य की बात है और कदाचित् यही कारण है कि ब्रजभाषा मे गद्य-लेखन की क्षमता नहीं आ सकी। इस काल की भाषा की इस त्रुटि को लक्ष्य रखकर आचार्य हजारीप्रसाद ने ठीक ही कहा है – "भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ परन्तु उसे इस योग्य बनाने का यत्न किसी ने नहीं किया कि वह गम्भीर विचार-प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।"

परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि इस काल मे परिनिष्ठित भाषा लिखने वाले थे ही नहीं। रसखान और घनानन्द की भाषा को सब लोगो ने परिनिष्ठित ब्रजभाषा माना है। बिहारी की भाषा अपनी त्रुटियों के बावजूद भी टकसाली कही जाएगी। भाषा प्रयोग के क्षेत्र में कहीं-कहीं तो इन्होंने तुलसीदास को भी पीछे छोड़ दिया है। कोमल-कान्त पदावली की दृष्टि से देव और पद्माकर ने तुलसी को पीछे छोड़ दिया है। भाषा की जो मसृणता और लचकीलापन देव और पद्माकर मे दिखाई देता है वह तुलसी मे नहीं। तुलसी का कवित्व बहुत कुछ वर्णनात्मक होकर रह गया है। जबकि देव और पद्माकर में वातावरण-निर्माण और मूर्ति-योजना की गहरी क्षमता दिखाई देती है।

रीति मुक्त कवियों—बोधा और घनानन्द आदि की भाषा के विषय मे पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के विचार अवलोकनीय हैं—"घनानन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी है। वाग्योग का ऐसा विधान शब्दों का मनमाना और निरर्थक प्रयोग करने वालों में कहाँ लोकोक्तियों का जैसा विनियोग ठाकुर ने किया है हिन्दी के किसी दूसरे कवि ने नहीं। घनानन्द की रचना में तो भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाच्य ध्वनि और उदध्वनि तो दूर रही पदार्थ ध्वनि से भी जगह-जगह काम लिया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

'मेरो मनोरथ हू बहिये अब है मो मनोरथ पू नकारो।"

तात्पर्य यह है कि रीतिमुक्त कवि भाषा के प्रयोग मे पूर्णतः सक्षम थे किन्तु अधिकांश रीति-कवियों की भाषा ने शुद्धता की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया।

(६) **लक्षण ग्रन्थों का निर्माण**—रीतिकाल में कवि-कर्म और आचार्य कर्म एक साथ चलते रहे। रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर प्रायः इस काल के सभी कवियों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है। रीतिसिद्ध कवियों ने तो सीधे रूप मे लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया। रीतिसिद्ध कवियो ने केवल उदाहरण जुटाये, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्यांग-सम्बन्धी किसी लक्षण को नहीं लिखा पर उनके सभी उदाहरणों की पृष्ठभूमि में रीति शास्त्र काम कर रहा है। इस प्रसंग में इतना स्मरण रखना होगा कि ये दोनों कार्य—कवि-कर्म और आचार्य-कर्म—परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। कवि के लिए माता का सा भावप्रवण हृदय अपेक्षित होता है। आचार्य-कर्म

की सफलता के लिए प्रौढ मस्तिष्क और सर्वांग पूर्ण सतुलित विवेचन-शक्ति की अपेक्षा हुआ करती है। रीतियुगीन साहित्यकार सर्वप्रथम भावुक हृदय वाला एक कोमल भावनाओं का चितेरा है, आचार्य-कर्म को तो उसे परम्परावश निभाना पड़ा, उस युग में कुछ ऐसी परिपाटी चल पडी थी कि कोई भी कवि रीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना राजदरबार में आदर का पात्र नही बन सकता था। फलत सभी कवियो ने पाडित्य प्रदर्शन किया परन्तु लक्षण-ग्रन्थो के निर्माण म इन लोगो की सफलता सदिग्ध है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन इस प्रवृत्ति को लक्ष्य रखकर ठीक ही कहा है कि इन रीतिकारो के रीति ग्रन्थो पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियो का ज्ञान अधूरा समझना होगा क्योकि इन्हें स्वय भी रीतिशास्त्र का परिपक्व ज्ञान नही था। नि सन्देह इन रीतिग्रन्थो मे काव्यागो का कोई प्रौढ विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि कई स्थलो पर तो भद्दी भूलें भी की हैं। प्रौढ विवेचन तो दूर रहा, कुछ ने तो सस्कृत के आधारभूत शास्त्रीय ग्रन्थो का अनुवाद भी सम्यक् रूप से नही किया। वस्तुत प्रौढ विवेचन तभी सम्भव होता है जबकि काव्य के विभिन्न सम्प्रदायों की उस क्षेत्र में स्थापना हो चुकी हो। हिन्दी के रीति-कवियों के निर्माण के समय हिन्दी मे ऐसा नही बन पड़ा था। दूसरे रीतियुग के आचार्य ने या तो ह्रासोन्मुख सस्कृत साहित्य के उस समय के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो का आश्रय लिया जबकि काव्य के अग और अगी का भेद भी स्पष्ट नहा हो पाया था। उन्होंने मम्मट या ध्वनिकार के ग्रन्थो को अपने आश्रय रूप मे ग्रहण नहीं किया। यदि ग्रहण किया भी है तो बहुत थोड़े आचार्यों ने। दूसरे, उस रसिक प्रधान युग के व्यक्ति की काव्य सम्बन्धी प्रौढ ज्ञान के प्राप्त करने के लिए अभिरुचि भी कहाँ थी ? उन्हें तो रीतिशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान अपेक्षित था और उसकी पूर्ति इन लक्षण-ग्रन्थो से निश्चित रूप मे हुई। डॉ० भागीरथ के शब्दो मे, "वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षणकारों या रीति ग्रन्थकारो के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नही थी। इनका उद्देश्य विद्वानो के लिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थो का निर्माण नहीं था, वरन् कवियो और साहित्य-रसिको को काव्यशास्त्र के विषयो से परिचित करना था। सस्कृत के आचार्यों की परिपाटी यह नही बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारो का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढाते। अत यह तथ्य है कि हिन्दी काव्यशास्त्र या रीति-ग्रथों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य-क्षेत्र मे और हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो के अध्ययन मे इस प्रकार के काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गये ग्रन्थो की सख्या भी बहुत बडी है।"

(७) वीररस की कविता—वैसे रीति-युग प्राय शान्ति और समृद्धि का समय है किन्तु औरगजेब के क्रूर और आतकमय शासन ने भारतीय प्रशान्त वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया। अब पूर्ववर्ती सम्राटों की उदारता की नीति का स्थान औरगजेब की कट्टर असहिष्णुता की नीति ने लिया। उसने हिन्दू-जनता पर अकथनीय

अत्याचार किये। फलत चिरकाल से प्रसुप्त वीरात्मक प्रवृत्तियाँ पुन जाग उठीं। दक्षिण मे महाराज शिवाजी पजाब मे गुरु गोविन्दसिंह राजस्थान मे महाराणा राजसिंह और जसवन्तसिंह का सेनापति दुर्गादास तथा मध्य प्रदेश मे छत्रसाल आदि वीर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए औरगजेब के साथ लोहा लेने को उठ खडे हुए। अपने आश्रयदाताओ की धमनियों मे अपने आततायी के विरुद्ध खडे होकर सबल टक्कर लेने के लिए नवीन रक्त का सचार करने के लिए कवियो ने भी वीर रसात्मक कविताओ की रचना की। इस प्रकार शृगार की प्रधान धारा के साथ क्षीण रूप मे वीर रस की धारा भी इस काल मे बहती रही। यह इन दो विरोधी रसों का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। भूषण, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने बडी ओजस्विनी भाषा मे वीर रसात्मक काव्य की सृष्टि की। इन वीर रस के कवियों में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है। कुछ लोग इन कवियो की राष्ट्रीयता पर आपत्ति उठाया करते हैं। उनका कहना है कि इनमे जातीयता है। अस्तु, इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि प्रत्येक युग के राष्ट्रीयता के मापदण्ड भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। किसी युग की राष्ट्रीयता का निर्धारण करते समय उस युग की परिस्थितियों को भुला देना ज्यादा सगत है।

आधुनिक अनुसधानो के फलस्वरूप वीररस से ओत शताधिक रचनायें प्रकाश मे आई हैं। ये रचनायें—राजस्थान, पजाब, हरियाणा तथा अन्य कई प्रदेशों में निर्मित हुई हैं। इस रचना-बाहुल्य को देखते हुए लगता है कि उत्तर मध्यवर्ती काल—रीतिकाल में जहाँ शृंगार-रस का चित्रण प्रधान विषय बना रहा वहाँ वीर रस का निरूपण भी उससे गौण नहीं था। डॉ० टीकमसिंह तोमर ने अपने शोध प्रबन्ध "हिन्दी वीर-काव्य" (१७००-१६००) में ६० वीर काव्यो की सूची प्रस्तुत की है जिसका रचना काल-रीतिकाल मे पडता है। इन रचनाओं मे वीर रस के सभी भेदों—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर का सफलतापूर्वक अकन किया गया है। इसके अतिरिक्त रासो, रायस अथवा रास नाम धारी ग्रन्थ तथा बात, वेल और वचनिका नामधारी-रचनाओ का पता चला है जिनमे वीररस का कलात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। ये रचनायें प्राय राजाश्रय मे लिखी गई हैं। इनमे आश्रयदाता के वश, उन देशो मे वीरता तथा दानशीलता की गौरव गाथाओं के अतिरजना पूर्ण वर्णन हैं। हरियाणा और पजाब में उपलब्ध वीर काव्य गुरुमुखी लिपि मे निबद्ध थे अत बहुत समय तक विद्वानो का ध्यान इन महत्त्वपूर्ण वीर-गाथाओं की ओर नहीं गया। डा० जय भगवान गोयल ने ऐसे २५ वीर काव्यों की सूचना दी है। उनका विश्वास है कि भविष्य के अनुसधानों द्वारा ऐसे अनेक अन्य काव्यों की प्रकाश में आने की सभावना है। इन रचनाओ की भाषा ब्रज है। इनमें से गुरु गोविन्द सिंह, सन्तोख सिंह, सतरेण तथा सुक्खा सिंह की—वीर-रचनायें वीररस निरूपण की दृष्टि से उत्तम निदर्शन कही जा सकती हैं। इनमे तत्कालीन राजनीतिक चेतना तथा युग बोध पर्याप्त मात्रा मे हैं। ये वीर काव्य रीतिकालीन परम्परागत शृ गारिकता के

प्रभाव से मुक्त हैं। रीतिकालीन वीर-काव्यों का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से अपेक्षित है।

(८) **सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य**—रीति काल मे दो प्रकार के प्रेम काव्यों की रचना हुई। कुछ काव्य आध्यात्मिक प्रेम सिद्धान्त निरूपक हैं और कुछ लौकिक प्रेम परक। पहली प्रकार के सूफी काव्यो का निर्माण मुसलमान सूफी कवियों तथा हिन्दू सन्त कवियो ने किया। मुसलमान सूफी कवियो मे कासिम शाह, नूर मुहम्मद और शेख निसार विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दू कवियो मे सूरदास और दुखहरनदास अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सूफी काव्यो का पूर्ण उत्कर्ष भक्ति काल मे दृष्टिगोचर होता है किन्तु यह काव्यधारा उन्नीसवी शती तक निरन्तर प्रवाहित होती रही।

लौकिक प्रेम काव्यो के लेखकों मे बोधा, चतुर्भुजदास, आलम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

(९) **आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण**—रीति-काव्य मे प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप मे हुआ। प्रकृति आश्रय रूप अथवा स्वतन्त्र रूप मे बहुत ही कम चित्रण हुआ है और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि रीति-कवि दरबारी कवि था उसके पास प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण मे विचरने का अवकाश भी कब था अत उसके काव्य में वाल्मीकि, कालिदास का-सा प्रकृति का बिम्बग्राही रूप नही मिलता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप मे चित्रण भी परम्परा-मुक्त है। प्रकृति का चित्रण नायक और नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल ही किया गया है। सयोग मे उसका मनोमुग्धकारी उत्फुल्ल रूप है और वियोग मे विदग्धकारी रूप। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण षट्ऋतु और बारहमासे की चित्रण-पद्धति पर हुआ है। सयोग-पक्ष मे पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नही, जितना इससे सम्बद्ध हिंडोले और तीज-त्यौहार का। पावस में प्रेमी-प्रेमिका के मिलन-अवसर पर कवि का मन खूब रमता हुआ-सा दिखाई देता है। रीति-कवि की नायिका को वियोग-काल मे शुभ्र चन्द्रमा कसाई का काम करता हुआ दिखाई देता है। पपीहे की पी-पी प्राण लेने लगती है। उसके लिए चन्दन और चाँदनी आग बरसाते हैं। इन रीति कवियो में सेनापति को प्रकृति-चित्रण मे काफी सफलता मिली है। वैसे रीतिकालीन कवि प्राय, प्रकृति के प्रति तटस्थ थे। जहाँ सस्कृति मे प्रकृति की एक-एक अदा पर सस्कृत कवि का मन थिरकने लगता है, जहाँ आषाढ का प्रथम दिन उसे पूरा काव्य निर्माण की प्रेरणा देता है, वहाँ हिन्दी मे, रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी ने एक-एक दोहे मे एक-एक ऋतु का वर्णन करके छुट्टी पा ली। रीति-काव्य मे प्रकृति के सश्लिष्ट चित्र नही मिलते हैं। कहीं-कहीं तो इन लोगो ने इस प्रसग मे अपने अज्ञान का भी परिचय दिया है। प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी इनके दृष्टिकोण का परिचय केवल के निम्न शब्दो म शब्दो म भली-भांति मिल जाता है :—

"ताते मुख मुखै सखि कमलौ न चन्द री।"

(१०) अभिव्यञ्जना-पद्धति—किसी भी युग के साहित्यकार की अभिव्यञ्जना-पद्धति या प्रणाली उसकी वैयक्तिकता का प्रतीक होती है जो कि उसके साहित्य में सहज रूप में समाविष्ट हो जाती है। कवि अनुभूतियों को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट शब्दों, मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों का चयन अपनी व्यक्तिक अभिरुचियों के अनुसार किया करता है। अतः रीति-काव्यों की शैलीगत विशेषताओं के उद्घाटन के लिए हम उनके द्वारा गृहीत शब्दों विशेषणों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का विवेचन करेंगे और इसके साथ-साथ उनकी भावाभिव्यञ्जना की नाना प्रणालियों का भी विश्लेषण करेंगे।

मानव-जीवन के समान शब्दों का जीवन भी नाना विलक्षणताओं से परिपूर्ण होता है। कुछ शब्द किसी विशिष्ट युग में नवीन अर्थवत्ता ग्रहण कर लेते हैं। भक्तिकाल में राधा और कृष्ण शब्दों में जो सात्विकता लिपटी हुई थी उसका रीतिकाल में सर्वथा परिहार हो गया और वे साधारण नायक-नायिका नन्दू और नन्दू के अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, रीतिकाल के अन्तिम चरण में कन्हैया और साँवलिया में नई अर्थवत्ता ही नहीं भरी गई वरन् व्यावहारिक जीवन में भी लोग कन्हैया और साँवलिया का नाटक खेलने लगे। रीतिकाल में प्रयुक्त लाल और लला शब्दों का भी यही हाल समझना चाहिए। कविता में वातावरण-निर्माण के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का विशेष महत्त्व है। इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए रीति-कवि ने तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, रणनात्मक, अनुकरणात्मक तथा सभ्रमात्मक। बिहारी, देव, दास तथा पद्माकर आदि ने इन शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है। जैसे—'झमिरिया झनकैंगी खरी', "रणत भृंग घंटावली", "फहर-फहर होत पीतम को पीत पट" इन शब्दों से उपस्थित किया गया ऐन्द्रिय वातावरण उस काल के उपभोगात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। रीति कवि द्वारा प्रयुक्त विशेषणों में चित्रोपम सौन्दर्य निहित है।

यह बात हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि रीतिकाल में सामन्ती वातावरण चतुर्दिक फैला हुआ था। बेशक मुगल शासकों के दरबार में हिन्दी को भी थोड़ा बहुत संरक्षण मिला हुआ था परन्तु जो प्रश्रय फारसी और उर्दू तथा उनके कवि को मिल रहा था वह हिन्दी कवि को नहीं। फलतः रीति-कवि को उनसे होड़ लेनी थी। कदाचित् यही कारण है कि उसने फारसी कवि जैसी ऊहात्मक पद्धति को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये अपनाया।

(११) नारी चित्रण—हम पहले बता चुके हैं कि मुगल शासन की निरंकुश सत्ता के सम्मुख देशी रजवाड़ों के नरेशों का तेज आहत हो चुका था। मुगल दरबार-के प्रचुर विलास का अनुकरण करना ही उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था। मानो यह एक मनोवैज्ञानिक रूप से क्षतिपूर्ति थी। राज्याश्रित कवि नारी के कुच-कटाक्ष के महीन से महीन विलासात्मक रंगीले और भड़कीले चित्र उतार कर अपने स्वामी के गहरे मानसिक विषाद को दूर करने में प्रयत्नशील थे। उनके सामने नारी

का एक ही रूप था और वह था विलासिनी प्रेमिका का। नारी उनके लिए एकमात्र भोगविलास का उपकरणमात्र थी। नारी के अनेक रूपों—गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी आदि—पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। वे नारी शरीर के सौन्दर्य सरोवर में सतह पर ही गोते खाते रह गये। एक साहसी मरजीवा के समान उनकी आत्मा के सौन्दर्य के तल पर नहीं पहुँच सके और यह उनसे सम्भव ही नहीं था, क्योंकि वे कुछ ऐसे वातावरण में चारों ओर से आबद्ध थे कि वे जीवन को व्यापक दृष्टिकोण से न ही देख सके और न वे नारी-जीवन की अनेकरूपता को अवगत कर सके। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"रीति काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं—अर्थात् न उसमें आत्मा की अतल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है। जहां सभी प्रकार की दौड़ धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अचल-छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है, उस पर अंकित जीवन-चित्र भी स्वभावत एकांगी है।"

इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण यह नारी-जीवन के सामाजिक महत्त्व, उसके श्रद्धामय रूप और उसकी मातृ शक्ति को देख नहीं सका। वह केवल तनद्युति का अनुरागी था और उसका वह अनुराग यहाँ तक बढ़ चुका था कि वह अपनी आराध्य देवी के भी शारीरिक लावण्य पर ही रीझता रहा है— तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग'। रीतिकालीन कवि की नारी अपने प्रागण में लाल के द्वारा उड़ाये हुए पतंग की छाया को चूमती फिरती है और कदाचित् पुत्र की हथेली को इसलिए चूमती है कि उसमें अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब मिलता है, जैसे कि वात्सल्य नाम की वस्तु उसमें रह ही नहीं गई। कभी-कभी वह जारज योग का स्मरण करती हुई मुस्करा रही है। ऐसे लगता है कि मानो वासना ही उसके जीवन का खाना-पीना, ओढ़ना-बिछौना सब कुछ हो। आचार्य हज़ारीप्रसाद की रीतिकालीन शृंगार भावना में रुग्णभावना बतलाना उपयुक्त ही है।

रीतिबद्ध कवियों के द्वारा तो नारी के सामाजिक जीवन के महत्त्व का उद्घाटन हो ही नहीं पाया, रीतिमुक्त कवियों में भी उसका यह महत्त्व व्यक्त नहीं हो पाया। सभी बँधी बधाई लकीर पर उसके अंग-प्रत्यंग की शोभा, हाव-भाव और विलास चेष्टाओं का वर्णन करते रहे। इस सम्बन्ध में आचार्य हज़ारीप्रसाद के शब्द विशिष्ट रूप से अवलोकनीय हैं—"यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथासम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। देव ने कहा है—

कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति॥

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, यह केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर है।" नारी-जीवन के प्रति रीति कवि के

इस सकुचित दृष्टिकोण का दायित्व एक तो उस समय के वातावरण पर है और दूसरा है कामशास्त्रीय ग्रन्थों के अभाव पर। नायिका भेद पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि रीति-कवि ने सर्वत्र रूप के प्रति गहरी आसक्ति प्रदर्शित की है। नायिका होने के लिए किसी स्त्री का सुन्दर होना पहली शर्त है—

मानो रची छवि मूरति मोहिनी,
औघर ऐसी बखानत नायिका।

(१२) मनोवैज्ञानिक चित्रण—रीतिकाल मे स्त्री पुरुष के यौन-सम्बन्धो की महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है। हमारे भारत मे कामशास्त्रीय ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा है और कदाचित् रीतिकालीन कवि ने अपने साहित्य मे उसका उपयोग भी किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्राइड ने स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धो की अतीव दूरगामी चर्चा की है। वे प्रत्येक क्रिया-कलाप का उत्स काम को मानते हैं, जो कि हमे अस्वीकार्य है। रीतिकालीन कवि इस दिशा मे संस्कृत साहित्य की परम्परा से प्रभावित हुआ है। रीतिकाल के समय मे समाज मे विलासिता और कामोत्तेजना की प्रवृत्तियाँ अत्यधिक बढ चुकी थीं, अतः रीतिकालीन साहित्य मे स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धो के वर्णन मे निर्बाध कामुकता और ऐन्द्रियता का समावेश हुआ। पद्माकर के शब्दो मे—

निसि जागी लागी हिय प्रीति उमगत गात।
उठी न सकत आलस वलित सहज सलौने गात।

रीतिकाल में नायिका भेद के अन्तर्गत पद्मिनी, चित्रणी आदि के भेद कवि के कामुक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। रीतिकालीन साहित्य यौन विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटाता है।

(१३) प्रतियोगिता की भावना—रीतिकालीन कवि के व्यक्तित्व के आचार्यत्व और कवित्व की प्रवृत्तियों के साथ-साथ प्रतियोगिता की भावना भी प्रबल रूप से विद्यमान है। वह अपने काव्य-भाषा और सिद्धान्तो के प्रतिपादन से अपने समान धर्मा कवियो से निज उत्कृष्टता की स्थापना के कार्य में व्याकुल है। यद्यपि उक्त भावना संस्कृत के कवियों में भी मिलती है किन्तु उसमे अपेक्षाकृत गम्भीरता बनी रही। रीतिकाल में इसका क्रमागत ह्रास होने लगा। इसका कारण कदाचित् बादशाहो के महलों मे लगने वाले उर्दू और फारसी के कवियों के दगल हैं। राज-दरबार मे अपनी सर्वोत्कृष्टता की सिद्धि की तीव्र लालसा ने रीतिकाल के आचार्य और कवियों मे इस प्रवृत्ति को बढावा दिया।

(१४) पराश्रयिता की भावना—रीतिकालीन कवि और समाज अपेक्षाकृत अधिक पराश्रित हैं। रीति-कवि एवं आचार्य का व्यक्तित्व, आजीविका और भावाभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता की कृपा दृष्टि पर अवलम्बित है। उसके द्वारा किये गये नायिका भेद तथा उसके विस्तार प्रसार मे उसके निजी स्फुरण की न्यूनता

है। उसके नायिका भेद विस्तार के पीछे संस्कृत कवि से बाजी मारने की भावना काम कर रही है। वह अपने साहित्य और काव्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए संस्कृत कवियों तथा आचार्यों पर अधिकतर निर्भर रहा है। इस प्रकार रीतिकालीन कवि द्वारा वर्णित समाज तथा उसके काव्य साहित्य ज्ञान पर पराश्रयिता की स्पष्ट छाप है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि रीतिकाल के कवि ने सब कुछ उधार लिया हुआ है या उसका साहित्य विशिष्ट व्यक्तित्व से शून्य है। सच यह है कि संस्कृत साहित्य की विशाल परम्परा उसे रिक्त में मिली थी और उसने उसका सम्यक् उपयोग किया और इसके साथ-साथ उसने विशाल संसार को भी अपनी आँखों से देखा। हाँ, इस विषय में रीतिकालीन कवि की संस्कृत साहित्य पर अत्यधिक अवलम्बिता अवश्य चिन्त्य है। रीतिकालीन कवि में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रति अवज्ञा का यह भाव खटकता अवश्य है।

(१५) विविधमुखी साहित्य—रीतिकाल भारतीय संस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल है। इस युग में ज्ञान-संग्रह के रूप में अनेक विषयों से सम्बद्ध ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें ज्योतिषी, सामुद्रिक शास्त्र, रमल शालिहोत्र, कामशास्त्र, राजनीति, पाकशास्त्र, सुरापान, संगीत शास्त्र आदि का निरूपण है। इससे उस समय के साहित्य की व्यापकता का जहाँ आभास होता है, वहाँ ऐहिकता के प्रति तत्कालीन जागरूकता का भी परिचय मिलता है। रीतिकालीन साहित्य को केवल शृंगार रस तथा काव्यशास्त्रीय विषय की दृष्टि से देखना और उसका मूल्यांकन करना समीचीन न होगा। उसे उसके बृहत् परिपार्श्व में देखना हितकर होगा।

(१६) वर्णन शैली तथा रीति कवि का व्यक्तित्व—प्रायः रीति कवि ने अपने काव्य में मध्यकालीन साहित्य की वर्णन शैली का आश्रय लिया है। यह शैली संस्कृत कवि बाण के समय में प्रचलित थी और उसका प्रयोग रीतिकाल तक निरन्तर होता रहा है। संस्कृत के 'अलंकार शेखर' तथा 'शृंगार तिलक' ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' तथा केशव की 'कवि-प्रिया' आदि ग्रन्थ वर्णक शैली के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। इन ग्रन्थों में कवि के प्रतिपाद्य विषयों का निर्धारण कर दिया गया है। बाद में परिवर्तित-परिस्थितियों और आवश्यकतानुसार उक्त शैली के अन्तर्गत नवीन विषयों का भी समावेश कर लिया गया। इस शैली में जगल, बाग-बगीचों के वर्णन, वृक्षों, पुष्पों, पक्षियों की घिसी-पिटी रूचियों, उद्यान, क्रीडा, सलिल क्रीडा, हाथियों-घोड़ों के भेद-प्रभेद तथा उनकी चालों की वर्णन करने की परम्परा थी। बाद में इसमें ज्योतिष, कामशास्त्र, पौराणिक विषय तथा पकवानों का भी शनैः शनैः समावेश होता गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो २ विषय जन रुचि के अधिक निकट पड़ते गये उन सबका समावेश कवियों ने उक्त शैली के अन्तर्गत कर लिया। हमारा दृढ विश्वास है कि अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक', विद्यापति की 'कीर्तिलता', जायसी का 'पद्मावत', केशव की कविप्रिया तथा बिहारी की सतसई वर्णक शैली के अन्तर्गत है। बिहारी सतसई में अनेक स्वादों के भरने की प्रवृत्ति—(करी बिहारी सतसई,

भरी अनेक स्वाद) उक्त शैली की ज्ञापक है। बिहारी-सतसई में ज्योतिष, पुराण तथा गणित सम्बन्धी उक्तियों के आधार पर बिहारी की उपर्युक्त विषयों में विशेषज्ञता अथवा अपार-पांडित्य की दुहाई देना निरर्थक है। मध्य युग मे अनेक विषयों के वर्णन की परम्परा परिनिष्ठित हो चुकी थी और बिहारी आदि ने भी उसी का अनुसरण किया है।

व्यक्तित्व और शैली परस्पर अपरिच्छिन्न वस्तुएँ हैं। रीतिकवि के सामन्ती वातावरण में राज-सभा में प्रवेश पाने और राजसम्मान प्राप्त करने के लिए अनेक विषयों की जानकारी का प्रमाण प्रस्तुत करना होता था। निम्नस्थ कथनों मे उपर्युक्त तथ्य की सम्यक् परिपुष्टि हो जाती है :—

(क) जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि जोरि अक्षर कवित्तन को उचरौं।
बैठि जानो सभा मांझ राजा को रिझाय जानो,
अस्त्र बांधि खेत धर्म-सत्रु न सौं ही लरौं।
राग धरि गाऊँ और कुराऊँ धीरे राग धरि,
कूप ताल बावरीन मारेन में हौं तरौं।

(ख) विद्या पढ़े क कछु सगीता, सामुद्रिक ज्योतिष गुन गीता।
काव्य कोक आगम हू बखानहूँ, षट् राग रागिनि संग गाऊँ।
नृत्य चतुर्गन वेद बिनानी, हेस चातुरी उक्ति कहानी।
पशुभाखा और बल तरन धातु रसायन जानु।
रतन परख और चातुरी सकल मर्म सम्मानु॥

१७८६ में उत्पन्न उर्दू कवि जौक ने कुछ इसी प्रकार की बहुज्ञता की दुहाई दी है—

किस्मत से लाचार हूँ ऐ जौक वगरना।
हर फन में हूँ ताके मुझे क्या नहीं आता॥

(१७) जीवन दर्शन—रीति काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि। इस काल के कवि का मुख्य उद्देश्य है जीवन और यौवन के वास्तविक और रमणीय स्वरूप का चित्रण करना। उसके बीच-बीच आई हुई आध्यात्मिकता या तो परम्परागत संस्कारवश आई है अथवा सामाजिक बाधाओं से बचने के लिए कवि ने उसे कवच बनाया है। नायिका भेद और रस निरूपण में जो चित्र उपन्यस्त किए गए हैं वे किसी अतीन्द्रिय लोक के नहीं, वे इसी लोक के हैं। डॉ० भागीरथ के शब्दों में—"ऐसे लगता है कि रीति-कविता के रचयिता यौवन और वसन्त के कवि हैं। जीवन का फूलता हुआ सुघर रूप ही उन्हें प्रिय है। पतझर, संघर्ष और विनाश सम्भवतः स्वतः जीवन में इतने घोर रूप में विद्यमान था कि कवि काव्य में भी उसको उतार कर नैराश्य और निवृत्ति की भावना को जगाना नहीं चाहता है। वह तो फूलते-फलते जीवन का भ्रमर है। उसने जीवन का एक ही

स्वरूप लिया, एक ही पक्ष लिया, यह इस धारा के कवि की सकीर्णता है, दुर्बलता है और एकागिता है। परन्तु जिस पक्ष को इसने लिया है उसके चित्रण मे उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। उसके समस्त वैभव और विलास के चित्रण मे उसने कलम तोड दी है।"

निःसन्देह रीति कवि में रूढ़िबद्धता, अवैयक्तिकता और यान्त्रिकता है, परन्तु इनके लिए हम रीति-कवि को सर्वथा दोषी नहीं ठहरा सकते। रीति काव्यो मे पाई जाने वाली यान्त्रिकता तत्कालीन जीवन की यान्त्रिकता है। राजा तथा प्रजा दोनों एक बँधी बँधाई लीक पर चल रहे थे। रीति-कवि की रूढ़िबद्धता का मुख्य कारण इसका अवैयक्तिक दृष्टिकोण है। उसके अभाव में रीति-काव्यो में चित्रित नर-नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कहीं नहीं दिखाई पडता—दीखती हैं केवल बँधी बँधाई उन्मादक चेष्टाओ तथा स्वभाव और गात्रज अलकारो के वृत्त में चक्कर काटती हुई खेल खिलौनों-सी नारियाँ। रीति-कवि का जीवन दर्शन एक सीमित कठघरे में बंधा हुआ है। इस घेरे से बाहर जाकर उसने कभी नीति और भक्ति की सूक्तियाँ भी कही, किन्तु वह शीघ्र ही अपने घेरे में लौटकर आराम की साँस लेता है। ऐसी दशा में उससे व्यापक जीवन दर्शन की आशा कैसे की जा सकती है ? इस व्यापकता के अभाव में उसके काव्य में जीवन के विविध उतार-चढाव, उत्थान पतन और जीवन की स्फूर्तिदायिनी शक्तियों का न मिलना स्वाभाविक भी है। इस व्यापकता के अभाव के कारण उसमें गहराई और गम्भीर चिन्तन नहीं आ पाये हैं। ये आ भी कैसे सकते थे। क्योंकि एक तो वह रसिकता प्रधान युग था और दूसरे उस समय का कवि सस्कृत की ह्रासोन्मुख परम्परा का अन्धानुकरण कर रहा था। फलत चिन्तन का स्थान प्रदर्शन और अलकरणप्रियता ने ले लिया और उसके काव्य मे हल्कापन आ गया। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि रीति-कवि के गृहीत जीवन दर्शन से उस समय का समाज तथा हिन्दी-साहित्य कुछ भी उपकृत नही हुए। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के निम्न शब्द विशेष विचारणीय हैं—"उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है। जहाँ सभी प्रकार की दौड धूप से शान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभावो को भूल जाता है। उसका आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए स्थान नहीं है। उस पर अकित जीवन चित्र भी स्वभावत एकांगी है परन्तु उसमें एक मधुर-रमणीयता, मन को विश्राम देने का गुण अवश्य है। घोर निराशा के इस युग में कवि किसी न किसी रूप में सचार करते रहे। मैं समझता हूँ, कम से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए।"

निःसन्देह इनके दृष्टिकोण में अवैयक्तिकता, रूढ़िबद्धता और यांत्रिकता है, परन्तु इन्होंने जीवन को अपनी आँखों से देखने के कार्य को बन्द नही कर दिया था। यह दूसरी बात है कि इनका गृहीत क्षेत्र अत्यन्त सीमित था परन्तु उस सीमित क्षेत्र

का चित्रण निश्चित रूप से स्तुत्य ही माना जायेगा। आचार्य हजारी प्रसाद के शब्द इस सम्बन्ध मे विशेष द्रष्टव्य हैं—"कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर दिया। नायिका भेद की सकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सकता था। इसका उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है उनका दोष जरूर है कि यह चित्र असम्पूर्ण और विच्छिन्न है।"

रीतिकालीन साहित्य में ऐन्द्रियता को देखकर इस साहित्य को गन्दी नालियों में फेंक देने की रट लगाने वाला आलोचक रीति कवि और उसके साहित्य के प्रति घोर अन्याय करेगा। ऐंद्रियता छायावादी कविता दीपशिखा आदि के वर्णन में भी है। उसे किसी प्रकार की अश्लील अथवा शालीनता की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। हाँ अन्तर केवल इतना है कि रीतिकालीन नायिका का वर्णन ऐन्द्रिय मान लिया गया है और छायावाद की दीपशिखा का वर्णन अतीन्द्रिय। डॉ० भागीरथ के शब्दों में—"इस धारा के कवि ने जीवन के लिए एक अदम्य वासना जागृत कर दी है, सौन्दर्यानुभूति और सुरुचि की एक सुकुमार कसौटी प्रदान की है। रूप विवेचन का विवेक और भावों की परख की दृष्टि इस काव्य में मिलती है। यह काव्य रमणीय है जो इसे निन्दनीय और उपेक्षणीय समझते हैं वे यौवन के भावों और वसन्त के विकास को भी गर्हित करने की चेष्टा करते हैं। इस काव्य की प्रवृत्तियाँ विश्व काव्य में भी सर्वत्र प्रचुर मात्रा में मिलती हैं और हिन्दी-साहित्य के भी प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही काव्यों में इन प्रवृत्तियों की सत्ता कम या अधिक मात्रा में खोजी जा सकती है। केवल एक चेतावनी इस काव्य के सम्बन्ध में दी जा सकती है और वह यह कि उसे चुने हुए रूप में पढ़ना अधिक श्रेयस्कर है।" तथ्य यह है कि इन्होंने साहित्य देवता के चरणों पर केवल घोंघे ही नहीं चढ़ाये वरन् बहुमूल्य रत्न भी अर्पित किये हैं। इस काल के कवि परम्परागत प्रवृत्तियों के ही आश्रित नहीं रहे वरन् उन्होंने नवीन उद्भावनायें भी की हैं और अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी साहित्य को अलकृत भी किया है। आचार्य शुक्ल जैसे लोकसग्रह के पक्षपाती आलोचक को भी इन कवियों में साहित्यिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में लिखना पड़ गया था—'ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण सस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक सख्या न होगी।' डॉ० नगेन्द्र के शब्द इस विषय में और भी अधिक महत्वपूर्ण बन पड़े हैं—"परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था वहाँ इन नयनों की प्यास अमिट थी वास्तव में इन कवियों से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किसमें हो सकती थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक से बारीक सकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, घनानन्द, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रग विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।"

(१८) हिन्दी गद्य साहित्य का निर्माण—रीति काल में गद्य-लेखन का कार्य

भक्ति काल की अपेक्षा अधिक हुआ। इस युग में प्राप्त ब्रज और राजस्थानी का गद्य निश्चयत समृद्ध व प्रचुर है। इस काल में खड़ी बोली, दक्खिनी हिन्दी और मैथिली में भी गद्य-लेखन का कार्य अधिक सक्रिय रहा। खड़ी-बोली गद्य के प्रारम्भिक निर्माता, इशा अल्ला खाँ, सदा सुखलाल, सदल मिश्र और लल्लू लाल तथा उनके पूर्व वर्ती लेखक राम प्रसाद निरजनी रीति युग की देन है। अत: रीति युग को आधुनिक हिन्दी गद्य के विविध रूपों का प्रस्फुटन काल कहा जा सकता है।

रीति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियो के विवेचन के पश्चात् रीति-काव्य की विशेषताओं का परिचय हम इस प्रकार दे सकते हैं—

(१) रीति काल का काव्य यद्यपि शृ गार प्रधान है पर इस शृगार रस की साधना में जीवन के सतुलित दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। इसमें ऐन्द्रियता की प्रचुरता है और रसिकता की प्रधानता है।

(२) प्रदर्शन प्रधान युग में काव्य के बाह्य पक्ष अलकार की ओर कवि ने सर्वाधिक रुचि दिखाई। अलकार के इस अनावश्यक मोह के कारण कहीं कहीं पर कविता कामनी की आत्मा बुरी तरह से अभिभूत हो गई है। इस युग में वीर रसात्मक कविता भी हुई है।

(३) घुटनशील वातावरण से ऊब कर कभी-कभी उसने भक्ति और नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ भी लिखी हैं परन्तु उसका मन अपने सीमित घेरे में ही रमा है। भक्ति-सम्बन्धी दोहों के आधार पर उन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। भिन्न रुचि वालों के मनोरंजन के लिए रीति कवि ने शृ गार नीति, भक्ति और वैराग्य विषयक उक्तियों का सृजन किया है—

शृगारे रमति चैक वैराग्ये चरित चापर।
नीतौ विलसति चैक रुचि भेद हि कारणम्॥

(४) उसने प्राय मुक्तक काव्य लिखे क्योंकि वह युग काव्य के इसी स्वरूप के अनुकूल था। कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय छन्दों का प्रयोग किया गया।

(५) उसमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यजना मिलती है। इनकी भाषा ब्रज है पर उसमें अन्य बोलियों का भी सम्मिश्रण है। च्युत-सस्कृति का दोष उसमें अधिकांश कवियों में मिल जाता है।

(६) इस काव्य में लक्षण ग्रंथों के आधारभूत ग्रथ प्राय सस्कृत काव्यशास्त्र अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रथ हैं। इनमें काव्य की विशेषताओं के समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। इसमें काव्य शास्त्रीय-सम्बन्धी प्रौढ़ विवेचन का अभाव है, इन ग्रन्थों में लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण सह अधिक लोकप्रिय, उत्कृष्ट एव सुन्दर हैं।

(७) यद्यपि रीतिकाव्य में शृगारी-कविता की प्रधानता है किन्तु वीररस की क्षीण धारा भी उसके साथ-साथ प्रवाहित होती रही है। भूषण, लाल और सूदन आदि

कवियों ने ओजस्विनी भाषा में वीर रसात्मक काव्य की सृष्टि की है।

(८) प्रकृति का परम्परा-मुक्त रूप में चित्रण है। आलम्बन रूप में उसका ग्रहण किया गया है। प्रायः रीति कवि प्रकृति के प्रति तटस्थ-सा दीख पड़ता है।

(९) इन कवियों की अभिव्यंजना-प्रणाली विशेष मनोरम है। इनके नयनों में रूप की प्यास अमिट थी। बिहारी, मतिराम, घनानन्द पद्माकर जैसे कवियों की सम्पूर्ण चेतना सौन्दर्य से आमूल-चूल स्नात है।

(१०) सामन्ती वातावरण में साँस लेने वाले कवि का नारी-जीवन के प्रति अत्यन्त संकुचित और सीमित दृष्टिकोण रहा है। नारी उसके लिए एक मात्र भोग का उपकरण है, उसका सामाजिक महत्व कुछ भी नहीं।

(११) रीति कवि ने स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्धों का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। इस दिशा में उन पर भारतीय कामशास्त्र का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है।

(१२) राज सभा के कवियों में परस्पर स्पर्धा और प्रतियोगिता की भावनाओं का चलना अनिवार्य होता है। रीतिकवि भी इसका अपवाद नहीं है। राजदरबार में अपनी उत्कृष्टता की सिद्धि की उत्कट लालसा ने रीति कवि में प्रतियोगिता और स्पर्धा की भावनाओं को खूब प्रोत्साहित किया।

(१३) रीति कवि के काव्य शास्त्री ग्रंथ तथा उसका शृंगारी काव्य संस्कृत के काव्य शास्त्र और उसकी शृंगारी परम्पराओं का अनुसरण करते रहे हैं, अतः उनमें मौलिकता और चिन्तन का अभाव है। रीति कवि में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रति अवज्ञा एक खलने वाली वस्तु है।

(१४) रीति काल में केवल-शृंगारी-साहित्य का ही प्रणयन नहीं हुआ, बल्कि उसमें ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, रमल शालिहोत्र काम शास्त्र, राजनीति, पाक शास्त्र, सुरादान तथा संगीत शास्त्र आदि का भी निर्माण हुआ है। रीति काल का साहित्य विविध-मुखी है, अतः उसे उसके बृहत् परिपार्श्व में देखना हितकर होगा।

(१५) रीति कवि ने वर्णक शैली का प्रयोग किया है। केशव और बिहारी का साहित्य उक्त शैली का निदर्शन है। रीति कवि का व्यक्तित्व उसकी व्यवहृत वर्णक शैली की अनुरूपता में है।

(१६) इनका जीवन-दर्शन रूढ़िबद्ध, अवैयक्तिक और यांत्रिक है। इनके द्वारा अंकित जीवन चित्र अत्यन्त संकीर्ण और सीमित है पर वह निश्चित रूप से विश्वसनीय और मनोरम है।

(१७) इस काल में दो प्रकार के प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रणयन हुआ— सूफी-प्रेम-काव्य तथा लौकिक प्रेम काव्य। इन का लेखन हिन्दू और मुस्लिम कवियों ने समान रूप से किया।

(१८) प्रस्तुत काल में हिन्दी-गद्य के विविध रूपों का बीजवपन और प्रस्फुटन हुआ।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि यह रीति काव्य शास्त्र की दृष्टि से चाहे इतना महत्वपूर्ण न हो परन्तु कवित्व की दृष्टि से बडा मनोरम है। इस काव्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्य अक्षुण्ण है।

रीति-कवि का रीति-निरूपण (आचार्यत्व)

हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में रीति-निरूपण अथवा आचार्य कर्म का निर्वाह दो रूपों में सम्पन्न हुआ है। रीतिबद्ध कवियों ने साक्षात् रूप में लक्षण ग्रथ लिखकर काव्यांगों का निरूपण किया है परन्तु रीतिसिद्ध कवियो ने लक्षण ग्रथ न लिखकर लक्ष्य ग्रथो का निर्माण किया है, परन्तु इनके लक्ष्य ग्रथों के उदाहरणो की पृष्ठ भूमि में रीतिशास्त्र अवश्य काम कर रहा है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रीतिसिद्ध कवि भी शास्त्र के पडित अवश्य थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से रीति ग्रथो का प्रणयन उस काल मे प्रचुर रूप से हुआ। इस काल के काव्यशास्त्रीय ग्रथो को लक्ष्य रख कर हिन्दी के समर्थ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखा है—'हिन्दी में लक्षण ग्रथों की परिपाटी पर रचना करने वाले सैकडों कवि हुए हैं, वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव मे कवि ही थे।" आगे चलकर वे फिर लिखते हैं—"इन रीति ग्रंथों पर निर्भर रहने वालों का ज्ञान कच्चा और अधूरा ही समझना चाहिए।" ..."इन रीति ग्रथो के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यागों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।"

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त कथनों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे रीति-कालीन लक्षण-ग्रन्थकारों को आचार्य न मानकर कवि स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए अनेक युक्तियाँ भी दी हैं जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। उनका कथन है कि हिन्दी-साहित्य मे यह एक अनूठा दृश्य खडा हुआ। सस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे हैं। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। यहाँ पर कवि और आचार्य कर्म को एक ही व्यक्ति ने निभाना चाहा। सस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न भिन्न व्यक्ति रहे हैं। सस्कृत-साहित्य में जिन लोगों ने कवि और आचार्य कर्म का एक साथ निर्वाह करना चाहा है वे आचार्य के नाते प्रसिद्ध हैं कवि के नाते नहीं। उदाहरणार्थ, आचार्य विश्वनाथ, क्षेमेन्द्र, राजशेखर और पडितराज जगन्नाथ को विशेष सफलता और ख्याति आचार्यत्व के क्षेत्र में मिली है। तथ्य तो यह है कि दोनों परस्पर विरोधी कर्म हैं। एक में हृदय पक्ष की प्रधानता होती है तो दूसरे में मस्तिष्क पक्ष की। इन दोनों का साथ निभ सकना टेढ़ी खीर है। अस्तु, अपवाद तो सर्वत्र हुआ करते हैं। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन कवियों को आचार्य मानने के पक्ष मे निम्न दलीलें दी हैं :—

(क) आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की

आवश्यकता हुआ करती है उसकी इन लोगों में कमी थी।

(ख) इन हिन्दी-रीतिकाव्यों में काव्यांगों के विस्तृत निरूपण का अभाव है। तीक्ष्ण तर्कों द्वारा खंडन-मंडन नहीं हुआ है। इनमें नये-नये सिद्धान्तों का कुछ भी प्रतिपादन नहीं हुआ है जबकि इनके बिना आलोचना के किसी भी प्रौढ़ सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकती है।

(ग) काव्यांगों के तर्कपूर्ण विवेचन के लिए सुव्यवस्थित और सुविकसित गद्य का होना आवश्यक होता है किन्तु रीतिकाल में गद्य का समुचित विकास नहीं हो पाया था और न ही इन लोगों ने विवेचनार्थ गद्य का अपेक्षित प्रयोग किया है जैसा कि संस्कृत-साहित्य में। दूसरा इन लोगों ने "चन्द्रालोक" की पद्धति को अपनाया। इस पद्धति से अभीष्ट स्पष्टीकरण आ ही नहीं सकता है।

(घ) उस काल में आचार्यत्व का परिस्थिति-जन्य मोह-सा उत्पन्न हो गया था। बिना आचार्यत्व के ज्ञान के राज्याश्रय-प्राप्ति असम्भव थी। राजा स्वयं कविता करने के लोलुप थे। केशव जैसे आचार्य उन्हें इस सम्बन्ध में शिक्षा दिये करते थे।

(ङ) इन रीति कवियों ने उप-रूपक और कुवलयानन्द अलंकार-ग्रन्थों को अपना आधार बनाया जबकि उक्त ग्रन्थों के रचना काल तक अलंकार और अलंकार्य का भेद भी स्पष्ट नहीं हो पाया था, तब उन ग्रन्थों के अनुकर्त्ता काव्यांगों का विवेचन कर पाते यह संभव भी कैसे था?

(च) जब तक साहित्य के क्षेत्र में निश्चित वादों और काव्य-संप्रदायों की स्थापना न हो जाये तब तक किसी भी साहित्यिक धारा की समुचित मीमांसा नहीं हो सकती है।

(छ) वस्तुत: ये रसिक कवि थे और इनका उद्देश्य भी कविता करना था। शृंगार के सरस पद्यों का तो इन्होंने सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है किन्तु शास्त्रीय विषय को वे ठीक रूप से उपन्यस्त नहीं कर सके।

(ज) इन कवियों ने संस्कृत-साहित्य के उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख शास्त्रीय ग्रन्थों की शैली को अपनाया जबकि खंडन-मंडन की पद्धति समाप्त हो चुकी थी।

आचार्य शुक्ल ने इन रीति-कवियों द्वारा विवेचित काव्य-विशेष के आधार पर भी इसके आचार्यत्व को दिखलाया है।

(क) रस – इस क्षेत्र में इन्होंने किसी मौलिक उद्भावना से काम नहीं लिया है। मुख्य रूप से शृंगार रस का विवेचन किया गया है। अन्य रसों की तो नाम-मात्र गणना है। रौद्र और बीभत्स जैसे विरोधी रसों को अन्तर्निहित कर दिया गया है। शृंगार रस भी क्या है नायक-चित्रण मात्र है। संस्कृत-साहित्य से भी अधिक संख्या में इन्होंने नायिकाओं की पलटनें खड़ी कर दी हैं। मानों इन्होंने अपनी सारी शक्ति बुद्धि और कल्पना नायिका के भेदोपभेदों पर लगा दी हो। किन्तु इस नायिका भेद का कोई शास्त्रीय महत्व नहीं है। हाँ, देव ने संचारी भावों में एक ३४ वें संचारी भाव "छल" की कल्पना अवश्य की है, परन्तु वह भी निरर्थक है क्योंकि छल का—

अवहित्था नामक संचारी भाव में अन्तर्भाव हो जाता है।

(ख) अलंकार—इस क्षेत्र में प्रायः शब्दालंकारों को तो छोड़ ही दिया गया है। कुछ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अत्यन्त भ्रामक दिये गये, जैसे—भ्रम, सन्देह, स्मरण। भाविक छवि अलंकार की नवीन कल्पना निरर्थक है क्योंकि इसका अन्तर्भाव भाविक में ही हो जाता है। दास द्वारा आविष्कृत नवीन अलंकार—"सम्भावनातिशयोक्ति" सम्बन्धातिशयोक्ति है और कुछ नहीं। केशव द्वारा निरूपित रूपकालंकार के भेद—अद्भुत, विरुद्ध और रूपकातिरूपक-नितांत असंगत हैं।

(ग) शब्द-शक्ति—शब्द-शक्ति सम्बन्धी विवेचन विरलों ने किया है। उपमान-लक्षण का लक्षणोदाहरण असंगत है। देव ने जो "तात्पर्या' नाम की चतुर्थ शब्द-शक्ति का उल्लेख किया है। वह उसकी कोई नवीन उद्भावना नहीं है। उसकी चर्चा "साहित्य-दर्पण" में पहले से ही हो चुकी थी। फिर सच तो यह है कि अभिधा के होने पर तात्पर्या की आवश्यकता ही नहीं।

(घ) दृश्य-काव्य—इन्होंने श्रव्य काव्य-सम्बन्धी विवेचन किया, दृश्य काव्य को तो बिल्कुल छोड़ ही दिया है। श्रव्य-काव्य के भी कतिपय अंगों का विवेचन किया है, काव्य-रूपी पुरुष के सभी अंगों का सामूहिक रूप से विवेचन नहीं किया।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी रीति-काव्यों के आचार्यत्व निरूपण के कार्य को एकांगी बताया है और आचार्य हजारीप्रसाद ने इस क्षेत्र में उनके स्वाधीन चिंतन के प्रति अवज्ञा के भाव को बताया है। इस प्रसंग में इन दोनों के कथन भी विशेष द्रष्टव्य हैं।

"आचार्य और कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत कुछ नकल की गई और वह भी एकांगी।"　　　　　　　　　　　　　　　　(आचार्य श्याम सुन्दरदास)

"शास्त्र मत की प्रधानता ने इस काल के कवि को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति के प्रति अति सावधान बना दिया। इन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया। इसलिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।'　　　　　　　　　　　　　　　　(आचार्य हजारीप्रसाद)

हिन्दी रीति-ग्रन्थों के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये विश्लेषण के अनन्तर हमारे मन में स्वाभाविक रूप से कुछ प्रश्न उठने लगते हैं। क्या रीति-ग्रन्थकर्त्ता अपने उद्देश्य में एकमात्र असफल रहे हैं ? क्या उनका रीति-सम्बन्धी ज्ञान अपरिपक्व था ? क्या उनमें नवीन मौलिक उद्भावनाओं का अभाव था ? क्या उनसे हिन्दी-साहित्य कुछ भी उपकृत नहीं हुआ ?

हिन्दी रीति-ग्रन्थों का परीक्षण करते समय हम उनके दृष्टिकोण तथा उस युग की रुचि को कभी भी भुलाना नहीं होगा। रीति-ग्रन्थ कर्त्ता हिन्दी कवि के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए डॉ० भागीरथ मिश्र अपनी पुस्तक "हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास" में लिखते हैं—वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षण-

कारों या रीति-ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन् कवियों और साहित्य रसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धांत या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह एक तथ्य है कि हिन्दी-काव्यशास्त्र या रीति-ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य के क्षेत्र में और हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गये ग्रंथों की संख्या भी बहुत बड़ी है।"

अब हम उक्त प्रश्नों का समाधान डॉ० नगेन्द्र द्वारा लिखित "रीति काव्य की भूमिका" नामक पुस्तक के आधार पर करेंगे।

मौलिक विवेचना—मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के पश्चात् मूल सिद्धान्त-विषयक उद्भावनायें प्रायः निःशेष हो गईं। संस्कृत साहित्य में भी मम्मट के पश्चात् काव्य-सिद्धान्तों का केवलमात्र सम्पादन और स्पष्टीकरण ही होता रहा। फिर हिन्दी रीतिकार से उस मौलिक उद्भावना एवं स्वतन्त्र चिन्तन की आशा किस प्रकार की जा सकती है। हिन्दी लक्षणकार सिद्धान्तों का उचित विवेचन और स्पष्टीकरण कर देते तो भी खैर थी, परन्तु वैसा न कर सकने के कुछ कारण थे—

(१) संस्कृत साहित्य के उत्तरकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को आश्रय रूप में ग्रहण करना।

(२) हिन्दी लक्षणकार द्वारा रचित रीति-ग्रन्थों के श्रोता रसिक थे, पंडित नहीं। रसिकों में अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने के लिए धैर्य कहाँ था?

(३) गद्य के अभाव के कारण मार्मिक विवेचन सम्भव नहीं था।

(४) कुछ रीति कवियों का रीति-सम्बन्धी ज्ञान अपरिपक्व था। उन्होंने काव्य-शास्त्र सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने की अपेक्षा उलझाया अधिक है। परिणामतः इस विषय में कई भ्रांतियाँ हुईं।

(५) उनका उद्देश्य शौकीन मिजाज राजा, रईसों और रसिक नागरिकों को काव्यांगों का साधारण-सा ज्ञान कराना था। मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन उनका लक्ष्य नहीं था।

हाँ, हिन्दी के सभी रीतिकारों का ज्ञान अपरिपक्व था, वे स्वयं अधकचरे और अधूरे थे या वे संस्कृत में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अनुवाद भर भी प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, सो ऐसी बात नहीं। इस वस्तु का ज्ञान हमें भली-भाँति उस समय के लक्षणकारों की निरूपण शैलियों के देखने के पश्चात् होगा। इस काल में काव्यांग निरूपण की प्रधानतः तीन शैलियाँ रही हैं—काव्य प्रकाश के आधार पर, शृंगारतिलक के आधार पर, चन्द्रलोक के आधार पर। काव्यप्रकाश की शैली पर लिखने वालों ने काव्य के

सभी अगों पर प्रकाश डाला है। शृ गार तिलक की पद्धति पर नायिका के भेदोप-भेदो का वर्णन किया गया है और चन्द्रलोक के आधार पर अलकारों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं।

काव्य प्रकाश की शैली पर लिखने वाले हैं—चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, श्रीपति, रसिक गोविन्द सोमनाथ और जसवन्त सिंह। शताब्दियों के विस्तृत रीतियुग में यदि वास्तविक आचार्यत्व के कुछ अधिकारी कवि हुए हैं तो यही छ सात ही। इन्होने बडी गम्भीरतापूर्वक विषय का प्रतिपादन किया है। इनके आचार्यत्व में सदेह एव शका की तनिक भी गु जाइश नही।

इसमे सदेह नहीं कि कई लक्षणकारों के लक्षण और उदाहरण भ्रामक हैं तथा अस्पष्ट हैं और यह भी ठीक है कि इन पर निर्भर रहने वाले व्यक्ति का ज्ञान कच्चा और अधूरा होगा। परन्तु इनका अपना ज्ञान कच्चा और अधूरा था। ऐसा कहना उनके प्रति महान् अन्याय करना होगा। प्राय ये सभी रीतिशास्त्र के गम्भीर पडित थे और इनका अध्ययन व्यापक था, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके काव्य विवेचन का माध्यम गद्य नहीं था।

यह कहते समय कि हिन्दी लक्षणकार शब्द-शक्तियों और अलकारों के पार्थक्य प्रदर्शन में उलझे रहे हैं और उसमे स्पष्टता नही ला सके क्योंकि हमें उन विषयो की नैसर्गिक जटिलता और सूक्ष्मता को भी भुलाना नहीं होगा कि ये विषय तो ऐसे हैं कि सस्कृत के अनेक आचार्य इसमें सफल नहीं उतर पाये। गुणों और रीतियों का विवेचन इसका प्रमाण है।

इन रीति-ग्रथों में आई हुई अस्पष्टता का भी कारण स्पष्ट है। सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रथों में सर्वप्रथम सूत्र, तदनन्तर उस पर कारिका और फिर उस कारिका की विस्तृत व्याख्या गद्य में की गई है। तत्पश्चात् कोई सुपरिचित उदाहरण उपन्यस्त किया है। इस क्रम से सस्कृत साहित्य में अभीष्ट स्पष्टता आ गई है। पर रीति ग्रथो मे कवियो ने अपने उदाहरणों को गढा है। इस प्रकार कवित्व और पाडित्य का बडा अद्भुत सम्मिश्रण होता रहा। उन्होंने विषय की विस्तृत विवेचना के लिए गद्य का भी आश्रय नहीं लिया है, फिर अपेक्षित विवेचन-तत्त्व का उनके साहित्य मे आ पाना असम्भव भी था। पर सारे के सारे लक्षणकार अधकचरे और अधूरे थे, ऐसा कहना तो अपनी अल्पज्ञता को प्रदर्शित करना होगा, दूसरा उस समय के लक्षणकार के प्रति अन्याय भी करना होगा। कुलपति मिश्र, दास और रसिक गोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त समझ कर व्याख्या के लिए गद्य का भी आश्रय लिया है। उन्होने अनेक आचार्यों के विभिन्न मतों को भी उपन्यस्त किया है। इनका अनुवाद भी सर्वथा दोषरहित है।

हम ऊपर रीति ग्रथकारो की तीन शैलियों की चर्चा कर चुके हैं। इसमें दूसरी शैली है नायिका भेद निरूपण की। इसमे इनका विवेचन तर्क-सिद्ध न होकर रस सिद्ध है। तीसरी शैली अलकार निरूपण की है। इसमें इनका उद्देश्य अलकार निरूपण एव

विवेचन है। इस उद्देश्य में वे सफल रहे हैं। इन्होंने शब्द-अलकारो की जो अपेक्षा की है उसका कारण चन्द्रलोक है।

इन लक्षण ग्रथकारों ने इस क्षेत्र में बिल्कुल भी किसी नवीन उद्भावना से काम नहीं लिया है, ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है। इस क्षेत्र मे कुछ नवीन उद्-भावना भी हुई हैं। जैसे रसराज शृ गार में सभी रसो की अन्तर्निहित, शृ गार के भेद जैसे—प्रच्छन्न और प्रकाश। देव ने रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद किये हैं। उन्होंने फिर अलौकिक रस के तीन भेद कर दिये हैं स्वाप्निक मनोरथिक तथा औपनायिक। भाव वर्णन के क्षेत्र मे केशव ने जुगुप्सा के लिए निन्दा का प्रयोग किया है। अब नायिका भेद को लीजिए। हिन्दी का नायिका भेद सस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के रीति-कवियों ने किया ही क्या है। उनके इस वर्णन को अशास्त्रीय भी नहीं कहा जा सकता है। नायिका का वात, पित और कफ के आधार पर विभाजन किया गया है जो कि प्रकृति के आधार पर है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नायिका के भेदो का विभाजन इसी आधार पर किया गया है। अलकार क्षेत्र में जो भयकर अव्यवस्था है इसका एकमात्र कारण चन्द्रालोक है। एक दोष इनका यह भी है कि इन्होंने अलकारादि के निरूपण के समय अन्धानुकरण से काम लिया है। अपने युग का ध्यान नही रखा, अन्यथा कुछ अलकारो को भी छोड़ा जा सकता था। इन्हें निरूपण के लिए जिस सुगम शैली को अपनाना चाहिए था उसे भी नहीं अपनाया।

यदि गम्भीरतापूर्वक देखें तो मालूम होगा कि इन बेचारों की सीमायें इतनी अधिक थीं कि सन्तोषजनक सफलता किसी को भी न मिल सकी। उसमें वांछित काव्य मर्मज्ञता तो थी पर उसके पास उसे व्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम नही था। दूसरे सस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र विवेचन का साहस भी उनके पास नहीं था। अत प्रथम कोटि के आचार्यों मे तो इनकी गणना नहीं हो सकती और द्वितीय कोटि के व्याख्याकारो मे इनका स्थान नीचे रह जाता है, परन्तु हिन्दी साहित्य मे इनको आचार्य माना जा सकता है।

अन्त मे हम उपर्युक्त विवेचन के सम्बन्ध मे डॉ० नगेन्द्र के शब्दों म यह कह सकते हैं—"सारांश यह है कि इस युग में काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए हैं। प्रकाड विद्वानों की भी कमी नहीं थी। परन्तु एक तो युग की रुचि गम्भीर नहीं रह गई थी, लोग मीमांसा का नहीं, रसिकता का आदर करते थे। इसलिए इनकी दृष्टि सस्कृत के उत्तरकालीन अलोचक साहित्य-शास्त्र से ऊपर नहीं जा पाती थी। दूसरे, सबसे बड़ा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नहीं हो पाया।"

सच तो यह है कि रीतिकाल भारतीय सस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल है। इस काल म प्राय सस्कृत-साहित्य के सभी विषयो के ग्रथो का अनुवाद।

हिन्दी में हुआ, जिसका उद्देश्य उन सब विषयों का परिचय मात्र कराना था। ऐसी दशा में वर्णनात्मकता ही स्वाभाविक थी। यदि रीति-कवि को विवेचनात्मकता अपेक्षित होती तो वह निश्चित रूप से गद्य का प्रयोग कर सकता था। उसके समय में गद्य का सर्वथा अभाव नहीं था, बल्कि उसने इसकी जरूरत ही नहीं समझी। गद्य का प्रादुर्भाव भक्ति काल में हो चुका था और उसका यथावसर सदुपयोग भी किया जा चुका था।

इन लक्षण-ग्रंथकारों की आलोचना करते समय हमें यह भी याद रखना होगा कि वे जिस युग में साँस ले रहे थे वह रसिकता-प्रधान युग था और उसकी परितृप्ति ही इनका मुख्य उद्देश्य था फिर इनके विवेचन में अपेक्षित प्रौढ़ता, गम्भीरता और परिपक्वता का आना सम्भव भी कैसे था। दूसरी बात एक और भी है, वह यह कि यह युग इन लक्षण ग्रंथों का प्रारम्भिक युग था। प्रारम्भ में गहनता और प्रौढ़ता का आना तनिक दुष्कर व्यापार है। संस्कृत साहित्य की इस दिशा में जो प्रौढ़ता और अत्युच्च विवेचनात्मकता आ पाई है, वे शताब्दियों के चिन्तन और मनन का परिणाम हैं।

रीति-कालीन कवि का व्यक्तित्व बड़ा विलक्षण है। उसमें चारण, सभा कवि, राजगुरु, आचार्य और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय है :—

जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि २[1] आखर कवितन को उच्चारौं।
बैठि जानौं सभा माँझ राजा को रिझाय जानौं,
अस्त्र बाँधि खेत माँझ सत्रुन सौं हौं लरौं,
राग और गाऊँ और कुदाऊँ घोड़े बाग धरि।
कूप ताल बरवरीन नारम में हौं तरौं।
दीनबन्धु दीनानाथ ये ते गुन लिये फिरौं,
करम न यारी देत ताको मैं कहा करौं॥

ये एक साथ कवि थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगार रस से परिपूर्ण प्रशंसापरक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते विभिन्न काव्यांगों का परम्परागत शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया। उसके रीतिग्रन्थ इस दोहरे उद्देश्य का लक्ष्य रखकर लिखे गये। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि इन कवियों को शृंगार रस की धारा प्रवाहित करने के लिए साधन रूप में बहुत सी सामग्री अनायास मिल गई। दूसरा लाभ यह है कि विलासप्रिय एवं कामुक राजाओं तथा उनके दरबारियों के लिये शृंगार रस के चषकों के साथ-साथ काव्यशास्त्र की शिक्षा भी श्रवण-श्रावण अथवा पठन पाठन रूप में प्रस्तुत की जाती रही। इस प्रकार इन्होंने काव्यशास्त्र का एक प्रकार से द्वार खोल दिया जिसने हिन्दी के भावी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के लिये नींव का काम दिया। कम से कम उसके लिए हिन्दी साहित्य संसार को उनका उपकृत रहना होगा। हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य हिन्दी साहित्य-

सम्बन्धी नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नहीं था, वे संस्कृत काव्य-शास्त्र का हिंदी उल्था प्रस्तुत करना चाहते थे। इस कार्य में इन्हें थोड़ी बहुत सफलता मिली है।

रीति कवि और आचार्य का दृष्टिकोण लगभग वही था जो कि १७६१ में कोक मंजरी के रचयिता आनन्द का है —

मनुज रूप ह्वै अवतर्यो तीन वस्तु को जोग।
द्रव्य उपार्जन, हरि भजन अरु कामिनि संग भोग॥

इस प्रकार के दृष्टिकोण की ध्वनि बिहारी के "तन्त्रीनाद कवित्त रस" में स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी स्थिति में रीति कवि से किसी गहन शास्त्रीय विवेचन की आशा व्यर्थ होगी। रीति-काल में रीति सम्बन्धी ग्रन्थ दो प्रकार के निर्मित हुए हैं—आचार्यत्व की दृष्टि से और रस-रीति की दृष्टि से। जिन ग्रंथों के नामों के पीछे विलास, विनोद, रहस्य, सागर तथा प्रबोध आदि शब्द लगे हुए हैं, वे रसिकता की शिक्षा के उद्देश्य से लिखे गए हैं। ऐसे ग्रन्थों को देखकर रीति कवि के आचार्यत्व के कच्चे और अधूरेपन की दुहाई देना अनुचित है। इसके अतिरिक्त रीति-सम्बन्धी कतिपय ऐसे ग्रन्थ लिखे गए हैं जिनके नामों में कवि या काव्य शब्दों का प्रयोग मिलता है— जैसे काव्य निर्णय, काव्य-कल्पद्रुम, काव्य-सरोज आदि। इनमें काव्य का सर्वांगीण विवेचन है जो कि पर्याप्त सन्तोषजनक है। रीति ग्रंथों का एक तीसरा वर्ग वह है जिसमें अलंकार निरूपण है। इस प्रकार के ग्रन्थों में भूषण के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है। विशुद्ध रीति की दृष्टि से पिछले दो प्रकार के ही ग्रन्थ लिखे गए हैं अतः रीति कवि के आचार्यत्व की इतियों और परिसीमाओं के निर्णय करने से पहले हमें काव्यरीति और रसरीति के भिन्न २ उद्देश्यों से लिखे गए ग्रन्थों के अन्तर को अवश्य जान लेना चाहिए। रसरीति के दृष्टिकोण से लिखे गए ग्रंथों में आचार्यत्व खोजना एक विफल प्रयास होगा।

हिन्दी में रीति ग्रन्थों की परम्परा और आचार्य केशव

हिन्दी साहित्य में रीति परम्परा का प्रवर्तन कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसका एक निश्चित आधार है और यह एक सुविकसित परम्परा के सहारे चली है। वैसे यह एक कथन चाहे हमें अतिशयोक्ति प्रतीत हो कि 'हिन्दी में रीति का उदय उसके जन्म काल से हो गया था, परन्तु इतना तो निश्चित है कि उसकी इस प्रवृत्ति के प्रेरणा स्रोत संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ हैं। यह प्रेरणा उसे अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश-काव्य से नहीं मिली। उसमें इसकी कोई परम्परा नहीं। दो-एक ग्रन्थ छन्द, व्याकरण आदि पर अवश्य हैं जिनमें गौण रूप से किसी पद्य के बीच में नायिका भेद शृंगारादि का विवेचन है। परन्तु भक्ति और वीरगाथा-वर्णन की परम्परायें अपभ्रंश से रीतिकाव्य में नहीं आईं। इसका मुख्य प्रेरणा स्रोत तो संस्कृत साहित्य ही है।

भक्ति-युग के उत्तर काल में रीतिकाव्य की परम्परा पड़ी और इस धारा के प्रवर्तन का श्रेय निश्चित रूप से आचार्य केशवदास को है। यद्यपि इस दिशा में केशव से पूर्व छिटपुट प्रयत्न हुए किन्तु उनमें रीति धारा को प्रेरणा देने की सामर्थ्य नहीं थी। हिन्दी साहित्य के कई इतिहासकारों ने पुण्य या पुष्य (सं० १७७०) को जिसने संस्कृत के किसी अलंकार ग्रन्थ के आधार पर हिन्दी में अलंकार ग्रन्थ लिखा, हिन्दी का प्रथम रीति कवि स्वीकार किया है परन्तु इस ग्रन्थ का अस्तित्व संदिग्ध है। यदि वास्तव में उस समय का कोई ऐसा ग्रन्थ मिल सके, तो वह न केवल रीतिकाव्य का वरन् हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ ठहरता है।

रीति काव्य में लिखा गया सबसे पहला ग्रन्थ कृपाराम (१५६८) की 'हित तरंगिणी' है। इसका आधार भरत का नाट्यशास्त्र और भानुदत्त की 'रस मंजरी" है। मोहन लाल मिश्र का "शृंगार-सागर" (सं० १६१६), रहीम के "बरवै नायिका भेद", नन्ददास कृत "रस मंजरी"—ये तीनों नायिका भेद सम्बन्धी ग्रंथ हैं। रहीम ने केवल नायिका भेद के उदाहरण दिये हैं। नन्ददास की 'रस मंजरी" भानुदत्त की "रस-मंजरी" पर पूर्णतः आधृत है। सूरदास कृपाराम के सम-सामयिक थे। उनके अपने 'सूर सागर" तथा "साहित्य लहरी" में नायिका-भेद तथा चित्रालंकारों का आभास परोक्ष रूप में मिल जाता है। अकबर के समकालीन कवि करनेस बन्दीजन ने "कर्णाभरण भूषण", "श्रुति भूषण" और "भूप भूषण" नामक तीनों ग्रंथ अलंकार विषय पर लिखे। *निःसन्देह केशवदास से पूर्व इन उपर्युक्त रीतिग्रंथों का प्रणयन* हो चुका था परन्तु इनमें से कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखने वाला ग्रंथ नहीं है। इन ग्रन्थों में रीति-धारा की अखंडता नहीं है। इन कवियों में से किसी ने काव्य के एक ही अंग का विस्तृत वर्णन कर दिया है तो दूसरे ने काव्य के किसी दूसरे लघु अंग पर अपना लक्ष्य मात्र प्रस्तुत कर दिया है। सच यह है कि जिस युग में इन काव्यों का प्रणयन हुआ वह भक्तिनिष्ठ युग था। ये रीतिकाव्य परिमाण और गुणवत्ता में भक्तिकाव्यों से वरिष्ठ और श्रेष्ठ नहीं हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीतिकाव्य की परम्परा डालने वाले सबसे पहले आचार्य केशवदास ही हैं। इन्होंने रीतिकाव्य का, अपनी रसिक प्रिया और कविप्रिया में सर्वांग निरूपण किया है।

केशवदास ने भाषा कवियों के सामने हिन्दी काव्य रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया जो शुद्ध साहित्यिक रचना का मार्ग था। इसलिए केशव का महत्त्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सामने उनके परवर्ती लेखकों ने बराबर स्वीकार किया है। इस नवीन मार्ग को खोलते हुए भी उन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उन्होंने वीर-गाथा वर्णन परम्परा को अपनाते हुए 'वीरदेवसिंह चरित" तथा "जहाँगीर जस चंद्रिका' लिखी। ज्ञान और भक्ति की काव्य परम्परा में 'विज्ञान गीता" और "राम-चंद्रिका" का प्रणयन किया। साथ ही कविप्रिया और रसिकप्रिया को लिखकर उन्होंने रीतिकाव्य की परिपाटी भी डाली। इस प्रकार भक्तिकाल में होते हुए भी इन्होंने एक सुनिश्चित रीतिकाव्य-परम्परा का प्रवर्तन किया। केशव ने "रसिकप्रिया" और "कवि-

प्रिया" में काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के विविध रूप, काव्य दोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि विषयों पर अपने निजी ढंग से प्रकाश डाला है। हम पहले कह चुके हैं कि केशव ने काव्य के सभी सौंदर्य विधायक धर्मों को अलंकार कहा है। इस प्रकार केशव द्वारा गृहीत अलंकार बहुत व्यापक हैं, उसे काव्य-शास्त्र के परम्परागत सीमित अर्थ में समझना संगत न होगा। इसमें शब्द, अर्थ और शब्दार्थ अलंकारों के अतिरिक्त—भूमि भूषण—भूतल के प्राकृतिक दृश्यों, राज्यश्री भूषण—राजा सम्बन्धी वस्तुओं का सविस्तार वर्णन आदि अनेक विषय समाविष्ट हैं। इस प्रकार केशव के अलंकार में प्राकृतिक दृश्य तथा समाज का व्यापक निरीक्षण भी समाहित है। हमें ऐसा लगता है कि केशव ने अलंकार के अन्तर्गत मध्यकाल के वर्णक कवि के सभी वर्ण्य विषयों का यत्किंचित समावेश कर लिया है। इनमें यद्यपि विषयों का पूर्ण विवेचन, पूर्ण ज्ञान और मौलिक सिद्धांत सर्जन की क्षमता का अभाव है। वे चमत्कार प्रिय और अलंकारवादी कवि हैं। उनका सिद्धांत वाक्य है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

उन पर पूर्व ध्वनि-काल का प्रभाव स्पष्ट है। केशव ने भामह, दंडी और केशव मिश्र आदि संस्कृत के आचार्यों का अनुकरणमात्र किया है, उन्होंने किसी भी मौलिक काव्य सिद्धांत को जन्म नहीं दिया है। परन्तु इतना होने पर भी केशव का हिन्दी-क्षेत्र में प्रथम आचार्यत्व असंदिग्ध है। रीति-परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय केशव को छोड़कर न तो उनके किसी पूर्ववर्ती हिन्दी कवि को दिया जा सकता है और न उनके किसी परवर्ती कवि को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है, सर्वांग निरूपण की दृष्टि से उनका कोई स्थान नहीं है। चिन्तामणि भी केशव की समकक्षता में नहीं आ सकते। चिन्तामणि के बाद रीतिकाव्य ग्रन्थों की अविच्छिन्न परम्परा चल पड़ने से उन्हें रीति-मार्ग-प्रवर्तन का श्रेय मिलना एक संयोग मात्र है।

किन्तु आचार्य शुक्ल ने रीति परम्परा का प्रवर्तक आचार्य केशव को न मान कर चिन्तामणि को माना है। शुक्ल जी का इस सम्बन्ध में कहना है कि—"हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को नहीं।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"हिन्दी रीति ग्रंथों की अखंड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।" हिन्दी लक्षणकारों ने केशव के आदर्श को न अपनाकर भिन्न आदर्श को अपनाया—इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"केशव के दिखाये हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिस में अलंकार्य अलंकार्य का भेद हो गया था। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थ अधिकतर

चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में काव्य प्रकाश और साहित्यदर्पण का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार देवयोग से संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई।" आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त शब्दों के अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उन्होंने निम्न कारणों के आधार पर केशव को रीति ग्रन्थों का प्रवर्त्तक नहीं माना है —

(१) एक तो रीति की अखंड परम्परा केशव के पचास वर्ष बाद से चली।

(२) परवर्ती रीतिकारों ने भिन्न आदर्शों को अपनाया और केशव का स्मरण तथा अनुसरण तक नहीं किया।

(३) केशव तुलसी के समकालीन हैं अतः वे भक्ति युग में ठहरते हैं। कदाचित् शुक्ल ने इसीलिए केशव को भक्ति युग के फुटकर कवियों में रखा है।

इस अध्ययन के अनन्तर हमारे सम्मुख आचार्य केशव से सम्बद्ध नाना प्रश्न उपस्थित होते हैं।

(१) क्या उनके रसिकप्रिया और कविप्रिया रीति-परम्परा से बाहर ठहरते हैं ? क्या उनमें काव्यशास्त्र के अंगों का सर्वांग-निरूपण नहीं हुआ ?

(२) क्या केशव ने रीतिशास्त्र का सर्वांग निरूपण करके रीति परम्परा का प्रवर्तन नहीं किया ?

(३) क्या रीति-परम्परा के भिन्न आदर्शों को ग्रहण करके केशव के ५० वर्ष पश्चात् प्रवाहित होने से उन्हें (केशव को) इस श्रेय से वंचित कर दिया जाय ?

(४) क्या हम प्रवर्तक का यह अर्थ लगायें कि जिससे परवर्ती लोग प्रेरणा पाकर उसका अनुकरण करें ?

इस तथ्य से हिन्दी-साहित्य का कोई विद्वान् इन्कार नहीं करता कि रसिकप्रिया और कविप्रिया में काव्य का सर्वांग निरूपण है। अतः इन ग्रन्थों को रीति-परम्परा के बाहर कदापि नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि केशव के अलंकारवादी तथा चमत्कारवादी होने के कारण इन ग्रन्थों में काव्य-समीक्षा संतुलित और सुव्यवस्थित नहीं है, उसमें कदाचित् एकांगिता है। पर दृष्टिकोण की एकांगिता के लिए केशव को रीति-परम्परा के प्रवर्तन के श्रेय से वंचित करना असंगत होगा। वक्रोक्तिकार तथा 'रीतिकार' के दृष्टिकोण भी तो संकुचित थे पर क्या उन्हें इनके सम्प्रदायों के प्रवर्तन के श्रेय से वंचित किया जाता है ? निःसन्देह केशव के पचास वर्ष पश्चात् एक भिन्न आदर्श को लेकर रीति-परम्परा प्रवाहित हुई और वह भी चिन्तामणि से। इस सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं कि इसे एक सुयोग ही समझना चाहिए। केशव के युग में कवियों और जनता की मनोवृत्ति रीति-परम्परा के प्रति उतनी [illegible] नहीं पाई थी और यह स्वाभाविक [illegible] था क्योंकि [illegible] इस [illegible] ही हुआ था। हम कह सकते हैं कि केशव को इतनी अच्छी परिस्थितियाँ नहीं मिलीं

जितनी कि चिन्तामणि को।

शेष रही भिन्न आदर्श को लेकर चलने की बात और केशव के अनुकरण एवं स्मरण का प्रश्न। सच तो यह है कि न ही तो चिन्तामणि ने किसी निजी मौलिक आदर्श की स्थापना की है और न ही केशव ने। केशव ने अलंकार सम्प्रदाय का अनुसरण किया है और चिन्तामणि ने किसी भिन्न सम्प्रदाय का। दोनों ने संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुसरण किया है और परवर्ती रीति-कवियों ने भी संस्कृत के काव्य-शास्त्र का अनुसरण किया है। आचार्य मम्मट से पूर्व संस्कृत साहित्य में कितने ही सम्प्रदाय प्रचलित थे और कितने ही काव्यशास्त्रीय ग्रंथ, पर उन्होंने अपने समन्वया-त्मक दृष्टिकोण और पैनी दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती काव्य-सम्प्रदायों का एक संतुलित सामंजस्य अपने 'काव्यप्रकाश' में उपस्थित किया। बाद में संस्कृत आचार्यों ने मम्मट का अनुकरण किया। पर इसका तात्पर्य यह कभी भी नहीं कि मम्मट से पूर्ववर्ती काव्य सम्प्रदाय और उनके प्रवर्तकों के महत्त्व और अस्तित्व निःशेष हो जायेंगे। हमें वामन को रीति-सम्प्रदाय का तथा कुन्तक को वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानना ही पड़ेगा, भले ही उनके परवर्ती आचार्यों ने उनके आदर्श का अनुकरण न भी किया हो और फिर काव्यशास्त्र में खंडन-मंडन तथा एक नवीन आदर्श की प्रतिष्ठा की बात तो चलती ही रहती है। ऐसी बात नहीं कि परवर्ती हिन्दी के रीति-कवियों ने केशव का स्मरण न किया हो। केशवदास के प्रति देव और दास जैसे महाकवियों ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है, किन्तु किसी ने चिन्तामणि का आचार्य कवि के रूप में स्मरण नहीं किया।

केशव तुलसी के समकालीन होने के नाते भक्ति-युग में आते हैं, जबकि रीतिकाल का आरम्भ सं० १७०० वि० से है। इस आधार पर भी केशव को प्रवर्तक आचार्य के पद से वंचित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दर-दास के विचार पठनीय हैं—"यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशवदास भक्ति-काल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा राम-चन्द्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे अपने काल की काव्यधारा से पृथक् होकर चमत्कारवादी कवि हो गये और हिन्दी में रीति-ग्रंथों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाये।"

रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने थोड़े-बहुत हेर-फेर के पश्चात् केशव-काव्य की प्रवृत्तियों का अनुसरण अपने काव्यों में किया है। अतः केशव केवल रीति-परम्परा के ही प्रवर्त्तक नहीं ठहरते प्रत्युत् रीतिकालीन साहित्य में उपलब्ध होने वाली अन्य प्रमुख प्रवृत्तियों के भी प्रवर्त्तक ठहरते हैं। हम यह निःसकोच भाव से कह सकते हैं कि रीति परम्परा को सुप्रवर्तित और पूर्णत. प्रतिष्ठित करने का श्रेय केशव को ही है। वे केवल रीतिकाल और रीति-परम्परा के प्रवर्त्तक आचार्य ही नहीं हैं बल्कि हिन्दी-रीतिकाव्य में रस-रीति के प्रतिष्ठापक भी हैं अतः इन दोनों दृष्टियों से केशव का महत्त्व अक्षुण्ण है।

केशव के पश्चात् चिन्तामणि का नाम आता है। उन्होंने काव्यशास्त्र को अत्यन्त सरल रूप मे प्रस्तुत किया है और इस प्रयत्न में ये सफल भी रहे हैं। रीति ग्रन्थकारों में सरल और सुबोध शैली में लिखने वाला चिन्तामणि जैसा और कोई भी दूसरा आचार्य नहीं है। इन्होने 'पिंगल', 'रस मंजरी', 'श्रृंगार-मंजरी' तथा कविकुल कल्पतरु' नाम के ग्रन्थ लिखे हैं।

चिन्तामणि के साथ मतिराम और भूषण का नाम आता है। ये दोनों पारिवारिक तथा साहित्यिक दृष्टि से चिन्तामणि से प्रभावित हैं, परन्तु फिर भी इनका अपना अलग व्यक्तित्व, महत्त्व और क्षेत्र है। मतिराम ने शृंगार रस का चित्रण किया है, जबकि भूषण ने वीररस का। भूषण का 'शिवराज भूषण' अलंकार ग्रन्थ है पर रीति ग्रन्थ की दृष्टि से अलंकार निरूपण के विचार से यह ग्रन्थ उत्तम नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा स्पष्ट नहीं है और उदाहरणों में भी कई-कई जगह अव्यवस्था है। मतिराम ने 'रस राज' और 'ललित ललाम' दो रीति ग्रन्थ लिखे हैं। रस और अलंकार की शिक्षा के लिए ये ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। अपनी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रन्थ रीतिकाल में अत्यन्त प्रिय हुए।

इन रीति-ग्रन्थकारों में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम भी उल्लेखनीय हैं। कुलपति का 'रस रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर लिखा गया है। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन है। सुखदेव मिश्र ने छन्दों और रसों को लेकर लिखा है। इनके उदाहरण अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं। देव में आचार्यत्व और कवित्व दोनों की ही उत्कृष्टता विद्यमान है। इनके आचार्यत्व के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—"कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्यशास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धान्त-निरूपण का मार्ग नहीं पा सके।···अतः आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता।"

देव के उपरान्त और आधुनिक युग के पूर्व तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ। इस बीच के लक्षणकारों में सुविख्यात कालिदास, सूरतिमिश्र श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, दुलह, वैरीसाल, पद्माकर, बेनी रसिक-गोविन्द, प्रतापसाहि आदि हैं। इनके द्वारा रीति परम्परा को एक निश्चित और दृढ़ स्वरूप प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य कवियों ने इस रीति पद्धति

का अवलम्बन करके अपनी काव्य-रचना इस युग में की। वास्तव में यह समय ही ऐसा था कि रीति या लक्षण-ग्रन्थों की न केवल राज दरबारों में बल्कि जनता के बीच में भी प्रशंसा होती थी।

कालिदास ने "वधू-विनोद" नामक ग्रन्थ नायिका भेद पर लिखा परन्तु इनकी ख्याति का आधार ग्रन्थ 'कालिदास हजारा' है। इसमें एक सहस्र कवियों की रचनाओं का चुना हुआ संग्रह है। सूरति मिश्र का प्रधान ग्रन्थ 'काव्य सिद्धान्त' है जिसमें काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन अधिकारपूर्ण ढंग से किया गया है। इस काल के अति प्रसिद्ध आचार्यों में श्रीपति और भिखारी दास हैं। श्रीपति ने प्रायः काव्य के सभी अंगों का मार्मिक वर्णन किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों के दोषों का भी निर्देशन किया है। आचार्य भिखारीदास पर इनके बहुत कुछ प्रभाव हैं। इनका लक्षण ग्रन्थ है 'काव्य सरोज।' सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' एक विशाल काव्य रीति-ग्रन्थ लिखा है। ये ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। सोमनाथ वास्तव में श्रीपति और भिखारीदास के ही समकक्ष ठहरते हैं।

भिखारीदास रीति काल के अन्तिम बड़े आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ हैं—'काव्य निर्णय', 'शृंगार निर्णय', 'छन्दोर्णव पिंगल' और 'रस सारांश'। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' है। यह साहित्यशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें दास जी का विवेचन बड़ा ही सुलझा हुआ और वैज्ञानिक है। इन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ नवीन उद्भावनायें भी की हैं। वस्तुतः आचार्य भिखारीदास काव्यशास्त्र के एक गम्भीर एवं प्रकाण्ड पंडित थे।

दूलह कवि ने अलंकारों पर 'कवि कुल कंठाभरण' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें लक्षण उदाहरण एक साथ चलते हैं। ऐसा ही बैरीसाल का 'भाषाभरण' भी अलंकारों पर लिखा गया सुन्दर ग्रन्थ है।

रीति-काल के अन्तिम अति प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के वास्तव में अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इन्होंने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' दो रीति-ग्रन्थ लिखे हैं। इनका 'जगद्विनोद' मतिराम के 'रसराज' के समान रसिकों और काव्य अभ्यासियों दोनों का कण्ठहार रहा है। वास्तव में यह शृंगार रस का सार ग्रन्थ प्रतीत होता है। बेनी का 'नव रस तरंग' भी काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है। परन्तु लक्षण महत्त्व के नहीं हैं। रसिक गोविन्द का "रसिक गोविन्दानन्द घन" काव्यशास्त्र पर लिखा गया काव्य-ग्रन्थ है। इसमें नाटक शास्त्र, साहित्य-दर्पण और काव्यप्रकाश का आधार लिया गया है। प्रतापसाहि का प्रमुख ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है। क्लिष्ट शैली होने के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त गूढ़ बन पड़ा है।

इन लक्षणकारों के अतिरिक्त रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कवियों ने इस परम्परा में परोक्ष रूप से लिखा है। इन्होंने लक्षण नहीं दिये केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं। इन पर भी रीति-परम्परा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही है।

बिहारी की सतसई की पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से रीति-परम्परा काम कर रही है। स्वच्छन्द रीति से लिखने वाले प्रेमी कवि हैं घनानन्द, बोधा, सीतल, ठाकुर आदि। इनमें हमे स्वच्छन्द प्रेमोक्तियाँ मिलती हैं जो पद्‌माकर, मतिराम, देव आदि के छन्दों के समान ही हैं। अत इस पर भी परोक्ष रूप से रीति-परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है।

रीतिकाव्य की परम्परा रीतिकाल तक ही समाप्त नहीं हो जाती वरन् आधुनिक समय तक यह बराबर चलती आ रही है। स० १६०० वि० के पश्चात् भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु इन ग्रन्थो की विशेषता यह है कि इनमे अधिकाश मे लक्षण और व्याख्या गद्य में ही प्रस्तुत किये गये हैं। इन्होने अपने उदाहरण न जुटा कर पूर्ववर्ती कवियो के उदाहरण दिये हैं। इन ग्रथो मे विषय के स्पष्टीकरण पर अधिक बल दिया है। आधुनिक युग के प्रमुख रीतिकार और प्रमुख रीति ग्रन्थ हैं—रामदास का 'कवि कल्पद्रुम', ग्वाल के 'कविदर्पण' आदि बहुत से ग्रन्थ, लछिराम के ग्रथ, मुरारिदान का जसवन्त भूषण, प्रताप नारायण का रस कुसुमाकर, भानु का काव्य प्रभाकर, पोद्दार का काव्य कल्पद्रुम, रसाल का अलकार पीयूष, सेडिया का भारतीभूषण, हरिऔध का रस कलश, बिहारीलाल भट्ट का साहित्य सागर, मिश्रबन्धु का साहित्य परिजात आदि ग्रथ।

रीति-काल की रीतिबद्ध और रीति मुक्तधारा

रीतिकालीन कवियो को स्पष्ट रूप में दो प्रमुख धाराओं या भागो मे रखा जा सकता है—एक है रीतिबद्ध और दूसरी है रीतिमुक्त। इन भागो के बीच का एक और उपविभाग किया जा सकता है जिस उपविभाग या धारा में आने वाले कवियो को हम रससिद्ध या रीतिकाव्य-कवि के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

रीतिबद्ध (लक्षणबद्ध) काव्य—रीतिबद्ध काव्य-लेखक वे हैं जिन्होने शास्त्र स्थित-सम्पादन किया है। इन्होंने संस्कृत के काव्य शास्त्र के आधार पर काव्यांगो के लक्षण देते हुए उनके सुन्दर उदाहरण जुटाये हैं। इन्हें शास्त्र कवि भी कह सकते हैं। इन आचार्य कवियो ने अपने आपको कवि "शिक्षक" के पद से भी अभिहित किया है। इन्होने उस समय के राजा, रईसों, कवि, समाज तथा रसिक जनो के लिए काव्यागो का निरूपण किया है। इनका उद्देश्य या संस्कृत साहित्यशास्त्र का हिन्दी में अनुवाद भर प्रस्तुत कर देना, किसी काव्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना नहीं। अत. हिन्दी के लक्षण ग्रन्थों में कोई विशेष गहराई नहीं आ पाई जैसा कि संस्कृत के काव्यशास्त्र में। इन पर संस्कृत साहित्य के रस, अलकार तथा ध्वनि-सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। ये एक बधी-बधाई परिपाटी पर चलते रहे, किसी नवीन मौलिक उद्‌भावना को जन्म नहीं दे सके। इन्होंने विषय-सामग्री-चयन सरल मार्ग का अवलम्बन लिया। प्राय ये नायक-नायिका भेद तथा अलकार निरूपण में लगे रहे। काव्य-शास्त्र की किसी जटिल समस्या को नहीं छुआ और जहाँ इस दिशा मे प्रयास किया

भी है वहाँ असफल रहे हैं। इन आचार्य-कवियों ने काव्यांग-निरूपण में पद्यात्मक शैली को अपनाया और इसीलिए उनमे यत्र-तत्र अस्पष्टता आ गई।

रीतिबद्ध आचार्य-कवियों में कवित्व और आचार्यत्व का एक अद्भुत एकीकरण मिलता है। एक ओर तो इन्होंने विशुद्ध-लक्षण ग्रंथ लिखे जिनमे पद्यात्मक लक्षण के उपरान्त सरस उदाहरण जुटाये, पर दूसरी ओर इन्होंने लक्षणों के भार से मुक्त शृंगार-रस सवलित काव्य-ग्रंथ भी लिखे, परन्तु यहाँ भी इनकी 'कविता-कामिनी' रीति के भार से कुछ अभिभूत सी हो गई है। ऐसे ग्रन्थों मे भी कलापक्ष की प्रधानता है और पच्चीकारी की प्रचुरता है। इसमें पग-पग पर श्रम-साध्यता और यान्त्रिकता है। इन ग्रन्थो मे भी राजदरबारी आचार्य-कवि का उद्देश्य पांडित्य और काव्य-कौशल का प्रदर्शन रहा है। सर्वत्र उसके अहं की प्रधानता है और उसने आलंकारिक शैली मे पहेलियाँ बुझाई हैं। इन कवियो मे स्वतन्त्र भावना का मार्ग प्रायः मानो अवरुद्ध-सा हो गया था।

इस वर्ग में दो प्रकार के कलाकार हुए। एक तो वे जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ भी लिखे और साथ लक्ष्य-ग्रन्थ भी। इस कोटि मे देव, मतिराम, चिन्तामणि, केशव, पद्माकर आदि आते हैं। इनके दोनो प्रकार के काव्यों में रूढिबद्धता लक्षित होती है। दूसरे वे हैं जिन्होंने केवल लक्षण-ग्रन्थ लिखे। ये काव्यशास्त्राभ्यासी पंडित थे, जैसे श्रीपति आदि।

रीतिसिद्ध कवि या रीतिबद्ध काव्य—ऊपर हम रीतिबद्ध रीतिकालीन-साहित्यकारो को दो भागों में विभक्त कर चुके हैं। रीतिबद्ध आचार्य-कवि वे हैं, जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ और लक्ष्य-ग्रन्थ दोनों लिखे हैं। दूसरा वर्ग है रीतिबद्ध आचार्यों का जिन्होंने केवल लक्षण-ग्रंथों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग है जिसके कवियों ने रीति-काव्य की बधी हुई परिपाटी मे आस्था रखते हुए भी लक्षण-ग्रंथो का प्रणयन नहीं किया। इन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थो के द्वारा अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय दिया। राजशेखर ने ऐसे कवियों के लिए 'काव्य-कवि' के पद का प्रयोग किया है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने ऐसे कवियों के लिए रीतिबद्ध शब्द का व्यवहार किया है। आचार्य कवियो ने अपने ग्रन्थो में कवि शिक्षक होने की अभिलाषा का स्पष्ट संकेत किया है। पर इन काव्य-कवियो में रीति का बन्धन स्वीकार करने पर भी इस अभिलाषा के ठीक विपरीत कवि-गौरव की अभिलाषा है, आचार्य या कवि शिक्षक होकर वे पाठ्य-ग्रंथ तैयार करने में कोई रुचि नहीं रखते थे। इसी कारण इन कवियों को रीतिबद्ध काव्य-कवि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन काव्य-कवियों की एक और भी विशेषता है कि वे कवित्व के मोम में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ बाँधने में लीन रहते थे। उन्होंने अपनी कविता को लक्षण-विशेष के साँचे मे ढालने के लिए विशेष चिन्ता नहीं रहती थी। इन्होंने स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्य की रचना की। स्वतन्त्र उद्भावना के लिए जितना अवकाश उन कवियों के पास था उतना रीतिबद्ध आचार्य कवि के पास नहीं था।

यही कारण है कि इन कवियों में वैयक्तिकता अपेक्षाकृत अधिक उभरी है। काव्य कवियों के भाव पक्ष और कलापक्ष को समान रूप से महत्त्व दिया है । इन ६ ियों की कविता आत्मा रीति के भार से अधिक आक्रान्त नहीं हुई क्योंकि इन्होंने स्वतन्त्र रूप से लक्षण ग्रंथों की रचना नहीं की, भले ही कविता की पृष्ठभूमि में कहीं-कहीं रीति परम्परा भी काम कर रही है। भावाभिव्यक्ति के लिए इन्होंने भी आलंकारिक शैली का अवलंबन लिया। बिहारी रीति-कवियों के इसी वर्ग मे आते हैं। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों मे स्पष्ट रूप में विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है, क्योंकि इन दोनों के उद्देश्य मे पर्याप्त अन्तर है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने बिहारी को रीतिबद्ध आचार्य-कवि सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु बिहारी रीतिबद्ध कवि ठहरते हैं। उनकी सतसई के प्रत्येक दोहे मे नायक-नायिका भेद या अलंकारों की पृष्ठभूमि बताना ठीक नहीं है । नायिका या अलंकार, रस ध्वनि आदि का वर्णन तो सभी रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों मे भी उपलब्ध होता है। घनानन्द, आलम आदि मे ये तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाते हैं तो उन्हें भी आचार्य कवि कहा जायगा ।

रीतिमुक्त धारा—यद्यपि १७ वी शताब्दी के बाद के साहित्य मे रीतिबद्ध-काव्य लिखने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बलवती होती गई तथापि यह कभी भी नहीं समझना चाहिए कि इस काल मे रीति मुक्त काव्य लिखे ही नहीं गये। रीति काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होने केशव, मतिराम और चिन्तामणि के समान न तो कोई लक्षण ग्रन्थ लिखा और न ही बिहारी की भाँति कोई रीतिबद्ध रचना लिखी। ऐसे कवियों की संख्या पचास के लगभग है। इनमे कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण बद्ध रचना नहीं की और जो अपने स्वच्छन्द प्रेम की पीर जनता को सुनाते रहे। इनमे घनानन्द, आलम, बोधा और ठाकुर आदि आते हैं। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने कथा प्रबन्धकाव्य लिखे, जैसे लाल कवि का प्रकाश, सूदन का सुजान चरित आदि। तीसरे वर्ग मे दान लीला, मान लीला आदि पर वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य लिखने वाले कवि आते हैं। चौथे वर्ग मे रीति सम्बन्धी पद्य और सूक्तियाँ लिखने वाले आते हैं वृन्द, गिरधरदास आदि। पाँचवें वर्ग में ब्रह्मज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखने वाले कवि आते हैं। छठे वर्ग मे वीररस के फुटकर पद्य लिखने वाले आते हैं। उपर्युक्त वर्गों के सभी कवि रीतिमुक्त धारा के अन्तर्गत आयेंगे क्योंकि इन्होंने न तो कोई लक्षण-ग्रन्थ लिखा और न लक्षण ग्रन्थों से प्रभावित होकर अथवा बंधकर काव्य रचना की। इनके काव्यों में भाव-पक्ष की प्रधानता है। इनकी शैली आलंकारिता के अनावश्यक बोझ से भी नहीं दबी है। इनकी कविता मे सामाजिक अवहेलना भी नहीं है और न रुग्ण शृंगारिकता। भाषा के क्षेत्र मे भी अधिक सफाई से उतरे हैं।

हिन्दी रीतिकाव्य के मूल प्रेरणा स्रोत

हम रीति काल का सामान्य परिचय देते समय बता चुके हैं कि इस साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण को लेकर एक नवीन प्रयोग हुआ। यह भी नवीनता दो रूपों में दृष्टिगोचर होती है—एक तो विषयगत और दूसरी रूप और आकारगत। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य न तो लोक साहित्य है और न ही शास्त्रीय काव्य। लोक साहित्य इसलिए नहीं क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष लोक-जीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा लेने की प्रक्रिया अत्यन्त गौड रही है और फिर यह जन-मानस पर इतना अधिकार भी नहीं जमा सका। भले ही इसमें राधा और कृष्ण के रूप में नत्थू और कल्लू के नाम पर सामान्य लोक-जीवन के नायक और नायिकाओं के प्रेम का चित्रण हुआ फिर भी इस साहित्य की आत्मा में सामन्तीपन है क्योंकि इस साहित्य का सर्जन और प्रणयन अधिकतर राजदरबारी वातावरण में हुआ। संस्कृत साहित्य और हिन्दी के रीति काव्य में स्थूल अन्तर इतना है कि संस्कृत के पात्र अभिजात्य वर्ग के हैं, वह सम्राटों की छत्रछाया में पला और नागरिकों के लिए उसका प्रणयन हुआ। इधर रीति साहित्य का संरक्षण और संवर्धन राजदरबार में हुआ, इसमें नागरिक का स्थान सामान्य रसिक ने ले लिया और अभिजात्य वर्ग के पात्रों के स्थान पर राधा और कान्ह आ गये जिन्होंने प्रतिनिधित्व सामान्य नायक और नायिका का ही किया। अत इसे विशुद्ध रूप में लोक-साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। शास्त्रीय साहित्य की संज्ञा से अभिहित करना भी इसलिए असमीचीन लगता है क्योंकि हिन्दी लक्षण ग्रन्थों में कोई विशेष सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना नहीं और न ही किसी नूतन काव्यादर्श की प्रतिष्ठा हुई है। इस काल का साहित्य शास्त्र की उंगली पकड़ कर आगे बढ़ा। अत इस साहित्य को लोक-साहित्य और शास्त्र-काव्य के बीच की कड़ी समझना होगा। इस साहित्य में आध्यात्मवाद, मोक्षवाद तथा कर्मकांड नहीं है। यहाँ आमुष्मिकता के स्थान पर ऐहिकता है और विरक्ति के स्थान पर जीवन के प्रति घोर आसक्ति है रीतिकाव्य में इस नवीन प्रयोग एवं नूतन दृष्टिकोण की एक सुनिश्चित परम्परा है जिसका उल्लेख करना प्रस्तुत प्रकरण में हमें अभीष्ट है।

उपर्युक्त इस नवीन दृष्टिकोण के अतिरिक्त रीतिकाव्य की अन्य भी बहुत-सी सामान्य प्रवृत्तियां हैं। जैसे—शृंगारिकता, नायिका भेद, लक्षण ग्रन्थ-प्रणयन, रतियुक्त प्रवाह के अन्तर्गत स्वच्छन्द प्रेम-वर्णन, शृंगार सवलित भक्ति तथा विशुद्ध भक्ति के पद, चरित काव्य, लीला वर्णन, ज्ञान और ज्ञान-सम्बन्धी पद, नीति के दोहे तथा सूक्तियाँ और वीर-रसात्मक कविता। इन सबके मूल स्रोतों की खोज रीतिकाव्य के सम्यक् अध्ययन के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

कुछ आलोचकों ने रीतिकालीन साहित्य के इस प्रकार के विषयगत और आकारगत स्वरूप के लिए तत्कालीन विलासप्रधान वातावरण तथा फारसी के प्रभाव को उत्तरदायी ठहराया है किन्तु इस विचार को सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है। निःसन्देह किसी भी साहित्य पर उसके समय का और उस समय पर तत्कालीन साहित्य

का घात प्रतिघात अवश्य हुआ करता है किन्तु वातावरण ही किसी समय के साहित्य के रूप-निर्माण का एकमात्र समवायि हेतु होता हो ऐसी बात नहीं है। रीति-साहित्य में साहित्य की जो धारा प्रस्फुटित हुई वह कोई आकस्मिक नहीं था। उसके पीछे एक निश्चित शास्त्रीय और साहित्यिक आधार था।

रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थों पर संस्कृत साहित्य के तीन प्रमुख सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। वे सम्प्रदाय हैं—अलंकार, रस और ध्वनि सम्प्रदाय। संस्कृत साहित्य के रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का इस काल के शास्त्रीय साहित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दी साहित्य के इस काल के काव्य के साथ रीति शब्द को जुड़ा हुआ देखकर यह समझ लेना कि इस साहित्य में वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों का विवेचन हुआ होगा, गलत होगा। इस काल तक आते-आते रीति शब्द एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो चुका था और वह था कवित्त-रीति। रीति-काल में नायिका भेदोपभेदों का इतना अधिक विस्तार हुआ कि इस दिशा में रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने संस्कृत साहित्य को भी पीछे छोड़ दिया। यह दूसरी बात है कि इस संख्या-विस्तार से शास्त्रीय और साहित्यिक विवेचन में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई। रीतिकाल के नायिका-भेद पर संस्कृत के नायिका ग्रन्थों का तो प्रभाव पड़ा ही, इसके अतिरिक्त इस दिशा में कामशास्त्रीय ग्रन्थों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस बात का हम आगे उल्लेख करेंगे।

अलंकार सम्प्रदाय के मूल आधार हैं भामह, दंडी और उद्भट। संस्कृत के इन आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा तथा सर्वस्व स्वीकार करते हुए भी काव्य के अन्य उपकरणों रस, ध्वनि आदि का समावेश भी उसमें कर दिया। इस दृष्टि से हिन्दी के रीतिकाल का कोई भी आचार्य एकान्तिक दृष्टि से अलंकारवादी नहीं ठहरता। हिन्दी में अलंकारों का निरूपण दो प्रकार से हुआ। कुछ सर्वांग निरूपक आचार्य कवियों ने मम्मट और विश्वनाथ के समान अपने काव्य-ग्रन्थों में अलंकार-प्रकरण को एक भाग के रूप में अपनाया। ऐसे आचार्य हैं—चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, कुलपति, देव, सूरति, मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास आदि। इनके अतिरिक्त मतिराम, भूषण, पद्माकर, रघुनाथ, दूलह आदि ने भट्टोजी अप्पय दीक्षित के समान अलंकार-प्रकरण पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। केशव ने इस सम्बन्ध में कुछ मौलिक उद्भावनाओं से भी काम लिया है पर वह विशेष सार्थक नहीं कहा जा सकता है। भूषण ने सादृश्य-मूलक, सन्देह, स्मरण तथा भ्रान्तिमान जैसे अलंकारों के लक्षणोदाहरणों में बड़ी गड़बड़ कर दी है। केशव ने अलंकार शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने काव्य के सभी सौन्दर्य-विधायक तत्वों को अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित कर लिया है।

रस-सम्प्रदाय के उद्भावक भरत मुनि हैं। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में सूत्र रूप में रस के सम्बन्ध में लिखा है—"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" रस-सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोलट, श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त का

नाम प्रमुख है। रस की सर्वांगीण वैज्ञानिक व्याख्या अभिनव गुप्त के द्वारा निष्पन्न हुई। मम्मट और आनन्दवर्धनाचार्य ने इसका अत्यन्त संतुलित रूप प्रस्तुत किया। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' कहकर अपने आपको पूर्ण रसवादी आचार्य घोषित किया, किन्तु इन्होंने भी ध्वनि सिद्धांत की अवहेलना नहीं की। ध्वनि उनके रस में अन्तर्भुक्त हो गई है। रीतिकाव्य के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने प्रायः उक्त आचार्यों का अनुकरण किया। देव ने संचारियों में 'छल' नाम के एक संचारी-भाव की नवीन कल्पना भी की, परन्तु उसका अन्तर्भाव अवहित्था नामक संचारी भाव में हो जाता है।

आनन्दवर्धक ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। सुना जाता है कि आनन्दवर्धक से भी पूर्व किसी अज्ञातनामा व्यक्ति ने ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तन कर दिया था और उसके आधार पर आनन्दवर्धक ध्वनि का इतना परिष्कृत रूप दे सके। आचार्य मम्मट का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उन्होंने अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रंथ में अपने पूर्ववर्ती काव्य-सम्प्रदायों का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए ध्वनि-सिद्धांत की महत्ती विजय घोषणा की है। पंडितराज आचार्य जगन्नाथ भी ध्वनि-सिद्धांत के प्रबल समर्थक हैं। चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, प्रतापसाहि, भिखारीदास आदि रीति-काल के प्रमुख आचार्यों ने मम्मट के काव्यप्रकाश के अनुकरण पर अपने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है।

भारतीय साहित्य में नायक-नायिका-भेद वर्णन की परिपाटी सुदूर अतीत काल से चली आ रही है। नाट्यशास्त्रकार भरत से पूर्व वात्स्यायन मुनि ने अपने कामसूत्र में देश, स्वभाव और रति आनन्द आदि के आधार पर नायिकाओं का वर्णन किया है। वात्स्यायन का यह प्रभाव नाट्यशास्त्रकार भरत पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ऐसा अनुमान लगाना असमीचीन नहीं होगा कि काम सूत्रकार से भी पूर्व नायिका-भेद वर्णन की परम्परा इस देश में प्रचलित थी। काम सूत्रकार ने काम-विषय पर अपने अनेक पूर्ववर्ती लेखकों का नामोल्लेख किया है। कुछ काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी नायिका-भेद यथास्थान उपलब्ध होता है। वे ग्रन्थ हैं धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाटक लक्षण रत्नकोष और रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाटक दर्पण। शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ हैं। रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वती कंठाभरण और शृंगार प्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्य दर्पण। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भी कई काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में नायिका-भेद का उल्लेख है, पर उनमें कोई विशेष नवीनता नहीं। केवल नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थों में दो ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं—भानुमिश्र की रस मंजरी तथा रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि। रूप गोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में नायक-नायिका-भेद जैसे शुद्ध शृंगार रस के प्रसंग को मधुर रस के रूप में ढालकर नवीन पथ-प्रदर्शन के साथ-साथ नायक-नायिका भेद से प्रभावित भक्त कवियों को शृंगारी कवि कहाने के लाछन से मुक्त करने का सुन्दर प्रयास किया है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य नायक-

नायिका भेद के लक्षण पक्ष में भानुमिश्र से प्राय प्रभावित हैं और लक्ष्यपक्ष में रूप गोस्वामी से। इन्होंने उदाहरण निर्माण के लिए प्राय: रूप गोस्वामी के समान गोपी और कृष्ण को नायिका और नायक के भेदों का माध्यम बनाया है। प्राकृत और अपभ्रंश में तो बहुत पहले से गोपियों के साथ गोपालकृष्ण की चर्चा है, पर संस्कृत मे इसका सर्वप्राचीन उल्लेख आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में है, ग्यारहवीं शताब्दी में नीलाशुक के कृष्ण कर्णामृत की रचना हुई। उसके बाद कवि जयदेव के गीत गोविन्द में गोपी-कृष्ण प्रेम की यह भावप्रवणता अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इसके बाद विद्यापति, चंडीदास और सूरदास की रचनाओं मे, जो लोक भाषा में हैं, राधा कृष्ण और गोपियों की ये प्रेम-लीलायें अपने विकसित रूप मे पहुँच गई। चैतन्य और उनके दो प्रमुख शिष्यों, रूप सनातन और जीव स्वामी, ने इन प्रेम-लीलाओं में सूक्ष्मता और आध्यात्मिकता का आरोप किया। इससे पूर्व बंगाल के वैष्णव भक्तों ने नायक नायिकाओं का इस प्रकार वर्गीकरण किया था कि उसके बहाने गोपी और गोपाल की केलिगाथाएँ गाई जा सकें, परन्तु उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी साहित्य पर नहीं पड़ा। रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि ने वस्तुत रीतिकालीन रूप लोलुप नायिका-प्रेमी कवि के लिए एक सुरक्षित और विशद द्वार खोल दिया। उज्ज्वल नीलमणि मे पहली बार 'रस राज' शृंगार को उज्ज्वल रस के नाम से अभिहित किया गया। रसिक शिरोमणि कृष्ण को उसका अधिष्ठाता घोषित किया गया, राधा और कृष्ण के रह केलियों के देखने का अधिकारी पात्र भक्तरूपी सहृदयता को ठहराया गया। फिर क्या था, रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने राधा और कृष्ण की आड में अपने मानसिक फफोले फोड़े और स्वकीया-परकीया के व्याज से उन्मुक्त प्रेम के उच्च से उच्च राग अलापे। राधा और कृष्ण का तो उसने नाम ही लेना था, करनी ता उसे थी कविताई।

रीझि हैं सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका गोविन्द सुमिरन को बहानो है।

हाँ, रीतिकालीन कवियों ने नायिका-भेद-विस्तार के क्षेत्र में तो कमाल ही कर दिया है। संस्कृत साहित्य मे नायिका-भेद का इतना विस्तार नहीं हुआ है। रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि मे भी १६३ प्रकार की भिन्न-भिन्न स्वभाव और नाम वाली गोपियों की चर्चा की गई है, किन्तु रीति-काल में तो नायिकाओं की संख्या बेशुमार हो गई है। देव ने इस सम्बन्ध में खूब कल्पना दौड़ाई है।

रीति-काल की एक अत्यन्त प्रबल धारा है शृंगार रस की मुक्तक शैली अभिव्यक्ति। यह भी भारतीय साहित्य की परम्परा का एक नियमित विकास है। यह परम्परा प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत तथा हिन्दी के भक्ति-काव्य के माध्यम से रीति काव्य में अवतरित हुई। इतिहास लेखकों का कहना है कि जब आभीर जाति भारत मे आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा तथा संस्कृति से आभीरों का सम्पर्क हुआ तो भारतीय जीवन मे परलोक की चिन्ता से मुक्त नित्यप्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति

आकर्षण बढने लगा। यह प्रभाव केवल जीवन तक ही सीमित नही रहा, काव्य-क्षेत्र में भी पडा। जिसका स्पष्ट परिणाम है हाल की सतसई की रचना। अस्तु[1] सम्भव है आभीरो के सम्पर्क से भारतीय जीवन और काव्य मे यह नया मोड आया हो, परन्तु इस काल के ऐहिकतापरक जीवन के दृष्टिकोण के लिए केवल आभीर सम्पर्क ही पर्याप्त नही है। भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शनकार का जीवन के प्रति एक मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण है। उस काल के ऐहिकतापरक जीवन को उक्त दर्शन से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। हाल की सतसई प्राकृत की गाथाओ मे रचित एक ग्रन्थ है जिसमे प्राकृत जीवन के सहज सरल प्रतिघातो के चित्र हैं। इसका कवि आकाश गंगा के सरस मनोहर जल से अपनी कल्पना-तृषा के तृप्त करने की लालसा छोड कर धरातल के जन-जीवन कूप-जल से उसे शान्त करता है। हाल की सतसई मे प्रेम और करुणा के भाव, प्रेम की रसमयी क्रीडाएं और उनके घात-प्रतिघात हैं। इसमे अहीर और अहीरनियो की प्रेम-गाथाएँ, ग्राम वधूटियो की शृगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओ का भावोद्दीपन आदि बातें इतनी सरस, इतनी सजीव और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। इस ग्रंथ में चित्रित वातावरण सर्वथा गार्हस्थिक है और यौन-सम्बन्धो के वर्णन में बेहद स्पष्टता पाई जाती है। हाल की सतसई रीतिकाव्य का सर्वप्रथम प्रेरक ग्रंथ है। बिहारी, मतिराम आदि पर इस ग्रंथ का प्रभाव स्पष्ट है। कहीं-कही तो इन हिन्दी कवियों ने इस ग्रंथ की गाथाओं का छायानुवाद ही प्रस्तुत किया है। हाल की सतसई के पश्चात् शृगार-मुक्तको के दो ग्रंथ संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं। एक अमरुक कवि का अमरुक शतक और दूसरी रचना है गोवर्धन की आर्या सप्तशती। इन दोनो ग्रंथों मे नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है। इन दोनों में अभिव्यक्ति में अलंकरण तथा अतिशयोक्ति के प्रति मोह बढ चला है। इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में कतिपय अन्य मुक्तक काव्यों की भी रचना हुई जैसे शृगारतिलक, घटकर्पर, भर्तृहरिकृत शृगारशतक, बिल्हण की चोरपचाशिका आदि। इन ग्रंथो का भी हिन्दी के शृंगारी साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पडा। संस्कृत-साहित्य मे शृगार के इन मुक्तको के साथ साथ भक्ति-परक मुक्तकों की भी एक परम्परा चल पड़ी थी। चण्डीशतक, वक्रोक्ति पचाशिका और कृष्ण जीवन से सम्बद्ध अनेक स्तोत्र ग्रंथ हैं—जैसे कृष्ण-लीलामृत आदि। नि:सन्देह इन स्तोत्र ग्रंथो की आत्मा मे भक्ति निहित है परन्तु बाह्य रूप में शृंगार की प्रधानता है। इनमें शिव-पार्वती और राधा कृष्ण की लीलाओं का शृंगारपरक वर्णन किसी भी शृगारी-काव्य को पीछे छोड सकता है। १२ वीं से १४ वीं शताब्दी तक बगाल और बिहार मे राधा-कृष्ण की भक्ति के जो छन्द रचे गये वे काम के सूक्ष्म रहस्यों से ओत-प्रोत हैं, विद्यापति के पद इन्हीं के तो हिन्दी-संस्करण हैं और फिर रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि ने एक विराट् द्वार ही खोल दिया। संस्कृत के इन शृंगार परक भक्ति-स्तोत्रों ने रीतिकालीन शृंगार को यथेष्ट रूप में प्रभावित

किया। साथ साथ ये ग्रंथ रीतिकालीन हिन्दी कवि के राधा-सुमिरन के बहाने के लिए भी उत्तरदायी हैं।

अपभ्रंश-साहित्य मे शृंगार-मुक्तको की कोई न कोई परम्परा अवश्य रही होगी किन्तु उसका कोई प्रामाणिक रूप हमारे सामने नही है। केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में स्फुट गीत छन्द मिलते हैं जिनमें शृंगार रस का हृदय-हारी वर्णन है। हेमचन्द्र के ग्रंथ मे उद्धृत मुञ्ज के दोहे अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कड़ी हैं। इस परम्परा का भी हिन्दी के रीतिकालीन शृंगार पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा। आचार्य हजारीप्रसाद, 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' मे लिखते हैं—"रीति-काल की कविता का कंठ स्वर पश्चिमी अपभ्रंश से अधिक मिलता-जुलता है। बिहारी आदि की कविताओं में तो भाषा, भाव भंगी सब कुछ उन्ही से मिलती है। कभी-कभी बिहारी के समालोचकों ने ऐसे भाव बिहारी मे पाये हैं जो उनके मत से मुसल-मानी संसर्ग के फल हैं। वियोग ताप से गुलाब की शीशी का फूटना या दृष्टि का हृदय बेध कर मार डालना, ऐसी उक्तियाँ बतलाई गई हैं। यह स्पष्ट अतिरंजना है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंशों के प्रकरण मे इन भावों के दोहे आये हैं जो बिहारी के निश्चित रूप से मार्गदर्शक होंगे।" हमे हिन्दी-साहित्य के उन आलोचकों की मनोवृत्ति से निश्चित रूप से दुख होता है जो यत्र-तत्र व्यर्थ मे ही साहित्य पर ऐसे निराधार आरोप लगाने का दुराग्रह करते हैं। रीतिकालीन शृंगारिकता मुगल दरबार की उपज नही है और न ही रीतिकालीन शृंगार मे पाई जाने वाली अति-शयोक्तियाँ जिनमें हास्यास्पदता भी आ गई है, मुसलमानी फारसी-साहित्य का प्रभाव मानी जा सकती हैं। हिन्दी के रीति-काव्य मे पाई जाने वाली अतिरंजनापूर्ण उक्तियाँ और अश्लील शृंगारिकता, अलंकरणप्रियता तथा प्रदर्शन प्रवृत्ति की प्रधानता आदि बातें संस्कृत साहित्य के शिशुपाल वध, नैषध चरित तथा किरातार्जुनीय महाकाव्यों में देखी जा सकती है। इन संस्कृत ग्रंथों का प्रभाव निश्चित रूप से हिन्दी रीतिकाव्य पर पड़ा है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि रीतिकालीन कवि ने प्रत्यक्ष रूप मे प्राकृत और अपभ्रंश के शृंगारी-साहित्य से प्रेरणा न लेकर सीधे संस्कृत साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की। रीतिकाल में प्रणीत रीति-काव्यों का आधार तो संस्कृत काव्य के रमणीक ग्रंथ हैं ही, इसके साथ-साथ शृंगारिकता की बहुत कुछ प्रेरणा उसे अमरुक, गोवर्धन, भर्तृहरि, हाल तथा शृंगार के अन्य फुटकर लेखकों से प्राप्त हुई। इस विषय में फारसी तथा अन्य किसी विदेशी प्रभाव की चर्चा असमीचीन होगी। रीति-काव्य की मूल भावना शृंगार है, स्त्री पुरुष के प्रेम का वर्णन यौवन विकास के विलास द्वारा परिहास, मनोविनोदों तथा संयोगजन्य अन्य विषयों का समावेश हिन्दी के प्रारम्भिक काल में ही हमारे साहित्य मे हो चुका था।

वस्तुतः हिन्दी रीति-काव्य की पृष्ठभूमि में संस्कृत साहित्य का वह समूचा काव्य और आचार्यत्व आ जाता है जो कि कई शताब्दियों पूर्व भारतीय नरेशों के राजदरबारों में विकसित हुआ था। रीतिकाल के साहित्य का अध्ययन करते समय

यदि इस व्यापक पृष्ठ-भूमि को ओझल कर दिया जाय तो फारसी-साहित्य के प्रभावपक प्रभाव की अनेक ऐसी समस्यायें खड़ी हो जावेंगी जिनका सुलझना सहज नहीं होगा। हिन्दी के रीति-साहित्य पर विद्वानों को जिस फारसी के प्रभाव का आभास हुआ है वह संस्कृत के परवर्ती कवियों के ढंग पर ग्रहण किया गया है। "इस प्रकार रीति-काव्य की आत्मा संस्कृत के परवर्ती काव्य से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है यथार्थ (वह है) वासना ऐश्वर्यमूलक। हाँ उस युग की स्थूल प्रेरणा रीतिकाव्य पर अवश्य स्वीकार की जा सकती है।"

रीतिकाल की शृंगारिकता के लिए बहुत कुछ आधार भक्ति काल में ही तैयार हो चुका था। निर्गुण उपासक सन्त कवि भी प्रेम को जीवन का सार कहते थे। सूफी कवि भी प्रेम की पीर के साधक थे। कृष्ण भक्ति में तो प्रेम व्यापक भाव है ही। राम-भक्ति मे भी रसिक भाव प्रवाहित था। अतः प्रेम को या रति-भाव को प्रधान मानकर शृंगार की 'रसराज' रूप मे प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी। एक तो भक्ति काव्य से भगवदाश्रित प्रेम की प्रेरणा मिल चुकी थी, दूसरे रीतियुगीन कवि के सम्मुख संस्कृत-साहित्य का व्यापक स्त्रोत-साहित्य था जिसमें शिव-पार्वती तथा राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के अनेक शृंगारमय चित्र थे। बस, इन दोनों से प्रेरणा लेकर भक्त के बहाने से इन्होंने राधा और कृष्ण के नाम पर नायक और नायिकाओं का खूब चित्रण किया। कभी-कभी तो आधुनिक युग का आलोचक रीति- काव्यों की इस मनोवृत्ति को देखकर उनके साहित्य को गन्दी नालियों में बहा देने की बात तक कह देता है। अस्तु, रीति युग का कवि विशुद्ध रूप से भक्त था या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवि काफी ईमानदार था। रीति-युग के नीति, सूक्ति, चरित-काव्य तथा वैराग्य-सम्बन्धी पद्यों का मूल स्रोत हिन्दी की भक्ति-धारा, वीरगाथाओं, अपभ्रंश, प्राकृत तथा संस्कृत साहित्य में खोजा जा सकता है।

वात्स्यायन के कामसूत्र ने भारतीय शृंगार-परम्परा के विभिन्न अंगों के विकास में विशेष महत्वपूर्ण योग दिया। कामसूत्र का रचना-काल यद्यपि सन्दिग्ध है परन्तु फिर भी इसे ईसा से दो शताब्दी पूर्व का ग्रन्थ माना जाता है। उस समय भारत मे अनेक कामविषयक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रौढ विवेचन यह सिद्ध करता है कि यह इस विषय का प्रारम्भिक ग्रन्थ नहीं है। इसके पीछे चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। कामसूत्र के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि तत्कालीन जीवन में शृंगार का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कामसूत्र के रीति-वर्णन, शृंगार-चेष्टाओं, और रति-शय्याओं के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण एवं विभिन्न पर्वों तथा अवसरों पर नायिकाओं के साथ सुरापान व क्रीडाओं का जो वर्णन किया है उससे तत्कालीन समाज के ऐहिक जीवन की सम्पन्नता का पता चलता है। कुछ विद्वानों ने भारतीय शृंगार-परम्परा में और साहित्य में सुरा, सुन्दरी तथा संगीतादि कलाओं के एकत्र ।ो। ` देखिए ,.. मुसलमानी विलासिता

का प्रभाव कहा है, किन्तु कामसूत्र से यह सिद्ध होता है कि मुसलमानो के आगमन से बहुत पूर्व हमारे यहां विलास के रगीन साधनो का एक अच्छा विकास हो चुका था। कामसूत्रकार के समय जीवन का दृष्टिकोण आध्यात्मिकता से हटकर ऐहिकतोन्मुख हो गया था। उस समय स्वकीया को केवल सन्तानोत्पत्ति का साधन माना जाता था जबकि आनन्द प्राप्ति के लिए परकीयाओ और वेश्याओ का आश्रय ग्रहण किया जाता था।

कामसूत्र ने भारतीय साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया, इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। भारतीय शृगारी कवियो ने वेश्याओ को तो इतना स्थान नहीं दिया किन्तु परकीया को इस साहित्य में बहुत प्रश्रय मिला है। इन कवियों को ऐसा करने की नैतिक अनुमति सभवत कामशास्त्रीय ग्रन्थो से मिली होगी। रीति कालीन कवियों के लिए कहा जाता है कि उन्होने राधा-कृष्ण के स्मरण के बहाने परकीया का ही चित्रण किया। हमारे विचारानुसार उसे भी ऐसा करने का नैतिक समर्थन कदाचित् इन्ही ग्रन्थो से मिला होगा।

नायिका भेद परम्परा के सम्बन्ध मे भी स्मरण रखना होगा कि वात्स्यायन का नायिका-भेद भरतमुनि के नायिका-भेद से प्राचीन है क्योकि भरत का नायिका-भेद अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ पर परिष्कृत है और फिर भरत ने अपने ग्रन्थ मे काम-सूत्र का उल्लेख भी किया है। सस्कृत साहित्य के नायिका-भेद-ग्रन्थो पर कामसूत्र का प्रभाव प्रसदिग्ध है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के नायिका-भेद पर कामसूत्रकार का विशिष्ट प्रभाव है। कामसूत्रकार ने जाति भेद के आधार पर जो नायिकाओ का भेद किया है, तदनुसार रीतिकालीन आचार्य-कवि देव ने भी किया है। दूतिकाओं का कार्य-साधन के उपायों का वर्णन कामसूत्रकार ने किया है। उनका प्रयोग साहित्य-क्षेत्र मे बराबर होता रहा। दूतिकाओ की परम्परा हमारे यहाँ छठी शती से लेकर १८वीं शती तक के साहित्य मे चलती रही है। अभिसारिकाओ एव खडिताओ का वर्णन, उनके मान-मोचन के लिए नायक का उनके चरणो पर गिरना ये सब बातें रीतिकालीन तथा दूसरे भारतीय काव्यशास्त्र में उपलब्ध होती हैं। नायिका की सभोगेच्छासूचक चेष्टाओं और हाव-भावो का जो सूक्ष्म-विवेचन कामसूत्रकार ने किया है, आचार्यों तथा कवियों ने उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया है। कामसूत्रकार ने विपरीत रति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और कदाचित् रीतिकालीन साहित्य में इसका स्पष्ट प्रभाव है।

यदि कुछ विद्वानो को रीतिकाव्य पर-ईसा-पूर्व रचित कामसूत्र के प्रभाव के विषय में कुछ शका या आपत्ति हो, तो इस सम्बन्ध मे एक तथ्य तो स्मरणीय है कि रीतिकाल पर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रभाव निश्चय रूप से पड़ा है। काम शास्त्रीय ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में कक्कोक (कोका पडित) का "रतिरहस्य", ज्योतीरीश्वर ठाकुर का "पच सायक" तथा कल्याण मल्ल का "अनग रग" आदि कामशास्त्रीय ग्रथ खूब प्रसिद्ध रहे हैं और इन ग्रन्थों से रीति-

कवि के परिचय के अनेक असंदिग्ध प्रमाण मिले हैं। कोका पंडित मध्यकाल में इतने अत्यधिक प्रसिद्ध रहे हैं कि उनका प्रभाव सूरदास तथा हित-हरिवंश जैसे भक्त कवियों पर भी पड़ा है, फिर रसिकता प्रधान रीतिकवि पर तो उनका प्रभाव का पड़ना अवश्यम्भावी प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृत और हिन्दी साहित्य के कवियों पर काम-सूत्र का गहन प्रभाव पड़ा है। हिन्दी का रीति-कालीन साहित्य भले ही विलास प्रधान मुगल दरबारों तथा तत्कालीन सामाजिक विलासिता में पनपा हो परन्तु फिर भी उसका आधार हजारों वर्ष पुरानी वह शृंगार परम्परा है जिसका परिचय काम-सूत्र से मिलता है। अधिकांश रीतिकालीन साहित्य काम-सूत्र के विभिन्न वर्णनों का एक परिवर्द्धित साहित्यिक संस्करण-सा है। अतः जब भी रीतिकालीन नायिका भेद, दूतिका भेद, शृंगारस्थल, अभिसार-आयोजन, बालाओं के हाव-भाव, शृंगार-चेष्टाओं एवं पारस्परिक प्रेम-व्यवहारों का अध्ययन किया जाये उस समय काम्य शास्त्रीय ग्रन्थों की पृष्ठभूमि को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

ऊपर हमने रीतिकाव्य के मूल प्रेरणा स्रोतों का उल्लेख किया है किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना होगा कि रीतिकालीन साहित्य में सब कुछ उधार लिया हुआ है या सब सैकिंड हैंड है। उस समय के साहित्यकार के पास बहुत कुछ अपना भी है। अन्त में आचार्य हजारीप्रसाद के शब्दों में रीतियुग के साहित्य तथा उसके कवि के सम्बन्ध में कह सकते हैं—"यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन भाषा के लोक साहित्य का विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष काल में जबकि शास्त्र-चिन्ता लोक चिन्ता का रूप ग्रहण करने लगी थी, वह पुरानी लौकिकतापरक लोक काव्य धारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर दिया। नायिका-भेद की संकीर्ण सीमा में जितना चित्र आ सकता था इसका उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है। इतना दोष जरूर है कि वह चित्र असपूर्ण और विच्छिन्न है। शास्त्र मत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इस लिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और वही इस युग में सबसे अधिक खतरनाक बात थी।"

भक्ति-कालीन एवं रीति-कालीन कृष्ण-काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

भक्ति-कालीन कृष्ण-काव्य—सगुणवाद के विकास में रामानुज, निम्बार्क, रामानन्द, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी वल्लभाचार्य आदि वैष्णव, आचार्यों का प्रमुख स्थान है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवि प्रायः निम्बार्क, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी तथा

बल्लभाचार्य से प्रभावित हैं। हिन्दी के भक्ति-युग के कुछ ऐसे भी कवि हैं जो निजी विश्वासानुसार कृष्ण का गुणगान गाते रहे हैं। हिन्दी में वैष्णव साहित्य के जन्मदाता विद्यापति ऐसे कवियों में से हैं। इनकी कविता पर जयदेव के भौतिक प्रेम की स्पष्ट छाप है। विद्यापति में आध्यात्मिकता ढूंढनी व्यर्थ है उन्होंने यौवन विकास तथा वय. सन्धि के वर्णनार्थ राधा-कृष्ण का चित्रण किया। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में हम विद्यापति के सम्बन्ध मे कह सकते हैं—"इसलिये विद्यापति के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीपित होते हुए भी अधिक स्थूल नहीं हो पाये हैं। उनमें एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण भावगत है, वस्तुगत नहीं। उनका धरातल नित्य प्रति के गार्हस्थ्य जीवन तक नहीं उतरा। इसलिए उसमे वह मूर्खता नहीं जो रीतिकाल के शृंगार-चित्रों मे अनिवार्यतः मिलती है। इन्हीं दो कारणों से विद्यापति रीतिकाव्य की परम्परा से थोड़ा बच जाते हैं अन्यथा उनमे रीति संकेतों का प्राचुर्य असंदिग्ध है।"

हिन्दी मे *कृष्ण-काव्य* की रचना का समस्त श्रेय *वल्लभाचार्य* को है। इनके चलाये हुए पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त से प्रभावित होकर सूरदास आदि ने कृष्ण-काव्य की रचना की। कृष्ण-काव्य के परिमाण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि एक ओर तो अकेला *कृष्ण-भक्ति-साहित्य* और दूसरी ओर *हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालों* का साहित्य।

भक्ति-कालीन कृष्ण-काव्य में वैयक्तिक तथा साम्प्रदायिक कितनी ही शैलियों के भेद मिलते हैं। कुछ कवि *राधावल्लभी सम्प्रदाय* के अनुयायी हैं। इन्होंने राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति की पूजा पर बल दिया है। इन्होंने कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्व दिया है। किसी-किसी ने गोपालकृष्ण की आराधना पर अधिक बल दिया है। इनके सिद्धान्तों में न्यूनाधिक अन्तर होते हुए भी सबने सूरदास के काव्य का अनुसरण किया है और सबने पुष्टि-मार्ग पर अपनी आस्था दिखाई है।

मीरा की भक्ति स्वतन्त्र शैली है। उसने कृष्ण-लीला की अपेक्षा कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का चित्रण किया है। उसकी भक्ति दाम्पत्य भाव की है। कृष्ण को रिझाने के लिए वह राधा को बीच में नहीं लाई है बल्कि स्वयं राधा बन गई है। मीरा में रहस्यवाद के भी संकेत स्पष्ट मिल जाते हैं। इस दिशा मे उस पर निर्गुण सन्तो का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

भक्त कवियों ने कृष्ण के मनोरंजक रूप को उपस्थित किया है, इन्होंने कृष्ण के लोक रक्षक रूप को हृदयगम नहीं किया। यहाँ कृष्ण सौन्दर्य के प्रतीक हैं, राधा-वल्लभ और गोपीनाथ हैं। इन कवियों में नख शिख-वर्णन तथा नायक-नायिका-चित्रण की परम्परा चल निकली।

कृष्ण भक्त-कवियों ने अपनी रहस्यात्मक उक्तियों में चकई, सखि, भृंगी और सुग्गे का भी सम्बोधन किया है। ये सब आत्मा के प्रतीक हैं। राधा और कृष्ण भी प्रकृति और ब्रह्म के प्रतीक हैं।

कृष्ण भक्त कवियो मे तन्मयता और प्रेमानुभूति की मात्रा अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है, भक्त कवि के हृदय की भाव प्रवणता मुक्तक काव्य के रूप मे प्रकट हुई है, क्योंकि यह भक्ति पद्धति प्रबन्ध काव्य के उपयुक्त नही थी।

इस साहित्य ने राधा कृष्ण की भक्ति कई रूपो मे प्रकट हुई है। सूर की भक्ति सख्य भाव की है और मीरा की दाम्पत्य भाव की। इसके अतिरिक्त दास्य-भाव और वात्सल्य भाव की भक्ति के नमूने भी मिलते हैं। आत्मनिवेदन, विनय, गुरु-प्रशसा, उपदेश तथा नीति आदि का वर्णन भी इन भक्त कवियो मे देखा जा सकता है।

कृष्ण भक्ति साहित्य मे दो रस प्रधान हैं वात्सल्य और शृ गार। वात्सल्य रस कृष्ण के बालगोपाल रूप मे सम्बद्ध है जबकि शृ गार रस के आश्रय हैं राधा-वल्लभ और गोपीकृष्ण। इन दोनो रसो का चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक बन पडा है। इस साहित्य मे अनुग्रह-याचना के प्रकरण मे शान्त रस की सृष्टि हुई है। कृष्ण के अलौकिक रूप चित्रण मे अद्भुत रस का अकन हुआ है। भ्रमरगीत प्रसग मे हास्य रस के अच्छे छीटे हैं। कृष्ण के वीर कृत्यो मे, जैसे दुष्ट दैत्यदलन कार्य में, वीर रस का भी चित्रण हुआ है।

तत्कालीन कृष्ण-काव्य ब्रजभाषा मे लिखा गया है और उसमे ब्रजभाषा का लोक-प्रचलित रूप है। जडिया नन्ददास ने भाषा मे जडने का कार्य किया है। मीरा की भाषा मे एकरूपता नही है। उसमें राजस्थानी का भी पुट है।

कृष्ण-भक्त कवियो के काव्यो मे सगीत तत्त्व की एक अनुपम छटा है। सबने पद लिखे हैं, जो कि भगवान् की मूर्ति के सामने कीर्तन के समय गाये जाते थे। नन्द-दास आदि कुछ कवियो ने दोहा, रोला और चौपाई आदि छन्दो का भी प्रयोग किया हैं, परन्तु इस काव्य मे अधिकता राग-रागनियो की है।

कृष्ण भक्त कवि की एक मुख्य विशेषता है—तल्लीनता, तन्मयता और अपने आराध्य के प्रति अटूट, अनन्य, सात्विक निष्ठा। इस दृष्टि से कृष्ण-भक्ति साहित्य उच्च कोटि का साहित्य है। इस साहित्य की सहृदयता, सरसता और तल्लीनता विश्व-साहित्य में आदरणीय रहेगी।

रीतिकालीन कृष्ण काव्य—रीतिकालीन ग्रंथकारों ने प्राय राधा-कृष्ण के प्रेम का सहारा लेकर शृ गारिकता की सृष्टि की है। इन कवियो ने कृष्ण के सौन्दर्य राधा की कामक्रीडा और गोपियों के विलासमय जीवन का चित्रण किया है। इनका प्रधान उद्देश्य कविता-कौशल प्रदर्शन था न कि भक्ति। जैसे—

राखि हैं सुकवि की तो जानी कविताई।
न तो राधिका-गुविंद सुमिरन को बहानो है।।

इस युग मे शृ गार रस की प्रधानता है। रीतिमुक्त कवि द्वारा चित्रित प्रेम रसिकता से ऊपर नहीं उठ पाया है। इनके शृ गार मे जीवन की सतुलित दृष्टि का नितान्त अभाव है। इनकी शृ गारिकता अश्लीलता और नग्नता मे परिणित हो

गई है। इनके राधा और कृष्ण सामान्य नायिका और नायक बन कर रह गये हैं।

इस युग के कवि ने राधा और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं के प्रति दास्य और विनय की भावनाएँ प्रकट की हैं। इस दिशा में इन पर संस्कृत के स्तोत्र साहित्य का प्रभाव स्पष्टत देखा जा सकता है। इस काल में भैरव, दुर्गा और शिव आदि के स्तोत्रों की सृष्टि हुई है। इन लोगों ने तीर्थ-स्थानों की महिमा का भी गान किया है।

रीतियुग भी मुक्तक-काव्य के लिए अधिक उपयुक्त था। कवित्त, सवैया, अरिल्ल, घनाक्षरी आदि मधुर छन्दों का इन कवियों ने अधिक प्रयोग किया है। इस काल में दोहा और चौपाई छन्द प्रधान रूप से अपनाये गए।

रीतिकालीन कृष्ण काव्य की भाषा एकमात्र ब्रजभाषा है, जिसमें बुन्देलखण्डी तथा अवधी भाषा का भी पुट है। इस काल के कवियों ने भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा भाषा गत सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया है। प्रदर्शन-प्रवृत्ति और आलंकारिकता का मोह इस काल के कवि में खूब बढा चढा हुआ था। इनमें यमक, अनुप्रास, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का बाहुल्य है।

रीतियुगीन कृष्ण काव्यकार में न तो एक अनन्य भक्ति वाली निष्ठा है, न वह तल्लीनता और न वह अनुभूति। रूपलोलुप रीति-काव्यकार की दृष्टि की पहुँच केवल शारीरिक सौन्दर्य तक ही रही है, आत्मा के सौन्दर्य तक वह कभी भी नहीं पहुँच सकी, वह भक्तिमय वर्णन करता हुआ भी तन को नहीं भूलता।

"तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग।"

तथा

"जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होय।" —अस्तु

उक्ति-चमत्कार उस काल के कवि को विशेष प्रिय लगा। एतदर्थ कहीं कहीं पर भक्ति भाव की अभिव्यक्ति भी भव्य-सी बन पड़ी है। इस उक्ति चमत्कार के लिए बिहारी और देव का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

रीतिकालीन कृष्णकाव्यकारों पर किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रभाव नहीं है, जैसा कि भक्तियुग के इस धारा के कवियों पर, अतः इन्होंने प्रेम वर्णन केवल प्रेम-वर्णन के लिए किया है। इस काल में कुछ कवियों ने भक्ति-भाव वश प्रेम का अत्यन्त उदात्त वर्णन किया है। रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों में घनानन्द का वही स्थान है जो भक्तिकाल के कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास का।

रीतिकालीन कृष्ण-काव्य में आगत नग्नता और अश्लीलता का एकमात्र कारण है—तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति मुस्लिम प्रभाव, विलासमय राजनीतिक वातावरण और पूर्व साहित्य की परम्परायें। यही कारण है कि इस काल में भक्तिकालीन आध्या-त्मिकता भौतिकता का रूप ले बैठी और सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता आ गई।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर एक बात स्पष्ट है कि राधा और

कृष्ण के प्रेम को भक्ति युग के कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ भावनाओं का माध्यम बनाया, परन्तु आगे के रीतिकालीन कवियों ने उन्ही को लेकर उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को भर दिया। राधा-कृष्ण भक्ति की जो सूक्ष्मता भक्ति काल में थी उसका आगे चलकर सर्वथा लोप-सा हो गया। इस बात के कारणों का विवेचन कर लेना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा।

इसके कारण हैं—राधा और कृष्ण का मधुर व्यक्तित्व, प्रेमलक्षणा भक्ति की अति गहनता, सख्य भाव की भक्ति जिसमें मर्यादा का सर्वथा अभाव था, कृष्ण-भक्ति का दार्शनिक पक्ष, राधा और कृष्ण की अलौकिक लीलायें—रास, पनघट, चीरहरण आदि व्यष्टि में समष्टि का आरोप, पुष्टिमार्ग की अनुग्रहपरक धारणा, वेद मर्यादादि की अवहेलना, भक्ति के क्षेत्र में श्रद्धा का बहिष्कार, ऐंद्रिय भोग एवं ऐश्वर्य के उपकरणों का समावेश, तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक विलासितामय वातावरण।

वल्लभ-सम्प्रदाय के पुष्टिमार्ग की भक्ति का एक सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति थी। वल्लभ के समय में तथा उसके बाद में काफी समय तक उक्त भक्ति मार्ग में सात्विकता बनी रही, किन्तु शनैः शनैः इस सात्विकता में ह्रास होने लगा। फलतः उक्त भक्ति में भोग और विलास की प्रधानता हो गई। कृष्ण-मन्दिर महल बन उठे। राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग के चित्र साधारण नायक और नायिकाओं के साँचे में ढालकर उतारे जाने लगे। वल्लभ-सम्प्रदाय में अब गद्दी-परम्परा चल निकली। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उसके गद्दीनशीन विलासप्रिय महन्तों का भोग ऐश्वर्य सम्पन्न जीवन उनके समय के राजा नवाबों तथा रईसों के लिए होड़ का विषय बन गया था, यहाँ तक कि इन मठों और मन्दिरों में देवदास प्रथा की पुनरावृत्ति भी होने लगी। सूरदास आदि ने कृष्ण-भक्ति के जिस विशाल पादप को अपने हृदय की शुद्ध भक्ति के रस से सींचा था, अब इसे अनाधिकारी पात्रों द्वारा मलिन हृदय के कलुषित वासना जल से सींचा जाने लगा। कुछ तो विद्यापति इनकी राह पहले ही बना चुके थे, कुछ उस समय का वातावरण सामूहिक रूप से इस प्रकार का बन चुका था और फिर परकीया के उन्मुक्त प्रेम के चित्र उतारने की नैतिक अनुमति कामशास्त्रीय ग्रंथों तथा उज्ज्वल नीलमणि से मिल चुकी थी, फलतः कृष्ण-भक्ति की पावन सुरसरी सात्विकता के उच्च शृंग से उतर कर वासना की मटमैली भूमि पर बहने लगी। रीतिकालीन कवि की दमित-वासना राधा-कान्हा के सुमिरन का बाना पहन कर शृंगार की संकीर्ण नालियों में फूट पड़ी। रीति कवि का मुख्य उद्देश्य 'रसराज' शृंगार का वर्णन करना था, उस शृंगार के अधिष्ठाता देवता कृष्ण और राधा के कोमल अथवा मधुर व्यक्तित्व को किशोर और किशोरी के रूप में ढाल दिया गया। इस युग के कवि का कथन है—

> बानी को सार बखान्यौ सिंगार,
> सिंगार कौ सार किसोर किसोरी।

तथा

नव रस मे सिंगार की पदवी राज विशाल,
सो सिंगार रस के प्रभु हैं श्री कृष्ण रसाल।

किसी आलोचक का रीतिकालीन कवि की इस उक्त मनोवृत्ति को लक्ष्य रखकर कहा हुआ निम्न कथन अत्यन्त उपयुक्त है—"काव्य सरोवर मे एक कमल खिल रहा था, उसे भक्ति काल के कवि रूपी हस्ती ने तोड लिया। बाद मे लोगो के हाथो मे केवल कीचड ही लगी। इस कीचड को लेकर रीतिकालीन कवियो ने राधा-कृष्ण के सौम्य रूप पर खूब कीचड उछाली।"

सूर-काव्य में आध्यात्मिकता अपने प्रकृष्ट रूप को पहुँची हुई है। सूरदास पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ के शिष्य हैं जिन्हे पुष्टि मार्ग का जहाज भी कहा जाता है। पुष्टि मार्ग के अनुसार ब्रह्म सगुण है और नित्य है। ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। जीव का धर्म पति-रूप में कृष्ण की सेवा करना है तभी वह शुद्ध अवस्था मे पहुँचता है। भगवान् जीव मे योग्यता नही देखते वरन् उस पर अनुग्रह करते हैं। सक्षेप मे सर्वात्मना समर्पण तथा सर्व कर्म फल-त्याग पुष्टि मार्ग का सार है। जीव को केवल कृष्ण की प्रसन्नता के लिए समस्त भौतिक चेष्टाएँ करनी हैं अत जीव को लोक और परलोक का भय नही रहता। पुष्टि की भक्ति मे लोक-परलोक, आचार-विचार, सब धर्म-कर्म सभी प्राकृतिक वस्तुएँ कृष्ण के सामने कुछ महत्त्व नही रखती। कृष्ण सुन्दर के प्रतीक हैं और त्रिलोकातिगामिनी छवि के पुष्कल पुञ्ज हैं।

गोपियाँ कृष्ण से अभिन्न हैं। दान-लीला, मान लीला, रास लीला, चीर-हरण और पनघट ये सब कुछ अपने आपको कृष्णोन्मुख करने के उपकरण हैं तथा विषय विलास से मुक्ति के साधन हैं। सूर-साहित्य मे 'नीवी खोलना', "चोली बन्द तोडना" और 'गोरस हरण" ये सब अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिकता से सचालित हैं। इन सबके साकेतिक अर्थ ग्रहण करना ही यहाँ अभीष्ट है। चोलीबन्द तोडना या नीवी खोलने आदि मे स्पष्ट रूप से प्रपत्तिवाद है। कृष्ण परम ब्रह्म हैं, गोपियाँ जीवात्माएँ हैं। कृष्ण अवतार हैं इसलिए मायापति हैं। मायाग्रस्त गोपियो को मुक्त करना उनका काम है। यदि यह सब कुछ अनुचित था तब कोई तो गोपी इसका विरोध करती।

चीरहरण—आत्मायें भक्ति रस की सरिता मे डुबकी लगाती हैं। उनकी भक्ति प्रेमलक्षणा है पर उन पर माया का पर्दा है। उस आवरण को हटाना चीर-हरण है। दान-लीला के रूप मे गोपी भक्त के रूप मे अपना सब कुछ अर्पण कर रही है। रास रूपी एक महामिलन है, प्रेमी प्रेमिका के प्रेम की अन्तिम परिणति है। यह युगल-प्रेम प्रकृति और ब्राह्म की अनन्यता तथा कला और काव्य का मिलन है। कृष्ण एक अपार शक्ति है और गोपी रूपी ऐटम्स (Atoms) सतत् गति से उसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। आधुनिक युग के प्रसिद्धतम वैज्ञानिक आईंस्टीन की भी विश्व के रहस्य के

सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा है। अस्तु [1]

घुटनशील वातावरण में साँस लेने वाले, वैयक्तिकता से विहीन एवं जीवन के विविधमुखी मूल्यों के प्रति चिन्तनशून्य, 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' के स्थान पर राजदरबारों का जय जय गान करने वाले, 'स्वत सुखाय' के स्थान पर 'स्वामिन-सुखाय' रचना करने वाले रीति काल के कलाकार के पास सूर की भक्ति की आध्यात्मिकता की गहनता के चिन्तन एवं मनन का अवकाश कहाँ था? उसका मानसिक क्षितिज 'तिय छवि' से सपूर्ण रूप से आवृत्त था। बस, वह उस सीमित घेरे में ही चक्र लगाता रहा बल्कि उसने राधा को भी अपनी आवश्यकतानुसार ढाल लिया। रीतिकालीन कवि की राधा और कृष्ण वृन्दावन की कुंजो मे विचरते तथा रास रचाने वाले नहीं बल्कि वे तो आगरा और जयपुर की गलियो मे परस्पर छेड़-छाड़ करने वाले छैल-छबीले, अल्हड़, मन फेंक नायक और नायिका हैं। उनमे तीखी नोंक-झोंक चलती है। वाणी के चातुर्य में वे दोनों सिद्धहस्त हैं। जैसे—

गोरस चाहत फिरत हो गोरस चाहत नाहिं।

उनके तीखे नुकीले नयन-बाणो का कहना ही क्या, एक बाकी अदा से और तिरछी चितवन से लाल-बेहाल हो जाते हैं "कहाँ लड़ैते दृग करैं परे लाल बेहाल" कवि राधा और कृष्ण की जोड़ी में अभिधामूलक व्यजनों से गाय और बैल के युगल की बातें सोचने लगा। रीतिकालीन कवि को लाल की चित्रकारी का उपयुक्त निशाना उरोज ही दीख पड़े। उनके राधा और कृष्ण लुक-छिपकर परस्पर अभिसार के गुप्त स्थलों का सकेत करने वाले रह गए। दरअसल यह बात इस काल के साहित्य मे सबसे बड़ी खतरनाक है। इस प्रकार इस टट्टी की आड़ में शिकार खेलने की मनोवृत्ति के दोष के लिए केवल उस समय का साहित्यकार ही उत्तरदायी नहीं बल्कि उस समय का समाज भी उत्तरदायी है।

हिन्दी रीति-ग्रन्थों के निर्माता प्रमुख आचार्य-कवि

हिन्दी-साहित्य के दो सौ वर्षों के रीति काल मे अनेक लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण हुआ। विषय की दृष्टि से हम उन लक्षण-ग्रन्थों को निम्न वर्गों मे रख सकते हैं—

(१) रस-विषयक ग्रन्थ।

(२) अलकार-विषयक ग्रन्थ तथा पिंगल-शास्त्र-सम्बन्धी रचनायें।

(३) काव्य के सर्वांग-निरूपक ग्रंथ।

इन ग्रंथों मे रीति-ग्रन्थकारों ने दो प्रकार का प्रयास किया है, एक तो काव्य के विविध अगो के लक्षण प्रस्तुत करना, दूसरे सुन्दर तथा सरस उदाहरण जुटाना। अत नीचे के प्रकरण मे उनके आचार्यत्व तथा कवि-कर्म की समीक्षा करना हमें अभीष्ट है।

आचार्य-कवि केशवदास—जन्म स्थलादि—केशवदास का जन्म एक धनाढ्य

ब्राह्मण कुल मे हुआ। इनके पिता का नाम काशीनाथ था जो कि सस्कृत के धुरन्धर विद्वान थे। सस्कृत के 'शीघ्र बोध" नामक ज्योतिष ग्रथ का निर्माण इन्होंने किया था, केशव का सम्बन्ध पण्डितो के उस परिवार से था जहाँ दास वर्ग भी सस्कृत भाषा का व्यवहार किया करता था। कदाचित् यही कारण है कि केशव को भाषा मे कविता करते समय कुछ ग्लानि का अनुभव हुआ था और इस क्षति पूर्ति का स्पष्ट प्रमाण उन का यत्र-तत्र पाडित्य-प्रदर्शन दखा जा सकता है। केशव ओरछा नरेश महाराज इन्द्र जीत की राज सभा मे रहा करते थे जहाँ इनका बहुत मान था। ओरछा-नरेश इन्हें अपना गुरु स्वीकार करते थे और उन्होंने इन्हें २१ गाँव दान मे दिए थे। केशवदास हिन्दी के विशेष लोक प्रिय कवि बिहारी के पिता थे। इनका जन्म अनुमानत स० १६१२ विक्रमी माना जाता है और मृत्यु स० अनुमानत १६७४।

ग्रथ—निम्नलिखित रचनायें केशव की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं—रसिकप्रिया, नखशिख, कविप्रिया, छन्दमाला, रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित, रतन बावनी, विज्ञान गीता और जहाँगीर जस चन्द्रिका। इनमे प्रथम चार ग्रथ काव्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं। रामचद्रिका एक महाकाव्य है जिसमे रामचरित का गान वाल्मीकि की रामायण के आधार पर किया गया है। वीरसिंह देव चरित, रतन बावनी तथा जहाँगीर जस चद्रिका नाम के ग्रथो मे ततदनामो से सम्बन्धित राजा-महाराजाओ की वीरगाथायें एव यशोगान हैं। विज्ञान गीता एक आध्यात्मिक ग्रथ है, जिसका निर्माण प्रबोध-चन्द्रोदय की पद्धति पर हुआ है। इन ग्रथो के वर्ण्य विषय के आधार पर कहा जा सकता है कि उनमे काव्य निर्माण की विविध शैलियो की क्षमता थी। रामचद्रिका महाकाव्य शैली का निदर्शन है, तो वीरसिंह देव चरित, रचन बावनी और जहाँगीर जस चन्द्रिका आदिकालीन वीर चरितात्मक शैली का उदाहरण है। एक ओर उन्होने विज्ञान गीता मे नाटक की रूपक शैली को अपनाया तो दूसरी ओर उन्होने अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रथो के द्वारा रीति निरूपण की नूतन पद्धति का सुव्यवस्थित रूप से प्रवर्तन किया। इस दृष्टि से केशव का व्यक्तित्व बहुत कुछ भारते दु जैसा लगता है।

आचार्यत्व—हिन्दी साहित्य मे केशव का आचार्य के नाते जितना महत्व है उतना कवि के नाते नही। कारण, केशव की चित्त वृत्ति काव्य शास्त्रीय निरूपण मे अधिक रमी है। इनकी रामचद्रिका विविध छदो और अलकारो का पिटारा मात्र है। केशव की "रसिकप्रिया" रस विवेचन से सम्बद्ध ग्रथ है, जिसमे प्रमुखत शृगार रस का वर्णन है, अन्य रसो का इन्होंने गौण रूप से वर्णन किया है। इस ग्रथ के अन्त मे अनरस नाम से पाँच रस दोषों का भी निरूपण किया है। शृगार रस निरूपण में नायक-नायिका भेद का भी निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध मे केशव पर भानुमिश्र की रसमजरी, विश्वनाथ के साहित्य दर्पण, भोज के शृगारप्रकाश और काम सम्बन्धी ग्रथो का प्रभाव असदिग्ध है। केशव ने शृगार को रसराज माना है और इसमे अन्य सभी रसो का अन्तर्भाव कर दिया है। शृगार का रस राजत्व तो ठीक है

पर अन्य रसों और विशेषत शृंगार के विरोधी रसो का अन्तर्भुक्त हो जाना नितात प्रशसनीय है। केशव ने सभी रसा का वर्णन शृगार रस के अधिष्ठाता कृष्ण को आलम्बन बना कर किया है। यह सब कुछ सरस और सुन्दर उदाहरण जुटाने की लालसा से है। अस्तु ! केशव की इस मान्यता पर रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नील-मणि का प्रभाव स्पष्ट है। केशव ने शृगार रस के सयोग और वियोग के अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश दो और भी भेद किए हैं। वास्तव मे प्रच्छन्न को तो रस की सज्ञा ही प्राप्त नहीं होती क्योंकि विभाव, अनुभाव, सचारी भाव के सयोग से निष्पन्न-व्यक्त—स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है। केशव की कविप्रिया में कवि-शिक्षा, अलकार-निरूपण और दोषो का वर्णन है। कवि-शिक्षा प्रकरण में कवि के कर्त्तव्यों और कवियो के उत्तम, मध्यम, अधमादि भेदों का उल्लेख किया है। केशव के इस काव्य-विभाजन पर भर्तृहरि का प्रभाव स्पष्ट है और उनका यह भेद कोई समीचीन भी नहीं है। केशव ने कुल मिलाकर २३ दोषो का वर्णन किया है। कवि-प्रिया के प्रथम पाँच दोष अध, बधिर, पगु, नग्न और मृतक आदि का नाम बडा विचित्र सा लगता है और सम्भव है कोई आलोचक उन्हें इस मौलिक उद्भावना की दाद भी दे किन्तु प्रथम चार का तो मम्मट-वर्णित दोषो मे अन्तर्भाव हो जाता है। और उसका मृतक तो काव्य-दोष जान ही नहीं पडता, क्योंकि जहाँ शब्द और अर्थ मृत प्राय होंगे वहाँ काव्यत्व सभव ही नहीं।

केशव ने काव्य के सभी सौंदर्य विधायी उपकरणो को अलंकार कहा है। केशव की इस अलकार सम्बन्धी परिभाषा पर भामह, उद्भट, दडी का प्रभाव है, जबकि इन आचार्यों के समय में अलकार और अलकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था। केशव के अलकारों के साधारण और विशिष्ट भेद भी तर्कसगत नहीं। केशव ने अपने अनुवार्य सस्कृत-आचार्यों के समान नव रसो का रसवत अलकार के अन्तर्गत वर्णन किया है जो वैज्ञानिक नहीं है। उन्होंने अगी का अन्तर्भाव अग मे कर दिया है। केशव ने सर्वगुण-सम्पन्न अलकार-रहित कविता को भी उसी प्रकार शोभाहीन माना है जिस प्रकार सर्वगुण-सपन्न आभूषणरहित नारी को। केशव की इस अति अलकरण प्रियता को देखकर उन्हें अलकारवादी आचार्य भी कहा जा सकता है, परन्तु उन्होंने रस की सर्वथा अवहेलना की हो ऐसी बात नहीं। केशव अपने आधारभूत अलकारो का निर्भ्रांत रूप से निरूपण नहीं कर पाए हैं। कहीं इनके लक्षण, कहीं उदाहरण और कहीं दोनों भ्रामक हैं। अलकार निरूपण मे जहाँ उन्होंने कुछ मौलिकता का प्रदर्शन करना चाहा है वहाँ वे असफल ही रहे हैं। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"नामों में अवश्य कहीं-कहीं थोडा हेर फेर मिलता है जिससे गडबडी के सिवाय और कुछ नहीं हुआ है। उपमा के जो-जो भेद केशव ने रखे हैं उनमें १५ ज्यों के त्यो दण्डी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। शेष रहे दो भेद—सकीर्णोपमा और विपरीतोपमा, इनमे विपरीतोपमा को तो अलकार कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार आक्षेप के जो ६ भेद केशव ने रखे हैं उनमे चार तो ज्यो के त्यो दडी के हैं। पाँचवाँ मरणाक्षेप दडी

का मूर्च्छाक्षेपा है। कविप्रिया का प्रेमालकार दण्डी के प्रेयस् का ही नामान्तर है। उत्तर ग्रलकार के चारो भेद वास्तव मे पहेलियाँ हैं। कुछ भेदो को दण्डी से लेकर केशव ने उनका और अर्थ का और समझा है।"

केशव का छन्द सम्बन्धी ग्रथ है 'छन्दमाला'। यह एक छोटी सी पुस्तिका है जिसमे साधारण रूप से छद सम्बन्धी शिक्षा दी गई है। इस ग्रथ का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है, विषय विवेचन की दृष्टि से नहीं।

इस सक्षिप्त विवेचन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे काव्यागो का कोई गभीर और प्रौढ विवेचन नही है। उन्होने सस्कृत काव्यशास्त्र का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है और उसमे भी इन्होने काव्य के अनेक नियमो को स्पष्ट नही किया, बल्कि उनका सही अनुवाद भी नही किया। उदाहरणो में वे प्राय विपर्येतर हो जाते हैं। लक्षण लिखते समय उनकी स्पष्टता की ओर ध्यान न देकर उन्हें काव्य चमत्कार से युक्त बनाना चाहते हैं। उदाहरण लिखते समय उन्हें एक से अधिक अर्थ या एक से अधिक उद्देश्य सिद्ध करने की लगी रहती है। परिणामत उनके दोनो काम कच्चे रह जाते हैं। केशव की दशा उस घुडसवार जैसी हुई है जो दो घोडों पर एक साथ सवारी करना चाहता हो।

अन्त मे हम आचार्य केशव के सबध में डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दो मे कह सकते हैं—'केशवदास का महत्त्व सचमुच इस बात मे है कि उन्होने पहले काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अगो पर प्रकाश डाला। केशवदास ने चाहे उनकी रचना कितनी अपूर्ण हो, सस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अगों पर विचार किया है। और सक्षेप में लक्षण कहकर उनको अपने द्वारा बनाये उदाहरणो में युक्त किया है। केशव की मौलिकता बहुधा उदाहरण में और कही-कही नए वर्गीकरण में देखी जा सकती है।"

कवित्व—हिन्दी के मध्य युग के साहित्य मे केशव ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार के काव्यो का प्रणयन किया है। विज्ञान-गीता, वीरसिंहदेव चरित, रतनबावनी, जहाँगीर जस चन्द्रिका इनके प्रबन्ध काव्य हैं। विज्ञान गीता मे आध्यात्मिक विषयो की चर्चा है जबकि बाकी के तीन काव्यो में प्राकृतजन गुण गान है। रतनबावनी मे ५२ पद्यो के स्थान पर आज ६८ पद्य मिलते हैं। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ पद्य इसमें प्रक्षिप्त हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' मे मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित का गान है। केशव के इन ग्रथो के आधारभूत ग्रथ हैं—वाल्मीकि रामायण, हनुमन्नाटक तथा प्रसन्नराघव। केशव ने इस ग्रथ के सम्बन्ध मे लिखा है कि वाल्मीकि मुनि ने स्वप्न में कहा कि 'तू भला बुरा तो गुनता नहीं बेकार की बात लिखा करता है, कुछ राम का चरित गा नही तो तुझे स्वर्ग ही नहीं मिलेगा।" इससे यह तो स्पष्ट है कि केशव ने रतन-बावनी आदि ग्रथो में जो उन्मुक्त कठ से गान किया था, उसमे उन्हें आत्मग्लानि होने लग गई थी। पर एक बात इस प्रसग मे स्मरण रखनी होगी कि रामचन्द्रिका मे जहाँ राम के पुनीत चरित का गान

करना कवि का मुख्य उद्देश्य था वह गौण-सा हो गया और वहाँ भी वे वाग्जाल पाडित्य प्रदर्शन, छन्द और अलकारों के पचडो मे पड गए। आज का आलोचक केशव की रामचद्रिका के महाकाव्यत्व को सन्देह की दृष्टि से देखता है। उसका कहना है कि इसमे कथा-प्रवाह स्थल-स्थल पर उखडा-पुखडा है, कथा-क्रम मे यत्र-तत्र व्याघात है, कथा-प्रसग अपनी रुचि के अनुसार तोडे-मरोडे गए हैं, अव्यवस्थित और असतुलित हैं। चरित्र चित्रण और शैली की दृष्टि से भी इस रचना को महाकाव्य की उदात्तता प्राप्त हो पाई है। कथा के बीच मार्मिक स्थलो की ओर केशव का ध्यान नही गया और दरअसल ऐसे ही स्थलों पर सच्चे कवि-हृदय की पहचान हुआ करती है। ऐसे स्थलो को या तो इन्होंने छोड दिया है या इतिवृत्ति मात्र कहकर चलता कर दिया है। वन पथ पर राम को देखकर लोगों से यह कहलवाना "किधौं मुनि शापहत, किधौं ब्रह्मदोष रत, किधौं कोऊ ठग हौं" सन्देह अलकार के मोह मे पडकर अपनी हृदय-हीनता का परिचय देना है। केशव मे आलकारिक चमत्कार का मोह इतना बढा-चढा हुआ है कि कहीं-कही पर अत्यन्त घटिया उपमानो का प्रयोग कर बैठते हैं। राम की वियोग-दशा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

'बासर की सपत्ति उलूक ज्यों न चितवत'

इसी प्रकार इन्होंने पचवटी के वर्णन के प्रसग मे शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के खिलवाड खडे किये हैं—"केशव-केशव राय मनो कमलासन के सिर ऊपर सोहे।" इसी प्रकार सीता के साथ वन-बालको का श्लेष अलकार मे बातें करवाना भी नितान्त असगत है। लगता है कि केशव केवल उक्ति वैचित्र्य और शब्द क्रीडा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गम्भीर और मार्मिक पक्षो पर उनकी दृष्टि नही थी। सम्भव है केशव की उक्त प्रवृत्ति को तथा उनकी छिछली रसिकता को देखकर आलोचकों ने उन्हें कठिन काव्य का प्रेत एव हृदयहीन कवि कहा हो। आचार्य हजारीप्रसाद केशव के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"कवि को जिस प्रकार का सवेदनशील और प्रेषण धर्म वाला हृदय मिलना चाहिए वैसा केशवदास को नही मिला था।" अस्तु।

केशव के पाठक के सम्मुख कुछ प्रश्न स्वत उठने लगते हैं। क्या केशव कठिन काव्य के प्रेत हैं ? क्या उन्हें कवि के नाते कुछ भी सफलता नही मिली ? क्या उनके काव्य मे रस नाम की वस्तु को ढूंढना ऐसे है जैसे कि मरुस्थल मे जल ? मेरे विचार मे केशव का मूल्याकन करते समय या तो हीनोक्ति से काम लिया गया है या अतिशयोक्ति से। केशव के कवि में वे सभी परिसीमायें हैं जो कि एक राज-दरबारी कवि के जीवन मे होनी स्वाभाविक हैं। पर जहाँ केशव का हृदय रमा है वहाँ उनका कवि-रूप उभर आया है। युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राज-दरबार के ठाट-बाट तथा शृंगार और वीररस के वर्णन के प्रसगो में केशव को काफी प्रशस्य सफलता मिली है। सवाद नियोजन की कला तो उनकी अनुपम ही है और इस दिशा में उन्हें तुलसी से भी अधिक सफलता मिली है। यदि वे प्रबन्ध-काव्य न लिखकर

नाटक रचना करते तो उन्हें आशातीत सफलता मिलती।

निःसन्देह उनकी अभिव्यंजना शैली सदोष है। उनकी भाषा मे च्युत-संस्कृति और न्यूनपदत्व आदि के दोष भी हैं, वाग्जाल और पांडित्य का मोह उनके काव्य-सौन्दर्य को यत्र-तत्र ध्वस्त कर देता है, आलंकारिक चमत्कार वृत्ति और भोंडी रसिकता उन्हें उदात्तभाव योजना नही करने देती, प्राकृतिक वर्णनो के प्रति वे प्राय तटस्थ है, परन्तु फिर भी वे अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण सूर और तुलसी के बाद मे स्थान को पाते आए हैं। पंडित समाज में उनकी रामचन्द्रिका का आज भी यथेष्ट सम्मान है। वे हिन्दी की रीति-परम्परा के प्रवर्त्तक हैं और इस दिशा में कुछ-न-कुछ अनुकरणीय भी रहे हैं। उन्होने हिन्दी काव्य सरणि को भक्ति पथ से रीति पथ की ओर अग्रसर किया, भले ही वे स्वय इस नूतन पथ के सफल यात्री सिद्ध न हो सके हों और फिर केशव के इस राह पर चलने वाले परवर्ती राहियो की दशा तो और भी विचित्र हो गई।

केशव के पश्चात् हिन्दी कविता—केशव के अनन्तर हिन्दी कविता अपने ऊँचे शिखर से गिरकर अलंकारादि के मायाजाल में ऐसी फँसी कि वह हृत्तंत्री को बजाने वाली और समस्त सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करने वाली न रही। इसके कारण स्पष्ट हैं।

भक्ति-काल मे कविता का उद्देश्य अत्यन्त उदात्त था। वे लोग पहले भक्त थे बाद मे कवि। उन्होंने दुनिया को आँखों से देखा था और वे अनुभूति के धनी थे। उन्होंने जन-सामान्य को मंगलमय सन्देश सुनाया। उनका उद्देश्य था—"कीरति भनिति भूति भलि सोई।" उन्हें स्वान्त सुखाय कविता करनी थी और उन्हें सीकरी से कोई सरोकार नहीं था। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा और जायसी के हृदयोद्गारों मे जनमानस को सदियो तक उद्वेलित करने की अपार क्षमता है। उनकी कविता में भावपक्ष को अभीष्ट प्रश्रय मिला है। काव्य के कलापक्ष को सबल और प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे ग्रहण किया गया हालांकि इसकी ओर कोई विशेष रुचि नही थी। उनका आदर्श था 'भाव उत्तम चाहिए भाषा कैसी होय'। भक्ति काल का रससिद्ध कवि अलकार आदि कविता के बाह्य उपकरणों के पीछे बेतहाशा भागा नहीं, परन्तु ये उसकी रसमयी वाणी मे स्वत आ गये। इसके विपरीत रीति काल की कविता-कामनी एक विचित्र बाना पहन कर काव्यशास्त्र की उँगली पकड़ कर बड़ी सज-धज से बाहर निकली। उसने अलकार को अपने ऊपर इतना लाद लिया कि कदाचित् मुक्त गति से चल भी न सकी और न ही सामाजिक वातावरण में उन्मुक्त श्वास ले सकी। भक्ति-काल मे हृदय-पक्ष की प्रधानता थी, जबकि रीतिकाल में कलापक्ष की। रीति-काल का कवि शब्दचयन, स्वरलहरी, लाक्षणिक वक्रता, उक्ति वैचित्र्य, पेचीदे मजमून, ऊहात्मकता और अलकारों की खिलवाड़ मे बुरी तरह रम गया। रीति-काल के कवि की दृष्टिजन-जीवन के प्रतिदिन के संघर्षों से अपरिचित थी। वह महलो में विलासमय जीवन के चित्र उतारने में लगी रही।

जिस राम के पावन-चरित्र पर तुलसी ने 'रामचरितमानस' जैसा अमर ग्रन्थ लिख डाला, वही रामचरित केशव के लिए छन्द और अलकारों के प्रदर्शन की सामग्रीमात्र बन गया। 'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हो बहुछन्द'। एक प्रबन्ध के बीच मर्मस्पर्शी स्थलो के नियोजन के लिए जो सूक्ष्म-शक्ति और सहृदयता अपेक्षित होती है वे केशव मे नही थीं और न ही किसी अन्य रीति के पथ के राही में। वे कविता कामिनी को शारीरिक साजसज्जा मे लीन रहे, आत्मा तक नहीं पहुँच सके और साथ-साथ अलंकारो के भार से कविता कान्ता को रुद्ध-श्वास बना दिया। उसका हृदय पक्ष निकल जाने से वह बुद्धि का खिलवाड मात्र रह गई। उसमे मन को रमाने की शक्ति न रही, वह केवल चमत्कार मात्र रह गई और वह भी हाथी दांत पर खुदे बेल बूटों तथा महीन चित्रो के समान जो क्षणिक मनोरंजन मात्र कर सकते हैं। भले ही रीतिमुक्त कवि घनानन्द आदि इसके अपवाद भी कहे जा सकते हैं।

रीतिकाल मे अधिकाश कवियो ने लक्षण ग्रन्थो की रचना की। इन लक्षण ग्रन्थकारो का उद्देश्य हृदय के तारों को झकृत करना नही था, वरन् लक्षण-उदाहरणों में अपना पांडित्य-प्रदर्शन था। लक्षण ग्रन्थो के मोह मे वे इतने बेसुध हुए कि उन्हें कविता की भी सुध न रही। वे सस्कृत के आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थो के अनुवाद एव भावानुवाद मे प्रवृत्त रहे और नायिका-भेद के चक्रव्यूह मे फस कर अपनी सारी शक्ति लगा दी। यहाँ तक कि इस रीति-कल्लोलिनी की उत्ताल तरगो के प्रखर छींटों से वीर रस के उत्थापक कवि भूषण भी अपने आप को बचा न सके। बिहारी ने कोई स्वतन्त्र लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा, परन्तु फिर भी उनके बहुत से दोहो की पृष्ठभूमि में यह शास्त्र काम कर रहा है। अन्यथा देव, बिहारी, मतिराम, भूषण और पद्माकर भावप्रवण कवि हैं, इनमे कवित्व की खूब शक्ति थी। यदि वे इस परम्परा मे न बहते तो कितना अच्छा होता।

रीति-युग का कवि राजाश्रित था। उस युग में कविता हुक्म, आज्ञा या Order पर बनती रही। रीति-कवि की अपनी परिसीमायें थी और वह उनमे विवश था। परिणामत उसकी सहज अनुभूतियों और कल्पना-शक्ति का समुचित दिशा मे विकास नहीं हो सका। सच यह है कि नौकरी और शायरी दो विरोधी वस्तुएँ हैं। प्रदर्शन-प्रधान उस युग मे कवि आलंकारिक चमत्कार मे मस्त रहा और रस अपेक्षाकृत उपेक्षित सा रह गया। फलस्वरूप कवित्व की ऊँची से ऊँची वस्तु रीतिकाल में नही आ पाई। एक उर्दू कवि के शब्दों में—

भरते हैं मेरी आह को वे ग्रामोफोन मे।
कहते हैं आह खेंचिये और दाम लीजिये॥

शुक्ल जी के कथनानुसार रीति काल मे पेचीदे मजमून हैं, सीधे और सरल भाव नही हैं। इन मजमून बाँधने वालो मे बिहारी, देव और पद्माकर का नाम मुख्य है। बिहारी ने बहुत दूर की कौडी पकडनी चाही है। बिहारी की इस उक्ति मे 'दृग उरझत टूटत कुटुम्ब' असगति अलकार के अतिरिक्त और कुछ भी नही। और देव

की इस उक्ति में 'वा चकई को भयो चित्तचीतो' अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा की झड़ी मात्र है, हृदय को पकड़ लेने वाली कोई भी वस्तु नहीं है। ऐसी उक्तियों में एकमात्र श्रमसाध्यता है, भावनाओं का सहज उद्रेक नहीं है। कहीं-कहीं पर उनकी अति-रंजना पूर्ण कल्पनाएँ हास्यास्पद भी बन गई हैं। इनका प्रधान कारण भौंडी रसिकता और तत्कालीन विलासितामय वातावरण है। इस दिशा में विदेशी साहित्य का प्रभाव भी आंशिक रूप से कारण माना जा सकता है। ऐसी उक्तियाँ कविता न होकर खिलवाड़ मात्र हैं और पहेली बुझौवल है। बिहारी के निम्न दोहे इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं—

> इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ।
> चढ़ी हिंडोरे सी रहे लगी उसासन साथ॥
> आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति।
> साहस के के नेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

प्रकृति वर्णन में भी इन्होंने अपने हृदय की कृपणता का परिचय दिया है। इनमें प्रकृति के बिम्बग्राही चित्रण की शक्ति नहीं थी। संस्कृत के वाल्मीकि, कालिदास तथा भवभूति को तो जाने दीजिये। इन्होंने इस दिशा में तुलसी और सूर जैसी भी तन्मयता नहीं दिखलाई है। एक ऋतु पर एक एक दोहा लिखकर बिहारी जैसे कवि ने प्रकृति-चित्रण कार्य से छुट्टी पा ली। इन लोगों ने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में किया है और वह भी परम्परा-पालनार्थ। केशव जैसे के लिए मुख को विद्यमानता में चन्द्र और कमल कुछ अर्थ ही नहीं रखते। केशव ने प्रकृति-चित्रण में कहीं-कहीं भद्दी भूलें भी की हैं। प्रकृति इनके लिए उद्दीपन का उपकरणमात्र बन कर रह गई, उसे इन्होंने सजीव इकाई के रूप में चित्रित नहीं किया, फिर इनसे अशेष प्रकृति के साथ रागात्मकता की आशा की बात तो दूर रही।

केशव में फिर भी यथाकथंचित् कुछ मर्यादा या शिष्टता बनी रही। केशव को निज समय में ही कविता के अधोमुखी ह्रास का आभास होने लगा था। उन्होंने अपनी कविप्रिया में तीन प्रकार के कवियों का वर्णन करते हुए उनकी मनोवृत्तियों और कविता-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का भी विश्लेषण किया है—

> केशव तीनहु लोक में त्रिविध कविन के राय।
> मति पुनि तीन प्रकार की बरनत सब सुख पाय।
> उत्तम मध्यम अधम कवि उत्तम हरि रस लीन।
> मध्यम मानत मानुषनि दोषनि अधम प्रवीन॥
> है अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहै।
> केशवदास अनुत्तम ते नर सतत स्वारथ संजुत जो हैं॥
> स्वारथ हूँ परमारथ भोग न मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
> भारत पारथ मिश्र कह्यौ, परमारथ स्वारथ हीन ते कोहैं॥

निःसन्देह केशव ने राम और सीता को शृंगारी रूप दे दिया है और वे

तुलसी के समान मर्यादा का पालन नही कर सके फिर भी उन्होंने शृ गार-वर्णन मे इतना हल्कापन नही आने दिया, जितना कि परवर्ती अन्य रीति-कवियो मे है। केशव के पश्चात् जो रीतिकालीन कवियो ने राधा और कृष्ण के नाम पर शृ गार की वे गन्दी नालियाँ बहाई हैं कि कदाचित् सड़ाध तो अब भी उनमें मौजूद है। सूरदास ने अत्यन्त सात्विकता के साथ राधा और कृष्ण के शृ गार का आध्यात्मिक स्तर पर वर्णन किया था, किन्तु इन अनधिकारी के हाथों मे पडकर वे साधारण नायक और नायिका ही बन कर रह गए और इनकी आड मे रीतिकालीन कवि लगे मानसिक फफोले फोडने। इन्होंने अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए स्वकीया के वृत्त को भी बढा लिया। इस काल मे काम की सार्वभौम उपासना हुई और अश्लीलता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इस काल का प्राय प्रत्येक कवि उस्ताद ही निकला। समय पलटे-पलटे प्रकृति के अनुसार कवि लोग स्वयम् महाराज के कानो मे मकरध्वज की पिचकारियाँ छोडने लगे तथा शृगार-चषक-पिलाने लगे। इस सम्बन्ध मे रीति युग के कुछ कवियो की निम्न उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बिहारी—१. लरिका लेवे के मिसन ······।

२. बिहँसि बुलाई विलोकि उन······।

३. कत दँयो सौंप्यो ससुर ··· ·।

४. राधा हरि, हरि राधिका बनि आये सकेत ······।

मतिराम—केलि को राति अघाने नहीं प्रभु······।

पद्माकर—नीवी और धार सभारिवे की सुभई सुधि नारि को धार धरी में।

ग्वाल—१. हाय हम आगे जबही कछु करन लागे।

तब ही उलट पापी पलक जुवे भये।

२. जैसो पालाहरन सकित प्यारी बाला मे।

सचमुच ये लोग इस दिशा के वात्स्यायन तथा फ्रायड के भी उस्ताद निकले हैं। इनकी दृष्टि में सामाजिक महत्त्व तो था ही कुछ नही। ऐसी रचनाएँ काम शास्त्र की कोटि मे भले ही आ जायें इन्हे उदात्त कविता की कोटि मे नही रखा जा सकता, जहाँ काम अग न रहकर अगी रूप मे चित्रित हुआ है। आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर बिहारी की कविता को लक्ष्य रखकर कहा है—"भावो का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त रूप बिहारी मे नही मिलता। कविता उनकी शृगारी है पर प्रेम की उच्च भूमि पर नही पहुँचती, नीचे रह जाती है।" यह कथन प्राय रीति काल के सभी कवियो पर चरितार्थ होता है। देव के अष्टयाम मे रात-दिन के भोगविलास की दिनचर्या है जो उस काल के अकमण्य और विलासी राजाओ के काल-यापन के उद्देश्य से लिखी गई। रीतिकाल की कविता एकदम हीन है, ऐसी बात भी नही है। भले ही उस युग के कवि सूर और तुलसी की समकक्षता मे नहीं आ सकते, फिर भी वे अच्छे हैं और उनका यह महत्त्व तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक मे देखने से और भी बढ़ जाता है।

रीतिकालीन कवियों को रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दो कोटि में रखा गया है। बिहारी, देव, मतिराम, भूषण पद्माकर आदि रीतिबद्ध हैं, परन्तु वे प्रगल्भ-प्रतिभा सम्पन्न भावुक कवि हैं। यदि ये लक्षण-परम्परा की दलदल में न पड़ते तो निश्चित रूप से उनकी कविता का सुन्दर विकास हो सकता। रीतिमुक्त कोटि में घनानन्द, बोधा और ठाकुर आदि का नाम लिया जा सकता है। इनकी कविता में हृदय की मार्मिक अनुभूतियाँ हैं। रीतिबद्ध कवियों के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के अत्यन्त विचारशील आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इन कवियों का उद्देश्य कविता करना था न कि शास्त्रीय पद्धति पर काव्यांगों का निरूपण करना। अतः इनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों और अलंकारों के बहुत से सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए[3]। ऐसे मनोहर और सरस उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे किये जायें तो भी उनकी संख्या अधिक न होगी।"

भले ही रीतिकाल की कविता बाह्य आडम्बर प्रधान है, उसमें भक्तिकालीन शालीनता और उदारता नहीं, सामाजिकता की उसमें घोर अवहेलना है और वह केवल सुन्दर को ही प्रश्रय देती रही है फिर भी उनमें वे तत्व तो हैं ही जिनसे तत्कालीन समाज का मन बहलता रहा है और आज भी वह कविता मन बहला रही है।

आचार्य चिन्तामणि—जन्म-स्थानादि चिन्तामणि तिकवाकुर (कानपुर) के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। भूषण मतिराम और जटाशंकर ये तीनों इनके भाई थे। इन सबको त्रिपाठी बन्धु के नाम से पुकारा जाता है। चिन्तामणि का जन्म काल सं० १६६६ के लगभग माना जाता है। ये बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला मकरन्द शाह के यहाँ रहे थे।

ग्रंथ—इनके बनाये हुए पाँच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी, पिंगल और रामायण। उपर्युक्त ग्रंथों में से केवल दो ही उपलब्ध हैं, कविकुल कल्पतरु और पिंगल। कविकुल कल्पतरु में इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। केवल गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण नहीं हुआ है। काव्य-स्वरूप, शब्द शक्ति, ध्वनि, गुण, दोष प्रकरणों में ये आचार्य मम्मट से प्रभावित हैं। रस-प्रकरण में इन पर मम्मट और विश्वनाथ दोनों का प्रभाव है। अलंकार-प्रकरण में इन्होंने उक्त आचार्यों के अतिरिक्त धनंजय और दीक्षित के ग्रंथों से भी सहायता ली है। नायिका-भेद में ये विश्वनाथ और भानुमिश्र दोनों से प्रभावित हैं। लक्षणों का प्रतिपादन दोहा और सोरठा छन्दों में किया गया है और उदाहरणों के लिए कवित्त, सवैया को अपनाया गया है। कोई दो चार स्थलों पर स्पष्टीकरण के लिए गद्य का भी आश्रय लिया गया है। इन्होंने लक्षण निर्माण के समय संस्कृत के आचार्यों के लक्षणों का शाब्दिक अनुवाद ही प्रस्तुत किया है। शब्द-शक्ति और गुण प्रकरण को छोड़कर इनकी शैली गम्भीर, व्यक्तिगत और

विषयानुकूल रही है। शब्द-शक्तियों के विवेचन में इनका मन रमा ही नहीं। इस प्रकार काव्य के सभी अंगों के निरूपण का मार्ग सर्वप्रथम हिन्दी में इन्होंने ही चलाया और इसका अनुसरण परवर्ती लेखकों ने भी किया। चाहे हम इसे एक संयोग भी कह लें किन्तु यह तो निश्चित है कि समन्वयवादी मम्मट की काव्य-निरूपण की पद्धति का श्रीगणेश इन्होंने ही किया।

चिन्तामणि का छन्द-सम्बन्धी ग्रंथ है पिंगल और इसका आधारभूत ग्रंथ है प्राकृत पिंगल। आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि के इस पिंगल ग्रंथ का नाम "छन्द विचार" कहा। इसमें विविध छन्दों के लक्षण, उदाहरण सरल ब्रज भाषा में प्रस्तुत करते हुए इन्होंने कुछ हिन्दी के नूतन छन्दों का भी उल्लेख किया है। कुल मिलाकर यह ग्रंथ साधारण कोटि का बन पड़ा है।

कवित्व—आचार्य-कर्म के साथ-साथ इनका कवि-कर्म भी महत्त्वपूर्ण है। रसवादी होने के कारण इनके काव्य में विशेषत शृंगार रस का सम्यक् परिपाक बन पड़ा है। इन्होंने अपनी सहज अनुभूतियों को सरल भाषा में अभिव्यक्त किया है। डॉ० महेन्द्र कुमार के शब्दों में हम इनके सम्बन्ध में कह सकते हैं कि—"इनका काव्य देव और परवर्ती कवियों के समान नहीं है—न तो इसमें देव का सा आवेग ही आ पाया है और न वैसी चित्रमयता ही। कल्पना की ऊँची उड़ान भी ये नहीं भर पाये। केवल मतिराम के समान सीधी-सादी शब्दावली में अपनी सच्ची अनुभूति को व्यक्त कर गये हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में बिहारी की सी नक्काशी के स्थान पर ऐसी स्वाभाविकता देखने को मिलती है, जिससे इनकी रचनाओं को मतिराम के समकक्ष कहने में संकोच नहीं होता।"

इस प्रकार आचार्यत्व और कवि दोनों दृष्टियों से चिन्तामणि अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि इन्हें रीति-परम्परा का प्रवर्तक आचार्य न भी मानें तो भी हिन्दी के सर्वांग-निरूपक सर्वप्रथम सफल आचार्य तो ये हैं ही और कवित्व की दृष्टि से भी इन्हें मतिराम जैसा सम्मान प्राप्त है।

मतिराम—रससिद्ध कवि मतिराम, चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। मतिराम का जन्म-काल संवत् १६६० के लगभग और स्वर्गवास १७५० के लगभग माना जाता है। मतिराम अनेक राजाओं के आश्रय में रहे थे। इनमें स्वच्छन्द-कविता की मनोहारिणी प्रतिभा है और ये सरस ललित एवं सुकुमार रचना के धनी हैं।

ग्रंथ—मतिराम की प्रसिद्ध रचनायें ये हैं—ललित ललाम, रसराज, फूलमंजरी, छन्दसार-पिंगल, मतिराम सतसई, साहित्यसार, लक्षण-शृंगार और अलंकार पचाशिका। रसराज और ललितललाम इनके प्रसिद्धतम ग्रंथ हैं। साहित्य सार और लक्षण-शृंगार इनके छोटे-छोटे ग्रंथ हैं। साहित्यसार में नायिका-भेद का वर्णन है और लक्षण-शृंगार इनके छोटे-छोटे ग्रंथ हैं। साहित्यसार में नायिका-भेद का वर्णन है और लक्षण-शृंगार में भावों और विभावों का वर्णन। शुक्ल जी इनके रसराज और

ललितललाम के सम्बध मे लिखते हैं—"रसराज और ललितललाम मतिराम के ये दो ग्रथ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योकि रस और अलकार की शिक्षा मे इनका उपयोग बराबर चलता आया है।' वास्तव मे अपने विषय के ये अनुपम ग्रथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसो और अलकारो का अभ्यास हो जाता है। रसराज का कहना ही क्या है। ललितललाम में भी अलकारो के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं।"

आचार्यत्व—इनके रसराज मे शृगार रस का वर्णन है परन्तु प्रधानत इसमें नायिका भेद का विस्तार है। नायिका मतिराम के विचार के अनुसार वह है जिसको देखकर चित्त के भीतर स्वभाव की उत्पत्ति होती है। इनका नायिका भेद भानुमिश्र की रस मजरी पर आधृत है। नायिका-भेद विवेचन मे कोई मौलिकता नही है। हाँ नायिका भेद के उदाहरण अत्यन्त सरस हैं जो कि काव्य का सुन्दर नमूना है। उदाहरणार्थ—

कुन्दन को रग फीको लगे झलके अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन मे अलिलानि चितौन मे मजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वं नैननि त्यो-त्यों खरी निकरै सो निकाई॥

इनका ललितललाम ग्रथ अलकारो पर लिखा गया है। अलकारो के लक्षण दोहो मे दिये गये हैं। और उदाहरण कवित्त और सवैयो मे। अलकारो के शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इस ग्रथ का कोई विशेष महत्त्व नही है हाँ कविता की दृष्टि से यह ग्रथ काफी सुन्दर है। रस और अलकार इन दो विषयो को छोडकर मतिराम ने काव्यशास्त्र की अन्य समस्याओ पर प्रकाश डाला। अत आचार्य की दृष्टि से इनका कोई अधिक महत्त्व नही है। वे मुख्य रूप से कवि हैं और इनमे आचार्यत्व की अपेक्षा कविता की लगन प्रधान है। चिन्तामणि की दशा इनसे सर्वथा विपरीत है, वे पहले आचार्य हैं और उनमे आचार्यत्व की लग्न प्रधान है।

कवित्व—मतिराम की कविता सुकुमार, सुन्दर और कोमल कल्पना के गुणों से सम्पन्न है। उसमे कहीं भी भावो मे कृत्रिमता नही है। वह शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है। भाव-व्यजना अत्यन्त स्वच्छ और स्वाभाविक भाषा मे हुई है। इनके चित्रण व्यक्ति, वस्तु, भाव को सजीव रूप से प्रस्तुत करने की विशेषता रखते हैं। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो मे पद्माकर को छोड और किसी कवि मे मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यजना नही मिलती, बिहारी की प्रसिद्धि का बहुत कुछ कारण उनका वाग्वैदग्ध्य है।"

आचार्य शुक्ल ने अन्य स्थान पर इनके सम्बन्ध में लिखा है—"भाषा के समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उसके व्यजक व्यापार और चेष्टायें। भावों को आसमान पर चढाने और दूर की कौडी लाने के फेर मे ये नही पडे है।

नायिका के विरह ताप को लेकर बिहारी के समान मजाक इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचनवक्रता भी इन्हें बहुत पसन्द नहीं थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार ख्याल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बंधी लकीरों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई सन्देह नहीं।" मतिराम के काव्य में गृहस्थ जीवन के अतीव सरस, सुन्दर, स्वस्थ और हृदयग्राही चित्र मिलते हैं। रीतिकाल के कवियों में दाम्पत्य जीवन के ऐसे विशुद्ध निरीह एवं निष्कपट चित्र उतारने की कला इन्हीं में ही है।

भूषण—चिन्तामणि और मतिराम के भाई भूषण हिन्दी के सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ वीर रस के कवियों में हैं। वस्तुतः ये वीर रस के उत्पादक कवि हैं। इनका वास्तविक नाम क्या था, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। भूषण की उपाधि इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्रदेव से प्राप्त हुई थी। ये कई आश्रयदाताओं के पास रहे। महाराज छत्रसाल और शिवाजी इनको अधिक प्रिय लगे। भूषण के काव्य का उद्देश्य वाणी को कलियुग के कलुषित स्तम्भ वातावरण से निकाल कर वीरत्व की दीप्त सरिता को पवित्र करना था। घोर शृंगार रस के युग में वीर रस की अपूर्व कविता लिखकर अपना प्रमुख स्थान बना लेने में ही भूषण कवि का कृतित्व है। इनका काल है सं० १६७०-१७७२ तक।

ग्रन्थ—कवि भूषण की ६ रचनायें मानी जाती हैं। शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास तथा भूषण हजारा। इनमें प्रथम तीन ग्रंथ ही प्राप्य हैं। शिवराज भूषण अलंकार ग्रंथ हैं। शिवा बावनी तथा छत्रसाल दशक वीर रस सम्बन्धी छोटे-छोटे ग्रंथ हैं जिनमें शिवाजी और छत्रसाल के वीर कृत्यों का गौरवमय गान है।

आचार्यत्व—'शिवराज भूषण' नामक ग्रंथ में इन्होंने अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरणों में शिवाजी तथा उनकी वीरता और यश पर कवित्त और सवैये लिखे हैं। अलंकारों का लक्षण सम्बन्धी विवेचन तो प्रौढ़ नहीं है वरन् कहीं-कहीं पर तो भ्रान्त है, पर उदाहरण अत्यन्त सरस और उत्कृष्ट बन पड़े। भूषण उल्लास और दूषण उल्लास अलंकारों और दोषों पर लिखे गये ग्रंथ हैं। पर वे अप्राप्य हैं। शिवराज भूषण में इन्होंने १०५ अलंकारों का नाम गिनाया है। इनमें से केवल अधिक प्रसिद्ध अलंकारों का वर्णन किया है। बहुत से अलंकारों तथा उनके भेद प्रभेदों को छोड़ दिया गया है। अधिकांश स्थलों पर इनके लक्षण अस्पष्ट तथा अनुपयुक्त हैं। लक्षणों की गड़बड़ी पंचम प्रतीप, संकर, विरोध, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास भ्रम, सन्देह और स्मरण अलंकारों में है तथा उदाहरणों की गड़बड़ी परिणाम, लुप्तोपमा, निदर्शना, क्रम, परिकर, विभावना, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास और निरुक्ति में है। इससे

स्पष्ट है कि इनमें आचार्यत्व की प्रेरणा केवल ऊपर की है अतः इस क्षेत्र में इनका कोई महत्त्व नहीं। हाँ, उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनमें प्रबन्ध-काव्य लिखने की भी अद्‌भुत क्षमता थी किन्तु रीति के प्रवाह में बह जाने के कारण वह उसका सदुपयोग नहीं कर सके।

कवित्व—भूषण वीर रस के ही कवि थे। उनके दो-चार पद्य शृंगार के भी मिलते हैं पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। वस्तुतः वे वीर रस के उन्नायक और उत्थापक हैं। उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल की वीरता की अत्यन्त प्रशंसामयी उक्तियाँ लिखी हैं पर उनमें चापलूसी और खुशामद की गंध तक नहीं, अतः वे आदिकालीन तथा रीतिकालीन आश्रयदाताओं के अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसामयी कविता लिखने वाले कवियों से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू धर्म के रक्षक दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू-जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीर रस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कीर्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।"

डॉ० ओमप्रकाश भूषण की कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"भूषण के काव्य में वीर रस का अपूर्व प्रवाह है। उनकी उक्तियों में दर्प और आतंक के ओजपूर्ण चित्र हैं। इनकी तुलना खुशामदी कवियों से नहीं की जा सकती। यह सत्य है कि भूषण ने अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है, परन्तु यह भी सत्य है कि वह आश्रयदाता उस युग का नेता था और वह केवल अपने स्वार्थ के लिए ही युद्ध न करके जनता की स्वत्व रक्षा के लिए जीवन अर्पण कर बैठा था। यह प्रशंसा जीवन को पवित्र, महान् तथा उदार बनाने वाली है। अस्तु और शृंगारी घटनाओं में बिजली के समान चमकने वाली भूषण की ओजस्विनी प्रतिभा आश्रयभोगी कवियों की प्रशंसामयी रुचि से तुलनीय नहीं है। निश्चय ही भूषण आदि काल और रीति-काल के कवियों से अधिक गौरव के भागी हैं।"

निःसन्देह भूषण की अभिव्यंजना-पद्धति ओजपूर्ण है पर उनकी भाषा अधिक-तर अव्यवस्थित है। उसमें प्रायः व्याकरण का उल्लंघन है। वाक्य-रचना में भी प्रायः गड़बड़ी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने शब्दों को स्वेच्छा से बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है। कहीं-कहीं तो एकदम गढ़न्त शब्द हैं। पर सर्वत्र इनकी भाषा में गड़बड़झाला हो, ऐसी बात नहीं। इनके कई कवित्त अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली हैं। हाँ, जहाँ वे आलंकारिक चमत्कार के मोह में अधिक पड़े हैं, वहाँ भाषा में काफी गड़बड़ी आ गई है।

हिन्दी-साहित्य में भूषण का महत्त्व वीर रस के कवि के नाते है, आचार्य के

माते नहीं। आचार्य कर्म तो एक परम्परा-निर्वाह मात्र था। भूषण के कवि का महत्त्व तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में देखने से और भी अधिक बढ़ जाता है। वस्तुतः वे हिन्दी-साहित्य में वीर रस के उत्थापक कवि हैं। उनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

(क) कप कलसी में, मारि कुम्भ कलसी में,
शिवराज भ्रदसो के राज में यों राजनीति है।
(ख) आयो-आयो सुनत ही, सिव सरजा तुव नाँव।
बैरि नारि दृग जलन सों, बूड़ि जात अरि गाँव॥
(ग) इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अम्भ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर,
भूषन वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं॥

भूषण की कविता में राष्ट्रीयता—आधुनिक युग के कतिपय आलोचक भूषण के साहित्य में नीचे की पंक्तियों को देखकर इसमें जातीयता तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावनाओं का आरोप कर बैठते हैं। वे पंक्तियाँ ये हैं :—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत।
तथा
हिन्दुवन की चोटी राखी रोटी राखी है सिपाहिन की।
तथा
राख्यो हिन्दुवानी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो।

किन्तु उनकी यह धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। भूषण की कविता में आये हुए वेद, पुराण, हिन्दू, तिलक और चोटी शब्दों को देखकर उन्हें राष्ट्रीय कवि के सम्मान से वंचित नहीं किया जा सकता, ऐसा करना उनके साथ सरासर अन्याय होगा। भूषण के युग की राष्ट्रीयता के सम्यक् ज्ञान के लिए हमें आधुनिक युग के राष्ट्रीयता के चश्मों को उतार कर परे रखना होगा। भूषण के समय व्यक्ति विशेष के द्वारा अधिकृत एक भू-भाग राष्ट्र समझा जाता था और उसके प्रति प्रेम और स्वार्थ-त्याग राष्ट्रीयता समझी जाती थी। उस समय राष्ट्रीयता का स्वरूप आज जैसा व्यापक नहीं था जिसमें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी पर्यन्त रहने वालों में 'हिन्दू-मुसलिम सिख ईसाई, सब आपस में भाई-भाई' की भावना आ जाती। भूषण ने उस युग की राष्ट्रीयता के अनुसार अपना कर्तव्य पूरा सोलह आने निभाया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

भूषण साहित्य में हिन्दू, पुराण और वेद की दुहाई निश्चित रूप में मिलती है, किन्तु किसी भी नागरिक के लिए निज जाति और संस्कृति का प्रेम अनुचित नहीं होता। वस्तुत ये विश्व प्रेम की सीढ़ियाँ हैं। इसके साथ-साथ एक बात और भी है कि किसी भी युग के प्रतिनिधि सजग कलाकार का यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अन्याय, अत्याचार और शोषण का डटकर विरोध करे। औरंगजेब घोर अत्याचारी तथा कट्टर असहिष्णु था। भूषण ने अपने साहित्य में जो औरंगजेब की निन्दा की है उसे व्यक्तिगत समझना चाहिए। भूषण ने मुसलमान जाति या मुस्लिम धर्म की निन्दा नहीं की। यदि औरंगजेब की निन्दा के कारण भूषण अराष्ट्रीय कवि है तो अंग्रेजों की शोषण-नीति का विरोध करने वाले आधुनिक युग के गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी तथा दिनकर जैसे राष्ट्रीय कवियों को तथा नेहरू जैसे नेताओं को भी उसी कोटि में रखना पड़ेगा, किन्तु ऐसा करना नितान्त असमीचीन है। सच यह है कि भूषण को मुस्लिम जाति से विरोध करना अभीष्ट नहीं है, उन्हें यदि अभीष्ट है तो औरंगजेब का विरोध करना, और उसके अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करना। इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह विरोध केवल भूषण ने ही नहीं किया वरन् देश के कोने-कोने से हुआ। भूषण ने बराबर हुमायूँ और अकबर की सहिष्णतापूर्ण समन्वयात्मक रीति की इन शब्दों में "बाबर, अकबर, हुमायूँ हृदि बाँधि गये" मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। जातीय विरोध औरंगजेब के समय में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था और उसका भूषण ने विरोध किया है। भूषण ने किसी भी राष्ट्र-विरोधी शासक का विरोध किया है चाहे वह मुसलमान था या हिन्दू। उन्होंने जसवन्तसिंह और उदयभानुसिंह की कड़ी निन्दा की है हालांकि वे हिन्दू नरेश थे।

शिवाजी की नीति अत्यन्त उदार थी। उनके दरबार में मुसलमान उच्च पदों पर नियुक्त थे। शिवाजी का आदेश था कि कोई भी किसी मुसलमान स्त्री, उनके धर्मग्रन्थ और मस्जिद आदि को हानि न पहुँचावे। सच तो यह है कि शिवाजी को उस महती राष्ट्रीय क्रांति में जो आशातीत सफलता मिली उसका श्रेय हिन्दू और मुसलमान दोनों को है। फिर शिवाजी का राज्याश्रित कवि मुसलमानों के प्रति विष उगलता यह सम्भव भी कैसा था। शिवाजी केवल शासक ही नहीं थे नेता भी थे और जनता की पूर्ण सहानुभूति उन्हें प्राप्त थी।

भूषण की कविता किसी संकीर्ण भावना, साम्प्रदायिकता अथवा चाटुकारिता के उद्देश्य से नहीं लिखी गई। वह राष्ट्रीय उत्थान के लिए लिखी गई और इसीलिए वह शाश्वत और अमर है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के शब्द विशेष स्मरणीय हैं—"पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय दमन में तत्पर हिन्दू धर्म के संरक्षक दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी

जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कविकीर्ति-सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।"

सच यह है कि भूषण की कविता शिवाजी के चरित्र का शृंगार है और शिवाजी हमारी राष्ट्रीयता के पावन किरीट हैं। शिवाजी भूषण को पाकर धन्य हुए तो भूषण शिवाजी को पाकर।

दो अन्य भूषण नामधारी-कवि—शिवराज भूषण तथा छत्रसाल दशक के रचयिता महाकवि भूषण के अतिरिक्त इन्हीं के समकालीन भूषण नाम धारी दो अन्य कवियों की रचनायें भी प्रकाश में आई हैं। इनमें एक है 'छन्दो हृदय प्रकाश' के प्रणेता मुरलीधर भूषण तथा दूसरे है वृत्तान्त मुक्तावली के प्रस्टाव भूषण। कैप्टेन शूरवीर सिंह ने एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर मुरलीधर भूषण कृत "अलंकार प्रकाश" नाम के ग्रन्थ को प्रकाशित किया है जिसकी भूमिका में उन्होंने मुरलीधर भूषण को महाकवि भूषण से अभिन्न ठहराया है। अस्तु। इस विषय में अभी तक निर्णयात्मक रूप से कुछ कह सकना निरापद नहीं है।

वृत्तान्त मुक्तावली के रचयिता का पूरा नाम ब्रजभूषण था। उनकी कविताओं में ब्रजभूषण तथा भूषण दोनों नाम मिलते हैं। उक्त रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रजभूषण निजानन्द (प्रणामी) सम्प्रदाय के एक प्रतिष्ठित वक्ता एवं साधक थे। उनका ब्रज बुन्देलखंडी तथा संस्कृत भाषाओं पर असामान्य अधिकार था। कवीन्द्र चन्द्रोदय तथा कवीन्द्र चन्द्रिका नामक अभिनन्दन ग्रन्थों में इनकी संकलित रचनायें इसका स्पष्ट प्रमाण है। ब्रजभूषण महाराज छत्रसाल के विशेष कृपा-पात्र थे और कदाचित् उनकी प्रेरणा से इन्होंने वृत्तान्त मुक्तावली की रचना की थी। जनश्रुति है कि ब्रजभूषण महाराज छत्रसाल के आध्यात्मिक गुरु थे। जिस प्रकार महाकवि भूषण की रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक चेतना अपने उद्बुद्ध रूप में दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार ब्रजभूषण के काव्य में उस युग की सांस्कृतिक गतिविधि की सजगता पाई जाती है। इन दोनों भूषणों को एक समझना उचित नहीं है। महाकवि भूषण की प्रतिभा वीर और ओज की ओर उन्मुख थी जब ब्रजभूषण दर्शन और भक्ति में आकंठ निमग्न थे। एक राजनीति के विद्रोह के समर्थक थे तो दूसरे अध्यात्म के इतिहास से भी यह स्पष्ट है कि दोनों काल क्रम की दृष्टि से एक साथ नहीं थे। ब्रजभूषण की रचनाओं और उस जीवन वृत्त का अनुसंधान आवश्यक है।

आचार्य कवि देव—जीवन वृत्त—देव का पूरा नाम देवदत्त था। देव इनका उपनाम है। देव इटावा (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। ये कश्यप गोत्री, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १७३०-३१ है और मृत्यु १८२४-२५ में मानी जाती है। इस प्रकार इनकी कुल आयु ९४-९५ वर्ष की ठहरती है। इन्हें जीविका-निर्वाह के लिए अनेक आश्रयदाताओं के पास जाना पड़ा था। इनके आश्रयदाताओं के नाम है

हैं—आजमशाह, भवानी दत्त वैश्य, कुशलसिंह, उद्योतसिंह और राजा भोगीलाल। अन्ततोगत्वा इनका मन भोगीलाल के यहाँ अधिक रमा।

ग्रन्थ—इनके ग्रन्थों की संख्या ७२ कही जाती है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इनके उपलब्ध २५ ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं :—

भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, प्रेमतरंग, कुशल विलास, देवचरित्र जाति विलास, रस विलास, प्रेम चन्द्रिका, सुजानविनोद या रसानन्द लहरी, शब्द रसायन या काव्य रसायन, सुखसागर तरंग, रागरत्नाकर प्रेम पच्चीसी तरंग दर्शन पच्चीसी, आत्म दर्शन पच्चीसी, जगद्दर्शन पच्चीसी तथा देवमाया प्रपंच। वर्ण्य विषय के आधार पर इनके ग्रन्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थ। प्रेमचन्द्रिका, रागरत्नाकर, देव शतक के चारों भाग (पच्चीसी ग्रन्थ) देव चरित्र और माया प्रपंच को छोड़कर शेष ग्रन्थ काव्य शास्त्र से सम्बद्ध हैं। ये जितने ग्रन्थ हैं एक-दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं। बहुत सारे पद जो एक ग्रन्थ में पाये जाते हैं वे दूसरे ग्रन्थों में भी देखे जा सकते हैं। थोड़ी बहुत घटत-बढ़त के पश्चात् देव एक नया ग्रन्थ तैयार कर लिया करते थे। यह था भी स्वाभाविक क्योंकि देव को उपयुक्त आश्रयदाता की खोज में बहुत भटकना पड़ा था और उन्हें अपने आश्रयदाता को ग्रन्थ समर्पण करने के लिए ऐसा करना पड़ा होगा। देव की यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो जाती यदि उनके समस्त ग्रन्थ उपलब्ध होते।

प्रेमचन्द्रिका में प्रेम का सामान्य रूप में वर्णन किया है और उनके भेदोपभेदों का उल्लेख है। रागरत्नाकर राग-रागिनियों से सम्बद्ध एक ग्रन्थ है। इनके तीन पच्चीसी ग्रन्थों में वैराग्य का वर्णन है जोकि इनके ग्रन्थों के प्रति जनता की उदासीनता की प्रतिक्रिया का फल है। प्रेम-पच्चीसी में गोपियों और कृष्ण के प्रेम का मनोरम वर्णन है। देवशतक इनकी प्रौढ़ रचना है जिसमें काव्य और दर्शन का सुन्दर सम्मिश्रण है। देव-चरित्र एक खण्ड काव्य है, जिसमें इन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन का चित्रण किया है।

आचार्यत्व—देव के काव्यशास्त्री ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने काव्य के सभी अंगों का वर्णन अपने विविध ग्रंथों में किया है। एक कवि द्वारा एक ही विषय से सम्बद्ध अनेक ग्रंथों के प्रणयन का परिणाम यह हुआ कि एक विषय की दूसरे ग्रंथों में पुनरावृत्ति होती रही। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण, रस-तरंगिणी और रस-मंजरी का स्पष्ट प्रभाव है। देव ने काव्य-शास्त्रीय विवेचन में कुछ नवीन उद्‌भावनाओं से भी काम लिया है, उनमें से कुछ मान्य हैं और कुछ अमान्य। काव्य-स्वरूप का वर्णन करते हुए शब्द-रचना को काव्य का तन, रस को जीव तथा अलंकार को शोभाकारक धर्म कहा है। उनकी यह धारणा परम्परानुकूल है, अतः मान्य है। एक दूसरे स्थान पर इन्होंने शब्द को काव्य का जीव, अर्थ और मन तथा रसमय सौन्दर्य को काव्य का शरीर माना है।

उनकी यह धारणा सर्वथा अमान्य और साथ-साथ परम्परा विरुद्ध भी है। शब्द-शक्ति विवेचन के प्रकरण में इन्होंने तात्पर्या नाम की शक्ति की कल्पना की है जो असंगत है। अभिधा की विद्यमानता में इसकी आवश्यकता ही नहीं। यह उनकी कोई नवीन उद्भावना भी नहीं क्योंकि इसका उल्लेख साहित्य और न्याय के ग्रंथों में पहले से ही हो चुका। लक्षण और व्यंजना-शक्ति के भेदों के वर्णन में ये बहुत कुछ भ्रान्त हो गये हैं। रस-क्षेत्र में देव के प्रशसकों को कहना है कि इन्होंने छल नामक संचारी भाव का भी नवीन आविष्कार किया है जो कि इनकी मौलिक उद्भावना है, किंतु स्मरण रखना होगा कि इसका अन्तर्भाव अवहित्था नामक संचारी भाव में हो जाता है और यह इनकी कोई मौलिक उद्भावना नहीं, रस तरंगिणी में इसका पहले उल्लेख हो चुका था। देव ने केशव के समान रस के लौकिक और अलौकिक भेद करके शृंगार रस के प्रच्छन्न और प्रकाश दो भेद कर दिये हैं। रस का प्रच्छन्न नामक भेद सर्वथा अमान्य है क्योंकि स्थायीभाव संचारी भाव आदि के संयोग से अभिव्यक्त होकर रस दशा को प्राप्त होता है उसके प्रच्छन्न का प्रश्न ही नहीं उठता। रस के इस वर्गीकरण का आधार उन्हें भोज तथा रुद्रट से मिला। इनकी शृंगार रस के अन्तर्गत अन्य रसों के अन्तर्भुक्त हो जाने की कल्पना भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। नायिकाभेद और उसकी संख्या-विस्तार के सम्बन्ध में जितनी रुचि देव ने प्रदर्शित की है, इतनी रीतिकालीन अन्य किसी भी कवि ने नहीं की। इनके नायिका भेद के आधार हैं—जाति, कर्म, गुण, देश काल, अवस्था, प्रकृति और सत्त्व। इस दिशा में देव पर साहित्यदर्पण, रसतरंगिणी, रस मंजरी तथा वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रभाव स्पष्ट है। देव के इस संख्या-विस्तार से नायिका भेद के शास्त्रीय निरूपण में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई। प्रकृति के आधार पर नायिका के वर्गीकरण से ऐसा लगता है जैसे कि आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान प्रदर्शित कर रहे हों। अलंकार-निरूपण में वे भामह, दंडी और अप्पय दीक्षित से विशेष प्रभावित हैं। देव ने पिंगलशास्त्र पर भी लिखा है। इस सम्बन्ध में वे संस्कृत के छन्द-ग्रंथों से प्रभावित हैं। इस विवेचन के अनन्तर स्पष्ट हो जाता है कि देव का आचार्यत्व उच्चकोटि का एवं शास्त्रसम्मत नहीं है पर कवित्व की दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कवित्व—देव मुख्यतः शृंगार रस के कवि हैं। इनके काव्य में जो वैराग्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है, वह इनके शृंगारी जीवन की प्रतिक्रिया रूप में समझनी चाहिए। इनमें सूर और तुलसी जैसी अपने उपास्य देव के प्रति अनन्यता नहीं है। यह सच है कि प्रेम प्रसंगों में इनकी मनोवृत्ति अधिक रमी है इनके किसी भी पद को उठाकर देख लीजिए उसमें प्रेम का आवेग इतना अधिक मिलेगा कि सहज ही उसकी एक वेदना की गम्भीरता का आभास मिल जायेगा। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"इनका-सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासम्पन्न कवि

थे, इसमें सन्देह नहीं।" देव के काव्य वैभव के सम्बन्ध में डॉ० महेन्द्रकुमार के शब्द विशेषतः द्रष्टव्य हैं— देव की रचनाओं में कल्पना-वैभव भी कम नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि उसके समस्त शृंगारी काव्य की रसार्द्रता में कल्पना की ऊँची उड़ान का पर्याप्त योग रहा है। जिसे मूर्तरूप प्रदान करने के लिए उन्होंने साधारणतः ऐसे चित्रों की योजना की है, जिनमें प्रत्येक रेखा अपना विशिष्ट महत्त्व तो रखती ही है, साथ में रंग-वैभव और प्रसाधन-सामग्री ने उसमें और भी सौन्दर्य-सृष्टि की है। क्या स्थिर और क्या गतिशील किसी भी चित्र को उठा लीजिए, सब में कवि की भावना का आवेश अपने आप में उभरता सा दिखाई देगा और यही कारण है कि सहृदय को उसके धरातल तक पहुँचने में देर नहीं लगती। यद्यपि इन चित्रों में कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गई है, यद्यपि इसका कारण कवि का दृष्टि दोष न मान कर उसकी भावना का आवेग ही मानना चाहिए।"

देव की अभिव्यंजना-शैली भी प्रशस्य है। उनका शब्द चयन विषयानुसार हुआ है। भावावेग की दशा में उन्होंने भावात्मक शैली को अपनाया है। कहीं-कहीं पर अक्षरमैत्री के ध्यान से इन्होंने अशक्त शब्दों का भी प्रयोग किया है। तुकान्त और अनुप्रास के मोह में पड़कर इन्होंने कहीं-कहीं शब्दों और वाक्यों तक को तोड़-मरोड़ दिया है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय अधिक हुआ है और अर्थ अल्प। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे मजमून का हौंसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था।" निःसन्देह देव की भाषा व्याकरण की दृष्टि से अपेक्षाकृत सदोष है। उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ है। उसमें पुनरुक्तियाँ भी हैं और अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का विशेष आग्रह भी है, किन्तु यह सब कुछ उन्होंने काव्य में सौन्दर्य वृद्धि के लिए किया है। जहाँ इनकी भाषा सुव्यवस्थित और स्वच्छ है वहाँ इनकी कविता अत्यन्त सरस और हृदयग्राही बन पड़ी है। उदाहरणार्थ देखिए—

> साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
> देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहू पास अकास रह्यो भरि।
> जा दिन ते मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

आचार्य भिखारीदास—जीवन वृत्त—भिखारीदास जाति के कायस्थ थे और प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ये संवत् १७६१ से १८०७ तक प्रतापगढ़ के अधिपति श्री पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में थे।

ग्रंथ—दास के सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्य निर्णय, शृंगार-

निर्णय, छन्दार्णव पिंगल, शब्दनाम प्रकाश, विष्णुपुराण भाषा और शतरंजशतिका। इनमें से प्रथम तीन ग्रंथ काव्यशास्त्रीय हैं, चौथा छन्दशास्त्र से सम्बद्ध है और अन्तिम तीन ग्रन्थों का विषय उनके नाम से स्पष्ट है। रससारांश के दोनों संस्करण उपलब्ध होते हैं। बड़े में लक्षणोदाहरण दोनों हैं और छोटे में केवल लक्षण। यह छोटा संस्करण भी इन्होंने स्वयं तैयार किया था। रससारांश में सभी रसों का विवेचन है। शृंगार रस का वर्णन अत्यन्त विस्तृत है, उसमें नायिकाओं, हावों-भावों का भी विस्तृत वर्णन है। इसमें अन्य रसों का भी संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। शृंगार-निर्णय भी इनका रस से सम्बद्ध ग्रन्थ है, किन्तु इसमें रससारांश के समान रस-निष्पत्ति सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नों को नहीं लिया गया है और न ही इसमें शृंगारेतर रसों का उल्लेख है। इस ग्रंथ का उद्देश्य शृंगार की विस्तृत विषय-सामग्री प्रस्तुत करना है। इनकी विशेष ख्याति का कारण इनका ग्रन्थ काव्य-निर्णय है। इसके भी रससारांश के समान छोटा और बड़ा दोनों संस्करण मिलते हैं।

आचार्यत्व—मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के रीति काल को अलंकृत काल के नाम से अभिहित किया है और उसको भी उन्होंने दो भागों में बाँट दिया है—पूर्वालंकृत काल और उत्तरालंकृत काल। उन्होंने पूर्वालंकृत काल का सबसे बड़ा आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को माना है और उत्तरालंकृत काल का सबसे बड़ा आचार्य भिखारीदास को स्वीकार किया है। डॉ० भगीरथ मिश्र इनके सम्बन्ध में लिखते हैं "भिखारीदास का कोई ऐसा नवीन प्रभाव उनके परवर्ती कवियों पर नहीं पड़ा जिससे उनकी कोई विशेष छाप दिखलाई पड़े, फिर भी यह बात मान्य है कि भिखारीदास रीतिकालीन अन्तिम वर्ग के सबसे बड़े आचार्य थे। उनके वर्णन में, विशेषतः काव्य-निर्णय में—चाहे उनकी सामग्री हिन्दी के सभी पूर्ववर्ती कवियों, काव्याचार्यों केशव, चिन्तामणि, सूरति, श्रीपति आदि से ली गई हो—जो पूर्णता है वह बड़ी सन्तोषकारी है और उससे भिखारीदास की विद्वत्ता ही टपकती है। भिखारीदास की गणना काव्य-शास्त्र के उन यथार्थ आचार्यों में है जो कवि-प्रतिभा के साथ उससे अधिक काव्यशास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे।"

आचार्य भिखारीदास ने काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया और प्रायः अच्छा ही किया है। कहीं-कहीं पर उन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी भूलें भी कीं। जैसे, काव्य-लक्षण को छोड़ ही दिया, शब्द-शक्ति-विवेचन प्रायः शिथिल है। ध्वनि के कई नवीन भेदों की कल्पना की परन्तु उनका स्पष्टीकरण नहीं कर पाये। अस्तु! इतना होते हुए भी भिखारीदास ने हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इन पर काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण का विशेष प्रभाव है।

कवित्व—कवि की दृष्टि से भी भिखारीदास का हिन्दी में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख्य रूप से इन्होंने शृंगार-रस-सम्बन्धी कविताएँ लिखी हैं। कहीं-कहीं पर नीति सम्बन्धी फुटकर उक्तियाँ भी इनमें मिल जाती हैं। दास रस तथा ध्वनिवादी लेखक हैं। अतः इनकी रचनाओं में रसानुभूति की विशेष मात्रा है और ध्वनि का भी सुन्दर

विशद रूप है। कल्पना-क्षेत्र में आचार्य भिखारीदास निःसन्देह देव से पीछे रह जाते हैं परन्तु फिर भी इनके काव्य में प्रसादन की मात्रा पर्याप्त है। इनकी कविता की रेखाओं के चित्र काफी आकर्षक और मार्मिक हैं।

इनकी भाषा काफी परिमार्जित है। शब्दों का चयन इन्होंने विषयानुसार किया है। भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी जो देवादि में मिलती है वह इनमें नहीं है। इनकी अभिव्यजना-पद्धति सरस और व्यग्य प्रधान है। इनकी ब्रज भाषा में सस्कृत शब्दों के अतिरिक्त उर्दू और फारसी के शब्द भी आ गए हैं। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से दास ब्रज भाषा के कवियों में अत्यन्त सफल रहे हैं।

कुलपति मिश्र—ये आगरा के निवासी माथुर चौबे परशुराम के पुत्र थे। प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल इनके मामा कहे जाते हैं। इनके बनाये हुए पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—द्रोण पर्व, मुक्ति तरगिणी, नख शिख, सग्रामसार और रस रहस्य। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय है। इसमें लक्षणों को दोहा छन्द में लिखा गया है और उदाहरणों के लिए यत्र-तत्र गद्य का भी आश्रय लिया गया है। इन्होंने रस-रहस्य का आधार मम्मट के काव्यप्रकाश को बनाया। वैसे इस पर साहित्य-दर्पण, केशव की कविप्रिया तथा रसतरगिणी और रसमजरी का भी प्रभाव है। कुलपति मिश्र के काव्यप्रकाश का केवल अनुवाद भर ही प्रस्तुत नहीं कर दिया वरन् शास्त्रीय सामग्री को सुबोध और सरल रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों में जिनकी प्रवृत्ति काव्यशास्त्र के गम्भीर प्रसगो के विवेचन की ओर रही है उनमें कुलपति का नाम भी उल्लेखनीय है। काव्यशास्त्र के विवेचन में इन्होंने कुछ मौलिक उद्भावनाओं से भी काम किया है परन्तु वहाँ वे विशेष सफल नहीं रहे। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। शब्द शक्ति के विवेचन में भी इनमें अपेक्षित स्पष्टीकरण नहीं आ सका। रस प्रकरण में भाव का स्वरूप अस्पष्ट है। इनका रस-दोष-प्रकरण भी अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मिश्र का काव्यशास्त्रीय निरूपण विशुद्ध, व्यवस्थित, गम्भीर एवं सुबोध बन पड़ा है।

कुलपति मिश्र पहले आचार्य थे और बाद में कवि। आचार्यत्व में इनका मन खूब रमा और वे कवित्व पर अपना ध्यान इतना केन्द्रित नहीं कर सके। फलस्वरूप इनका कविता-पक्ष देव आदि कवियों के समान ऊँचा नहीं उठ सका, किन्तु फिर भी रस-परिपाक की दृष्टि से इनका काव्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कुलपति मिश्र आचार्य के नाते रीतिकाल के आचार्यों की प्रथम श्रेणी में आते हैं और कवि के नाते द्वितीय श्रेणी में।

आचार्य श्रीपति—इनके जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। ये कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके ग्रन्थ ये हैं—कविकल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद, विक्रम विलास, सरोजकलिका, अलकार गगा, काव्य सरोज। दुर्भाग्यवश इनकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"जो हो आचार्य श्रीपति का अपने युग में महत्त्वपूर्ण

स्थान रहा है। इसका परिचय इसी बात से मिल जाता है कि दास जैसे प्रौढ़ आचार्यों ने इनके विवेचन के कतिपय स्थलों को अपने काव्य निर्माण में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।" डॉ० भगीरथ मिश्र ने इनके आचार्य-कर्म को लक्ष्य करके कहा है—"इन्होंने काव्यशास्त्र के दशांग का अत्यन्त पांडित्य के साथ विवेचन किया है तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों तक के उद्धरण देने में संकोच नहीं किया। इससे यह कहा जा सकता है कि श्रीपति ने आचार्य-कर्म को अत्यन्त दक्षता के साथ निभाया है। इनमें एक आलोचक की प्रतिभा और निर्णय देने का साहस था। इनकी कविता रसानुप्राणित है। इन्होंने अनुप्रास का भव्य प्रयोग किया है। इनकी शैली अत्यन्त सरल और बोधगम्य है।

सोमनाथ—इन्हें शशिनाथ भी कहते हैं। इनके पाँच ग्रन्थ मिलते हैं—रसपीयूष निधि, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी, सुजान विलास और माधव विनोद। इनमें प्रथम दो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। इन्होंने सुकुमार बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण किया, अतः उनकी शैली सरल और संक्षिप्त है। इन पर मम्मट के काव्य-प्रकाश तथा भानु मिश्र की रस तरंगिणी का पर्याप्त प्रभाव है। इन्होंने रसपीयूष निधि में छन्दों का भी विवेचन किया है। रीति-निरूपण-कार्य में इनकी विशेषता है इनकी सरस शैली। कवित्व की दृष्टि से भी सोमनाथ का स्थान रीतिकालीन कवियों में महत्त्वपूर्ण है। कविता क्षेत्र में इन्हें सहज में मतिराम और देव की परम्परा में रखा जा सकता है।

पद्माकर भट्ट—पद्माकर रीतिकाल के परवर्ती खेवे के कवियों में सर्वश्रेष्ठ अन्तिम कवि हैं। पद्माकर और प्रतापसाहि की सरस वाणी के पश्चात् रीति-कविता ह्रासोन्मुख होती गई।

ये एक तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल का जन्म बाँदा में हुआ था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि थे। अनेक राजदरबारों में इन्हें गौरवपूर्ण सम्मान मिला। प्रतापसाहि के यहाँ इन्हें एक अच्छी जागीर भी मिली और कविराज-शिरोमणि की पदवी से विभूषित किया गया। पद्माकर इन्हीं के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८१० में बाँदा में हुआ और इन्होंने १८६० में कानपुर में गंगा तट पर शरीर छोड़ा। पद्माकर भी अनेक आश्रयदाताओं के पास गये थे और वहाँ उन्हें आशातीत सम्मान मिला। जीवन के अन्तिम दिनों में इनमें विरक्ति आ गई थी।

ग्रंथ—इनके लिखे हुए ये ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—हिम्मत बहादुर बिरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, विनोद-पचासा, राम रसायन तथा गंगालहरी। हिम्मत बहादुर बिरुदावली नामक ग्रन्थ में इन्होंने गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर जो कि बड़े अच्छे योद्धा थे, के वीरता के कार्यों का वीररसमयी फड़कती भाषा में वर्णन किया है। इनका जगद्विनोद नामक ग्रन्थ जयपुर के राजा प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह के नाम पर लिखा गया है। यह इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। पद्माभरण

एक अलकार ग्रंथ है। इसकी रचना उन्होंने जयपुर दरबार में की थी। उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की आज्ञा पर इन्होंने गनगौर के मेले का वर्णन किया जो कवित्व की दृष्टि से अत्यन्त अनुपम है। एक किवदन्ती है कि इन्होंने हितोपदेश का भी भाषानुवाद किया था। आयु के अन्तिम दिनों में ये रोग-ग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने प्रबोध पचासा नामक विराग और भक्ति से पूर्ण ग्रन्थ बनाया। कानपुर में रहते समय इन्होने गगालहरी नामक ग्रथ बनाया। रामरसायन बाल्मीकि रामायण का आधार लेकर दोहे-चौपाइयों में लिखा गया एक चरित-काव्य है। इसमें इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। आचार्य शुक्ल का कहना है कि "सभव है यह इनका बनाया हुआ न हो।"

आचार्यत्व—जगद्विनोद इनका एक रस ग्रथ है। यह कवित्व के गुणो से ओत-प्रोत और पद्माकर की ख्याति का मुख्य आधार है। इसमे नव रसों का वर्णन है परन्तु रसराज शृ गार का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। इसमें नायक-नायिका भेद का सरस वर्णन है। उदाहरणों की दृष्टि से इसका यह प्रकरण मनोरम बन पड़ा है। इनके नायिका-भेद का आधार ग्रथ रस-मजरी है। इस प्रसग मे इन्होंने आलम्बन-उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावों का भी वर्णन किया है। शृ गार के सयोग और वियोग दोनों पक्षों का सरस वर्णन है। शृ गार के अतिरिक्त इन्होंने अन्य रसों के भी प्रभावशाली उदाहरण जुटाए हैं। रस वर्णन की दृष्टि से जगद्विनोद बड़ा उपादेय ग्रन्थ है।

पद्माभरण इनका दोहा और चौपाइयो में निर्मित एक अलकार ग्रथ है। इस ग्रथ में दो प्रकरण हैं—अर्थालकार प्रकरण तथा पचवश अलकार-प्रकरण। अर्थालकार प्रकरण में अर्थालकारो के लक्षण-उदाहरण और दूसरे प्रकरण में मत-भेद वाले १५ अलकारों का वर्णन है। इस ग्रथ की प्रेरणा इन्हें बैरीसाल के भाषाभरण से मिली। इन्होंने अलकार के तीन भेदों—शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार में से केवल अर्थालकारों का वर्णन किया है और वह भी कुवलयानन्द के आधार पर। पद्माकर के लक्षणोदाहरणों का स्वच्छ समन्वय इनके इस ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ा देता है। आचार्यत्व के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि इनमें न तो किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन है और न ही आचार्यत्व की पाडित्यपूर्ण प्रतिभा। वे मुख्य रूप से कवि हैं, युग की परम्परा को निभाते हुए इन्होंने अपने अन्य भाइयों के समान आचार्य कर्म भी किया।

कवित्व—पद्माकर एक उत्कृष्ट प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। ये कविता में दृश्य योजना और शब्द-योजना के लिए तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें स्वच्छ और उदात्त कल्पना है। इनकी वृत्ति आनन्द और उल्लास के वर्णन प्रसगों में खूब रमी। पद्माकर शब्द-चयन के कुशल शिल्पी हैं। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्षानुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति विधान करने वाली

कल्पना बिहारी को छोड़कर अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती।" इन्होंने दूर की कौड़ी पकड़ने का कहीं प्रयास नहीं किया है। इन्होंने न ही तो लम्बे मज़मून बाँधने का साहस किया है और न ही वे एकमात्र अतिरंजनापूर्ण हास्यपद उक्तियों में लग गये। इनकी कविता के पीछे हृदय की सच्ची और स्वाभाविक प्रेरणा है जो पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यद्यपि कहीं-कहीं पर ये अपने समय की प्रवृत्ति के अनुसार अर्थ-गाम्भीर्यहीन रचनाओं में भी प्रवृत्त हुए हैं पर बहुत थोड़े अवसरों पर और वहां पर हास्यास्पदता नहीं आई है। भाषा के प्रवाह और कविता की सरसता में पद्माकर मतिराम के समकक्ष ठहरते हैं। सूक्तियों की रचना में भले ही बिहारी इनसे बढ़ गये हों परन्तु रस-नियोजन में पद्माकर बिहारी से आगे निकल गये हैं।

भाषा पर इनका व्यापक अधिकार है। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेम मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की ललित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं शान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य-जीवन विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह है कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी जी में दिखाई पड़ती है।" शुक्ल जी के ही शब्दों में पद्माकर के कवि के सम्बन्ध में कह सकते हैं—"रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़कर दूसरा नहीं हुआ। जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं इसी प्रकार प्रसिद्धि में अन्तिम भी।"

रीति काल के लोकप्रिय कवि बिहारी (रीतिबद्ध काव्य कवि)

जीवन-वृत्त—बिहारी हिन्दी साहित्य के अत्यन्त लोक-प्रिय कवि हैं। इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं। ग्वालियर, बसुआगोविन्दपुर और मथुरा। इन तीनों स्थानों से इनका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, किन्तु ग्वालियर ही इनकी जन्म-भूमि है। इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। बिहारी के पिता का नाम केशवराय था। अधिकतर विद्वानों का विश्वास है कि यह केशवराय आचार्य केशवराय ही हैं। बिहारी माथुर चौबे थे। इनके एक भाई और बहिन का भी होना बताया जाता है। इनके पिता ग्वालियर को छोड़कर ओरछा चले गये थे। उस समय बिहारी की अवस्था आठ वर्ष की थी। वहाँ इन्होंने काव्य-ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन किया। बिहारी ने निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी स्वामी नरहरिदास से संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया। इसके पिता ओरछा छोड़कर

वृन्दावन चले आये। वहाँ बिहारी ने साहित्य के साथ संगीत का भी अध्ययन किया। वृन्दावन में इनकी शाहजहाँ से भेंट हुई। वह इन्हें आगरे ले गया। वहाँ पर इन्होंने फारसी शायरी का अध्ययन किया। शाहजहाँ ने पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष में अनेक राजाओं को आमन्त्रित किया। वहाँ बिहारी ने अपनी काव्य निपुणता का खूब परिचय दिया। बिहारी पर मुग्ध होकर राजाओं ने बिहारी की वार्षिक वृत्ति बाँध दी। इसी सिलसिले में बिहारी एक दफा मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ पहुँचे। वह अपनी मँझली रानी के प्रेम में बुरी तरह आसक्त था। इन्होंने उस समय अपने काव्य-कौशल से काम लिया और निम्न दोहा लिखकर भेजा —

नहिं पराग नहिं मधुर-मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सो बन्ध्यो, आगे कौन हवाल॥

राजा को प्रबोध आया। इन्होंने रीझकर बिहारी को अपना राजदरबारी कवि नियुक्त किया और एक-एक दोहे पर एक-एक अशरफी देने लगे। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के कथनानुसार बिहारी की स्त्री एक अच्छी कवयित्री थी। उपर्युक्त परिचय के आधार पर कहा जा सकता है कि बिहारी का जीवन बुन्देलखण्ड, मथुरा, आगरा, और जयपुर में व्यतीत हुआ। इनका जन्म सं० १६५२ है और इनका शरीरपात १७२० के आस-पास हुआ।

काव्य समीक्षा— बिहारी एक सजग कलाकार हैं। उन्होंने जीवन में ७१३ दोहों का एक ही ग्रन्थ लिखा और वह है बिहारी सतसई। पिछले एक हजार वर्ष की हिन्दी काव्य निधि में यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों को चुनना चाहें तो उनमें बिहारी सतसई का नाम आवेगा। ये ग्रन्थ हैं—पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, सूरसागर, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, बिहारी सतसई, कामायनी, प्रियप्रवास, साकेत और दीप शिखा। इनमें अधिकतर प्रबन्ध काव्य हैं जिनमें जीवन की विविधता और गहराई है। सूरसागर, बिहारी सतसई और दीपशिखा मुक्तक काव्य हैं। मुक्तककार के पास जीवन का आधारफलक अत्यन्त बाधित होता है और उस ही उसे सजीव रूप रेखायें और रंग भरने पड़ते हैं। जिस मुक्तक काव्य में यह रूप रंग जितना उज्ज्वल होगा वह उतना ही सफल होगा। संस्कृत के अमरुक और बिहारी में मुक्तक काव्य की यह विशिष्टता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। सम्भव है कि बिहारी ने ७१३ से अधिक दोहे लिखे हों और उनमें काट-छाँट कर निखार और सँवार कर प्रौढ़तम दोहों का एक मंजु स्तवक तैयार कर दिया हो अन्यथा किसी भी कलाकार के सभी दोहे इतने परिष्कृत और परिमार्जित नहीं हो सकते। बिहारी का एक ही ग्रन्थ उनकी महती कीर्ति का आधार है। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है—'यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उनकी रचनाओं के परिमाण से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है।" मुक्तक-काव्य के कवि में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास-शक्ति का होना अनिवार्य होता है, उसे अपने छंद-दुकड़ों में रस की एक ऐसी वेगवती, अजस्र धारा प्रवाहित करनी

होती है जो हृदय-कलिका को विकसित कर दे, उसके प्रत्येक पद्य का पूर्वापर सम्बन्ध से रहित अपना एक अलग अस्तित्व हो, उसके पद्य-स्तवकों मे प्रभावजन्य एक अपूर्व निविड़ता और तरलता हो, जो स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो और पाठक को चमत्कृत कर दे। मुक्तक के ये समूचे गुण अपने भव्य रूप में बिहारी में विद्यमान हैं। उनका प्रत्येक दोहा एक-एक उज्ज्वल रत्न है। उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। इनके दोहे रस की पिचकारियाँ हैं। ये एक ऐसी मीठी रोटी हैं जिसको जिधर से तोड़ा जाय उधर से मीठी लगती है। प्रभाव तो उन दोहों का है ही विलक्षण। किसी ने ठीक ही कहा है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखने में छोटे लगें, बधें सकल शरीर॥

भाव पक्ष—शृंगार—बिहारी एक शृंगारी कवि हैं। शृंगार के संयोग-पक्ष में वे जितने रमे हैं उतने वियोग-पक्ष में नहीं। वियोग वर्णन के लिए हृदय की जिन सहानुभूतियों और द्रवणशीलता की आवश्यकता होती है, बिहारी उनसे शून्य हैं। विरह वर्णन में वे अपनी सारी शक्ति ऊहात्मक उक्तियों में लगा देते हैं, जहाँ भावों की प्रेषणीयता के स्थान पर हास्यास्पदता आ जाती है। वे अनुराग के कवि हैं और उनकी वृत्ति अनुराग के मिलन-पक्ष में खूब रमी है। संयोग-पक्ष की कोई ऐसी स्थिति नहीं, जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। रूप-दर्शन से आकर्षण होता है। रूप के ये वर्णन नायिका के हैं, इस दृष्टि से नायक के आकर्षण का वर्णन स्वाभाविक था, पर बिहारी ने ऐसा नहीं किया। नायिका ही कवि की दृष्टिबिन्दु है, वही रूपवती है, आकर्षित होती है और पीड़ित भी होती है। 'प्रेम दोनो पर पलता है' की उक्ति यहाँ अधिकांश में चरितार्थ नहीं होती। नायक से भेंट होने पर वह स्वय पीड़ा को व्यक्त करती है। नायक घुँघचियों की भेंट भेजता है। नायिका गुरुजन, परिजन से आँख बचाकर दूती को साथ लेकर अभिसार के लिए तैयार हो जाती है। एकांत में नायक और नायिका का मिलन होता है। वहाँ मदिरा पान होता है। थोड़ी देर झूठी-झूठी "नहीं-नहीं" करने के पश्चात् नायिका सुरत-सुख में लीन हो जाती है। अधिक ढीठ हो जाने पर उसे विपरीत रति के लिए तैयार किया जा सकता है—

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ रही गरें लपटाइ।
दीप उजेरें हू पतिहिं हरत बसनु रति काज।
रही लिपटि छबि की छटनु नैकौ छुटी न लाज॥

इस मिलन-सुख में बिहारी ने जिन बातों का वर्णन किया है, जो कुछ-रसिकों को चाहे अच्छी लगें, पर अधिक गम्भीर रुचि वालों को शायद ही रुचें। उदाहरणार्थ नायक पतंग उड़ा रहा है तो नायिका उसकी छाया छूने के लिए दौड़ती फिरती है या नायक-नायिका की गोद से बच्चा लेते समय चुपके से उसकी छाती को उँगली से दबा देता है या दोनों घरों के बीच में जो दीवार है उसमें बड़ा छेद करके दोनों रात-भर

एक दूसरे का हाथ पकड़ कर खड़े रहते हैं या फिर पैरों की उँगलियों के बल पर खड़े होकर दीवार पर थोड़ा उचक कर दोनों एक दूसरे के कपोल को चूमकर भाग जाते हैं। कदाचित् इन्हीं बातों को लक्ष्य रखकर आचार्य शुक्ल ने कहा है—"कविता उनकी शृंगारी है पर प्रेम की उच्च-भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती है।" दिनकर के शब्द इस विषय में और भी द्रष्टव्य हैं—"बिहारी के दोहों में न तो कोई बड़ी अनुभूति है न कोई ऊँची बात, सिर्फ लड़कियों की कुछ अदायें हैं मगर कवि ने उन्हें कुछ ऐसे ढंग से चित्रित किया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में ऊँची अनुभूति या ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं में उन्हें अपने लिए चुनौती मिलेगी।"

हाँ, अनुभाव के विधान में इनकी रसव्यंजना अत्यन्त भव्य बन पड़ी है। हावों और भावों की ऐसी सुन्दर योजना, कोई भी इनका समकालीन शृंगारी कवि नहीं कर सका। मानो एक प्रकार से इन्होंने सजीव हाव-भाव भरी मूर्तियाँ तैयार कर दी हैं—

बत रस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाइ।

बिहारी का संयोग-वर्णन जितना सफल हुआ है उतना वियोग-वर्णन नहीं। लगता है बिहारी को जीवन के संयोग-पक्ष का जैसा अनुभव था वैसे वियोग-पक्ष का नहीं। विरह जीवन की एक गम्भीर स्थिति है। इसका जब तक किसी साहित्यकार को कोई गहन अनुभव न हो वह इसका मार्मिक वर्णन नहीं कर सकता। वियोग में देश और काल की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। मनोदशा का वर्णन कहाँ काव्य का रूप ग्रहण करता है और कहाँ खिलवाड़ बन जाता है, इसका ज्ञान बहुत कम साहित्यिकों को होता है। नायिका की सुकुमारता, विरह ताप, विरह क्षीणता आदि में बिहारी कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं और वहाँ उनकी कविता खिलवाड़ मात्र बन गई है। इनके विरह-वर्णन में न तो सूर की स्वाभाविकता और तीव्रता है और न जायसी की सी गहनता और अशेष सृष्टि के साथ रागात्मकता। वियोगावस्था में पहुँचते ही बिहारी की नायिका कभी चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती फिरती है, कभी जुगुनुओं को अंगारे समझ कर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। साँस लेती है तो कभी छः सात हाथ आगे खिसक जाती है और कभी पीछे, जैसे कि वह क्लाक का पैंडुलम हो। रोती है तो आँसू छाती पर पड़ते ही भाप बन कर उड़ जाते हैं। गुलाब छिड़कने पर वह भीतर ही सूख जाता है। दुर्बल इतनी हो गई कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे देख नहीं पाती। पड़ोसी परेशान हैं। जाड़े की रातों में गीले कपड़े आगे कर उसके पास पहुँच पाते हैं और ग्रीष्म में तो उसके पड़ोस में रहना असम्भव ही हो गया है। ऐसे स्थलों में बिहारी बुरी तरह असफल रहे हैं। सच तो यह है कि उनका मन वियोग वर्णन में रमा नहीं और विरह में प्रेम के जिस उदात्त रूप का रससिद्ध कवि साक्षात्कार करा

दिया करते हैं, बिहारी नहीं करा सके वरन् खिलवाड और पहेलियाँ बुझाने में लग गये हैं। वे प्रेम के सहज रूप को कम और उसके मनोहर रूप को अधिक पसन्द करते हैं। वे उसके कल्पना-कोमल रूप को उभारने का अधिक प्रयास करते हैं और उसकी अनायास शोभा को कम, वे चित्र को कलापूर्ण बनाने का अधिक श्रम करते हैं। वैयक्तिक सम्बन्धों की अनुभूतियों से रंगने में कम। न ही इनमें कालिदास और भवभूति का प्रेमादर्श है, न ही सूर की गहनता और व्यापकता और न इनमें तुलसी की शालीनता। इस क्षेत्र में मतिराम, पद्माकर और देव में अधिक गहराई है। बिहारी का प्रेम-चित्रण रसिकता की कोटि तक पहुँच कर रह गया है, उसकी उच्च भाव-भूमि पर नहीं पहुँच पाया है और फिर जहाँ वे रीति के बंधन में बंध कर नायिका के प्रेम का चित्रण करते हैं—

न ए बिरह बढ़ती विथा, खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौं हरषि हँसी तिह काल॥

में अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित है, जैसे कि वे दिमागी व्यायाम कराना चाहते हों। आचार्य शुक्ल ने इनकी कविता के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—"बिहारी की कृति का जो अधिक मूल्य आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घण्टों वाह-वाह किया करते हैं पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यन्तर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक दोहे पर ही सन्तोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैया का सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"दूसरी बात यह है कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती है।" इस सम्बन्ध में रामधारीसिंह दिनकर के शब्द विशेष द्रष्टव्य हैं—"बिहारी की कविताओं से आलोचना का यह सिद्धांत आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं होती, प्रत्युत कारीगरी की निपुणता से होती है। कविता कामायनी में भी सफल हो सकती है और बिहारी सतसई में भी और दोनों की सफलतायें अपने-अपने स्तर पर अद्भुत और महान् हैं।" ऐसी बात नहीं कि बिहारी इस दिशा में सर्वत्र असफल रहे हों। जहाँ वे ऊहात्मकता में नहीं फँसे, वहाँ ऐसे चित्रण निश्चित रूप से सफल कहे जा सकते हैं। नायिका के हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण इन्होंने खूब किया है। शृंगार के संचारी भावों का वर्णन भी इनका बहुत हृदयस्पर्शी है

उदाहरणार्थ—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं, वहै वा जमुना के तीर।

बिहारी के प्रेम-चित्रण के सम्बन्ध में हम संक्षेप में कह सकते हैं कि वे रीति-कालीन प्रणयानुभूति के प्रतिनिधि कवि हैं।

भक्ति और नीति—बिहारी सतसई में भक्ति की चर्चा होते हुए भी बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। इनकी किसी वाद-विशेष पर आस्था नहीं थी। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नरसिंह का स्मरण किया है। कहीं निर्गुण की महिमा मुक्तकंठ से गाई है। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी अत्यन्त बल दिया है। कहीं-कहीं पर अपने आराध्य देव के प्रति अति श्रद्धामयी वचन वक्रता से भी काम लिया है। यह सब कुछ होते हुए भी उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है वे पहले कवि हैं और वह भी अनुराग के, विराग के नहीं। उन्होंने प्रत्येक महाकवि की तरह अपने प्रिय विषय के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर भी लिखा। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त नहीं था। बिहारी की दृष्टि राधा की तनद्युति पर टिकी रही है, मन तक नहीं जा सकी। उन्होंने राधा और कृष्ण के जीवन के घोर शृंगारी और वासनात्मक चित्र उतारे हैं। अपनी सतसई में अनेक स्वाद भरने के लिए राधा-कृष्ण की भक्ति से सम्बन्धित दोहे लिखे हैं अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक त्राण के लिए उन्होंने राधा और कृष्ण के नाम का कवच तैयार किया है। भक्तों के हृदय की सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भावमग्नता उनमें सामान्यतः नहीं है। विलासोन्मुख राजनीति के पराजय युग में जहाँ कवि जीवन के संघर्षों और घात-प्रतिघातों से सर्वथा अपरिचित था, उसकी लिखी हुई नीति की उक्तियाँ भी प्रदर्शनमात्र समझनी चाहिए। इनकी भक्ति और नीति का एक-एक उदाहरण देखिए—

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाउ।
तरि संसार पयोधि को, हरि नावै करि नाउ॥
दुसह दुराज प्रजानु को क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द।
अधिक अँधेरा जग करत मिलि मावस रविचन्द॥

उक्ति-वैचित्र्य और विनोद—किसी बात को कहने का ढंग बिहारी का एकदम निराला है। वे अपनी उर्वर प्रतिभा से नित्य नई-नई बातें उपस्थित करते हैं। इस सम्बन्ध में इनकी यह उक्ति दर्शनीय है—

दृग उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियें दई नई यह रीति॥

इनकी कविताओं में कहीं-कहीं पानी पीकर भी प्यास नहीं बुझ रही है, सगुन सलोने रूप की तृषा बुझा ही कब करती है। कभी लाल के दृगों की प्रिया के दृगों में छाया पड़ रही है। कभी पराग, मधुर मधु और बसन्त के अभाव में अविकसित कली

से ही मचरा आबद्ध हो रहा है। इन कथनों में तीखा और चोखा व्यंग्य चमत्कार है। ऐसे चित्रणों में बिहारी अत्यन्त दक्ष हैं। हास्य बिहारी में नहीं के बराबर है। कहीं-कहीं क्याद्यावकों और मपकच्चे वैद्यों की खिल्ली उड़ाई है। नागरक जीवन में अभिरुचि रखने के कारण ग्रामीण जीवन को उन्होंने हीन-भावना से देखा है और उसमें हास्य की सृष्टि भी करनी चाही है, पर वह प्रशस्य नहीं कही जा सकती। ऐसे लगता है कि गाँवों और वहाँ के निवासियों के स्वभाव का बिहारी को बहुत अच्छा अनुभव नहीं था।

भावना के क्षेत्र से हटकर जब कवि जीवन के निजी अनुभवों को चित्रित करने लगता है तो वे *सूक्तियाँ कहलाती हैं, जिनमें बहुत-सी नीति की बातें भी* आ जाती हैं। वस्तुत नीति और सूक्ति में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। बिहारी ने बहुत-सी बातें सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कहीं हैं। कुछ सूक्तियाँ कला-प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लक्ष्य करके कही गई हैं। एक उक्ति देखिए—

> बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
> कहत धतूरे सौं कनकु गहनौ गढ़ौ न जाइ॥

प्रकृति चित्रण—प्राचीन कवियों में से सेनापति को छोड़कर किसी ने भी प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण नहीं किया। प्रायः उपदेश, रहस्य, अलंकार-विधान या उद्दीपन रूप में उसका प्रयोग किया गया है। बिहारी ने भी उसका ग्रहण अप्रस्तुत के रूप में किया है, पर कहीं-कहीं पर उसको स्वतन्त्र इकाई के रूप में भी चित्रित किया है। इसका वस्तुतु वर्णित प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन है। ऐसे वर्णनों में भी वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति जैसी प्रबन्धशीलता और प्रकृति के साथ तादात्म्य तो नहीं है पर फिर भी सन्तोष की बात है कि कम से कम एक-एक दोहा तो स्वतन्त्र रूप से लिख ही दिया है। यहाँ पर इनका चित्रांकन और नाद-सौन्दर्य मनोरम बन पड़े हैं। बिहारी ने मनुष्य स्वभाव को प्रकृति से बहुत कुछ प्रभावित माना है, अतः उन दोनों को आमने-सामने रखकर चित्रित किया है। विश्वम्भर मानव का कहना है कि प्रकृति-सम्बन्धी कुछ चित्र तो बिहारी के ऐसे हैं जो हिन्दी के आधुनिक काव्य की तुलना में कम शक्तिशाली नहीं ठहरते। उदाहरणस्वरूप देखिए—

> रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीर।
> मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीर॥
> बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माँह।
> देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह॥

काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण—रीतिकाल में मुख्यतः तीन सम्प्रदाय प्रचलित थे—अलंकार, रस और ध्वनि। बिहारी आलंकारिक चमत्कार के अनावश्यक मोह में कहीं भी ग्रस्त नहीं हुए। उन्होंने इन्हें साधन के रूप में प्रयुक्त किया है, साध्य रूप में

नहीं। रस भी बिहारी का साध्य लक्षित नहीं होता। बिहारी ध्वनिवादी हैं। रस ध्वनि, अलकार ध्वनि और वस्तु ध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने सांकेतिक अर्थ को घोषित किया है, अत उनकी रुचि ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर अधिक है।

बिहारी के अधिकांश आलोचकों ने उनकी सतसई को नायिका भेद का ग्रंथ कहा है और इसे लक्षणपरक ग्रथ सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिहारी ने नायिका भेद को समझकर सतसई की रचना की थी, किन्तु उनकी सतसई नायिका भेद का ग्रथ नही। भक्ति, नीति और सूक्तियों में लक्षण-परम्परा को ढूढना व्यर्थ है। हाँ, उनके अधिकांश दोहे रीतिपरक अवश्य हैं।

कला पक्ष अलकार—बिहारी अलकारवादी नहीं थे, किन्तु उन्होंने स्वच्छन्द रूप से अलकारो का प्रयोग किया है। प्राय उनके प्रत्येक दोहे मे उक्तिवैचित्र्य के साथ अलकारों की सुन्दर योजना हुई है। कहीं-कहीं एक-एक दोहे में सकर और *ससृष्टि के रूप में अलकारों का नियोजन हुआ है। निम्न दोहे मे विरोधाभास तथा* असगति अलकार का सुन्दर गुम्फन हुआ है—

दृग उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये दई नई यह रीति॥

सादृश्यमूलक अलकारो में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का प्रयोग इन्होंने अत्यधिक किया है। रूपक तो बिहारी का प्रिय अलकार है। वैसे यमक, समासोक्ति, अपह्नुति आदि अलकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। यमक का उदाहरण देखिए—

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान॥

छन्द—बिहारी सतसई में केवल दो छन्दो का प्रयोग मिलता है—दोहा तथा सोरठा। ये दोनों ४८ मात्रा के छन्द हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं। दोहा-छन्द द्वारा सम्पूर्ण भाव की व्यजना कठिन व्यापार होता है। इसमें गागर में सागर भरना पड़ता है। इसमें भाषा की समास-पद्धति और विचारों की समाहार-शक्ति दोनों उत्कृष्ट रूप में अपेक्षित होती हैं, बिहारी में ये दोनों वस्तुएँ अपनी चरमसीमा पर हैं। दोहे का जो शास्त्रीय नियम है उसका पूर्ण निर्वाह तो किसी कवि द्वारा नहीं हुआ, परन्तु साधारणत बिहारी के दोहे दोषरहित हैं। *भावाभिव्यक्ति के लिए* संस्कृत के मुक्तक कवि अमरुक ने शार्दूलविक्रीडित छन्द को, प्राकृत और संस्कृत के कवियों ने गाथा और आर्या छन्द को, बिहारी के परवर्ती कवियों ने सवैया तथा कुण्डलियाँ छन्द को अपनाया है, किन्तु बिहारी ने दोहे रूपी स्तवक में सारी भाव-सुषमा को भर दिया है। *कुछ आलोचकों ने बिहारी पर यह दोष लगाया है कि उन्हें केवल दोहा छन्द का ज्ञान* था, परन्तु यह व्यर्थ है। यह दूसरी चीज है कि दोहा छन्द उन्हें सर्वाधिक प्रिय लगा। उन्होंने जिस निपुणता के साथ दोहा छन्द में भावाभिव्यक्ति की है वह वस्तुत उनके लिए श्रेय है।

पाण्डित्य—बिहारी विस्तृत जानकार थे। उन्हें सांसारिक विषयों, साहित्य, आध्यात्मिक और पौराणिक विषयों तथा ज्योतिष और गणितादि का ज्ञान था। बिहारी के कुछ आलोचकों ने उसके एक-एक दोहे को पकड़ कर उसे धुरन्धर ज्योतिषी, पौराणिक और गणितज्ञ सिद्ध करना चाहा है, किन्तु यह विशेष संगत नहीं है। 'अहो भारो महान् कवे.' के अनुसार उन्हें विशाल अनुभव अवश्य था जो कि किसी कवि के लिए अपेक्षित भी होता है। इसके अतिरिक्त हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि केशव और बिहारी वर्णक शैली के अनुकर्ता कवि हैं। मध्ययुगीन वर्णक कवि को अपने भिन्न रुचि वाले पाठकों के मनोरंजन के लिए नाना विषयों का समावेश अपने साहित्य में करना पड़ता था। बिहारी सतसई में अध्यात्म पुराण, ज्योतिष, नीति और गणित आदि विषयों का उल्लेख उपर्युक्त शैली के अनुकरण का सूचक है। इससे उनका प्रत्येक क्षेत्र में अगाध पांडित्य घोषित नहीं होता है।

भाषा—बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रज भाषा कह सकते हैं। उनके समय में ब्रज भाषा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो चुका था। इनकी भाषा चलती हुई ब्रज भाषा का साहित्यिक रूप है। बिहारी का शब्द गठन और वाक्य विन्यास पर्याप्त सुव्यवस्थित है। बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की एकरूपता और पाजलता पर ध्यान दिया और भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप इनकी ही भाषा में सर्वप्रथम निखार को प्राप्त हुआ है। आगे चलकर घनानन्द और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया। बिहारी की भाषा में बुन्देलखण्डी और पूर्वी का प्रभाव है। पूर्वी के प्रयोग तुक के आग्रह और प्रयोग-बाहुल्य के कारण हुए हैं। बुन्देलखंडी के प्रयोग सहज रूप में शैशव के अभ्यास के कारण आये थे। इनकी भाषा में समास-शक्ति पूर्ण रूप में विद्यमान है। कहीं-कहीं पर अरबी फारसी के शब्द इजाफा, ताफता, दिलनवी, कुतुबनुमा, रोज इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इन्होंने भाषा को प्रेषणीय बनाने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया है। नाद-सौन्दर्य इनकी भाषा का एक सहज गुण है। बिहारी ने माधुर्य गुण के अनुकूल शब्द-चयन किया है। भाषा के अलंकरण के लिए इन्होंने यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। कुछ लोग बिहारी पर भाषा के काठिन्य का दोष लगाते हैं। पर वह निराधार है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"बिहारी का भाषा पर वास्तविक अधिकार था। उनके बाद भाषा पर अच्छा अधिकार दिखाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं। आधुनिक समय में रत्नाकर ने वैसा ही अधिकार दिखाया है। इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए। भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा अधिकार रखने वाला कोई मुक्तकार नहीं दिखाई पड़ता है।"

बिहारी : उनकी सतसई का महत्त्व—हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी के बाद बिहारी और देव पर अपेक्षाकृत अधिक आलोचनात्मक साहित्य तैयार हुआ है।

मेरे विचार में बिहारी से आलोचकों ने (समर्थक) बिहारी के सम्बन्ध में तनिक अतिशयोक्ति से काम लिया है। पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है—"हिन्दी कवियों में *श्रीयुत महाकवि बिहारीलाल* का आसन सबसे ऊँचा है। शृंगार रस वर्णन, पद-विन्यास-चातुर्य, अर्थ गाम्भीर्य, स्वाभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि खास गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते।" आगे चलकर शर्मा जी ने बिहारी के विरह-वर्णन को अत्यन्त उत्कृष्ट बताया है। राधाचरण गोस्वामी ने बिहारी को ऐसा पीयूषवर्षी घनश्याम कहा है जिसके उदय होते ही सूर और तुलसी आच्छादित हो जाते हैं। लाला भगवानदीन ने सूर, तुलसी और केशव के पश्चात् इन्हें हिन्दी का चौथा रत्न कहा है। दूसरे आलोचकों का कहना है कि सर्वप्रियता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में रामचरित मानस के पश्चात् बिहारी की सतसई का स्थान आता है। इस पर पचासों टीकायें लिखी गई हैं, तब भी आलोचक वर्ग को संतोष नहीं है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है—"प्रेम के भीतर उन्होंने सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किये और वे भी इन्हीं सात सौ दोहों में। यह उनकी एक विशेषता ही है। नायिका-भेद या शृंगार का लक्षण ग्रंथ लिखने वाले भी किसी नायिका या अलंकारादि का वैसा साफ उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हुए जैसा बिहारी ने किया है। साथ ही हमें यह भी मान लेने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए कि इनके जोड़ का हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ, क्योंकि मुक्तकों में जो-जो विशेषता होनी चाहिए वे बिहारी में सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। उपर्युक्त मतों के अध्ययन के पश्चात् बिहारी के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्न उपस्थित होते हैं—क्या बिहारी हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं ? क्या उनका शृंगार-वर्णन और विशेषतः विरह-वर्णन बेजोड़ है ? क्या बिहारी सतसई पर पचासों टीकाओं का लिखा जाना उनकी लोकप्रियता और महत्त्व में विशेष वृद्धि का कारण है ? बिहारी की हिंदी साहित्य में सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि की सहज अनुभूति, तन्मयता और रसमयता में बिहारी से सूर, तुलसी, मीरा और घनानन्द बहुत आगे हैं। सरसता में तो बिहारी के समकालीन कवि मतिराम, पद्माकर और देव तक इनके आगे निकल गये हैं। बिहारी के शृंगार के विषय में हम पहले कह चुके हैं कि इनकी कविता में प्रेम के किसी उच्चादर्श की प्रतिष्ठा नहीं हो पाई है। इनका चित्रित प्रेम बालिकाओं की कुछ अदाओं तक ही सीमित है। इन का प्रेम रसिकता की कोटि से आगे नहीं जा सका है। कविता इनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँच पाती नीचे रह जाती है। विरह-वर्णन में जो स्वाभाविकता, गहनता और व्यापकता और जीवन के जो निजी अनुभव अपेक्षित होते हैं उनकी बिहारी में कमी है। अधिक टीकाओं के सम्बन्ध में भी स्मरण रखना होगा कि संस्कृत-साहित्य में माघ, भारवि और श्री हर्ष पर कालिदास की अपेक्षा अधिक टीकायें मिलती हैं, पर ये कवि किसी भी दशा में कालिदास से श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि सच्ची और सहज कला, प्रेषणीयता और तादात्म्य के

लिए टीका-टिप्पणियों की अपेक्षा नहीं रखती, वह तो स्वतः जनमानस में अंकित हो जाती है। लोकप्रियता के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना होगा कि देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास प्रेमचन्द, शरत् बाबू और रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों से कम लोकप्रिय नहीं हैं, पर देवकीनन्दन खत्री में प्रेमचन्द जैसी साहित्यिक महत्ता और औदार्य कहाँ है? इसके अतिरिक्त बिहारी पर अधिक टीकाओं के लिखे जाने का रहस्य तत्कालीन परिस्थितियों में निहित है।

बिहारी की कलागत विशेषताओं के विश्लेषण के अनन्तर हम विश्वम्भर मानव के शब्दों में कह सकते हैं—"बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नहीं, वह अभ्यास-साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नहीं खिलता जैसे बसंत में डालियों पर फूल खिलते हैं। कवि के भाव को ठीक समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है। वह कला कई बातों पर निर्भर करती है जैसे रस, अलंकार, नायिका-भेद, शब्द-शक्ति, प्रसंग-विधान और भाषा। पाठक को यदि इनमें से एक का भी अच्छा ज्ञान नहीं तो वह बिहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित रहेगा।" *परन्तु! बिहारी रीतिकाल के एक सजग कलाकार हैं। वे वचन-भंगिमा में* सिद्धहस्त हैं। बिहारी की वैयक्तिक और उनके युग की परिसीमायें उनके साथ हैं। उनके द्वारा चित्रित जीवन कहीं-कहीं मटमैला और गन्दला है, पर आखिर धरती का ही तो जीवन है। इतना तो निश्चित है कि बिहारी और उनकी सतसई का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चदबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्षों की कड़ी टूटी हुई दिखाई देगी, *यदि उसमें से बिहारी का नाम निकाल दिया जाये तो बिहारी का काव्य उस युग* की रुचियों और प्रवृत्तियों का एक सुन्दर निदर्शन है।

"करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद।"

सतसई-परम्परा और बिहारी-सतसई—*संसार का आदि काव्य मुक्तक शैली* में प्रणीत हुआ क्योंकि उसका क्रमबद्ध परिष्कृत प्रबन्ध रूप बाद की वस्तु है। वेद मुक्तक काव्य है। प्राकृत में मुक्तक काव्य दो रूपों में निर्मित हुआ—एक तो सख्यापरक काव्य और दूसरा इधर-उधर बिखरे हुए स्वतन्त्र पद्य। प्राकृत में सतसई परम्परा का आरम्भ हाल की गाथा सप्तसती से हुआ। इसमें प्राकृत के अनेक कवियों के पद्यों का संग्रह है। प्राकृत का एक दूसरा संग्रह ग्रंथ है वज्जालग्ग। इनकी लोकप्रियता से आकर्षित होकर संस्कृत कवियों ने मुक्त रचनायें कीं। अमरुक ने अमरुक-शतक लिखा और भर्तृहरि ने शतकत्रय की रचना की। इनके अतिरिक्त संस्कृत में अन्य भी सख्यापरक काव्य निर्मित हुए—सूर्यशतक, चंडीशतक, दुर्गासप्तशती आदि, किन्तु इनका विषय धार्मिक है। १२वीं शती में गोवर्धन ने आर्यासप्तशती की रचना की जो प्राकृत की गाथा सप्तशती पर आधृत है। हिन्दी में कृपाराम की हिततरंगिणी को सतसई परम्परा में प्रथम ग्रंथ कहा जा सकता है। मुबारक का अलक शतक और

तिलक शतक भी इसी परम्परा में आते हैं। बलभद्र मिश्र ने आर्या सप्तशती का अनुवाद किया था। रहीम और तुलसी ने भी सतसई ग्रंथो की रचना की थी किन्तु इतना तो अवश्य स्वीकरणीय है कि बिहारी सतसई के अनन्तर हिन्दी मे सतसई परक ग्रंथ लिखने की शैली का खूब प्रचार हुआ। १२वीं शती से आज तक अनेक सतसइयाँ लिखी गई हैं। मतिराम, कृपाराम, रसनिधि, विक्रमशाह, रामसिंह, सूर्यमल्ल, हरिऔध, दुलारेलाल, वियोगी हरि आदि की सतसइयाँ और दोहावली उल्लेखनीय हैं। सतसई साहित्य की प्राय सभी प्रवृत्तियों का विकास बिहारी सतसई में हुआ है। वे प्रवृत्तियाँ हैं—शृगारिकता की प्रधानता, अनेक विषयो के समावेश की प्रवृत्ति, यथार्थवादी दृष्टिकोण और मुक्तक शैली। बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सतसईकारो का अनुकरण तो किया ही है साथ-साथ कुछ नवीन तत्त्वो का भी समावेश किया है। जैसे अलकार-प्रदर्शन, रीति परम्परा के परिवेश में चित्रण आदि। परन्तु इनका साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य हैं—"इस प्रकार बिहारी की सतसई किसी रीति मनोवृत्ति की उपज नहीं है। यह एक विशाल परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर पडती है और अपनी परम्परा को उम्भवत अन्तिम बिन्दु तक ले जाती है।" बिहारी सतसई के मुख्यतया उपजीव्य ग्रथ हैं—गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक शतक आदि। गाथा सप्तशती और बिहारी-सतसई में निश्चित रूप से अन्तर है। गाथा सप्तशती की सहज ताजगी स्वाभाविक भावोद्रेक, दीप्त और भावोल्लास और सरलता बिहारी मे नहीं है। साहित्य के मर्मज्ञों का विश्वास है कि गोवर्धन की आर्या सप्तशती मे हाल की सी सरलता और उल्लास और ताजगी नहीं है। बिहारी इस विषय मे शायद गोवर्धन से अधिक सौभाग्यशाली हैं। कारण स्पष्ट है कि बिहारी के लोक भाषा के माध्यम से अपनी अनुभूतियों और सरस वाग्वैदग्ध को व्यक्त किया है, किन्तु बिहारी को गोवर्धन की अपेक्षा रीति-परम्परा का भार अधिक ढोना पडा है, अत उनकी कविता उनकी नायिका के समान शोभा के भार से 'सूधो पाँय' धर सकने में असमर्थ हो गई है और अपनी शोभा के बोझ से लडखडा उठी है।

बिहारी-सतसई की लोकप्रियता के कारण—बिहारी-सतसई की सर्वप्रियता का मुख्य कारण है उसका अनेक स्वादो से भरा हुआ होना। उसमें शृगार, नीति, भक्ति, ज्ञान, आध्यात्मिकता, सूक्ति और रीति-परम्परा सब कुछ सम्मिश्रित रूप मे है, अत भिन्न-भिन्न रुचि के व्यक्तियो के लिए यह अधिक ग्राह्य सिद्ध हुई है। दूसरा इसमें उर्दू की गजलो के समान वाग्वैदग्ध है जो अपनी तडक-भडक के कारण सहज में ही आकर्षित कर लेता है। बिहारी का चमत्कार-प्रदर्शन इस दशा मे और भी अधिक सहायक हुआ है। तीसरा, दोहे-जैसे छोटे-छन्द मे गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति ने, भाषा की समास-शक्ति और विचारो की समाहार पद्धति ने इसे विशेष जनप्रिय बना दिया है। चौथा, बिहारी की जागरूकता और श्रमसाध्यता पग-पग पर दर्शनीय है। आजीवन उन्होंने ७१३ दोहो का निर्माण किया और एक जौहरी के

समान रत्नों को निखार और सवार कर रखा । पाँचवाँ, बिहारी ध्वनिवादी हैं, उनकी अलकार, वस्तु और रस-ध्वनि अत्यन्त नाजुक रूप में व्यक्त हुई हैं। उनकी कारीगरी हाथी-दाँत पर खुदे बेल-बूटों के समान सबको आकर्षित कर लेती है। छठा, इनकी सतसई का साहित्यिक महत्त्व के साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी है। सातवाँ, बिहारी अन्योक्ति कला मे अत्यन्त दक्ष हैं। आठवाँ, इसमें पाडित्य और भावुकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। नवाँ, कारण है इसकी भाषा का टकसालीपन, पद-लालित्य और नाद-सौन्दर्य। दसवाँ, बिहारी का प्रकृति चित्रण भले ही संक्षिप्त है परन्तु काफी मार्मिक है और यहाँ तक कि उसे आधुनिक छायावादी काव्य की तुलना में भी रखा जा सकता है। ग्यारहवाँ, इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सतसई-कारों की सभी प्रवृत्तियो के समावेश के साथ अपनी सतसई में कुछ नवीन तत्त्वों का समावेश भी किया है। यह एक अलग बात है कि वे कुछ दूषित रह गये हैं। अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों के भावो को लेकर भी इन्होने उन्हें अपनी मौलिकता की खराद पर चढा कर नवीन बना दिया है और एक प्रकार से उनसे मजमून छीन लिया है। बारहवाँ, जीवन के प्रति यथार्थवादी भौतिक दृष्टिकोण ने भी इनकी सतसई को विशेष लोकप्रिय बना दिया है। बिहारी-सतसई रीति-काल के दो सौ वर्षों के इतिहास की एक सुन्दर कड़ी है और अपने युग की रुचियों और प्रवृत्तियो का एक सुन्दर निदर्शन है।

बिहारी और रीतिकाल के अन्य साहित्यकार—मतिराम उक्तिवैचित्र्य मे बिहारी जसे निपुण नही, पर वे मर्मस्पर्शी कवि अवश्य हैं। सरल और सहज भाव से भावों को व्यक्त करने की जो क्षमता मतिराम मे है वह बिहारी मे नहीं। मतिराम का काव्य परम्परा के बोझ से इतना अभिभूत नही हुआ, जितना कि बिहारी का। *मतिराम में न ठूस ठाँस है और न दूर की कौडी लाने का कोई प्रयास है।* इनकी कविता मे मध्यकाल की नववधू की सच्ची और मार्मिक मूर्ति उभर आई है, बिहारी की-सी पहेली बुझौवल नही है। मतिराम का भावारफलक कोई इतना बडा नहीं पर उसमे प्रदर्शित चित्रण-क्षमता और भाषा-प्रवाह के साथ बिहारी की तुलना नहीं की जा सकती है।

देव का गृहीत क्षेत्र विविधतापूर्ण है। देव बडे-बडे मजमून सम्भालने में विफल प्रयास हो जाते हैं। देव की सबसे बडी कमजोरी है वे छोटे-छोटे भावो को बड़े-बड़े छन्दो में फिट करने बैठ जाते हैं और अनुप्रास तथा तुक के आग्रह में भाषा का बुरी तरह मग-मग कर देते हैं। उक्तिवैचित्र्य में वे बिहारी तक नहीं पहुँच पाते। देव का विस्तृत ज्ञान, मौजी स्वभाव और अनासक्त शृंगार-चित्रण हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेते हैं। जहाँ वे अलकारो के आडम्बर और रीति-परम्परा के मायाजाल में ग्रस्त हो गये हैं वहाँ उनकी कला का सहज विकास नहीं हो सका। हाँ, वे जहाँ इन बातों से मुक्त हैं, वहाँ इनकी कविता किसी भी दशा में बिहारी और मतिराम से कम नहीं है। गार्हस्थ्य प्रेम के मादक चित्र उतारने मे बड़े उस्ताद हैं।

पद्माकर में मतिराम की भाँति सहृदयता, बिहारी की भाँति वाग्वैदग्ध्य और देव की भाँति मौजीपन है। इनमें मतिराम-जैसा प्रवाह और सरसता है। छन्दों के चयन में ये भी देव की भाँति कभी-कभी गलती कर गये हैं, पर इनमें भाषा का अत्यन्त सुथरा रूप है बिहारी एक हाव प्रिय कवि हैं। हाव में काम विकार अपेक्षाकृत अधिक स्फुट हुआ करता है अत उसमें आवेगात्मकता की स्थिति अपरिहार्य है। बिहारी की नायिकायें प्राय मध्या या प्रौढायें हैं, अत उनमें सकोच और भय अपेक्षाकृत कम है। बिहारी ने उनका विलासमयी मोहनी अदाओ का चित्रण चमत्कारी पद्धति पर किया है, किन्तु उनमें कलात्मकता सर्वत्र बनी रही है। देव के अनुसार प्रेम की अनन्य गति मुग्धाओ मे है, अत वे नवल अनवा, वय-सधि-सम्पन्न किशोरियों के दर्शन और श्रवण से उत्पन्न लालसा और लज्जा के लोभनीय अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण की कला मे सिद्धहस्त हैं। पद्माकर उद्दाम यौवन के कवि हैं, अत उनके दर्शन या श्रवण से उत्पन्न राग म आवेग की तीव्रता और कामुकता की उष्णता सदा बनी रहती है। मतिराम की स्थिति बीच की है। कहीं-कहीं तो वे रसिकता में बह जाते हैं, किन्तु अन्यत्र वे सयत भी रहते हैं। बिहारी चमत्कार और अलकरण प्रिय कवि हैं अत वे अपने पाठको का चमत्कृत करने की कला में परम कुशल हैं। किन्तु इनमें देव और पद्माकर जैसा रस का वह आग्रह नहीं जो कि मन को रस विभोर करके उसे बरबस मोह ले। आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है "मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त और सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहो का नही पडता।"

विक्रमसाहि व्रजभाषा में बिहारी के अनुकरण पर सतसई के रचनाकार हैं। इस सम्बन्ध मे डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं, "बिहारी का शृ गार निरूपण अधिक स्वच्छ, अधिक विकसित एव अधिक परिष्कृत रूप में कुछ अधिक रोचक, कोमल एव मधुर भाषा में तथा और भी अधिक विदग्धता के साथ विक्रम सतसई मे उपस्थित हुआ है। मानो बिहारी-सतसई, खदान में से सद्य निष्कासित अशुद्ध स्वर्ण के समान है, विक्रम ने उसे धोकर, तपाकर और निखार कर कुन्दन का रूप दे दिया है।"

रीति-मुक्त धारा

यद्यपि १७वीं शताब्दी के साहित्य में रीतिबद्ध काव्यप्रणयन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बलवती होती गई, किन्तु इसके समानान्तर काल में रीतिमुक्त काव्यों की भी रचना हुई। इस काल म कुछ ऐसे भी कवि हुए, जिन्होंने रीति के बन्धन से मुक्त होकर साहित्य सृष्टि की। इन्होंने केशव, मतिराम और चिन्तामणि के समान न तो कोई लक्षण ग्रन्थ लिखा और न ही बिहारी की भाँति कोई रीतिबद्ध रचना लिखी। इन रीतिमुक्त कवियो की सख्या पचास से भी अधिक है। इनमें से कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षणबद्ध रचना नहीं की और वे अपने स्वच्छन्द प्रेम की पीर जनता को

सुनाते रहे। इस वर्ग में घनानन्द, आलम, बोधा और ठाकुर आदि आते हैं। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने प्रबन्ध-काव्य लिखे, जैसे लाल और सूदन आदि। तीसरे वर्ग में दानलीला और मानलीला आदि पर वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य लिखने वाले आते हैं। चौथे वर्ग मे नीति-सम्बन्धी पद्य और सूक्तियाँ लिखने वाले आते हैं जैसे वृन्द, दीनदयाल गिरि और गिरधरदास आदि। पाँचवें वर्ग में ब्रह्मज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखने वाले कवि आते हैं। छठे वर्ग मे वीररस के फुटकर पद्य लिखने वाले आते हैं। उपर्युक्त वर्गों के सभी कवि प्रस्तुत काल की रीति-मुक्त धारा के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि न तो उन्होंने कोई लक्षण-ग्रन्थ लिखा और न लक्षण-ग्रन्थो से प्रभावित होकर काव्य रचना की। इनके काव्यो मे भावपक्ष की प्रधानता है। इनकी शैली अलकारों के अनावश्यक बोझ से भी आक्रान्त नहीं हुई है। भाषा के क्षेत्र में भी ये लोग अधिक सफाई से उतरे हैं। इनके काव्यों में सामाजिकता की ओर अवहेलना भी नहीं है और न ही नग्न शृंगारिकता है। इनका शृंगार-चित्रण अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, संयत और स्वच्छ है। इनके काव्य के मूल में स्वान्तः सुखाय की प्रेरणा काम कर रही है, अतः उसमें लोक-संग्रह की परिपुष्टि भावनायें हैं। रीति-मुक्त धारा में शृंगारी कवियों का शृंगार चित्रण एक भिन्न पद्धति पर चला है, अतः उनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

रीति मुक्त शृंगारी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

(१) स्वच्छन्द, संयत प्रेम का चित्रण—इन कवियों का प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदार है। इन्हें रीतिबद्ध कवियों के समान बधी-बँधाई परिपाटी पर प्रेम का चित्रण करना अभीष्ट नहीं है। रीतिबद्ध कवियों का प्रेम चित्रण साहित्य-शास्त्र द्वारा चर्चित रूढ़ियों, परम्पराओं और कवि-समयो के अनुसार होता रहा, उसमे उन्मुक्त रूप से हृदय का स्पन्दन नहीं आ सका। इन रीतिबद्ध कवियों का प्रेम रसिकता की कोटि से आगे नहीं आ सका, परन्तु रीतिमुक्त कवियों का प्रेम स्वच्छन्द और संयत है। उसे कहीं भी रीति के बँधे-बँधाये साँचों में ढालने का प्रयास नहीं किया गया है। उसमें भावप्रवण हृदय की सच्ची अनुभूति है कहीं की कृत्रिमता नहीं और न ही कहीं कोई छिपाव और दुराव है तथा कादर्यो और बाँकापन है। कवि घनानन्द के शब्दों में—

> अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
> यहाँ साँचे चलें तजि आपनपौ झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥

निःसन्देह रीतिबद्ध कवियों—बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर में कहीं-कहीं प्रेम की अत्यन्त मार्मिक उक्तियाँ मिल जाती हैं पर वे अधिक नहीं। रीति का मोह पग-पग पर आकर अड़ जाता है और उनकी कल्पना स्वच्छन्द विहार नहीं कर पाती। बिहारी आदि कवियों की कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान में स्वामि-सुखाय की

भावना का व्याघात भी उपस्थित हो जाता है। चमत्कार-प्रदर्शन और कवि दगलों में प्रतियोगिता की प्रवृत्ति के कारण रीतिबद्ध कवियो मे दूर की कौडी पकड़ने से भद्दापन आ गया है किन्तु रीतिमुक्त कवियो का प्रम इन सभी विकृतियो से मुक्त है। इनके प्रेम मे शुद्ध हृदय का योग है, बुद्धि का कतरब्योंत नही है। यह प्रेम उनकी आत्मा की पुकार है। रीतिबद्ध कवियो ने शृ गार मे दूती और सखियो द्वारा प्रेमी और प्रेमिका के मिलन का आयोजन किया गया है, परन्तु यहाँ अन्तरग और बहिरग सखियो का विधान नही है। और यदि कहीं इनके काव्य में दूती और सखी का प्रयोग हुआ भी है तो वहाँ वह तटस्थ रूप से प्रेमी की शब्दावली ही दुहराती है, अपनी बुद्धि की करतब्योंत नही दिखलाती। रीतिबद्ध कवियों मे रीतिशास्त्र की गढी-गढाई नायिकाओ के प्रतिमान हैं, उसमे सौतों की असूया, मान के विविध रूप, हावों की भावभगी, खण्डिता की व्यग्यपूर्ण उक्तियाँ, विपरीत रति और सुरतात आदि के प्रसस्कृत चित्र हैं, पर ये कवि प्रेम के स्वच्छन्द गायक है। इनके यहाँ रीति का विशेष आदर नहीं है। यदि कहीं इनमें रीति का निर्वाह हुआ भी है तो परोक्ष रूप से। इनका प्रेम एक निष्ठ है, इसमे लोकापवाद की तनिक भी चिन्ता नहीं। इन कवियो पर कवि कालिदास की यह उक्ति पूर्णत चरितार्थ होती है—'न कामवृत्ति-र्वचनीयमीक्षते'। इनके पास प्रेम की सच्ची अनुभूतियाँ हैं और उनका इन्होंने उदात्त रूप में वर्णन किया है।

(२) **शृगार के सयोग और वियोग-पक्ष**—वैसे तो इन कवियो ने शृ गार के उभय पक्षो का वर्णन किया है, किन्तु इनकी मनोवृत्ति वियोग-पक्ष मे अधिक रमी है। *कारण स्पष्ट है, सयोग मे बाहरी जगत् की प्रधानता होती है* और *उस समय* कवि की अन्तरवृत्ति भी वहिर्मुख होती है। ऐसी स्थिति मे प्रम की सघनता और तरलता अभिव्यक्त नही हो पाती। कवि की दृष्टि मुद्राओ और हावभावो तक ही पहुँच पाती है। वियोग पक्ष मे कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी होती है। वह अन्तस्तल के प्रेम की अतुल गहराइयो तक बैठने के लिए आतुर रहता है। वियोग की अमिट प्यास उसके भाव पेशल हृदय को सर्वदा द्रवित रखती है, अत उसमे क्रियाशीलता बनी रहती है। यह एक तथ्य है कि विरह अनुभूति का स्वरूप जितना तीव्र होता है वह मिलन-पक्ष मे नही। इन रीतिमुक्त कवियो की विरह विषयक धारणा अत्यन्त विलक्षण है। यहाँ सयोग में भी वियोग पीछा नहीं छोडता है। घनानन्द के शब्दो मे—

"यह कैसो सयोग न जानि परै जु वियोग न क्योंहूँ बिछोहत है।"

वस्तुत इन कवियों की प्रेम तृषा सदा बढती ही रहती है, चाहे तो मिलन-यामिनी हो और चाहे विरह की अमावस्या। इन कवियों मे *प्रेम की अथाह पीर है* और उस पीर को पहचानने के लिए पीर भरा हृदय अपेक्षित है। घनानन्द के शब्दों में—

समुझै कविता घनानन्द की
हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी ॥

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन कवियों की प्रेम-पीर को सूफी कवियों से प्रभावित माना है। उनका यह विश्वास है कि इनके काव्यों में वर्णित प्रेम-पीर फारसी काव्यधारा का प्रभाव है जो कि सूफियों के माध्यम से आया। उनके ही शब्दों में "इन स्वच्छन्द कवियों ने फारसी काव्यगत वेदना की विवृत्ति के साथ इस प्रेम-पीर का स्वागत किया। इनकी रचना में वियोग के आधिक्य का कारण यही है। लौकिक पक्ष में इनका *विरह-निवेदन फारसी काव्य की वेदना की विवृत्ति से* प्रभावित है और अलौकिक पक्ष में सूफियों की प्रेम पीर से।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"*कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत विरह की पुकार का अवकाश पाकर ये कवि कृष्ण और गोपियों की विरह-दशा की ओर स्वभावतः उन्मुख हुए। इसी से सूफियों की भाँति रहस्यादर्शता के व्याख्यान की व्यापक वृत्ति इनमें नहीं रह गई।*···*स्वच्छन्द कवियों में सूफियों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण कहीं-कहीं रहस्य की झलक भर मिलती है।*" स्मरण रखना होगा सभी जगह इनका प्रेम सूफियों से प्रभावित नहीं कहा जा सकता है। कहीं कहीं पर यह प्रभाव अवश्य है। बोधा का इश्कनामा और घनानन्द की इश्कलता में फारसी पद्धति के इश्क का वर्णन किया गया है। इन कवियों में प्रेम की अनन्यता है। दूसरे लोग तो कविता बनाते हैं, परन्तु इन्हें कविता आकर बना जाती है। रीतिमुक्त धारा के प्रायः सारे कवि प्रेम के उपासक हैं, इन्हें प्रेम विहीन जग निःसार प्रतीत होता है। इनकी स्पष्ट घोषणा है—

आनन्द अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द कै ब्रह्मानन्द बखान॥

इन्होंने कृष्ण के सगुण सलौने रूप को अपने काव्य का विषय बनाया है, अतः इन्होंने राधा और कृष्ण के संयोग-पक्ष के प्रेम की भी बड़ी मनोहर और मार्मिक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। रीतिबद्ध कवियों के समान इन्होंने कहीं भी मिलन-पक्ष के असंस्कृत और अपरिष्कृत चित्र नहीं उतारे। इनका प्रेम वासना-पंकिल न होकर स्वच्छ एवं उदात्त है। इनके प्रेम में न तो कहीं छिपाव और दुराव है और न कहीं चमत्कार प्रदर्शन। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इनका प्रेम बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी अधिक है, अतः उसमें हृदय की मार्मिक सूक्ष्म अनुभूतियाँ और सौन्दर्य की महीन से महीन बारीकियाँ हैं। वस्तुतः ये प्रेम, हृदय और सौन्दर्य के सच्चे पारखी हैं।

(३) भक्ति का स्वरूप—इन कवियों ने राधा और कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान किया है, किन्तु इतने भर से इन्हें कृष्ण-भक्त कवि सूरदास आदि की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वैसे तो बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर आदि ने राधा-कृष्ण के नाम का उल्लेख किया है, पर नामोल्लेखमात्र से इन्हें भक्त कवि कहना भूल है। वस्तुतः रीतिकाल की इस धारा के सभी शृंगारी कवियों को भक्त

कवि नहीं कहा जा सकता है। इस पर भी लगभग किसी रीतिकालीन कवि का यह कथन—

"आगे के कवि रीभिहैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

चरितार्थ होता है। रहीम, रसखान, आलम, सेनापति, शेख और घनानन्द को शुद्ध रूप से भक्ति कवि नहीं कहा जा सकता है। इनका प्रमुख उद्देश्य शृंगार-वर्णन था। आचार्य विश्वनाथप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इनकी रचना के प्राय: तीन खंड हैं। प्रथम खंड में इनकी रुचि रीतिबद्ध रचना की ओर दिखाई देती है, जिसमें इनकी ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनमें इन्होंने काव्यक्षेत्र में अपनी वाणी की परख या जाँच की है। दूसरे खंड में इन्होंने रीतिबद्ध रचना का परित्याग कर दिया है और स्वच्छन्द रूप से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदार्पण किया है। तीसरे खंड में इनकी रचनाएँ भक्ति परक हो गई हैं।" आगे चलकर वे लिखते हैं कि यदि भक्त कहे बिना सन्तोष न मिले तो इन्हें उन्मुक्त भक्त कवि कहा जा सकता है। मेरे विचार में सभी रीतिमुक्त शृंगारी कवियों को उन्मुक्त भक्त भी नहीं कहा जा सकता है। हाँ, अधिक से अधिक रसखान और घनानन्द को उक्त कोटि में रखा जा सकता है। इनकी भक्ति में साम्प्रदायिकता एवं संकीर्णता की भावनाएँ नहीं हैं। उन्होंने अनेक देवी-देवताओं के प्रति उदार आस्था प्रदर्शित की है।

(४) प्रकृति-चित्रण—वैसे तो हिन्दी साहित्य के प्रथम तीन कालों में प्रकृति चित्रण प्राय उपेक्षित ही रहा है, किन्तु रीतिकाल के कवि ने रीति-शृंखलाओं में आबद्ध होने के कारण इस ओर से और भी दृष्टि खींच ली। रीतिकाल में प्रकृति कहीं सजीव रूप में चित्रित नहीं हुई। प्रकृति का इन कवियों ने उद्दीपन रूप मे ग्रहण किया है। सेनापति की रचना में प्रकृति कहीं-कहीं उद्दीपन के बन्धन से मुक्त अवश्य मिल जाती है। गुमान मिश्र का कृष्ण चन्द्रिका नामक प्रबन्ध-काव्य इस दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें कवि ने संस्कृत कवियों के समान प्रकृति के खुले दर्शन कराये हैं। गुमान के भाई खुमान का अप्रकाशित कृष्णायन भी इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। द्विजदेव प्रकृति-चित्रण में स्वच्छन्द दृष्टि लेकर बाहर निकले हैं। 'विरह बारीश' में बोधा ने प्रकृति-वर्णन कुछ तो शास्त्रबद्ध और कुछ स्वच्छन्द-वृत्तिबद्ध रखा है।

(५) तत्कालीन सांस्कृतिक झाँकी—स्वच्छन्द दृष्टि के कारण इस धारा के कवि देश के सांस्कृतिक बिम्ब को प्रस्तुत करने में समर्थ हो चुके हैं। रीतिबद्ध कवि बसन्त के वर्णन के अन्तर्गत, होली के त्यौहार, गुलाब की गरद और केसर की कीच के वर्णन से आगे नहीं बढ़ सके। रीतिमुक्त कवि स्वच्छन्द दृष्टि के कारण देश के मानन्दोल्लास में भी खूब शरीक हुए। ठाकुर ने अपनी रचनाओं में बुन्देलखंड के सांस्कृतिक जीवन का वैभवमय चित्र खड़ा किया है। उन्होंने अखतीज, गनगौर, बट-सावित्री और होली आदि के बड़े ही भावुक चित्र प्रस्तुत किये हैं। नरोत्तमदास की

रचनाओं में उस समय का दीन-हीन भारत मुखरित हो उठा है। गनगौर का वर्णन वैसे तो पद्माकर ने भी किया है, परन्तु उन्होंने ठाकुर जैसी अभिरुचि नहीं दिखाई। रीतिबद्ध काव्य में चित्रित मनोविनोदों में कलात्मक-सुरुचता का स्थान विलासिता ने ले लिया। उत्तर रीति-काव्य में विनोदों के नाम पर विलास के उपकरणों की जम कर चर्चा हुई है। लगता है जैसे कि उत्तर रीति कवि-कवि होने के साथ-साथ कामशास्त्री के दायित्व को भी निभा रहा हो। उसने प्रत्येक ऋतु के अनुकूल विलास के चमत्कारी नुस्खों और कामोद्दीपन अमोघ मसालों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ प्रस्तुत कर दी हैं। रीति काव्य में चित्रित ऐश्वर्य तथा विलास के उपकरणों पर विदेशी प्रभाव की कल्पना सर्वथा निराधार है। रीति कवि ने सामूहिक क्रीडाओं-झूला तथा होली आदि में विलासिता के स्वर को सदा उच्च बनाये रखा है। इसने आँख-मिचौनी और चोर मिहीचनी का जमकर वर्णन किया है क्योंकि इनमें स्पर्शजन्य कामवासनात्मक सुख की उपलब्धि अधिकाधिक-सम्भव थी। रीति-काव्य में निरूपित मनोविनोदों में प्रणय जीवन के बहुत सकुचित पक्ष केवल ऐन्द्रिय भोग को ही प्रस्तुत किया गया है।

(६) काव्य-पद्धति—इस धारा के कवियों ने आरम्भ में रीतिबद्ध कवियों ने समान रीति नियमों का ग्रहण किया, परन्तु शनै. शनै. उसका परित्याग कर दिया। इन कवियों ने रीतिकाल के प्रचलित कवि-समयों और रूढ़ियों को अपनाया। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त सभी कवियों में नेत्र-व्यापार सम्बन्धी उक्तियाँ समान रूप से पाई जाती हैं। रीतिबद्ध कवियों के समान रसखान, आलम, ठाकुर और घनानन्द में खण्डिता की उक्तियाँ मिलती हैं। ऐसा करने का कारण स्पष्ट है, जो कवि दरबारी थे उन्हें उर्दू और फारसी की काव्य रचना से होड़ लेनी थी। उन्होंने उर्दू कविता की माशूक की बराबरी में खण्डिता को पेश किया। स्वच्छन्द कवियों ने इस पद्धति का ग्रहण इसलिए किया कि प्रेम-वैषम्य के लिए उन्हें भी भारतीय काव्य-पद्धति में यही बात अनुकूल दिखाई पड़ी। इस प्रसंग में यह बात स्मरणीय है कि इन स्वच्छन्द कवियों ने खण्डिता के द्योतक चिह्नों के ब्यौरे प्रस्तुत न करके उसके हृदय को दिखलाने का प्रयत्न किया है। बाद में तो इस प्रकार की उक्तियों से इन कवियों का मन हट गया। सुरतान्त या विपरीत रीति के कुत्सित चित्र प्रायः इन कवियों में नहीं मिलते हैं। जहाँ मिलते भी हैं वहाँ उनकी प्रारम्भिक रचना के रूप में जबकि वे इस मैदान में हाथ आजमाने की सोच रहे थे। बोधा में कहीं-कहीं पर कुछ बाजारू रंग-ढंग मिलता है। घनानन्द और ठाकुर आदि पर भी फारसी काव्य पद्धति की रंगत देखी जा सकती है। इन कवियों की रचनाओं के तीन खंडों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं जो इनकी काव्य-पद्धति के पर्याप्त परिचायक हैं।

(७) मुक्तक शैली—ऐसे तो समूचे रीति काल में मुक्तक शैली की प्रधानता रही क्योंकि यह शैली उस समय के वातावरण के अनुकूल पड़ती थी। इस धारा के कवियों में भी इस शैली का बोल-बाला रहा, किन्तु फुटकर रूप से प्रबन्ध रचनाएँ भी होती रहीं। आलम ने "माधवानल-कामकन्दला", "सुदामा चरित" और "श्याम-

सनेही" नामक तीन प्रबंध-काव्य प्रस्तुत किये। बोधा ने भी "माधवानल कामकंदला या "विरह वारीश" नामक प्रबंध-काव्य प्रस्तुत किया। इस प्रकार और भी कई प्रबंध रचनायें इस काल में हुई।

(८) शब्दालंकार—इस धारा में अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया। यद्यपि बीच-बीच में छप्पय बरवै, हरिपद आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु सभी रीति कवियों की वृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में रमी है। रीतिमुक्त धारा के कवियों ने अलंकारों का प्रयोग अपने प्रकृत रूप में किया है। इनके अलंकार कहीं भी पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं आए बल्कि इनके द्वारा हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों के द्योतन के लिए सहायता मिली है। इन के यहाँ अलंकार साधन-रूप में आये हैं न कि साध्य के रूप में। इस सम्बन्ध में घनानन्द की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"नेह भीजी बातें रसना पै उर आँच लागै।"

× × ×

"हाय साय लाग्यो, पै समीपन न कहूँ लहे।"

इन पंक्तियों में विषमतामूलक विरोधाभास अलंकार की सुन्दर छटा है।

(९) ब्रज भाषा—इन कवियों ने साफ सुथरी भाषा का प्रयोग किया है। रीतिबद्ध कवियों में बिहारी, मतिराम और पद्माकर को छोड़कर दूसरे कवियों में भाषा की सफाई के दर्शन नहीं होते। भूषण और देव आदि ने तो स्वेच्छानुसार शब्दों का अंग-भंग किया है। इनकी भाषा में प्रादेशिकता का पुट बना रहा। परन्तु रीति-मुक्त कवियों में न तो भाषा के अंग-भंग की प्रवृत्ति है और न ही प्रादेशिक पुट है रसखान और घनानन्द ने तो ब्रज भाषा का ऐसा प्रयोग किया है, जिसे ब्रज भाषा का साहित्यिक परिनिष्ठित रूप स्वीकार किया जा सकता है।

इनकी भाषा में उक्ति-वैचित्र्य, लाक्षणिकता, लोकोक्तियों और मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। घनानन्द की भाषा की लाक्षणिकता विशेष हृदय-ग्राही है। ठाकुर ने लोकोक्तियों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है।

रीति-मुक्त धारा के कतिपय प्रमुख कवि

घनानन्द—जीवन-वृत्त—रस की साक्षात् मूर्ति कवि घनानन्द का जन्म सं० १७६४ के लगभग हुआ। इनका निधन १७९६ में नादिरशाही में हुआ। ये जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे। एक दिन कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीर मुंशी बहुत अच्छा गाते हैं। बादशाह के गाने के लिए आदेश दिये जाने पर इन्होंने टालमटोल की। इस पर लोगों ने कहा कि ये अपनी प्रेमिका सुजान के कहने पर अवश्य गा देंगे। सुजान को दरबार में बुलाया गया। घनानन्द ने अपनी प्रेमिका की ओर मुख करके और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गजब से गाया कि सभी तन्मय और दंग रहे। बादशाह जहाँ एक ओर

उनके गाने पर प्रसन्न हुआ दूसरी ओर इनकी बेअदबी पर रुष्ट होकर इन्हें शहर से निकाल दिया। चलते समय इन्होंने सुजान को भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृन्दावन चले गये और वहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। सुजान की सुधि इन्हें जीवन भर आती रही।

ग्रंथ—सुजान सागर, विरह लीला कोकसार, रस केलिवल्ली और कृपा काड नामक ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त इनके फुटकर कवित्त सवैयों के संग्रह डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तों तक के मिलते हैं। कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी इन का एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज पुस्तकालय में है जिसमें प्रिया प्रसाद, ब्रज-व्यवहार, वियोग बेली, कृपाकद निबन्ध, गिरिगाथा, भावना प्रकाश, गोकुल विनोद, धाम चमत्कार, कृष्ण कौमुदी, नाम माधुरी, वृन्दावन मुद्रा, प्रेम पत्रिका रस-बसत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।

भाव-पक्ष—घनानन्द मुख्यतः शृंगार रस के कवि हैं। वियोग-शृंगार में इनकी वृत्ति अधिक रमी है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। प्रेम की पीर लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रज भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" इनका प्रेम एकनिष्ठ एवं अन्तर्मुखी है, अतः उसमें हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं का अत्यन्त मार्मिक रूप से चित्रण हुआ है, उसमें विभाव पक्ष का इतना चित्रण नहीं हुआ। रूप-छटा के वर्णन के प्रसगों में भी इनका ध्यान प्रभाव पर अधिक रहा है। सयोग पक्ष में भी इनका ध्यान बाह्य चेष्टाओं तथा व्यापारों की अपेक्षा हृदय के उल्लास और लीनता की ओर अधिक रहा है। ये एक भावप्रवण कवि थे। अन्य लोग कविता के बनाने के लिए प्रयास करते हैं, पर इन्हें स्वयं कविता बना जाती है। इनका वियोग वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और मनोरम है। इनकी नायिका न तो कलाक को पेंडुलम है और न ही उसके पास गुलाब की शीशी विरह-ताप से बीच से बीच में सूख जाती है। इनमें बाहरी उछल कूद नहीं है जो कुछ है, भीतरी हलचल हैं। इनका प्रेम फारसी काव्य-पद्धति तथा सूफी-पद्धति दोनों से प्रभावित है।

इनकी कविता मे "सुजान" शब्द का बराबर प्रयोग मिलता है जो शृंगार में नायक के लिए और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। पर इतने मात्र से इन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि में नहीं आयगी, शृंगार की ही कही जायगी। जीवन के अन्तिम दिनों में इन्हें वैराग्य अवश्य हो गया था पर फिर भी अपनी प्रेमिका 'सुजान' को वे भुला न सके। यदि इन्हें भक्त कवि कहकर ही सन्तोष का अनुभव होता है तो अधिक से अधिक इन्हें उन्मुक्त-कवि कहा जा सकता है। इनकी कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी रचना में भी सूर और तुलसी के हृदय की तन्मयता, सात्विकता और निश्छलता कदाचित् ही मिले। अतः इनकी सम्पूर्ण रचनायें शुद्ध भक्ति भाव से

प्रेरित नहीं मानी जा सकती है। घनानन्द प्रेम-मार्ग के एक सफल यात्री हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> अति सूधो सनेह को मारग है, न हैं नेकु सयानप बाँक नहीं।
> जहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।
> घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इत एक ते दूसरो आँक नहीं।
> तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

कलापक्ष—इसमें भाषा, अलंकार, छंद, काव्य-गुण अर्थात् व्यंजना-शक्ति और प्रयोग कौशलादि आदि आते हैं। ब्रजभाषा का चलतापन और सफाई जो घनानन्द में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी साहित्यिक ब्रजभाषा में सहज माधुर्य विद्यमान है। नन्ददास आदि के द्वारा गढ़ी हुई ब्रजभाषा को उत्तराधिकार में प्राप्त कर इन्होंने उसे और भी अधिक निखारा। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजना बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षण और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।" इनमें भाषा की एक अपूर्व लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की छटा है जो कि इनके पश्चात् छायावादी काव्य में देखी जा सकती है। इनका प्रयोग-वैचित्र्य बड़ा ही अनुपम है। उदाहरण के लिए—"अरसानि गही वह बानि कछू" झूठ की सचाई छाक्यो।" इनकी भाषा में वचन वक्रता, नाद-व्यंजना और अर्थगाम्भीर्य सब अद्वितीय बन पड़े हैं। सच तो यह है कि सम्भवतः प्रेमरस के अवतार घनानन्द ने ब्रजभाषा काव्य मे एक नवीन परम्परा स्थापित कर दी। घनानन्द के सामने ब्रजभाषा काव्य की दो परम्पराएँ थीं, एक तो विद्यापति और सूरदास द्वारा चलाई हुई जिसमें भगवान् की लीलाओं का गान गीति काव्य में हुआ। इसमें संगीत की स्वरलहरी के साथ भक्ति-भावना का समावेश था। ब्रजभाषा काव्य की दूसरी परम्परा कृष्ण के स्मरण के बहाने से कविता-चातुर्य दिखलाने वाले रीति-कवियों द्वारा चलाई गई थी। इनकी दृष्टि रीतिबद्ध हो गई। इन्होंने गीतिपद्धति को छोड़कर कवित्त और सवैया-पद्धति को अपनाया जिसमें आलंकारिकता की प्रधानता थी। घनानन्द उक्त दोनों प्रकार की कविता-धारा से भिन्न निकले। न तो उन्होंने सूरदास की भाँति कृष्ण लीला के गीत गाए और न देव आदि की भाँति रीतिबद्ध कविता के प्रणयन में शक्ति को लगाया। न तो घनानन्द ने कृष्ण-लीला-वर्णन ही अपना रखा और न शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए रस, नायिका-भेद, अलंकार और पिंगलादि शास्त्रों के मर्मों का आधार बनाया। ये एक सहज भावुक कवि थे। उन्हें अपने हृदय के भावों का स्पष्टीकरण मात्र ही अपेक्षित था। उनका मन्तव्य निम्न पंक्ति में बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है:

> "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।"

घनानन्द कविता के इस स्वच्छ मार्ग के पथिक थे। बोधा, आलम, ठाकुर

आदि रीतिकालीन कवि तथा भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न और प्रेमघन आदि भी इसी पथ के पथिक बने। भक्तिकाल में ब्रजभाषा काव्य में जो स्थान सूरदास का है रीतिकाल के ब्रजभाषा काव्य में वही स्थान घनानन्द का है।

आलम—जीवन-वृत्त—आलम नाम के दो कवि हुए हैं। एक तो सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए जिन्होंने "माधवानन्द कामकंदला" नामक पुस्तक लिखी और दूसरे औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के राज्याश्रित कवि थे। यहाँ दूसरे आलम की चर्चा की जा रही है। इनका कविता-काल १७४० से १७६० संवत् माना जा सकता है।

ये जाति के ब्राह्मण थे, पर शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम में फँसकर इन्होंने उससे विवाह कर लिया और मुसलमान हो गये। इनके प्रेम की कहानी भी बड़ी विचित्र है। आलम ने अपनी पगड़ी रंगने को दी थी जिसमें दोहे की एक-पंक्ति लिखी हुई बंधी रह गई थी—"कनक छरी-सी कामिनी काहे को कटि छीन।" रंगरेजिन ने इसके प्रत्युत्तर में दूसरी पंक्ति लिखकर भेजी—"कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन।"

ग्रंथ—इनकी कविताओं का संग्रह "आलम केलि" के नाम से निकला है। नवीन अनुसंधानों के अनुसार इनकी अन्य अनेक रचनाओं का भी पता चला है। कहा जाता है कि "आलम केलि" में शेख भणिति के साथ जो कवितायें मिलती हैं वे इनकी पत्नी की हैं और आलम या शेख नाम से जो कवितायें मिलती हैं वे इनकी अपनी हैं। इससे पता चलता है कि इनकी पत्नी भी बड़ी कवयित्री थी।

काव्य-समीक्षा—आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। प्रेम की पीर या इश्क का दर्द इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक की हैं। शब्द-वैचित्र्य, अनुप्रासादि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगार की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनी चाहिए।" यद्यपि ये फारसी के ज्ञाता थे। फिर भी इनमें भारतीय काव्य-परम्परा का पालन सुन्दर रूप से हुआ है। इनमें प्रेमोल्लास का एक नवीन स्वर मिलता है और उसकी अभिव्यंजना इनमें निःसन्देह उच्च कोटि की है। इनमें स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवियों के सभी गुण मिल जाते हैं।

बोधा—जीवन-वृत्त—ये राजापुर (जिला बाँदा) के रहने वाले थे। इनका असली नाम बुद्धिसेन था। ये महाराजा पन्ना के दरबार में रहा करते थे। महाराज इन्हें प्यार से बोधा के नाम से पुकारते थे और ये इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। इनका जन्म संवत् १८०४ माना जाता है। इनका कविता काल सं० १८३० से १८६० तक

माना जा सकता है।

घनानन्द की भाँति इनके सम्बन्ध में भी एक प्रेम कहानी प्रचलित है। ये दरबार की किसी 'सुभान" नाम की वेश्या पर आसक्त थे। एक दफा राजा के सामने इन्होंने सुभान के साथ प्रेमाचरण का अभिनय किया। इस पर राजा ने असतुष्ट होकर इन्हें ६ महीने के लिए देश निकाला दे दिया। इसी समय में इन्होंने "विरह् वारीश" काव्य की रचना की। लौटने पर उन्होंने अपना सारा काव्य राजा को सुनाया। इस पर प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें सुभान वेश्या दे दी। इनका एक दूसरा काव्य है "इश्क नामा" जिस पर फारसी का प्रभाव स्पष्ट है।

काव्य-समीक्षा—इनकी रचनाओं में रीति-कवियों से भिन्न प्रेम-भाव का उल्लास मिलता है। इन्होंने कोई रीतिग्रन्थ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार मर्मस्पर्शी प्रेम के पद्यों की रचना की। इनमें कहीं-कहीं बाजारू ढंग का प्रेम भी देखने को मिलता है। कुछ भी हो, ये एक भावुक और रसज्ञ कवि थे। यद्यपि इनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी दोष यत्र-तत्र मिल जाते हैं फिर भी इनकी भाषा चलती और मुहावरेदार है। इन पर सूफियों की प्रेम-पीर का प्रभाव स्पष्ट है। इन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम-सम्बन्धी पद्य भी लिखे किन्तु इतने भर से इन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। कवि बोधा घनानन्द के छोटे सस्करण दीख पड़ते हैं। इनकी कविता का एक नमूना देखिये —

> **जब ते बिछुरे कवि बोधा हितू, तब ते उरदाह थिरातो नहीं।**
> **हम कौन सों पीर कहें अपनी, दिलदार तो कोई दिखातो नहीं॥**

ठाकुर—हिन्दी-साहित्य में दो अन्य भी ठाकुर नाम के कवियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु यहाँ हम स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवि ठाकुर, जिनका जन्म ओरछा (बुन्देलखण्ड) में १८२३ में हुआ, की चर्चा कर रहे हैं। इनका जोधपुर और बिजावर के राज्यों में बड़ा मान था। पद्माकर के आश्रयदाता हिम्मत बहादुर के यहाँ भी इनका पर्याप्त समादर हुआ।

इनकी रचनाओं का एक सग्रह लाला भगवानदीन ने "ठाकुर ठसक" नाम से प्रकाशित कराया था। इनकी रचनाओं में ऐकातिक प्रेम का प्रवाह है। फारसी काव्य धारा का इन पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। भावों को यह कवि स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोल-चाल की चलती भाषा में भावों को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविता प्राय. स्त्री-पात्रों के ही मुख की वाणी होती है अत. स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का जो सुन्दर-विधान इस कवि ने किया है इससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है।" इनकी भाषा में स्वच्छता और सहज प्रवाह है। ऐसे लगता है कि यहाँ आकर ब्रजभाषा अपने पूरे चढ़ाव पर आ गई है। पद्माकर

फिर भी कहीं-कहीं ताल और टोटके के चक्कर मे पड जाते हैं पर ठाकुर के प्रत्येक मजमून में अन्त तक भाषा की एक स्वच्छ धारा मिलती है।

इन्होंने प्रेम का तो सफल निरूपण किया ही है साथ-साथ अन्य लोक-व्यापारों की छटा भी बड़ी तन्मयता से दिखाई है। इनके काव्य में अखतीज, फाग, वसन्त, हसी, हिंडोरा उत्सवों के वर्णन के साथ लोगों की कुटिलता, क्षुद्रता, दुःशीलता, कालगति पर खिन्नता और कवि-कर्म की कठिनता आदि का भी वर्णन मिलता है।

रीति-मुक्त धारा नीति-काव्य—रीति-मुक्त शृंगारी रचनाओ के अतिरिक्त इस काल मे नीति विषयक ग्रंथो का भी निर्माण हुआ। भारतीय साहित्य परम्परा में इस प्रकार की रचनायें काफी पुराने समय से लिखी आ रही थीं। रामायण, महाभारत और कौटिल्यार्थशास्त्र आदि सस्कृत ग्रंथों में फुटकर रूप से इस प्रकार के पद्य मिल जाते हैं। भर्तृहरि ने अपने तीन शतकों मे नीति, भक्ति और शृंगार पर लिखा है। सस्कृत के सुभाषित ग्रंथों मे इस प्रकार के पद्य यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। हेमचन्द के "शब्दानुशासन" में अपभ्रंश के अनेक दोहे नीतिविषयक दोहे हैं। तुलसीदास और रहीम के नीतिविषयक दोहो का पता हमे मिल चुका है। अकबर के दरबारी कवि बीरबल और नरहरि के नीतिविषयक पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। १६वीं शती के जमाल नामक मुसलमान कवि के नीतिविषयक दोहे भी काफी लोकप्रिय रहे हैं।

वृन्द—१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध नीतिकार कवि वृन्द हुए जो कृष्णगढ के महाराज राजसिंह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' की उक्तियाँ उत्तर मध्य काल में बडे चाव से पढी जाती थीं। नवीन खोजों के अनुसार इनके दो अन्य ग्रंथों का भी पता चला है—शृंगार शिक्षा और चौर पचाशिका। परन्तु इनकी प्रसिद्धि नीतिविषयक दोहो से ही है। इनके दोहों मे जीवन की गहन अनुभूतियाँ हैं। उदाहरणार्थ

> **भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नांहि।**
> **जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के मांहि॥**

गिरधर कविराय—अनुमान है कि गिरधर कविराय १८ वीं शती के प्रारम्भ में होंगे। प्रसिद्धि में ये वृन्द और बैताल से भी बढकर हैं। इन्होंने नीतिविषयक कुडलियाँ लिखी हैं। कुछ कुण्डलियाँ "साईं" शब्द से प्रारम्भ होती हैं। किंवदन्ती है कि ये कुण्डलियाँ इनकी पत्नी द्वारा लिखी गई हैं। गिरधर मध्यकाल के सद्गृहस्थों के सलाहकार थे और आज भी जनता इन्हें बडे चाव से पढती है। आचार्य हजारीप्रसाद इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"वस्तुत साधारण हिन्दी जनता के सलाहकार प्रधानत तीन ही रहे हैं—तुलसीदास, गिरधर-कविराय और घाघ। तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे गिरधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, और घाघ खेती-बाड़ी के मामले में।" इनकी भाषा अत्यन्त सरल और बोधगम्य है। 'दौलत

पाय न कीजिये सपने मे अभिमान' आदि इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

लाल—इनका पूरा नाम गोरेलाल था। ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे। महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—'छत्रप्रकाश' और 'विष्णु विलास'। प्रथम ग्रंथ मे महाराजा छत्रसाल की कीर्ति गाथा है और यह दोहा-चौपाइयो मे लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ग्रंथ उपादेय बन पड़ा है। दूसरे ग्रंथ में नायिका भेद कहा गया है। इनकी प्रसिद्धि का कारण 'छत्रप्रकाश' ही है। यह इनकी एक काव्य-गुण सम्पन्न प्रौढ़ कृति है। आचार्य शुक्ल इनकी काव्य-कला के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"लाल-कवि में प्रबन्धपटुता पूरी थी। सम्बन्ध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिए मार्मिक स्थलों का चुनाव भी।......साराश यह है कि लाल कवि का सा प्रबन्ध कौशल हिन्दी के कुछ इने-गिने कवियो में ही पाया जाता है। शब्द-वैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृत्रिमता कहीं से नही आने दी। भावो का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियो का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई और न ऊहा की जटिलता।"

सूदन—ये मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपमान सूरजमल के यहाँ रहते थे। इन्होने अपने आश्रयदाता को लक्ष्य रखकर—'सुजान चरित' नामक प्रबन्ध काव्य लिखा है। सुजानसिंह एक आदर्श वीर थे और सूदन मे भी वीर चरित के सम्मान करने की पर्याप्त शक्ति थी। सूदन वीर रस के एक उत्कृष्ट कवि हैं। आचार्य हजारीप्रसाद इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"चन्द के पृथ्वीराजरासो मे जिस प्रकार घोडो और अस्त्रो आदि की उपमा देने वाली सूची मिलती है उसी प्रकार सूदन के सुजान-चरित मे भी है। काव्य-रूढ़ियो का इसमे जम कर सहारा लिया गया है, यद्यपि कथानक मे रूढियो की वैसी भरमार नहीं जैसे कि रासो मे है। शब्दो को तोड-मरोड कर युद्ध के अनुकूल ध्वनि-प्रसू वातावरण उत्पन्न करने मे सूदन बहुत दक्ष हैं पर उसमे भाषा के प्रति न्याय नही हो सका है।

मुक्तक काव्य की आवश्यकता और दोहा आदि छन्दो का प्रयोग

रीतिकाल मे मुक्तक काव्य का प्रणयन अत्यधिक मात्रा मे हुआ। इस काल में प्रबन्ध-काव्य भी बने किन्तु मात्रा और गुण मे स्वल्प होने के कारण वे नगण्य से हैं। वैसे तो मुक्तक काव्य प्रबन्ध-काव्य की एक छोटी सी अन्विति है, किन्तु इन दोनो में पर्याप्त विभिन्नता भी है। जहाँ व्यापकता और विशालता प्रबन्ध काव्य के अनिवार्य धर्म हैं वहाँ सक्षिप्तता, सामाजिकता और कलात्मकता मुक्तक काव्य का मूल रहस्य है। मुक्तक काव्य का निर्माण एक विशेष प्रकार की परिस्थितियो की उपज है। सामन्ती सभ्यता और दरबारी कलाप्रियता मुक्तक काव्य-प्रणयन के लिए विशेष अनुकूल

अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। रीतिकाव्य में अधिकांश मे शास्त्रीयता और कलात्मकता का समन्वय है अत उसकी सगति दोहा-चौपाई वाली प्रबन्धात्मक शैली से बैठनी सम्भव नहीं थी। मुक्तक प्रकृति होने के कारण रीति काव्य के लिए ऐसे छदो की आवश्यकता हुई जो सस्कृत के वर्ण वृत्तों के समान हो और उसमे गणों के निर्वाह और लघु गुरु अक्षर-विन्यास की परम्परा पर अत्यधिक आग्रह न हो। परिणामतः रीति काल में कवित्त सवैया, छप्पय, दोहा, सोरठा, बरवै और रोला जैसे छन्द प्रयुक्त हुए जो कि रीतिकालीन काव्यधारा की प्रकृति के नितांत अनुकूल थे।

रीतिकाल में प्रयुक्त प्रमुख छन्द

प्रमुख रूप से रीति काल में कवित्त, सवैया और दोहा का प्रयोग हुआ है और गौण रूप मे बरवै, सोरठा, छप्पय और रोला छन्द प्रयुक्त हुए हैं। उक्त सभी छन्द हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य में भी प्रयुक्त थे। बरवै छन्द का प्रयोग तुलसी और रहीम अतीव कुशलता से कर चुके थे। नन्ददास आदि भक्त कवि रोला का सफल प्रयोग कर चुके थे। हालाकि यह छन्द प्रबन्ध काव्यो की प्रकृति के अधिक अनुकूल रहा है।

दोहा—सस्कृत के पुराण साहित्य तथा अन्यत्र बहुधा प्रयुक्त अनुष्टुप छन्द के समान हिन्दी में दोहा छन्द का प्रचलन अत्यधिक रहा है। प्राकृत साहित्य मे जो स्थान गाथा छन्द का रहा है, हिन्दी मे वही दोहा का है। अपभ्रंश साहित्य में कदाचित् यह दूहा नाम से अभिहित होता रहा है। जैनो तथा जैनेतर अपभ्रंश साहित्य मे इसका अत्यधिक प्रचलन रहा है। हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन मे इस के दोहक और उपदोहक आदि भेदों की चर्चा की है। प्राकृत पैगलम में इसके लगभग २३ भेदो का उल्लेख मिलता है जिससे इसकी सर्वप्रियता स्पष्ट रूप से आभासित हो जाती है। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों मे "मुक्तक काव्य के लिए दोहा का संक्षिप्त स्वरूप उक्ति वैचित्र्य, चित्रात्मकता, शब्द सगठन तथा व्यंजकता की दृष्टि से विशेष उपयुक्त सिद्ध हुआ है।" रीतिकाल में अनेक सतसइयो का निर्माण गाथा सतसई तथा आर्या सप्तशती के आदर्श पर हुआ। इसके लिए दोहा छन्द अत्यधिक उपयुक्त था। रीतिकाल के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग इसी छन्द में निर्मित हुआ है।

सवैया—ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से सवैया का आविर्भाव दोहा छद के बहुत बाद मे हुआ। विद्वानो का विश्वास है कि यह अपने प्रकृत रूप में सम्भवत १७वी शती में प्रयुक्त होने लगा था। यह छद रीति-कालीन शृगारी कविता की प्रकृति के नितान्त अनुकूल था। शृगार रस के कोमल भावो के वहन करने की इसमें एक अद्भुत क्षमता है। इसमें वर्णनात्मकता और गीति तत्वो का समावेश सहज रूप में हो सकता है। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों मे "सवैया रीति-काव्य का मधुरतम छद है। वृत्तात्मक गरिमा के अतिरिक्त इसके सगीत मे कुछ ऐसी सुकुमारता तो निहित मिलती है जो सस्कृत के अन्य वृत्तों मे लक्षित नही होती और जिसका मेल

भाषा की स्वर साधना से अधिक लगता है।" देव, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, ठाकुर और बोधा आदि रीति कवियों ने सवैया छन्द का सफल प्रयोग किया है। हिन्दी के रीति-कवि को उर्दू के कवि से प्रतियोगिता करनी थी। उर्दू साहित्य के बहरों में भावाभिव्यक्ति की जो मगिमा चमत्कार और चारुत्व थे वे सब गुण सवैया छन्द में उपलब्ध होते हैं, अतः रीति-काल में इसका अत्यधिक प्रचलन स्वाभाविक था।

कवित्त—यह छन्द हिन्दी का एक निजी आविष्कृत छंद है। इसका सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के किसी छंद से जोड़ना निर्भ्रान्त नहीं है। इसके विकास क्रम के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि यह एक हिन्दी का अपना छन्द है और इसका विकास हिन्दी क्षेत्र में हुआ। यह छन्द गणात्मक न होकर वर्णात्मक और लयात्मक है। भावों की प्रवाहमयता के लिए यह एक अत्यन्त अनुकूल छंद है। हिन्दी भाषा के समानान्तर काल में उद्भूत होने वाली बंगला, गुजराती तथा मराठी आदि भारतीय भाषाओं में इस छंद की प्रकृति से मिलते-जुलते छंदों का प्रयोग हुआ है। हिंदी में घनाक्षरी तथा मनहर आदि भेदों के रूप में इसका अत्यधिक प्रयोग हुआ है। रीतिकाल में व्यापक प्रयोग के कारण यह छंद खूब परिष्कृत और मंज गया। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में "कलात्मकता की दृष्टि से सवैया की तरह कवित्त भी अन्तिम पद प्रधान छंद है और इसका शिल्प भी तदनुरूप विकसित हुआ। उक्ति-प्रधान रीति-काव्य के लिए उसकी उपादेयता विशेष रूप से सिद्ध हुई। फलतः दोनों का प्रतिबन्धन दृढ़तर होता गया। कवित्त-सवैया से रीति-काव्य के अभिन्न सबंध का यह एक मार्मिक रहस्य है।"

रीति काव्य की श्लीलता व अश्लीलता

रीतिकाव्य के महत्त्व के आकलन के विषय में प्रायः पक्षपात से काम लिया गया है। कुछ आलोचक इसे सर्वथा त्याज्य और अधोगामी कह कर इसे गंदी नालियों में बहाने की वकालत करते हैं जबकि अन्य आलोचक रीतिकाव्य को तन और मन को रिझाने वाला साहित्य कहकर इसे नितांत अभिलषणीय बताते हैं। हमारे विचारानुसार ये दोनों दृष्टिकोण प्रतिवाद से ग्रस्त हैं। रसिक प्रभुओं के लिए लिखे गये रीतिकाव्य में कामशास्त्र के सचेष्ट समावेश और उसमें यत्र-तत्र सम्भोग कलाओं की चर्चा को देख कर आज का आलोचक रीतिकाव्य में अश्लीलता की दुहाई देता हुआ आवश्यकता से कुछ अधिक चौंक जाता है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता युग सापेक्ष्य वस्तुएं हैं। श्लील और अश्लील कवि समय (काव्य रूढ़ियों) के समान हैं, जो कि प्रत्येक समाज की परिस्थितियों की अनुरूपता में हुआ करते हैं। ये दोनों तात्कालीन सामाजिक चेतना से सम्बद्ध हैं। एक समय में जो वस्तु नागरता समझी जाती है, दूसरे समय में वही गर्हणीय बन जाती है, ऐसी दशा में रीतिकाव्य की तथाकथित अश्लीलता को आज के प्रबुद्ध नैतिक मान दण्डों पर कसना न्याय नहीं होगा और न

ही रीतिकाव्य की अश्लीलता को असाहित्यिक या असामाजिकता की संज्ञा देना उचित होगा। अश्लीलता और असाहित्यिकता हमें उस समय प्रतीत होती हैं जब हम रीतिकाव्य के चित्रों को उनके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में न देखकर उन्हें अधूरी दृष्टि से देखते हैं। नैतिकता भी देश कालाश्रित है तथा वह सदा बदलती रहती है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता सुरुचि और कुरुचि से सम्बद्ध हैं, जो कि प्रत्येक देश और काल की अलग अलग हुआ करती हैं। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि रीतिकाव्य चाहे शास्त्र की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु कवित्व की दृष्टि से यह बहुत मनोरम है। अतः इस काव्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। रीतिकाव्य के प्रणयन का हेतु विशुद्ध साहित्यिक प्रेरणा अर्थात् 'कला कला के लिए है'। यह काव्य किसी नैतिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक प्रेरणा की उपज नहीं है। *अतः रीतिकाव्य की यथार्थ गरिमा और उसके मूल्य को आँकते समय हमें उपर्युक्त* तथ्यों को सदा ध्यान में रखना होगा।

रीति काल में रचित गद्य साहित्य

रीति काल में गद्य लेखन का कार्य भक्ति काल की अपेक्षा अधिक हुआ। इस काल में व्रज भाषा और राजस्थानी का गद्य निश्चय ही पर्याप्त, प्रचुर, प्रौढ व समृद्ध रहा। खडी बोली, दक्खिनी और मैथिली में गद्य लेखन भक्ति काल की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहा। खडी बोली गद्य के निर्माता इंशा अल्ला खाँ सदा सुखलाल, सदल मिश्र और लल्लूलाल एवं उनके पूर्ववर्ती लेखक रामप्रसाद निरंजनी रीति युग में हुए। इस काल में आधुनिक हिन्दी गद्य के विविध रूपों का प्रस्फुटन हुआ। इस युग में भोजपुरी और अवधी में भी गद्य का निर्माण हुआ।

इस युग में गद्य 'टीका, कथा-कहानी, अनुवाद, वार्ता, बात, वर्णन, चरित्र, वचनिका दवावैत, सलोका वचनामृत, गोसट जनम साखी, परचीओं, जीवनी, नाटक, ख्यात, पीढी, विगत, वंशावली, पत्रावली पट्टावली, पत्र, बालवबोध, टिप्पण, भाषा परमारथ, भाव, भावना, वार्तिक, पुस्तक परिचय, निबन्धात्मक रचनायें, जीवन-शैली, शिलालेख तथा भित्ति प्रशस्तियों तथा कागज-पत्रों पर नमूनों आदि के रूप में प्राप्त होता है। इन रूपों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शती के आरम्भ में पाठ्य पुस्तकों तथा समाचार पत्रों का लेखन व प्रकाशन आरम्भ हो गए। इसके अतिरिक्त इस काल में पद्यात्मक रीति ग्रंथों तथा अन्य कवितात्मक पुस्तकों में बात, वार्ता, चर्चा, तिलक आदि अनेक शीर्षकों के रूप में गद्य टिप्पणी लिखने का कार्य आरम्भ हो गया।

इस काल में गद्य के मुख्य विषय ये रहे हैं—धर्म, दर्शन, अध्यात्म, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, ज्योतिष, काव्य-शास्त्र, शकुन-शास्त्र, प्रश्न-शास्त्र, सामुद्रिक, गणित, व्याकरण, विज्ञान विषयक पाठ्य पुस्तकें, संस्कृत, प्राकृत तथा फारसी की कथात्मक रचनाओं तथा योग, वेदान्त, वैद्यक, ज्योतिष आदि की रचनाओं के अनुवाद।

अब इस युग में व्रजभाषा, खडी बोली, दक्खिनी हिंदी, राजस्थानी भोजपुरी

तथा प्रबंधों के गद्य साहित्य का विकास संक्षिप्त रूप से निरूपित कर उक्त काल के गद्य का मूल्यांकन करना अभीष्ट है।

ब्रजभाषा गद्य—इस काल का ब्रजभाषा गद्य साहित्य तत्कालीन खड़ी बोली के गद्य साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक सुविकसित और समृद्ध है। ऊपर हम रीति-कालीन गद्य साहित्य के जिन विषयों तथा व्यवहृत गद्य रूपों की चर्चा कर चुके हैं, वे सब उस समय के ब्रजभाषा-गद्य साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

रीति युग में वल्लभ सम्प्रदाय पर आधृत विशाल वार्ता साहित्य का सृजन हुआ। यह साहित्य धर्म और इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए भक्तगणों के जीवन प्रसंगों तथा आचार्य जी की महिमा का अतिरंजित वर्णन मिलता है। अब तक इस विषय के शताधिक ग्रंथ मिल चुके हैं। इस काल के वार्ता साहित्य में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" विशेष उल्लेखनीय हैं। यह वार्ता साहित्य गो० विट्ठलनाथ तथा गो० गोकुलनाथ के प्रवचनों पर आधृत है। इन प्रवचनों को लिपिबद्ध करने वालों में हरिराय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन वचनामृतों अथवा प्रवचनों के द्योतक शब्द हैं—सवाद, चरित्र, वार्ता, सेवा प्रकार, भावना अथवा भाव। अधिकांश वार्ता साहित्य की शैली सरल है और उसमें साहित्यिकता का भी कोई विशेष पुट नहीं। सत्रहवीं शती के ब्रजभाषा गद्य के उल्लेखनीय ग्रन्थ ये हैं—अष्टांग योग, कोक कथा और कोक मंजरी, मार्कण्डेय पुराण का अनुवाद, अध्यात्म रामायण का अनुवाद तथा हरतालिका कथा। अठारहवीं शती में जहाँ एक ओर धर्म, अध्यात्म और वार्ताओं का समृद्ध साहित्य लिखा गया वहाँ कई अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर भी लेखनी चली। उदाहरणार्थ—मुगल इतिहास, भूगोल पुराण, बसन्त राज, शकुन, वैद्यक संग्रह, अश्व चिकित्सा, वैद्य जीवन, विदग्ध माधव नाटक, बैताल पच्चीसी, हितोपदेश, कथा विलास, गरुड़ पुराण भाषा, पद्म पुराण का अनुवाद, आईने अकबरी की भाषा, वचनिका, चाणक्य राजनीति और कुछ पत्र। उन्नीसवीं शती में भागवत के अनेक अनुवादों के साथ साथ वार्ता साहित्य का निर्माण बराबर चलता रहा। वैद्यक के कई ग्रन्थों—माधव निदान, हकीम फ़रासीसी वैद्य चन्द्रिका आदि के अनुवाद और प्रणयन हुए। रीतिकाल के प्राय प्रमुख काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों तथा अन्य काव्य ग्रंथों पर यत्र-तत्र वचनिका, चर्चा, वार्ता, तिलक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत टिप्पणी परक गद्य का प्रयोग हुआ है। रीति युग में संस्कृत टीका प्रणाली के अनुकरण पर प्रचुर टीका साहित्य का निर्माण हुआ। धर्म, दर्शन व काव्य सभी विषयों पर सुन्दर-टीकायें लिखी गईं। धार्मिक ग्रन्थों में भागवत और गीता पर अनेक व्यक्तियों ने टीकायें लिखीं। तुलसी, केशव तथा बिहारी के काव्यों पर अनेक विद्वत्तापूर्ण टीका ग्रन्थ निर्मित हुए। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी टीकायें लिखी गईं। इस काल का ब्रजभाषा गद्य साहित्य प्राय परिष्कृत पुष्ट और प्रौढ़ है। यद्यपि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है फिर भी वह प्रवाह मय तथा सशक्त अभिव्यंजना से युक्त है। धार्मिक

रचनाओं में अलंकृत गद्य हैं किन्तु उपयोगी विषयो की रचनाओं मे भाषा का व्यावहारिक रूप प्रयुक्त हुआ है।

खड़ी बोली गद्य—रीति युग के खडी बोली गद्य पर ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी तथा पजाबी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस काल मे ललित गद्य की अपेक्षा असाहित्यिक गद्य अधिक लिखा गया और इसके गृहीत विषय हैं दर्शन, धर्म, अध्यात्म, ज्योतिष, इतिहास, चिकित्सा, शकुन-शास्त्र, भूगोल, गणित आदि। इन विषयो पर बहुत अधिक रचनायें लिखी गईं। कुछ उल्लेखनीय रचनायें हैं—पोथी हरि जी, जनम साम कबीर भगति जी की, अखबार जेवडी का (राजा रणजीतसिंह के दरबार की गुप्त सूचनाएँ) लीलावती, दिल्ली की पातसाही। खड़ी-बोली के महत्त्वपूर्ण गद्यकार हैं– टोडरमल जैन, रामप्रसाद निरजनी, दौलतराम मुशी सदा सुखराय निसार। इनका उपनाम सुखसागर था। विष्णु पुराण तथा भागवत का इन्होंने पद्यानुवाद किया था।

इस काल के खडी बोली गद्य का टीकाओ और अनुवादों पर अधिक बल रहा अठारहवी शती मे रचित ऐसे ग्रथ हैं—भाषा-उपनिषद, भाषा योगवसिष्ट, भाषा-पद्म पुराण आदि पुराण-वचनिका और हितोपदेश वचनिका आदि। भाषा उपनिषद फारसी भाषा मे अनुदित २२ उपनिषदों का हिन्दी रूपान्तर है। रामप्रसाद निरजनी ने भाषा योगवसिष्ट जैसी महत्त्वपूर्ण रचना को लिखा। पद्मपुराण दौलतराम कृत है। दमोदानन्द ने ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रथ सूर्य सिद्धान्त, गोरा-बादल की वीरता, सिंघासन बत्तीसी, विष्णु पुराण भाषा तथा श्रीमद्भागवत की भाषा का अनुवाद किया।

उन्नीसवी शती के प्रारम्भ मे फोर्ट विलियम कालेज ने हिन्दी खडी बोली गद्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। नासिकेतोपाख्यान, रामचरित्र, प्रेमसागर, लालचन्द्रिका टीका, भाषा कायदा, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, भक्त माल टीका। प्रेमसागर भागवत के दशम स्कन्ध पर आधृत है। लाल चन्द्रिका बिहारी सतसई की टीका है। भक्तमाल टीका भक्तमाल की विस्तृत व्याख्या है। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह ने आनंद रघुनन्दन नाटक लिखा जिसमे ब्रजभाषा पद्य के साथ खड़ी बोली गद्य प्रयुक्त हुआ है। लल्लूलाल के अनुज दयाशकर ने दाय भाग पर लिखा।

दक्खिनी हिन्दी-गद्य—इस युग में भी दक्खिनी हिन्दी में सूफी तथा इस्लामी धर्म की पुस्तको का अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ पुस्तकें चिकित्सा और इतिहास पर लिखी गईं। पत्रों, हुकमनामों तथा अर्जियों के सग्रह के रूप मे भी पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। कुछ प्रेमाख्यानो का भी गद्यानुवाद हुआ। कुछ पुस्तकें विज्ञान पर भी लिखी गईं। इन ग्रथों की भाषा प्राय उर्दू शैली की है। भाषा-गठन की दृष्टि से उक्त काल का दक्खिनी गद्य आज की खडी बोली के पर्याप्त निकट है।

राजस्थानी गद्य – इस समय का राजस्थानी गद्य साहित्य ब्रजभाषा गद्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। मारवाडी गद्य मे तत्कालीन गद्य के प्राय समस्त रूप उप-

लब्ध होते हैं। इतिहास धर्म, शकुन अध्यात्म, कोकशास्त्र सामुद्रिक, ज्योतिष वैद्यक, यन्त्र तन्त्र नीति तथा गणित आदि विषयों को लिया गया है।

राजस्थानी मे लिखितवात-साहित्य अतीव प्रसिद्ध है। विषय की दृष्टि से वार्ते छ प्रकार की हैं—प्रेममय, वीरतापूर्ण, हास्यमय, धार्मिक, शान्त रस परक तथा स्त्री चातुर्य विषयक तथा अद्भुत रसपूर्ण। कुछ प्रसिद्ध वार्ते हैं—रतना हमीर की वात, राव अमरसिंह की वात, सिद्धराज जयसिंह दे की वात, राव रिणमल की वात, श्यणी चारणी की वात, ढोला मारवाणी की वात, गोरा बादल की वात, वात दूर्ग जोधावत की, राजा भोज खादरा चोर की वात तथा बीरबल की वात। अन्य विध गद्य राजस्थानी-भाषा में विरल ही मिलता है।

भोजपुरी और अवधी का गद्य—रीतिकाल में भोजपुरी-गद्य के कुछ पत्र दस्तावेज, सनद और पचनामे आदि प्राप्त हुए हैं। इनमे प्रयुक्त गद्य प्राय शुष्क और अलकरण-रहित है। इसके अतिरिक्त 'रस विनोद' (गद्य पद्य मिश्रित) 'उड्डीस' (जन्त्र-मंत्र) 'मानस टीका', 'सगुनावती' व्यवहारवाद (दाय-भाग) 'कबीर बीजक-टीका' आदि रचनायें उपलब्ध हुई हैं जिनमें व्रजभाषा खडी बोली मिश्रित अवधी-गद्य है। फणीन्द्र मिश्र द्वारा लिखित "पचायत का न्याय-पत्र" में अवधी मिश्रित भोजपुरी का रूप है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिकाल मे गद्य का यथेष्ट विकास न हो सका। इसके अनेक कारण हैं—तत्कालीन जीवन अधिक जटिल और समस्यामय नहीं था, प्रेस और कागज का अभाव, पद्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति गहरी निष्ठा, स्वामिन 'सुखाय' लिखने वाले राजाश्रित कवि के लिए राज-दरबारी परिवेश में पद्य का अधिकाधिक उपयोगी होना आदि। यद्यपि उक्त काल में गद्य लेखन की अनेक शैलियाँ विद्यमान थी किन्तु गद्य की किसी विशेष शैली या पद्धति का सर्वस्वीकृत विकास न हो सका। उत्तर रीतिकाल मे खडी बोली के प्रचार व प्रसार के कारण व्रजभाषा गद्य की उपेक्षा होने लगी और वह खेल कृष्ण भक्तों तक ही सीमित रह गया। खडी बोली के उत्तरोत्तर प्राधान्य के कारण व्रज, स्थानी, अवधी तथा भोजपुरी का गद्य उससे बहुत प्रभावित हुआ। इस काल के गद्य की सबसे बडी उपलब्धि यह है कि इसमें आधुनिक हिन्दी गद्य के विविध रूपों का बीज वपन और प्रस्फुटन हुआ।

आधुनिक काल

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ सं० १६०० से माना है, पर स्मरण रखना होगा कि उक्त सवत् (१८४३) ऐकान्तिक-रूप से इस काल के साहित्य निर्माण का प्रारम्भिक वर्ष हो, ऐसी बात नहीं। आधुनिक काल के साहित्य की प्रवृत्तियों का बीजवपन इससे भी ४०-५० वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था और उसका पल्लवन लगभग स० १६२५ भारतेन्दु के समय से हुआ। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स० १८५० से १६२५ तक का समय आधुनिक हिन्दी साहित्य का सक्रान्ति या सधिकाल है। यह ७५ वर्ष की अवधि भारतेन्दु युग के आरम्भ से पूर्व की है, जिसका एक छोर फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना से सम्बद्ध है और दूसरा छोर भारतेन्दु युगारम्भ से।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के आधुनिक काल के इतिहास को तीन भागों में बाँटा है :— (१) प्रथम उत्थान (स० १६२५-५०), (२) द्वितीय उत्थान स० (१६५०-७५), (३) तृतीय उत्थान (स० १६७५ से)। आलोचकों ने इस कालक्रम को (१) भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, (३) छायावादी युग में विभाजित किया है, यद्यपि यह वर्गीकरण युग के व्यक्ति-विशेष के प्रति आग्रह रखता है और छायावाद केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य के इतिहास से सम्बन्धित है, इस नामकरण में गद्य साहित्य और प्रवृत्तियाँ उपेक्षित रह जाती हैं। कुछेक विद्वानों ने इस कालक्रम को पूर्व-छायावाद युग, छायावाद-युग और उत्तर छायावाद-युग के नामों से अभिहित किया है। अस्तु, वैसे तो काल अखड और अनन्त है, किन्तु यहाँ हम साहित्यिक गतिविधियों के ज्ञान की सुविधा के अनुसार आधुनिक हिन्दी साहित्य को निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं - (१) प्रथम चरण भारतेन्दु युग, (२) द्वितीय चरण : द्विवेदी युग, (३) तृतीय चरण . प्रसाद युग अथवा नवयौवन काल तथा प्रसादोत्तर काल। आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत काल में गद्य की प्रधानता को लक्ष्य रखकर इसे समूचे रूप से गद्य-काल के नाम से भी अभिहित किया है।

अध्ययन की सुविधा के लिए आधुनिक काल की साहित्य-सामग्री को काल खडों की अपेक्षा उसे साहित्य रूपों और काव्य परम्पराओं में विभक्त करना अधिक अच्छा है। उदाहरणार्थ आधुनिक काल के साहित्य को निम्नलिखित काव्य परम्पराओं में विभक्त किया जा सकता है .—

(१) स्वच्छन्दतावादी-काव्य परम्परा (छायावादी),
(२) समाजपरक यथार्थवादी काव्य परम्परा (प्रगतिवादी),
(३) व्यक्तिपरक यथार्थवादी काव्य परम्परा (प्रयोगवादी) आदि-आदि।

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल अपने पूर्ववर्ती कालों से कई बातों में भिन्न है। हिन्दी साहित्य के प्राचीन कालों में विशेष रूप से काव्य साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य-सम्बन्धी अनेक शैलियों का विकास हुआ, किन्तु इस युग की विशेषता गद्य-साहित्य का अभूतपूर्व विकास है। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना और उपयोगी साहित्य, इन सभी रूपों का उद्भव और विकास इसी युग में हुआ।

भक्ति-काल का साहित्य जनता का साहित्य है और रीतिकाल का साहित्य दरबारों का साहित्य है। आदिकाल और रीतिकाल का अधिकतर साहित्य राजकीय मनोवृत्ति तथा आश्रयदाता की तुष्टि को लक्ष्य रखकर लिखा गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नये वर्ग की वाणी को मुखरित करता है, जो कि नवीन शासन-प्रणाली तथा नूतन अर्थ-व्यवस्था के परिणामस्वरूप पीड़ित और शोषित था—वह था मध्यवर्ग। पूर्ववर्ती कालों के साहित्यकारों ने सामयिक समस्याओं और प्रश्नों के प्रति उपेक्षा भाव रखकर स्थायी और शाश्वत को साहित्य में स्थान दिया, परन्तु आधुनिक काल का साहित्य विशेष रूप से गद्य साहित्य जीवन के यथार्थ चित्रण का विषय बना। इस प्रकार साहित्य में जीवन का अधिक व्यापक चित्रण होने से वह हमारे जीवन के अधिक निकट आ सका। इसका श्रेय तत्कालीन परिस्थितियों और विविध सम्पर्कों को दिया जा सकता है।

परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति—इस युग के साहित्य की राजनीतिक पृष्ठ-भूमि में, ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के राज्य की स्थापना, प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम, भारत में विक्टोरिया शासन की प्रतिष्ठा, इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना, बंग-भंग, मार्ले-मिन्टो सुधार द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली, संसार का प्रथम महायुद्ध, जापान द्वारा रूस की पराजय, रौलेट् एक्ट, जलियाँवाला बाग-हत्याकाण्ड, खिलाफत आन्दोलन, गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य पार्टी की स्थापना, जिन्ना का कांग्रेस से पृथक् होना तथा मुस्लिम लीग में सम्मिलित होना, कांग्रेस और सरकार के बीच अनेक परिषदों और कमीशनों और पैक्टों द्वारा की गई सन्धियाँ, १९३६-३७ में निर्वाचन तथा काँग्रेस और अन्य पार्टियों के मन्त्रिमण्डलों की स्थापना, द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ, १९३९ में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र, १९४० में पाकिस्तान की माँग, क्रिप्स महोदय का भारत आगमन, १९४२ में 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन, इंगलैंड में मजदूर दल का विजयी होना, १९४६ में अन्तरिम सरकार की स्थापना, मुस्लिम लीग की घृणोत्पादक नीति के फलस्वरूप कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और पंजाब में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे, सन् १९४७, १५ अगस्त को भारत का स्वतन्त्र होना और अनेक देशी समस्याएं आती हैं।

१७५७ में अंग्रेजों ने बंगाल जीत लिया और १८५७ में दिल्ली। इस बीच

उनका राज्य क्रमश भारत में फैलता गया। विजित प्रदेशों पर उन्होंने अपने ढग की शासन व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था को लागू किया। राज-काज मे सहयोग प्राप्ति के लिए भारत से सस्ते क्लर्क प्राप्ति के निमित्त उन्होंने स्कूल और कालेज भी खोले। छापेखाने खुले तथा रेल-तार आदि का भी आविष्कार किया। यह सब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा भारत में किया गया। लार्ड डलहौजी की लैप्स की नीति इस काल की प्रमुख घटना है। इस नीति के द्वारा कई देशी रियासतो— सतारा, झाँसी, नागपुर, जैतपुर (म० प्र०) को अग्रेजी राज्य मे मिला लिया गया। फलत छोटे छोटे रजवाडो के समाप्त हो जाने से रीतिकालीन शृ गारपारक साहित्य का निर्माण भी प्राय बन्द हो गया।

१८५७ का प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध इस काल की एक अन्य प्रमुखतम घटना है। कम्पनी की राज्य-स्थापना के समय न जाने भारतीयो को क्या-क्या अनुभव हुआ। पर अब उनके मन मे यह बात स्पष्ट होती जा रही थी कि हमारे ही सिपाहियों और सेना के बल पर य लोग हमारे देश पर शासन कर रहे हैं। नाना साहब (बिठूर) और उसके मत्री अजीमुल्ला ने भारत के अनेक राज्यो मे स्वाधीनता की विचारधारा प्रचारित की। अजीमुल्ला अग्रेजी, फ्रेंच आदि कई भाषाओं का ज्ञाता था। लन्दन से लौटते समय वह क्रीमिया में अग्रेजों के रूसियो के साथ होते हुए युद्ध को भी देख आया था। अग्रेजों को क्रीमिया में उलझा हुआ देखकर तथा कुछ अन्य कारणो से ६ मई, १८५७ में सारे भारत मे अग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह की आग भडक उठी। यही स्वतन्त्रता की तरग लगभग एक साल तक चलती रही। अग्रेजी सेना के दमन और भारतीय राजा महाराजाओ के विश्वासघात से स्वाधीनता का प्रथम सग्राम असफल हुआ, जिसमें नाना साहब, बांदा का नवाब, अहमदशाह, तात्या टोपे और झाँसी की रानी आदि वीर सेनानी काम आये। भारतेन्दु कालीन साहित्य इस सम्बन्ध में बिल्कुल मौन है, यह एक बडे आश्चर्य की बात है।

इसके पश्चात् भारत में विक्टोरिया का शासन काल आया। इसमे अनेक प्रकार की सान्त्वनामयी घोषणाएँ हुईं—धर्म में हस्तक्षेप न करने की नीति आदि। वस्तुत अग्रेजी शासन की दृढता का यही काल है। अग्रेजी सभ्यता, भाषा और साहित्य की उच्चता का प्रचार करने के लिए लार्ड मैकाले ने अग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन करवाया। इस प्रकार भारतीय शिक्षित समाज अग्रेजी सभ्यता के रग में बुरी तरह से रगा जाने लगा। यह सब कुछ परोक्ष कूटनीति का परिणाम था जिसकी प्रतिध्वनि हम भारतेन्दु-कालीन साहित्य में सुन सकते हैं —

अग्रेज राज सुख साज, सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥

अथवा

सर्वस लिए जात अग्रेज, हम केवल लेक्चर के तेज।

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। जिसका उद्देश्य भारतीय प्रशासकीय

कार्यों में सहयोग देना था। परन्तु बाल गंगाधर तिलक के प्रवेश के साथ यह स्वाधीनता-संस्था के रूप में बदल गई। १६०५ में बंग-भंग के कानून से भारतीय स्वाधीनता की भावना और भी तीव्र हुई और भीतर ही भीतर अंग्रेजी राज्य को उलटने के लिए क्रांतिकारी संस्थाओं का निर्माण एवं विकास होने लगा। इन संस्थाओं में सक्रिय भाग लेने वालों में से उल्लेखनीय नाम हैं – तिलक, हरदयाल, अरविंद घोष, रास बिहारी बोस, शचीन्द्रनाथ, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, सुखदेव और राजगुरु। १६१४ में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ा और और १६१६ में समाप्त हुआ। इस युद्ध में भारतीयों के सक्रिय सहयोग को प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों ने भारत के नेता वर्ग को नाना सब्ज बाग दिखाए। १६१६ में रौलट एक्ट पास करके अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों की रही-सही आशाओं पर पानी फेर दिया। जलियाँवाला बाग का निर्मम हत्याकांड लगभग इसी समय की दुःखावह घटना है। खिलाफत आन्दोलन भी लगभग इसी समय चलाया गया था।

सन् १६२० में कांग्रेस की बागडोर गाँधी जी ने संभाली। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को सम्मिलित करके असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। इसमें विदेशी वस्त्रों, सरकारी नौकरी, कौंसिलों, न्यायालयों, स्कूलों, कालेजों और उपाधियों का बहिष्कार कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार के दमन-चक्र के फलस्वरूप बड़े-बड़े नेताओं—मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, आजाद आदि को बड़े घर भेज दिया गया। कांग्रेस के कुछेक ऐसे सदस्य थे जिनका असहयोग की नीति पर विश्वास नहीं था और वे कौंसिलों तथा धारा सभाओं में भाग लेने के पक्षपाती थे। इन्होंने 'स्वराज्य पार्टी' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रवर्त्तकों में चितरंजन-दास तथा मोतीलाल नेहरू के नाम उल्लेखनीय हैं। इधर कांग्रेस की नीति मुसलमानों को प्रसन्न करने की हो गई थी। परिणामतः मदनमोहन मालवीय तथा लाजपत राय आदि कुछेक नेताओं ने हिन्दू महासभा का साथ दिया। इसी समय मुहम्मद अली जिन्ना कांग्रेस को छोड़कर मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गये। १६२०-३० तक अंग्रेजों की कूटनीति का दमन-चक्र भी खूब चला। हिन्दू मुसलमानों में साम्प्रदायिकता हिन्दी-उर्दू-सम्बन्धी भाषा समस्या और मुस्लिम लीग की स्थापना आदि उनकी दुर्नीति का कुफल है। १६३० में एक भयंकर साम्प्रदायिक दंगा हुआ जिसमें गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे साधक को प्राण न्यौछावर करने पड़े। अंग्रेजों द्वारा डाली गई बाधाओं का यह परिणाम है कि अन्त में भारत को जो स्वतन्त्रता मिली वह भी विभक्त रूप में। १६३१-३५ तक का समय कमीशनों, पैक्टों और सन्धियों का समय है। १६३७ में निर्वाचन हुए, उनमें भारत के अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने, किन्तु १६३६ में उन्हें त्याग-पत्र देने पड़े, क्योंकि अंग्रेज सरकार ने भारतीयों की सम्मति के बिना भारत के द्वितीय महायुद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी थी। १६४० में पाकिस्तान की माँग की गई। युद्ध में भारतीयों ने सक्रिय सहयोग को प्राप्त करने के लिए १६४२ में क्रिप्स महोदय भारतीय

सघ-निर्माण की एक योजना लेकर भारत आए, जिसके प्रति तोष की अपेक्षा रोष अधिक हुआ। १९४२ में *कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" का प्रस्ताव पास किया जिस* के फलस्वरूप असख्य गिरफ्तारियाँ हुई और प्राय कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओ को जेल में बन्द कर दिया गया। १९४५ में ब्रिटेन में उदार दल की सरकार बनी जिसे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ काफी सहानुभूति थी। परिणामत १९४६ में भारत मे अन्तरिम सरकार बनी। इसी समय मुस्लिम लीग की घृणोत्पादक और अनुदार नीति के फलस्वरूप कलकत्ता, नोआखली, बिहार और पजाब में भयकर साम्प्रदायिक दगे हुए। १५ अगस्त १९४७ को भारत में स्वतन्त्रता का स्वर्ण विहान आया। तत्पश्चात् नव चेतना नव निर्माण में परिणत हो गई। आज के स्वतन्त्र भारत राष्ट्र की राजनीतिक चेतना राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के रूप मे विकसित हो रही है। भारत का पचशील का सन्देश युद्धो की विभीषिका से त्रस्त मानव जाति के लिए एक अमर देन है। हिन्दी साहित्य ने इस नव जागरण और नव राष्ट्रीय-चेतना का केवल अनुसरण ही नहीं किया, वरन् उसे प्रेरित भी किया और उसका मार्ग भी प्रशस्त किया।

धार्मिक एव सामाजिक परिस्थिति—इस काल के राजनीतिक आन्दोलन को चारित्रिक दृढ़ता और अगाध विश्वास की भावना की प्राप्ति तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों तथा सामजिक क्रांति के द्वारा हुई। इन समस्त आन्दोलनो का उद्देश्य था समाज सुधार एव भारतीय स्वाधीनता। इन उक्त उद्देश्यों की पूर्ति प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से होती ही रही। इन आन्दोलनो मे प्रमुख हैं ब्रह्म समाज, आर्य समाज, महाराष्ट्र समाज, थियोसोफी, सनातन धर्म, स्वामी रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द और श्री अरविन्द के वेदान्त दर्शन तथा गांधी जी का मानवतावाद।

ब्रह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उनका उद्देश्य था समाज की कमियों, सकीर्णताओ और रूढ़ियों को समाप्त करना, किन्तु कुछ समय के पश्चात् वे स्वय ईसाई रग में इतने रग गये कि भारतीय सस्कृति को हीन दृष्टि से देखने लगे और अपने पथ से विचलित हो गये। महाराष्ट्र देश में महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में अनेक सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई, जिनका उद्देश्य सामाजिक सुधार एवं भारतीय सस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना था। स्वामी दयानन्द के ईसाई धर्म और प्रचार की प्रतिक्रिया में आर्य समाज की स्थापना की। उनका व्यक्तित्व सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो में उतना ही क्रांतिकारी था जितना कि राजनीतिक क्षेत्र में तिलक का। कांग्रेस के राजनीतिक आन्दोलनों की सफलता का बहुत कुछ श्रेय स्वामी जी द्वारा तैयार किये त्यागी एव कर्मठ नरपुंगवों को है। स्वामी जी के दो कार्य अत्यन्त महात्त्वपूर्ण हैं, राष्ट्रीयता का सचार और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार। "प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान, वेदों के प्रति श्रद्धा-जागरण, शिक्षा सस्थाओं के निर्माण द्वारा शिक्षा का प्रचार, नारी जाति के प्रति समादर की भावना, निम्न जातियों के प्रति अस्पृश्यता की भावना का निवारण, पुरातन रूढ़ियों का परित्याग।

इन सब कार्यों के लिए भारतीय जनता इस समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द की सदा ऋणी रहेगी।" थियोसाफिकल सोसायटी के द्वारा ऐनेबीसेन्ट जैसी पूज्या विदेशी नारी, जो अपने आपको पूर्वजन्म की हिन्दू तथा हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ भी मानती थीं, ने देश की राष्ट्रीयता को जागृत किया। इसने विज्ञान की प्रति बौद्धिकता का विरोध करके भारतीय आध्यात्मिकता का उत्थान किया। इस सम्बन्ध में परमहंस रामकृष्ण तथा उनके शिष्य विवेकानन्द का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने एक ओर राष्ट्रीयता का प्रचार किया तथा दूसरी ओर धर्म के सच्चे स्वरूप को व्यावहारिक रूप में उपन्यस्त किया। इनके गहन चिन्तन तथा आध्यात्मिकता की हिन्दी-साहित्य पर गहरी छाप है। विश्वकवि रवीन्द्र का आस्तिकतापूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण तथा रहस्यवाद, परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द एवं ऐनेबीसेंट से प्रभावित है, उन्हें ईसाइयों की देन कहना भ्रम है। इन सभी विचारधाराओं का हिन्दी के छायावादी काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। परमपि अरविंद पहले क्रांतिकारी राजनीति के नेता और बाद में तत्वद्रष्टा परम योगी थे। वे कवि भी थे। इनकी रचनाओं में आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति है। इनके योग में कर्म, उपासना और ज्ञान का समन्वय है। इनके प्रति मानववाद में पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की भावना है। अरविन्द-दर्शन का हिन्दी-काव्य पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। गांधी जी का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। उनका जीवन-दर्शन गीता का अनासक्तियोग है। सत्य और अहिंसा उनके अमोघ शस्त्र हैं जिनके द्वारा उन्होंने भारत-स्वतन्त्रता के स्वप्न को सत्य में परिणित कर दिखाया। गांधी जी ने भारतीय जनता में आत्मबल, नैतिकता, दृढ़ता, उदारता और चारित्रिक गुणों का विकास किया। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के द्वितीय चरण में गाँधीवाद विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। भारतेन्दु राष्ट्रीयतावादी हैं। गुप्त गाँधीवादी, प्रसाद आनन्दवादी तथा पंत क्रमशः गाँधीवादी, साम्यवादी और अरविन्द-वादी हैं।

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना से जहाँ एक ओर राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र में दयनीय शोषण हुआ, वहाँ दूसरी ओर आंग्ल भारत सम्पर्क तथा ईसाई मत प्रसार की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधार में एक नव-चेतना भी आई। इन धार्मिक आन्दोलनों तथा सामाजिक क्रांतियों के द्वारा बाल-विवाह, मिथ्या रूढ़ियों, जाति-भेद, धार्मिक मतभेद, समुद्र यात्रा निषेध, दहेज-प्रथा, पूँजीवाद, जमींदारी प्रथा और अन्ध विश्वासों का घोर विरोध किया गया। विधवा-विवाह का समर्थन किया गया और अछूतोद्धार पर बल दिया गया। शोषित एवं पीड़ित समाज तथा नारी के प्रति संवेदना प्रकट की गई। मानवतावाद तथा आध्या-त्मिकता का प्रचार हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् सबको विकास के लिए समान अवसर मिला।

आर्थिक परिस्थिति—सन् ५७ के पश्चात् अंग्रेजों की शासन-सत्ता भारत में अच्छी प्रकार जम गई, जिसके फलस्वरूप मध्यकालीन सामन्ती व्यवस्था और

संस्कृति का लोप होने लगा। उस समय सामन्ती युग का अन्त और आधुनिक युग का आरम्भ इतिहास की आवश्यकता थी। यदि अंग्रेजों का आगमन न भी हुआ होता तो भी यह आर्थिक और सांस्कृतिक क्रांति हमारे देश में अवश्य होती। कुछ विद्वानों का विचार है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रांति में विलम्ब ही हुआ। हमारे देश में व्यवसाय और उद्योग धन्धे काफी फैले हुए थे, किन्तु अंग्रेजों ने उन्हें नष्ट करके हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति मे महान् व्याघात उपस्थित कर दिया। अंग्रेजों का उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना था। इसकी पूर्ति के लिए एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग धन्धों का समूल नाश किया और दूसरी ओर विदेशी पूँजी से भारत मे नए उद्योग-धन्धे स्थापित किए। रेल, तार, डाक आदि की व्यवस्था उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता की सुविधा की दृष्टि से की। शिक्षा का प्रचार भी कदाचित् विशाल साम्राज्य के चलाने के लिए सस्ते क्लर्कों के उत्पादन के निमित्त था। उनकी स्वार्थ सिद्धि का यह चक्र उल्ट कर उनका ही मर्मच्छेदी बना। महगाई, अकाल, टैक्स और दरिद्रता भारतेन्दु युग की प्रमुख आर्थिक समस्याएँ हैं, जिनकी प्रतिध्वनि तत्कालीन साहित्य मे स्पष्ट है। यही कारण है कि कांग्रेस ने राजनीतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की भी प्रबल माँग की। १८५७ की क्रांति के उपरांत अंग्रेजों ने अपने आततायियों को तो घसियारा बना दिया और अपने समर्थकों को बड़ी-बड़ी जागीरें प्रदान कर जमींदारी प्रथा को प्रोत्साहन किया। कृषक-वर्ग पर मालगुजारी का बोझा लादकर तथा जमींदारों के अत्याचारों को प्रश्रय देकर अंग्रेजों ने किसानो को अत्यधिक दीनहीन बना दिया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कांग्रेस ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के द्वारा अंग्रेजों की औद्योगिक नीति तथा आर्थिक शोषण का विरोध किया। मुंशी प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन साहित्य में इसकी स्पष्ट छाया है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत को विश्वव्यापी महगाई और बेरोजगारी का शिकार होना पड़ा। पूँजीवाद का बोलबाला हो जाने के कारण श्रमिक और कृषक वर्ग शोषण की चक्की के दो निर्मम पाटों मे बुरी तरह पिसे। अंग्रेजों की आर्थिक नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। उन्होंने अपने साम्राज्यवादी हितों की सिद्धि के लिए भारत की औद्योगिक उन्नति की, किन्तु उससे शोषण बढ़ा कम नहीं हुआ।

स्वतन्त्रता के बाद देश की आर्थिक दशा में यथेष्ट सुधार हुआ। पचवर्षीय योजनाओं तथा अन्य व्यवसायों और उद्योग-धन्धों के प्रचार से एव प्रसार के द्वारा राष्ट्र की आर्थिक स्थिति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ रहा है।

साहित्यिक परिस्थिति—आधुनिक काल का साहित्यिक विषय और शैली दोनों क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण जहाँ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक चेतना है, वहाँ इस दिशा में बाह्य सम्पर्क तथा विविध साहित्यों के प्रभावों ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। रीतिकाल का अधिकतर साहित्य राजमहलों में पल रहा था जो कि अब सहर्ष झोंपड़ियों में

आकर जनता के सुख-दुःख की बात कहने लगा। रीतिकालीन साहित्य नारी के कुच-कटाक्ष के सीमित कटघरे में बन्द था जबकि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट उदारता, व्यापकता और विविधता आई, जिसके फलस्वरूप उसने विशाल जन-समूह को खुली आँख से देखा। संक्षेप में रीतिकालीन साहित्य में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ थीं—ऐन्द्रियता एवं रसिकता प्रधान शृंगारिकता, जिसमें जीवन के सन्तुलित दृष्टिकोण का अभाव है, अलंकरण-प्रवृत्ति के प्रति अनावश्यक मोह, रीति निरूपण, प्रकृति का परम्परा-मुक्त चित्रण, विशिष्ट अभिव्यंजना प्रणाली, सामन्ती वातावरण में पुष्ट होने के कारण जीवन के प्रति अत्यन्त सीमित और संकुचित दृष्टिकोण, यान्त्रिक, रूढ़िबद्ध तथा अवैयक्तिक जीवन दर्शन, वीर रस, भक्ति और नीति-सम्बन्धी कविता, मुक्तक शैली की प्रधानता तथा काव्य के विविध रूपों का अभाव और ब्रजभाषा का प्रयोग। संक्षेप में रीति साहित्य की भाषा, भाव और शैली सभी कुछ रूढ़िग्रस्त थीं जो कि बदले हुए आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थीं। अतः आधुनिक हिन्दी साहित्य में इन सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हुई। भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है, जिसमें काफी सीमा तक संधि-साहित्य का निर्माण हुआ। भारतेन्दु-युग का साहित्य हिन्दी के विकास-क्रम को स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाता है, किन्तु पुरानी परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए ही। द्विवेदी-युग के साहित्य में विषयगत और कलागत आमूलचूल परिवर्तन हुआ। छायावादी युग के साहित्य को अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्पराओं के प्रतिक्रियात्मक एक चिर-स्मरणीय महान् आन्दोलन समझना चाहिए। प्रगतिवादी साहित्य में विश्व-मानवता का स्वर मुखरित है। इस साहित्य की विषय और कलागत अपनी मान्यताएँ हैं।

आधुनिक साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है गद्य का आविष्कार तथा खड़ी बोली का साहित्य के गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्ति का समस्त माध्यम स्वीकृत होना। इसके साथ-साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में विभिन्न काव्य-रूपों का भी प्रचलन हुआ कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवन-चरित, आलोचना, एकांकी और रिपोर्ताज आदि। साहित्य की इन बहुत-सी विधाओं का रूपविधान पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण पर हुआ है। वर्ण्य सामग्री की दृष्टि से न सही पर विभिन्न काव्यरूपों के लिए जिस प्रकार हिन्दी साहित्य बंगला, गुजराती और मराठी भाषाओं के साहित्य का ऋणी है उसी प्रकार अंग्रेजी साहित्य का भी। अब हम संक्षेप में आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ उस समय हुआ जबकि रीति कविता-कानन उजड़ चुका था और रीतिकाल के कवि का कोकिल कंठ नीरस, कुछ-कुछ सूना और अवरुद्ध-सा हो गया था। यह सब कुछ बदलते हुए युग का परिणाम था। सन् १८५० से आधुनिक युग का आरम्भ होता है जबकि अंग्रेजी शासन पूरी तरह प्रति-

स्थिर हो जाता है। इस नवीन विदेशी शासन के सम्पर्क से भारत में एक नवीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव साहित्यिक चेतना का स्वस्थ आविर्भाव होता है। पूर्व पश्चिम के सास्कृतिक सम्पर्क से जो नई चेतना उदबुद्ध हो रही थी और उसत जिस विचार स्वातन्त्र्य का जन्म हो रहा था, उसके प्रभाव में हमारे साहित्य ने रूढि के बन्धनों को तोड विकास की एक नई दिशा में प्रवेश किया। परिणामत हमारे साहित्य में विचार और भाव, शैली या शिल्प विधान और काव्य रूप सभी क्षेत्रों मे अनिवार्य रूप से परिवर्तन आया। नव जागरण के युग में समाज की बदलती हुई मनोवृत्तियो के साथ आधुनिक जनवादी साहित्य मे नवीन प्रवृत्तियों का समावेश हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग मे ये प्रवृत्तियाँ थोडे बहुत अन्तर से पल्लवित, पुष्पित एव विकसित होती रही। नीचे हम इन प्रवृत्तियों का क्रमश अध्ययन करेंगे।

प्रथम चरण भारतेन्दु युग—इस युग का साहित्य बहुत हद तक आधुनिक काल का सधि साहित्य है। इसमे प्राचीन तथा नवीन साहित्य परम्पराओं का सरक्षण हुआ है, हालाकि इस युग के साहित्य का उद्देश्य प्राचीन की रक्षा करते हुए भी आगे बढ़ना है।

कविता क्षेत्र मे इस युग के कवि को जहाँ नवीन का मोह है, वहाँ उसमे प्राचीन का आग्रह भी है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियो के प्रकृति चित्र, शृ गार तथा लीला-वर्णन भी बडी अनुभूति और विदग्धता से किए गए हैं और साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक विषयो का समावेश भी उन्होने पहली बार उस युग के साहित्य में किया। भारतेन्दु-युग का कवि जहाँ एक ओर प्राचीनता का प्रेमी है वहाँ दूसरी ओर अर्वाचीनता का सूत्रधार भी। वह तत्कालीन समस्याओं के प्रति जागरूक था। उसके काव्य में राजभक्ति के साथ देश भक्ति है। उसने विक्टोरिया की जमकर प्रशस्तियाँ लिखीं और 'अग्रेज राज, सुख साज" कहकर अपनी राज भक्ति का परिचय दिया वहाँ अंग्रेजी शोषण के प्रति उसकी उग्र वाणी का स्वर भी फूटा "पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।" आधुनिक युग का आलोचक भारतेन्दु-युग के कवि की राजभक्ति को देखकर कभी-कभी उसकी राष्ट्रीयता के प्रति सशयालु हो उठता है किन्तु उस समय के साहित्यकार का हम सही मूल्याकन तब तक न कर सकेंगे जब तक कि तत्कालीन राजनीति का स्वरूप न समझ लें। वस्तुत देशभक्ति और राजभक्ति उस समय की राजनीति का अभिन्न अग थीं। हाँ, ८० आश्चर्य अवश्य है कि उस समय के साहित्यकार की वाणी सन् १८५७ की विशाल जन क्राति के सम्बन्ध में नितान्त मूक है। अस्तु भारतेन्दु जी का जन्म १८५७ की स्वतन्त्रता-क्राति से सात वर्ष पूर्व और निधन काग्रेस की स्थापना से एक वर्ष पूर्व हुआ। अत भारतेन्दु की प्रारम्भिक कविताओ मे स्पष्ट रूप से राजभक्ति के दर्शन होते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यो उनकी बुद्धि परिपक्व होती गई त्यो त्यो उनकी वाणी पर देशभक्ति का रग गाढा होता गया, क्योंकि अब वे अगरेजो की शोषण-नीति को भली भाँति जान

भारतेन्दु युगीन कविता के अध्ययन के अनन्तर कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है—' भारतेन्दु और उसके समकालीन लेखक हिन्दी और हिन्दू जाति के उद्धार के लिए आन्दोलन करने वाले देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, काव्य और साहित्यकार कम ।'' यह कहा जा सकता है कि वह युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल था, अत उस साहित्य मे परिपक्वता एव अनुभूति-गहनता की अधिक आशा नहीं करनी चाहिए, किन्तु उसी युग में गालिब, दाग, हाली, अकबर इलाहाबादी एव रवीन्द्रनाथ की काव्य कला, विकासोन्मुखी हुई और फिर इस काल के लेखको ने जिस ब्रज-भाषा को अपनी काव्यमयी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया वह कई *शताब्दियों से बड़ी सफलतापूर्वक काव्य में व्यवहृत होती आ रही थी ।*

खड़ी बोली गद्य का विकास इस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है । भारतेन्दु ने न तो राजा लक्ष्मणसिंह की सस्कृतनिष्ठ पद्धति को अपनाया और न ही राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की [illegible]मयी गद्य-शैली को व्यवहृत किया, बल्कि इस दिशा में मध्यमार्ग का अवलम्बन करके अपनी अद्भुत सामजस्यात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया । भारतेन्दु युग में अनेक नवीन गद्य रूपो का विकास हुआ जिनका माध्यम खड़ी बोली थी । ये नये रूप हैं—पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना और निबन्ध आदि । इन रूपों का प्रसार एव विकास इस युग में हिन्दी में पहली बार हुआ ।

इस काल में अनेक पत्र पत्रिकाओं का खूब प्रचलन हुआ । प्राय भारतेन्दु युग का प्रत्येक लेखक किसी न-किसी पत्र का सम्पादन कर रहा था । भारतेन्दु जी स्वय दो पत्रों—"कवि-वचन-सुधा" तथा "हरिश्चन्द्र मैगनीज" का सम्पादन करते रहे। भारतेन्दु युग के लेखक प्रधानत प्रचारक, सुधारक और पत्रकार थे, अत पत्रकारिता द्वारा गद्यनिर्माण मे काफी गति आई ।

शुक्ल जी ने श्रीनिवास दास के "परीक्षा गुरु" को हिन्दी का प्रथम उपन्यास स्वीकार किया है । सुना जाता है कि भारतेन्दु जी ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया था और साथ-साथ खेद प्रकट किया कि जैसे मौलिक नाटक हिन्दी में लिखे जा रहे थे वैसे उपन्यास नहीं । गोस्वामी किशोरीलाल के उपन्यासों मे पुष्ट चरित्र-चित्रण नहीं मिलता । इस युग के उपन्यास कला की दृष्टि से इतने उच्च नहीं बन पड़े। अस्तु, हिन्दी-साहित्य के इस नूतन अग का सजन और विकास इस काल में हुआ, यह तो निश्चित है ।

भारतेन्दु काल से पूर्व हिन्दी में कई नाटक लिखे जा चुके थे, किन्तु उन्हें पद्यात्मक वर्णन-मात्र कहा जा सकता है। ये नाटक आधुनिक नाटक की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते । हिन्दी का पहला नाटक गिरधर दास कृत 'नहुष' है, जो कि खडित रूप में मिलता है। भारतेन्दु का हिन्दी-नाटक-साहित्य-क्षेत्र एव रगमच पर

अवतीर्ण होना एक चिरस्मरणीय घटना है। उनके अनेक नाटक हैं, जिनमें से कई मौलिक, कई अनुदित और कई रूपान्तरित हैं। भारतेन्दु ने काशी में नाटक मंडली की स्थापना की और स्वयं भी अभिनय में भाग लिया करते थे। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ नाटकीय गुणों का सुन्दर समन्वय है। भारतेन्दु से प्रेरणा लेकर उनकी पीढ़ी के अनेक लेखकों ने अनेक रमणीय नाटकों का निर्माण किया। इन नाटकों में देश प्रेम, समाज-सुधार तथा धर्म-सुधार की भावनाएँ अधिक हैं। इनमें उपदेशात्मक तत्त्व अधिक हैं कलात्मक कम।

आधुनिक आलोचना की शैली श्रीनिवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" से शुरू होती है। लेखकों, पुस्तकों और साहित्य के रूपों की विवेचना इस युग में होने लगी थी। भारतेन्दु की "नाटक" रचना इसी प्रकार की आलोचना के अन्तर्गत आती है। अस्तु इस युग की आलोचना का स्वरूप अत्यन्त साधारण है। इसका परिष्कार और विकास आगे चलकर द्विवेदी युग में हुआ। भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य के अन्य रूपों—निबन्ध, जीवनी आदि का अभूतपूर्व सृजन एवं विकास हुआ। भारतेन्दु युग के साहित्य के गद्य रूपों का अध्ययन करते हुए कहा जा सकता है कि इसमें गोष्ठी साहित्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ और परिसीमाएँ हैं। इस काल के गद्य में अनेक शैलियों का प्रचलन तो हुआ, परन्तु उसमें अपेक्षाकृत परिपक्वता की कमी है। इस काल के गद्य लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है परन्तु व्यक्तित्व अवश्य है। भारतेन्दु-युग के साहित्य से उस समय की तीव्र राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक चेतना का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। यह साहित्य मध्यवर्ग के पढ़े लिखे व्यक्ति के लिये लिखा गया। इस युग के साहित्य में रीतिकाल जैसा शृंगार नहीं। इसमें प्राचीनता के प्रति मोह है, किन्तु नवीनता के प्रति काफी आकुलता है। इस युग में खड़ी बोली गद्य का यथेष्ट प्रसार एवं प्रचार हुआ। गद्य रूपों में नाटक, उपन्यासादि को अपनाया गया। भारतेन्दु-युग का गद्य और काव्य नवीन की आकुलता तो व्यक्त करता है, किन्तु उसके परिष्कार एवं विकास की अभी बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आने वाले युगों ने पूरी की, जब काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, आलोचना आदि सभी रूपों में हिन्दी साहित्य ने अभूतपूर्व उन्नति की और प्रेमचन्द, प्रसाद, पंत, निराला, आचार्य शुक्ल आदि महान् साहित्यकारों को जन्म दिया।" भारतेन्दु युग में जिन साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों का बीजवपन हुआ, आगे चलकर द्विवेदी-काल में वे पल्लवित एवं पुष्पित हुई।

द्वितीय चरण . द्वितीय युग—संवत् १६५० से ७५ तक का समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस युग की समूची साहित्य-चेतना के सूत्रधार प्रस्तुत युग के प्रधान पुरुष महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। वे सुदीर्घ काल तक सरस्वती पत्रिका का सम्पादन करते रहे तथा युग की भाषा और उनके साहित्य के रूपों को सुदृढ़ हाथों से निर्धारित करते रहे। उनकी सरस्वती पत्रिका अपने आप में एक संस्था थी। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली

सम्बन्धी विवाद को सदा के लिए समाप्त करके साहित्य के पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में खडी बोली को प्रतिष्ठित किया। खडी बोली के व्याकरण-समस्त रूप, उसके परिष्कार और सस्कार का समस्त श्रेय द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखक वर्ग को है। इस युग मे हिन्दी साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन तथा विकास हुआ। विशेषत कविता, आलोचना और कथा-साहित्य में इस युग मे प्रौढता आई। इस युग की साहित्यिक अनेकरूपता के सबध में डॉ० कृष्णलाल लिखते हैं—" पच्चीस वर्षों मे ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखडो के स्थान पर महाकाव्य, आख्यान काव्य (Ballads), प्रेमाख्यान काव्य (Metrical Romances), प्रबध काव्य, गीतिकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य मे घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियो की रचना हुई। समालोचना और निबधों की अपूर्व उन्नति हुई।"

द्विवेदी युग की कविता मे भारतेन्दु-कालीन कविता की अपेक्षा राष्ट्रीयता का स्वर और अधिक उभर आया। इस युग की राष्ट्रीयता की सकीर्णता एव साम्प्रदायिकता के सबध म डॉ० शिवदानसिह चौहान लिखते हैं—"आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी मे ही नहीं बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशको तक अर्थात् छायावादी काव्य धारा के फूटने से पहले तक के हिन्दी कवि (महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त) इस सकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाए। जातिगत सम्प्रदायगत और भाषागत स्वार्थों से ऊपर उठकर वे अपनी वाणी में राष्ट्रीय एकता का वह उदात्त स्वर नहीं फूंक पाए जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इकबाल (पाकिस्तान की माँग से पहले के इकबाल) के कठ से निकलकर सारे देश में एक नया स्पन्दन भर दिया था।" अस्तु! गुप्त आदि की प्रारम्भिक रचनाओ के आधार पर इस सम्बन्ध मे उन पर सकीर्णता का आरोप लगाना कदाचित् अतिवादी होना है। इस काल की कविता में रीति-काल के शृगार की घोर प्रतिक्रिया हुई और इतिवृत्तात्मकता ने इनमे एक मात्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। काग्रेस के स्वतन्त्रता-आन्दोलनों की इस युग पर स्पष्ट छाप है। कृषक एव दलित वर्ग के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उस युग के कवि ने उनकी करुण-कथा की मार्मिक अभिव्यजना की है, जो कि एक प्रकार से काग्रेस के सामाजिक आदर्श की पूर्ति का प्रयास है। विज्ञान-युग की बौद्धिकता और सन्देहवाद की भी इस युग की कविता पर स्पष्ट छाप है। इसी के फलस्वरूप इस साहित्य मे प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों का खडन तथा नवीन मूल्यों का अकन हुआ है। गुप्त और हरिऔध के राम कृष्ण समाज-सुधारक मानव के रूप में उपस्थित होते हैं। नारी के उचित समादर और समान अधिकारों की जो उस समय सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में क्राति हुई उसका भी इस युग के साहित्य में मूर्तिमान प्रतिफलन हुआ है। गुप्त के 'साकेत' की उर्मिला ससैन्य आततायी पर टूट पडने के लिए तैयार हो जाती

है। हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' की राधा आदर्श त्यागमयी एवं समाज-सुधार कार्य में सतत् रत है। गुप्त की 'यशोधरा' में उस युग की नारी के अधिकारों की माँग की तड़प है। प्रायः इस युग के साहित्य पर इतिवृत्तात्मक शैली की नीरसता का आरोप लगाया जाता है, किन्तु अयोध्यासिंह उपाध्याय, गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही इसके अपवाद समझने चाहिएँ। इन्होंने युग जीवन की व्यापक समस्याओं का काव्योचित चित्रण किया है। काव्य-क्षेत्र में द्विवेदी-युग के कवि किसी वाद से बंध कर नहीं चले, यद्यपि गाँधीवाद का इनकी विचारधारा पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। द्विवेदी युगीन कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए डॉ० शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं—"उनकी दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी है, इसलिए राष्ट्र जीवन की सम-सामयिक हलचलों में निरन्तर रमती चली आई है अन्तर्मुखी होकर व्यक्ति चेतना की अगम गहराइयों में नहीं उतर पाई। विशेषकर लोक प्रचलित पौराणिक आख्यानों, इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से इन्होंने अपने काव्य की विषय वस्तु को सजाया है, इन आख्यानों, वृत्तों और घटनाओं के चयन में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बढ़ने वाली कविता की बहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी भाषी जनता को आधुनिक युग के व्यक्ति-समाज-सम्बन्धी गहरे तात्त्विक प्रश्नों के प्रति नहीं तो राजनैतिक पराधीनता और राष्ट्रीय संघर्ष की आवश्यकता के प्रति सचेत बनाने में बहुत बड़ा काम किया।"

नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध क्षेत्रों में भी इस युग में लेखकों ने भारतेन्दु-युग की परम्परा का विकास किया। नाटक क्षेत्र में द्विवेदी-काल को भारतेन्दु युग की अपेक्षा किसी भी दशा में उन्नत नहीं कहा जा सकता है। भारतेन्दु के बाद प्रसाद के पहले तक किसी नाट्य परम्परा का निर्माण न हो सका। इस काल के बीच बंगला संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का मात्र अनुवाद ही होता रहा। गोपाल राम गहमरी जासूसी उपन्यास लिख रहे थे और देवकीनन्दन खत्री तिलस्मी उपन्यास। इस काल में किशोरीलाल स्वामी ने अनेक ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे। किन्तु इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि में अभी बहुत उन्नति और प्रौढ़ता की गुंजायश थी। द्विवेदी युग में आलोचना का भी सन्तोषजनक विकास हुआ। द्विवेदी जी एक अच्छे सम्पादक, आलोचक, निबन्ध-लेखक और कवि थे। उन्होंने संस्कृत कवियों पर अच्छी आलोचनाएँ कीं। द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका में कई पुस्तकों की आलोचना किया करते थे। इस युग के आलोचकों में मिश्रबन्धु, प० पद्मसिंह शर्मा तथा कृष्ण बिहारी मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी आलोचना को आधुनिक रूप देने में इन लोगों का काफी हाथ है।

द्विवेदी-युग वस्तुतः गद्य का युग है। उसने कोटियों-कवियों को प्रेरणा दी जो कि हिन्दी का भण्डार है। किन्तु इस युग के महारथी गद्य के रूप के निखारने और

सवारने में लीन थे, द्विवेदी जी ने बगला की कल्पना प्रधान शैली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक पद्धति को अधिक आश्रय दिया और इस युग के लेखक इतिवृत्तात्मकता मे रमे रहे । लगता है उनमें कल्पना और भावना मे ऊँची उड़ाने भरने की क्षमता ही नहीं थी । "भारतेन्दु युग की तुलना में इन लेखको ने अपनी कला का शृगार भी किया, किन्तु फिर भी उनके भावो, अनुभूति और कल्पना मे गहराई और गम्भीरता की कमी थी । यह भी छायावाद ने पूरी की । भाषा का परिमार्जन और परिष्कार अवश्य इस युग मे हुआ । जो रास्ता आधुनिक हिन्दी साहित्य ने भारतेन्दु-युग में पकडा उस पर द्विवेदी युग ने हमे आगे बढाया । साहित्य के विविध रूपो का विकास और प्रस्फुटन इस युग मे हुआ, किन्तु लक्ष्य से हम अभी दूर थे ।" निःसन्देह खडी बोली मे सुस्पष्टता और मधुरता, व्यजना में गम्भीरता और कोमलता आदि गुण आ गए थे किन्तु फिर भी उस भाषा में एक अटपटापन शेष था जिसकी पूर्ति छायावादी काव्य द्वारा हुई । हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दो में "द्विवेदी युग तैयारी का युग था । भारतेन्दु जी ने भूमि गोडी और बीजवपन किया । द्विवेदी युग मे अनेक तरु लताओ से उपवन लहलहाने लगा था, किन्तु तृतीय उत्थान मे शुक्ल जी प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा के समान उच्चतम कोटि के साहित्यकार हिन्दी ने उत्पन्न किए । इन पर किसी भी साहित्य और युग को गर्व हो सकता है । द्विवेदी युग उस अस्त्र को चमका रहा था और पैना कर रहा था जिसका तीसरी पीढी के कलाकारो ने कुशल हाथो से प्रयोग किया । हिन्दी आधुनिक साहित्य-शैली का निर्माण हो चुका था और अनेक उत्कृष्ट कलात्मक प्रयास भी उसके माध्यम से हुए किन्तु पूर्ण विजय तीसरी पीढी के लेखको द्वारा ही मिली ।" अस्तु ! हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के आरम्भ मे जिन शैलियो को जन्म मिला द्विवेदी युग मे उन्हें विकास का पूर्ण अवसर मिला । उस पर अब बगला, मराठी और उर्दू की शैलियो का प्रभाव पडा, किन्तु हिन्दी की जातिगत विशेषताओ के अनुरूप ही । डॉ० कृष्णलाल के शब्दो में 'हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओ के अनुरूप अग्रेजी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यजना, बगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया ।"

तृतीय चरण यौवन काल—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का तृतीय युग साहित्यिक दृष्टि से प्रौढतम काल है । यह युग काव्य मे छायावाद का युग है । उपन्यास में प्रेमचन्द का, नाटक में प्रसाद का, कहानी क्षेत्र में प्रेमचन्द का तथा आलोचना और निबन्ध क्षेत्र में शुक्ल जी का युग है । भारतेन्दु-काल में जिन शैलियों का बीजवपन हुआ, द्विवेदी काल में पल्लवन हुआ । इस युग में उसमें पूर्ण विकास हुआ । भाषा, भाव और *शिल्प विधान की दृष्टि से यह काल प्रौढतम काल है । इस युग में रगभूमि,* प्रेमाश्रम, गोदान, कामना, स्कन्दगुप्त, आँसू कामायनी, पल्लव, युगवाणी, ग्राम्या, परिमल, अनामिका, गीतिका, कुकुरमुत्ता, रश्मि, नीरजा, दीपशिखा, साध्य गीत, आचार्य शुक्ल के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रथ और अनेक नये कलाकारों की महत्वपूर्ण

रचनायें प्रकाश में आईं। ये रचनायें हिन्दी का अमर साहित्य हैं जिस पर हिन्दी-जगत को गर्व और गौरव है। अनुभूति में यह साहित्य भक्तिकालीन साहित्य की समकक्षता में आता है और कलात्मकता में रीतियुग की तुलना में आता है।

कविता क्षेत्र में छायावाद ने "आधुनिक काव्य परम्परा को विकसित और परिमार्जित किया, उनके रूपों को निखारा और संवारा और उनके प्राणों में नई प्रेरणा भरी। छायावादी काव्य में भावों की कोमलता, अनुभूति की गहराई और जीवन के प्रति एक संवेदना है।" छायावादी काव्य में गोचर में अगोचर की खोज पार्थिव में दिव्य का अवतरण, मानवी भावनाओं के प्रति निसर्ग का योगदान और मानवी सीमाओं में असीम का दर्शन—इस दृष्टि से अलौकिक रवीन्द्र काव्य और संगीत की छाया नये हिन्दी काव्य पर अवश्य पड़ी, किन्तु उस छाया के कारण ही छायावाद का नाम छायावाद पड़ा हो, ऐसी बात नहीं। छायावाद काव्य अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिक धारा की एकमात्र अनुकृति हो, ऐसी बात भी नहीं इसमें बहुत कुछ अपना है। यह धारा भारत की धरती पर जन्मी और बड़ी हुई। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य साहित्य के प्रभावों को ग्रहण करती काव्य की यह धारा राष्ट्रीय जागरण की क्रोड़ में पनपी और फली फूली। छायावाद मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है और मेरे विचार में व्यक्तिवाद कोई बुरी वस्तु नहीं। छायावाद के व्यक्तिवाद में समष्टिवाद का भी सामंजस्य है। छायावाद का व्यक्तिवाद आधुनिक प्रयोगवादियों के व्यक्तिवाद के समान कुंठाग्रस्त एवं संकीर्ण नहीं है।

प्रसाद छायावादी काव्य युग के ब्रह्मा हैं, पन्त विष्णु और निराला उसके शिवशंकर। ये ही तीनों महानुभाव छायावाद की वृहत्-त्रयी हैं। इस धारा के अन्य प्रमुख कवि हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, मिलिन्द, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और माखनलाल चतुर्वेदी। इस काव्य में प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद, धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों एवं बाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानववाद, समाज के क्षेत्र में समन्वयवादी, राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता एवं शान्ति की नीति, दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में हृदयवाद, साहित्य के क्षेत्र में व्यापक कलावाद या सौन्दर्यवाद, वेदना और अन्तर्मुखीपन एवं व्यक्तिवाद ये छायावाद की विचारगत प्रवृत्तियां हैं। इस धारा की शैलीगत प्रवृत्तियाँ हैं—मुक्तक गीति शैली, प्रतीकात्मकता, प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर प्रयोग जैसे मानवीकरण, विशेष-विपर्यय और विरोधाभास आदि। व्यक्तिवादी *छायावादी के मैं में विश्व-मानवता का मह सन्निहित है और यह अपने* सामाजिक दायित्व के प्रति सदा जागरूक रहा है। अस्तु! इस काव्य में कहीं-कहीं घोर नैराश्य और पलायन भी है, किन्तु परिसीमाएँ तो सर्वत्र हुआ ही करती हैं। छायावादी गीति-काव्य का युग है। इस युग के महाकाव्य अथवा खंड काव्य उसकी प्रमुख धारा के कुछ निखरे अंग हैं। 'कामायनी' प्रबन्ध काव्य होते हुए भी गीतों की एक लड़ी है।

कामायनी छायावाद का प्रमुख महाकाव्य है, जिसमें इस धारा की सभी विशेषताएँ समाहित हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक के शब्दों में "छायावाद कोमल रेशमी ताने-बाने से बना हुआ काव्य है। यह आधुनिक हिन्दी काव्य को नई कलात्मक मंजिल पार कराता है। सुन्दर शब्दविन्यास, कल्पना विलास तीव्रानुभूति आदि गुणों से यह काव्य सुशोभित है। यह काव्य आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रौढ़ता और उसके सौष्ठव का द्योतक है।"

इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, और आलोचनात्मक साहित्य शास्त्रीय मौलिक, गहन एवं पौरस्त्य तथा पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय है। हिन्दी का आख्यान साहित्य मुंशी प्रेमचन्द जैसे कुशल शिल्पी कलाकार के हाथों में पहुँच कर पूर्ण यौवन को प्राप्त हो जाता है। प्रेमचन्द्र जनजीवन के व्याख्याकार हैं और उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदार है। इनके साहित्य में रोचकता, कलात्मकता और सामाजिक चेतना की त्रिवेणी का सुन्दर संगम है। प्रेमचन्द ने राजनीतिक शोषण, सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक रूढ़ियों पर खुलकर प्रहार किया है। विषय, वस्तु और शिल्प विधान दोनों दृष्टियों से उनका साहित्य अनुपम बन पड़ा है। उनकी प्रारम्भिक रचनायें सेवा-सदन और सप्त सरोज हैं। उनकी अन्य प्रौढ़तम कृतियाँ—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि तथा गोदान हिन्दी साहित्य के विकास में पथचिन्ह बन पड़ी। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रेमचन्द का साहित्य परिमाण में जितना प्रचुर है उदात्तता, साहित्यिक महत्ता और व्यापकता में उतना ही महिमाशाली है, विश्वम्भरनाथ कौशिक और सुदर्शन, प्रेमचन्द्र के पथ के अनुयायी बने। प्रेमचन्द्र के परवर्ती कथाकार जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और यशपाल आदि ने एक नवीन पथ को अपनाया। प्रेमचन्द्र की दृष्टि जहाँ भारत के ग्रामों और उनके किसानों पर केन्द्रित रही, वहाँ परवर्ती कलाकार नगरों की ओर आये और मध्य वर्ग को अपने चित्रण का विषय बनाया। इस क्षेत्र में इन्हें सफलता भी मिली। जैनेन्द्र के परख, सुनीता, कल्याणी और त्याग-पत्र भगवतीचरण की चित्रलेखा, वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़ कुंडार और झाँसी की रानी नामक उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इधर यशपाल, राहुल, रांगेय राघव और भगवतशरण उपाध्याय ने भी ऐतिहासिक उपन्यासों के निर्माण में पर्याप्त योग-दान दिया है।

जयशंकर प्रसाद ने काव्य क्षेत्र के समान नाटक क्षेत्र में भी क्रांति उपस्थित कर दी। भारतेन्दु के उपरान्त प्रसाद के आगमन तक हिन्दी का नाटक क्षेत्र प्रायः सूना ही समझना चाहिए। द्विवेदी-युग के अनूदित नाटकों तथा कम्पनियों के लिए तैयार किये गए नाटकों में किसी प्रकार की साहित्यिकता, कलात्मकता और परिमार्जित रुचि के दर्शन नहीं होते। प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं और उनमें उच्च कोटि की साहित्यिकता है, किन्तु इनकी रंगमंचीयता निर्विवाद नहीं है। प्रसाद के नाटकों में इतिहास का गम्भीर अध्ययन और मनन है, कथा-वस्तु का सफल निर्वाह, सफल

चरित्र-चित्रण और गहन अनुभूति है। प्रसाद ने एकांकी नाटकों का भी सूत्रपात कर दिया था। इस प्रकार प्रसाद से हिन्दी नाटक में एक बड़े अभाव की पूर्ति की। इस काल के अन्य उल्लेखनीय नाटककार हैं रामकुमार वर्मा, प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशप्रसाद माथुर। इनकी कृतियों में नाटक कला का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इन्होंने देश और काल से सम्बद्ध सामाजिक समस्याओं को भी अपने नाटकों का विषय बनाया। आगे चलकर एकांकी परम्परा का भी समुचित विकास हुआ। इन एकांकीकारों में विशेष उल्लेखनीय हैं—भुवनेश्वरप्रसाद, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशप्रसाद माथुर। इस युग में रंगमंच सम्बन्धी जो थोड़ी बहुत व्यवस्था थी उसका आगे चलकर विश्वविद्यालयों में अव्यवसायी नाटक मंडलियों द्वारा स्वस्थ दिशा में विकास हुआ। पर एक बात स्पष्ट है कि आज तक हिन्दी-नाटक का भण्डार उस रूप में भरा-पूरा नहीं है, जैसा कविता, आलोचना, उपन्यासादि साहित्य के अन्य अंगों में है।

आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल इस युग की आलोचना की गतिविधियों के निर्माता हैं। उनके समीक्षा-सिद्धांतों में भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय है। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी। वे बड़ी खोज, परिश्रम और मनन के पश्चात् अत्यन्त सूक्ष्म मार्मिक विवेचन करते थे। उनका हिन्दी-साहित्य का इतिहास, सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी गई विस्तृत समीक्षाएँ इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण हैं। किन्तु एक बात स्मरण रखनी होगी कि शुक्ल जी की पैनी शास्त्रीय दृष्टि जितनी प्राचीन कवियों के विवेचन में उपयुक्त सिद्ध हुई है उतनी नवीन साहित्य की परीक्षा में नहीं। इस कमी की पूर्ति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० शिवदान सिंह चौहान और डा० रामविलास शर्मा आदि द्वारा हुई।

चतुर्थ चरण : छायावादोत्तर युग—वैसे तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखक विद्वानों ने सन् १९१६ से १९३६ तक के समय को छायावादी युग कहा है, किन्तु सन् ३० के लगभग कवियों की एक नई पीढ़ी का आविर्भाव होने लगता है जिसे डा० नगेन्द्र ने छायावाद का उत्तरार्द्ध कहा है। इस नवीन पीढ़ी के कवि अधिक अहवादी, नियतिवादी तथा अन्तर्मुखी हैं। इस धारा का आरम्भ श्री भगवतीचरण वर्मा से माना जा सकता है और इस धारा के पोषक हैं—बच्चन, अज्ञेय और अंचल। बच्चन की कविताओं का तो नाम ही अलग पड़ गया—हालावाद। इस वर्ग के कवि अपने चारों ओर *एक गहन अन्धकार देखते हैं, जिसे फाड़ने के लिए ये छटपटा उठते हैं।* नरेन्द्र और अंचल में अपेक्षाकृत सामाजिक चेतना की तीव्रानुभूति अधिक है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति उस समय के कथा-साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समवर्ती कलाकारों ने यथार्थवाद के द्वारा सामाजिक

कुरूपता का दिग्दर्शन कराया, किन्तु नवीन पीढी का कलाकार मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित होकर मनुष्य के अवचेतन मन का ही चित्रण करने लगा, मानो उसके भी चारो ओर गहन अन्धकार है जो अन्त मन की गहराइयों और गुफाओं मे त्राण पाने लगा हो। वह जग की कुरूपता से इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसका कोई प्रतिकार ही उसे दिखाई नही पडता। इस प्रकार हिन्दी का एक वर्ग फ्रायड और एडलर की यौन सम्बन्धी स्थापनाओ को साहित्य के चौखटो में फिट करने लगा। अस्तु ! यौन-सम्बन्धी व्याख्याओ का जो परिणाम यूरोपीय साहित्य में हुआ वही भारत में भी। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत की छाया' इस कोटि की रचनाएँ हैं। अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' भी इसी श्रेणी का उपन्यास है।

हम देख चुके हैं कि १९३५-४० तक के काल में छायावादी कविता में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ आने लग गई थी। नई पीढी का व्यक्तिवादी कवि व्यापक लोक-मगल की भावना आशा और उल्लास को छोडकर आत्मनिष्ठ और निराशावादी होने लगा था। इसी समय हिन्दी मे एक नवीन प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा हुई, जिसे प्रगतिवाद कहा गया है। प्रगतिवाद मार्क्स के दर्शन का साहित्य में व्यावहारिक पक्ष है। मार्क्स ने वर्ग सघर्ष का मूल कारण आर्थिक विषमता बताई है। अत प्रगतिवादी साहित्य मे दलित और पीडित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई है और उसकी दीन हीन दशा का यथार्थ चित्रण है। कही-कही यथार्थवाद के नाम पर नग्नता और अश्लीलता भी आ गई है। इस कविता की विचारगत प्रवृत्तियाँ हैं—सामन्त शाही का विरोध, सभी प्रकार के शोषण का अन्त, अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना, सामयिक समस्याओ के प्रति सजगता, जीवन का यथार्थ चित्रण, नारी स्वतन्त्रता तथा मानवतावाद। इस काव्य की शैलीगत विशेषताएँ हैं—सरलता, व्यग्यात्मकता, मुक्तक छन्द, गीति शैली, अलकारो के आडबर का बहिष्कार। कविता की इस नवीन धारा ने कलाकार को सामाजिक दायित्व के प्रति सजग किया, उसे शोषणरहित सस्कृति के निर्माण की प्रेरणा दी तथा उसे अहवाद से मुक्त किया। इस आन्दोलन के साथ प्रेमचन्द पन्त, निराला के नाम विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। नई पीढी के अनेक लेखक नरेन्द्र, अचल, सुमन, दिनकर, गिरिजाकुमार माथुर इसी के अन्तर्गत है। काव्य की इस धारा का कथा-साहित्य पर भी प्रभाव पडा है। यशपाल रागेय, राघव, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय तथा चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की रचनायें प्रगतिवाद से प्रभावित हैं। आलोचना क्षेत्र में रामविलास शर्मा, शिवदानसिह चौहान तथा अमृतराय मार्क्सवादी पद्धति के समीक्षक हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के काव्य की नवीनतम धारा के सम्बन्ध में डॉ० शिवदानसिह चौहान लिखते हैं—'उत्तर छायावाद युग की दूसरी धारा हिन्दी की वह कविता है जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहवादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृ खल और असतुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है। इस कविता का शायद

अभी अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है, इसलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी या नई कविता इन अनेक नामों से इसे पुकारा जाता है······इस कविता में रागात्मक मार्ग से नये अर्थ की सृष्टि करके मानव-भावना का संस्कार और चेतना का विस्तार करने का प्रयास नहीं है, बल्कि मनुष्य के जीवन बोध को ही खंडित और विकृत बनाना इसका सहज उद्देश्य दीखता है। प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था, कुंठा और विद्रूपात्मक उद्‌गारों को एक दुरूह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार-योजना और अहंवादी और बहुधा ओछे दल की वचन भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है।" विद्वान् आलोचक ने थोड़े से शब्दों में प्रयोगवादी कविता के भाव-पक्ष और कलापक्ष की मार्मिक आलोचना कर दी है। कहीं-कहीं पर प्रयोगवादी कविता में भाषा के अच्छे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु उसका भीतर इतना खोखला है कि बाहर की सारी चमक-दमक और पालिश व्यर्थ चली जाती है।

प्रयोगवाद का आविर्भाव सन् १९४३ में तार सप्तक के प्रकाशन के साथ हुआ। इसमें सात कवियों की रचनायें संग्रहीत हैं, जिनमें प्रमुख अज्ञेय जी हैं। प्रयोगवादी धारा के उल्लेखनीय कवि हैं—अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, भारत-भूषण अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य एक शताब्दी से भी कुछ अधिक वर्षों को पार कर चुका है। इस सुदीर्घ अवधि में इसे अनेक मंजिलें पार करनी पड़ीं और कई परिवर्तन देखने पड़े, किन्तु वह निरन्तर विकासोन्मुख रहा। आधुनिक हिन्दी साहित्य अनेक बातों में अपने पूर्ववर्ती मध्यकालीन साहित्य से भिन्न है। गद्य का आविर्भाव और विकास, काव्य-रूपों की विविधता और विषय व्यापकता आधुनिक काल की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनायें हैं। भारतेन्दु-काल की देश-प्रेम की भावना परवर्ती युगों में क्रमशः विकसित होती हुई विश्व-प्रेम के रूप में परिवर्तित हो चुकी है। आधुनिक युग के साहित्य में पाई जाने वाली सामाजिक चेतना परिस्थितिवश प्रत्येक उत्थान के साहित्य में भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है। आज का साहित्य जनवादी साहित्य है, इसमें जन-जीवन का हास्य-विषाद, आशा-निराशा, पतन और उत्थान अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अंकित हुए हैं। यथार्थ की अनुभूति आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है और मानवतावाद का समावेश इसका एक सुन्दर उपक्रम है। आधुनिक युग के कलाकार का मनुष्य समाज, प्रकृति और चराचर के प्रति एक अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण है जो रूढ़िबद्ध एवं सीमित न होकर उदार तथा यथार्थ के अधिक समीप है। विषय की विविधता और व्यापकता के क्षेत्र में जहाँ आज का साहित्य मध्यकालीन सामन्ती साहित्य से बहुमुखी है, वहाँ दृष्टिकोण में उससे पावित भी अधिक है। धरती का रोम-रोम आज के साहित्यकार का आकर्षक बिंदु है। उसका प्रत्येक रज-कण इसके लिये मधुर है तथा प्रकाशमय है। चराचर की प्रत्येक वस्तु उसके लिये ग्राह्य है, वह सब सार्थक और सुन्दर है। वह धरा पर स्वर्ग का

आकांक्षी है और लालायित है। सुन्दर से सुन्दरतर और सुन्दरतर से सुन्दरतर रूप को निहारने के लिए। यह कलागत उच्चादर्शों तथा मंगलमय नूतन विधानों का इच्छुक है।

भारतेन्दु-युग में नई परम्पराओं के प्रति प्रेम और प्राचीन के प्रति मोह समान रूप से बना रहा। उस युग के साहित्यकार का दृष्टिकोण बहिर्मुखी था तथा उसमें सामाजिक चेतना उद्बुद्ध थी, किन्तु उस युग के साहित्य में प्रौढता अपेक्षाकृत कम थी। भारतेन्दु-युग में गद्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना और निबन्ध साहित्य का सूत्रपात हुआ, उसमें नवीन शैलियों और कला रूपों को गढ़ा गया, भाषा-सम्बन्धी विवाद भी चलता रहा, उस युग के गद्य का स्वरूप गोष्ठियों तक सीमित रहा। द्विवेदी-युग में इन शैलियों और साहित्य रूपों में परिमार्जन तथा विकास हुआ। साहित्य-क्षेत्र में खड़ी बोली की एकमात्र प्रतिष्ठा हुई, उपन्यास, कहानी, नाटकादि की सीमाओं का यथेष्ट विस्तार तथा विकास हुआ। भारतेन्दु-युग में बोये हुए बीज इसमें फूले और बढ़े हुए और उन्हें पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ छायावादी युग में। साहित्य की दृष्टि से यह हिन्दी-साहित्य का प्रौढतम युग है। द्विवेदी युग की जो कमियाँ थीं और जो आवश्यकताएँ अभी शेष थीं उनकी पूर्ति इस युग मे हुई। इस युग के साहित्य की भाषा में माधुरी, कोमलता और व्यापकता आई और कविता, उपन्यास, आलोचनादि में अद्भुत विकास हुआ। इस युग का साहित्य अपने पूर्ण प्रकर्ष एवं उत्कर्ष का साहित्य है। इस युग के ह्रासोन्मुख उत्तरवर्ती काल में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का साहित्य में समावेश हुआ। नए कलाकार अहंवादी, निराशावादी तथा नियतिवादी बनने लगे। कुछ काल के उपरान्त प्रगतिवाद ने साहित्य को समाजवाद और मानवतावाद की विराट् भूमि पर खड़ा किया। सांस्कृतिक समन्वय का प्रयोग भी साहित्य का माध्यम इस काल में बना। आज का हिन्दी साहित्य प्रयोगवाद के घोर व्यक्तिवाद, अहंवाद और बौद्धिकता को भी देख रहा है किन्तु प्रयोगवाद के अधकूप से आधुनिक हिन्दी-साहित्य का निकलना निश्चित है। जिन वादों और प्रभावों से आधुनिक हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ, उनमे प्रमुख हैं—समाजवाद, यथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा विज्ञानवाद।

कुछ आलोचकों का कहना है कि आधुनिकतम हिन्दी साहित्य के विकास में गत्यवरोध है, किन्तु हमारे विचार में गत्यावरोध शब्द नितान्त भ्रामक है। हमारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य किसी एक स्थान पर आकर रुक नहीं गया है। जीवन की तरह साहित्य में भी कोरे ठहराव के क्षण नहीं आते। वह विकासशील होता है या ह्रासशील। "आज साहित्य में ह्रास की दशा भले हो, ठहराव की जड़ता नहीं। किन्तु स्मरण रखना होगा कि विकास के समान ह्रास भी चिरस्थाई नही होता। साहित्य में आज जो ह्रासोन्मुखता है वह निःसन्देह क्षणस्थायी ही है। राष्ट्र के जीवन में इस समय जो मूल्यों का विघटन चल रहा है वह भी देर तक रहने वाला नहीं।" अस्तु।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यकार का अपना जीवन-दर्शन और अपनी कलागत मान्यताएँ हैं। आधुनिक साहित्यकार नए जीवन-अनुभव और जगत के किनारे खड़ा होकर पुकार रहा है :—

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त,
औ युग वाणी-बहती आयास !
बन गये कलात्मक भाव,
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्ष देता सुख,
लगता ललाम······!

आज के कलाकार की वाणी आडम्बर शून्य, अलंकारों के आग्रह से मुक्त, छन्दों के बन्धन से रहित और भावमय है। उसकी वाणी जन-मन के वहन के लिए जितनी चिन्तित है उतनी कविता के बाह्य उपकरणों के लिए नहीं। कवि पन्त के शब्दों में :—

तुम जनमन में वहन कर सको मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए क्या तुम्हें अलंकार !

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सिंहावलोकन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक काल हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति का युग है। इस युग ने हिन्दी की सीमाओं का विस्तार किया और साहित्य के सभी रूपों का यथेष्ट विकास किया। आधुनिक जीवन की अनेकरूपता, विविधता का इसमें सम्यक् प्रतिनिधित्व हुआ है। यह साहित्य उत्तरोत्तर विकासशील रहा है। भले ही इस में कुछ काल के लिए ह्रासोन्मुखता आ गई किन्तु वह चिरस्थायिनी नहीं है। राष्ट्र के संक्रमणशील जीवन में आज का कलाकार अपने लिए पथ-प्रशस्त करने में जुटा हुआ है और आशा है कि हिन्दी के आज के साहित्यकार का भावी साहित्य घोर व्यक्तिवाद, अहंवाद और खंडित बौद्धिकता की कुहेलिका से निकल कर ज्ञान-विज्ञान की सचेतना को आत्मसात् करके मनुष्य के सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन को मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य होगा। हिन्दी के भावी साहित्य में नवीन जीवन प्रेरणाओं को व्यक्त करने के लिए कला-रूपों में प्रयोग होंगे, प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं होंगे।

आधुनिक हिन्दी कविता का विकास एवं उसकी प्रवृत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवृत्यात्मक विकास की दृष्टि से हम कविता को प्रमुख तीन युगों में बाँट सकते हैं— (१) पूर्व छायावाद युग, जिसके अन्तर्गत भारतेन्दु और द्विवेदी युग आते हैं, (२) छायावाद युग, (३) उत्तर छायावाद युग। ···

विभाजन का आधार छायावाद ही है। पूर्व छायावाद युग में बहुधा जिन प्रवृत्तियों का आगमन भारतेन्दु-काल में होता है, द्विवेदी काल में वे पल्लवित और विकसित होती हैं और कदाचित् उन्हीं प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में छायावाद का उदय होता है छायावाद की प्रतिक्रियास्वरूप उत्तर छायावाद युग में नूतन प्रवृत्तियों का उदय होता है। अतः आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवृत्यात्मक विकास में छायावाद एक प्रकार से केन्द्र बिन्दु का काम देता है।

निःसन्देह आधुनिक युग गद्य का युग है, जिसमें गद्य के प्रत्येक अंग—उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना और निबन्ध आदि—की अद्भुत उन्नति हुई है। प्राचीन काल में पद्य-साहित्य, गद्य-साहित्य से कई गुणा अधिक हुआ करता था। अत गद्य-साहित्य पद्य-साहित्य से सैंकड़ों गुणा अधिक हो गया है, परन्तु अब भी साहित्य मे गद्य की अपेक्षा पद्य का महत्त्व अधिक है। साहित्यिक रूपों की दृष्टि से गद्य साहित्य पद्य-साहित्य से आगे है, परन्तु यदि साहित्य की महत्ता उदात्त भावों, प्रभावोत्पादकता और हृदय की सत्यता पर निर्भर है तो यह युग कविता का युग कहा जा सकता है।

(क) पूर्व छायावाद युग भारतेन्दु काल—यह काल आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है। प्रवृत्यात्मक दृष्टि से हम इसे संधि युग भी कह सकते हैं। इस काल में जहाँ कविता सम्बन्धी नवीन विषयों का ग्रहण हुआ, वहाँ कविता की पुरानी परम्परा का सरक्षण भी हुआ—भाव-क्षेत्र और कला-क्षेत्र दोनों में। इस समय के लेखकों की स्वभावगत सामजस्यता, जो कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की उपज थी, कविता क्षेत्र में भी प्रतिफलित हुई। इस युग के साहित्यकार कवि की अपेक्षा समाज-सुधारक, प्रचारक और पत्रकार अधिक थे। परिणामत इन्होंने अपने अपने पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दू-समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट अमीरों की स्वार्थपरता, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए शिक्षित वर्ग की कटु-आलोचना, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय अनीति, उर्दू के प्रति सरकार का पक्षपात, देश की सामान्य दुरवस्था, अकाल महामारी के प्रकोप, अंग्रेजी शासन के आर्थिक शोषण आदि नवीन विषयों का समावेश किया। एक सुधारक एव प्रचारक पत्रकार के लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि उसे सामयिक प्रश्नों और समस्याओं के प्रति समाज को जागरूक करना था। इन नवीन उपादानों के ग्रहण का बहुत कुछ श्रेय तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक चेतना को है। दूसरी ओर भारतेन्दु-कालीन कविता में रीतिकालीन शृंगारी परम्परा का भी निर्वाह होता रहा। उसमें नैतिक और धार्मिक कविता की धारा का भी विकास हुआ। एक ओर तो इस काल में कवि ने राधा और कृष्ण भक्ति के मधुर प्रेम से सिक्त हृदय हारी पदों की सृष्टि की तो दूसरी ओर उपदेशात्मक सूक्तिमय काव्य का भी निर्माण किया और इनके साथ रीतिकालीन परिपाटी—नायिका के हाव भावों का चित्रण तथा नख-शिख-वर्णन के प्रति आग्रह भी दिखाया। आचार्य शुक्ल के भारतेन्दु के प्रति कहे गये शब्द, लगभग उस समय के समस्त काव्य पर चरितार्थ होते

है—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते हुए दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीका धारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में युग-परिवर्तन, युग प्रवर्तन, युग नियमन और युग-नेतृत्व की पूर्ण क्षमता थी। उनकी आधुनिकता विदेशी प्रभावों को आत्मसात् करती हुई भारतीयता के रंग में पूर्णत सराबोर थी। उनके युग का साहित्य तत्कालीन भारतीय जनता के लिए जितना स्फूर्ति और प्रेरणादायक, आह्लादक, चरित्र निर्माणक तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं का संचारक और उद्बोधक था वह आज के भारत के लिए भी उतना ही उपयोगी है। डॉ० गणपतिचन्द्र के शब्दों में—'युग प्रवर्तन एवं युग का नेतृत्व करने के लिए केवल नये युग का ज्ञान या बोध पर्याप्त नहीं है, उस ज्ञान या बोध की सच्ची अनुभूति एवं सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से जन-साधारण के हृदय तक पहुँचा देने की क्षमता भी अपेक्षित है। निःसदेह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में यह क्षमता थी और इसी के बल पर वे अपने युग को सच्चा एवं सफल नेतृत्व प्रदान कर सके, ऐसा हमारा विश्वास है।

सच तो यह है कि युग के सम्यक् प्रवर्तन और उसके सुनियमन की जो अद्भुत क्षमता भारतेन्दु जी में थी वह कदाचित् आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में नहीं थी। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की अपेक्षाकृत अधिक कठोरता के कारण साहित्य के विविध-मुखी अपेक्षित विकास की गति को धक्का भी पहुँचा, जबकि भारतेन्दु जी से उसे अधि-काधिक प्रोत्साहन, प्रश्रय और पोषण मिले। भारतेन्दु जी प्रथम कोटि के कलाकार थे अत उन्होंने अपने युग मे साहित्य की प्रत्येक विधा को अपेक्षित दिशा में स्वस्थ मार्ग दर्शन भी किया, जबकि द्विवेदी जी द्वितीय कोटि के साहित्यकार थे और उन्होंने अपनी समर्थता का परिचय अधिकाशत सपादन में दिया। द्विवेदी युग के अन्य साहित्यकारों ने द्विवेदी जी की अपेक्षा साहित्य-सृजन में निश्चय से अधिक योग दिया है। भारतेन्दु जी अपने युग में साहित्य आकाश पर पूर्णत छाये रहे और वे समान रूप से साहित्य और जनता का सफल नेतृत्व करते रहे। डॉ० रामविलास के शब्दों में 'भारतेन्दु युग की विशेषता यह रही है कि समस्त युग के साहित्याकाश में भारतेन्दु जी छाये रहे। उनकी प्रेरणा से पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं, उनके सकेत पर अनेक लिखने लगे, तत्कालीन युवक और साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्तियों के लिए वह प्रेरणा के स्रोत थे और उन की इच्छा के विरुद्ध न किसी ने कुछ कहा और न लिखा। जो व्यक्ति साहित्यिक दृष्टि से उनके विरोधी थे जनता ने उनको अपना विरोध माना। इनकी प्रेरणा से अनेक साहित्यिक संस्थाएँ अस्तित्व में आईं और हिन्दी जगत में राष्ट्रीय सास्कृतिक वाता-

वरण उत्पन्न हुआ।

भारतेन्दु कालीन कविता की जिन गतिविधियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे प्राय तत्कालीन गुजराती साहित्य मे पाई जाती हैं। गुजराती साहित्य मे भी शृंगार-नीति और भक्ति की परम्परा पहले से चली आ रही थी और इनका निर्वाह उन्नीसवीं शती के साहित्य मे हुआ। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से गुजराती साहित्य में इस समय प्राय उन्ही नवीन विषयो का समावेश हुआ जिनका कि भारतेन्दु काल मे। हिन्दी साहित्य मे जो स्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है, वही स्थान गुजराती साहित्य मे नर्मदाशंकर का। इन दोनो साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युगीन कविता साहित्य मे उसकी पूर्ण सूचना मिलती है। ये लेखक यथार्थता के काफी निकट थे। भारतेन्दु काव्य उस युग की चेतना की प्रतिध्वनि ही नहीं, बल्कि उसका प्रतिनिधित्व भी करता है। युग की गतिविधियो और आवश्यकताओ के कारण तत्कालीन कविता मे यथार्थवादिता का समावेश हुआ, किंतु उसमें आदर्शवादिता का भी सहज मे समावेश हो गया। जहाँ इन्होंने भारत की दयनीय सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दशा पर करुण क्रन्दन किया वहाँ प्राचीन भारत के गौरव, संस्कृति की उच्चता और राजनीतिक गरिमा का उच्च राग भी अलापा। उन कवियों को इस बात का क्षोभ है कि देशवासी अपने प्राचीन उज्ज्वल आदर्शों को भूल बैठे हैं। इनकी वर्तमानप्रियता मे यथार्थता है और प्राचीनप्रियता मे आदर्शवादिता।

भारतेन्दु कालीन कविता के विकास मे भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिका दत्त व्यास, राधाकृष्णदास और बद्रीनारायण चौधरी का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी कवियो की वाणी में देश-भक्ति और राजभक्ति का स्वर ऊँचा है। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' नामक नाटको के गीतो मे तथा अन्य स्वतन्त्र कविताओ में भारत की हीन दशा का वर्णन किया है—'आवहु सब मिलि रोवहु भाई, भारत दुर्दशा न देखी जाइ।' इनकी कविता मे कहीं देश के अतीत गौरव की गवंगाथा, कही वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कही भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता, कही भक्ति के पद, कहीं शृंगार रस के कवित्त और सवैये, कहीं उपदेश और सूक्तियाँ, तो कही उत्सव-वर्णन हैं। भारतेन्दु जी ने हिन्दी कविता को नवीन विषयो की ओर अग्रसर किया, किन्तु उसमे किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नही किया। दूसरे प्रकृति-वर्णन के प्रसगो में उनका मन जितना नर-प्रकृति के वर्णन मे रमा है उतना बाह्य प्रकृति के वर्णन में नही। उनके गगा-वर्णन मे नागरिकता की अधिकता है, प्रकृति के सहज सौष्ठव की झाँकी कम।

भारतेन्दु जी स्वय पद्यात्मक निबन्धो की ओर प्रवृत्त नही हुए, किन्तु उनके अनुयायी प्रतापनारायण मिश्र इस ओर अधिक बढे। इन्होने देशभक्ति और राजभक्ति के विषयो के अतिरिक्त बुढ़ापा और गो रक्षादि विषय अपनी कविता के लिए चुने।

इनकी कविता में भाव-व्यंजना के साथ हास्य, व्यंग्य और विनोद भी हैं। इनके कुछ पद इतिवृत्तात्मक भी हैं। कदाचित् इस काल की इतिवृत्तात्मकता आगे चलकर द्विवेदी काल में अधिक पुष्ट और विकसित हुई, जिसकी प्रतिक्रिया में छायावादी कविता का आविर्भाव हुआ। मिश्र जी की 'हर गया', 'तृप्यताम्', 'बुढ़ापा' आदि कविताएँ बहुत ही मनोरंजक बन पड़ी हैं। इनकी 'हिन्दी की हिमायत' नामक कविता भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उपाध्याय और प्रेमघन ने अपने समकालीन कवियों के विषयों के अतिरिक्त विशेष उत्सवों और अवसरों पर आनन्द प्रकट करने के लिए प्रशस्तियाँ लिखीं। देश की राजनीतिक दशा, धार्मिक और सामाजिक दशा पर इन लोगों का सदा ध्यान बना रहा। कुछ आलोचकों ने भारतेन्दुकालीन प्रशस्तिमयी कविताओं, जिनमें ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की गई है, मे चाटुकारिता का दोष लगाया है और उस समय के कवि के देशभक्ति पर सन्देह प्रकट किया है, किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और है। ऐसी प्रशस्तियों में भी कवियों ने देश-दशा का मार्मिकतापूर्ण सिंहावलोकन किया है जिसमें कवि की निर्भीकता टपकती है और दूसरे, उस युग में देश-भक्ति और राजभक्ति को एक दूसरे से अभिन्न समझा गया। तत्कालीन राजनीति का स्वरूप भी ऐसा ही था। अतः इसके लिए उस समय के कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है।

अम्बिकादत्त व्यास ने नवीन और प्राचीन दोनों विषयों पर फुटकर कविताएँ लिखीं, जो कि उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में निकलीं, परन्तु उन्हें इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली।

ठाकुर जगमोहनसिंह ने नवीन विषयों पर कविताएँ न लिखकर प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों के अनुकरण पर विन्ध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों का सुन्दर वर्णन किया, परन्तु उस समय हिन्दी काव्य का ध्यान इस ओर न गया। बाद में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की कड़ी जोड़कर पाठक में ऐसे प्राकृतिक वर्णनों के प्रति अनुराग दिखाई पड़ा।

इस युग में कविता क्षेत्र मे ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा और गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का। भारतेन्दु तथा उस काल के कुछ अन्य कवियों ने खड़ी बोली में भी पद्य रचना करनी चाही, किन्तु वे सफल नहीं हो पाये, निर्जीव तुकबन्दियाँ ही बन पड़ी हैं। ब्रजभाषा में अपेक्षाकृत इनकी कविताएँ मार्मिक बन पड़ी हैं। ब्रजभाषा या खड़ी बोली मे भारतेन्दु कालीन लेखकों ने सामयिक विषयों पर जो पद्यात्मक रचनाएँ लिखीं उन्हें कविता की कोटि मे नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों को ज्यों-का-त्यों छन्द-बद्ध करके रखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उनमे कोई मार्मिक अनुभूति और कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं। केवल तुक-बन्दी कविता नहीं कहला सकती है।

भारतेन्दु-कालीन काव्य मे भाव, भाषा और छंद सभी में प्राचीनता का परिष्कार और नवीनता का समावेश हुआ। छन्दों के क्षेत्रों में जहाँ मनहर कवित्त, सवैया

दोहा और छप्पय का बाहुल्य था वहाँ इन लेखकों ने साहित्य क्षेत्र के बाहर के छंदों को अपनाया। इन्होंने लोक-प्रचलित गीतों—लावनी, कजली आदि—को साहित्य में स्थान दिया। इस युग के कुछ कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी व्यवहार किया। इस प्रकार छंदों में व्यापकता और विविधता का समावेश हुआ।

डॉ० रामविलास शर्मा भारतेन्दु युग का साहित्यिक मूल्याकन करते हुए लिखते हैं, 'प्रथम उत्थान नव युग का प्रारम्भ मात्र था। इसलिए हमे इस समय की कविता मे उस कलात्मकता के दर्शन नहीं होते जो कालांतर में सतत् परिश्रम से प्रकट हुई। काव्य-विषयों के सर्वथा नवीन होने के कारण इनकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए समय की आवश्यकता थी।' हमारे विचारानुसार विषय सम्बन्धी नवीनता काव्यात्मक अभिव्यक्ति मे किसी प्रकार से बाधिका नहीं हुआ करती। काव्यात्मक अभिव्यक्ति अनुभूति की गहनता पर निर्भर करती है। गालिब, दाग, हाली, अकबर इलाहाबादी, माइकेल, मधुसूदन, हेमचन्द्र तथा नवीनचन्द्र तथा रवीन्द्र ठाकुर इन सब की कला का विकास प्राय. भारतेन्दु के समय मे, जो कि सक्रांति काल था, हुआ। विषय-सम्बन्धी नवीनता तो उन सबके लिए भी वैसी ही थी। सच तो यह है कि भारतेन्दु-काल के लेखक प्रधानत पत्रकार, सुधारक और प्रचारक थे, कवि और साहित्यिक कम। उनमें अनुभूति की गहनता और विचारों की परिपक्वता की अपेक्षाकृत कमी थी। कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा भाषा-सम्बन्धी समस्याओं मे इतने व्यस्त थे कि नवीन विचारो की काव्यपूर्ण सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं कर सके। इस समय की रचनाओं का व्याख्यात्मक महत्त्व अधिक है, साहित्यिक महत्त्व कम। भारतेन्दु काव्य साहित्यिक महत्ता के लिए इतना विख्यात नही, जितना कि जनता के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन मे गतिशीलता लाने के लिए। इस समय की अधिकांश रचनाएँ न तो अधिक सरस हैं और न ही साहित्यिक, किन्तु इस समय की सभी रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व से शून्य हो ऐसी बात भी नही है। भारतेन्दु, प्रेमघन तथा बालमुकुन्द गुप्त की देश-भक्ति से परिपूर्ण रचनाएँ काफी अच्छी और सरस बन पडी हैं। डा० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों मे "इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कवियो के उद्‌गारो में भावानुभूति की सरासर कमी है, इन उद्‌गारो में अनुभूति की सत्यता भी नि सदेह है। भारतेन्दु-युग के कवियों को अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान है। इन कवियो ने अपनी अनुभूति का सच्चा वर्णन किया है। तत्कालीन जीवन मे डूबकर इन्होंने अपने अनुभवों का निर्भय होकर वर्णन किया है। कटु सत्यो का वर्णन करने मे भी ये कवि चूके नही। इन कवियो ने अपने समय का यथार्थ चित्र खींचा है। इन कवियों का नैतिक साहस, भावानुभूति की सच्चाई तथा सत्य प्रेम अत्यन्त प्रशंसनीय है। इनका साहित्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे साहित्य में समय तथा वास्तविकता का समावेश हुआ। इसी यथार्थवादिता तथा वास्तविकता के प्रेम से प्रेरित होकर कवियो ने पुस्तको से अधिक जीवन से उत्साह तथा स्फूर्ति प्राप्त की और इस प्रकार जीवन और साहित्य का निकट सम्बन्ध स्थापित किया।"

भारतेन्दु युग की कविता का महत्त्व जीवन तथा साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम नीचे की पंक्तियों में भारतेन्दु-कालीन कविता की भावगत एवं शैलीगत प्रमुख प्रवृत्तियों का अत्यन्त संक्षेप में विवेचन करेंगे—

(१) देश-भक्ति—उस युग की राजनीति के अनुरूप हिन्दी-कविता में भी देशभक्ति और राजभक्ति एकत्र चलती रही है। भारतेन्दु की नीचे की पंक्तियों में विदेशी शासन के प्रति रोष और तोष दोनों हैं—

> अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥

देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अधःपतन को देखकर इन्होंने अतीत का गौरव गान करके उसके उन्नयन की चेष्टा की। इनकी देशभक्ति में किसी प्रकार की चाटुकारिता नहीं। जहाँ अंग्रेजों की प्रशंसा है, वहाँ देश की दशा का मार्मिक सिंहावलोकन भी है—

> भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै।
> जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन, नहिं अँगरेज।

इनकी कविता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का भी प्रकाशन किया गया है। देश की जागृति के लिए ईश्वर से बार-बार वन्दना की है। कुछ आलोचकों ने इस काल की राष्ट्रीयता पर साम्प्रदायिकता का दोष लगाया है, "उनका देश प्रेम एक ओर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिकता में तो दूसरी ओर राज भक्ति की अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक चक्कर काटता रहा।" इन कवियों की जातीयता व पुनरुत्थानवाद में मुस्लिम जाति के अहित एवं विरोध का कहीं भी समावेश नहीं और फिर उस समय राष्ट्रीयता का स्वरूप भी इतना व्यापक नहीं था।

(२) प्राचीनता तथा नवीनता का समन्वय—इस कविता में जहाँ देश-प्रेम तथा समाज सुधार आदि नवीन विषयों का समावेश हुआ, वहाँ भाषा, भाव और छंद की दृष्टि से यह युग सामंजस्य का युग है। इस काल के कवियों ने पुराने भक्त कवियों के समान पद भी लिखे, लीलादि का गान भी किया और रीतिकालीन कवि के समान नायिका के नख-शिख का वर्णन भी किया। इस काल में सूक्ति और उपदेश पद्धति पर भी काव्य-सृष्टि हुई।

(३) जन-जीवन का चित्रण—रीतिकालीन काव्य राजाश्रय में पुष्ट हुआ, जबकि भारतेन्दु-युग का काव्य जन-जीवन की क्रोड में पला। इस कविता की जन-वादी प्रवृत्ति समाज-सुधार में निहित है। यह कविता केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई-चारे का साहित्य है। इसमें सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता,

पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए शिक्षित वर्ग पर व्यंग्य, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अनीति देश की सामान्य दुर्दशा, अकाल महामारी के प्रकोप, अंग्रेजो के आर्थिक शोषण और नाना सामयिक प्रश्नों द्वारा जन-जीवन को प्रेरित और जागृत किया गया है। कविता में इस यथार्थ चित्रण के साथ *प्राचीन संस्कृति के गौरव का आदर्श भी साथ-साथ चलता रहा है।*

(४) प्रकृति चित्रण की पद्धति—परम्परा मुक्त रही है। ये लोग नर प्रकृति के वर्णन में अधिक रमे हैं, *बाह्य प्रकृति के वर्णन में नहीं। ठाकुर जगमोहनसिंह ने* प्रकृति के वर्णन की जिस शैली का श्रीगणेश किया उसको और उस युग के काव्य ने नहीं देखा। इनके प्रकृति वर्णन में संवेदनशीलता का अभाव है और नागरिकता की बहुलता।

(५) इतिवृत्तात्मकता—इस काल में कवियों ने विभिन्न सामयिक विषयों पर फुटकर पद एवं कविताएं लिखीं, जिनमें विचार और अनुभूति की गहनता नहीं। कहीं-कहीं तो मात्र तुकबन्दी का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, जिसे कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। प्रतापनारायण मिश्र ने पद्यात्मक निबन्ध लिखे और दूसरे कवियों ने बहुत-सी ऐसी उपदेशात्मक और सुधारात्मक कविताएँ लिखीं जिनमें केवल-मात्र इतिवृत्तात्मकता है जो कि द्विवेदी काल में और अधिक वृद्धि को प्राप्त हुई जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ।

(६) भाषा—कविता क्षेत्र में ब्रजभाषा का व्यवहार हुआ और गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का। इस काल में भाषा-सम्बन्धी जो महान् विवाद खड़ा हुआ उसका *अन्तिम निर्णय द्विवेदी-युग में हुआ। इस काल में खड़ी बोली में रचित कविताएँ* निर्जीव और नीरस हैं।

(७) छन्द—परम्परा से चले आते हुए सवैया, रोला, छप्पय, कवित्त आदि छन्दों के अतिरिक्त इस कविता में लोक प्रचलित छन्दों—लावनी, कजली आदि—का भी प्रयोग हुआ। कुछ कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया। किन्तु इस क्षेत्र में इस काल में कोई स्वतन्त्र एवं नवीन प्रयास दिखाई नहीं पड़ता। हाँ, एक बात अवश्य है कि उस समय की कविता में नवीन छन्दों का अभाव खटकता नहीं है।

(८) साहित्यिक मूल्य—भारतेन्दु और उनके मंडल के लेखक प्रधानतः देश प्रेमी पत्रकार और प्रचारक अधिक हैं कवि और साहित्यकार कम। उनमें विचारों और अनुभूति की गहनता की अपेक्षाकृत कमी है और यही कारण है कि उस कविता में कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव है। इस काल की अधिकांश रचनायें न तो अधिक सरस हैं और न ही साहित्यिक, किन्तु भारतेन्दु, प्रेमघन और बाल-*मुकुन्द गुप्त की रचनायें काफी सरस और मधुर हैं। भारतेन्दु काल की कविता का* महत्व जीवन और साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से है। इन कवियों को अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्व का पूर्ण ध्यान है। इन्होंने तत्कालीन जीवन में डूबकर अपने

कटु अनुभवों और सत्यों का निर्भीकतापूर्वक वर्णन किया। इस काल में कविता और जीवन के निकट का सम्बन्ध स्थापित हुआ, और यही इस कविता का महत्व है।

द्विवेदी युग की कविता (पूर्व छायावाद युग)

इस परिवर्तन युग के सबसे महान् युग के प्रवर्तक पुरुष एवं नायक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस युग का कोई भी साहित्यिक आन्दोलन गद्य अथवा पद्य का ऐसा नहीं जो कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इनसे प्रभावित न हुआ हो। साहित्यिक दृष्टि से इनके कृतित्व का भले ही महत्व न हो पर उसका ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। महावीरप्रसाद द्विवेदी और सब कुछ थे, किन्तु कवि थोड़े-थोड़े थे। साहित्यिक दृष्टि से वे एक सफल अनुवादक और पत्रकार थे। उनकी मौलिक रचनाओं का महत्व नहीं किन्तु वे एक महान् शक्ति के प्रतीक थे, जिन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा में अद्भुत बल प्रदान किया। द्विवेदी जी के समान उनकी सरस्वती भी अपने आप में एक संस्था थी। उन्होंने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा नये कवि और लेखक पैदा किए, उनकी गद्य-शैली और भाषा का संस्कार किया। उन्होंने भाषा की अस्थिरता दूर करके तथा उसका व्याकरण शुद्ध करके उसे एक स्थिर रूप तथा व्याकरण दिया। विभक्तियों के प्रचार और पैराग्राफ-पद्धति के प्रसार का श्रेय उन्हीं को है। गद्य-लेखक व्याकरण की भूलों, विषय-प्रतिपादन की शिथिलता और अव्यवस्था पर ध्यान नहीं देते थे। कवि लोग खड़ी बोली में ब्रजभाषा और अवधी भाषा के शब्दों तथा क्रियाओं का मनमाना प्रयोग कर देते थे। उन्होंने भाषा संस्कार का आन्दोलन छेड़ा और इस कार्य में कामताप्रसाद गुरु, गौरीशंकर मिश्र तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सक्रिय सहयोग दिया। उन्होंने विषयानुरूप गद्य शैली का आदर्श स्थापित किया। कविता क्षेत्र में उन्होंने कोई नया आदर्श सामने नहीं रखा। श्रीधर पाठक ने इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग किया था, हालांकि उनकी प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावादी थी। द्विवेदी जी ने इस शैली को प्रोत्साहन दिया। बगला की कोमल-कान्त पदावली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक शैली द्विवेदी जी के मन के अधिक अनुकूल थी। द्विवेदी जी की अपनी कविताओं का कोई खास महत्त्व नहीं, किन्तु इनके सम्पादक-काल में जिन हिन्दी कवियों का उदय हुआ उनसे निश्चित रूप से हिन्दी कविता गौरवान्वित तथा महिमाशालिनी बनी।

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य की जो आशातीत अभिवृद्धि हुई, उसका हेतु द्विवेदी जी न होकर उस युग के अन्य प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि द्विवेदी जी का महत्त्व जितना ऐतिहासिक है उतना साहित्यिक नहीं। आलोचना, निबन्ध, कविता तथा पत्रकारिता आदि के क्षेत्रों में उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही समझना चाहिए। यही कारण है कि डॉ० नगेन्द्र ने उन्हें द्वितीय कोटि का कलाकार कहा है। साहित्य की उपर्युक्त विधाओं में उसके अन्य प्रतिभावान साहित्य स्रष्टाओं ने निश्चयतः द्विवेदी जी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान योग दिया।

द्विवेदी जी के अपेक्षाकृत अधिक कठोर व्यक्तित्व के कारण साहित्य के विकास को कदाचित् किंचित आघात भी पहुँचा। भाषा में अन्तर्विरोध की समाप्ति उसके परिमार्जन तथा शैली निर्माण के कारण आचार्य के रूप में उनका महत्त्व निःसदिग्ध है।

भारतेन्दु काल जन-जागरण का प्रारम्भिक काल था। उस समय जनता के सामने राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। द्विवेदी काल मे राष्ट्रीय भावना और आदर्श की रूपरेखा बिल्कुल साफ हो गई थी। अब तक स्वामी दयानन्द ने धार्मिक दृष्टि से भारतीय गौरव की स्थापना कर दी थी। संस्कृति-साहित्य के अध्ययन और पुरातत्त्व की खोजों से भारत का महत्त्व विदेशों में बढ़ चुका था। अब भारतीय हीन भावना के स्थान पर भारतीयता के महत्त्व का अनुभव करने लगे थे। फलस्वरूप इस काल मे प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ। प्राचीन संगीत, चित्र तथा स्थापत्य कलाओं की पुनः प्रतिष्ठा हुई। भातखंडे ने संगीत के क्षेत्र मे तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर एवं रवि वर्मा ने चित्रकला के क्षेत्र मे, इस जागरण मे विशेष भाग लिया। कुमार स्वामी ने भारतीय प्राचीन कथाओं का मूल्यांकन संसार के सामने नवीन दृष्टिकोण से रखा। इस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी तथा हिन्दू का गौरव बढा। अपने आपको भारतीय कहलाना उस समय एक गौरव की बात समझी गई। इस भावना को तत्कालीन साहित्य मे अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति मिली। भारतेन्दु काल मे रूढियों का विरोध करना सुधार तक सीमित था परन्तु अब साहित्य मे नाना आदर्शों की सृष्टि हुई और उसमे एक स्वच्छन्द भावना का विकास होने लगा। परम्परा को छोडकर साहित्य मे पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों को राष्ट्रीय आदर्श-भावना की दृष्टि से उपन्यस्त किया जाने लगा। साहित्य मे ऐसे पात्रों को स्थान मिला जो शताब्दियों से उपेक्षित थे। अब साहित्य मे मध्यवर्ग के साथ-साथ निम्न वर्ग—किसान, पीडित एवं दलितों का चित्रण होने लगा। समाज से भी देश प्रेमी नायकों को चुन लिया गया। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के आन्दोलन का देश और उसके साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि इस साहित्य मे मानसिक हलचल और जागरूकता तो है पर साहित्यिक प्रौढता उतनी नही जितनी कि अपेक्षित थी।

द्विवेदी काल के साहित्य मे अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से स्वच्छन्द भावना का विकास हुआ। भारतेन्दु काल के सुधारात्मक आन्दोलनों से प्रेरणा प्राप्त करके अब काव्य में जीवन का अधिक व्यापक चित्रण होने लगा। इस काल के साहित्य में प्राचीन रूढियों और निरर्थक परम्पराओं के प्रतिरोध की भावना है। रीतिकाल की शृंगार भावना, जो भारतेन्दु काल में जिस किसी रूप में चलती रही, का इस काल के साहित्य मे सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया। साहित्य की प्रत्येक विधा में नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा। अब कवियों की दृष्टि जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों के प्रति उन्मुख हुई। गुप्त, उपाध्याय, पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित

उपाध्याय तथा सियारामशरण गुप्त ने प्राचीन पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों की सृष्टि बुद्धिवादी युग के आदर्शों के अनुरूप की। इस काल का अधिकांश काव्य वर्णनात्मक तथा प्रबन्धात्मक है। इस काल के कवि का दृष्टिकोण जीवन तथा प्रकृति के प्रति बदल चुका था। इसी कारण इस काल के काव्य में स्वच्छन्द भावना के दर्शन हुए। डा॰ कृष्णलाल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"यह स्वच्छन्दतावादी काव्य की सैद्धान्तिक भूमिका मात्र तैयार हुई थी। इसका कलात्मक पक्ष आगे के छायावादी काव्य के युग में विकसित हुआ। १९१२ ई॰ के बाद छायावादी व्यक्तिपरक गीतियों का काल आरम्भ होता है जिसमें कला की दृष्टि से स्वच्छन्दतवाद के अनेक तत्त्व पाए जाते हैं। इस काव्य के साथ स्वतन्त्र स्वच्छन्दतावादी भाव-धारा के विशेषकर प्रेम तथा प्रकृति के काव्य भी आधुनिक युग के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। परन्तु भाषा, छन्द तथा अन्य साहित्यिक परम्पराओं तथा रूढ़ियों से मुक्त होकर उन्मुक्त स्वच्छन्दतावाद का जो रूप हमको आधुनिक युग के मध्य काल (द्विवेदी काल) में श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों में मिलने लगा, वह स्वतन्त्र रूप से आगे विकसित न हो सका।"

द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक कविता की एक निश्चित परिपाटी चलती रही। जिसमें बधकर प्रायः सभी कवियों ने रचनाएँ कीं। इन लोगों की इतिवृत्तात्मक, पद्य-प्रबन्धों, पुस्तकों तथा खण्ड-काव्यों की रचनाएँ प्रथम युद्ध के अन्त तक होती रहीं। इस युग के अधिकांश कवि छायावादी युग में लिखते रहे, परन्तु उनकी वर्णनप्रधान इतिवृत्तात्मक रचनाएँ छायावाद की पूर्वगामिनी ही समझनी चाहिए, यद्यपि उनमें स्वच्छन्दतावादी कविता के पूर्व चिन्ह अवश्य प्रकट हो गए थे। इस दृष्टि से श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि छायावादी युग की आदि कड़ी ठहरते हैं।

श्रीधर पाठक (१८५९-१९२२ ई॰) ने लावनी की शैली पर हिन्दी में अंग्रेजी के स्वच्छन्दवादी कवि गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' के आधार पर "एकान्तवासी योगी" नाम से अनुवाद किया फिर 'श्रान्तपथिक' के नाम से गोल्डस्मिथ के 'ट्रेवलर' का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने मॉफैसो और पारनेल की कृतियों का अनुवाद भी किया। इसके साथ-साथ उन्होंने हिन्दी में स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन की परिपाटी का प्रवर्तन भी किया। रीतिकाल का प्रकृति-वर्णन परम्परायुक्त था और उसमें प्रकृति का सर्वत्र उद्दीपन रूप में ग्रहण हुआ था, किन्तु इन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का वर्णन किया। इन्होंने ब्रजभाषा में कालिदास के 'ऋतु संहार' का सरस अनुवाद प्रस्तुत किया और इसी ही भाषा में गोल्डस्मिथ के 'Deserted Village' का 'उजड़ा ग्राम' के नाम से अनुवाद किया। काश्मीर सुषमा, देहरादून और भारत गीत इनकी देश-प्रेम से सम्बन्धित कविताएँ हैं। यहां पाठक के सम्मुख सहज में ही एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि श्रीधर पाठक ने अनुवाद के लिए कालिदास और गोल्डस्मिथ को ही क्यों चुना? कारण स्पष्ट है,

स्मिथ १८ वी शती के अंग्रेजी साहित्य के उन महान् लेखकों में से हैं जिन्होंने स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद, साहित्य की इन दोनो धाराओं को गतिशील बनाया। दूसरी ओर गोल्डस्मिथ की कविताओं में उसकी आत्मा भी झलकती है। कवि को कृत्रिम नागरिक जीवन की सभ्यता की अपेक्षा ग्राम्य जीवन की सरसता अधिक प्रिय है। गोल्डस्मिथ ने प्रकृति-प्रेम और प्रकृति जीवन का आदर्श सामने रखा जो कि पूँजीवादी सभ्यता की एक प्रकार से प्रतिक्रिया थी। "इस प्रकार गोल्डस्मिथ और प्रकृति और मानव-स्वभाव के अनन्य कवि कालिदास की कृतियो मे अपनी भाव-धारा के प्रकाश के लिए आधार खोजने का अर्थ है कि श्रीधर पाठक अपनी अन्तश्चेतना में काव्य और जीवन के आदर्शों में आसन्न परिवर्तनों का अनुभव कर रहे थे। उनमें स्वय इतनी समर्थ प्रतिभा नही थी कि इन परिवर्तनो को कल्पना के योग से मूर्त अभिव्यक्ति दे सकते, इसलिए उन्होंने उनका आश्रय खोजा, जिनकी रचनाओं मे उन्हें अपने हृदय की गूँज सुनाई दी।" इनके प्रकृति-वर्णन के एक दो उदाहरण देखिए :—

बीता कातिक मास शरद् का अन्त है।
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमन्त है।

अथवा

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनी का उदय था।

इन वर्णनों में प्रकृति का परम्परागत रूप नही बल्कि एक नया स्वर है। इसमें छायावाद के बीज हैं।

इन्होने खडी बोली पद्य के लिए सुन्दर लय, ताल और स्वर के भी नये ढाँचे निकाले। लावनी की लय पर जैसे 'एकान्तवासी योगी' लिखा वैसे सन्तों की सधुक्कडी पद्धति पर "जगत सच्चाई सार" लिखा। स्वर्गीय वीणा में इन्होंने उस परोक्ष दिव्य सगीत की ओर रहस्यपूर्ण सकेत किया जिसके ताल और स्वर पर यह सारा ससार नाच रहा है। इनकी प्रतिभा ने रचना के लिए बराबर नये-नये मार्ग निकाले। छन्द, पद-विन्यास और *वाक्य-विन्यास आदि के सम्बन्ध मे इन्होंने नवीन सूझ-बूझ* से काम लिया। इनकी रचनाओं में सुरुचि-सम्पन्नता, भावुकता और प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं भले ही इनकी प्रारम्भिक रचनाओं मे परिपक्वता नहीं, किन्तु बाद की कविताओं मे परिष्कृति और चुस्ती आ गई, भले ही उनमें प्रथम कोटि के कलाकार की अनुभूति की गहराई न भी हो। इन सब बातो पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि उनमे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के बहुत से चिन्हों का आभास मिलता है, अत इन्हे स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तक भी कहा जा सकता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय (सन् १८६५-१९४१)—ये पूर्व छायावादी काव्य मे भारतेन्दु के बाद सबसे अधिक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं, जो नये विषयो की ओर चल

पदे। खड़ी बोली के लिए इन्होंने उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली को उपयुक्त समझा। इन पद्धति पर इन्होंने बहुत सी फुटकर रचनाएँ कीं। द्विवेदी जी के प्रभाव से इन्होंने खड़ी बोली में संस्कृत छन्दों और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया, जिसका परिपक्व रूप अपने 'प्रिय प्रवास' में दिखाया। इसके उपरान्त उपाध्याय जी का ध्यान मुहावरामयी बोलचाल की भाषा की ओर गया जिसका उदाहरण है— 'चोखे चौपदे' और 'पद्य प्रसून'। उपाध्याय जी भारतेन्दु के जीवन काल में ही कविता करने लगे थे, किन्तु उस समय वे ब्रजभाषा में लिखा करते थे। १७ वर्ष की अवस्था में अर्थात् १८८२ ई० में कृष्ण-शतक की रचना कर दी थी जिसमें दो सौ दोहे हैं। अनेक भाषा-शैलियों में लिखना, इनकी काव्य-कला की विशेषता है।

'प्रिय प्रवास' इनका आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम सफल महाकाव्य है। इसमें संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग किया गया है। शैली वर्णनात्मक है जिसमें मानव-मन की अन्तर्दशाओं की अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मिक व्यंजना हुई है। आचार्य शुक्ल का प्रिय-प्रवास के सम्बन्ध में कहना है कि "इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या, अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्ध काव्य के समस्त अवयव इसमें कहाँ आ सकते।" किन्तु हमारे विचारानुसार इसकी महाकाव्यता अक्षुण्ण है। यह ठीक है कि महाकाव्य के लिए कथा की विशालता और उसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण आवश्यक है, जबकि प्रिय-प्रवास की कथा—कृष्ण का ब्रज से मथुरा को प्रवास और फिर लौट आना मात्र है। किन्तु कवि की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने छोटी-सी कहानी के भीतर कृष्ण-जीवन का सम्पूर्ण वृत्त और उसके माध्यम से समाज के विविध वर्गों और समस्याओं का सुन्दर समावेश कर दिया है। इस छोटे से वृत्त के भीतर मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण और भी प्रशंसनीय बन पड़ा है। उपाध्याय जी ने वैज्ञानिक और बुद्धि प्रधान-युग में एक नये कृष्ण और नई राधिका दी है। यहाँ कृष्ण एक शुद्ध मानव रूप में हैं और उन्हें विश्व-मानव व मानव एवं जन-नेता के रूप में चित्रित किया गया है। राधा आधुनिक युग की प्रवृत्ति नारी के रंग में रंगी हैं। वास्तव में हरिऔध ने राधा के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन की एक केन्द्रीय समस्या का उद्घाटन किया है और उसका एक स्थूल-सा समाधान भी उपस्थित किया है। राधा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करने वाली नारी है जो कि उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन में नारी को सक्रिय जुट जाने की एक सबल प्रेरणा है। वह मानवता के हित के लिए अपने आपको न्यौछावर करती है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद का यह पहला स्वरूप है। राधा की निम्नांकित उक्ति कितनी मार्मिक बन पड़ी है—

"प्यारे जीवें, जगहित करें, गेह चाहे न आवें।"

उपाध्याय जी के "वैदेही वनवास" में लोक-संग्रह की भावना की प्रधानता है, किन्तु इसमें कोई विशेष नवीनता नहीं झलक पाई।

मैथिलीशरण गुप्त (सन् १८८६-१९६५)—आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रतिनिधि और राष्ट्र कवि के रूप मे विख्यात कवि गुप्त ने स्पष्ट शब्दो में महावीर प्रसाद द्विवेदी का आभार स्वीकार किया है—

तुलसी भी करते कैसे मानसनाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद ॥

आपकी खड़ी बोली की कविताएँ सरस्वती पत्रिका में द्विवेदी जी के सम्पादन काल तक बराबर निकलती रहीं। उन दिनों इतिवृत्तात्मक कविताओं के लिखने का बड़ा जोर था। १९१० ई० में इनका छोटा-सा प्रबंध काव्य "रंग में भंग" छपा जिसमें चित्तौड़ और बूंदी के राजघरानो की आन और मान की कथा है। लेकिन हिन्दी जगत् और हिन्दुओ मे उनकी ख्याति की धूम मचा देने वाली रचना "भारत भारती" है जो मुसद्दस हाली के ढग पर लिखी गई है। इसमें हिन्दुओ के अतीत गौरव और वैभव की अपेक्षा में वर्तमान हीन दशा का वर्णन करके हिन्दू जनता को जागृत किया है। इसमे भविष्य-निरूपण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण रूप न दे सकने पर भी गुप्त ने इस रचना द्वारा खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता सिद्ध कर दी। काव्य की मर्मबोधिनी रसात्मकता न होने पर भी यह पुस्तक हिन्दू-युवको में विशेष प्रिय हुई। इसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता और अंग्रेजी शासन के प्रति भक्ति भाव भी मिलते हैं जिन्हें कि भारतेन्दुकालीन दृष्टिकोण के अवशेष चिन्ह समझना चाहिए। आगे चलकर गुप्त जी की दृष्टि अधिक व्यापक, उदार और मानवतावादी हो गई। भारत-भारती की पद्धति पर इन्होंने आगे चलकर "हिन्दू", "केशों की कथा" और 'स्वर्ग सहोदर' आदि रचनाएँ लिखी जो कि मंगल घट मे सगृहीत हैं।

प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा इनमें बराबर चलती रही। रंग में भंग, जयद्रथ वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पचवटी, सिद्धराज, साकेत और यशोधरा इनके प्रबन्ध काव्य हैं। जयद्रथ वध और पंचवटी को साहित्य क्षेत्र में काफी सम्मान मिला। साकेत और यशोधरा इनकी स्थायी कीर्ति के दो स्तम्भ हैं। साकेत की रचना मे इन्होंने हिन्दी महाकाव्यों में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उपाध्याय जी की 'राधा' कवि जगत मे खूब चर्चित रही हैं किन्तु रामकाव्य परम्परा में न तो किसी कवि का अयोध्यावासियों की ओर ध्यान गया और यदि गया भी तो बेचारी उर्मिला तो एकमात्र उपेक्षित ही रह गई। गुप्त जी का कवि राम-वन-गमन में तत्पर नहीं हुआ, वह अयोध्या में रमा और इस काव्य की नायिका उर्मिला तथा नायक भरत को सदा देखता रहा। गुप्त के राम, बाल्मीकि और तुलसी के राम न होकर सामान्य मानव हैं और अपनी मानवता के उत्कर्ष द्वारा ईश्वरत्व के अधिकारी हैं। कैकेयी के प्रति कवि ने पर्याप्त सवेदनशीलता से काम लिया है। इसके साथ-साथ साकेत में तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का भी प्रतिबिम्ब हैं जैसे—उर्मिला द्वारा सैनिकों को अहिंसा की शिक्षा, प्रजा के अधिकारों की चर्चा, राम-वन-गमन/पर अयोध्यावासियों

का सत्याग्रह, विश्व-बन्धुत्व और मानवता के आदर्शों की प्रतिष्ठा। आचार्य शुक्ल ने इन सब बातों को गुप्त जी का अनाड़ीपन कहा है जो कि गुप्त के साथ सर्वथा अन्याय है। ये सामयिक घटनाओं के प्रभाव हैं जिन्हें कवि ने बड़ी सावधानी से ग्रहण किया है। ऐतिहासिक कथा और पात्रों में उपयुक्त परिवर्तन को अनाड़ीपन कहना शुक्ल जैसे आलोचक के लिए उचित नहीं था और फिर राम कथा का शुद्ध मौलिक और प्रामाणिक रूप क्या है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी आदि कवियों के राम अपनी-अपनी भावना के अनुरूप निर्मित हैं।

साकेत में वर्णनात्मक तथा प्रगीत दोनों शैलियों को अपनाया गया है। कथा के अन्तिम चार सर्गों में विकास में कुछ शिथिलता आ गई है। ऐसी और भी कई त्रुटियाँ इस काव्य में आ गई हैं, किन्तु कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि साकेत एक श्रेष्ठ काव्य है।

यशोधरा की रचना चम्पू के ढंग पर की गई है। इसमें नाटक के समान गद्य और पद्य दोनों का समावेश है। इसमें बुद्ध भगवान के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों के भावों की बड़ी उच्च और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। गीतों में भावाभिव्यञ्जना अत्यन्त मनोरम बन पड़ी है। गुप्त जी ने लिखा है कि यशोधरा का साकेत उर्मिला ने किया। बुद्ध यशोधरा को आधी रात में सोती छोड़कर सिद्धि के लिए चले गये। उसे त्याग का भी गौरव नहीं मिला, बस यही उसका उपालम्भ है और वेदना है—"सखि वे मुझ से कह कर जाते।" विरहिणी यशोधरा और कुमार राहुल का चरित्र चित्रण इस काव्य में अत्यन्त मार्मिक, करुणोत्पादक तथा मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है। वियोग-वर्णन के प्रसंग में कवि ने रीतिकालीन आलंकारिक परम्परा का अनुधावन किया है।

प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त मुख्यतः छायावाद के प्रभाव में गुप्त जी गीति मुक्तकों की ओर भी झुके। साकेत के नवम् सर्ग और यशोधरा के गीतों में छायावादी भावात्मक व्यंजना का स्पष्ट प्रभाव है। इनके रहस्यवादी गीत 'झंकार' में संगृहीत हैं। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है "पर असीम के प्रति उत्कंठा और लम्बी चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्त जी की अन्तःप्रेरित प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख वे उधर भी जा पड़े।"

गुप्त जी में कालानुसरण की अद्भुत क्षमता है और यही इनकी कला की विशेषता है। इन्होंने युग की उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इस दृष्टि से ये निःसंदेह हिन्दी के प्रतिनिधि कवि ठहरते हैं। भारत भारती में भारतेन्दु-कालीन स्वदेश प्रेम है। इनके साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलनों का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। एक ओर इनके काव्यों में वर्णनात्मक शैली है तो दूसरी ओर छायावादी शैली और रहस्यानुभूति है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "गुप्त जी वास्तव में सामञ्जस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का

प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव तथा नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें है।"

रामचरित उपाध्याय (स० १९२९)—ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे और पहले पुराने ढंग की कविता किया करते थे, किन्तु बाद में द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से खड़ी बोली में इनकी कविताएँ सरस्वती पत्रिका मे बराबर छपती रहीं। 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देव सभा', 'देवी-द्रौपदी', 'भारत भक्ति', विचित्र विवाह' इत्यादि अनेक कविताएँ इन्होंने खड़ी बोली में लिखी हैं। इनकी छोटी कविताएँ अधिकतर विदग्ध भावना के रूप में हैं। 'रामचरित चिन्तामणि' इनका प्रबन्ध काव्य है। इनकी कविता में द्विवेदी-कालीन प्रवृत्तियाँ प्रायः मिल जाती हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त प० गिरधर शर्मा, लोचनप्रसाद, पाडेय आदि और भी बहुत से कवि हुए जिन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट है। इन लोगों की कविताएँ इतिवृत्तात्मक पद्य मात्र नीरस निबन्ध के रूप में हुआ करती थीं जिसकी प्रतिक्रिया छायावादी युग में हुई।

द्विवेदी जी ने कविता के लिए जो परिधि और क्षेत्र निश्चित किए थे उनसे बाहर भी कविता होती रही। इस प्रकार की कविता ब्रज और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में हुई। ब्रज-भाषा में तो शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त, सवैयों या गेय पदों में होती रही और खड़ी बोली में नूतन विषयों—देश दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश, त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता, पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसगों पर कविता होती रही किन्तु उसमें अपेक्षाकृत जीवन की गहराई और नवीन उद्भावना की कमी है। इस धारा के कवियों ने कहीं-कहीं दार्शनिक तथ्यों का समावेश भी करना चाहा है, परन्तु उसमें रसात्मकता का प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता। इन कवियों ने प्रकृति का चित्रण भी किया और इस दिशा में उन्हें कुछ सफलता भी मिली, किन्तु इनका प्रकृति-वर्णन मनुष्य के सुख दुःख की सौंदर्य-भावना तक सीमित रहा, प्रकृति के प्रति अपेक्षित रागात्मकता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकी। इस धारा के प्रमुख-प्रमुख कवि हैं—राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शकर, गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही, सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी और रूपनारायण पाडेय।

राय देवीप्रसाद पूर्ण—व्रजभाषा काव्य की पुरानी परम्परा को आजीवन बनाए रहे। इस दिशा में रसिक समाज द्वारा इनका पर्याप्त आदर भी हुआ। स्वदेश-प्रेम-विषयक इनकी कविताओं में भारतेन्दु आदि के समान देश-भक्ति और राजभक्ति एकत्र प्रतिध्वनित होती रहीं। खड़ी बोली के अधिक प्रचार हो जाने पर इन्होंने उसमें भी कविताओं की रचना की जो कि देश-भक्ति तथा प्रकृति चित्रण से सम्बद्ध हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इनकी कविता में अनुभूति की कोई विशेष गहराई नहीं है।

नाथूराम शंकर—इन्होंने इन दोनों भाषाओं में कविता की। समस्या पूर्ति में वे काफी सिद्धहस्त थे। आर्यसमाज के साथ विशेष सम्बन्ध होने के कारण इनकी खड़ी बोली की कविताओं, जो कि सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध हैं, में पर्याप्त निर्भीकता और उद्दण्डता का समावेश हो गया है। फबतियाँ और फटकार इनकी कविता का एक विशेषता है। इनकी कविता में अनुभूति का योग नहीं है, केवल चमत्कार प्रदर्शन की स्थूल भावना है। ये वस्तुतः पुरानी रीति काव्य परम्परा के कवि हैं, भेद केवल इतना है कि इन्होंने ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली में लिखा है। नाथूराम शंकर सन् १९६२ तक जीवित रहे, किन्तु कविता में इनकी प्रतिभा युग का साथ न दे सकी।

रामनरेश त्रिपाठी—श्रीधर पाठक ने जिस स्वच्छन्दतावाद का आभास दिया था, त्रिपाठी जी में वह प्रवृत्ति कुछ और अधिक उभरे हुए रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक इतिवृत्तों में न बंधकर स्वच्छन्द कथाओं की उद्भावना की है 'मिलन'। 'पथिक" और 'स्वप्न" नामक इनके खंड काव्य इस बात के प्रमाण हैं। शुक्ल के शब्दों में "इन प्रबन्धों में नर-जीवन जिन रूपों में ढाल कर सामने लाया गया है, वे मनुष्य मात्र का मर्म स्पर्श करने वाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छन्द और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।" भारतेन्दु काल से देश प्रेमाभिव्यक्ति की जो परम्परा चली थी, त्रिपाठी जी ने उसे रसात्मक रूप दिया। कहीं कहीं इन्होंने प्रकृति के सुन्दर संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किए हैं। इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं रहस्योन्मुख प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। भले ही त्रिपाठी जी आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण सर्वांग सजीव पात्र की सृष्टि नहीं कर सके, किन्तु फिर भी इनके स्वप्न नामक काव्य में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व अच्छा मिलता है। त्रिपाठी ने अपने काव्यों द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। इसमें सन्देह नहीं और यह भी निःसंदिग्ध है कि इनमें स्वच्छन्दतावाद Romanticism) की प्रवृत्तियाँ प्राय मिलने लगीं।

द्विवेदी-युगीन ब्रजभाषा-काव्य

भारतेन्दु-युग तक कविता की भाषा ब्रजभाषा बनी रही और गद्य क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग चलता रहा। द्विवेदी-युग में भाषा व्यवहार की द्विविध नीति समाप्त हो गई। गद्य तथा पद्य दोनों क्षेत्रों में खड़ी बोली का अबाध प्रयोग होने लगा। प्रायः उस समय के सभी कवियों ने खड़ी बोली का हार्दिक स्वागत किया। कुछ कवि इससे पूर्व ब्रजभाषा में कविता लिख चुके थे। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, हरिऔध तथा नाथूराम शंकर के नाम प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कवि ऐसे थे जो ब्रजभाषा के मोह का परित्याग न कर निरन्तर इसमें काव्य सृजन करते रहे। जगन्नाथदास रत्नाकर तथा कुछ सीमा तक सत्यनारायण कविरत्न ऐसे कवि थे। रामदेवी

अवध पूर्ण गयाप्रसाद स्नेही तथा भगवान दीन दोनों भाषाओं में कविता करते रहे।

द्विवेदी युगीन-ब्रजभाषा काव्य में काव्य की प्राचीन परम्पराओं का अनुगुंजन है। काव्य की विषय वस्तु भक्ति, श्रृंगार तथा ऋतु वर्णन तक सीमित रही। शिल्प की दृष्टि से इस काव्य पर प्राचीनता की स्पष्ट छाप है। पुरानी परम्पराओं का चिरभुक्त रूप सर्वत्र अवलोकनीय है। इस काव्य का वातावरण मध्य काल तक सीमित रहा है।

जगन्नाथदास रत्नाकर—आधुनिक ब्रज भाषा के उच्च कोटि के कवियों में से एक हैं। ये ब्रज भाषा के पक्षपाती थे। इनकी रचना शैली मतिराम, देव पदमाकर और सेनापति की शैली जैसी है। इनकी मौलिक रचनाओं में "गंगावतरण" तथा "उद्धव शतक" अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इन्होंने अनेक ग्रथो का सम्पादन किया तथा बिहारी सतसई की टीका भी लिखी जो अत्यन्त प्रामाणिक समझी जाती है। उक्त धारा के कवियों में जगन्नाथदास रत्नाकर विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके काव्य में भक्ति, नीति श्रृंगार, वीरता तथा रीति परम्परा का अनुधावन एकत्र मिलता है। इनके काव्य में भावों की रमणीयता के साथ स्पृहणीय शैलीगत अलंकरण दर्शनीय है जो कि रसास्वादन में कहीं भी बाधक नहीं बनता। इनके समान उक्ति वैचित्र्य, चित्रोपम शैली तथा सूक्ष्म सूझ-बूझ विरले ही कवियों में मिलेगी।

गया प्रसाद स्नेही—इनकी भाषा परिनिष्ठित ब्रजभाषा है। समस्या-पूर्ति में आप अत्यन्त निष्णात थे। उक्ति वैचित्र्य, शब्द-संघटन और रूप चित्रमयी कल्पना स्नेही जी की विशेषताएँ हैं। "प्रेम पच्चीसी", "कुसुमांजलि" और "कृषक-क्रन्दन" इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आप खड़ी बोली और ब्रज दोनों भाषाओं में कविता किया करते थे।

सत्यनारायण कविरत्न—पक्के वैष्णव और कृष्ण के अनन्य उपासक थे। आप अपने सवैयों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। जैसे रत्नाकर पद्माकरी शैली के कवि माने जाते हैं। वैसे कविरत्न नन्ददासीय शैली के कवि माने जाते हैं। 'भ्रमर दूत' इनका प्रसिद्ध खण्डकाव्य है जिसमें भारत भूमि पर यशोदा का आरोप किया गया है और अंग्रेजों पर कंस का। कृष्ण से प्रार्थना की गई है कि वह अंग्रेज रूप कंस का नाश करे। इनकी भाषा में ब्रज भाषा का मधुर और प्रांजल रूप है।

द्विवेदीयुगीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

निःसंदेह भारतेन्दु-युग में कविता ने एक नवीन मोड़ लिया और उसमें आधुनिकता का सहज समावेश हुआ, किन्तु उसमें प्राचीनता के प्रति मोह भी बना रहा। द्विवेदी-युग में पहुँचते-पहुँचते उसमें बाल-सुलभ चपलता और विमोहकता के स्थान को अनुशासन, गम्भीरता और विचारात्मकता ने ले लिया। इस युग की समूची साहित्य-चेतना के सूत्रधार स्वनाम धन्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। भारतेन्दु-युग में

कविता में जिन नवीन प्रवृत्तियों का उद्गम हुआ वे इस युग में क्रियात्मक रूप से विकसित हुई। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य के भावपक्ष और कला-पक्ष दोनों में एक नूतन आदर्श की प्रतिष्ठा की। इस युग में हिन्दी साहित्य की नवीन परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन तथा विकास हुआ। विशेषतः कविता, आलोचना और कथा-साहित्य में इस युग में प्रौढ़ता आई। पच्चीस वर्षों की इस छोटी-सी अवधि में एक अतीव आश्चर्यजनक साहित्यिक अनेकरूपता आई। निम्नांकित पंक्तियों में हम इस युग की कविता की भावगत तथा कलागत प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे।

(१) देशभक्ति की कविता—इस काल के प्रत्येक कवि ने देशभक्ति सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। भारतेन्दु युगीन कविता का देश-प्रेम, जो कि भाषा, भोजन और वेश तक सीमित था, अब उसकी परिधि व्यापक हो गई। इस युग की कविता की राष्ट्रीय-भावना जातीयता पर आधारित थी, जिसमें प्रमुख अवलम्ब देश के उज्ज्वल अतीत गौरव को लिया गया। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इससे इस समय जो राष्ट्रीय जागरण हुआ वह एक प्रकार से हिन्दू जागरण था, क्योंकि इस जागरण में हिन्दू इतिहास और परम्परा का आश्रय या अवलम्ब प्रधान था। गौरव की भावना भी हिन्दुओं में ही जगी और हिन्दू ही अतीत के समान वर्तमान और भविष्य को सुधारने तथा समुज्ज्वल बनाने को सचेष्ट हुए। इस प्रकार यह राष्ट्रीय जागरण और हिन्दू पुनरुत्थान दोनों बना, फिर भी इन सब परिस्थितियों का सबसे बड़ा और शुभ परिणाम यह हुआ कि जनता की हीनता की भावना दूर हुई और पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध कम हो गई। "जनता को अपना अतीत इतना प्रिय लगा कि उसके समक्ष उसे पाश्चात्य संस्कृति बिल्कुल हेय प्रतीत होने लगी। समाज और साहित्य पर यह प्रभाव आर्य समाज आदि के शुभ आन्दोलनों का था। डी० पी० मुकर्जी ने इस समय के सांस्कृतिक जागरण को लक्ष्य रखकर कहा है, "इस समय हिन्दू दर्शन और लोकाचार के लिए जितने दावे पेश किए गए उतनों की ऋषि-मुनियों की भी हिम्मत नहीं पड़ी थी।"

इस युग की कविता में देश-भक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति छोटी-छोटी फुटकर कविताओं और प्रबन्ध-काव्य दोनों रूपों में हुई। गुप्त का साकेत, उपाध्यायजी का प्रिय प्रवास, रामचरित उपाध्याय का रामचरित चिन्तामणि और सत्यनारायण कविरत्न का भ्रमरगीत जहाँ हिन्दी-भाषा के गौरव ग्रंथ हैं, वहाँ देश-भक्ति और अतीत की ज्वलंत विभूतियों के भी भव्य निदर्शन हैं। इस काल की कविता में वर्तमान की दयनीयता पर करुणा प्रकट की गई है और उसे अतीत के सहारे समुन्नत करने की सफल चेष्टा की गई है। इस युग की कविता में अभिव्यक्ति जातीय-प्रेम किसी अन्य धर्म, सम्प्रदाय या जाति के प्रति विद्वेष-पूर्ण नहीं है, अतः उसमें किसी की साम्प्रदायिकता या संकीर्णता नहीं है। इस काल का जातीय प्रेम शनैः शनैः क्रियात्मक रूप से एक व्यापक समस्त देश-प्रेम के रूप में विकसित हो गया, जिसमें समूचा भारत प्रतिबिंबित हो उठा—"हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सब आपस में

भाई-भाई।" डा० शिवदान सिंह चौहान इस काल की देश-भक्ति सम्बन्धी कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"उनकी दृष्टि मूलत बहिर्मुखी है, इसलिए, राष्ट्र जीवन की समसामयिक हलचलो मे निरन्तर रमती चली आई हैं, अतर्मुखी होकर व्यक्ति-चेतना की अगम गहराइयो में नहीं उतर पाई है। विशेषकर लोकप्रचलित पौराणिक आख्यानों, इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं में इन्होंने अपने काव्य की विषय-वस्तु को सजाया है। इन आख्यानो, वृत्तो और घटनाओं के चयन में उपेक्षितो के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बहने वाली कविता की बहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक जीवन के व्यक्ति एव समाज सम्बन्धी गहरे तात्त्विक प्रश्नों के प्रति नहीं तो राजनीतिक पराधीनता और राष्ट्रीय सघर्ष के प्रति सचेत बनाने में बहुत बडा काम किया है।"

(२) धार्मिक कविता—इस युग के कवि की धार्मिक चेतना में पर्याप्त व्यापकता और विशदता आई। अब उसने भगवान् के कोरे गुणगान और सिद्धान्तो के आख्यान के स्थान पर आध्यात्मिकता और मानवता आदि के आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। मानवतावाद के आदर्श के कारण कविता मे पीडित, शोषित, दुर्बल और दलित के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित हुई। कवि का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति मानव-प्रेम से सम्भव है। उसे दुखियो के आँसुओं और करुण विलाप में ईश्वर प्राप्ति सम्भव प्रतीत होने लगी। इस प्रकार कवि का ईश्वर प्रेम, मानव प्रेम अथवा विश्व-प्रेम में बदल गया। ठाकुर गोपालशरण सिंह के शब्दों में—

> जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
> विश्व प्रेम के बन्धन ही मे, मुझको मिला मुक्ति का द्वार॥

इस स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण दुखियो के प्रति अन्याय और अवहेलना करने वाली सामन्तीय सभ्यता की कवि ने कटु निन्दा की। उसे ईश्वर की दिव्य शक्ति का अनुभव जन सेवा मे हुआ। बौद्धिकता के समावेश के कारण राम और कृष्ण का आदर्श मानव के रूप में चित्रण किया गया। अब राम और कृष्ण केवल साकार रूप में न रहकर विश्व व्याप्त दृष्टिगोचर हुए। उपदेशात्मक और नैतिक कविताओं का प्राय: अभाव हो गया। जीवन, जगत् और प्रकृति में व्याप्त ईश्वर के प्रति कवि की अभिव्यक्त भावनाओं मे रहस्यात्मकता आ गई। इस सम्बन्ध मे काफी सुन्दर अन्योक्तियों का भी प्रणयन हुआ। इस काल की रहस्योन्मुख कविता का एक उदाहरण देखिए—

> तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं।
> सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं॥

कवि को समस्त प्रकृति ईश्वर की खोज में व्यस्त दृष्टिगोचर होती है—

क्षण भर में तब जड़ में हो जाता चैतन्य विकास।
वृक्षों पर विकसित फूलों का होता हास विलास ॥

इस काल की कविता की यह रहस्यात्मक प्रवृत्ति आगे चलकर प्रसाद-काल में कविता की एक महत्वपूर्ण सामान्य प्रवृत्ति बन गई। डॉ० शुक्ल द्विवेदीयुगीन धार्मिक कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"भारतेन्दु युग की धार्मिक कविता से यह नि:सन्देह अधिक उन्नत है। उपदेशात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर कवियों ने मानवतावाद को ग्रहण किया। उदारता और व्यापक मनोदृष्टि इस समय की धार्मिक कविता के विशेष लक्षण हैं। अन्योक्तियाँ सौन्दर्यपूर्ण हैं और उनमें काव्यत्व है। इन कवियों के रहस्यात्मक मुक्तक गीतों ने तृतीय उत्थान की कविता को अधिक प्रभावित किया। कवियों की यह सफलता साधारण नहीं है। विश्व प्रेम और जन-सेवा की भावना के द्वारा तृतीय उत्थान के कवियों ने धार्मिक कविता को अधिक उन्नतिशील बनाया।"

(३) सामाजिक कविता—भारतेन्दु युग की कविता में सामाजिक सुधारों का स्वर मुखरित था, किन्तु उसमें खडनात्मकता की कर्कशता अधिक थी। इसके अतिरिक्त इस काल में कवि की दृष्टि समाज के सभी अंगों पर भी नहीं गई, उसने समाज के उस अंग पर उद्गार प्रकट किए जिससे वह अत्यधिक प्रभावित हुआ, किन्तु द्विवेदी युग के कवि की दृष्टि समाज के सभी पक्षों पर पड़ी और अब उसकी वाणी में खडनात्मकता के स्थान पर मडनात्मकता और सद्भावना झकृत हो उठी। इस युग के कवि को समाज की सर्वांगीण उन्नति अभीष्ट थी। श्रीधर पाठक ने विधवाओं की दीन दशा के अत्यन्त करुण चित्र अंकित किए हैं। इस क्षेत्र में हरिऔध का कार्य और भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने अछूतोद्धार, सामाजिक कुरीतियों और कुलीनता आदि पर व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखी हैं। इन्होंने जन्म और वंशगत कुलीनता की अपेक्षा कर्मगत उच्चता को श्रेयस्कर बताया है। नाथूराम शंकर के कट्टर आर्य-समाजी होने के कारण सामाजिक आलोचना में पर्याप्त कटुता और उग्रता है और कहीं-कहीं तो उसमें औचित्य की सीमा का भी अतिक्रमण हो गया है। इस काल के कवियों ने स्त्री-सुधार एवं उद्धार पर कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। नाथूराम शंकर तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह की कविताओं में दहेज-प्रथा और बाल-विवाह का घोर विरोध किया गया है। स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह आदि विषयों का प्रबल समर्थन इनकी कविताओं की विशेषता है। इस दिशा में मैथिलीशरण गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्हें हिन्दू समाज की सर्वांगीण सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति अभीष्ट है और यह कार्य इन्होंने अतीत के गौरव-गान द्वारा सम्पन्न किया है। इनकी "भारत भारती" में जहाँ वर्तमान दशा पर करुण आँसू बहाए गए हैं, वहाँ उनमें अतीत का हर्षोत्फुल्ल गान है। इनके साकेत और यशोधरा में नारी के उदात्त स्वरूप का उद्घाटन हुआ है। इन्होंने अछूतोद्धार, भारतीय किसान तथा समाज के पिछड़े हुए अन्य वर्गों पर अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण लिखा है। कुछ

आलोचकों ने इस काल के सामाजिक सुधार और जातीय प्रेम पर साम्प्रदायिकता एव सकीर्णता का आरोप किया है, किन्तु यह निराधार है। जातीय प्रेम कोई बुरी वस्तु नहीं है बल्कि यह विश्व प्रेम की इकाई है। निन्दनीय उस दशा मे है जबकि इसमें वर्ग विद्वेष का विष का सन्निहित हो। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन कवियों को हम साम्प्रदायिक या कट्टरपंथी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन कवियों का हृदय उदार और मनोवृत्ति व्यापक है। ये कवि प्राचीन "समाज और नवीन विचारों का सामजस्य चाहते हैं।" आगे चलकर वे लिखते हैं—सक्षेप मे उनका अतीत से प्रेम और हिन्दुत्व उनकी मानसिक सकीर्णता का द्योतक न होकर परिस्थिति की परवशता और दुर्बलता का परिचायक है। इसीलिए काव्य की इन प्रवृत्तियो को प्रतिबिम्बित करते हुए भी वे इनके लिये उत्तरदायी नहीं क्योंकि कुछ कवि समय के साथ साथ आगे बढ़ते गये हैं।" सच यह है कि द्विवेदी-युग में इस प्रेम में उत्तरोत्तर व्यापकता आने लगी थी और आगे चलकर तो यह भावना विश्व-प्रेम की भावना में परिणत हो गई।

(४) **इतिवृत्तात्मकता**—द्विवेदी युग की अधिकाश कविता शृंगार रस से मुक्त है। भारतेन्दु-काल में रीतिकालीन शृगार परम्परा फिर भी जिस किसी रूप मे चलती रही किन्तु इस युग में उसका प्रणयन प्राय बद सा हो गया है। द्विवेदी जी की आदर्शवादिता, सात्विकता और सयम के प्रभाव के साथ-साथ आर्यसमाज तथा दूसरी संस्थाओं के प्रभाव के परिणामस्वरूप शृगार रस की अश्लीलता और उच्छृखलता के रूप को समझकर कविता-क्षेत्र से उसकी बहिष्कार कर दिया गया, इससे कविता में इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति ने जोर पकडा। कविता मे इतिवृत्तात्मकता (Matter of fact) की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उसमे लाक्षणिकता चित्रमयी भावना और वक्रता बहुत कम रह गई जो इस ससार की गति को तीव्र करके सहृदय के मन को आकर्षित किया करती है। द्विवेदी जी के सामने दो शैलियाँ थीं—बगला की कोमल-कान्त पदावली और दूसरी मराठी की वर्णन प्रधान इतिवृत्तात्मक शैली, उन्होंने दूसरी शैली को अपनाया क्योंकि वह उनके मन के अधिक अनुकूल थी और साथ ही वह नैतिकता के प्रचार तथा आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए भी उपयुक्त थी। नाना पौराणिक (Prosaic) को वर्णन-प्रधान शैली—गद्यात्मकता में उपन्यस्त किया गया। इससे कविता में शुष्कता और नीरसता आ गई और उसमें अनुभूति मे अधिक गहराई न आ पाई। भारतेन्दु-काल में इतिवृत्तात्मकता की जिस प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ था, द्विवेदी युग में उसमे खूब परिपक्वता आई और आगे चलकर इसकी प्रतिक्रियास्वरूप छायावाद का उदय हुआ।

(५) **प्रकृति-चित्रण**—भारतेन्दु युग में कविता में प्रकृति-चित्रण पुरानी बँधी-बधाई परम्परा पर होता रहा। भारतेन्दु युग के कवि का मन मानव के बाह्य व्यापारों के वर्णन में अधिक रमा, प्रकृति के मनोरम रूप की ओर कम गया किन्तु द्विवेदी युग के कवि का ध्यान प्रकृति के यथातथ्य वर्णन की ओर गया। इस

काल के अनेक कवियों की दृष्टि प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर गई और प्रकृति इस समय की कविता का प्रधान वर्ण्य विषय बन गई। इसी दशा में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीधर ने काश्मीर और देहरादून की सुषमा का रमणीय वर्णन किया है —

प्रकृति जहाँ एकान्त बैठि, निज रूप सवारति।
पल-पल पलटति भेष छनिक, छवि छिन छिन धारति॥

श्रीधर पाठक ने प्रकृति के संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों रूपों का सुन्दर वर्णन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे। उन्होंने प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया है। उन्हें, प्रकृति के संवेदनात्मक चित्रण की अपेक्षा चित्रात्मक वर्णन अधिक पसंद हैं। इनके प्रकृति चित्रण में मनुष्य और प्रकृति के बीच रागात्मकता के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा हुई है। रामनरेश त्रिपाठी खण्ड-काव्यों – पथिक और स्वप्न – में नदी, पर्वत और समुद्र आदि के दृश्य भव्य रूप में चित्रित हुए हैं। कवि ने संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। इनके प्रकृति चित्रण में कहीं-कहीं रहस्यात्मकता का भी समावेश हो गया है और कहीं-कहीं प्राचीन परम्परा का परिपालन भी परिलक्षित होता है। हरिऔध के प्रिय प्रवास के प्रकृति-वर्णन के अनेक प्रसंगों को देखकर कहा जा सकता है कि उनमें कोई नवीनता नहीं है। कहीं-कहीं तो उन्होंने परिगणन-शैली का प्रयोग किया है जिसे प्रकृति चित्रण नहीं कहा जा सकता है। नाममात्र गिनाने से प्रकृति का कोई सजीव चित्र उपस्थित नहीं होता। इनका रात्रि-वर्णन राधा की भावनाओं से इतना दब गया है कि प्रकृति-वर्णन का वहाँ कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रही। मैथिलीशरण गुप्त में भी प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। इन्होंने प्रकृति वर्णन के द्वारा नैतिक उपदेश देने की चेष्टा की है। इन्होंने साकेत में प्रकृति-वर्णन की पुरानी परिपाटी को भी निभाया है। प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से इनका पंचवटी काव्य कुछ अच्छा बन पड़ा है। द्विवेदी युग के प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन करते हुए हम डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में कह सकते हैं, "द्वितीय उत्थान के कवि न प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर सके और न मानवता को प्रकृति का कोई सन्देश ही प्रदान कर सके। नैतिकता के कोरे उपदेश भी इसी के परिणाम हैं। इस समय के अधिक कवि प्रकृति के ऊपरी रूप की झलक-मात्र से सन्तुष्ट थे। उन्होंने प्रकृति की अन्तरात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न बहुत कम किया।"

(६) कालानुसरण की क्षमता—इस काल के प्रायः सभी कवियों में युग की बदलती हुई भावनाओं को आत्मसात् करने की शक्ति तथा काल क्रमानुसार उद्भूत काव्य-रूपों और शैलियों को अपनाने की अपार क्षमता है, गुप्त इस काल के ज्वलंत उदाहरण हैं। गुप्त ने द्विवेदी युग तथा छायावादी युग की विचारधारा और काव्यरूपों का अपने काव्य में सफल प्रयोग किया है। हमारे विचार में यह बात द्विवेदी युग के सभी कवियों पर न्यूनाधिक रूप से चरितार्थ होती है। वस्तुतः इस युग का कवि

संक्रमण काल से गुजर रहा था, युग के प्रतिनिधित्व के लिए उसके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी था। उर्दू कवि गालिब की निम्न उक्ति इस युग के कवि पर प्रायः ठीक बैठती है—

चलता हूँ थोड़ी दूर हर इक तेज रो के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी रहबर को मैं ॥

(७) बौद्धिकता की प्रधानता—इस युग का कवि और उसका काव्य दोनों पाश्चात्य संस्कृति के बौद्धिकतावाद से अत्यन्त प्रभावित हैं। प्रस्तुत युग के कवि को हिन्दू जागरण के लिए भारत के अतीत के गौरव और सांस्कृतिक उच्चता का प्रतिष्ठापन करना अभीष्ट था क्योंकि इसके बिना अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी सभ्यता के रंग में प्रवाहवत बहने वाले भारतवासी के मन से हीनता की भावना का निराकरण असम्भव था, अतः इस युग के कवि ने अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति की बौद्धिक व्याख्या की। गुप्त के राम अवतारी राम न होकर आदर्श मानव हैं, जो कि कोई दिव्य संदेश नहीं लाए हैं बल्कि निज कर्मों से इस भू को स्वर्गवत् ललाम बनाने आये हैं। हरिऔध के कृष्ण और राधा भी आदर्श समाज सुधारक तथा नेता हैं। इस प्रकार इन कवियों ने राम और कृष्ण की कथा में कई नवीन तत्त्वों का समावेश किया, जिसका लक्ष्य एक-मात्र देश के हितैषियों को देशोन्नति का मार्ग प्रदर्शित करना है। कवि की इस मनोवृत्ति का रहस्य तत्कालीन परिस्थितियों में निहित है। आर्य समाज के प्रभाव फलस्वरूप उस समय के हिन्दू के हृदय में अपनी उच्चता का भाव दृढ़ हो रहा था और साथ-साथ उसमें निजी संस्कृति के गौरव का एहसास भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। इन्होंने प्राचीनता की बुद्धिसम्मत व्याख्या करके आधुनिकता को आदर्शमय बनाना चाहा क्योंकि बुद्धिवाद अरुचिकर जिज्ञासाओं से बचाता है और मानवों को अव्यवस्थाकारी तत्त्वों से बचाकर सुव्यवस्थित बनाए रखता है।

(८) देश का अतीत गौरव और संस्कृति—द्विवेदी युगीन कविता में लोक-सेवा विश्व प्रेम, लोक रक्षा, कर्त्तव्य, त्याग, नेतृत्व, संघटन और उन्नयन आदि की अनेक भावनाएँ मिलती हैं। खूबी इस बात की है कि उक्त तत्त्व भारत के अतीत में भी मिलते हैं। इस प्रकार इस युग के कवि ने अपने अतीत राम और कृष्ण आदि की कथाओं में विविध नवीन तत्त्वों का समावेश करके उनकी बुद्धिसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की। कवि ने अतीत के गौरव का स्मरण दिलाकर वर्तमान के निर्माण का उत्साह भरना चाहा है। इस युग के कवि ने अतीत के दर्शन, कला, साहित्य विज्ञान और समृद्धि सबका विशद गान किया है और वह पुकार उठा है—

'संसार को पहले हमीं ने ज्ञान शिक्षा दान की।"

तथा

यह पुण्य भूमि प्रसिद्ध है इसके निवासी आर्य हैं।
विद्या कला कौशल सभी के, जो प्रथम आचार्य हैं।।
हैं रह गये यद्यपि हमारे, गीत आज रहे सहे।
पर दूसरों के वचन भी साक्षी हमारे हो रहे ।।

उपर्युक्त कथनों से एक बात स्पष्ट है कि कवि हिन्दू-पुनरुत्थान के लिए अधिक चिंतित हैं, पर यह स्मरण रखना होगा कि उसे अन्य जातियों से विद्वेष नहीं है। इन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभाव को दूर करने के लिये हिन्दुओं में जातीय अभिमान को जगाने के लिए अपनी संस्कृति की उज्ज्वलता का विश्वास दृढ़ किया और अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखने की प्रेरणा दी। डॉ० शुक्ल के शब्दों में—"संक्षेप में उनका अतीत प्रेम और हिन्दुत्व उनकी मानसिक संकीर्णता का द्योतक न होकर परिस्थिति की परवशता और दुर्बलता का परिचायक है। इसलिए काव्य की इन प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करते हुए भी वे इसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं, क्योंकि कुछ कवि समय के साथ-साथ आगे बढ़ते गये हैं।

(६) नवीन तथा साधारण विषय—आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिए कुछ नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-सुधार, स्वदेश-प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रह कर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी परन्तु गहराई के साथ नहीं। त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए, जिनके बीच-बीच में जन्म-भूमि-प्रेम, स्वजाति गौरव, आत्म-सम्मान की व्यंजना करने वाले जोशीले भाषण रखे गए।" उदाहरणार्थ, गोपालशरणसिंह की उलाहना, हृदय की वेदना, कामताप्रसाद गुरु की मैना की स्वतन्त्रता, रामचरित उपाध्याय की विविध विडम्बना, हरिऔध की 'भोर का उठाना' 'पृथ्वीनाथ भट्ट की मौत का डंडा' आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनमें साधारण विषयों का ग्रहण किया गया है। इन कविताओं में कहीं-कहीं पर सुन्दर व्यंग्योक्तियाँ हैं, इस काल के अन्य अनेक कवियों ने भी साधारण विषय को लेकर कविताएँ लिखीं, जिनमें भाषा की चुस्ती भले ही है, परन्तु अनुभूति की गहराई का अभाव है।

(१०) अनुवाद-कार्य—इस काल में देशी और विदेशी भाषाओं के साहित्य की कविताओं का हिन्दी खड़ी बोली में अनुवाद भी हुआ। आचार्य द्विवेदी का उद्देश्य हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाना था। अतः उन्होंने अनुवाद की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन दिया। हम पहले ही लिख चुके हैं कि द्विवेदी जी के सामने दो शैलियाँ थीं—बंगला की कोमलकान्त पदावली तथा मराठी की वर्णप्रधान इतिवृत्तात्मक शैली। द्विवेदी जी ने हिन्दी कविता के लिए दूसरी को अपनाया, क्योंकि यह उनके मन के अनुकूल पड़ती थी। उस काल के अन्य कवियों ने भी कविता में इसी शैली का निर्वाह किया। बंगला भाषा के साहित्य की इन्होंने भाव सामग्री को उक्त शैली में अनूदित किया। मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल मधुसूदन के दो काव्यों—मेघनाद-वध तथा विरहिणी व्रजांगना का सुन्दर अनुवाद किया। इन्होंने नवीनचन्द्र सेन के "पलासीर युद्ध का भी सफल अनुवाद किया। सियारामशरण गुप्त आदि कई कवियों की कविताओं पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि का स्पष्ट प्रभाव है।

इस काल में अंग्रेजी साहित्य की कविताओं के अनुवाद की भी परम्परा खूब चली । श्रीधर पाठक के गोल्डस्मिथ के हरमिट का एकान्तवासी योगी, ट्रैवलर का श्रान्त पथिक, डेजर्टेड विलेज का ऊजड़ ग्राम के रूप में सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर, लाँगफैलो, बायरन और ग्रे की अनेक कविताओं का अनुवाद भी हिन्दी खड़ी बोली में हुआ । सच यह है कि इस काल में यह अनुवाद कार्य हिन्दी [illegible] के पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में बराबर चलता रहा है। इससे हिन्दी साहित्य [illegible] में और व्यापकता आई।

(११) काव्य रूपों में अनेकता—इस काल मे प्रबन्ध-काव्य, खड-काव्य और प्रगीत [illegible] का प्रणयन हुआ। गीतों में छायावाद की लाक्षणिक व्यंजना और अप्रस्तुत [illegible] का भी अनुकरण किया गया, परन्तु विशेष सफलता नहीं मिली, क्योंकि [illegible] युग के कवि की मनोवृत्ति बाह्य वर्णनों में अधिक रमती रही है। इस युग की साहित्यक अनेकरूपता के सम्बन्ध में डा० कृष्णलाल लिखते हैं—"पच्चीस वर्षों मे ही अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन-खण्डो के स्थान पर महाकाव्य, आख्यान काव्य (Ballads), प्रेमाख्यान काव्य, प्रबन्ध काव्य, गीत काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना प्रधान, चरित्र प्रधान सुसज्जित ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचना हुई। समालोचना और निबन्धों की अपूर्व उन्नति हुई।"

(१२) छन्द—ब्रज भाषा समर्थकों को खडी बोली की काव्योपयुक्तता के साथ-साथ इसके विविध छन्दों के ग्रहण की क्षमता पर भी सन्देह था किन्तु इस काल के कवियों ने उनकी सब शकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया। इन कवियों ने खड़ी बोली मे विविध छन्दों का सफलता से प्रयोग किया। इन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक हिन्दी, सस्कृत और उर्दू के विविध छन्दो का अत्यन्त सफल प्रयोग किया। आवश्यकतानुसार इन कवियो ने संस्कृत वृत्तो मे भी कविता की और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में भी और छायावादी कविता से प्रभावित होकर अतुकान्त तथा छन्द मुक्त कविता भी लिखी है।" श्रीधर पाठक ने अनेक छन्दो का प्रयोग किया उन्होने लावनी और उर्दू की बहरों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया। स्नेही और लाला भगवानदीन ने भी उर्दू के छन्दों का अच्छा प्रयोग किया है। श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गुप्त, हरिऔध राय, देवी प्रसाद पूर्ण और रूपनारायण पाण्डेय ने संस्कृत छन्दों का स्तुत्य प्रयोग किया है। इस काल मे ब्रज भाषा के कवित्त और सवैया आदि छन्दों का प्रयोग भी होता रहा। इन कवियो द्वारा अपनाए गए उर्दू और संस्कृत के छन्दों की विशेष प्रशंसा नहीं की जा सकती है। वस्तु स्थिति यह है कि इस काल का कवि भाषा के सस्कार में लगा रहा, उसे नवीन छन्द-निर्माण की कोई चिन्ता नहीं थी। छन्द-सौन्दर्य की अभिवृद्धि का कार्य अगले युग में सम्पन्न हुआ।

(१३) भाषा सस्कार—यह द्विवेदी युग की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। खड़ी बोली के आन्दोलन में खडी बोली के समर्थकों को सफलता मिली। इन्होंने

ब्रजभाषा को काव्य-क्षेत्र से अपदस्थ करके साहित्य के दोनों क्षेत्रों—गद्य और पद्य मे खड़ी बोली का अबाध प्रयोग किया तथा उसकी काव्योपयुक्तता सिद्ध कर दी। परन्तु अभी तक उसके रूप मे परिष्कार तथा संस्कार की आवश्यकता बनी थी, जिसे द्विवेदी जी तथा उनके सहयोगी गुप्त एवं हरिऔध आदि ने पूरा किया। खड़ी बोली की पदावली के परिष्कार कार्य मे महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इन्होंने उर्दू और अग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो को हिन्दी में लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। खड़ी बोली के व्याकरणसम्मत प्रयोग पर अत्यधिक बल दिया, वाक्य-विन्यास को शुद्ध किया और विभक्तियो के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए। इस प्रकार इन्होंने खड़ी बोली के रूप को स्थिरता प्रदान की, उसमे स्वच्छता और परिपक्वता आई। इस समय से खड़ी बोली कविता की शैली उत्तरोत्तर स्वच्छ, शक्ति-शाली और अभिव्यक्तिपूर्ण होती गई। छायावादी युग की कविता मे मसृणता, कलात्मकता और अभिव्यक्ति-क्षमता के लिए बहुत कुछ भूमि द्विवेदी युग मे तैयार हो गई थी।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग और छायावादी युग के बीच की कड़ी है। यह युग भारतेन्दु-युग से प्रभावित हुआ और इसने अग्रिम युग को प्रभावित किया। इस युग में कुछ कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में कविता की नवीन प्रवृत्तियों के बीज सन्निहित हैं। नवीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं—मुक्तक गीतात्मकता, भाषा की लाक्षणिकता और रहस्या-त्मकता, इन सबका मूल द्विवेदी युग की कविता मे है। 'द्विवेदी युग के अन्तिम वर्षों की रचनाओं से आधुनिक युग की छायावाद और रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ विकसित हुई और प्रगतिवाद का सम्बन्ध भी इनसे जोड़ा जा सकता है।"

डा० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में, "द्विवेदी युग के कवियों ने साहित्य, जाति और देश की सेवा की और कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा बनाए रखी। अतीत का चित्रण करते हुए भी ये कवि वर्तमान को न भूले। सास्कृतिक रक्षा के साथ-साथ सुधार का भी ध्यान रखा और जाति का अभ्युत्थान चाहते हुए भी देशहित का गान गाया। हिन्दू होते हुए भी ये कवि भारतीय थे। इनमें जातीयता थी, किन्तु साम्प्रदायिकता नहीं थी। सच्चे कवि के समान ये युग से प्रभावित भी हुए और उस पर अपनी छाप भी लगा दी और इस प्रकार काव्य को उन्नतिशील बनाया। इस प्रकार द्विवेदी युग का काव्य जहाँ एक ओर सास्कृतिक सम्पर्क, संघर्ष और सस्कार की कथा कह रहा है, वहाँ इन कवियों की सहानुभूति, सच्चाई और स्वतन्त्र तथा उदार व्यक्तित्व का संकेत दे रहा है। इसी में इन कवियों की सफलता और इसी में इन कवियों की महत्ता है।"

छायावाद-युग

कालावधि—दो महायुद्धों के बीच की स्वच्छन्दतावाद की कविता को

सामान्यतः छायावाद के नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु यह समझना गलत होगा कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर सन् १६१८ में कविता की यह धारा सहसा फूट पड़ी और द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ पर अर्थात् १६३६ में यह एक दम विलीन हो गई। छायावादी कविता की धारा सन् १८ से पूर्व ही प्रवाहित होने लगी थी और सन् ३६ के बाद भी बल्कि आज भी प्रवाहित हो रही है। दो महायुद्धों के बीच की कविता से हमारा तात्पर्य है कि इस अवधि में छायावादी काव्यधारा प्रमुख रूप से रही।

कोई अनुकरण नहीं—छायावाद साहित्य के कला और भाव-क्षेत्र में एक महान् आन्दोलन है, जिसकी सर्वप्रमुख भावना आधुनिक औद्योगिकता से प्रेरित व्यक्तिवाद है। हिन्दी साहित्य की प्रस्तुत काव्यधारा अपने आप में मौलिक और स्वतन्त्र है। कुछ आलोचकों ने छायावाद को पाश्चात्य साहित्य की रोमांटिक धारा तथा बंगला साहित्य का अनुकरण मात्र कहा है, किन्तु यह नितान्त असमीचीन है। इस काव्यधारा का अपना जीवन-दर्शन है और यह यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की अनुरूपता में प्रस्फुटित हुई। यह केवल एक अन्य भाव प्रतिक्रिया ही नहीं है, बल्कि जीवन और जगत् के प्रति एक निश्चित और मूलभूत दृष्टिकोण भी है। इसलिए हिन्दी छायावादी कविता को पाश्चात्य या बंगला-काव्य की अनुकृति या अनुवर्तिनी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनसे प्रभावित वह अवश्य है।" आगे चलकर डा० शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं—'अत यह कहना जैसे गलत होगा कि फ्रांसीसी धारा, जर्मन धारा के अनुकरण पर चली या अंग्रेजी धारा, फ्रांसीसी धारा की अनुवर्तिनी थी, उसी तरह यह कहना भी गलत होगा कि हिन्दी की छायावादी कविता पाश्चात्य धारा की नकल है और यदि फैशन की नकल की जाती है तो तत्कालीन समसामयिक फैशन की सौ वर्ष पुराने फैशन की नहीं। किन्तु उस स्वच्छन्दतावादी धारा का जिससे छायावाद की कविता प्रभावित है, सत्तर वर्ष पहले अवसान हो चुका था, और प्रथम महायुद्ध के बाद की पाश्चात्य कविता स्वच्छन्दतावाद के अवशिष्ट ह्रासोन्मुख, घोर व्यक्तिवादी, अनास्थावादी और असामाजिक तत्त्वों को ही एकांगी अभिव्यक्ति दे रही थी। छायावादी यदि सहसा उनकी परिपाटी पर चल पड़ते तो उन पर अनुकरण वृत्ति का आरोप सही उतरता।" हाँ, छायावादी कवियों ने अंग्रेजी साहित्य की उन्नीसवीं सदी की रोमांटिक धारा के कुछ सामान्य तत्त्वों का ग्रहण अवश्य किया।

नामकरण—प्रस्तुत काव्य-धारा के नाम 'छायावाद" के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इतना अवश्य है कि 'छाया' शब्द का छायावादी काव्य के स्वरूप और लक्षणों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं बैठता है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि बंगला में प्रतीकात्मक अध्यात्मवादी रचनाओं को छायावादी कहा जाता था, अत उसके अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में ऐसी रचनाओं के लिए छायावाद नाम चल पड़ा, किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि बंगला में

छायावादी नाम कभी चला ही नहीं। मुकुटधर पाँडेय ने सर्वप्रथम व्यंग्यात्मक रूप (कविता न होकर उसकी छाया है) में शब्द का स्वच्छन्दतावादी नवीन अभिव्यक्तिमय रचनाओं के लिए प्रयोग किया, जो कि बाद में इस कविता के लिए रूढ़ हो गया और स्वयं स्वच्छन्दतावादी कवियों ने इसे अपना लिया। जयशंकर प्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। ···· छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से पानी की तरह अन्तः स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया ·····कांतिमय होती है।" महादेवी वर्मा इस सम्बन्ध में लिखती हैं—"सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिये रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।" प्रसाद और महादेवी के उपर्युक्त कथनों में चिन्तन के स्थान पर भावुकता है। इन्होंने छायावादी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का सामान्य संकेत तो कर दिया है किन्तु छायावाद शब्द की उक्त प्रकार के काव्य के विषय में सार्थकता या शब्द की अर्थपूर्ण व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। सच तो यह है कि छायावाद शब्द स्वच्छन्दतावादी कविता के लिए रूढ़ हो गया और आज भी उसका इसी अर्थ में ग्रहण होता है।

परिभाषा एवं स्वरूप—छायावाद क्या है? इस विषय में हिन्दी-साहित्य के विद्वानों ने इतना अधिक लिखा है कि कदाचित् एक साधारण पाठक विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को पढ़कर असमंजस में पड़ जाता है। छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले आलोचकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो छायावाद के आलोचक और दूसरे छायावादी वे कवि जिन्होंने इस सबंध में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम (क) आलोचकों और (ख) कवि आलोचकों द्वारा दी गई छायावाद विषयक परिभाषाओं का क्रम से अध्ययन करके इस काव्यधारा के सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न करेंगे—

(क)·· आचार्य शुक्ल ने छायावाद का ग्रहण दो अर्थों में किया है—एक तो आध्यात्मिकता-प्रधान प्रतीकवादी हिन्दी की कविताएँ और दूसरा एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति-शैली। उनके शब्दों में "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए-एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका संबंध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।"

डॉ० रामकुमार ने भी शुक्ल के समान छायावाद को रहस्यवाद से अभिन्न

माना है। इनके शब्दों में, परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।" श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में 'छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।" इस प्रकार इन्होंने छायावाद को रहस्यवाद से कुछ मिलता जुलता बताया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है— छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना विचारे ही दे दिया गया —

(१) (क) *जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी।* (ख) जो वक्तव्य विषय को कवि व्यक्तिगत की चिन्ता और अनुभूति के रंग में रंग कर अभिव्यक्त करती थी। (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदलते हुए अलंकार मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी। (घ) जिनमें छन्द, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई थी।

(२) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा शैली में अपने को अभिव्यक्त किया है।

(३) सभी उल्लेख योग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति *की व्याकुलता भी थी।'*

इस प्रकार द्विवेदी जी के अनुसार छायावाद एक सांस्कृतिक परम्परा का परिणाम है। काव्य की यह भारतीय परम्परा अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित अवश्य है लेकिन अनुकृति नहीं। इसमें मानवीय जीवन के नवीन मूल्यों की नवीन शैली में अभिव्यक्ति हुई है। इसमें आध्यात्मिक अनुभूति, मानवतावादी विचारधारा तथा वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने भाव-लोक की प्रगति के तीन चरण माने हैं—प्रथम वस्तुवाद, द्वितीय छायावाद, तृतीय रहस्यवाद। पांडेय जी के अनुसार 'यह (छायावाद) वस्तुवाद और रहस्यवाद के बीच की कड़ी है।"

श्री रामकृष्ण शुक्ल ने छायावाद तथा रहस्यवाद को प्राय एक ही मान लिया है 'छायावाद प्रकृति में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है रहस्यवाद *समस्त सृष्टि में ईश्वर का, ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है।* इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"

डॉ० नगेन्द्र ने एक ओर तो छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है और दूसरी ओर इसे जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण कहा है। उनके शब्दों में 'छायावाद एक विशेष प्रकार की भावपद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष

भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण था और रीतिकाव्य एक दूसरे प्रकार का उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।"

डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है—"छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु वह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वावधान में हुआ था। इसलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" हमारे विचारानुसार आचार्य जी की इस सर्वमान्य व्याख्या में छायावाद के कतिपय छोरों को ही छुआ गया है, छायावाद के संपूर्ण स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है। डॉ० देवराज का कहना है कि "छायावाद गीति-काव्य है, प्रकृति काव्य है, प्रेम-काव्य है।" उक्त परिभाषा में बहुत कुछ कह देने की लालसा है।

हिन्दी के कुछ अन्य विद्वान् आलोचकों ने छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किए हैं—"छायावाद द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया है।" "प्रकृति में चेतना का आरोप छायावाद है।" "मानवीकरण छायावाद है।" "जिस प्रकार परमात्मा के प्रति प्रणय रहस्यवाद है इसी प्रकार प्रकृति के प्रति प्रणय छायावाद है।" पर इन सभी लक्षणों में सर्वांगीणता न होकर एकांगिता है।

(ख) जयशंकर प्रसाद छायावाद के सम्बन्ध में लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति-भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य, प्रकृति-प्रधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव, समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमय होती है।"

महादेवी वर्मा का कहना है कि "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अत: अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।"

सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने काव्य 'पल्लव' की भूमिका में छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने छायावाद को अंग्रेजी साहित्य के

रोमांटिसिज्म से प्रभावित माना है। प्रसाद जहाँ छायावाद को भारतीय काव्य परम्परा में रखते हैं, पन्त उसे अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिसिज्म-परम्परा में।

छायावाद के सम्बन्ध में दी गई उपयुक्त परिभाषाओं से अनेक बातें ज्ञात होती हैं। (१) छायावाद में आध्यात्मिकता होती है। (२) यह एक पद्धति-विशेष है। (३) छायावाद प्रकृति में मानवीकरण है। (४) छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है। (५) यह एक भावात्मक दृष्टिकोण है। (६) यह एक स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। (७) यह एक गीति काव्य है, जिसमें प्रेम और सौन्दर्य का अंकन होता है। (८) इसमें स्वानुभूति का ध्वन्यात्मक लाक्षणिक तथा उपचार-वक्रतामयी प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्तिकरण होता है। (९) इसमें युगानुरूप वेदना की विवृत्ति होती है और यह वाद एक सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है। (१०) इसमें आधुनिक औद्योगिकता से प्रेरित व्यक्तिवाद है, जिसमें चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है तथा इसमें मानवीय जीवन के नव मूल्यों का अंकन है। (११) यह एक थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह है। (१२) इसका मूलाधार सर्वात्मवाद है।

छायावाद सम्बन्धी उपर्युक्त विशिष्टताओं को यदि क्रमात्मक रूप से सूत्र-बद्ध किया जाये तो कदाचित् सम्भव है कि हम इस काव्य धारा की विराट् चेतना के स्वरूप को समझने में समर्थ हो सकें। इस प्रकार छायावाद के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत कुछ डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में कह सकते हैं कि 'भारतीय काव्य-परम्परा में हिन्दी-कविता की छायावाद धारा अपने पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया में प्रस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण, एक विशेष दार्शनिक अनुभूति और एक विशेष शैली है, जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम के व्याज से लौकिक अनुभूतियों का चित्रण है, जिसमें प्रकृति का मानवीकरण है, वेदना की विवृत्ति है, सौन्दर्य चित्रण है, गीति-तत्त्वों की प्रमुखता है और जिसके व्यक्तिवाद के स्व में सर्व-सन्निहित है।"

परिस्थितियाँ—हिन्दी की छायावादी काव्यधारा का उद्भव तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों में देखा जा सकता है। इन परिस्थितियों का अध्ययन इस कविता की धारा के सम्यक् विश्लेषण के लिए आवश्यक है।

राजनीतिक परिस्थिति—छायावादी काव्यधारा दो महायुद्धों के बीच की कविता है। इस समय स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रपिता गांधी कर रहे थे जिनके प्रमुख अस्त्र थे, सत्य, अहिंसा एवं असहयोग की नीति। यद्यपि प्रारम्भिक रूप में इन उपकरणों से कोई विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु न तो गांधी जी इससे निरुत्साहित हुए और न देशवासी। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने छायावादी काव्य की वेदना और निराशा का सम्बन्ध प्रथम महायुद्ध के बाद अंग्रेजी शासन का अपने वचनों को न पूरा करना, रौलट एक्ट तथा १९१९ के अवज्ञा आन्दोलन की सफलता

के साथ जोड़ा है, किन्तु यह नितान्त असंगत है। असफलता के अनन्तर भी भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों के लक्ष्य, नीति और अदम्य उत्साह में तिल भर भी अन्तर नहीं आया। इन्हीं सतत प्रयत्नों और अप्रतिहत उत्साह-शक्ति के परिणाम-स्वरूप १९४७ में स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। छायावादी कवियों की राजनीतिक आन्दोलनों के प्रति अपेक्षाकृत उदासीनता के कारण तत्कालीन राजनीतिक निराशा नहीं प्रत्युत् औद्योगिकता से प्रेरित उनका व्यक्तिवाद है तथा उनका काव्य के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है। यह तो एक संयोग था कि छायावाद का जब जन्म हुआ उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहे थे और यदि वे न भी होते तब भी छायावादी काव्य का जन्म अवश्यम्भावी था और उसका स्वरूप भी यही होता जो अब हमारे सामने है। डा० शिवदानसिंह के शब्दों में, "इसीलिए इसी बात को स्पष्ट समझ लेने की जरूरत है कि यदि हमारा देश पराधीन न होता और हमारे यहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता न रही होती, तो भी आधुनिक औद्योगिक समाज (पूँजीवाद) का विकास होते ही काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मुखर हो उठती। इसलिए छायावादी कविता राष्ट्रीय आन्दोलन या जागृति का सीधा परिणाम नहीं बल्कि पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने जिस तरह सामूहिक व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई और राष्ट्रीय संघर्ष की प्रेरणा दी, उसी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रेरणा दी।...इस दृष्टि से ही हम कह सकते हैं कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य के प्रभावों को ग्रहण करती हुई छायावादी कविता राष्ट्रीय जागरण के क्रोड में पनपी और फूली-फली।" हाँ, राष्ट्रीय आन्दोलनों का लाभ अवश्य हुआ कि व्यक्तिवाद असामाजिक पथों पर न भटका।

धार्मिक परिस्थिति—छायावादी काव्य की दार्शनिकता प्राचीन अद्वैतवाद तथा सर्वात्मवाद से गहरे रूप में प्रभावित है। महादेवी वर्मा के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य हैं—'छायावाद कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूति सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सम्भाल सकी।' इसके अतिरिक्त छायावादी काव्य पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गाँधी, टैगोर तथा अरविन्द के दर्शनों का भी गहरा प्रभाव पड़ा।

सामाजिक परिस्थिति—पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और [illegible] प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय समाज के सम्पूर्ण जीवन में एक नवीन परिवर्तन तथा

विचारों में एक नूतन क्रांति आई। इस प्रभाव ने जहाँ एक ओर हमारे देश में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय आन्दोलनों को जन्म दिया वहाँ इसने सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। हमारे देश के नवयुवकों में व्यक्तिवाद का बोलबाला हुआ। उनके वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आया। किन्तु दुःखद बात यह थी कि स्वच्छन्दतावादी नवीन पीढ़ी धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों, जाति-पाँति, अन्धविश्वासों और मिथ्या-डम्बरों को छिन्न-भिन्न करने को सन्नद्ध थी, जबकि उसके समक्ष पुरानी पीढ़ी की समस्त रूढ़ियाँ अटल चट्टान के समान थीं जो कि उनके स्वप्नों के स्वर्णिम संसार को चकनाचूर कर देती थीं। परिणामस्वरूप जीवन में कुण्ठा, अतृप्ति और निराशा की भावनायें शनैः-शनैः बद्ध-मूल होने लगीं, जिनकी अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

छायावादी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि का विश्लेषण करते हुए केसरीनारायण शुक्ल लिखते हैं—"छायावाद के व्यक्तिवाद, आत्माभिव्यक्ति, कलावाद आदि बुर्जुआई (Bourgeoisie) संस्कृति के ही विविध रूप हैं। हमारे समाज की व्यवस्था ही प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर है।...आज के समाज के मूल्यांकन का मानदण्ड अधिकार-स्वायत्त मूल्य (Property values) के आधार पर है तो जनहित की अपेक्षा व्यक्तिगत सफलता की भावना प्रमुख हो गई। पूँजीवादी मितव्ययता (Capitalist Economy) द्वारा जिसका आधार ही व्यक्तिगत एकाधिकार है। सघटित समाज में व्यक्ति का प्राधान्य अनिवार्य था।" इस प्रकार की सामाजिक स्थिति में छायावादी कवि में व्यक्तिवाद का प्राधान्य अनिवार्य था और उसका स्वच्छन्दतावाद तथा कलावाद की दुहाई देना भी स्वाभाविक था।

साहित्यिक परिस्थिति—पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के समान वहाँ के साहित्य का भी विशेषतः अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिसिज्म का हिन्दी के छायावादी काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद—रोमांटिसिज्म का प्रारम्भ अठारहवीं शती में सेम्युअल रिचर्डसन, हेनरी फील्डिंग, स्टर्न और गोल्डस्मिथ (सन् १७२८-७४ ई०) से माना जा सकता है। आगे चलकर इस धारा के अन्तर्गत वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन और कूपर आदि ने अपनी अमूल्य कृतियों का प्रणयन किया। अंग्रेजी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें—"प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, मानवतावाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, रहस्यात्मकता, सौन्दर्य का सूक्ष्म चित्रण, प्रकृति में चेतना का आरोप, गीतिशैली और व्यक्तिवाद आदि हिन्दी के छायावाद में समान रूप से मिलती हैं।" इस साम्य का कारण अनुकरण नहीं, बल्कि दोनों कवियों के दृष्टिकोण में समता है। बंगला-साहित्य अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित हो चुका था, अतः हिन्दी के छायावादी कवि ने भी प्रभाव-ग्रहण करने में संकोच नहीं किया।

अंग्रेजी साहित्य के इस स्वच्छन्दतावाद से छायावाद के इस घनिष्ठ साम्य

को देखकर, हिन्दी साहित्य के कुछ आलोचकों ने छायावाद को अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद को ही हिन्दी का संस्करण कह दिया है जो कि नितान्त असमीचीन है। हम पहले कह चुके हैं कि छायावाद पर अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव अवश्य है, और इन दोनों में बहुत कुछ साम्य भी है, छायावाद केवल स्वच्छन्दतावाद की अन्धानुकृति मात्र नहीं है। छायावाद का उद्भव भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप हुआ। छायावादी काव्यकार का जीवन और जगत के प्रति अपना एक निश्चित दृष्टिकोण है। यदि हिन्दी का छायावाद अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद के फैशन की नकल है तो तत्कालीन फैशन की नकल होनी चाहिए थी, फिर सौ वर्ष पुराने फैशन की क्यों? छायावाद और स्वच्छन्दतावाद को साम्य के आधार पर परस्पर अभिन्न मानना भ्रम होगा, क्योंकि छायावाद की सृष्टि एक सर्वथा भिन्न देश और काल में हुई।

वस्तुस्थिति तो यह है कि छायावाद और स्वच्छन्दतावाद की उदयकालीन परिस्थितियों में एक गहरा साम्य है। जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के जन्म से पूर्व साहित्य में अति नैतिकता, सुधारवाद, इतिवृत्तात्मकता, शुष्कता तथा शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था। ठीक यही दशा छायावाद के अभ्युदय से पूर्व हिन्दी में द्विवेदी युग में थी जिसकी प्रक्रिया छायावाद के रूप में हुई। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के शब्दों में—"फ्रांस की राज्य क्रांति ने इंगलैण्ड के कवियों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संदेश दिया तो दूसरी ओर 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' की घोषणा ने हमारे छायावादियों को गुलामी की भावना से मुक्त किया। रोमांटिक युग के युवकों को सौन्दर्य और प्रेम की उन्मुक्त लालसा पर धार्मिक संस्थाओं एवं सामाजिक मान्यताओं का अंकुश लगा हुआ था तो छायावादी युग के प्रेमियों पर हिन्दू समाज की रूढ़ियों का नियंत्रण था। रोमांटिक कवि दैनिक जीवन की असफलताओं, विषमताओं एवं कटुता का त्राण प्रकृति एवं आध्यात्म में ढूँढने को विवश हुए थे तो हिन्दी कवियों को भी इनसे बढ़कर और कोई आश्रय नहीं था। अतः मूलाधार की दृष्टि से भी दोनों में भी गहरा साम्य है।"

छायावादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इस काव्य की विषयगत और कलापक्ष-गत प्रवृत्तियों का विश्लेषण पृथक्-पृथक् किया जायगा।

(१) व्यक्तिवाद की प्रधानता—हिन्दी के छायावादी काव्य की मूलभूत प्रवृत्ति आधुनिक औद्योगिकता में प्रेरित व्यक्तिवाद है। आधुनिक युग की प्रतिद्वन्द्वात्मक व्यवस्था, अधिकार-स्वायत्ता और पूँजीवादी मितव्ययता के परिणामस्वरूप व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। इस व्यक्तिवाद के फलस्वरूप छायावादी कवि ने स्वच्छन्दतावाद कलावाद की दुहाई दी जो नैसर्गिक थी। "केवल आध्यात्मिक पक्ष या दार्शनिक अनुभूति ही छायावाद नहीं है। छायावादी कविता मूलतः व्यक्तिवाद की कविता

है, जिसमे मध्ययुगीन अवशेषों से युक्त भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली है। प्रथम महायुद्धोत्तर हिन्दी-कविता जाति, महा जाति अथवा महत्त्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख दुःख की नहीं वरन् व्यक्ति के *सुख दुःख की कहानी है। विषयवस्तु की खोज मे कवि बाहर नहीं अपने मन के भीतर* ही झाँकता है।" छायावादी कवि को अपने व्यक्तित्व के प्रति अगाध विश्वास था और उसने बड़े उत्साह से काव्य के भाव और कलापक्ष में निज व्यक्तित्व का प्रदर्शन किया। अहभावना (Egoism) छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता बन गई, और इस प्रकार छायावादी काव्य में वैयक्तिक सुख दुःख की अभिव्यक्ति खुलकर हुई। जयशकर प्रसाद का "आँसू" तथा पन्त जी के "उच्छ्वास" और 'आँसू" व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति के सुन्दर निदर्शन हैं।

वैसे तो व्यक्तिवाद न ही अपने आप में कोई वस्तु बुरी है और न ही इसमे किसी प्रकार की कोई असामाजिक भावना है किन्तु इस प्रसग मे और विशेषत छायावादी काव्य के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि इसके व्यक्तिवाद के अह त्व में सर्व-सन्निहित है। छायावादी कवि का हास और रुदन रूढ़िग्रस्त सघर्ष परायण प्रबुद्ध भारतीय का हास और रुदन है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में अत्यन्त मार्मिक शब्दो में लिखते हैं—"कवि का "मैं" प्रत्येक प्रबुद्ध भारतवासी की 'मैं' था, इस कारण कवि की विषयगत दृष्टि ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो लाक्षणिक भाषा और अप्रस्तुत योजना शैली अपनाई, उसके सकेत और प्रतीक हर व्यक्ति के लिए सहज प्रेषणीय बन सके। छायावादी कवियो की भावनायें यदि उनके विशिष्ट वैयक्तिक दुःखो के रोने-धोने तक ही सीमित रहती, उनके भाव यदि केवल आत्मकेन्द्रित ही होते तो उनमें इतनी व्यापक प्रेषणीयता कदापि न आ पाती। निराला ने लिखा—

'मैंने "मैं" शैली अपनाई,
देखा एक दुःखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में,
झट उमड़ वेदना आई।"

इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सुख दुःखों की अपेक्षा अपने से अन्य के सुख-दुःख की अनुभूति ने ही नये कवियो के भाव प्रवण और कल्पनाशील हृदयो को स्वच्छन्दतावाद की ओर प्रवृत्त किया।"

(२) प्रकृति चित्रण—सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण छायावादी काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है, जिसे तीन रूपो में विभक्त किया जा सकता है—नारी सौन्दर्य एव प्रेम-चित्रण, प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम की अभिव्यजना, अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद का चित्रण। छायावादी कवि का मन प्रकृति-चित्रण में खूब रमा है। इस काव्य में प्रकृति पर चेतनता का आरोप (मानवीकरण) किया गया है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा आदि छायावाद के सभी प्रमुख कवियों ने प्रकृति का नारी रूप मे चित्रण

किया है और सौन्दर्य एवं प्रेम की अभिव्यक्ति की है। जैसे—

"पगली हाँ सम्भाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।"

यहाँ प्रसाद अपने महाकाव्य 'कामायनी' में रात्रि को सम्बोधन करते हुए कह रहे हैं। छायावादी कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में रख कर उसका शृंगारिक चित्रण किया है जो कि रीतिकालीन शृंगार से भिन्न है। इनकी प्रकृति-सम्बन्धी शृंगारिकता में श्लीलता और सात्त्विकता है, रीतिकालीन ऐन्द्रियता नहीं, किन्तु कहीं-कहीं पर इनके प्रकृति विषयक चित्रणों में भी ऐन्द्रियता स्पष्टतः उभर आई है। "बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन" का स्वांग भरने वाले पन्त की कविता "भावी-पत्नी" में तथा निराला की कविता "जूही की कली" में किसी प्रकार की सूक्ष्मता तथा श्लीलता का दम भरना अपने आपको धोखा देना होगा। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "निराला की जूही की कली" को भले ही कुछ लोग प्रकृति-वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण मानें किन्तु हमारी दृष्टि में तो यह पुरुष और नारी के संगम का ही चित्रण है, उसका भौंरा कोई और नहीं वे कन्दर्पदेव ही हैं जो छायावादी कवियों के हृदय में सोये हुए थे और जूही की कली किसी सोती जागती रति देवी की प्रतिच्छाया मात्र है।" छायावादी कवि के लिए प्रकृति की प्रत्येक छवि विस्मयोत्पादक बन जाती है। वह प्राकृतिक सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर रहस्यात्मकता की ओर उन्मुख हो जाता है—

मैं भूल गया निज सीमायें जिससे,
वह छवि मिल गई मुझे।

छायावादी कवि ने निजी अनुभूतियों का व्यक्ती-करण प्रकृति के माध्यम से किया है। उदाहरणार्थ—"मैं नीर भरी दुख की बदली।" अधिकांश में छायावादी कवियों ने प्रकृति के कोमल रूप का चित्रण किया है, परन्तु कहीं-कहीं उसके उग्र रूप का चित्रण भी हुआ है।

(३) नारी के सौंदर्य एवं प्रेम का चित्रण—छायावादी कवि का नारी चित्रण अपेक्षाकृत सूक्ष्म और श्लील है। इसमें स्थूलता और मांसलता प्रायः न के बराबर है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

स्वच्छन्दतावादी होने के नाते इस कवि को प्रेम के क्षेत्र में जाति, वर्ण सामाजिक रीति-नीति, रूढ़ियाँ और मिथ्या मान्यताएँ और मर्यादाएँ मान्य नहीं हैं। निराला भी लिखते हैं—

दोनों हम भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप।
भिन्न धर्म भाव, पर केवल अपनाव से प्राणों से एक थे।।

इनके प्रेम-चित्रण में कोई दुराव-छिपाव नहीं है, उसमें कवि की वैयक्तिकता

है। इन्होंने नारी सम्बन्धी सौन्दर्य एवं प्रेम का चित्रण करते समय स्थूल क्रिया व्यापारों के चित्रण पर बल नहीं दिया है, भाव दिशाओं का चित्रण अधिक है। इनकी प्रणय गाथा का अन्त प्राय दुख, निराशा तथा असफलता में होता है, अत उसमें मिलन अनुभूतियो की अपेक्षा विरहानुभूतियों का चित्रण अधिक हुआ है और इस दिशा में इन्हें प्रशस्य सफलता मिली है। पन्त के शब्दों में—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह अहह कराहते इस शब्द को।

किसी कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोंक से, निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा॥

(४) रहस्यवाद—अलौकिक प्रम चित्रण—प्राय छायावाद के सभी आलोचकों ने इसमे दार्शनिक अनुभूति अथवा आध्यात्मिकता का पाया जाना आवश्यक माना है। छायावाद मे वाह्य पदार्थों की अपेक्षा आंतरिकता की प्रवृत्ति अधिक होती है। यह आंतरिकता या अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मनुष्य को रहस्यवाद की ओर अग्रसर करती है। इसलिए छायावाद के प्रत्येक कवि ने फैशन के रूप में, नाम कमाने के रूप में या आंतरिक अनुभूतियो के प्रदर्शन के रूप में रहस्यवादी भावना की अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार छायावादी रहस्यात्मकता में स्वभाव भिन्नता के कारण व्यजना और प्रतीकों में अनेकरूपता मिलती है। निराला तत्त्व ज्ञान के कारण, तो पन्त प्राकृतिक सौन्दर्य से रहस्योन्मुख हुए। प्रेम और वेदना ने महादेवी वर्मा को रहस्योन्मुख किया तो प्रसाद ने उस परमसत्ता को अपने बाहर खोजा। किन्तु इस सम्बन्ध में एक तथ्य को भूलना होगा कि पन्त, प्रसाद और निराला में रहस्यवाद की वह गहराई नहीं जो कबीर और दादूदयाल आदि मे है। छायावाद के रहस्यवादी कवियो में वह तन्मयता और विरहानुभूति की तीव्रता नहीं जो कबीर आदि में। सच तो यह है कि इनमें स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता है। रहस्यवादी कवि लौकिकता से अलौकिक और स्थूल से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता है, किन्तु इन छायावाद के रहस्यवादियों का क्रम उल्टा ही है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "वीणा में पन्त रहस्यवादी थे, गुंजन में पत्नी या प्रेयसीवादी, और युगान्त के बाद स्थूल भौतिकवादी और यही बात निराला में मिलती है।" निराला के पास तत्त्व ज्ञान तो है, पर वे उसे अनुभूति का विषय नहीं बना सके। छायावाद के श्रीगणेश-कर्त्ता तक में कोई सच्ची रहस्यात्मक अनुभूति नही। उनकी 'कामायनी' के दर्शन और रहस्य सर्ग शुष्क, नीरस और अनुभूतिशून्य हैं। सच तो यह है कि इन कवियों ने रहस्यात्मकता का अभिनय बडे कौशल से किया, जिससे उनका पाठकरूपी दर्शक चमत्कृत हो उठता है, पर तनिक गहराई से देखने से उस अलौकिक प्रेम के बाने में लौकिक प्रेम-लीला स्पष्ट दीखने लगती है। हाँ, रहस्यवाद के क्षेत्र में महादेवी वर्मा दृढता से पग बढाये जा रही हैं और उनकी अनुभूति में गहराई और सचाई भी लक्षित होती है, पर उनके पास भी कबीर और दादू जैसी विरह-अनुभूतियो का अभी तक अभाव है। उदाहरण के लिए देखिए—

प्रिय चिरन्तन है सजनि,
क्षण क्षण नवीन सुहागिनि मैं,
तुम मुझ में फिर परिचय क्या।

(५) रहस्यभावना एवं स्वतन्त्रता प्रेम—छायावादी काव्य में रहस्य भावना के साथ साथ स्वतन्त्रता का आह्वान भी किया गया है। रहस्यवाद में वृत्ति अन्तर्मुखी होती है जबकि राष्ट्रीय जागरण के युग में स्वतन्त्रता के आह्वान का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है और सम्भव है कि यह सम्मिश्रण कुछ विलक्षण भी प्रतीत हो, किन्तु यह कोई नई बात नहीं है। अंग्रेजी के रोमांटिक साहित्य में रहस्यवाद और स्वच्छन्दता की भावनाएँ दोनों मिलती हैं। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ और शैली ने जहाँ स्वतन्त्रता के गीत लिखे वहाँ रहस्यात्मकता का भी स्वर अलापा। आयरिश साहित्य के पुनरुत्थान काल में कवि कीट्स की रचनाओं में प्रतीकवाद, रहस्यात्मकता एवं स्वतन्त्रता प्रेम दोनों मिलते हैं। रूसी साहित्य के रोमांटिक कवि अलेक्जेंडर ब्लाक की रचनाओं में भी रहस्यात्मकता और स्वतन्त्रता प्रेम की भावनाएँ मिलती हैं। राष्ट्रीय जागरण की गोद में पल्ने पनपने वाला स्वच्छन्दतावादी छायावादी साहित्य यदि रहस्यात्मकता और राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं को साथ-साथ लेकर चला है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सच तो यह है कि राष्ट्रीय जागरण ने छायावाद के व्यक्तिवाद को असामाजिक पथों पर भटकने से बचा लिया। छायावादी कवि में आंतरिकता की कितनी भी प्रधानता क्यों न हो वह अपने युग से निश्चित रूप से प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि जयशंकर प्रसाद पुकार उठते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
अथवा
हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,

तथा माखनलाल चतुर्वेदी कह उठते हैं—

मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक।

इस प्रकार की राष्ट्र-प्रेम भावनाएँ प्रायः प्रत्येक छायावादी कवि की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई हैं।

(६) स्वच्छन्दतावाद—छायावादी कवि ने अहंवादी व व्यक्तिवादी होने के कारण विषय, भाव, कला, धर्म, दर्शन और समाज सभी क्षेत्रों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को अपनाया। उसे अपने हृदयोद्गारों को अभिव्यक्त करने के लिए किसी प्रकार का शास्त्रीय बन्धन और रूढ़ियाँ स्वीकार नहीं हैं। भाव-क्षेत्र में भी उसने इसी क्रांति का प्रदर्शन किया। उसने "मैं" की शैली अपनाई, हालांकि उसकी "मैं" में समूचा समाज सन्निहित है। अब छायावादी कवि के लिए प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक दिशा का

मार्ग उन्मुक्त था। छायावादी कवि के लिए कोई भी वस्तु काव्य-विषय बनने के लिए उपयुक्त थी। इसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप छायावादी काव्य में सौंदर्य और प्रेम चित्रण, प्रकृति-चित्रण, राष्ट्र प्रेम, रहस्यात्मकता, वेदना और निराशा, वैयक्तिक सुख-दुःख, अतीत प्रेम, कलावाद, प्रतीकात्मकता और लाक्षणिक अभिव्यंजना आदि सभी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। उसे पुरानी पिटी पिटाई राहों पर चलना अभिप्रेत नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावाद वैयक्तिक रुचि-स्वातन्त्र्य का युग है।

(७) वेदना और निराशा—इस काव्य में युगानुरूप वेदना की विवृत्ति हुई है। यह विवृत्ति कहीं पर अनन्त वेदना के रूप में हुई है तो कहीं पर करुण में और कहीं कहीं पर निराशा के रूप में। प्रसाद एवं महादेवी के काव्यों में अभिव्यक्त वेदना सेवावाद, मानवतावाद तथा आध्यात्मवाद पर आधारित है। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने छायावाद में अभिव्यक्त वेदना और निराशा पर तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता से जन्य निराशा का प्रभाव बताया है। इस सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं कि आन्दोलनों की असफलता से भी देशी नेताओं और देशवासियों में किसी प्रकार की उत्साह-विहीनता और निराशा नहीं आई। आन्दोलनों के साध्य और साधन पूर्ववत् बने रहे। दूसरी बात यह भी है कि छायावाद में आन्तरिकता की प्रधानता है। ऐसी बात तो नहीं कि छायावाद बाह्य हलचलों से एकदम अछूता रहा हो, पर इस सम्बन्ध में उसकी वेदना पर कोई भी तथाकथित प्रभाव नहीं है। डा० शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में, "इसलिए यद्यपि उनकी वाणी में मनुष्य की महिमा का उद्घोष है, रूढ़िग्रस्त समाज के बन्धनों और मनुष्य के शोषण उत्पीडन के विरुद्ध एक नैतिक और न्यायपरक भावना का मार्मिक प्रतिवाद है और समाज के अधिकार-वंचित प्राणियों के प्रति सहज करुणा और सहानुभूति की उदात्त भावना है, तो भी कहीं-कहीं घोर नैराश्य से भरा और आत्मपीडक चीत्कार भी है, जो अपने निबिड आवेग में उनके आधारभूत मानवता को समाजद्रोही भावनाओं से तिमिराच्छन्न कर लेता है। किन्तु ऐसी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ सन् ३५ के बाद ही अधिक मुखर हुईं और कुछ विशेष कवियों में ही, नहीं तो प्रसाद, निराला, पन्त जैसे अग्रणी कवियों की सहज प्रवृत्ति सामान्यतः अपने सुख दुःखों को वाणी न देकर उनसे ऊपर उठने की ओर हो रही है।'

(८) मानवतावाद—छायावादी काव्य की धार्मिक परिस्थितियों के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि यह काव्य भारतीय सर्वात्मवाद तथा अद्वैतवाद से गहरे रूप में प्रभावित हुआ है। इसके अतिरिक्त उस काव्य पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गांधी, टैगोर तथा अरविन्द के दर्शन का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण छायावादी कवि को साहित्य के समान धर्म, दर्शन आदि में भी रूढ़ियाँ एवं मिथ्या परम्पराएँ अमान्य हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला-साहित्य में जाति एवं वर्णगत संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्व-मानवता का जयघोष पहले

ही कर चुके थे। रवीन्द्र-साहित्य का हिन्दी छायावादी कविता पर काफी प्रभाव पड़ा। छायावादी काव्य में मानवतावादी दृष्टिकोण विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। छायावादी कवि ने युग-युग से उपेक्षित नारी को सदियों की कारा से मुक्त करने का स्वर अलापा। रीतिकालीन कवि के समान उसकी दृष्टि केवल नारी के कुच और कटाक्ष तक ही सीमित न थी, उसने नारी के तन को न देखकर उसके मन को देखा और उसके मानसिक सौन्दर्य के अनेक छविमय विमोहक चित्र अंकित किये, जिनमें रीतिकालीन शृंगार की विलासिता नहीं बल्कि सात्विक रसात्मकता है। छायावादी कवि कह उठता है—' मुक्त करो नारी को, युग-युग की कारा से बन्दिनी नारी को।" इसी प्रकार—

> नष्ट हो गई उसकी आत्मा
> त्वचा रह गई पावन
> युग-युग से अवगुंठित गृहिणी
> सहती पशु के बन्धन।
> खोलो हे मेखला युगों की
> कटि प्रदेश से, तन से
> अमर प्रेम हो उसका बन्धन
> वह पवित्र हो मन से।

छायावादी कवि सारे संसार से प्रेम करता है। उसके लिए भारतीय और अभारतीय में कोई अन्तर नहीं क्योंकि सर्वत्र एक ही आत्मा व्याप्त है। विश्व मानवता की प्रतिष्ठा उसका आदर्श है —

> *जग जीवन उल्लास मुझे नव आशा नव अभिलाष मुझे।*
> *सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन ॥*

छायावादी काव्य में विश्व के शोषित वर्ग के प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

(९) **आदर्शवाद**— छायावाद में आन्तरिकता की प्रवृत्ति की प्रधानता है। उसमें पदार्थों के बाह्य रूप-चित्रण की प्रवृत्ति नहीं है। अपनी इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उसका दृष्टिकोण काव्य के भावपक्ष और शैली में आदर्शवादी रहा है। उसे सांसारिक पदार्थों के बाह्य-चित्रण की अपेक्षा अपनी सहानुभूतियाँ अधिक यथार्थ और महत्त्वपूर्ण लगी हैं। यही कारण है कि उसका काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण कल्पनात्मक रहा और उसमें सुन्दर तत्त्व की प्रधानता बनी रही। छायावादी कवि के इस आदर्शवादी कल्पनात्मक दृष्टिकोण को उसके कलापक्ष में भी सहज देखा जा सकता है। कुछ आलोचकों ने छायावादी कवि की शैली और प्रतीकात्मकता पर सामन्तीपन का आरोप लगाया है, जो कि समीचीन नहीं है। यदि इस प्रकार राजनीतिक वादों को हठात् काव्य पर आरोपित किया गया, तो न जाने इसका परिणाम क्या होगा।

(१०) **युग का प्रभाव**—यह ठीक है कि छायावाद का काव्य व्यक्तिवादी है

और उसके कवि की विचार-धारा का केन्द्र वह स्वयं है किन्तु यह निश्चित है कि 'मैं' शैली मे जनता के सुख-दुःख और आशा-निराशा अभिव्यक्त हुई है। यह सच है कि यदि उसकी कविता घोर व्यक्तिवादी होती तो उसमें प्रेषणीयता की इतनी मात्रा न आ सकती थी। हिन्दी-साहित्य का कोई भी प्रबुद्ध आलोचक यह स्वीकार करने को तैयार नही होगा कि छायावादी कविता समाज से दूर है। यह ठीक है कि कभी-कभी छायावादी कवि ने जगत् की भयकर वास्तविकता से भाग कर कल्पना-लोक के एकान्त में शरण एव त्रास पाने की सोची है, परन्तु इसके बीज भी तत्कालीन समाज के जीवन मे व्याप्त असन्तोष तथा निराशा मे ढूँढे जा सकते हैं। अशान्ति में शान्ति पाने की मनोवृत्ति छायावादी कवि की कोई कम महत्त्वपूर्ण देन नहीं। प्रसाद की "अरुण यह मधुमय देश हमारा" जैसी पक्तियो पर कोई राष्ट्रवादी भारतीय युवक गर्व कर सकता है। छायावादी कवि अन्तर्मुखी होते हुए भी सतत् स्वतन्त्रता का आह्वान करता रहा है। आज के बीसवी शताब्दी के वैज्ञानिक युग की सबसे बडी देन है बौद्धिकता की, और इस बौद्धिकता के अतिरेक से आज के विश्व का जीवन कितना विशृंखल, अशात एव असतुलित है, इसका भान किसी भी सजग व्यक्ति के लिए दुष्कर नही है। प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' में युग के इन समस्त घात-प्रतिघातो का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है। आज के विश्व-जीवन की शान्ति हृदय और बुद्धि की समन्वयात्मकता मे सन्निहित है। आधुनिक युग जीवन की अशाति का कारण है।

> ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है।
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की :
> एक दूसरे से न मिल सकें,
> यह विडम्बना है जीवन की।।

ऊपर हमने छायावाद के काव्य की विषयगत प्रवृत्तियो का सामान्य विवेचन किया है। अब हम उसकी कलापक्ष गत विशेषताओ का उल्लेख करेंगे।

(१) **प्रतीकात्मकता**—छायावाद में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रमुखता के कारण बाह्य-स्थूलता का चित्रण न होकर सूक्ष्मता का चित्रण हुआ है। प्रकृति-चित्रण छायावाद की एक प्रमुख विशेषता है। प्रकृति ही के बीच कवि ने अपनी शोभा और भावनाओं को देखा है और अनुभव भी किया है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि प्रकृति छायावादी कवि के वैयक्तिक जीवन का प्रतीक बन गई। नि सन्देह इस काव्य में प्रकृति का उन्मुक्त चित्रण हुआ है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता का आभास, जैसा कि सस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होता है, कम मिलता है और इस काव्य में उसका आलम्बन रूप मे ग्रहण भी बहुत कम हुआ है। प्रकृति पर सर्वत्र मानवीय भावनाओ का आरोप किया गया और उसका सवेदनात्मक रूप में चित्रण किया गया, इससे वह स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व से विहीन हो गई और उसमें प्रतीकात्मकता का व्यवहार किया गया। उदाहरणार्थ, फूल सुख के अर्थ मे, शूल दुःख के अर्थ में, उषा प्रफुल्लता के अर्थ में, संध्या उदासी के अर्थ मे, झंझा-झकोर

गर्जन मानसिक द्वन्द्व के अर्थ में, नीरद-माला नाना भावनाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुए। दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना एवं प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशाओं के अंकन में भी इस प्रतीकात्मकता को देखा जा सकता है। प्रेम-चित्रण में लौकिक और अलौकिक दोनों अर्थों की व्यंजना के लालच के फलस्वरूप इन कवियों में अस्पष्टता आ गई और कविता में अभीष्ट प्रभाव भी न आ सका। छायावादी काव्य में बहुत सी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनका विषय लौकिक प्रेम है किन्तु साथ-साथ वे आध्यात्मिक प्रेम की भी प्रतीक हैं।

(२) *चित्रात्मक भाषा एवं लाक्षणिक पदावली* - अन्य अनुपम विशिष्टताओं के अतिरिक्त केवल चित्रात्मक भाषा के कारण हिन्दी वाङ्मय में छायावादी काव्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व माने जा सकते हैं। निःसंदेह द्विवेदी-युग में भाषा में परिष्कार और संस्कार का कार्य सम्पन्न हुआ, किन्तु उसमें सौन्दर्य और सौकुमार्य की सृष्टि इसी काल में हुई। कविता के लिए चित्रात्मक भाषा की अपेक्षा होती है और इसी गुण के कारण उसमें बिम्बग्राहिता आती है। छायावादी कवि इस कला में परम विदग्ध है। "छायावादी काव्य में प्रसाद ने यदि प्रकृति तत्त्व को मिलाया, निराला जी ने उसे मुक्तक छन्द दिया, पन्त ने शब्दों को खराद पर चढ़ाकर सुडौल और सरस बनाया तो महादेवी जी ने उसमें प्राण डाले, उसकी भावात्मकता को समृद्ध किया।" प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों में भाषा की चित्रात्मकता की सहज छटा देखी जा सकती है—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

छायावादी कवि ने सीधी सादी भाव-सम्बन्धित भाषा से लेकर लाक्षणिक और अप्रस्तुत-विधानों से युक्त चित्रमयी भाषा तक का प्रयोग किया और कदाचित् इस क्षेत्र में उसने सर्वाधिक अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया। छायावादी कवि ने परम्परा-प्राप्त उपमानों से संतुष्ट न होकर नवीन उपमानों की उद्भावना की। इसने अप्रस्तुत-विधान और अभिव्यंजना-शैली में अनेक नवीन प्रयोग किए। मूर्त में अमूर्त का विधान उसकी कला का विशेष अंग बना। निराला जी विधवा का चित्रण करते हुए लिखते हैं—"वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी।" छायावादी काव्यधारा के पर्याप्त विरुद्ध लिखने वाले आलोचक डॉ॰ रामचन्द्र शुक्ल को भी लिखना पड़ गया था कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त-प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता विरोध चमत्कार कोमल पदविन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" उन्होंने पन्त काव्य के कुछ उदाहरण भी उपन्यस्त किये—"धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।" "मर्म पीड़ा के हास।" "कौन तुम अतुल रूप अनाम।"

(३) *गेयता*— छायावादी कवि केवल साहित्यिक ही नहीं वरन् संगीत का

भी कुशल ज्ञाता है। छायावाद का काव्य छन्द और संगीत दोनों दृष्टियों से उच्च कोटि का है। इसमें प्राचीन छन्दों के प्रयोग के साथ-साथ नवीन छन्दों का भी निर्माण किया गया। इसमें मुक्तक छन्द और अतुकांत कविताएँ भी लिखी गई। छायावादी कवि प्रणय, यौवन और सौन्दर्य का कवि है। गीति-शैली उसके गृहीत विषय के लिए उपयुक्त थी। गीति काव्य के सभी गुण—संक्षिप्तता, तीव्रता, आत्माभिव्यंजना, भाषा की मसृणता आदि—उपलब्ध होते हैं। रामनाथ सुमन के शब्दों में, "इस कवि में जो मस्ती है, भावना अनुभूति की मृदुता है, और मानव जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीति काव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी।" गीति-काव्य के लिए सौंदर्य-वृत्ति और स्वानुभूति के गुणों का होना आवश्यक है, सौभाग्य से सारी बातें छायावादी कवियों में मिलती हैं। दूसरी एक और बात भी है कि आधुनिक युग गीति काव्य के लिए जितना उपयुक्त है उतना प्रबन्ध-काव्यों के लिए नहीं। अस्तु, छायावाद के साहित्य में, 'प्रगीत, खण्ड काव्य और प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये और वीर गीति, संबोध गीति, शोक गीति, व्यग्य गीति आदि काव्य के अन्य रूप विधानों का भी प्रयोग किया गया। छायावादी कवियों की भाषा और छन्द प्रयोग केवल बुद्धिविलास, वचन भंगिमा कौशल या कौतुक वृत्ति से प्रेरित नहीं रहा बल्कि उनकी कविता में भाषा भावों का अनुसरण करती दीखती है और अभिव्यंजना अनुभूति का।"

(४) अलंकार विधान—अलंकार-योजना में प्राचीन अलंकारों के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य के दो नवीन अलंकारों—मानवीकरण तथा विशेषणविपर्यय का भी साधु उपयोग किया गया है। प्राकृतिक पदार्थों—प्रात, सन्ध्या, झंझा, बादल, सूर्य, चन्द्रमा आदि—पर जहाँ मानवीय भावनाओं का आरोप किया गया है वहाँ मानवीकरण है। 'विशेषण विपर्यय में विशेषण का जो स्थान अभिधावृत्ति के अनुसार निश्चित है, उसे वहाँ से हटाकर लक्षण द्वारा दूसरी जगह आरोप किया जाता है। पन्त ने बच्चों के "तुतले भय" का प्रयोग उनकी तुतली बोली में व्यंजित भय के लिए किया है। इसी प्रकार "तुम्हारी आँखों का बचपन खेलता जब अल्हड़ खेल।" छायावादी कवि ने अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त रूप में चित्रित करने के लिए अनेक नवीन उपमानों की उद्‌भावना की है, जैसे—'कीर्ति किरण सी नाच रही है" तथा "बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।" इसके अतिरिक्त उपमा, रूपक, उल्लेख, सन्देह, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति तथा व्यतिरेक आदि अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है।

(५) कला कला के लिए—रुचि-स्वातन्त्र्य तथा आत्माभिव्यक्ति के अधिकार की भावना के परिणामस्वरूप छायावादी काव्य में "कला कला के लिए" के सिद्धांत का बोलबाला रहा। वस्तु-चयन तथा उसके प्रदर्शन कार्य में कवि ने पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया। उसे समाज तथा उसकी नैतिकता की तनिक भी चिन्ता नहीं है। यही कारण है कि उसके काव्य में सत्यं और शिवं की अपेक्षा सुन्दर की प्रधानता

रही। छायावादी काव्य के इस 'कला कला के लिए' के सिद्धांत में पलायन और .गति दोनों सन्निहित हैं। एक ओर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण जहाँ जन-जीवन से छ उदासीनता है तो दूसरी ओर काव्य और समाज में मिथ्या रूढ़ियों के प्रति सबल विद्रोह भी। अतः छायावाद पर केवल पलायनवाद का दोष लगाना न्यायसंगत नहीं]गा।

कतिपय त्रुटियाँ—कल्पना की अति ने छायावाद को हमारे जीवन से दूर हटा दिया और वही इनके पतन का कारण भी बना। कल्पना-क्लिष्टता के कारण जहाँ एक ओर इसमें अस्पष्टता आई वहाँ इसे अपेक्षित जन-प्रियता भी प्राप्त न हो सकी। सच यह है कि जो जनता को छोड़ देता है जनता उसे छोड़ देती है। डॉ० केसरी-नारायण के शब्दों में—"उसका काव्य मन्दिर ऐसा बन गया, जिसमें सबका प्रवेश न था और उसका वह स्वयं ही पुजारी बना। पूजाविधि तथा पूजा के उपादान के चयनों में वह पूर्ण स्वतन्त्र था। अपने व्यक्तित्व की पृथकता दिखाने के लिए वह नवीनता तथा मौलिकता के नाम पर असामान्य की ओर कभी कभी बहुत दूर बढ़ गया। भाषा, भावना तथा भावाभिव्यंजना का असामान्य रूप कभी-कभी इसी कारण दिखाई पड़ता है।" कहीं-कहीं इनमें अनुभूति में कृत्रिमता और विचारगत तथा रागात्मक असामंजस्य है। इसमें कुछ शैलीगत दोष भी उपलब्ध होते हैं, जैसे अशुद्ध प्रयोग, अस्पष्टता, कल्पना की क्लिष्टता, उपमानों का अस्वाभाविक प्रयोग। इससे रसानुभूति में व्याघात उपस्थित हुआ है।

पन्त जी छायावाद के ह्रास के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था'।" अस्तु, हम पन्त जी के इन विचारों से सहमत नहीं हैं। छायावाद के पास अपना विचार-दर्शन, आदर्शवाद, विश्व मानवतावाद और सौन्दर्य बोध के पर्याप्त उपकरण विद्यमान हैं। छायावादी धारा के मन्द पड़ जाने के और कई कारण हो सकते हैं। सच तो यह है कि जयशंकर प्रसाद के बाद छायावाद को कोई ऐसा दृढ़ व्यक्ति नहीं मिला जो इसका यथोचित नेतृत्व कर सकता।

महत्व—विषय की दृष्टि से अलौकिक न होने पर भी यह काव्य श्रेष्ठ है। छायावाद इसलिए भी श्रेष्ठ है कि उसने मानव को महत्ता दी है। बीस वर्षों की छोटी-सी अवधि में इसने खड़ी बोली को सरस, सुकुमार और सौष्ठव-सम्पन्न करके काव्योपयुक्त बना दिया। काव्य में व्यक्तिवाद और गीतितत्व की प्रतिष्ठा इस धारा की अनुपम देन हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"इस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।" 'वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-काव्य को सुन्दर शब्द कोश और कोमल मधुर अनुभूतियाँ छायावाद की ऐतिहासिक देन है।" (डॉ० देवराज) यह सत्य है कि छायावाद आधुनिक हिन्दी-साहित्य में एक महान् आंदोलन के रूप में आया। इसने भाव तथा शैली जगत् में एक जबरदस्त

क्रांति उपस्थित की।

छायावाद के प्रमुख कवि और काव्य

जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त तथा सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, छायावाद की बृहत्-त्रयी हैं। प्रसाद यदि छायावादी युग के ब्रह्मा, पन्त विष्णु तो निराला जी उसके शिवशंकर हैं। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा एवं माखनलाल चतुर्वेदी छायावाद की लघुत्रयी के अन्तर्गत आते हैं। छायावाद के महासागर में और भी अनेक नदी तथा नदों ने योगदान दिया जिसमे मिलिन्द, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान एवं रामनरेश त्रिपाठी आदि का नाम उल्लेखनीय है। छायावादी युग की काव्यधारा के समकालीन हरिवंशराय बच्चन, रामधारीसिंह दिनकर तथा अचल आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

जयशंकर प्रसाद (सन् १८८९-१९३७ ई०)—छायावादी काव्य के श्री गणेश कर्त्ता माने जाते हैं। प्रसाद प्रारम्भिक काल मे ब्रजभाषा मे कविता लिखा करते थे किन्तु १९१३-१४ से उन्होंने खड़ी बोली मे लिखना आरम्भ कर दिया था। उनकी ब्रजभाषा सम्बन्धी कविताओं का संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर उनके खड़ी बोली काव्य—"कानन कुसुम", "महाराणा का महत्त्व", "करुणालय" और "प्रेमपथिक" प्रकाशित हुए। इन रचनाओं मे न तो कोई खास साहित्यिक प्रौढ़ता है और न ही छायावादी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। १९१२ में उनका काव्य "झरना" प्रकाशित हुआ। छायावाद की प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम प्रसाद की इस कृति मे प्रकट हुईं किन्तु वे भी कोई परिपक्व रूप में नहीं। हाँ, १९२७ मे जो इसका द्वितीय संस्करण निकला उसमे छायावाद का स्वरूप यथेष्ट मात्रा में उभरा हुआ था। १९३०-३२ के राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में इनके "आँसू" काव्य का प्रकाशन हुआ जिसे प्रसाद जी की छायावाद के सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रौढ रचना समझना चाहिए। 'आँसू' मे प्रसाद ने प्रेम-वेदना की एक दिव्य झाकी प्रस्तुत की है जिसमें सुख और दुख हैं। इसमे प्रसाद जी का व्यक्तिवाद अपने समग्र रूप मे प्रकट हुआ है। 'प्रेम पथिक' इनका एक लघु बन्ध-काव्य है, जिसमे एक असफल प्रेम की कहानी नायक के मुख से कहलाई गई है। इस रचना मे अनुभूतियो की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यंजना हुई है—

> प्रेम पथिक की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है।
> घनी छाह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
> प्रेम यज्ञ मे स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
> तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी, होने का फल पाओगे।
>
> × × ×
>
> इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना।
> किन्तु पहुँचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।

"आँसू" की करुणा "लहर" में आकर आशामय सन्देश से सम्मिलित हो गई है। इसमे कवि की मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। इसमें कवि आत्मचिन्तक तथा स्वच्छन्दतावादी विद्रोह के रूप मे हमारे सामने आता है। इसमें कवि जीवन के नये अरुणोदय की कल्पना करता है जहाँ विषाद और वेदना न होकर आनन्द तथा सुख है—

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे,
जिस निर्जन मे सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

'कामायनी' प्रसाद जी की अन्तिम किन्तु सर्वश्रेष्ठ कृति है और यह छायावाद का एक महाकाव्य है। "व्यक्तिवादी काव्य की चरम परिणति कदाचित् प्रसाद जी की कामायनी मे हुई है। मनु महाराज के मानसिक विकास और बाह्य-संघर्ष के रूप मे आज के व्यक्ति की विकासोन्मुख व्यक्तित्व की ही अन्तर्कथा है। जिस आनन्द की ओर प्रसाद जी ने 'लहर' में संकेत किया था, उसी आनन्द के कैलाश शिखर पर अन्तत मनु महाराज प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार आधुनिक युग का यह एक मात्र *प्रतिनिधि महाकाव्य व्यक्तिवाद के विकास, विलास और पूर्ण परिणति युक्त प्रकाश* की कहानी है।" मनु, श्रद्धा और इडा की पौराणिक कहानी के माध्यम से प्रसाद ने आज के युग के मनुष्य के बौद्धिक और भावनात्मक विकास और आज के जीवन के वैषम्य की जीती-जागती कहानी चित्रित की है। 'मनु आज के आत्म चेतन व्यक्तिवादी व्यक्ति के प्रतीक हैं। इडा आधुनिक पूँजीवादी समाज के वर्ग-भेद और शोषण की मान्यताओ पर आधारित बुद्धि-तत्त्व की प्रतीक है और श्रद्धा मनुष्य की सहज मानवीय भावनाओं, नैतिक मूल्यों और सौहार्दता से युक्त मानव-हृदय की आस्थाशील श्रद्धा-तत्त्व की प्रतीक है। इन तीन पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी ने आधुनिक पूँजीवादी प्रणीत सभ्यता और उसके समस्त अन्तर्विरोधों और असंगतियों का ऊहापोह विवेचन किया गया है—(डा० शिवदानसिंह)। प्रसाद जी की दृढ़ धारणा है कि इडा निर्मित पूँजीवादी और बुद्धिवादी सभ्यता में मानव-शोषण, योग्यतम की रक्षा, वर्ग-भेद मानसिक वैषम्य, अहंकार, सत्तामद और अशान्ति ये सभी वस्तुएँ बनी रहेंगी। इन्हें इस प्रकार की सभ्यता का तिरस्कार अभिप्रेत है क्योंकि इसके बिना जीवन में सरसता का संचार असम्भव है। प्रसाद जी आज के विडम्बनामय जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।

एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की ॥

आनन्दवादी प्रसाद की धारणानुसार मनुष्य हृदय की रागात्मिकता वृत्ति श्रद्धा के अवलम्बन के बिना इस धरती-रुनरव, जीवन-वैषम्य, वर्ग भेद, अहमन्यता और मारक शोषण के ध्वंसक एवं दूषित वातावरण से अपने आपको बाहर नहीं निकाल सकता है और इसके बिना वह आनन्द के कैलाश पर्वत के शिखर पर नहीं पहुँच सकता। *पंजीवादी सभ्यता चाहे जितनी भी विकासोन्मुखी क्यों न हो जाये अन्तत उसका ह्रास और विनाश* अवश्यम्भावी है।

मानव मनोवृत्तियों के सूक्ष्म चित्रण, प्रकृति के हृदयहारी वर्णन, नारी सौन्दर्यांकन, प्रेम के मार्मिकाभिव्यंजन प्रतीकात्मकता, व्यक्तिवाद, लाक्षणिकता और गेयता आदि छायावादी सभी प्रवृत्तियों का कामायनी में सुन्दर परिपाक हुआ है। वस्तुत कामायनी आधुनिक युग का अन्यतम महाकाव्य है।

प्रसाद जी के काव्य में विषय-नवीनता, भाव-जगत का सस्कार, नवीन कल्पनाओं की सृष्टि, मानवीय सौन्दर्य का चित्रण, प्राकृतिक सौन्दर्य, भावानुसारिणी *भाषा, प्रणय-साधना, रहस्यात्मकता, उपचारवक्रता आदि छायावाद की सभी विशेष*ताएँ उपलब्ध होती हैं। प्रसाद एक मानवतावादी युगान्तकारी महाकवि हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं—

सदियों तक साहित्य नहीं यह समझ सकेगा।
तुम मानव थे या मानवता के महाकाव्य थे ॥

सुमित्रानन्दन पन्त (सन् १९००)—सुकोमल भावनाओं के कवि हैं। उनमें निराला जैसी सघषमयता और पौरुष नहीं है। यद्यपि इनके काव्य में अनेकरूपता है किन्तु वे अपनी सौन्दर्य दृष्टि और सुकुमार उदात्त कल्पना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। निसर्गत वे प्रकृति के सुकुमार कवि हैं। प्रकृति के साथ उनकी ऐसी प्रगाढ रागात्मकता शैशव से हो गई थी। इन्होंने प्रकृति में अनेक रूपों की कल्पना की है। इन्होंने प्रकृति के अनेक सौन्दर्यमय चित्र अंकित किए हैं और इसके साथ उनके उग्र रूप का भी चित्रण किया है किन्तु इनकी वृत्ति मूलत प्रकृति के मनोरम रूप वर्णन में ही रमी है। इनके प्रकृति चित्रण में मानवीय भावनाओं का आरोप है और उसके साथ-साथ कहीं-कहीं ऐन्द्रियता भी उभर आई है। कभी-कभी इन्होंने प्रकृति को नारी रूप में कल्पना करके अपने आपको भी नारी रूप में अंकित किया है। कवि पंत की इस भावना को हिन्दी के कुछ आलोचकों ने स्त्रैण और अस्वाभाविक कहा है जो कि असंगत है। भगवान् शंकर अर्द्ध-नारीश्वर हैं। क्या मानव-हृदय में नारी सुलभ कोमलता का होना कोई पाप या अपराध है। हमारे विचार में तो मानव इस कोमलता के अभाव में बड़ा भयंकर लगने लगेगा।

कवि पंत की रचनाओं का प्रकाशन इस क्रम से हुआ—*वीणा* (१९१८), *ग्रंथि* (१९२०), *पल्लव* (१९१८-१९२४), *गुंजन* (१९१९-१९३२), *युगान्त*

(१९३४-३६), युगवाणी (१९३६-३९), ग्राम्या, (१९३९-४०), स्वर्ण किरण (१९४७), स्वर्णधूलि (१९४७), युगान्तर (१९४८), उत्तरा (१९४९), रजत-शिखर (१९५१), शिल्पी (१९५२) और प्रतिमा (१९५६)। पंत काव्य की रेखाएँ चाहे टेढ़ी मेढ़ी हैं, किन्तु उनका विकास-क्रम सीधा है। इस क्रम में हम पंत को छायावादी, प्रगतिवादी, समन्वयवादी एवं मानवतावादी आदि के रूपों में देख सकते हैं। पन्त जी सन् १९३८ से लगभग छायावादी से प्रगतिवादी बन गये। युगान्त में आकर पंत में छायावादी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाता है। ग्राम्या, युगवाणी इनकी प्रगतिवादी रचनाएँ हैं। तत्पश्चात् इनकी रचनाओं में मानवतावादी दृष्टिकोण उत्तरोत्तर विकसित होता गया।

'वीणा' में इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं जिनमें कवि प्रकृति के अंग-प्रत्यंग की छवि में लीन होने के लिए लालायित है और इसके साथ है इनमें रहस्य के प्रति जिज्ञासा। वीणा-काल का कवि प्रकृति की अनुपम छटा से इतना विमुग्ध है कि बाला का सौन्दर्य भी उसके सामने महत्वहीन है—"बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।" ग्रन्थि एक छोटा सा प्रबन्ध है जिसमें असफल प्रेम की कहानी है। प्रसाद के 'प्रेम पथिक' के समान यहाँ भी एक युवक और युवती में प्रेम हो जाता है। ग्रन्थि की नायिका के न चाहते हुए भी किसी अन्य से विवाह हो जाता है। इसमें कहानी का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रेमानुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह रचना 'प्रेम पथिक' से उत्कृष्ट कही जा सकती है। 'पल्लव' का छायावादी काव्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी भूमिका में कवि ने अपने काव्य सम्बन्धी आदर्शों की विशद चर्चा की है। डा० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"पल्लव की कविताओं में पंत जी की वीणाकालीन प्राकृतिक अनुराग की भावना सौन्दर्य प्रधान हो गई। पल्लव की कविताओं में दृश्य जगत् के नाना सुन्दर रूपों का मूर्त और मांसल चित्रण है और विविध भावों की अभिव्यंजना है।" इन प्राकृतिक उल्लासमयी कविताओं के अतिरिक्त 'पल्लव' में पंत की प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' भी संगृहीत है जिसमें पंत जी के कविता सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण का आभास मिलता है। एक तो यह कविता चिरकालीन रुग्णता के बाद लिखी गई, दूसरे इन पर उस समय उपनिषदों के अध्यात्म-दर्शन तथा स्वामी विवेकानन्द जी के दर्शन का प्रभाव भी पड़ चुका था। इस कविता में जहाँ एक ओर प्रकृति के प्रति आकर्षण एवं आकांक्षा कम होते दिखाई पड़ते हैं और जहाँ इसमें भाग्यवाद और निराशावाद अभिव्यक्त हुए हैं वहाँ दूसरी ओर दरिद्रग्रस्त मानव-समाज को नव निर्माण की प्रेरणा भी दी गई है। इस प्रकार कवि पंत का मानव-प्रेम उनकी अगली रचना 'गुंजन' में भली-भाँति अभिव्यक्त हुआ है। 'गुंजन' का कवि व्यक्तिगत सुख दुःखों से ऊपर उठकर विश्व-मानव-कल्याण के लिए पुकार उठा है—

नव छवि, नव रंग, नव मधु से,
मुकुलित पुलकित हो जीवन।

युगांत, युग वाणी और ग्राम्या की कविताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि पंत के कवि ने सुकोमल लेखनी छोड़ कुदाली पकड़ ली है। इनमें पंत छायावादी न रहकर एकमात्र प्रगतिवादी बन गये। इनमें कल्पना के स्थान पर बौद्धिकता और काव्य के स्थान पर दर्शन है। यहाँ पंत का चिन्तक रूप अधिक उभर आया है। भाषा की सुकुमारता आदि गुणों के कारण भले ही इन रचनाओं को कविता कह दिया जाय अन्यथा इनमें शुष्क दार्शनिकता और बौद्धिकता है। इसके अनन्तर इनके समन्वयवादी रूप को निहारा जा सकता है—

मनुजत्व का पाठ पढ़ाता निश्चय हमको गाँधीवाद;
सामूहिक जीवन विकास की साम्ययोजना है अविवाद।

'स्वर्ण किरण' में कवि ने प्रकृति और जीवन के विषय में आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त किया है। इन कविताओं पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है। कवि पंत की रचनाओं के क्रमात्मक विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनके युगान्त में छायावाद का अन्त और प्रगतिवाद का उदय है। ग्राम्या में बौद्धिकता की प्रधानता हो गई है और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। यह ठीक है कि ग्राम्योत्तर रचनाओं में कवि ने मानवीय जीवन की अनेक भाव-भूमियों को छूने का प्रयास किया है किन्तु उनमें कवित्व की वह गहराई नहीं आ सकी जो अपेक्षित थी। डा० शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में, "पंत-काव्य को यदि समग्र रूप से देखें तो उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और सुकुमार उदात्त कल्पना हिन्दी-साहित्य में अनन्य है। लोक-मंगल की साधना करने वाले इस महाकवि जैसी युग जीवन की व्यापक आर्थिक-सांस्कृतिक समस्याओं की चेतना भी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस परिवर्तन को पहले इन्होंने एक भाग्यवादी की दृष्टि से देखा था, आज लोक-मंगल के लिए वे उसी की आवश्यकता अनुभव करते हैं—

यह सच है जिस अर्थ भित्ति पर,
विश्व सभ्यता आज खड़ी है।
बाधक है वह जन विकास की
उसमें आज अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन
× × ×
शिक्षा, संस्कृति, सामूहिक विकास का
पथ प्रशस्त हो पायगा,
युग मानव के हित।

कवि पन्त की नवीन काव्य कृतियों—कला और बूढ़ा चाँद, अतिमा पल्लविनी, रश्मिबन्ध तथा अभिषेकिता और लोकायतन के अतिरिक्त चिदम्बरा विशेष उल्लेख्य है। इसमें कवि जीवन की दीर्घकालीन काव्य-साधना से प्रसूत सभी प्रशस्त काव्य कृतियों की सुन्दरतम कविताओं का संकलन है। यह युग कृति भारतीय ज्ञानपीठ के सम्मानार्थ एक लाख रुपयों के पुरस्कार से अभिषाषित हो चुकी है। कला पक्ष तथा

भाव पक्ष दोनों दृष्टियों से चिदम्बरा अतीव चित्ताकर्षक है।

इसी सरकार से पुरस्कृत पंत जी का लोक-जीवन का महाकाव्य "लोकायतन" उनकी रचनाओं—स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और उत्तरा आदि की शृङ्खला की अगली कड़ी है। पन्त जी के अनुसार यह कृति ग्रामधरा के अंचल में जन-भावना के छन्द में बंधी युग जीवन की भागवत कथा है जिसमें विकासमयी मानवता के जीवन सत्य की झाँकी दिखाकर अरविन्द दर्शन के माध्यम से उसके परम धाम की कामना की गई है। अरविन्द दर्शन भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का एक संतुलित समिश्रण है। अरविन्द के सावित्री महाकाव्य के समान इसमें जीव की ऊर्ध्व चेतनावस्था तथा उसके ऊर्ध्व धरातल को दर्शाया गया है। लोकायतन में कथा एक प्रतीक मात्र है। गाँधीजी के अतिरिक्त इसके अन्य पात्र काल्पनिक हैं जो कि कवि जीवन की चिरसंचित दार्शनिक अनुभूतियों के वाहक मात्र हैं। समस्त काव्य को दो खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खंड, बाह्य परिवेश में पूर्व स्मृति (आस्था), जीवन-द्वार, संस्कृति द्वार तथा मध्य बिन्दु (ज्ञान) नामक सर्ग हैं। द्वितीय खंड (अन्तश्चैतन्य) में कला-द्वार, ज्योति द्वार तथा उत्तर स्वप्न प्रीति नामक सर्ग है। ग्रन्थ के नाम करण का आधार एक विशेष घटना है। अणुबम के निर्मम पात से प्रथम कला-केन्द्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। उसके अवशिष्ट साधक हिमालय में पुनः कला केन्द्र की स्थापना करते हैं। यह कला केन्द्र लोकायतन के नाम से अभिहित होने लगा—

> उस दारुण क्षण से बच कुछ जन,
> आये प्रशान्त हिम प्रान्तर में
> वे लोकायतन उसे कहा।
> जन रचते नव जीवन उपक्रम।

पन्त के लोकायतन को अतिमन के दर्शन का काव्य या मन्त्र काव्य कहना अधिक उपयुक्त लगता है। विश्व-मानवता की कल्याण कामना के अत्यधिक आग्रह के कारण लोकायतन में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति आवश्यकता से बहुत अधिक उभर आई है। काव्य में दर्शन का निषेध नहीं है। प्रत्येक कवि का एक निजी जीवन दर्शन उसकी कृतियों में अनिवार्यतः प्रतिफलित हो जाता है। कोरे दर्शन का दर्शन शास्त्र है। काव्य में उसके अनुभूति की कान्त-उष्मा से समुद्दीप्त रूप ही सर्वदा काम्य है। यही दर्शन और काव्य की एकाकारता है यही उस (दर्शन) का काव्य में रूपायतीकरण है और यही कान्ता सम्मित उपदेश की चिर पुरातन युक्ति है। सीधी उपदेशात्मकता निःसन्देह काव्योत्कर्ष तथा कला कृति के ह्रास की परिचायिका है।

इस काव्य के आशावाद, विश्व-शान्तिवाद, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा विश्व-व्यापी सहयोग के मंगलमय भाव नितराम अभिनन्दनीय हैं। लोकायतन में वर्णित कुण्ठाओं के स्थान पर आस्था, निराशा के स्थान पर आशा, उग्र अहं से दूषित घोर व्यक्तिवाद की जगह समष्टिवाद, तथाकथित ह्रासशील आधुनिक बोध की

जगह सामाजिक बोध, आज के युग की लक्ष्यहीनता के स्थान पर सोद्देश्यता, क्षणवाद के स्थान पर शाश्वतवाद और देह के स्थान पर चेतना का ऊर्ध्वीकरण निश्चयत स्वागतार्ह हैं। लोक जीवन के मांगल्य लक्ष्य के प्रति पन्त की आस्था अद्वैत तथा साधना अडिग है। अतीतोन्मुख न होकर भी अतीतोन्मुख लोकायतन वर्तमान जीवन के भविष्य को एक सुन्दर उपहार है। हाँ, लोकायतन में कला का ह्रास अवश्य चिन्त्य है, किन्तु प्रकृति सिद्ध स्रष्टा पन्त की समर्थ लेखनी से हिन्दी जगत को अभी बहुत आशायें हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—आधुनिक युग के नये कवियों में महाप्राण निराला सदा निराले रहे हैं। उनके अपने ही शब्दों में 'देखते नहीं मेरे पास एक कवि की वाली, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर (दार्शनिक) के पैर हैं।" उन्होंने अपने और अपने काव्य के सम्बन्ध में सूत्र रूप में कह दिया था कि आज "मयूर-व्याल पूछ से जुड़े हुए हैं।" उन्हें स्वरूप और विद्रूप दोनों से समान प्यार है। उनका निरालापन इस बात में भी सन्निहित है कि 'वह आधुनिक कवियों में शैलीगत अपनी आधुनिकता के कारण आधुनिकतम, किन्तु वेदान्त, दर्शन तथा वीर पूजा सम्बन्धी भावना के कारण पुरातन बने रहे हैं। एक ओर वह घोर अहवादी हैं और दूसरी ओर अपनी उदार मन संवेदना के कारण वह पद दलितों के हिमायती हैं। 'वह तोड़ती पत्थर इलाहाबाद के पथ पर' ऐसी भी है उनकी कविता' वह कविता एक ओर तो मार्गी है और दूसरी ओर वह पत्थर तोड़-तोड़ कर नये युग का मार्ग में बनाती है। —(नरेन्द्र शर्मा)।

सन् १६१५ से इन्होंने कविता लिखनी आरम्भ कर दी थी, किन्तु उनका प्रथम काव्य संग्रह 'परिमल' सन् १६२६ में प्रकाशित हुआ। इनके अन्य काव्य हैं—अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना और आराधना। परिमल और अनामिका में प्रायः छायावाद की सभी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। तुलसीदास के पश्चात् निराला जी प्रगतिवाद से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। अतः बाद की रचनाओं में छायावाद लुप्त हो गया है। जयशंकर प्रसाद को छायावाद का ब्रह्मा स्वीकार किया जाता है। उनके काव्य की दो प्रवृत्तियों—प्रकृति चित्रण और रहस्यमयता—को क्रम से पन्त और निराला ने विकासोन्मुख किया। अतः यह कहा जा सकता है कि छायावाद को अद्वैत दर्शन की दृढ भित्ति पर स्थित करने का सर्वाधिक श्रेय निराला जी को है।

छायावादी काव्य के इतिहास में पन्त के 'पल्लव' के समान निराला के 'परिमल' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे छायावाद का प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। जूही की कली, पंचवटी, विधवा, भिक्षुक, कुछ बादल गीत एवं बहुत-सी अन्य कविताएँ हैं। इस रचना में प्रेम-सौन्दर्य, करुणा और रहस्य-भावना की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। "कुल मिलाकर परिमल में छायावादी की अनेकमुखी प्रवृत्तियों की उदात्त झलक मिलती है। राष्ट्रीय चेतना की सूक्ष्म अनुभूतियों की व्यंजना

जितनी गम्भीर और प्रौढ़ स्वरों से परिमल में हुई है। उतनी उस समय तक छायावाद के किसी अन्य कवि की वाणी में नहीं हो पायी। परिमल की कविताओं से सचमुच समूची जाति के मुक्ति प्रयास का पता चलता है।" परिमल की कविताओं में विषय की विविधता को देखते हुए शुक्ल जी ने कहा कि "निराला में बहुवस्तु स्पर्शिनी प्रतिभा है। इनकी 'गीतिका' और 'अनामिका' दोनों रचनाओं मे गीतों का संग्रह है। लोकप्रियता की दृष्टि से 'अनामिका' बहुत प्रसिद्ध हुई। अनामिका के एक गीत 'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति' में नारी के प्रति प्रेम की अत्यन्त दिव्य झांकी प्रस्तुत की है— *"कालिमित तुम से हुई सम्राज्ञ यह नूतन।"* इसके अतिरिक्त अनामिका में 'सरोज-स्मृति', 'तोड़ती पत्थर', 'बादल गरजो', आदि मे भी बहुत लोकप्रिय गीत संग्रहीत है। इनकी रचना 'तुलसीदास' में इनकी प्रबन्ध-क्षमता का सम्यक् परिचय मिलता है। 'तुलसीदास' के पश्चात् हम इन्हें एकदम प्रगतिवादी कवि के रूप में देखते हैं। कुकुरमुत्ता, अणिमा, नये पत्ते और अर्चना में प्रगतिशील कविता की सभी प्रवृत्तियाँ दृष्टि गोचर होती हैं। कुकुरमुत्ता गुलाब से निन्दक भाव से कहता है—

अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब।

इसी प्रकार बेला में हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग करते हुए हिन्दी को गजलों के रूप मे ढाल रहे हैं—

बिगड़ कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता।
परी और शमा रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

हिन्दी के कुछ आलोचकों ने निराला के काव्य पर क्लिष्टता का आरोप करते हुए निराला को कठिन काव्य का प्रेत कहा है, किन्तु यह नितान्त अनुचित है। यह सब कुछ निराला के जीवन के विकास क्रम तथा उसके मानसिक स्तर को न समझने का दुष्परिणाम है। निराला में बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "संगीत को काव्य और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निराला जी ने किया है।" उन्होंने हिन्दी के नवीन भाव, नवीन भाषा और नवीन मुक्त छन्द प्रदान किये हैं। हिन्दी के आधुनिक कवियों में से निराला जी का व्यक्तित्व सबसे अधिक विद्रोही और प्रखर है। निराला को छोड़कर शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि को जीवन के इतने वैषम्यों और विरोधों का सामना करना पड़ा हो। निराला ने प्रलयंकर शिव के समान स्वयं कटु गरल पान करके हिन्दी काव्य जगत् को पीयूष वितरित किया। निराला के कृतित्व और व्यक्तित्व का मूल्यांकन कवि पन्त की निम्नांकित पंक्तियों में देखिये—

"छन्द बंध ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा,
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा,
मुक्त, अबाध, अमन्द, रजत निर्झर-सी निःसृत,
गलित ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित।

स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मन्दिर,
शिल्पि, बनाया, ज्योति कलश निज यश का घर चिर।
× × ×
शिलीभूत सौन्दर्य ज्ञान आनन्द अनश्वर,
शब्द शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम शिखर।
शुभ्र कल्पना की उड़ान भव भास्वर कलरव,
हंस अश वाणी के तेरी प्रतिभा नित नव।
जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा वरद शारदा का आसन निज॥
× × ×
अमृत पुत्र कवि, यश काय तव जरा मरण जित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तन्त्री झंकृत।"

महादेवी वर्मा (सन् १९०७)—सजल गीतों की गायिका महादेवी वर्मा आधुनिक युग की मीरा कही जाती है। इनकी कविता सगीत कला, चित्र-कला तथा काव्य-कला का अपूर्व समन्वय है। हिन्दी साहित्य की कवयित्रियों मे तो देवी जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है ही, साथ ही इनमे आधुनिक रहस्यवाद तथा छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ अत्यन्त सुन्दर तथा उभरते हुए रूप में मिलती हैं। महादेवी वर्मा छायावाद के क्षेत्र मे पन्त, निराला और प्रसाद के बाद मे प्रविष्ट हुई, किन्तु उसका सबसे अधिक साथ दे रही है। पन्त और निराला की कविता मे समय-समय पर नवीन मोड आये और ये अपनी राहें बदलते रहे किन्तु महादेवी छायावाद एव रहस्यवाद के पथ पर पूर्ववत् अपना पग बढाये जा रही हैं। उनके साहित्य मे पीडा, आँसू, माधुर्य, आनन्द तथा उल्लास सभी कुछ है। इनकी कविताओ मे पीडा के तत्त्व की प्रधानता को देखकर कुछ आलोचकों ने इन्हें पीडावाद की कवयित्री कहा है। महादेवी के अपने ही शब्दो में "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे ससार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है हमारे असख्य सुख हमे चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नही गिर सकता।······विश्व जीवन मे अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" इसी प्रसग मे वे आगे चलकर कहती हैं—"मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के सवेदनशील हृदय को सारे ससार से एक अविच्छिन्न बन्धन मे बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन मे पडे असीम चेतन का क्रन्दन है।" वे पीडा में प्रियतम और प्रियतम मे पीडा को खोजती हैं। वे सदा मिटने के अधिकार को अपने पास सुरक्षित रखने के पक्ष मे हैं। उनका कहना है—' पीडा मेरे मानस से भीगे पट-सी लिपटी है।" देवी जी की यह पीडा वैयक्तिक न होकर सामन्ती पाशो से बद्ध एवं सामाजिक रूढ़ियो

से ग्रस्त भारतीय नारी जीवन की उन्मुक्त पीडा है। छायावादी काव्य मे भारतीय नारी जीवन की सिसकती पीडा को जोड देना महादेवी के काव्य का मौलिक योगदान है। "महादेवी जी की विशेषता यह है कि छायावाद ने व्यक्ति और समाज की जिस व्यापक असन्तोष भावना को अभिव्यक्ति दी। उसमे उन्होंने भारतीय नारी के असंतोष, निराशा और आकाक्षा का स्वर भी जोड दिया।"

महादेवी की रचनाएँ हैं नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्य-गीत, दीपशिखा और *यामा। नीहार मे प्रारंभिक कविताओ का सकलन है।* इसमे वैयक्तिक दु:खद और आध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति हुई है। रश्मि मे कवियित्री का जीवन-मृत्यु, सुख और दु:ख पर मौलिक चिन्तन प्रकट हुआ है। नीरजा मे प्रकृति मे मानवीय भावनाओ की भव्य झाकियाँ एव विरह-वेदना के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। *साध्य-गीत* मे कवियित्री सुख और दु:ख, विरह और मिलन में समन्वय दिखाने मे प्रयत्नशील है।

भाव-पक्ष की दृष्टि से महादेवी की कविताओ मे विरह वेदना रहस्यवाद एव छायावाद की विषय गत एव शैली गत प्रवृत्तियो का भव्य रूप प्रकट हुआ है। इन्हें पीडा अत्यन्त प्रिय है। इन्होंने प्रभु को पीडा मे और पीडा को प्रभु मे ढूँढा है। कवियित्री को मिलन अभीष्ट नही क्योकि उसमे जडता है और क्रियाशीलता का अभाव है। वे व्यथा-गान मे शुरू से अब तक सलग्न हैं। उनका कहना है—

पर न अन्तिम छन्द व्यथा का मैं अभी तक गा सकी हूँ।

महादेवी ने उस असीम अज्ञात प्रियतम प्रति दाम्पत्य भाव के रूप मे अपने हृदय के आकुल प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद भावमय है। *परमात्मा के प्रति अभिन्नता प्रकट करती हुई वे कहती हैं—*

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

× × ×

पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर स्मृति भी,

अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।।

प्रकृति चित्रण सम्बन्धी छायावादी रचनाओ मे प्रकृति मे चेतना के आरोप के साथ अपने भावो की प्रतिकृति उसमे देखी है—

मैं नीर भरी दु:ख की बदली।

तथा

रूपसि तेरा घन केश पाश।

नभ गंगा की रजत धार में धो लाई क्या इन्हें रात।

महादेवी का कलापक्ष भी अत्यन्त उज्ज्वल है। इनकी भाषा मे प्रसाद का परिष्कार, निराला की सगीतात्मकता और पन्त की कोमलता सभी कुछ मिलता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दो मे "छायावादी काव्य मे प्रसाद ने यदि प्रकृति तत्व को मिलाया, निराला ने मुक्तक छन्द दिया, पन्त ने शब्दो को खराद पर चढ़ाकर सुडौल और सरस बनाया तो महादेवी जी ने उसमे प्राण डाले।" महादेवी के गीत

अपनी अनुपम अनुभूतियो और चित्रमयी व्यजना के कारण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। *वास्तव मे कल्याणी प्रतिभा मयी देवी जी हिन्दी के विशाल मन्दिर की* वीणा-पाणी है। कविवर निराला के शब्दो मे—

हिन्दी के विशाल मन्दिर की वाणी-पाणी,
स्फूर्ति, चेतना रचना की प्रतिभा कल्याणी।

ऊपर हम छायावाद के आधारभूत चार मुख्य स्तम्भो के व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ कवि हुए जिन्होंने इस क्षेत्र मे योगदान दिया। सच तो यह है कि छायावादी काव्य की जो व्यापक चेतना प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी मे मिलती है वह इस क्षेत्र मे १९३० के पश्चात् उदीयमान नवीन प्रतिभाओ मे नही। ये कवि छायावाद की एक प्रवृत्ति विशेष को लेकर आगे बढे। इन कवियो मे *उल्लेखनीय हैं—रामकुमार वर्मा, हरिवंश राय बच्चन,* नरेन्द्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल अचल। इन कवियों मे छायावाद की कोई न कोई निश्चित प्रवृत्ति उपलब्ध होती है और साथ-साथ उत्तरोत्तर छायावाद के ह्रास की प्रक्रिया भी दृष्टिगोचर होने लगती है। इस युग मे कुछ ऐसे कवि भी हैं जो न तो *सम्पूर्ण रूप से छायावादी हैं, न प्रगतिवादी और न ही द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक* शैली के पक्षपाती, किन्तु उन पर तीनो या दो धाराओ का प्रभाव अवश्य पडा है। ये कवि हैं—नवीन, उदयशकर भट्ट और रामधारीसिंह दिनकर। इन कवियो के अध्ययन के बिना छायावादी युग की चेतना के क्रमिक विकास एव ह्रास की प्रक्रिया को नही समझा जा सकता है।

रामकुमार वर्मा (सन् १९०५)—इनके काव्य मे प्रकृति प्रेम, रहस्यवाद वेदना, निराशा तथा समाज की विशेष अपेक्षा न रखने वाला व्यक्तिवादी आदि प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इनके रहस्यवाद पर कबीर आदि रहस्यवादी कवियो का प्रभाव है तथा उसमे निराशा का तीव्र स्वर है। कवि की विरहिणी आत्मा प्रिय मिलन के लिए व्याकुल है—

"देव मैं अब भी हूँ अज्ञात"
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की बात।
तुमसे परिचित होकर भी तुम से दूर हूँ।"

वर्मा जी ने अधिकतर प्रकृति के सुकुमार रूप का चित्रण किया है। प्रकृति की नैसर्गिक छटा कवि-मन को एकदम विभोर कर देती है—

तुम सजीली हो सजाती हो सुहासिनी ये लताएँ।
क्यों न कोकिल कठ मधु ऋतु मे तुम्हारे गीत गाएँ।।

वर्मा जी की प्रमुख काव्य रचनाएँ हैं—अजलि, रूप राशि, चित्तौड की चिता, अभिशाप, निशीथ, चित्ररेखा और सकेत आदि। इनकी कविता मे काव्य के दो रूप हैं—वर्णनात्मक तथा गीत काव्य। इनके गीत काव्य मे गीत के प्राय सभी तत्त्व मिल जाते हैं। शिवदानसिंह चौहान इनके काव्य का मूल्याकन करते हुए लिखते हैं—"वर्मा

जी ने अपनी रहस्य-चेतना को व्यक्तिवाद, निराशा और सन्देह की भावनाओं में रँग कर प्रकृति और जीवन के शब्द-चित्र अंकित किए हैं। उनकी कविता छायावादी शैली और काव्य वस्तु से अपने को मुक्त करके नहीं चली, यद्यपि उनमें इस शैली के बन्धन कुछ ढीले पड़ते अवश्य दिखाई देते हैं। यह कार्य बच्चन और दिनकर ने अपने-अपने ढंग से किया।"

"एकलव्य" डॉ० रामकुमार वर्मा की एक प्रख्यात कृति है। इस महाकाव्य का कथानक चौदह सर्गों में विभक्त है। इसके कथानक का आधार महाभारत में वर्णित एकलव्य की कथा है। पौराणिक कथानक में आधुनिक युग की चेतना का प्रतिबिम्ब तथा कल्पना और मनोविज्ञान का समावेश लेखक ने बड़े कलात्मक चातुर्य से किया। प्रारम्भ के कतिपय सर्ग क्षत्रिय नीति के सदर्भ में द्रोणाचार्य के मनस्तत्व को समझाने में सहायक है और अन्त में पाँच सर्ग इस महाकाव्य के नायक एकलव्य का चारित्रिक विशिष्टताओं को आलोक में लाते हैं। कवि का ध्यान घटनाओं के ब्यौरे की बजाय चारित्रिक घात-प्रतिघात पर अधिक रहा है। एकलव्य, द्रोण तथा अर्जुन इसके प्रमुख पात्र हैं। गतिशीलता और पूर्णता की समग्रत उपलब्धि एकलव्य के चरित्र की ज्वलन्त विशेषताएँ हैं।

यह महाकाव्य वैचारिक वैभव से भी खूब सम्पन्न है। कोई व्यक्ति जन्म और जाति से महान नहीं होता बल्कि उसकी महत्ता उसके प्रशस्त गुणों और कर्मों पर आधृत है। जीवन को जीवन्त अथ च ज्वलन्त बनाने के समवायी उपकरण हैं—त्याग, तपस्या, साधना, लग्न और सतत् अध्यवसाय। इन पर किसी व्यक्ति, जाति या वर्ग का विशेष अधिकार नहीं है, कोई भी मरजीवा इन्हें अर्जित कर महामहिम बन सकता है।

महाकाव्य सम्बन्धी पुरातन तथा अद्यतन लक्षणों, शिल्प विधान, वैचारिक उदात्तता, लक्ष्य प्रशस्तता, युग सापेक्षता तथा चरित्रांकन की कलात्मकता आदि की दृष्टि से एकलव्य आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महनीय कृति है।

प्रेम और मस्ती का काव्य

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद के बाद और प्रगतिवाद के पूर्व की कविता को वैयक्तिक कविता कहा है। उनके अनुसार वैयक्तिक कविता छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है, जिसने प्रगतिवाद के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया। यह वैयक्तिक कविता आदर्शवादी और भौतिकवादी दक्षिण और वामपक्षीय विचारधाराओं के बीच का एक सेतु है।" यह कविता अपने समय में खूब लोक-प्रिय हुई तथा इसका व्यापक प्रचार हुआ। इस कविता धारा के अग्रणी हैं बच्चन, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि। उक्त काव्य धारा को प्रेम और मस्ती का काव्य कहना अधिक संगत है।

हरिवंशराय बच्चन (सन् १९०७ ई०)—मस्ती और अल्हड़पन से मधु के

गीत गाने वाले कवि वच्चन का हिन्दी जगत् से सर्वप्रथम परिचय "उमर खैयाम" की रुबाइयों के अनुवाद से हुआ। यह अनुवाद शाब्दिक न होकर हृदय रस से ओत-प्रोत है। कवि वच्चन में वैयक्तिक अहंकार और दर्प की मात्रा प्रबल है। रूढ़िवादियो ने उनकी दूसरी कृति मधुशाला' का उग्र विरोध किया पर फिर भी कवि उन्हें सबल चुनौती देते हुए अपने मार्ग पर बढ़ता गया। उनकी रचना 'मधुशाला' पर उनका निष्कपट हृदय छलक रहा है। 'मधुकलश' में उनकी निराशा का स्वर स्पष्ट है—

पूछता जग है निराशा से,
भरा क्यों गान मेरा ?

इनकी रचनाओं—निशा निमन्त्रण, एकात सगीत, आकुल-अन्तर, विकल विश्व और सत-रगिनी—म कविता सबधी एक नया मोड दृष्टिगोचर होता है। निशा निमत्रण के गीतो मे एक गहन वेदना एव दार्शनिकता भरी हुई है। 'एकात सगीत' का कवि सासारिक निराशा एव विषमता का खम ठोक कर मुकाबला करने को तैयार है। 'आकुल अन्तर' मे यही प्रवृत्ति दृढ से दढतर रूप में दृष्टिगोचर होती है।' विकल विश्व मे कवि व्यथित विश्व को आशा और विश्वास का उल्लासमय सन्देश दे रहा है। सत रगिनी मे उनके फुटकर गीतो का सग्रह है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं बगाल का अकाल तथा हलाहल।

'दो चट्टानें' नामक काव्य कृति मे कविवर बच्चन की १९६२ तथा ६४ तक की प्रणीत कविताएँ सकलित हैं। इन कविताओं का स्वर मधुशाला के खुमार से सर्वथा भिन्न है। इस सकलन की कविताओं का विषय वैविध्य अतीव व्यापक है। ये कविताएँ सजीव, सप्राण तथा युग जीवन के घात-प्रतिघातो की उष्मा से दीप्त हैं। अनुभूति प्रवणता इन कविताओ का मुख्य गुण है। कवि की आत्मा का ओज इनमे सर्वत्र लक्षित होता है।

प्रस्तुत रचना का नामकरण प्रतीकात्मक है। मनुष्य का जीवन अतीत के बिना अधूरा तथा वर्तमान के प्रति उदासीनता से अपूर्ण है। अतीत उसे सबल प्रदान करता है जबकि वर्तमान उसे गतिशीलता देता है। अतीत और वर्तमान के कलात्मक समन्वय के गर्भ से भविष्य का स्वर्णिम विहान झांका करता है। ये अतीत और वर्तमान सतत प्रवहमान जीवन की दो चट्टानें हैं। अतीत में हमारी अनुभूति, हमारा ज्ञान, सस्कृति के गौरवशालिनी परम्परायें सन्निहित हैं जो वर्तमान की परिस्थिति रूपी चट्टानो से टकराने का सामर्थ्य प्रदान कर जीवन को गतिशील बनाती हैं। कवि के अपने शब्दो मे—

उद्‌घाटन नए से पुराने का होता है।
सृजन पुराने का नए से होता है।
एहि क्रम कर अथ-इति कहूँ नाहीं।

इस सकलन मे 'गंडे की गवेषणा', सिसफस बरक्स हनुमान, युग पक, युगवाद् हलाहल, काठ का आदमी, एक फिकर एक जर, सात्रि के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने

पर, नये पुराने झरोखे, सुबह की माग तथा लेखनी का इशारा आदि कवितायें अतीव उत्कृष्ट बन पडी हैं। यद्यपि इस सकलन की कवितायें मुक्तक छन्द में लिखी गई हैं किन्तु फिर भी इनमें सराहनीय गीति तत्व है।

बच्चन के गीतों में महादेवी के कविता-सग्रहो के समान एकसूत्रीय योजना मिलती है अर्थात् इनके गीतों के सग्रह मे एक-जैसे भाव का उद्रेक हुआ है। इस बात का समर्थन ऊपर दिये गये इनके कविता-सग्रहो के विषय-प्रतिपादन से स्पष्ट रूप से हो जाता है।

डॉ॰ चौहान बच्चन-काव्य का मूल्याकन करते हुए लिखते हैं—"बच्चन के गीतों ने हिन्दी-कविता का एक नया रूप सस्कार किया। भाषा सरल, मुहावरेदार और व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से मूर्त और भाव सिक्त हो उठी है। काव्य वस्तु का क्षेत्र यद्यपि सीमित हो गया है लेकिन अभिव्यक्ति मे अधिक मासलता और हार्दिकता आ गई, जिसके कारण अनुभूतियो का प्रेषण अधिक सहज बन सका।" कुछ भी हो बच्चन के कवि ने वैयक्तिक-दर्प और अहकार से सामाजिक रूढियो और मान्यताओं को एक सबल चुनौती दी जो तत्कालीन नवयुवक समाज को अधिक रुची। हालांकि इनके वैयक्तिक दर्प और अहंकार के साथ-साथ निराशा की भावना भी जगी और एकदम अहनिष्ठ व्यक्तिवाद की प्रक्रिया बाद के कवियो मे बढ़ती गई।

भगवतीचरण वर्मा (सन् १९०३) ने भी बच्चन की तरह छायावादी रहस्यात्मकता का परित्याग करते हुए प्रेम, मस्ती एव उल्लास भरे यौवन के राग अलापे। इनके गीतों के किसी प्रकार की कृत्रिम नैतिकता के बंधन नही हैं—

हम दीवानों की क्या हस्ती आज यहाँ रहे कल वहाँ रहे।
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले॥

वर्मा जी की कृतियों 'मधुकण' और 'प्रेम-सगीत' मे मस्ती का यह आलम छाया रहा, किन्तु उनकी रचना 'मानव' मे सुमार की यह दशा एकदम दूर होती हुई दृष्टिगोचर होती है। लगता है कि कवि के मादक स्वप्नो का नीड एकदम टूट ही गया हो। इनके कविता सग्रह 'मानव' मे शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूतिमयी करुणा का सहज उद्रेक हुआ है। उनकी कविता चली जा रही भैंसा-गाडी चूचरर-मरररर-चूँचरर-मरर हमारे ग्रामों की दीन-दशा का कारुणिक चित्र उपस्थित करती है—

चरमर-चरमर चूँ चरर, जा रही चली भैंसा गाड़ी।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर॥
भू की छाती पर फोड़ों से हैं, उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मर पशु बनकर रिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, बस इन लोगों का काम।

इस प्रकार वर्मा जी मस्ती के आलम को छोड़कर प्रगतिवाद से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं।

नरेन्द्र शर्मा (१९१३)—नरेन्द्र शर्मा की प्रारम्भिक रचनाओ मे प्रेम की व्याकुल अभिव्यक्ति हुई जो कही-कही पर वासनात्मक भी हो गई है और यह प्रकृति अचल जी मे और भी अधिक उभरे हुए रूप में देखने को मिलती है। इन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य के भी चित्र अकित किये हैं। इनका मन प्रकृति के उग्र-रूप की अपेक्षा उसके सौम्य रूप मे अधिक रमा है। आधुनिक युग का निराशावाद इन्हें अच्छा नही लगा। इनके गीतों मे यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। इनकी वाणी मे प्रगतिवाद की भी अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु उनकी आकुलता उन्हें प्रेम-गीत लिखने पर विवश कर देती है। इन्होने राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी कविताओं की भी रचना सुन्दर ढग से की है, किन्तु इनके काव्य मे प्रमुख रूप से अभिव्यक्त प्रेम ही हुआ। इन्होने अपने आपको मानवीय दुर्बलताओ का कवि कहा है।

'शूल-फूल' और 'कर्ण-फूल' आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जिनमे प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। इनके 'पलाशवन' में प्रेम पीड़ा के साथ प्रकृति चित्रण भी हुआ है, जिनमे कवि अपने हृदय की प्रतिच्छाया देखता है—

लो डाल-डाल से उठी लपट, लो डाल-डाल फूले पलाश।
यह है बसन्त की आग लगा दे, आग जिसे छू ले पलाश॥

नरेन्द्र शर्मा की कविताओ मे जहाँ उनका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त हुआ है और जहाँ उनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण उभर आया है, वहाँ अनुभूतियो मे पर्याप्त मार्मिकता है—

"उजड़ रही अनगिनत बस्तियाँ मन मेरी ही बस्ती क्या ?"

तथा

एक दूसरे का अभिभव कर रचने एक नये भव को।
है सघर्ष निरत मानव, जब फूँक जगत गत वैभव को॥

रामेश्वर शुक्ल अंचल (सन् १९१५)—छायावादी काव्य मे नारी के प्रेम एवं सौन्दर्य की उदात्त कल्पना की गई थी। उसमें नारी को मानवता के महिमाशाली गुणों से सम्पन्न रूप मे चित्रित किया था; उनके प्रेम में स्थूलता नहीं सूक्ष्मता और साथ-साथ कहीं-कहीं उस पर आध्यात्मिता का आवरण था, किन्तु उस प्रेम की ह्रासमयी प्रक्रिया अचल जी में देखी जा सकती है। इन्होंने वासनामय प्रेम के ऊपर किसी प्रकार के आध्यात्मिक आवरण को डालने का प्रयत्न नहीं किया। इन्होंने तृष्णा को जीवन का एक सत्य माना है। इनकी दृष्टि में नारी का महत्व उसके उपभोग्या रूप में निहित है और वह एक रति-सुख का प्रमुख उपकरण है—

एक पल के हो, हरस में जग उठी तृष्णा अधर में,
जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी।

इनके मधुकर, मधूलिका, अपराजिता, किरण बेला और करील, लालचूनर आदि अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। मधूलिका और अपराजिता के गीतों में वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। बाद मे इनके वासना और अतृप्ति-सम्बन्धी

गान असन्तोष और विद्रोह की भावना में परिणत हो गए और वह प्रगतिवाद की ओर आये। किरण-वेला और लाल चूनर इनके प्रगतिशील गीतों के संग्रह हैं। अचल जी ने करील को शोषित का प्रतीक माना है जिस पर वसन्त में भी पत्ते नहीं आते, उसे उस समय भी काँटों का भार सहना पड़ता है। इनकी प्रगतिशील कविताओं में भी नारी के प्रति वही पहले वाला सीमित दृष्टिकोण रहा है। इनकी प्रगतिवादी कविता का उदाहरण देखिए—

> देखो मुट्ठी भर दाने को तड़प रही कृषकों की काया,
> कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इन्कलाब घिर आया।

डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी ने व्यक्ति के सुख दुःख, उल्लास निराशा की अनुभूति प्रवण और विषयी-प्रधान अभिव्यंजना करते हुए भी जिन नये मानव-मूल्यों की सृष्टि की थी, कविता का जिन नई अर्थ-भूमियों पर प्रसार किया था और काव्य के अन्त स्वर में मानवतावादी उदात्तता की जो गरिमा भर दी थी, अचल तक आते आते उन मानव-मूल्यों, अर्थ-भूमियों और अन्त स्वर की उदात्तता का सम्पूर्ण विघटन हो गया और छायावादी कविता का दायरा संकीर्णतर होता गया। छायावादी काव्य के उत्कर्ष और ह्रास की यह प्रक्रिया हिन्दी कविता के विकास क्रम की एक कड़ी है।"

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

बालकृष्ण शर्मा नवीन (सन् १८९७)—इनकी कविता पर राष्ट्रीय आन्दोलनों, सामाजिक घात-प्रतिघातों, दार्शनिक अनुभूतियों, स्वच्छन्दतावादी काव्य एवं प्रगतिवाद के अनेक प्रभाव पड़े हैं, किन्तु हिन्दी-जगत् में इनकी प्रतिष्ठा क्रान्तिकारी कवि के नाते है। आरम्भ में इनके काव्य में छायावादी काव्य की जो प्रवृत्तियाँ उद्बुद्ध हुई थी, वे यथेष्ट रूप में विकसित न हो सकी। इनकी अब तक की प्रकाशित रचनाएँ हैं— कुंकुम, अपलक, रश्मि-रेखा, क्वासि विनोबा स्तवन आदि। कुंकुम के गीतों में राष्ट्रीयता, गाँधीवाद और प्रगतिवाद का प्रभाव स्पष्ट है। इनका व्यक्तिवाद इन गीतों में राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर होता हुआ दृष्टिगोचर होता है—

> मैं हूँ भारत के भविष्य का
> मूर्तिमान विश्वास महान्
> मैं हूँ अटल हिमाचल सम थिर
> मैं हूँ मूर्तिमान बलिदान।

अपलक, रश्मि-रेखा और क्वासि के गीतों में क्रांति एवं विप्लव का स्वर बड़ी तीव्रता के साथ मुखरित हो उठा है। शोषित की दयनीय दशा को देखकर कवि की वाणी में क्रान्ति का विस्फोट हो उठता है—

> कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
> जिससे उथल-पुथल मच जाये।

नियम और उपनियम के ये,
बन्धन टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायें।
विश्वम्भर की पोषक वीणा,
के सब तार मूक हो जायें।

'विनोबा स्तवन' में सन्त विनोबा भावे के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की गई है। उर्मिला और प्राणार्पण इनके प्रबन्ध और खडकाव्य हैं।

उर्मिला बालकृष्ण शर्मा का एक प्रबन्ध काव्य है। इसका प्रेरक कारण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का उपेक्षित उर्मिला से अवदात्त चरित्र के प्रति हिन्दी कवियो का ध्यान आकृष्ट करना था। स्व० नवीन ने इसे सन् १९२१ में लिखना आरम्भ किया और इसका समापन किन्हीं अनिवार्य कारणो से १९३४ मे हुआ। नवीन जी का आत्म प्रकाशन विरोध इसके प्रकाशन मे विलम्ब का सबसे बडा कारण बना।

नवीन जी ने मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔध के समान उर्मिला के चरित्र को युग सापेक्ष एक नवीन परिपेक्ष्य मे रखा है। उनके शब्दो मे "मेरी इस उर्मिला मे पाठको को रामायणी कथा नही मिलेगी। रामायणी कथा से मेरा अर्थ है क्रम से राम जन्म से लगाकर रावण-विजय और फिर अयोध्या गमन तक की घटनाओ का वर्णन। ये घटनायें भारत मे इतनी अधिक सुपरिचित हैं कि इनका वर्णन करना मैंने उचित नही समझा। इस ग्रन्थ को मैंने विशेषकर मनस्तर पर होने वाली क्रियाओ और प्रति-क्रियाओं का दर्पण बनाने का प्रयास किया है। "मैंने राम वन गमन को एक विशेष रूप मे देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। राम की वन यात्रा मेरी दृष्टि मे एक महान् अर्थपूर्ण आर्य सस्कृति प्रसार यात्रा थी।"

उर्मिला मे छ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग करुणा मूर्ति उर्मिला की वन्दना के अनन्तर उपवन मे सीता-उर्मिला रूप सौन्दर्य तथा उनके पारस्परिक सवाद का चित्रण है। द्वितीय सर्ग मे प्रणय चित्र हैं। तृतीय मे विदाई का वर्णन है जहाँ लक्ष्मण वन-गमन के लिए उर्मिला से विदा माँग रहे हैं। चतुर्थ सर्ग का नाम विरह मीमासा है जिसमे विरह की महत्ता और विश्व मे उसका व्यापक प्रसार अकित है। पाँचवाँ सर्ग दोहा और सोरठा छन्दो मे निबद्ध है जिसे एक छोटा सा विरह काव्य भी कहा जा सकता है। छठे सर्ग मे आर्य सस्कृति का प्रसार है।

कवि ने कथा पर बल न देकर चरित्रो पर अधिक बल दिया है। इसमे उर्मिला, लक्ष्मण तथा सीता-राम के चरित्र उज्ज्वल बन पडे हैं। उर्मिला नायिका और लक्ष्मण नायक हैं। उर्मिला मे विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है। वात्सल्य तथा हास्य आदि रस अप्रधान हैं। अपने काव्य वैभव और कल्पना की उदात्तता के कारण यह महा काव्य एक परमोत्तम काव्य बन पडा है।

प्राणार्पण—स्व० नवीन जी की मरणोपरान्त प्रकाशित एक खड-काव्य कृति है, जिसमे अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के २५ मार्च १९३१ को कानपुर में हुए साम्प्रदायिक दगों में ज्वलन्त आत्म बलिदान की करुण-कथा चित्रित

है। लेखक विद्यार्थी को अग्रजवत् समझते तथा उन्हें अपना एक महान् प्रेरणा स्रोत और आराध्य मानते रहे हैं। नवीन के शब्दों मे 'मेरे गणेश जी की यह गाथा मेरे अग्रज का अर्चन है, कोई काव्य नहीं, यह तो है केवल मम श्रद्धार्पण, मैं आज यहाँ जो कुछ भी हूँ, है यह उनका प्रसाद केवल, अस्तित्व अन्यथा क्या मेरा ! मैं निपट अकिंचन और निर्बल, उनके आत्मार्पण की गाथा गाने का यह प्रयत्न भर है, मैं इतना जानूँ हूँ कि यत्न यह है पुनीत, श्रेयस्कर।" नवीन जी की गणेश जी के प्रति भाव-भीनी श्रद्धांजलि अवलोकनीय है—

> अतिशय करुणा से मुसकाया मानव का इतिहास पुरातन,
> अति करुणा से एवमस्तु कह, कर उठे शिवशंकर नर्तन,
> विधि बोले, मैं न कर सकूँगा शीघ्र-शीघ्र ऐसों का सर्जन,
> बोले विष्णु धन्य हो विधि तुम जो रच डाले ऐसे प्राणी,
> 　　　　　　　　　　ये निज प्राणों के बलिदानी।

प्रस्तुत कृति मे चार सर्ग हैं जिन्हें कवि ने आहुति के नाम से अभिहित किया है। वस्तुत हिन्दू-मुस्लिम एकता के महायज्ञ में गणेश जी का आत्मार्पण महाहूतियाँ ही हैं। पचमाहुति जिसका नाम गीतिमाला था, अब वह मरण गीतों के रूप में एक पृथक् काव्य के आकार मे प्रकाशित होने जा रहा है।

प्राणार्पण एक चरित्र-प्रधान काव्य है। महा महिम गणेश जी के गरिमापूर्ण आत्म बलिदान के प्रति कवि की भावुकता स्रोतस्विनी ध्वस्त करुणा कुल धाराओं में प्रवाहित हो उठी है अत कथा के विकास में कहीं-कहीं व्याघात पहुँचा है। कवि का ध्यान मुख्यत आधुनिक युग के भारत की राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की जागृति पर केन्द्रित रहा है। लेखक ने गांधी-युग में हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रयासों की प्रतिक्रिया में ब्रिटिश सरकार की फूट की नीति और साम्प्रदायिकता के विषैले गुप्त प्रसार पर प्रखर प्रहार किया है।

सियारामशरण गुप्त का आत्मोत्सर्ग घटना-विस्तार है जबकि आत्मार्पण में चरित्र-निखार है। काव्याभिव्यक्ति की प्रौढ़ता तथा लक्ष्य का महत्ता और उदात्तता के कारण प्राणार्पण एक श्रेष्ठतर कृति है।

उदयशंकर भट्ट (सन् १८६७)—भट्ट जी की कविता में विरोधी वृत्तियों का एक निदर्शन मिलता है। प्रगतिवादी होते हुए भी प्राचीनता और आर्य-संस्कृति के आप प्रबल समर्थक हैं। अतीत के विश्वासी होते हुए भी रूढ़ि और परम्परा के आप प्रतिवादी हैं। इनकी शैली पूर्णत छायावादी न होते हुए भी छायावाद के सीमांत को छूती है। उनकी कविता ने समय के परिवर्तन के साथ नई-नई दिशाएँ पकड़ीं, जीवन का मार्मिक अभिव्यक्ति की—

> समय के सभी साथ जीवन बदलते,
> समय को बदलता हुआ यु कहावत।

अतीत के प्रति आस्था एवं अनुराग होने के कारण भट्ट जी के 'तक्षशिला' में

प्राचीन भारतीय संस्कृति की उच्चता का उद्घोष किया है। 'मानसी' में विश्व-जीवन की अनुभूतिमय विवेचना की है। 'राका' और 'विसर्जन' में वे छायावाद से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। अमृत और 'विष' इनका युद्ध-कालीन काव्य-संग्रह है। इसमें बंगाल के अकाल का हृदयद्रावक वर्णन हुआ है।

भट्ट जी जीवन में श्रम को महत्त्व प्रदान करते हैं, उन्हें भाग्यवाद, सामाजिक मिथ्या परम्पराओं और यहाँ तक कि ईश्वरीय न्याय पर भी विश्वास नहीं है—

"जीवन श्वेत धार है जन की, जिसमें कोई रंग नहीं है।
जिसमें निश्चित स्वर्ग नहीं है, जिसमें निश्चित नरक नहीं है।
यह केवल मानव का श्रम है, जो सुख-दुःख निर्माण कर रहा।
आशा और निराशा में हंस, रोकर अपना प्राण भर रहा॥"

कवि को विश्वास है कि महा-प्रलय में महा-सृजन सन्निहित है, जिसमें सब कुछ नया होगा—

ओ प्रिय ! अब मत करो भूलकर अपना यह शृंगार पुराना।
कल बसन्त में नव-सुमनों का नया नया मधु चखने आना।
नव रवि, नया स्वर्ग, नव पृथ्वी, शिव सुन्दर होंगे कह दूँ क्या ?

रामधारीसिंह दिनकर (सन् १९०८)—आज के उदीयमान कवियों में अत्यन्त सबल व्यक्तित्व सम्पन्न कलाकार हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी शैलियों और विधाओं में आपकी रचनायें प्रकाशित हुई और हो रही हैं। इन्होंने जब लिखना आरम्भ किया था उस समय छायावाद में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ आने लग गई थी, उसमें वैयक्तिक वेदना और निराशा प्रधान हो उठी तथा वह केवल कलावाद तक सीमित रह गया। इधर दूसरी ओर प्रगतिवाद साहित्यिकों के आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा था। दिनकर को इन दोनों धाराओं के बीच में से युगानुकूल मार्ग निकालना पड़ा।

दिनकर की कविता पर राष्ट्रीयता की छाप सबसे अधिक है। आपका कोमल हृदय सामन्ती शोषण से व्यथित हो उठता है। आपकी कविताओं में भी कभी-कभी शिव का सा प्रलयकारी ताण्डव नृत्य का दृश्य उपस्थित हो जाता है। आपकी रचनाओं में गंगा और हिमालय आदि के मनोहारी प्रकृति-वर्णन भी मिलते हैं जिनमें प्रेम की भावना प्रधान है।

रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्व गीत, हुंकार, धूप छांह, सामधेनी, बापू, धूप और धुआँ और इतिहास के आँसू इनकी कविताओं के संग्रह हैं। प्रणभंग एक खण्ड-काव्य है। कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी सर्गबद्ध काव्य हैं। रसवन्ती तक की कविताओं में उनके सौन्दर्य-उपासक, यौवन की उमंगों से तरंगित मन का परिचय मिलता है। किन्तु साथ-साथ प्रगतिवाद तथा मानवतावाद की व्यापक भावनाओं का भी उन्मेष होने लगता है जिनमें आगे चलकर उत्तरोत्तर विकास आया। दिनकर ने अपनी "कस्मै देवाय हविषा विधेम" नामक कविता में वर्तमान सम्पदा का भीषण चित्र खींचा है—

सिर धुन-धुन सभ्यता सुन्दरी होती है बेबस निज रथ में।
हाय मनुज किस ओर झुके से खींच रहे शोणित के पथ में॥

सामाजिक वैषम्य एवं शोषण के प्रति कवि दर्प से चीत्कार कर उठता है—

हटो व्योम के मेघ पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
दूध-दूध ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं॥
तथा
श्वानों को मिलता वस्त्र दूध भूखे बालक अकुलाते हैं।

रश्मि-रथी में लेखक ने महाभारत के उपेक्षित पात्र कर्ण के चरित्र का युगानुकूल उद्घाटन किया है—

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
मन में लिए उमंग जिन्हें चिरकाल कल्पना होगा।

कुरुक्षेत्र मे इनकी प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष दिखाई पड़ता है। इसमें कवि ने कुरुक्षेत्र के युद्ध का प्रसग चुनकर आज के युग की केन्द्रीभूत समस्या युद्ध और शांति पर अपनी मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना की है। यहाँ कवि ने भीष्म और युधिष्ठिर के परस्पर वार्तालाप में आज के युग की विविध समस्याओं पर प्रकाश डाला है और अन्ततोगत्वा आज के मानव को शांति की ओर प्रेरित करके उसे आशावादिता का संदेश दिया है—

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा न जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,
तेज न बढ़ेगा किसी मानव की जीत से।

१९५४ में प्रकाशित नवीन काव्य संग्रह 'नील कुसुम' में भी इन्होंने आज की मानवता को आशावाद का सन्देश दिया है। दिनकर की कविता मानवतावादी, प्रगतिशील पथ पर आज भी बड़े उत्साह से अग्रसर हो रही है।

ऊपर हमने छायावादी धारा के कतिपय प्रमुख कवियों का उल्लेख किया है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी अनेक कवि हैं जिन्होंने इस धारा के अन्तर्गत अपने सफल एवं कलात्मक काव्यों का निर्माण किया है। हमने छायावाद की कालावधि दो महायुद्धों के बीच का समय बताया है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद उक्त काव्य धारा बिल्कुल निःशेष या विलुप्त हो गई। कोई भी काव्यधारा एकदम विलुप्त या समाप्त नहीं हुआ करती है, भले ही उसमें कुछ मन्दता या क्षीणता आ जाये। छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत आज

भी अनेक उच्चकोटि के गीति-काव्यों का सफल सृजन हो रहा है। इस सम्बन्ध में श्री हरिकृष्ण प्रेमी, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द उपेन्द्रनाथ अश्क, सुमित्रा कुमारी सिंहा तारा पांडेय, जानकी वल्लभ शास्त्री, आरसी प्रसाद सिंह, देवराज, दिनेश, गोपालदास, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, भवानी प्रसाद मिश्र, रामावतार त्यागी, रामानन्द दोषी, हंस कुमार तिवारी, बालस्वरूप सिंह, विद्यावती कोकिल, रमानाथ अवस्थी, डॉ० शम्भूनाथ सिंह, विद्याभास्कर अरुण और चिरंजीत आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रतिभाशाली तरुण कवि हैं, जो उक्त काव्य धारा को अपनी कविताओं से समृद्ध बना रहे हैं, जिनका नाम उल्लेख स्थानाभाव के कारण कठिन है।

छायावादी युग . ब्रजभाषा काव्य

ब्रजभाषा काव्य धारा भारतेन्दु युग मे प्रधान रही। उसमे नवीन और प्राचीन विषयों का ग्रहण हुआ। द्विवेदी-युग में वह बहुत अंशों तक क्षीण हो गई। छायावादी युग में यह काव्य धारा अत्यन्त ही गौण रूप में आविर्भूत हुई। कारण, द्विवेदी युग में खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में सर्व सामान्य-रूप से स्वीकृत हुई। फिर भी ब्रजभाषा के लालित्य के प्रति थोड़ा बहुत मोह बना रहा, हालांकि इसमें पूर्व मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और निराला खड़ी बोली में कविता के माध्यम से गहन व सूक्ष्म अनुभूतियों का सफलतम प्रकाशन कर इस भाषा की अन्तरंग-शक्ति को सम्यक् प्रमाणित कर चुके थे। इतना होने पर भी, अनेक कवि ब्रजभाषा में कविता करते रहे। इनमें रामनाथ जोतिसी, रामचन्द्र शुक्ल, रायकृष्ण दास, जगदम्बा प्रसाद मिश्र हितैषी, दुलारे लाल भार्गव, वियोगी हरि, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, अनूप, रामेश्वर करुण, किशोरी दास वाजपेयी आदि और उमाशंकर वाजपेयी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। जोतिसी जी के काव्य 'राम चन्द्रोदय' में राम की कथा में युग भी प्रतिफलित हो उठा है। इस पर केशव की रामचन्द्रिका का प्रभाव स्पष्ट है। शुक्ल जी का 'बुद्ध चरित' लाईट आफ एशिया का ब्रजभाषा मे छायानुवाद है। रायकृष्ण दास कृत ब्रजरज, हितैषी रचित कवित्त सवैये तथा दुलारे लाल की दुलारे दोहावली इस काल की उल्लेख्य रचनायें हैं। वियोगी हरि की वीर सतसई में राष्ट्रीय भावनाओं की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई हैं। नवीन जी के उर्मिला महाकाव्य में उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र अंकित है। अनूप शर्मा के "फेरि मिलिबो" कुरुक्षेत्र मे राधा और कृष्ण के पुनर्मिलन का मार्मिक वर्णन है। रामेश्वर की करुण सतसई मे करुणा, अनुभूति की तीव्रता और नाना समस्याओं से सबद्ध तीखे व्यंग हैं। किशोरीदास वाजपेयी की तरंगिणी में प्राचीनता तथा नवीनता का रचना की दृष्टि से सुन्दर समन्वय है और यही दशा उमेश में देखी जा सकती है। इस युग की ब्रजभाषा रचनाओं से स्पष्ट है कि उनमें नवीनता का समावेश होने लग गया था, भले ही वह सीमित मात्रा में था।

छायावादी युग : हास्य व्यंगात्मक काव्य

छायावादी युग में हास्य व्यंगात्मक रचनाओं का प्रणयन दो रूपों में हुआ।

कुछ कवियों ने प्रधानतः हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य लिखे तथा कुछ ने प्रसंगवश इस विषय पर लिखा प्रथम कोटि में मनोरंजन के संपादक ईश्वरी प्रसाद शर्मा, हरिशंकर शर्मा, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, कृष्ण देव प्रसाद गौड़ उपनाम बेढब बनारसी, अन्न पूर्णानन्द (महा कवि चच्चा), कान्ता नाथ पांडेय चोंच और शिव रत्न शुक्ल आदि आते हैं। मनोरंजन के संपादक ईश्वरी प्रसाद शर्मा के संकलन 'चना चबेना' मे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिवेश के छिद्रों पर सुरुचिपूर्ण हास्य व्यंग उपलब्ध होते हैं। हरिशंकर शर्मा के 'पिंजरा पोल' तथा चिड़िया घर संग्रहों में सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखंड तथा भ्रष्टाचार का कलात्मक अभिव्यंजन हुआ है। उग्र जी की पैरोडियो और व्यंग्यात्मक कविताओं मे निर्भकिता है बेढब बनारसी ने छायावादी युग तथा उसके बाद में भी सम सामायिक आचार व्यवहार पर व्यंग और विनोद की जो धारा प्रवाहित की है, वह साहित्य में एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। उपमा और वक्रोक्ति अलंकारों के प्रयोग द्वारा तीखे और चुटीले व्यंग कसने की कला मे वे सिद्धहस्त थे। महाकवि चच्चा, चोंच तथा शिवरत्न शुक्ल हास्य व्यंग्यात्मक कविता के समर्थ कवि हैं। महाकवि चच्चा ने मानवीय स्वार्थ, पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण, सामाजिक रूढ़ियो और अन्ध विश्वासों पर करारे व्यंग्यो की सृष्टि की है। चोंच की कृतियों मे 'चोंच चालीसा', 'महाकवि साढ़' तथा 'पानी पाँडे' उल्लेखनीय हैं। सामाजिक कुरीतियाँ इनके व्यंग्यों का विषय हैं। शिव रत्न शुक्ल का 'परिहास प्रमोद' काव्य अपनी विनोदात्मकता के लिए उल्लेख्य है। समाज में अभिशापों के अतिरिक्त इन्होंने पथ भ्रष्ट राजनीतिज्ञों की भी खूब खिल्ली उड़ाई है।

प्रासंगिक रूप से लिखने वाले कवियों में से हरिऔध के चोखे चौपदे तथा चुभते चौपदे, चतुर्भुज कृत हंसी का फव्वारा तथा ज्वाला रामनागर कृत छाया-पथ उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इस दिशा में जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, मोहन लाल गुप्त और श्री नाथ सिंह आदि की स्फुट रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। इस युग में रचित हास्य व्यंग्यात्मक साहित्य मे व्यंग्य का तीखापन और हास्य की प्रखरता है किन्तु छायावादी काव्य जैसा औदात्य नहीं है।

उत्तर छायावाद-युग : प्रगतिवाद

स्वरूप—जो विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र मे साम्यवाद, सामाजिक क्षेत्र में समाजवाद और दर्शन में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद के नाम से अभिहित की जाती है दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टि-कोण के अनुसार निर्मित काव्यधारा प्रगतिवाद है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील इन दोनों शब्दों को एक-दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है किन्तु ऐसा करना भ्रामक है। इन दोनों के शब्दों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है—प्रगतिवाद शब्द मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा से सर्वथा सम्बद्ध है जबकि प्रगतिशील शब्द उससे सर्वथा स्वतन्त्र। किसी भी उपकरण से यथार्थ को

उन्नति की ओर अग्रसर करने वाला साहित्य प्रगतिशील कहला सकता है, और ऐसा करना साहित्य का शाश्वत धर्म है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर, प्रसाद और गुप्त का साहित्य प्रगतिशील है, किन्तु उसे रूढ़ अर्थ में प्रगतिवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता है। प्रगतिवादी साहित्य सामाजिक वैषम्य के निवारण करने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा को माध्यम के रूप में अपनाने के लिए विवश है।

आधारभूत सिद्धान्त—प्रगतिवादी साहित्य का मूलधारा कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) की विचारधारा है। इस विचार धारा को तीन प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त तथा (ग) मूल-सम्यता के विकास की व्याख्या। इसका विश्लेषण डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार निम्नस्थ है—

(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद—मार्क्स के विचारानुसार इस जगत् की उत्पत्ति एवं विकास भौतिक शक्तियों के द्वन्द्व से होता है। दो वस्तुओं एवं शक्तियों के संघर्ष से तीसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है और यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस प्रकार इस विकास-क्रम से योग्यतम की सत्ता बनी रहती है। मार्क्स सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे किसी आध्यात्मिक शक्ति को स्वीकार नहीं करता है। इसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति नहीं, बल्कि इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। यह भौतिक जगत् (द्वन्द्वात्मकता से) अपने विकास का कारण स्वयं है। यही कारण है कि मार्क्स आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मृत्यु के बाद जन्मान्तरवाद आदि को नहीं मानता।

(ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त—मार्क्स ने किसी वस्तु की वृद्धि के चार अंगों का उल्लेख किया है—मूल-पदार्थ, स्थूल साधन, श्रमिक का श्रम और मूल्य-वृद्धि। इस प्रक्रिया में पूँजीपति द्वारा मूल-पदार्थ और मशीनें जुटाई जाती हैं जिन पर उसका व्यय होता है। सामाजिक आवश्यकता के अनुसार श्रमिक-वर्ग अधिकाधिक परिश्रम से अधिकाधिक मात्रा में वस्तूत्पादन करता है। इस उत्पादन-कर्म में बलिदान तो होता है श्रमिक के श्रम और उसके स्वास्थ्य का, किन्तु तिजोरियाँ भरी जाती हैं पूँजीपति की। लाभ की दशा में श्रमिक और पूँजीपति में उचित अनुपात से धन का बँटवारा न होने के कारण शोषण को प्रोत्साहन मिलता है, जोकि आज की मानवता के लिए एक महान् अभिशाप है। कार्ल मार्क्स के अनुसार किसान और मजदूर शोषित हैं, जबकि मालिक जमींदार और पूँजीपति शोषक हैं।

(ग) वर्ग-व्यवस्थानुसार विश्व-सम्यता की व्याख्या—मार्क्स ने विश्व-मानवता को दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) शोषक-वर्ग और (२) शोषित-वर्ग। वर्ण, जाति, धर्म, देश एवं सम्प्रदाय-गत भेद उन्हें मान्य नहीं हैं, उन्होंने विश्व-सम्यता के इतिहास को चार युगों में बाँटा है—पहला युग दास प्रथा का युग था, जबकि श्रमिक की सब वस्तुओं पर उसके स्वामी का एकमात्र अधिकार था, श्रमिक तो दासवत् था। दूसरा सामन्ती प्रथा का युग है जिसमें श्रमिक को व्यक्तिगत बातों में

को स्वतन्त्रता मिल गई है किन्तु बाकी सब कुछ पूर्ववत् बना रहा। तीसरा पूँजीवादी व्यवस्था का युग आया जिसमे मजदूर के व्यक्तित्व और उसके श्रम पर तो उसका अधिकार हो गया, किन्तु उत्पादन और लाभ पर पूँजीपति का अधिकार बना रहा। चौथा है साम्यवादी व्यवस्था का युग जिसमें मजदूरों द्वारा उत्पादन के समस्त उपकरणों पर नियन्त्रण होगा और प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिलेगा। कार्ल मार्क्स साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिंसात्मक क्रांतिमय उपायों का भी समर्थन किया। साम्यवाद का *उद्देश्य है समाज में आर्थिक स्तर पर समता की प्रतिष्ठा करना,* और इसकी सिद्धि के लिए शोषित वर्ग को शोषक के विरुद्ध उत्तेजित करना। अतः साम्यवादी या प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य भी साम्यवादी विचारधारा द्वारा शोषितों को शोषकों के विरुद्ध भड़काना है।

साम्यवाद का केन्द्र बिन्दु श्रमिक—साम्यवादी विचारधारा की दृष्टि बिन्दु मजदूर और उसका जीवन है। पूँजीपति अधिकाधिक लाभ के लिए श्रमिक की समस्त शक्तियों का उपयोग करना चाहता है, इससे शोषण को जन्म मिलता है और प्रोत्साहन भी। पूँजीपति थोड़े समय में अधिक लाभ की आशा से ठेकेदारी प्रथा को चलाता है जिसका मजदूर के जीवन और स्वास्थ्य पर दुष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। उद्योगपति उद्योग-धन्धों की सफलता के लिए श्रमिक के लिए नाना आकर्षणों को पैदा करता है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण वर्ग अपने पारिवारिक और समाजगत व्यवसाय को छोड़कर नगरों के कारखानों की ओर दौड़ता है, किन्तु नगर के उस अपरिचित वातावरण में उसे अकेलापन महसूस होता है। परिणामत उसके मानसिक सन्तुलन को आघात पहुँचता है। इसके फलस्वरूप श्रमिक के चरित्र और मनोरंजन की समस्या उत्पन्न होती है। मनोरंजन के आवश्यक उपकरणों के अभाव में उसकी दृष्टि केवल गृहिणी तक सीमित रहती है, जिसका फल पारिवारिक वृद्धि और उसका दुष्परिणाम है निर्धनता।

पूँजीपति अपनी अतुल धन राशि की रक्षा के लिए परलोक और प्रारब्ध के कृत्रिम एवं मिथ्या नियमों की सृष्टि करता है। उसकी अतुल सम्पत्ति उसके प्रारब्ध का दान है, जबकि निर्धन व्यक्ति की निर्धनता के लिए प्रारब्ध को दोषी ठहरा कर श्रमिक को झूठा सतोष दिलवाया जाता है, किन्तु साम्यवाद प्रारब्ध के इस ढकोसले को नहीं मानता। साम्यवादी का कहना है कि "व्यक्ति समाज का अंग है और समाज के लिए उसकी सत्ता है। जब तक वह समस्त समाज के विकास और वृद्धि में उपयोगी है तब तक उसका उतना ही मूल्य है जितना किसी अन्य व्यक्ति का। अतएव सम्पत्ति का विभाजन व्यक्तिपरक न होकर व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए तथा किसी व्यक्ति का मूल्य इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उसके चुकाने में दूसरे व्यक्ति को कष्ट हो। इसके मूल्य नियन्त्रण के लिए सम्पत्ति पर से व्यक्ति का नियन्त्रण हटाकर समाज का नियन्त्रण आवश्यक है। साम्यवादी व्यवस्था

का यही मूल तत्त्व है।"

मार्क्स की इस विचारधारा का प्रभाव केवल आर्थिक व्यवस्था पर ही नही पड़ा बल्कि इसने विश्व के दर्शन, धर्म, कला और साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया। योरुप तथा एशिया महाद्वीपों के सभी प्रमुख देशों मे साम्यवादी विचारधारा का वहन करने वाले प्रगतिवादी साहित्य की सृष्टि हुई, जिसमें कतिपय प्रवृत्तियाँ समान रूप से परिलक्षित हुईं—धर्म, ईश्वर एव परलोक का विरोध, शोषक-वर्ग के प्रति उत्तेजना एव उत्कृष्ट घृणा का प्रचार, शोषित वर्ग के प्रति करुणार्द्र सहानुभूति तथा उसके जीवन का यथार्थ चित्रण, नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण और शैली की सरलता एव कलाडम्बर विहीनता आदि।

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की पृष्ठभूमि—अग्रेजी शासन की स्थापना के के साथ भारत मे भी व्यापार और उद्योग-धन्धो का केन्द्रीकरण प्रारम्भ हो गया। परिणामत वहाँ भी श्रमिक और पूँजीपति, शोषित और शोषक वर्ग की उत्पत्ति हुई। यहाँ का मजदूर और किसान घरेलू काम-धन्धो की कला मे दक्ष होने पर भी नगरों और कारखानों की ओर खिंचने लगा, चाहे यह प्रक्रिया इगलैंड के मुकाबले मे बहुत हल्की थी। जीवन के अन्य क्षेत्रो के समान पाश्चात्य सम्पर्क का प्रभाव इस दिशा मे भी निश्चित रूप से पड़ा।

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनो का लक्ष्य जहाँ भारत को अग्रेजो की राजनीतिक दासता से मुक्त करना था, वहाँ हर प्रकार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण, भेदभाव और अन्याय का अन्त करके शोषणविहीन प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा करना भी था और इस दिशा मे आज भी राष्ट्रवादी नेता प्रयत्नशील हैं, चाहे उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता अपेक्षाकृत कम ही क्यों न मिली हो। अस्तु, कार्ल मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा से रूसी सामन्तवाद का अन्त हुआ और वहाँ एक सफल साम्यवादी समाज की स्थापना हुई जिसने अल्पकाल में ही आश्चर्यजनक उन्नति की इससे जहाँ हमारी राजनीतिक चेतना प्रभावित हुई वहाँ इस देश का सजग कलाकार भी अवश्य प्रभावित हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से विश्व भर में महँगाई, दरिद्रता और वर्गवाद का बोलबाला हुआ। उसकी समाप्ति और भी भयावह सिद्ध हुई। महँगाई, बेरोजगारी तथा शोषण का दमन-चक्र सर्वत्र बडी निर्ममता से चला और इसके अनिष्ट प्रभाव से भारत जैसे दीन देश का पहले से बचना कठिन था। देश की इस दयनीय दशा की ओर राजनीतिज्ञ और साहित्यकार का ध्यान जाना आवश्यक था।

१९३६ का वर्ष हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस समय छायावाद जहाँ एक ओर अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखाई दिया वहाँ साथ-साथ उसमें ह्रास की प्रक्रिया भी आभासित होने लगी और यह प्रक्रिया १९४० तक बराबर चलती रही। व्यक्तिवाद की जो व्यापक चेतना, लोक-सग्रह, आशा और उल्लास का जो स्वर प्रसाद, महादेवी, निराला और पन्त में मिलता है नये कवियों में

उसका प्रायः लोप सा हो गया। छायावाद की नई पीढ़ी के कवि घोर आत्मनिष्ठ, निराशावादी और केवल मात्र कल्पना तथा सौन्दर्य के लोक में विचरण करने वाले रह गये। वे बदलते हुए युग और उसकी आवश्यकताओं का साथ न दे सके। परिणामतः उनकी कविता जीवन के लिए अजनबी सी प्रतीत होने लगी।

सन् १९३४ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सरकार द्वारा अवैध घोषित होने पर गुप्त रूप से शोषक वर्ग सामन्तशाही के प्रति उत्कट घृणा का प्रचार-कार्य उनके द्वारा चलता रहा। सन् १९३६ में मुन्शी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। 'प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जोश इलाहाबादी जैसे अग्रणी लेखकों और कवियों ने इस आन्दोलन का स्वागत ही नहीं किया उसमें आगे बढ़कर भाग भी लिया।" पंत, निराला दिनकर और नवीन ने इसमें सक्रिय योगदान दिया। पन्त ने अपनी पत्रिका 'रूपाभ' के सपादकीय में लिखा था—"इस युग की वास्तविकता ने जैसे उग्र रूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों से प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड रहा है।" कवि पन्त पुकार उठता है—

देख रहे हो गगन मृत्यु-नीलिमा नील गगन,
देखो भू को स्वर्गिक भू को मानव पुण्य प्रसू को।

उत्तर छायावादी युग में अनेक कवि प्रगतिवाद के जीवन आदर्श से प्रेरित हुए। इनमें प्रमुख हैं—नरेन्द्र शर्मा शिवमंगलसिंह, सुमन, अचल, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, रामदयाल पांडेय और त्रिलोचन। सोहनलाल द्विवेदी एवं सुधीन्द्र जैसे गांधीवादी कवियों ने भी प्रगतिवाद के स्वर अलापे। प्रगतिवाद के तरुण कवि हैं—शम्भुनाथसिंह रसिक, विद्यावती, कोकिल, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गजानन माधव, गोपालदास नीरज, रामविलास शर्मा आदि।

कुछ लोगों ने हिन्दी-साहित्य के प्रगतिवाद को अंग्रेजी के Progressive साहित्य का हिन्दी संस्करण तथा अभारतीय कहा जो कि संगत नहीं है। हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य यहाँ की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों की उपज है, इसमें अपना बहुत कुछ है। हाँ, इस पर अंग्रेजी तथा रूसी साहित्य का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

प्रगतिवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(१) रूढ़ि-विरोध—प्रगतिवादी साहित्यकार ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न

मानकर जागतिक द्वन्द्व को सृष्टि के विकास का समवायि कारण स्वीकार करता है। उसे ईश्वर की सत्ता, आत्मा, परलोक, भाग्यवाद, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि पर विश्वास नहीं है। उसकी दृष्टि में मानव की महत्ता सर्वोपरि है। उसके लिए धर्म एक अफीम का नशा है और प्रारब्ध एक सुन्दर प्रवचना। उसके लिए आर्य-अनार्य, ईसाई-यहूदी, गोरा-काला, ब्राह्मण और शूद्र का भेद एकदम थोथा है। प्रगतिवादी कवि धर्म, समाज तथा उस तथाकथित ईश्वर द्वारा निर्मित नियमों और उपनियमों को छिन्न भिन्न कर देना चाहता है। उसके लिए मन्दिर, मस्जिद, गीता और कुरान आज महत्त्व नहीं रखते। उसे अन्ध विश्वासों, मिथ्या परम्पराओं और रूढियों पर प्रखर प्रहार करके मानव को मानव-रूप में देखना अभीष्ट है—

> भ्रांत यह अतिरंजित इतिहास ?
> व्यर्थ के गौरव गान
> दर्प से एक महान
> अपर मुख म्लान
> किसी को आर्य, अनार्य,
> किसी को यवन
> किसी को हूण-यहूदी द्रविड
> किसी को शीश
> किसी को चरण
> मनुज को मनुज न कहना आह !

(२) शोषितों का करुण गान—शोषित मानव-जाति के लिए एक घोर अभिशाप है और इसका निवारण साम्यवादी व्यवस्था का लक्ष्य है। आज के निर्मम शोषण की चक्की के पाटों में पिसने वाले शोषित वर्ग—मजदूरों, किसानों एवं पीड़ितों की दशा का प्रगतिवादी कलाकार ने सहानुभूतिपूर्ण कारुणिक चित्रण किया है। प्रायः सारे प्रगतिवादी काव्य में यही करुण कहानी है जिसमें सांसारिक सुखों से वंचित शोषित वर्ग के जीवन के करुण अध्याय जुड़े हुए हैं। दलितों की दीन दशा पर आँसू बहाते हुए 'अंचल लिखते हैं—

> यह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती।
> बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसी जीती।

निराला बंगाल के अकाल का दुखद चित्र उपस्थित करते हुए लिखते हैं—

> बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर।
> धर्म धीरज प्राण खोकर, हो रही अनरीति बर्बर।
> राष्ट्र सारा देखता है॥

इसी प्रकार उनका भिक्षुक का वर्णन—

> वह आता
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

मजदूर सुख के सब उपकरणों का स्रष्टा है पर वह स्वयं उससे वंचित है, वह अन्नदाता है, पर भूखा है। यह है भारत का दरिद्र नारायण मजदूर और किसान।

ओ मजदूर ओ! मजदूर!!
तू सब चीजों का कर्त्ता तू ही सब चीजों से दूर,
ओ मजदूर! ओ मजदूर!!
× × ×
इस सलकत का मालिक तू है, तू चाहे तो पल में कर दे,
इस दुनिया को चकनाचूर, ओ मजदूर! ओ मजदूर!!

(३) शोषकों के प्रति घृणा और रोष—इस संसार में केवल दो ही जातियाँ हैं—शोषक और शोषित। शोषकवर्ग—व्यापारी, जमींदार, उद्योगपति—प्रारब्ध के नाम पर पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है और जब तक यह पूँजीवादी व्यवस्था बनी रहेगी, तब तक शोषण का अन्त असम्भव है। प्रगतिवादी इस अधम व्यवस्था को कुचल देने के पक्ष में हैं…"हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े शोषण पर जिसकी नींव गड़ी।" प्रगतिवादी कवि सामाजिक जीवन के वैषम्य को देखकर आक्रोशमयी प्रलयकारिणी वाणी में वज्रनिर्घोष कर उठता है—

"श्वानों को मिलता वस्त्र दूध, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा बसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण॥"—दिनकर

सामाजिक विशृङ्खलता के उत्तरदायी शोषकों को ललकारते हुए पन्त कहते हैं—

वर्गी-हठी निरंकुश निर्भय कलुषित कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक-जीवन जिन से मृत।
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीना,
अब न प्रयोजन उनका अन्तिम हैं उनके क्षण॥

(४) क्रान्ति की भावना—साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा के सामन्तवादी परम्पराओं का समूल नाश आवश्यक है। केवल परम्पराओं का नाश ही पर्याप्त नहीं बल्कि शोषक-वर्ग का सर्वथा ध्वंस वाञ्छनीय है, अतः प्रगतिवादी कवि क्रान्ति के उन प्रलयकारी भैरव स्वरों का आह्वान करता है जिनसे जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियाँ एवं परम्परायें किसी गहन अनल में सदा के लिए विलीन हो जायें। उन्हें समझौते या हृदय परिवर्तन की नीति पर विश्वास नहीं है। वह फोड़े को मरहम के उपयोग से अन्दर नहीं दबाना चाहता, बल्कि उसे उसकी जड़ से उन्मूलन अभीष्ट है। प्रगतिवादी कवि पूँजीपतियों के गगनचुम्बी महलों को भूमिसात् देखना चाहता है।

उदाहरणार्थ देखिये —

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये। —(नवीन)
आ कोकिला बरसा पावक कण।
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन॥ —(पन्त)
उठ समय से मोरचा ले,
धूल धूसर वस्त्र मानव,
देह पर फबते नहीं हैं,
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रंगा ले। —(बच्चन)

(५) मार्क्स तथा रूस का गुणगान—इस धारा के बहुत से कवियों ने साम्यवाद के प्रवर्तक मार्क्स तथा रूस, जहाँ उनकी विचारधारा पल्लवित और पुष्पित हुई, दोनों का उन्मुक्त गान किया। इस बात का विचार न करते हुए कि क्या वहाँ की मान्यताएँ भारत के लिए उपयोगी भी सिद्ध हो सकती हैं या नहीं। पन्त तो कहीं-कहीं साम्यवादी दर्शन की व्याख्या मात्र जुटाने में लग जाते हैं। निःसन्देह उनकी ऐसी रचनाओं में भाषा की स्वच्छता है पर वे किसी प्रकार भी रागात्मक साहित्य की कोटि में नहीं आयेंगी। पन्त की कार्ल मार्क्स के प्रति प्रशस्ति पद देखिये—

धन्य मार्क्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर॥

नरेन्द्र शर्मा का लाल रूस का गुणगान भी सुनिये—

'लाल रूस है ढाल साथियो! सब मजदूर किसानों की,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी! दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का॥"

(६) मानवतावाद—प्रगतिवादी कवियों के दो समुदाय हैं—एक तो अपनी मातृभूमि के लिए लिखता है और अपने ही देश के भिखमंगों, किसानों, मजदूरों, वेश्याओं और विधवाओं का उद्धार करना चाहता है। दूसरा समुदाय समस्त मानवता का उद्धार चाहता है। उसे संसार के सब पीड़ित लोगों से प्यार एवं सहानुभूति है। उसे संसार के किसी भी कोने में किये गये अत्याचार के प्रति रोष है। उसके लिए हिन्दू और मुसलमान, हब्शी और यहूदी मानव के नाते सब बराबर हैं। कवि पन्त 'स्वर्ण धूलि' में लिखते हैं—

नहीं छोड़ सकते रे यदि जन,
देश राष्ट्र राज्यों के हित नित्य युद्ध करना,
हरित जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना,
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर हम
अमरीकन, रूसी औ इंगलिश कहलाना,

देशों में आवे धरा निखर, पृथ्वी हो सब मनुजों का घर,
हम उनकी सन्तान बराबर। (पन्त)

जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के?
जाने कब तक सच्चे होंगे, सपने सबकी समता के?—(नरेन्द्र शर्मा)

(७) वेदना और निराशा—छायावाद तथा प्रगतिवाद दोनों में वेदना का चित्रण हुआ है, किन्तु प्रगतिवाद की वेदना वैयक्तिक और सामाजिक है जबकि छायावाद में उसका वयक्तिक रूप अधिक है। प्रगतिवादी संघर्षों से जूझता हुआ निराश नहीं होता। उसे विश्वास है कि वह इस सामाजिक वैषम्य को दूर करने के लिए सफल होगा और वह उस समता के स्वर्ण विहान की आशा करता है। उसकी ओजस्विनी वाणी शोषित-वर्ग को स्फूर्ति प्रदान करके उसे अत्याचार के विपरीत मोर्चा लेने के लिए तैयार करती है। प्रगतिवादी इसी संसार को स्वर्ग बनाना चाहते हैं जिसमें वर्ग भेद, शोषण और रूढ़ियों का नामोनिशान नहीं होगा।

(८) नारी-चित्रण—प्रगतिवादी कवि के लिए मजदूर तथा किसान के समान नारी भी शोषित है जो कि युग-युग से सामन्तवाद की कारा में पुरुष दासता की लौहमयी श्रृंखलाओं से बद्ध बन्दिनी के रूप में पड़ी है। वह अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो चुकी है और वह केवल मात्र रह गई है पुरुष की वासना—तृप्ति का उपकरण। उसमें आत्मा की उज्ज्वलता पुरुष की दृष्टि से एकमात्र विलुप्त हो गई है—

योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित। —(पन्त)

नरेन्द्र शर्मा ने वेश्या के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके पतन का दायित्व समाज पर ठहराया है—

गृह सुख से निर्वासित कर दी हाय मानवी बनी सर्पिणी,
यह निष्ठुर अन्याय, आओ बहिन!
भरी सर्पिणी धरें तेरे मणिमय मस्तक पर मैं,
अंकित कर दूँ निर्धन चुम्बन आ सर्पिणी, आ
ले भाई का निर्बल आलिंगन।

कवि पन्त पुकार उठता है—

मुक्त करो नारी को।

प्रगतिवादी कवि ने श्रृंगार रस के अन्तर्गत नारी के 'प्रेम' का भी चित्रण किया है और अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण गोप्य वस्तुओं को अगोप्य रूप में चित्रित किया, फलतः उसमें अश्लीलता की वीभत्सता आ गई। नरेन्द्र शर्मा की "प्रभात फेरी" और पन्त की 'ग्राम्या' में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।

(९) सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण—प्रगतिवादी काव्य में निम्न वर्ग

के जीवन की प्रतिष्ठा हुई। इससे पहले साहित्य में मध्य वर्ग तथा उच्च वर्ग का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ था। आज के वैज्ञानिक युग के कवि के सम्मुख अनेक प्रबल भौतिक समस्याएँ हैं अतः उसे आध्यात्मिकता की चिन्ता नहीं। आज उसे व्यक्ति और समाज के कटु-सत्यों के सामने ऐश्वर्य, विलास, सुमन, सुरभि और मादक बसन्त फीके लगते हैं। जीवन के अनाचार, भूख की पुकार और पीड़ित की हाहाकार ने उसे व्यथित बना दिया है। आज वह आकाश में विचरण करने की अपेक्षा पृथ्वी के जीवन को खुली आँख से देखने और लिखने लगा। संसार की सात आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक ताजमहल के सम्बन्ध में पन्त लिखते हैं—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन॥

इसी प्रकार भारत के ग्रामों का वर्णन करते हुए कवि पन्त लिखते हैं—

यह तो मानव लोक नहीं है, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित॥

(१०) सामयिक समस्याओं का चित्रण—प्रगतिवादी कवि देश और विदेशों की सामयिक समस्याओं के प्रति भी अत्यन्त सजग रहा है। उसके लिए विश्व-संस्कृति और मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था। इस साधन के द्वारा उसके साहित्य में जीवन वास्तविक रूप से प्रतिबिम्बित हुआ। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन, कश्मीर समस्या, बंगाल का अकाल, मँहगाई, दरिद्रता, बेकारी और चरित्र हीनता आदि का प्रगतिवादी कवि ने मार्मिक वर्णन किया है। राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी के दारुण निधन पर प्रगतिवादी कवि की आकुल अन्तरात्मा फूट निकली—

बापू मेरे ·
अनाथ हो गई भारत माता
अब क्या होगा ·।

निराला की बंगाल के अकाल पर अभिव्यक्त वेदना हृदय को दहला देने वाली है।

विश्व-राजनीति में जब भी मानवता को 'शोषण' और 'अनीति' का शिकार बनना पड़ा, उस समय कवि की सहानुभूतिमयी वाणी मुखरित हो उठी। हिरोशिमा की बरबादी, स्वेज के झगड़े, कोरिया-युद्ध आदि अनेक समस्याओं पर कवि ने मार्मिक उद्गार प्रकट किए।

इन सामयिक समस्याओं के चित्रण में कवि ने अनेक सुन्दर व्यंग्य और हास-परिहास आदि का भी उपयोग किया है। नागार्जुन ने आज की थोथी आजादी पर व्यंग्य करते हुए कहा है—

कागज की आजादी मिलती,
ले लो दो-दो आने में।

(११) कला सम्बन्धी मान्यता—प्रगतिवादी कलाकार जितना अनुभूति-पक्ष के सम्बन्ध में चिन्तित है उतना अभिव्यक्ति-पक्ष के सम्बन्ध में नहीं। कवि पन्त का कहना है—

तुम वहन कर सको, जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए क्या तुम्हें अलंकार॥

संघर्ष कालीन कवि को क्रांति की भावना या कलात्मकता में से एक को अपनाना और उसका रक्षण करना होता है। प्रगतिवादी कवि को क्रांति की भावना के प्रचार के लिए कलात्मकता का बलिदान देना पड़ा, क्योंकि इसके बिना वह निम्न वर्ग तक पहुँच ही नहीं सकता था। प्रगतिवादी काव्य में सरलता और सहज बोधगम्यता है। उसमें किसी प्रकार का आडम्बर नहीं है। छायावाद की संस्कृतमयी पदावली, क्लिष्ट प्रतीकात्मकता और लाक्षणिक योजना के विरुद्ध यहाँ विद्रोह है। प्रगतिवादी काव्य में भाव, भाषा, छन्द, अलंकार सभी दिशाओं में स्वाभाविक प्रगति हुई है। प्रगतिवादी काव्य की भाषा भावानुसारिणी है। वह सरल, सुबोध और भावाभिव्यंजना में सक्षम है। छन्द के क्षेत्र में इस धारा के कवियों ने उदार दृष्टिकोण से काम लिया है। मुक्तक और अतुकान्त छन्दों के साथ इन्होंने गीतों और लोक गीतों की शैली का का भी प्रयोग किया है। हाँ, इस दशा में अपेक्षाकृत संगीत की मात्रा नहीं आ पाई है, जो छायावादी काव्य का विशेष गुण था अलंकार क्षेत्र में भी इन्होंने रूढ़ उपमानों का परित्याग करते हुए नवीन रूपक, उपमान, एवं प्रतीक प्रस्तुत किए। प्रगतिवादी काव्य की भाषा में पहले-पहल कर्कशता और खुरदरापन था, किन्तु शनैः-शनैः उसमें कोमलता और सरसता का संचार होने लगा।

प्रगतिवादी कवि शिव का पुजारी है, अतः उसके काव्य में उपयोगितावाद का प्राधान्य है। उसका कला और जीवन सम्बन्धी आदर्श है—

खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त औ युग वाणी बहती अयास।
बन गये कलात्मक भाव जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख लगता ललाम।
सुन्दर, शिव, सत्य कला से कल्पित, मात्र नाम,
बन गये स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।
मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर,
करता अपूर्ण को पूर्ण असुन्दर को सुन्दर॥ —(पन्त)

ऊपर हमने प्रगतिवादी काव्य की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी कवि वे हैं जिन्होंने मार्क्सवाद से प्रभावित होकर रूढ़ि विरोध, शोषकों के प्रति घृणा और शोषितों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक जीवन तथा सामयिक समस्याओं का यथार्थपरक वर्णन किया है। ऐसे कवियों में शिव मंगलसिंह सुमन, डॉ॰ रामविलास शर्मा, नागार्जुन तथा केदारनाथ अग्रवाल आदि

उल्लेखनीय है। किन्तु इनके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के कवियो का एक ऐसा वर्ग भी है जिसने मार्क्सवाद का आँख मूंदकर अनुसरण न करते हुए अपने काव्यो मे जन-सामान्य के लिए प्रगति विधायक तत्त्वो को विन्यस्त किया है। ऐसे कवियो को प्रगतिवादी कवि न कहकर प्रगतिशील कवि कहना अधिक सगत है। प्रगतिशील कवियो ने मानवतावाद, गाँधीवाद और व्यापक राष्ट्रीयता के प्रचार से समाज और राष्ट्र को प्रगतिवाद की ओर प्रेरित किया है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार "इस वर्ग के अनेक कवि मूलत छायावादी हैं, जिन्होने बीच-बीच मे प्रगतिशील रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार के कवियो मे मुख्यत सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, रामेश्वर शुक्ल अचल, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन आदि का नाम उल्लेखनीय है।" इसके अतिरिक्त दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, गोपालशरण सिंह तथा सुभद्रा कुमारी चौहान आदि का भी प्रगतिशील कवियो मे विशिष्ट स्थान है।

प्रगतिवाद की न्यूनतायें—प्रगतिवादी काव्य के प्रारम्भिक वर्षों को देखकर साहित्य जगत को यह आशा बँध गई थी कि भविष्य में चलकर यह भी प्रसाद की 'कामायनी' के समान अपनी कोई अमूल्य निधि प्रदान कर साहित्य को गौरवान्वित करेगा, किन्तु वह आशा पूरी न हो सकी और विद्रोह का स्वर अलापने वाला यह काव्य स्वय रूढिग्रस्तता तथा ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया का शिकार बन गया। लगभग बीस वर्ष की अवधि मे इसने साहित्य के उपन्यास, कहानी, कविता और नाटक किसी भी क्षेत्र मे ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दिया जो अविस्मरणीय हो। प्रगतिवादी काव्यधारा मे सामाजिकता की प्रधानता के कारण उसमे जीवन की स्थूल समस्याओ का विवेचन हुआ और उसमे यथार्थता इतनी भर दी कि वह विवेचन एक विवरणमात्र रह गया। फलत इस काव्य में अनुभूति की गहराई और सवेदनशीलता के गुण न आ सके। प्रगतिवादी काव्य में गर्जन-तर्जन अधिक है किन्तु उसमें वह अजस्र रसधारा नही जो कि हृदय की पिपासा को तृप्त कर सके। बौद्धिकता के अतिरेक और अति यथार्थवादिता ने इसमें प्रेषणीयता के स्थान पर बीभत्सता ला दी। कवि पन्त के शब्दों में "नवीन लोक-मानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नगे-भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थि-पजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्म कुण्ठित, बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुँकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा" अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि, सस्कारिता का स्थान विकृत, कुत्सित बीभत्स ने ले लिया।"जीवन के शाश्वत सत्यों की उद्भावना, प्रगतिवादी काव्य में बहुत कम हुई है धीरे-धीरे भाव क्षेत्र में प्रगतिवाद भी रूढ़िग्रस्त होता गया। छायावादी कविता साधना और अभ्यास के कारण कवित्व की दृष्टि से बहुत ऊँची है। प्रगतिवादी कविता में छायावाद की गम्भीरता, तन्मयता, अभिव्यजना, अनुभूति की गहराई और कला की उच्चता नहीं आ सकी। प्रगतिवादी कवि मार्क्सवादी विचार-धारा को बुद्धि का विषय मात्र बना पाया उसे हृदय की अनुभूति का विषय नहीं बना

सका। परिणामतः उसमें विचारों की शुष्कता है, अनुभूति की तरलता नहीं। इस कवि की शोषित वर्ग के प्रति बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त हो सकी।

प्रगतिवादी काव्य में एकांगिता अधिक है। जीवन की विविधता और अनेकरूपता कम। कहीं-कहीं पर प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक व्याख्या मात्र कर दी गई है जिसमें रागात्मकता नहीं। फैशन और फरमायश के लिए लिखी गई प्रगतिवादी कविताएँ साहित्य कोटि में कभी भी नहीं आ सकतीं। दूसरे ह्रासोन्मुख-प्रक्रिया काल में कुछ प्रगतिवादी कवि नग्न चित्रण को ही सच्चा मार्क्सवाद मान बैठे। तीसरे मार्क्सवाद को अवांछित कट्टरता से अपनाना तथा धर्म प्रधान देश भारत की आध्यात्मिकता का सर्वथा विरोध करना आदि भी प्रगतिवादी कविता के ह्रासोन्मुखता का कारण बना। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबन्दी की मतवादी और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य प्रतिभा का स्वयं ही हनन कर डाला—वे अपने दलगत विचारों की अनुभूतिहीन विवृत्ति करने लगे। इस बीच कोई ऐसी महान् प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ जो इन दलगत संकीर्णताओं के घेरे को तोड़कर समग्रभाव से युग जीवन की नयी प्रगतिशील चेतना और सत्य को सार्वदेशिक और सार्वजनीन स्वर में कलात्मक अभिव्यक्ति देता। युग सत्य नहीं बदला है केवल उसका बोध तत्काल, मलिन और खण्डित हो गया है। इसके लिए विपरीत परिस्थितियों से अधिक इन तरुण प्रगतिशील कवियों का असामर्थ्य और असंवेदनशीलता ही उत्तरदायी है, जो उन्हें सत्य की उपलब्धि नहीं होने देती और संकीर्ण पथों पर भटका देती है।"

महत्व—फिर भी प्रगतिवादी काव्य का अपना महत्व है। यह जीवन के भौतिक पक्ष का अभ्युत्थान करना चाहता है। जीवन की विषमता का निवारण कर मानवता की प्रतिष्ठा का इसका उच्चादर्श निश्चित रूप से अभिनन्दनीय है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रगतिवाद को प्रसाद तथा प्रेमचन्द जैसा कोई मनीषी कलाकार मिले जो उसके महत्व की स्थायी आधार शिला का न्यास कर सके। प्रगतिवाद की सत्ता ही उसके महत्व का प्रमाण है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "भारत में प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बँधा हुआ है लेकिन फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येता को आदर और धैर्यपूर्वक उसका अध्ययन करना होगा। उसने हिन्दी-काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।"

उत्तर छायावाद युग : प्रयोगवाद और नयी कविता

नामकरण और स्वरूप—"छायावादोत्तर काल में प्रगतिवाद के समानान्तर हिन्दी-कविता में व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असन्तुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई।" कविता की इस विद्रूप प्रवृत्ति

का शायद अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है। यही कारण है कि इसे अनेक नामों से अभिहित किया जा रहा है। प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, प्रपद्यवाद, रूपवाद और नयी कविता इसके विविध नाम हैं। प्रपद्यवाद को प्रारंभिक अवस्था में 'नकेनवाद' की संज्ञा से अभिहित किया गया। नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार तथा नरेश मेहता ने मिलकर अपने नामों के प्रथमाक्षर के आधार पर "नकेनवाद" का आविष्कार किया। डॉ०गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'प्रयोगवाद','प्रपद्यवाद' तथा 'नई कविता' इन तीनों नामों को उक्त काव्य धारा के विकास की तीन अवस्थाएँ स्वीकार किया है। उनके अनुसार "प्रारम्भ में जब कवियों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नहीं था, नूतनता की खोज के लिए केवल प्रयोग की घोषणा की गई थी तो इसे प्रयोगवाद कहा गया। इसी आन्दोलन की एक शाखा ने स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा के नेतृत्व में प्रयोग को अपना साध्य स्वीकार करते हुए अपनी कविताओं के लिए प्रपद्यवाद का प्रयोग किया। दूसरी ओर डॉ० जगदीश गुप्त एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसे अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए 'नयी कविता' नाम का प्रचार किया। सम्प्रति 'नयी कविता' नाम का ही अधिक प्रचलन है किन्तु इसे भी एक अस्थायी नाम मानना चाहिये।" वस्तुतः यह काव्य धारा बड़ी द्रुत गति से नाम बदलने की प्रक्रिया में तत्पर है। नई कविता के समकाल या उसके कुछ आगे-पीछे इसने 'कविता' 'स्वीकृत कविता','अस्वीकृत कविता', 'भूखी पीढ़ी' 'दिगम्बर पीढ़ी' 'ताजी अकविता','कबीर पीढ़ी', 'ठोस कविता' आदि अनेक अजीबोगरीब नाम धारण किए हैं। न जाने आगे चलकर किस अकल्पनीय नाम की उद्भावना कर ली जाय? अभी तो यह नित्य नवीन केंचुले बदलती नये नामों की खोज में व्यस्त है। राजनीतिक दलों के समान इस काव्य धारा के कवि मानी-लोग अपने अहं के विज्ञापनार्थ प्रचार के माध्यम में प्रकाशित मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, अर्द्ध वार्षिक, वार्षिक पत्रिकाओं—'प्रतीक', 'पाटल', 'निकष', 'संकेत', 'नई कविता', 'ज्ञानोदय', धर्मयुग', 'कृति', 'लहर' निष्ठा, 'शताब्दी' ज्योत्स्ना 'आजकल' तथा 'कल्पना' आदि के द्वारा अपने-अपने घोषणा-पत्रों द्वारा,(Menifestos) अपने नेतृत्व और उत्कर्ष की स्थापना में संलग्न हैं। वे अपने अनुयाइयों और उनके नारों का शोर मचाने वाले व्याख्याकारों और आलोचकों की खोज में हैं।

प्रयोगवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में इस कविता-धारा के उन्नायकों ने अपने भिन्न-भिन्न मतों को प्रकट किया है। प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय जी का कहना है कि—"जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय।" कदाचित् उनके मतानुसार प्रयोगवाद इस कार्य की पूर्ति करता है। आगे चलकर वे लिखते हैं—"प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण की शक्ति है।" अन्यत्र वे लिखते हैं—"इसलिए वह (कलाकार) व्यक्ति-सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है।" धर्मवीर भारती इस विषय में लिखते हैं—" प्रयोगवादी कविता

मे भावना है किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा है। इसी प्रश्न चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सास्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न चिह्न उसी की ध्वनि मात्र है।" गिरिजाकुमार माथुर ने इस सम्बन्ध मे कहा है—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमे व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वबोध-गम्य प्रेषण सम्भव हो सके। डॉ० जगदीश गुप्त का कहना है कि—"वह नई कविता उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादको को लक्षित करके लिखी जा रही है जिसकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है—बहुत अशो मे कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावुक वर्ग पर आश्रित रहती है।" उपर्युक्त उद्धरणो को देखते हुए कहा जा सकता है कि इनमे प्रयोगवादी या नई कविता पर लगाये गये आक्षेपो का उत्तर है, उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण करने का कोई प्रयत्न नहीं है। हाँ, इन कथनों से इतना स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस प्रयोगवादी या नई कविता मे अत्यन्त घोर वैयक्तिकता, अति बौद्धिकता और अतिरिक्त यथार्थता है और इसके साथ हैं शैलीगत नवीन प्रयोग। अज्ञेय जी इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"प्रयोग सभी कालो के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है, किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों मे प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।" अज्ञेय जी के इस कथन से स्पष्ट है कि वे शैलीगत और विषयगत एकदम विलक्षण नवीन प्रयोगों के उत्कट इच्छुक हैं। लगता है जैसे उनका नारा हो—"नया न हुआ, तो क्या हुआ ?" डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में—"नई कविता, नये समाज के नये मानव की नई वृत्तियों की नई अभिव्यक्ति, नई शब्दावली में है जो नये पाठको के नये दिमाग पर नये ढग से नया प्रभाव उत्पन्न करती है।" हमारा अपना विचार है कि प्रयोगवादी काव्य में शैलीगत और व्यजनागत नवीन प्रयोगों की प्रधानता है।

कुछ लोगों ने प्रयोगवाद को रूपवाद या फार्मलिज्म (Formalism) का पर्यायवाची माना है। उनका कहना है, यह योरुपीय साहित्य की जूठन है—"प्रथम युद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य साहित्य में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यिक वादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्य की भाषा, वस्तु विन्यास और व्यजना में जैसे विचित्र बौद्धिक प्रयोग किए, कुछ उससे मिलती-जुलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी कविता भी है।" इस कविता पर इलियट, पाउण्ड तथा फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट है, प्रयोगवादी काव्य धारा पर योरुप के साहित्य के अनेक वादों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार उक्त काव्य धारा पर पाश्चात्य साहित्य के प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा फ्रायड के यौन एव कुण्ठावाद का प्रभाव पड़ा है।

कतिपय विद्वानों ने प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की सतही समानता को देखकर इसे प्रगतिवाद का एक रूप या शाखा कहने का अनुचित प्रयास किया है। प्रगतिवाद में सामाजिकता की प्रधानता है जबकि इसमें अहनिष्ठ घोर वैयक्तिकता है। *दूसरे लोगों ने प्रयोगवाद को छायावाद की वैयक्तिकता का बढ़ावा माना है* किन्तु ऐसा मानना नितान्त भ्रामक एवं असंगत है। छायावादी काव्य की वैयक्तिकता में जो उदात्त लोक-व्यापक चेतना और लोक-संग्रह की भावनाएँ हैं वे इन छिछोरे बालकों के समान प्रयोगवादी कवि की केंचुए के समान अपने आप में सिमटी अयच दूषित वैयक्तिकता में कहाँ हैं। वस्तुत. कविता की प्रयोगवादी धारा छायावाद के ह्रासोन्मुख काल में प्रकट हुई, जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृङ्खल और असंतुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है।

कुछ विद्वानों ने प्रयोगवाद तथा नई कविता को भिन्न-भिन्न माना है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ये दोनो एक ही कविता-धारा के विकास की दो अवस्थायें हैं। सन् १९४३ से १९५३ तक कविता में जो नवीन प्रयोग हुए, नयी कविता उन्हीं का परिणाम है। प्रयोगवाद उस कविता धारा की आरम्भिक अवस्था है और नयी कविता उसकी विकसित अवस्था। प्रयोगवाद के जो उन्नायक हैं वे ही नयी कविता के कर्णधार हैं और साथ-साथ इन दोनों की काव्यगत प्रवृत्तियाँ भी समान हैं।

उद्भव के कारण—प्रयोगवादी कविता के उद्भव के कारणों का उल्लेख करते हुए श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने लिखा है—"प्रथम तो छायावाद ने अपने शब्दाडंबर में बहुत से शब्दो और बिम्बो के गतिशील तत्त्वों को नष्ट कर दिया था। दूसरे, प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव-स्तरों एवं शब्द-संस्कारों को *अभिधात्मक बना दिया था।* ऐसी स्थिति में *नये भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए* न तो शब्दों में सामर्थ्य था और न परम्परा से मिली हुई शैली में। परिणामस्वरूप उन कवियों को जो इनसे पृथक् थे सर्वथा नया स्तर और नये माध्यमो का प्रयोग करना पड़ा। ऐसा इसलिए और भी करना पड़ा क्योंकि भाव-स्तर की नयी अनुभूतियाँ विषय और संदर्भ में इन दोनों से सर्वथा भिन्न थी।" उपर्युक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्मा जी ने प्रयोगवादी कविता को छायावाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वीकार किया है। उनके अनुसार "इस नयी कविता या प्रयोगवाद को नवीन अभिव्यक्ति के लिए नवीन *माध्यम* और नवीन विषय चुनने पड़े और वह एक नयी दिशा की ओर अग्रसर हुई जो कि पहले अनिर्दिष्ट और अज्ञात थी। वह नयी दिशा है—

(क) प्रयोगवाद ज्ञात से अज्ञात, प्राचीनता से नवीनता की ओर आगे बढ़ता है।

(ख) *प्रयोगवादी परम्परा से स्थापित सत्य से आगे बढ़ता है।*

(ग) प्रयोगवादी का लक्ष्य परम्पराओं का खंडन करना ही नहीं अपितु साहित्य में निर्जीव तत्त्व के स्थान पर नये सजीव तत्त्व का अन्वेषण करना है।"

इस सन्दर्भ में श्री रामेश्वर शर्मा तथा डॉ० देवराज के मतों को उपन्यस्त करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। डॉ० देवराज का कहना है कि "पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एवं अरोचक हो उठी है, दूसरे, काव्य भाषा को जन भाषा के निकट लाना है अथवा काव्य निबद्ध अनुभूति का जन-जीवन के सम्पर्क में लाना है, बदलते हुए जीवन की नयी सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिए अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए नवीन प्रयोग करने हैं। इसलिए नई शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव जगत् के नये पहलुओं को नयी दृष्टि से देखना और उन्हें नये चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।"

श्री रामेश्वर शर्मा का मत है कि "प्राचीन रूढ़ियों और संस्कारों से जब मनुष्य ऊब जाता है तब वह नवीनता की ओर उन्मुख होता है। जीवन और जगत् के सौन्दर्य के मान-दण्डों के समान साहित्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के मानदण्ड भी बदलते रहते हैं। नयी कविता से पहले की हिन्दी कविता रूढ़िबद्ध और परम्पराग्रस्त हो चुकी थी। नयी कविता ने अपनी नवीन मान्यताओं से प्राचीनता के प्रति संघर्ष किया। पुरानी कविता समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल रही थी, परिणामतः उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए नयी कविता का उद्भव हुआ। पुरानी *कविता नये भावों के अभिव्यंजन के लिए सक्षम थी, अतः नयी कविता को शैली-क्षेत्र* में नवीन प्रयोग करने पड़े। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद या नयी कविता का जन्म नवीन वस्तु और नवीन शैली के आग्रह के फलस्वरूप हुआ, अतः इसमें नवीन उपमानों और नवीन प्रतीकों का ग्रहण हुआ।"

प्रयोगवाद या नयी कविता के जन्म के सम्बन्ध में दिये उपर्युक्त मतों का विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके अनुसार इस नयी कविता के जन्म के कारण हैं—

(१) प्राचीन कविता अर्थात् छायावाद तथा प्रगतिवाद की परम्परा-बद्धता और रूढ़िग्रस्तता।

(२) बदलते हुए समाज के सत्यों और मूल्यों को उद्घाटित करने के लिए नवीन अभिव्यंजना की आवश्यकता।

(३) जीवन या अनुभव जगत् के नए पहलुओं को नई दृष्टि से देखना और उन्हें नये चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्त करना।

पुरानी कविता से कदाचित् प्रयोगवादी कविता के समर्थकों का अभिप्राय है—छायावाद और प्रगतिवाद। इन दोनों ने अपने-अपने युग में प्राचीनता का विरोध *किया था। आश्चर्य होता है कि साहित्यिक जीवन की बीस वर्ष की छोटी सी अवधि* में ये दोनों काव्य की कान्तिमय धारायें इतनी घिस पिट और फीकी पड़ गईं कि नये कवि को नया ठौर ढूँढना पड़ा। लाक्षणिकता और उपचारवक्रता छायावादी काव्य की शैलीगत विशेषताएँ हैं जिन्हें नई कविता के प्रशंसकों ने बदलते हुए समाज के सत्यों और मूल्यों की अभिव्यंजना के लिए अक्षम बताया है। इनके अनुसार प्रगति-

वादियो की अभिधा-शैली भी इस कार्य के लिए असमर्थ है। समझ मे नही आता है कि प्रयोगवाद के आलोचक प्रवरो को निबिड तिमिराच्छन्न-गहन-गुहानिहित त्रिलोकति-शायिनी काव्य-जगत् की कौन सी अपूर्व सरणि अभीष्ट है और साथ-साथ इस धारा के कवि-पुगवो ने न जाने कोलम्बस के अमेरिका के समान कुण्ठाओं और दमित वासनाओं के किस अवचेतन लोक को खोज निकाला है जिसके विकृत सत्यो और मूल्यो की अभिव्यक्ति के लिए त्रिशकु के समान उन्हे नवीन सृष्टि रचनी पडी है। सच यह है कि इन लोगो की 'प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाज-द्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था कुण्ठा और विद्रूपात्मक उद्‌गारो को एक दुरूह, सकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार योजना और अह वादी और बहुधा ओछे तल की वचन-भगिमा मे छिपाने का उपक्रम मात्र है।"

प्रयोगवाद और नई कविता का लक्ष्य—"छायावाद की ह्रासोन्मुख दशा में अहनिष्ठ घोर व्यक्तिवादी कविता धारा, जिसका प्रारम्भिक रूप प्रयोगवाद की सज्ञा से अभिहित हुआ और विकसित रूप नयी कविता के नाम से, का लक्ष्य अब कुछ-कुछ निश्चित हो चला है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार उस लक्ष्य के चार मूल तत्त्व ये हैं—

(१) नवीनता अर्थात् उसमे नवीन विषयो का वर्णन नवीन शैली मे किया जाता है।

(२) मुक्त यथार्थवाद—अब तक जिस अश्लीलता, नग्नता और कामुकता का काव्य मे बहिष्कार किया जाता था उसका चित्रण नयी कविता में पूर्ण रुचि के साथ किया जाता है।

(३) बौद्धिकता—नया कवि भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता को अधिक महत्त्व प्रदान करता है।

(४) क्षणिकता—इसमे चिरन्तन एव स्थायी भावनाओं एव समस्याओं की अपेक्षा क्षणिक अनुभूतियों का आदर किया जाता है। नया कवि एक क्षण के आनन्द की पूर्ण अनुभूति के लिए सम्पूर्ण जीवन के सुख-साधनो को खो देना श्रेयस्कर समझता है।

प्रयोगवाद और नई कविता का विकास—उत्तर छायावादी काव्य की उक्त धारा के विकास-क्रम को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है—(क) प्रयोग-काल (१६४३-५३), (ख) विकास काल (१६५३ से अब तक)। १६४३ मे अज्ञेय जी के सम्पादकत्व मे विभिन्न कवियों की कविताओं का सग्रह, तारसप्तक (प्रथम भाग) प्रकाशित हुआ। इन कविताओं मे प्रवृत्तिगत साम्य की अपेक्षा पारस्परिक वैषम्य अधिक है। अज्ञेय जी उक्त पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही हैं—राही नही, राहो के अन्वेषी।" प्रथम तारसप्तक के कवि हैं—श्री अज्ञेय, गजानन माधव, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर

माचवे, गिरिजाकुमार माथुर और रामविलास शर्मा। १९५१ में दूसरा तार-सप्तक प्रकाशित हुआ, जिसमें भवानीशंकर मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीरसहाय तथा धर्मवीर भारती की कविताएँ संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगवाद के प्रवर्तक श्री अज्ञेय जी ने 'प्रतीक' नाम की पत्रिका निकाली, जिसमें समय-समय पर प्रयोगवादियों की कविताएँ प्रकाशित होती रहीं। पटना से निकलने वाले दो पत्र 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' प्रयोगवादी कविता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

सन् १९५४ में डॉ० जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रयोगवादी कवियों का अर्द्धवार्षिक संग्रह—"नई कविता" के नाम से प्रकाशित होने लगा है। इसी समय से प्रयोगवादी कविता का नाम "नई कविता" पड़ गया। तार-सप्तक परम्परा के अतिरिक्त कुछ अन्य भी प्रयोगवादी कवि हैं जिनमें प्रसिद्ध हैं—चन्द्रकुंवर बर्त्वाल, राजेन्द्र यादव, सूर्यप्रताप और केदारनाथ सिंह। तार सप्तक परंपरा के सभी कवि प्रयोगवादी हों, ऐसी बात नहीं है। रामविलास शर्मा और भवानीप्रसाद मिश्र पर प्रगतिवाद का पर्याप्त प्रभाव है और कदाचित् यही कारण है कि रामविलास शर्मा अपने अन्य साथियों की घोर वैयक्तिकता के स्वर में स्वर न मिला सके और अन्ततोगत्वा वे प्रयोगवाद के राही न बन सके।

प्रयोगवाद-या-नई कविता के महत्वपूर्ण कवि हैं—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, गजानन माधव मुक्ति-बोध, भारतभूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, शकुन्तला माथुर तथा नरेश कुमार मेहता आदि। अज्ञेय जी के अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भग्नदूत, चिन्ता इत्यलम्, हरी घास पर क्षण-भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु, रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभा-मय तथा आंगन के पार द्वार उल्लेखनीय हैं। गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह हैं—मञ्जीर नाश और निर्माण, धूप के धान तथा शिलापंख चमकीले आदि। धर्मवीर भारती की प्रकाशित रचनाओं में कनुप्रिया ठंडा-लोहा और सातगीत वर्ष अन्धा-युग आदि उल्लेखनीय हैं। मुक्ति-बोध ने भी हिन्दी साहित्य को अनेक रचनायें प्रदान की हैं जिनमें उनकी प्रगतिशीलता का स्वर सदा उच्च बना रहा है। छवि के बन्धन, जागते रहो, मुक्ति-मार्ग आदि भारत-भूषण अग्रवाल की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं का संग्रह 'गीत फरोश' के नाम से निकला है, जिसमें एक सच्चे एव उच्च कोटि के कवि की आन्तरिक अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। शकुन्तला माथुर की सुहाग बेला तथा कूड़े से भरी गाड़ी प्रसिद्ध रचनायें हैं। नई कविता के नवीन राहियों में विजय देव नारायण, कुंवर नारायण, जगदीश गुप्त, दुष्यन्त कुमार, केदारनाथ सिंह, रमेश कुन्तलमेघ तथा हरिनारायण व्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रयोगवादी साहित्यकारों का कहना है कि साहित्य में प्रयोग आदिकाल से

होते आये हैं। आधुनिकतम प्रयोगवादी साहित्य का आरम्भ वे निराला के कुकुरमुत्ता और नये पत्ते से मानते हैं। सुमित्रानन्दन पन्त प्रयोगशील कविता का जन्म छायावादी काल से मानते हैं। उनका कहना है कि प्रसाद ने प्रलय की छाया और करुणा की कछार लिखकर वस्तु तथा छन्द सम्बन्धी नवीन प्रयोग आरम्भ कर दिये थे। अस्तु, प्रयोगवादी साहित्य के उद्भव से पूर्व साहित्य मे जो प्रयोग हुए उनमे आन्तरिक-स्वास्थ्य के विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया और जीवन को ही प्रयोग रूप मे ग्रहण किया गया, किन्तु आज का प्रयोगवादी साहित्य आन्तरिक महत्व को प्रधानता न देकर बाह्य परिवर्तन में ही प्रयत्नशील है। "नवीन जीवन प्रेरणा को व्यक्त करने के लिए ही कला रूपों में नये प्रयोग सफल होते हैं, प्रयोग के लिए प्रयोग करके नहीं।" प्रयोगवादी कविता में प्रयुक्त प्रतीको मे लक्षणा और व्यजना नामक शब्द-शक्तियों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। इन प्रतीकों को केवल नये सौन्दर्य और आधुनिक बोध से सम्पन्न नई कविता का लेखक ही समझ सकता है। इन प्रतीको मे साधारणीकरण तथा भाव स्प्रेषणीयता की मात्रा का सर्वथा अभाव है। नई कविता के प्रतीक केवल प्रतीकों के लिए आते हैं। इनका बोधगम्यता आदि से कोई सरोकार नही है। कला और साहित्य के क्षेत्र मे नये प्रयोगो, प्रतीको और बिम्बो की सार्थकता तभी है जब वे सत्योन्मुख, जीवनोन्मुख, शिवोन्मुख और सुन्दरोन्मुख हो।

प्रयोगवादी एवं नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(१) **घोर अहनिष्ठ व्यक्तिवाद**—प्रयोगवादी कविता के लेखक की अंतरात्मा मे अहनिष्ठ व्यक्तिवाद इस रूप से बद्धमूल है कि वह सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार से सामजस्य का गठबन्धन नही कर सकता। यह एक प्रकार से व्यक्तिवाद की परम विकृति मे परिणति है। वैयक्तिकता का अभिव्यजन आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। भारतेन्दु, द्विवेदी एव छायावादी युग मे वैयक्तिकता को प्रधानता रही है, किन्तु वह वैयक्तिकता समष्टि से सर्वथा विच्छिन्न नहीं थी, उसमे उदात्त लोक व्यापक भावना थी। पूर्ववर्ती साहित्य मे वैयक्तिकता की अभिव्यजना मे सहृदय सवेद्यता एव प्रेषणीयता की पर्याप्त क्षमता थी, किन्तु प्रयोगवादी की वैयक्तिकता के समीप मे जर्जरित थोथा थोथा ही रह गया। जहाँ "कवि न होऊँ न चतुर कहाऊँ" जैसी उदात्त अभिव्यजना हुई, वहाँ प्रयोगवादी काव्य में व्यक्तिकता आत्म-विज्ञापन एव प्रख्यापन ही बन कर रह गई। उदाहरणार्थ—

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ,
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान पान

× × ×

तब मैं एकाग्रमन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला ? —भारतभूषण

इन कविता-नामधारी पंक्तियों में हिन्दी-साहित्य की कहाँ तक श्री वृद्धि होगी इस बात को तो पाठक वर्ग जानता ही होगा। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इन कवियों की वैयक्तिकता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीज, कुंठा, किशोर प्रौढ़त्व और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है, जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है। महान् कविता का जन्म सारे संसार को, समाज को, जीवन के प्रगतिशील आदर्शों और नैतिक भावनाओं को एक उद्दण्ड और छिछोरे बालक की तरह मुंह बिचकाने से नहीं होता। सामाजिक बन्धनों के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिवाद का यह तरीका स्वांग बनकर ही रह जाता है।"

(२) अति नग्न यथार्थवाद—इस कविता में दूषित मनोवृत्तियों का चित्रण भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। जिस वस्तु को एक श्रेष्ठ साहित्यकार अरुचिकर, अश्लील, ग्राम्य और अस्वस्थ समझ कर उसे साहित्य जगत से बहिष्कृत करता है, प्रयोगवादी कवि उसी के चित्रण में गौरव अनुभव करता है। उसकी कविता का लक्ष्य दमित वासनाओं एवं कुंठाओं का चित्रण-मात्र रह गया है। काम-वासना जीवन का अंग अवश्य है, किन्तु जब वह अंग न रहकर अंगी और साधन न रहकर साध्य बन जाती तब उसकी विकृति एक घोर भयावह विकृति के रूप में होती है। प्रयोगवादी साहित्य में वासना की विवृत्ति उसी उक्त रूप में हुई है। उदाहरण के लिए देखिये—

मेरे मन की अंधियारी कोठरी में,
अतृप्त आकांक्षाओं की वेश्या बुरी तरह खांस रही है।
× × ×
पास घर आते तो
दिन भर का थका जिया मचल जाये। —अनन्तकुमार पाषाण

शकुन्तला माथुर अपनी 'सुहाग बेला' नामक कविता में लिखती हैं—

चली आई बेला सुहागिन पायल पहने……
बाण बिद्ध हरिणी सी
बाहों में सिमट जाने की
उलझने की, लिपट जाने की
मोती की लड़ी समान……।

उपर्युक्त पंक्तियों में भारतीय नारी का अनावृत चारित्रिक औदात्य और शालीनता दर्शनीय है। कवि कुल गुरु कालिदास आदि ने जहाँ काम क्रियाओं का कलात्मक अभिव्यंजन किया है। वहाँ कवयित्री काम-वासना के अभिधात्मक कथन में गौरव

का अनुभव करती है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने कामचेष्टाओं के चित्रण-प्रसंगों में गूढ इंगितो द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति का सत्परामर्श दिया है।

प्रयोगवादी काव्य मे सामाजिकता का घोर तिरस्करण हुआ है। कवि-कल्पना जो घन्टो तक सहृदयो का आत्मविभोर कर देती है, यहाँ इस नयी कविता में उसका स्थान महाशय फ्रायड के अवचेतवादी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तो ने ले लिया है। प्रेम का कोई उदात्त रूप इस तथाकथित नयी कविता मे अभिव्यक्त नही हुआ है। इनकी वासनात्मक दृष्टि जहाँ भी पडी है वहाँ उसे कुरूपता ही हाथ लगी है जैसे कि सुरुचि-सम्पन्नता एव निष्कलुष सौन्दर्य इस जगत् मे हो ही नही। बडे आश्चर्य की बात यह है कि यौन, वर्जनाओ के वर्णन कार्य मे इस धारा के कवि ने युग सत्य की अभिव्यक्ति का लबादा पहनकर अपनी ईमानदारी प्रख्यापित की है। अपनी पुस्तक 'तार सप्तक की भूमिका मे अज्ञेय जी लिखते हैं—"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति सेक्स सम्बन्धी वर्जनाओ से आक्रान्त है। उसका मस्तिष्क दमन की गई सेक्स भी भावनाओ से भरा हुआ है।" यह सच है कि इस नई कविता के कवि भी अपने गुरु फ्रायड के समान चले हैं। यही कारण है कि इस कविता मे नारी की बुरी तरह मिट्टी पलीत हुई है—

"आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों मे उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त,
तुम कहाँ हो नारि ?"

इस सम्बन्ध मे कवि पन्त के विचार अवलोकनीय हैं—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कुतर्कों मे फँसकर एक कुरूप साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वप्निल, फेनिल स्वर-सगीत हीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतन, अवचेतन की रुद्ध क्रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई दमित कुंठित आकाक्षाओ को वाणी देती हुई, लोकचेतना के स्रोत मे नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं, घोघों, मेंढकों के उपमानो के रूप में सरीसृपो के जगत् से अनुप्राणित होने लगी।"

(३) निराशावाद—नई कविता का कवि अतीत की प्रेरणा और भविष्य की उल्लासमयी उज्ज्वल आकाक्षा दोनो से विहीन है, उसकी दृष्टि केवल वर्तमान पर ही टिकी है। यह निराशा के कुहासे से सर्वत. आवृत है। उसका दृष्टिकोण दृश्यमान जगत के प्रति क्षणवादी तथा निराशावादी है। उसके लिए कल निरर्थक है, उसे उसके दोनो रूपो पर भरोसा और विश्वास नहीं है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दो मे—"उनकी (नई कविता के कवियों की) स्थिति उस व्यक्ति की भाँति है जिसे यह विश्वास हो कि अगले क्षण प्रलय होने वाली है, अत. वह वर्तमान क्षण में ही सब

कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं—

"आओ हम उस अतीत को भूलें,
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें।
छू लें इसी क्षण,
क्योंकि कल के वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।"

(४) अति बौद्धिकता - आज की नई कविता में अनुभूति एवं रागात्मकता की कमी है, इसके विपरीत इसमें बौद्धिक व्यायाम की उछल-कूद आवश्यकता से भी अधिक है। नया कवि पाठक के हृदय को तरंगित तथा उद्वेलित न कर उसकी बुद्धि को अपनी पहेली-बुझौवल के चक्रव्यूह में आबद्ध करके उसे परेशान करना चाहता है। वह कुरेद कुरेद कर अपने मस्तिष्क से कविता को बाहर निकालकर पाठक के मस्तिष्क पर उसका बोझ डालकर उसे भी अपना मस्तिष्क कुरेदने पर विवश करना चाहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आज की नई कविता में रागात्मकता के स्थान पर अस्पष्ट विचारात्मकता है और इसलिए उसमें साधारणीकरण की मात्रा का सर्वथा अभाव है। प्रयोगवाद के प्रशंसकों का कहना है कि आज के बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में जीवन सत्य की सही अभिव्यक्ति बौद्धिकता से ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बुद्धि-रस की एक नवीन उद्भावना भी कर ली है, जो कि नितान्त अशास्त्रीय है। अस्तु, धर्मवीर भारती इस कविता की बौद्धिकता का समर्थन करते हुए लिखते हैं—"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनि-मात्र है।" उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिये—

अतरंग की इन घड़ियों पर छाया डाल दूँ।
अपने व्यक्तित्व को एक निश्चित साँचे में ढाल दूँ।
निजी जो कुछ है अस्वीकृत कर दूँ।
सम्बोधनों के स्वर्ग को उपसंहृत कर दूँ।
आत्मा को न मानूँ।
तुम्हें न पहचानूँ।
तुम्हारी स्वकीयता को स्थिर शून्य में उछाल दूँ।
अभी,
हाँ,
शायद अभी……।

ये किसी सफल नये कवि की पंक्तियाँ हैं क्योंकि ये पाठक के मस्तिष्क को परेशान करने में पूर्ण समर्थ हैं। यदि यही कवि कर्म है तो फिर सभी कवि हो सकते हैं।

(५) वैज्ञानिक युग बोध और नये मूल्यों का चित्रण—प्रस्तुत काव्य धारा के लेखक ने आधुनिक युग बोध और वैज्ञानिक बोध के नाम पर मानव जीवन के नवीन मूल्यों का अंकन न करके मूल्यों के विघटन से उत्पन्न कुत्सित विकृतियों का चित्रण किया है। नई कविता के लेखक ने संक्रान्ति जन्य त्रास, यातना, घुटन, द्वन्द्व, निराशा, अनास्था, जीवन की क्षणिकता, सन्देह तथा अनेकधा-विभक्त-व्यक्तित्व का निरूपण किया है। इसे आधुनिक बोध या वैज्ञानिक बोध कहना नितान्त भ्रामक है। निःसन्देह आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को आस्था, विश्वास, करुणा और प्रेम जैसी चिरंतन भावनाओं को जोरदार आघात पहुँचाया है। किन्तु ये उसके केवल निषेधात्मक मूल्य हैं। इसके अतिरिक्त परस्पर सहयोग, विश्व मानवतावाद, विश्व शान्ति अन्तर्राष्ट्रीयता स्थान और समय के व्यवधान की समाप्ति तथा ज्ञान का अपरिमित विस्तार आदि उसके विध्यात्मक मूल्य हैं। नई कविता विज्ञान के केवल निषेधात्मक मूल्यों के चित्रण तक ही सीमित है।

(६) रीतिकाव्य की आवृत्ति—बड़े आश्चर्य का विषय है कि अत्याधुनिकता का दम भरने वाली नई कविता सदियों पुराने रीतिकाव्य की पद्धति का अनुसरण कर रही है। जिस प्रकार रीतिबद्ध शृंगारी कवि ने जीवन के व्यापक मूल्यों में से केवल रसिकता और कामुकता का एक विशेष पद्धति पर चित्रण किया वैसे ही नया कवि जुगुप्सित कुण्ठाओं एवं दमित वासनाओं पर वैज्ञानिक बोध का झिल मिल आवरण डाल कर उनकी अर्थशून्य अभिव्यक्ति में संलग्न है। रीति कवि के काव्य में जीवन के मांसल भोग की गहन अनुभूतियाँ थीं, जबकि नई कविता में जीवन के प्रति वितृष्णा को जगाया जा रहा है। रीतिकाव्य की चमत्कारवादिता नई कविता में भी देखी जा सकती है। रीतिकाव्य का कलापक्ष परम मनोरम है किन्तु खेद है कि नई कविता का यह पक्ष भी प्रायः दुर्बल, अव्यवस्थित और कला शून्य है। रीतिकाव्य में काम वृत्ति को सर्व प्रमुखता प्रदान करते हुए उसकी बिना किसी गोपन के उत्कट भोगपरक अभिव्यक्ति की गई है। किन्तु नये कवि की भोग लिप्सा एक नपुंसक की भोग-रुग्णता जैसी है। इसमें यत्र-तत्र दमन ग्रंथियाँ और बिम्बों की मूल भुलइयाँ हैं।

(७) उपमानों की नवीनता—उपमानों की नवीनता, रूपकों का विधान और अलंकारिकता के सम्बन्ध में भी नये कवि ने नितान्त अलौकिक नवीनता को खोजना चाहा है। उदाहरण के लिए देखिए—

"प्यार का बलब फ्यूज हो गया"
"आपरेशन थियेटर सी जो हर काम करते हुए भी चुप है"
"बिजली के स्टोव सी जो एकदम सुर्ख हो जाती है"
"पहिले दरजे में लोग कफन की भाँति उजले वस्त्र पहने"
"पूर्व दिशि में हड्डी के रंग वाला बादल लेटा है"
'मेरे सपने इस तरह टूट गये जैसा भुंजा हुआ पापड़"

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि कलाकार को नवीनता

के आवेश में औचित्य का अतिक्रमण करके कलाबाज बाजीगर नहीं बन जाना चाहिए। आलंकारिकता के नियोजन मे सुरुचि का ध्यान रखना भी आवश्यक है। अलंकारों का धर्म काव्य-सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करना है, किन्तु उजले वस्त्रो को कफन की उपमा देना, बादल को हड्डी कहने तथा टूटे सपने को भुंजा हुआ पापड कहने से सौन्दर्य-सृष्टि न होकर पाठक के मन में विक्षोभ की सृष्टि होती है। हाँ, कहीं-कहीं पर नये कवि ने उपमानों का प्रयोग अच्छा भी किया है। किन्तु प्राय इस धारा के कवि ने वैचित्र्य-प्रदर्शन की धुनि मे उपमानों के साथ खिलवाड ही की है। व्यक्ति वैचित्र्यवाद श्रेष्ठ काव्य का प्रतिगामी है।

यौन-सम्बन्धी वर्जनाओ की अभिव्यक्ति में नये कवि ने नाना प्रतीकों से काम लिया है और कदाचित् इन प्रतीको के बाहुल्य के आधार पर इस कविता धारा को प्रतीकवाद के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन कवियों ने अपने प्रतीकों को छायावादी कवि के समान प्रकृति से ग्रहण न करके अवचेतन मन की अन्ध गुफाओ से लिया है, यही कारण है कि इन नवीन प्रतीको के साथ सहज तादात्म्य नहीं हो पाता है। नयी कविता में नदी के द्वीप का प्रतीक बहुत प्रचलित है। इसी प्रकार प्रकाश के लिए दीप, मशाल और तारा के लिए टार्च के प्रतीको का प्रयोग किया गया है। प्राय. इनके प्रतीक और बिम्ब विधान बहुत कुछ पुराने आलकारिकों के खड्ग बन्ध, पद्म बन्ध और गोमूत्रिका के चित्रो जैसे बनते जा रहे हैं। इससे यह कविता कविता न रह कर चोरी-कारीगरी बनती जा रही है। कहीं कहीं पर इस कविता में मार्मिक प्रतीको और बिम्बो का विधान भी देखा जा सकता है।

(८) विषय-परिधि—प्रयोगवादियो का दावा है कि नई कविता का सम्बन्ध किसी एक देश विशेष से न होकर समस्त ससार के साथ है। अत उसके विषयों की परिधि भी अत्यन्त व्यापक है। इसमें अणीयान् से महीयान् एव सूक्ष्म से स्थूल सभी विषय ग्रहण किये जाते हैं। अस्तु कदाचित् यही कारण है कि इस कविता में चोंटी से लेकर हिमालय तक सब प्रकार के पदार्थों का ग्रहण किया गया है। नये कवियों का विश्वास है कि ससार की कोई भी वस्तु अवहेलनीय नहीं है। प्रयोगवादी कवि ने अपनी असामाजिक एव अहवादी प्रकृति के कारण तुच्छ-से तुच्छ वस्तु को अपनी कविता का विषय बना लिया है। उसके सामने "हे राम तुम्हारा वृत्त स्वय काव्य है', वाला काव्य का कोई उच्चादर्श नहीं है। "इसलिए कविता में पहली बार ककरीट के पोर्च, चाय की प्याली, सायरन, रेडियम की घडी, चूडी का टुकडा, बाथरूम, क्रोशिए, गरम पकौडी, बाँस की टूटी हुई टट्टी, फटी ओढनी की चिन्दियां, मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खडा नत-ग्रीव धैर्य-धन गदहा, बच्चे, दर्द मारे पेड़ इत्यादि का चित्रण हुआ।" शैलीगत रूढियों और परम्पराओं के समान उसे विषय सम्बन्धी कोई भी रूढि मान्य नहीं है।

(९) छन्द—कविता के अन्य क्षेत्रो के समान प्रयोगवादी कलाकार प्राय: छन्द आदि के बन्धन को स्वीकार न करके मुक्तक परम्परा में विश्वास रखता है और

उसने इसी का प्रयोग किया है। कहीं कहीं इन्होंने लोक गीतों के आधार पर अपने गीतों की रचना की है। कहीं-कहीं पर इन्होंने इस क्षेत्र में अपने नये प्रयोग किये हैं। कुछ ऐसी भी प्रयोगवादी कविताएँ हैं जिनमें न लय है और न गति, उनमें गद्य की-सी नीरसता और शुष्कता है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध आलोचक का प्रयोगवादियों के छन्दों के सम्बन्ध में कथन है, "यही कारण है कि प्रयोगवादी कवियों के मुक्तक छन्द अपने में एक हलचल सी, एक बवण्डर-सा रखते हुए प्रभावशून्य प्रतीत होते हैं। उनकी करुणा और उच्छ्वास भी पाठक के हृदय को द्रवित नहीं कर पाते। हाँ, तो होता क्या है एक विस्मयकारिणी सृष्टि।"

प्रयोगवादी कवि ने शैली के भी विविध प्रयोग किये हैं। वैचित्र्य प्रदर्शन और नवीनता की धुन के कारण इस दिशा में भी दुरूहता आ गई है। प्रयोगवादी कवि शायद इस तथ्य को भूल जाता है कि कविता की उदात्तता उसकी अन्तरात्मा में है न कि बाह्य रूप विधान में। इस कविता का भीतर इतना खोखला है कि बाहर की सारी चमक-दमक व्यर्थ सिद्ध होती है और वह पाठक के मन पर कोई इष्ट प्रभाव नहीं डालती।

(१०) भाषा—प्रयोगवादी कवि ने कहीं कहीं पर भाषा के अच्छे प्रयोग किये हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर उसने अपनी विलक्षण स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति के कारण खड़ी बोली के व्याकरण-सम्मत रूप की अवहेलना की है। उदाहरणार्थ रघुवीर सहाय की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

> शक्ति दो बल दो हे पिता।
> जब दुख के भार से मन थकने आय
> पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय
> × × ×
> तुम से मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दाय
> उसे क्या करें ?
> तुमने जोरी है अनाहत जिजीविषा
> उसे क्या करें ? कहीं अपने पुत्रों, मेरे छोटे
> भाइयों के लिए यही कहो।

यहाँ 'थकने आय' व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य है तथा सदर्थापेक्षा की दृष्टि से विक्षत' तथा 'जिजीविषा' शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य विचारणीय है। 'हम कुंज कुंज यमुना तीरे' में तीरे का प्रयोग बंगला के अनुसार है, खड़ी बोली के अनुसार कहीं दमित वासनाओं और कुण्ठाओं के वर्णनाग्रह से इनकी भाषा में ग्राम्य दोष का आ जाना भी स्वाभाविक है। भाषा में नवीन प्रयोग की हठवादिता से इन्होंने अपनी कविता की भाषा में भूगोल, विज्ञान, दर्शन, मनोविश्लेषण शास्त्र एवं बाजारू बोली के शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं किया है। कहीं-कहीं पर इन्होंने जान-बूझ

कर शब्दों का रूप तोड़ा-मरोड़ा है जो कि समीचीन नहीं है। भाषा, भाव, शैली और छन्द आदि के क्षेत्र में सुरुचि-सम्पन्नता के स्थान पर अनपेक्षित विलक्षणता को प्रश्रय देने के कारण इनकी कविता का अपना ढाँचा भी आधुनिक सांस्कृतिक ढाँचे के समान चरमरा उठा है।

प्रयोगवाद या नयी कविता और आलोचक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र जैसे हिन्दी के अधिकारी समालोचक विद्वानों ने कविता की इस धारा को एकमात्र अस्वस्थ बताया है और प्रयोगवादी बाल-कवियों की कटु आलोचना की है। डा० नन्ददुलारे का कहना है कि—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य सृजन का स्थान नहीं ले सकता।" उसका कहना है कि इस नई कविता में अति बौद्धिकता है और साधारणीकरण का नितान्त अभाव है। उनके अपने शब्दों में—"यह कौन सी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना सन्देह और अविश्वास है? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं जिनकी भाव-धारा असामाजिक है, लोक-रुचि अथवा लोक की आशा-आकांक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक हैं कि समाज उसी की उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुँच नहीं हो पाती।" प्रयोगवादियों के बुद्धि-रस की कल्पना का प्रतिवाद करते हुए वे लिखते हैं—"काव्य की प्रक्रिया भाव-मूलक ही होती है। प्रतिभाशाली कवि भावस्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया परन्तु बुद्धि रस यों एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इससे पूर्व कदाचित् कभी नहीं आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस पर गम्भीरतापूर्वक आस्था रखने वालों की संख्या नगण्य है तथाकथित नयी कविता में इसी बुद्धि रस का बाहुल्य है, इसलिए कविता की यह नई धारा साहित्यिकों के लिए अटपटी और अग्राह्य बनी हुई है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने नई कविता पर निम्न आक्षेप लगाये हैं—

(क) अनेक रचनाएँ क्षणिक विनोद अथवा भौंडे व्यंग्य की सृष्टि के आगे नहीं जातीं। (ख) आगे बढ़ने पर ऐसी रचनाओं से साबका पड़ता है जिसमें अर्थ परम्परा टूट-टूट जाती है और पूरी रचना पढ़ लेने पर भी किसी भावान्वित का बोध नहीं होता। (ग) भाव धारा की विरलता है—इनमें भावना अन्तर्मन की उसाँस भर रही है। (घ) इन रचनाओं में सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों का नितान्त अभाव है। (ङ) इनमें सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व के प्रति विद्रोह तथा नैतिक, सैद्धान्तिक एवं चारित्रिक उच्छृंखलता की छूट माँगी जाती है। (च) इसमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता का अभाव है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के विचार भी अवलोकनीय हैं—'जहाँ पूर्ववर्ती कवि बौद्धिकता की अभिव्यक्ति रागात्मकता के माध्यम से करते थे, वहाँ इन्होंने रागात्मक

तत्व के लिए बौद्धिकता को अपना कर क्रम-विपर्यय को उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। दूसरे इसमें भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग किया गया है प्रयोगवादी कवि शब्दों को प्रचलित अर्थ मे ग्रहण करना उचित नहीं समझता। वह शब्द के साधारण अर्थ मे बड़ा अर्थ भरना चाहता है और इसी प्रयास में वह साधारण अर्थ को भी खो बैठता है।"

इन आक्षेपो का उत्तर प्रयोगवाद के समर्थकों ने अपने ढंग से दिया है जिनकी चर्चा हम 'प्रयोगवाद के स्वरूप' के प्रकरण में कर चुके हैं। प्रयोगवादियो के मतो को थोड़े शब्दो में हम कह सकते हैं कि—'वे प्रयोग की आड में सभी प्रकार की विकृतियो को मान्य समझते हैं।" प्रयोगवादी काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष पर दृष्टिपात करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि—"घटना का वर्णन मात्र ही काव्य नहीं है। काव्य के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ण्य विषय के साथ कवि की व्यापक अनुभूति सम्बद्ध हो, साथ ही उसकी अभिव्यञ्जना इतनी सशक्त हो जिससे भावो की सप्रेषणीयता मे आकर्षण और प्रभाव दोनों हों। 'वाक्य रसात्मकं काव्य' के स्थान पर बुद्धि को कुण्ठाओ के चक्रव्यूहों में फँसाना श्रेयस्कर नहीं होता। हमें प्रयोगों से चिढ नहीं है यदि वे प्रयोग प्रयोग के लिए न होकर जीवन के लिए हों।" डॉ० नगेन्द्र के शब्दों मे "काव्य के मूल तत्त्वरस पर दृष्टि केन्द्रित रखकर काव्य को गतिरोध और रूढि जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं परन्तु क्रम को उल्टा करके काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्त्व देना, उन्हें ही साध्य मान लेना हल्की साहसिकता-मात्र है—'काव्यगत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम विपर्यय है।" अपनी असामर्थ्य पर आवरण डालने के लिए आज के पाठक को नई बुद्धि माँग लाने की दुहाई देना ठीक नही है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में—'किन्तु पाठको के दिमाग को अपनी कविता के लिए अनफिट घोषित करके अपने अह की डुगडुगी बजाते चलना वैसा ही है जैसा कि चीनी के स्थान पर नमक का बोरा लेकर बैठ जाना और फिर प्रत्येक ग्राहक को यह कहना कि तुम्हारी जिह्वा का स्वाद बिगड गया है, अत किसी नई जिह्वा से इसे चखो।" कदाचित् इस नई कविता की इन विकृतियों को देखकर कविवर सुमित्रानन्दन पन्त को लिखना पड़ा—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य धारा मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सास्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक कुतर्कों में फँस कर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वप्निल, फेनिल, स्वर सगीतहीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतना, अवचेतन की रुद्ध क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई, दमित-कुण्ठित आकाक्षाओं को वाणी देती हुई लोक चेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर अड गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केंचुओ, घोंघों, मेढ़कों के उपमानों के रूप में सरीसृपों

के जगत् से अनुप्राणित होने लगी।" अस्तु।

निःसन्देह नई कविता के नाम पर बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है, फिर भी उसमें बहुत थोड़ा सा अंश ऐसा भी है जिसमें साहित्य कर सम्पत्ति बनने की क्षमता है। कहीं-कहीं शैलीगत सौन्दर्य, काव्य-विधाओं के कतिपय नवीन प्रयोग, विषय परिधि विस्तार (ग्राह्य अग्राह्य के विचार से मुक्त) और कहीं-कहीं पर मार्मिक प्रतीकों बिम्बों और व्यंग्यों का विधान इसकी काव्य धारा की अपनी उपलब्धियाँ हैं।

प्रयोगवाद-एवं नई कविता के कतिपय प्रमुख कवि

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय (१९११) प्रयोगवादी धारा के प्रवर्तक हैं। अज्ञेय कहानीकार उपन्यासकार, कविता लेखक एवं निबन्धकार तथा आलोचक आदि के रूप से हिन्दी साहित्य में प्रकट हुए हैं। जैसा इनका जीवन वैविध्यपूर्ण है वैसा ही इनका साहित्य भी। कविता के क्षेत्र में भी अद्यावधि इनके अनेक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—भग्नदूत, चिन्ता इत्यलम, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार तथा सुनहले शैवाल।

अज्ञेय जी ने कविता सम्बन्धी निजी मन्तव्यों को तार सप्तकों की भूमिकाओं, अपने अनेक कविता संग्रहों के आमुखों तथा त्रिशंकु नामक कृति में अभिव्यक्त किया है। युद्धोत्तर युग में कविता व साहित्य के समालोचन सम्बन्धी अज्ञेय के लेखों में पाश्चात्य साहित्य के विचारों की (बिना किसी विवेक और योगदान के) निरर्थक प्रतिध्वनि मात्र है। कला के विषय में वे अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है। हमारे कल्पित कमजोर प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है—उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है—सौन्दर्य बोध।" काव्य-सृजन के सर्वस्वीकृत सिद्धान्त स्वान्तः सुखाय के बारे में वे लिखते हैं—'मैं स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता, अन्य मानवों की भाँति अहं मुझ में भी मुखर है और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं। अज्ञेय के अनुसार आधुनिक व्यक्ति यौन वर्जनाओं के पुंज के सिवा और कुछ भी नहीं—"आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनायें सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।" कला की नैतिकता के बारे में उनके विचार द्रष्टव्य हैं—कला से संपूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है, वह एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है। सच्ची कला

कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती। वह अन्तत एक नैतिक मान्यता पर आश्रित है।" प्रतिभाशाली कवि के कर्त्तव्य कर्मों का निर्देश करते हुए वे लिखते हैं—जो प्रतिभावान है जीनियस है वह इस परिस्थिति में पडकर एक हडकम्प पैदा कर देगा और निर्मम होकर अपना मार्ग निकालेगा, लेकिन जो जीनियस से कुछ भी कम है, उसके लिए ऐसी परिस्थिति का परिणाम केवल इतना ही होगा कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने की जो मौलिक आवश्यकता है, व्यक्ति की वैयक्तिता की जो पहली माँग है वह छिप जायेगी, कुठित हो जावेगी।" उनके लिए बाल्मीकि से दिनकर जैसे कवियों तथा भरत मुनि से लेकर नगेन्द्र जैसे समर्थ आचार्यों एव आलोचकों के साधारणीकरण जैसे मानदडो का कुछ भी मूल्य नहीं। अत वे साधारणीकरण जैसे सिद्धान्त के स्थान पर वे पश्चिम के एकमात्र उधार प्रयोगवाद को लादते हैं। अस्तु। अज्ञेय जी के उपर्युक्त अभिव्यक्त विचारो के आधार पर काव्य के विषय में प्रकट किये गये विचारों का निष्कर्ष हम इस प्रकार निकाल सकते हैं—(क) कला केवल एक हडकप है। (ख) तथाकथित प्रतिभाशाली कलाकार का धर्म बलात अपने आपको थोपना है। वह मान न मान मैं तेरा मेहमान है। (ग) अज्ञेय जी की आत्माभिव्यक्ति आत्मदान नहीं बल्कि जोरदार आत्म स्थापन एव आत्म विज्ञापन है। (घ) आधुनिक वात्स्यायन—अज्ञेय की दृष्टि में व्यक्ति मात्र काम कुठाओं का पुज है। जैसे कि काम वासना ही उसका समूचा जीवन हो। (च) सौन्दर्य बोध मानव को उसके समूचे सदर्भो मे न देखकर उसे केवल यौन कुठाओं के चक्रव्यूह में आबद्ध देखना है। ऐसा सौन्दर्य बोध नैतिकता के बन्धनों से सर्वथा रहित है। (छ) अज्ञेय जी के अनुसार वैयक्तिकता निरे अह से दूषित है, उसमे विनय, सौजन्य और कौलीन्य के लिए कोई स्थान नहीं है। (ज) साधारणीकरण निरर्थक है, केवल प्रयोगवाद सार्थक है। (झ) रस की पुरानी परिकल्पना व्यर्थ है—अनथ—अर्थराहित्य ही रस है। (ट) इनके अनुसार कोई भी वस्तु साहित्य के लिए अग्राह्य व त्याज्य नहीं है। अस्तु। इस विवेचन से स्पष्ट है कि अविधेय के प्रति अज्ञेय जी के इस अदम्य आग्रह के कारण इनका काव्य यदि अज्ञेय नहीं तो दुर्जेय अवश्य है। साहित्य में किसी योगदान के स्थान पर उन्होने आत्मदान के नाम पर दभात्मक आत्म स्थापन किया है। उदाहरणार्थ—गर्दभराज का चित्र—

मूत्र सिंचित मृतिका के वृत्त मे,
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य धन गदहा।

सज्जा भूषण नारी का एक चित्र—

तोड दूगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान !
तुम हसो कह दो कि अब अवसर वर्जित है।
छोड दू कैसा भला मैं जो अभीप्सित है ?
कोषवत सिमटी रहे यह चाहती नारी—
खोल देने लूटने का पुरुष अधिकारी !

यौन कुंठाओं का एक चित्र—

फूल को प्यार करो पर झरे तो झर जाने दो,
जीवन का रस लो देहमन मन आत्मा की रचना से,
पर जो मरे उसे मर जाने दो। (बावरा अहेरी)

हुडकपी प्रतिभावान कवि का एक चित्र—

यूं मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ,
काव्य तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे,
एक एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें,
पर प्रतिभा—अरे वह तो
जैसी आप को रुचे, आप स्वयं गढ़ें

(इन्द्र धनु रौंदे हुए ये)

"आंगन के पार द्वार" (१९६१) अज्ञेय की भग्नदूत, चिन्ता, इत्यलम, 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी' 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तथा कृपगबरा के बाद में प्रणीत एक काव्य कृति है। इसमें 'अन्तःसलिला' 'चक्रान्त शिला' तथा 'असाध्य वीणा' तीन खड हैं। अन्तः सलिला में भिन्न-भिन्न शीर्षकों की अठारह कवितायें हैं। चक्रान्त शिला और असाध्य वीणा की कविताओं में एक कथात्मक सूत्रात्मकता देने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। ये तीनों खड पृथक् न होकर परस्पर संश्लिष्ट हैं।

'आंगन के पार द्वार' में अज्ञेय के संधाता कवि का रूप लक्षित होता है। कवि का विश्वास है कि व्यापक सत्य का कोई अन्तिम छोर नहीं है। एक आंगन के पार द्वार खुलता है। द्वार के पार फिर आगन है, फिर भवन की ओर छोर और अन्तत द्वार और आगन भवनमय तथा भवन द्वार आगनमय हो उठते हैं। वहाँ द्वारी और आगारी का भेद विलुप्त हो जाता है तथा द्वार के प्रतिहारी और भीतर के देवता की द्वयता मिट जाती है (पृ० ७१)। कदाचित् यही कविता प्रस्तुत रचना के नामकरण का आधार है। आंगन के पार द्वार में सत्य विश्लेषण और आत्मान्वेषण की अव्याहत प्रक्रिया चर्चित है।

दुरूह प्रतीकात्मक अभिव्यंजना पद्धति ने निःसन्देह अज्ञेय के काव्य को दुर्ज्ञेय बना दिया है। बौद्धिकता के भार से आक्रान्त प्रस्तुत काव्य में हृदय को सहज-स्पन्दित करने की क्षमता का अभाव है।

"सुनहले शैवाल" (१९६६) अज्ञेय की प्रकृति परक कविताओं का एक नया सकलन है। इससे पूर्व वे "पूर्वा" नामक सकलन (१९६५) में भग्नदूत (१९३३) से १९५० तक की कतिपय कविताओं को प्रकाशित कर चुके हैं। सुनहले शैवाल में कुल ४४ कवितायें हैं। इनमें बहुत सी कविताओं का सम्बन्ध प्रकृति चित्रण से है और कुछ कविताओं में जनवादी स्वर का अनुगुंजन है।

प्रकृति अज्ञेय के लिए जड पदार्थों का समूह मात्र नहीं है बल्कि वह एक संपूर्ण परिवेश है जिसमे मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है। प्रस्तुत रचना में अंकित प्रकृति चित्रो में छायावादी दृष्टि आत्म केन्द्रित चिन्तन, सभ्रान्त वर्ग की परिष्कृत रुचि, पैनी पर्यवेक्षण शक्ति तथा अभिराम संश्लिष्ट शैली का दर्शन होता है। 'सूर्यास्त तथा 'सध्या सकल्प' नामक कविताये प्रकृति चित्रण के भव्य निदर्शन हैं

जनवादी कविताओं में अज्ञेय ने मानव के प्रेम, रूप, यौवन, आनन्द, भोग तथा विरह का वर्णन किया है। कुछ कविताओं में वर्ग सघर्ष और सत्रास के क्षीण स्वरों के साथ आज के तनाव और दबाव और दबावपूर्ण मानव जीवन का करुण क्रन्दन भी सुनाई पडता है। मानव के रूप, यौवन, आनन्द तथा भोग के चित्रण में जिस्म चर्या की प्रधानता है। अज्ञेय के मानव जीवन के तनावपूर्ण चित्रण पर्याप्त सशक्त एव आकर्षक हैं। शिल्प विधान की दृष्टि से सुनहले शैवाल में सकलित कवितायें काफी सतोषजनक हैं किन्तु इनमें काव्य के किसी नवोन्मेष का सर्वथा अभाव है।

डॉ० धर्मवीर भारती (१६१६)—प्रयाग विश्व विद्यालय में हिन्दी अध्यापन के अनन्तर आजकल धर्मयुग के सपादक हैं। पद्मश्री पुरस्कृत भारती के काव्य में नई कविता के विकास की कई मजिलें हैं और उसमें आज के युग की नई चेतना है। इनका जीवन के प्रति यह नया दृष्टिकोण परपरा से सर्वथा विच्छिन्न भी नही है। और उससे एकदम सपृक्त भी नहीं है। इनकी रचनाओं मे सिद्धो का रतिवाद, वैष्णवों का महाभाव, अस्तित्ववादियों का क्षणवाद तथा छायावाद का रोमास सब एकत्र मिलते हैं। भारती की कविता का मूल स्वर है—जीवन जीने योग्य है, उसे भोगना है, उससे भागना नही। रूपासक्ति तथा वासना के चित्रण इनकी कविता में यत्र तत्र मिल जाते हैं।

अब तक के उनके प्रकाशित काव्यों मे ठडा लोहा, सात गीत वर्ष तथा कनुप्रिया विशेष उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओ में भारती ने जीवन की एक नई प्रक्रिया को दर्शाया है। कनुप्रिया में राधा-कृष्ण के प्रेम को चेतना के एक नये धरातल पर उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। यह कृति आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, अत: इसकी विस्तृत विवेचना अपेक्षित है।

कनुप्रिया (१६५६) धर्मवीर भारती की एक महनीय कृति है। इसमें राधा और कृष्ण के पौराणिक प्रेमाख्यान को वर्तमान युग सापेक्ष एक नवीन सदर्भ में उपस्थित किया गया है। लेखक ने अपनी रचना को "पूर्वराग, मजरी-परिणय, सृष्टि सकल्प, इतिहास और समापन नामक पाँच अध्यायों में विभक्त किया है, जिन्हें मोटे रूप से दो खडों में रखा जा सकता है। पूर्वराग, मजरी परिणय, सृष्टि सकल्प तथा केलिसखी आदि प्रकरणों में शक्तिरूपिणी राधा की विविधमुखी बाह्य आसक्ति अनेक विध आयामों में चित्रित है। राधा का पूर्वराग जनित प्रणय सर्वत्र प्राणों से स्पन्दित

है। परिष्कृत कलात्मकता, सांकेतिकता और सूक्ष्मता कनुप्रिया के प्रणय चित्रण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। उसमें मांसलता का अभाव है तथा वह सर्वत्र निष्कलुष है। इन प्रकरणों को प्रथम खंड से अभिहित किया जा सकता है। द्वितीय खंड में इतिहास और समापन आते हैं। इन दोनों अध्यायों में राधा के प्रणय को एक नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया गया है। कवि ने राधा के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में मानव जीवन की कतिपय शाश्वत समस्याओं—युद्ध, व्यष्टि, समष्टि, नर नारी के जीवन के चिर-सम्बन्ध तथा प्रणय लक्ष्य आदि को एक नवीन दर्शन के आलोक में प्रस्तुत किया है। इस रचना की आत्मा राधा के अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्वगत प्रश्नों में सजीव रूप से प्रतिध्वनित हो उठी है —

> सुनो कनु सुनो,
> क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी
> तुम्हारे लिए
> लीला भूमि और युद्ध क्षेत्र के
> उल्लंघ्य अन्तराल में !

कनुप्रिया के नामकरण कान्ह (कनु) की प्रिया—राधा पर आधृत है। इस की कथा वस्तु के सूत्र अत्यन्त क्षीण हैं जिनमें रागात्मक तत्त्व की अपेक्षा विचार तत्त्व की प्रधानता है। कथानक में राधा के पूर्वराग की मधु स्मृतियाँ, केलिसुख की हृदयावर्जक सुधियाँ, विरह विनोद चिन्हों के सुखद चित्रण तथा महाभारत कालीन युद्ध के इतिहास का युग की सापेक्षता में चिन्तन आदि निरूपित हैं। कवि की मान्यता है कि इतिहास का अर्थ मात्र समष्टि का संकेतन ही नहीं है बल्कि उसमें व्यक्ति की अविनाभाव से संयुक्त है, उसमें प्रत्येक क्षण का अपना एक महत्त्व है। राधा का भाव विभोर चरित्र कवि की एक अनुप सृष्टि है। कनुप्रिया में सिद्धों की रति, वैष्णवों का भाव विह्वल अनुरक्ति तथा अस्तित्ववादी दर्शन के क्षण-बोध की एक अद्भुत कान्त मैत्री है। इसमें कवि की सहज प्रतिभा, कल्पना और अनुभूति सहज अनुमेय हैं। परिणामतः कनुप्रिया में एक सहज आकर्षण, स्तुत्य भाव सम्प्रेषण तथा हृदय द्रवण की पर्याप्त मात्रा विद्यमान है।

भारती ने कृष्ण के चरित्र को शासक, कूटनीतिज्ञ और व्याख्याकार आदि अनेक रूपों में इतिहास के वृहदालोक में देखने की चेष्टा की है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से युद्ध और शान्ति विषयक नाना प्रश्नों का समाधान किया है। कनुप्रिया में भी राधा के माध्यम से कुछ इसी प्रकार के प्रश्न, संशय और आग्रह उपस्थित किये गये हैं। नारी नर की केवल वासना संगिनी ही नहीं है प्रत्युत् वह युगेतिहास की विधायिनी भी है। कनुप्रिया के शब्दों में —

(क) और जन्मान्तरों की अनन्त पगडंडी के
कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ

कि इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ

(ख) सुनो मेरे प्यार !
प्रगाढ़ केलि क्षणों में अपनी अन्तरंग
सखी को तुमने बाहों में गूँथा
पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गये प्रभु ?

(ग) बिना मेरे कोई भी अर्थ निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का
शब्द शब्द शब्द
राधा के बिना
सब रक्त के प्यासे
अर्थ हीन शब्द !

भारती की भारती नव प्रतीक बन्धों, बिम्बों तथा अभिनव उपमेयोपमान विधान से सवलित है। उसमें अर्थ की अपार क्षमता है। नि सन्देह कवि ने कहीं-कहीं देशकाल का ध्यान न रखते हुए कनुप्रिया से रोमानी पद्धति के कतिपय प्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग कराया है जो कि चिन्त्य है। कुल मिलाकर अभिव्यक्ति पक्ष अतीव सबल बन पड़ा है ।

कनुप्रिया, लेखकों के दृश्य काव्य "अन्धायुग" की एक पूरक कृति है। अन्धायुग में महाभारत युद्ध की अनेक समस्याओं को उठाया गया है। उन समस्याओं और प्रश्नों का युग सापेक्ष समाधान कनुप्रिया में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। कनुप्रिया में महाभारत युद्ध में व्यक्ति की अवश स्थिति के पौराणिक सदर्भ को आधुनिक युग तथा सवेदना से सपृक्त कर दिया गया है। कनुप्रिया का वैष्णवी महाभाव, सिद्धों का रतिभाव तथा अस्तित्ववादियों का क्षण भाव का अपूर्व सामजस्य आधुनिक कला-कृतियों में इसे महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है ।

भारत भूषण अग्रवाल (१६१६) का जन्म मथुरा में हुआ। अंग्रेजी मे एम. ए. करने के उपरान्त आपने कलकत्ता और उत्तर प्रदेश मे काम किया। कुछ देर के लिए आप आकाशवाणी में भी रहे। आज तक आप साहित्य अकादमी मे सहायक मंत्री के रूप में कार्य कर रहे हैं ।

इनके छवि के बधन, जागते रहो, मुक्ति मार्ग तथा और ओ अप्रस्तुतमना नामक काव्य सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ये सग्रह भारत भूषण के कवि जीवन के विकास के भिन्न-भिन्न मोड़ों के सूचक हैं। कवि के बन्धन मे सौन्दर्य प्रेम और विरह की अनुभूतियों के साथ आधुनिक युग की सुलभ प्रवृत्तियाँ—निराशा तथा पीड़ा आदि अभिव्यक्त हुई हैं। 'जागते रहो' में कवि वैभिवनकता की सकीर्ण सीमाओं को लाँघ कर एक व्यापक धरातल पर टिकने का प्रयास कर रहा है। इसमें कवि का मार्क्सवाद के प्रति मोह लक्षित होता है। मुक्ति मार्ग में कवि द्विविधा ग्रस्त है—उसे

काव्य सृजन का एक नया मार्ग खोजना है, जहाँ वादों का वितडावाद न हो। और जो अप्रस्तुत मन मे कवि की एक नयी चेतना अभिव्यक्त हुई है। कविता के विषय में भारत भूषण का लक्ष्य सर्वथा उदात्त रहा है। उनका कथन है कि भले ही उनकी कवितायें महान् नहीं हैं किन्तु इनमे मन की सच्ची छटपटाहट अवश्य है। इनकी कविताओं में आदर्श की उच्चता सर्वत्र लक्षित होती है। परिणामत: इनकी कविताओं में मनुष्य की क्षुद्रता, दुर्बलता और तुच्छता पर एक व्यग्य दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने अपने काव्य को फैशन की दौड मे अवाछनीय प्रवृत्तियों से दूषित नहीं होने दिया है। उदाहरणार्थ —

> जितनी भी हलचल मचनी है, मच जाने दो
> रस विष दोनों को गहरे में पच जाने दो
> तभी तुम्हें भी धरती का आशीष मिलेगा,
> तभी तुम्हारे प्राणों में भी यह पलाश का फूल खिलेगा।

दुष्यन्त कुमार (१९३३) भोपाल मे हिन्दी विभाग के सहायक निर्देशक हैं। इन्होंने अपनी कविताओं में जीवन चेतना को छोटे छोटे खडो मे उभारने का प्रयास किया है। इनके प्रकाशित कविता सग्रहो—"सूर्यास्त का स्वागत" और "आवाजों के घेरे" में उपर्युक्त प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। इनके काव्य नाटक 'एक कंठ विषपायी' में जीवन को एक व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसमें पुराने देवताओं को आधुनिक युगीन सदर्भ में चित्रित करने का सराहनीय साहस है। कवि की जीवन की जटिलताओं की गहरी पकड है। इनमे कल्पना और अनुभूति पर्याप्त मात्रा में हैं। उनकी वाणी मे शक्ति और शैली में नवीनता है। इनकी काव्य गत विशेषतायें इन्हीं के शब्दो मे :—

> आयतों की दीप्तियों की गूंज है वातावरण में
> एक मन्दिर सा बना रण क्षेत्र, मैं इसका पुजारी।।
> क्रन्दनों कोलाहलों के बीच यह आवाज भी है,
> अलग सबसे प्रबल, सबसे मर्म भेदी और भारी।।

राजेन्द्र यादव आधुनिक हिन्दी के आख्यान साहित्य मे लब्ध प्रतिष्ठ हैं। उनकी कहानियो का सग्रह खेल 'खिलौने' उपन्यास—"शह और मात" अनुवाद के रूप में चेखव के तीन नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। "आवाज तेरी है" इनकी कविताओं का सग्रह है। इसमें सामाजिक चेतना की निर्भीक अभिव्यक्ति है। इनकी अभिव्यजना शैली सरल, स्पष्ट गभीर एव भावमय है। इसमे नई कविता के सभी ग्राह्य उपादान हैं। इसमें कवि के अन्तर्मन से निकला कई आवाजें, मनः स्थितियों के कई लघुचित्र और सवाद प्रयोग हैं। इनकी कविता में एक अद्भुत विरोधाभास है—यह नयी कविता पर व्यग्य भी है और नई कविता भी।

गिरिजा कुमार माथुर (१९१९) का जन्म मध्य प्रदेश मे अशोक नगर में हुआ। तेरह वर्ष की अवस्था में इन्होंने कविता लिखनी आरम्भ कर दी थी। इनकी प्रारंभिक

रचनाओं पर छायावादी रोमांस का गहरा प्रभाव था किन्तु बाद में नई कविता के प्रभाव के फलस्वरूप इनकी कविताओं में निराशा, असफलता, विषाद और रुग्णता की छाया अंकित है। इनकी कविता में इस नये मोड़ का एक कारण अंग्रेजी साहित्य का गहन अध्ययन भी है। वस्तुतः इनकी कविता किसी विशेष वाद के बन्धन को स्वीकार नहीं करती, अतः वह अनेक धाराओं से जुड़ती और टूटती रही है। छायावाद से नाता तोड़ लेने पर भी प्रबल संस्कार वश वे उससे अलग हो पाये हों। ऐसा कहना कठिन है। परिणामतः इनकी रचनाओं में रूप और रस का मांसल चित्रण अब भी बना हुआ है।

'मंजीर' 'नाश और निर्माण' तथा धूप के धान के अनन्तर 'शिला पंख चमकीले' गिरिजा कुमार माथुर का एक नूतन कविता संग्रह है। इसका शीर्षक प्रतीकात्मक है। माथुर के अपने शब्दों में "पूर्ववर्ती मूल्य सूखे, जीर्ण छिलकों की तरह झर कर गिर गये हैं और विज्ञान कालीन नए परिधानों का आभास भी नहीं है। कपास में फूल आने में ही अभी देर है। आदमी आत्मा से इस समय एक दम नंगा है। एक मन्वन्तर बीत रहा है। चमकीली शिलायें पंख लगाकर उड़ गईं" हैं। कवि का कदाचित् आशय यह है कि विगत के पिटे पुराने तथाकथित चमकीले सिद्धान्तों के मूल्य त्रुटित हो रहे हैं और संक्रान्ति की वेला में एक नव बोध उदित हो रहा है। अस्तु ! प्रस्तुत संग्रह की प्रतीक भाराक्रान्त कवितायें तथाकथित नवबोध के तकाजे को पूरा करती हैं किन्तु सहज बोध से काफी दूर चली जाती हैं। कवि सर्वत्र नये बिंबों और छन्दों के प्रति आग्रही रहा है।

गजानन माधव मुक्ति बोध (१९१७-६४) की रचनाओं में एक स्वस्थ सामाजिक चेतना, लोक मंगल भावना तथा जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण विद्यमान हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार मुक्तिबोध पर टालस्टाय बर्गसा और मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव है। इनकी कविताओं में तथाकथित अस्तित्ववादियों के क्षणवाद के स्थान पर शाश्वत आशावाद, जीवन की विद्रूपता और क्षण भंगुरता के स्थान पर उसकी सुन्दरता और गतिशीलता, निराशा के स्थान पर आस्था तथा व्यक्ति के दर्पस्फीत अहं के स्थान पर समष्टि की चेतना चित्रित है। काव्य सृजन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वदा प्रगतिशील रहा है, अतः इन्हें आधुनिक हिन्दी कविता के वाद के किसी सकरे कटघरे में सीमित करना उचित नहीं।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" में स्व मुक्ति बोध की अधिकांश कविताओं का संकलन है, अतः ये मुक्तिबोध के काव्य बोध के लिए पर्याप्त उपादेय हैं। इन कविताओं में पर्याप्त विषय वैविध्य है। कवि के लिए कवि कर्म श्रम साध्य एवं मस्तिष्क की क्षमताओं का बल प्रयोग है। स्वभावतः ! इनकी कविताओं में बुद्धिजन्य प्रतीक विधान पर्याप्त मात्रा में हैं। इनकी कविताओं से स्पष्ट है कि वे सच्चे अर्थों में एक अनुभूतिशील कवि थे। आधुनिक हिन्दी साहित्य को इनसे बहुत आशायें थीं किन्तु खेद है कि वे असमय में ही उठ गये।

कीर्ति चौधरी की कवितायें 'तीसरा सप्तक' तथा 'कविताएँ' नामक संकलनों में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी रचनाओं पर प्रयोगवाद का प्रभाव नहीं है। इनमें स्वस्थ सामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। मानव जीवन के प्रति सहज प्रेम, उसकी सतत् प्रगति की अभिलाषा, उसके मूल्यों के प्रति आस्था, उसकी शक्ति पर विश्वास और उसके प्रति सहानुभूति का चित्रण इनके काव्य का मुख्य विषय है। इनकी कविता सृजन प्रवृत्ति मूलतः नव स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं से प्रभावित है। इनके प्राकृतिक चित्रणों पर छायावाद का प्रभाव है।

कीर्ति चौधरी का शिल्प विधान सरल स्वाभाविक और सशक्त है। कथ्य की सहजता, काव्योचित संवेदना तथा सहज सरल अभिव्यंजना—शैली के कारण इनके काव्य में विकास की नयी संभावनायें देखी जा सकती हैं।

मदन वात्स्यायन की कवितायें 'सप्तक' में संकलित हैं और वे प्रयोगवाद के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं। मदन एक नई काव्य परम्परा का निर्माण करना चाहते हैं, अतः वे किसी भी पूर्ववर्ती परम्परा के अनुगमन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध नहीं हैं। इन रचनाओं का परिवेश प्रायः वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय है। 'अपदग्ध' नामक कविता में इन्होंने औद्योगिक और मशीनी जीवन से उत्पन्न नाना समस्याओं की ओर संकेत कर पूँजीवादी शोषण के प्रति तीव्र आक्रोश अभिव्यक्त किया है। प्रकृति चित्रण के विषय में इनका एक निजी दृष्टिकोण है। 'शुक तारा' नामक रचना इसका एक अच्छा उदाहरण है। राष्ट्रीय जीवन की आधुनिक समस्याओं के प्रति कवि ने यथार्थवादी दृष्टिकोण से काम लिया है।

इन्होंने अधिकतर मुक्तक छन्द का उपयोग किया है। कहीं-कहीं लोक गीतों की धुनों का भी प्रयोग किया है। कुल मिलाकर भाषा-शैली सक्षम कही जा सकती है। भले इनका काव्य परिमाण में अल्प है किन्तु गुणात्मक दृष्टि से वह सुन्दर है।

कुँवर नारायण—इनकी कवितायें 'चक्रव्यूह' नामक संकलन में प्रकाशित हो चुकी हैं। पुस्तक का नाम प्रतीकात्मक प्रतीत होता है। कवि ने आज के समस्याग्रस्त मानव को विघटनकारी सात महारथियों से घिरे हुए अभिमन्यु के रूप में चित्रित किया है। नयी कविता के लेखकों में कदाचित् कुँवर नारायण पर पूर्ववर्ती धारा प्रयोगवाद का सर्वाधिक प्रभाव है। कवि कविता को गंभीर चिन्तन, प्रयोग सापेक्ष तथा प्रयत्नसाध्य मानता है। परिणामतः इनकी रचनाओं में अनुभूति की जगह बौद्धिकता और वैचारिक सिद्धान्तों का भरमार है। भाषा-शैली के विषय में भी ये सर्वत्र प्रयोगधर्मीता के आग्रही हैं। इनकी कविताओं में मध्यवर्गीय व्यक्ति की दीनता एवं निराशापूर्ण स्थितियाँ चित्रित हैं वहाँ अनुभूति की अपेक्षा बौद्धिकता अधिक है। इनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन की आशाओं और निराशाओं का सम्यक् प्रस्तुतीकरण है। शैली-क्षेत्र में अति प्रयोग प्रियता तथा भाव पक्ष में अनावश्यक अतिबौद्धिकता की प्रवृत्तियों का त्याग इनके स्वस्थ काव्य विकास के लिए आवश्यक है।

केदारनाथ सिंह की कतिपय रचनायें तीसरा सप्तक में प्रकाशित हुई और कुछ "अभी बिल्कुल अभी" नामक काव्य संग्रह मे प्रकाशित हुई हैं। इसमें इनकी १६५४-५६ के बीच की कवितायें हैं। इनकी प्रारम्भिक रचनाओ पर प्रगतिवाद का प्रभाव था। बाद मे ये अज्ञेय के अध्ययन से प्रयोगवादी बने तथा माथुर के प्रभाव स्वरूप नयी कविता की ओर उन्मुख हुए। वास्तव में इन कविताओ मे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद रोमांटिक नवोत्थान तथा नयी कविता की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। इन्हें बिम्बों और प्रतीको से अधिक मोह है और इसी कारण इनके काव्य मे अस्पष्टता और दुरूहता भी कहीं कहीं लक्षित होती हैं। कविताओ मे अधिकतर मुक्तक छन्दो का उपयोग किया है जिसमें लयात्मकता का प्राय अभाव है। भाषा मे उर्दू शब्दों का बाहुल्य चिन्त्य है।

अजित कुमार की कवितायें 'अकेले कंठ की पुकार' नामक काव्य-संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। कवि ने कवि-कर्म, कविता तथा नई कविता की कमजोरियो और सभावनाओ के विषय मे विस्तार से अपने मन्तव्यों को प्रकट किया है। इनके अनुसार "नूतन जिन्दगी लाना और नई दुनिया बसाना भी उस (कवि) का कार्य है।" काव्य-गत कमजोरियो को हटाना अभी शेष है, जिसके लिए वे मानते हैं कि अकेले कंठ की पुकार काफी नही है। इनका कहना है कि 'चाँदनी चन्दन सदृश हम क्यों लिखें।' इससे स्पष्ट है कि इनकी कविताओं मे परम्परागत अप्रस्तुत विधान तथा काव्य रूढियों के प्रति विद्रोही स्वर है। इन्होंने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियो की मन स्थितियो के चित्रों को अकित किया है। इनकी कविताओं में कवि के कर्त्तव्य कर्मों का विज्ञापन अधिक है किन्तु पालन कम है।

राजेन्द्र किशोर की कवितायें "स्थितियाँ, अनुभव तथा अन्य कविताएँ" नामक काव्य-संग्रह मे संकलित हैं। नयी कविता के आलोचको ने इन्हें "अतिवादों को छूने वाला कवि" कहा है। इनके काव्य में नई कविता की प्राय सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ वैयक्तिकता, बौद्धिकता, अन्तर्मुखता, बहिर्मुखता, सामाजिकता तथा युगीन चेतना आदि लक्षित होती हैं। इन्होने निम्न मध्य वर्ग के व्यक्ति की मानसिक दशाओ का अच्छा चित्रण किया है। प्रेम के चित्रण मे कहीं-कहीं मासलता भी उभर आई है। एक ओर जहाँ ये प्रयोगवाद से प्रभावित हैं वहाँ दूसरी ओर इन पर अंग्रेजी कवि डाइलन टामस जैसे स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रभाव भी लक्षित होता है। स्पष्टवादिता इनकी शैली का विशेष गुण है। अधिकतर मुक्तक छन्दो का प्रयोग किया है। इनकी लयहीन कवितायें साधारण गद्यात्मक रचना के स्तर तक ही पहुँच पाती हैं।

मलयज—इनकी कवितायें नई कविता में संकलित हैं। मलयज आधुनिक हिन्दी-साहित्य के किसी वाद अथवा दल विशेष से संबद्ध नही हैं। इन्होंने मध्य वर्ग के बुद्धिजीवियो का सच्चा चित्र अंकित करने का प्रयास किया है। अत इनकी कविताओं में उक्त वर्ग की संघर्षजन्य पीड़ा निराशा, नि सहायता, विवशता आदि की भावनायें चित्रित हैं। कवि के अनुसार आज "मानव मे जितनी भी बुराइयाँ और कमजोरियाँ

हैं, वे सब विरासत में मिली हैं, अतः वह अपने से दोषी नहीं विरासत का दोषी है।' इनका प्रकृति चित्रण पर्याप्त संवेदनशील है। डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार—नई कविता के नाम पर प्रकाशित होने वाली रचनाओं को अगर कविता और अकविता की श्रेणी में बाँटा जाय तो मलयज की अधिकांश रचनायें कविता की श्रेणी में ही आ सकेंगी।

विपिन कुमार अग्रवाल की कवितायें नई कविता में प्रकाशित हुई हैं जिनमें एक सवंथा चौंका देने वाला नया स्वर है। ऐसी कविताओं को आधुनिक हिन्दी कविता की किसी भी पूर्ववर्ती परम्परा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। ये कवितायें आधुनिक जीवन की प्रति वैज्ञानिकता, बौद्धिकता, जटिलता और अस्वस्थता से ग्रस्त हैं। इन्होंने मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण यथार्थवादी दृष्टि से व्यंग्यपूर्ण शैली में किया है। शृंगारी चित्रणों में कामुकता अधिक उभर आई है। इनकी अभिव्यंजना शैली में पर्याप्त परिष्कृति की अपेक्षा है।

शकुन्तला माथुर (१६२२) का "चाँदनी चूनर" नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इनकी कवितायें तार सप्तक में भी स्थान पाने में सफल हुई। कवयित्री स्वभाव से अत्यन्त संकोचशील हैं और वे अपने आप को कवि मानने में अब तक भी सकोच करती हैं। इन्होंने जीवन के साधारण दृश्यों को अंकित करने का प्रयास किया है। कवयित्री का आधुनिक नई कविता के प्रति दृष्टिकोण दर्शनीय है :—

चला जा रहा हिन्दी साहित्य,
आलोचनायें सो रही बेफिकर,
परवाह नहीं है सीट तो रिचर्व।

डा० जगदीश गुप्त एक प्राध्यापक विद्वान आलोचक और कुशल सम्पादक के साथ साथ नई कविता के स्रष्टा भी हैं। इनके दो काव्य-संग्रह 'नाव के पाँव' तथा 'शब्द देश' प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम काव्य-संग्रह में रोमानी प्रभाव अधिक है। शब्द देश में पुरानी मान्यताओं, परम्पराओं और विचारों का विरोध करते हुए इन्होंने नये सिरे से जीवन के पथ को प्रशस्त करने का प्रयास किया है। इन काव्य संग्रहों के अतिरिक्त आप 'नई कविता' नामक पत्रिका का सम्पादन भी करते हैं। इन्होंने अपनी आलोचनाओं के द्वारा नई कविता के स्वरूप निर्धारण तथा उसके समर्थन का भी जोरदार काम किया है।

डॉ० प्रभाकर माचवे (१६१७) एक उच्च कोटि के आलोचक, निबन्धकार, उपन्यास लेखक, कहानीकार, सम्पादक एवं अनुवादक के साथ-साथ कल्पनाशील कवि भी हैं। तार सप्तक में इनकी कुछ कवितायें प्रकाशित हुईं। इनके स्वप्न-भंग और अनुक्षण नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें इनकी १६३३ से लेकर ५६ तक की सरस कवितायें संकलित हैं। इन कविताओं में माचवे जी की काव्यानुभूति और अभिव्यंजना शैली पर्याप्त सुन्दर है।

इस काव्य धारा के और भी अनेक उल्लेखनीय कवि हैं किन्तु स्थानाभाव और विस्तारभय के कारण केवल उनके नामत निर्देश पर ही सन्तोष करना पडता है। वे हैं सर्वश्री—शमशेर बहादुर, अक्षय कुमार सिंह, कु० रमासिंह, शरद देवडा, विनोद चन्द पाडेय, राजा दुबे, डा० शम्भूनाथ सिंह, डॉ० रामविलास शर्मा, मधुकर गगाधर, आरसीप्रसाद सिंह बालकृष्णराव व अमृतराय, विजयदेव नारायणी साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सना, डॉ० देवराज, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, श्याममोहन श्रीवास्तव, जितेन्द्र कुमार, अशोक वाजपेयी, नरेश मेहता, सत्येन्द्रनाथ श्रीवास्तव, शील, रामदरस मिश्र, रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, नर्मदेश्वर उपाध्याय, नेमिचन्द्र, श्रीकान्त वर्मा, आर्येन्द्र शर्मा, राजेन्द्र माथुर, शीतला सहाय श्रीवास्तव, अनन्त कुमार, मुद्राराक्षस, अजीत कुमार, राधाकृष्ण सहाय, शान्ता सिन्हा, नलिन विलोचन शर्मा, सैयद शफीउद्दीन, परमानन्द श्रीवास्तव, रवीन्द्र भ्रमर, रणधीर सिंह, पद्म नारायण सिंह, गोपालकृष्ण कौल, अनन्त कुमार पाषाण, राधा कान्त भारती तथा श्यामनन्द सहाय आदि। इनमे से बहुत से कवियो की कविता मे पत्र पत्रिकाओ में प्रकाशित होती रहती हैं और कुछ के काव्य सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

इस धारा की काव्यकृतियो के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि इनके स्रष्टा साहित्य और कला के क्षेत्र मे युगानुरूप एक परिवर्तन के लिए प्रयासशील हैं। वे परम्परागत धाराओ एव मान्यताओ के स्थान पर नवीनता के इच्छुक हैं और इस दिशा मे उन्हें किंचित सफलता भी मिली है, किन्तु स्मरण रहे कि नवीनता के नाम पर कवि वैचित्र्यवाद, कविता के नाम पर अधकचरे और अक्षमर्थ गद्य का बलात् आरोप तथा परिवर्तन के नाम पर अतीत की स्वस्थ परम्पराओं से सर्वथा विच्छेद नई कविता की उर्वर सम्भावनाओ के लिए महान् व्याघात सिद्ध हो सकते हैं।

नवगीत या नया गीत

नामकरण—'नई कविता', 'नई कहानी' और 'नई आलोचना' की भाँति 'नवगीत धारा' का शोर भी काफी जोर से मचाया जा रहा है। नवगीत या नया गीत का आन्दोलन नई कविता के ध्वजवाहको के समान कतिपय नाम के भूखे लोगो का आन्दोलन है। आधुनिकता और वैज्ञानिक-युग-बोध और सौन्दर्य के दावेदारो तथा कथित नवगीतो के लेखकों ने अपने गीतों को 'नवगीत', 'नया गीत', 'अगीत', 'प्रगीत', 'लोकगीत' तथा 'कबीर गीत' आदि के नामो से अभिहित किया है। इन गीतो मे नये प्रतीक, नये छन्द, नई भाषा, नये अप्रस्तुत विधान और नये शिल्प विधान का नया प्रयोग कर नवगीत की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। कुछ विद्वानो ने नवगीत को नई कविता का पूरक माना है। नवगीतकार ने विगत के गीतो को अतीत भाव-बोध और बासी शैली की वस्तु कहकर उसे मृत कहते हुए अपने गीतो को नया घोषित किया है।

स्वरूप—नवगीत के पक्ष धरो—डॉ० शम्भूनाथ सिंह, गिरिजाकुमार माथुर,

राजेन्द्र प्रसाद सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, डॉ० रामदास मिश्र, वीरेन्द्र मिश्र, बालस्वरूप राही, रवीन्द्र भ्रमर तथा कुन्तल मेघ ने समय-समय पर 'गीतांगिनी' 'वासन्ती' 'नवगीत' 'वातायन' 'धर्मयुग' 'ज्ञानोदय' 'ज्योत्स्ना' 'आजकल' और 'कल्पना' आदि पत्र पत्रिकाओं में नवगीत के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने नवगीत के पाँच तत्वों—जीवन-दर्शन, आत्मनिष्ठा, व्यक्तित्व बोध, प्रीति तत्व और परिसचय का उल्लेख किया है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने नवगीत की नवीनता को युग-सापेक्ष्य बताया है। उनके अनुसार "नवीन-पद्धति और विचारों के नवीन-आयामों तथा नवीन-भाव-सरणियों को अभिव्यक्त करने वाले गीत जब भी और जिस युग में लिखें जायेंगे—नवगीत कहलायेंगे।" गेयता इनका अनिवार्य धर्म है। इनमें समकालीन आधुनिकता की अभिव्यक्ति आवश्यक है। बाल स्वरूप राही ने नवगीत के लिए आधुनिकता को अनिवार्य माना है। उनके अनुसार "जीवन को मृत से पृथक छाँट सकना सच्ची आधुनिकता है। सच्ची आधुनिकता समकालीनता से एक सर्वथा भिन्न तत्व है।" राही जी ने नवगीत को अतीतासवादी और अगेय माना है। उनके अनुसार नवगीत केवल पाठ्य हैं और उनमें भावुकता का कोई स्थान नहीं है। इनमें शास्त्रीय रस न होकर संवेगात्मकता होती है। रवीन्द्र भ्रमर के अनुसार नवगीत में हार्दिकता तथा अनुभूति की प्रधानता आवश्यक है। इनके अनुसार नवीन शिल्प विधान के साथ-साथ नवगीतों में लयात्मकता और संप्रेषणीयता भी अनिवार्य हैं। नवगीत के विषय में प्रकट किये उपर्युक्त विचारों को देखने से यह स्पष्ट है कि अभी तक नवगीत का स्वरूप अस्पष्ट है। अभी तक नवगीत के उन्नायकों में इस सम्बन्ध में कोई सहमति नहीं है। प्रत्येक अपना-अपना राग अलाप रहा है। राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० शम्भूनाथ सिंह तथा रवीन्द्र भ्रमर के विचारों में काफी समानता है। डॉ० राम दशरथ मिश्र ने अनुभूति की सच्चाई, नवीन-सौन्दर्य बोध, आकार, लघुता, नवीन प्रतीकों, बिम्बों और उपमानों की योजना आदि को नवगीत की कतिपय विशेषतायें बताया है। यदि वैयक्तिकता, अनुभूति गहनता, लयात्मकता, संप्रेषणीयता, गेयता और नवीन शिल्प विधान तथाकथित-नवगीत की कतिपय विशेषतायें हैं तो ये गीत भारतेन्दु, निराला, पन्त, महादेवी, बच्चन, प्रेमी, मिलिन्द, सुमित्रा कुमारी, सिन्हा, तारा पाँडेय दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली, नीरज, अंचल, सुमन रंग, रमानाथ अवस्थी आदि के गीतों से किस प्रकार भिन्न ठहरते हैं ? उपर्युक्त सब गुण प्रस्तुत गीतकारों में प्रशस्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। केवल आधुनिकतम वैज्ञानिक-युग-बोध और नई सौन्दर्य चेतना आदि नवगीत के व्यावर्तक गुण सिद्ध नहीं हो सकते हैं। प्रत्येक सजग साहित्यकार अपने साहित्य में सामयिकता, युग, सत्य नये सौन्दर्य बोध और नवीन अभिव्यंजना-पद्धति को रूपायित किया करता है। ऐसी दशा में हमें 'नवगीत' शब्द नितान्त भ्रामक लगता है। वैज्ञानिक मूल्यों के नाम पर विज्ञान के केवल निषेधात्मक मूल्यों—निराशा, अनास्था, घृणा, क्षणवाद और काम कुंठाओं का चित्रण 'सच्ची आधुनिकता', 'ऐतिहासिकता' या 'वैज्ञानिकता' नहीं है। यह युग जीवन का एक खंडित चित्रण है।

विज्ञान के विध्यात्मक मूल्यों—पारस्परिक सम्पर्क, विश्व मानवतावाद, अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व शान्ति आदि की ग्राह्य एवं जीवन-पोषक भावनाओं का भी चित्रण करना आवश्यक है। नवीनता के अतिरेक में बेसुध बहने वाले नवगीतकार को यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी नवीन उपलब्धि पुरानी उपलब्धियों की एक अविभाज्य कड़ी हुआ करती है। किसी भी देश की एक सास्कृतिक-परम्परा होती है जो उस देश के साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनुस्यूत रहती है। सस्कृति की उस सतत प्रवाहमान-धारा से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद करके इंगलैंड या अमरीका से अपना सम्बन्ध जोड़ना-नवीनता नहीं है। ऐसी उधारी ली गई काइयापन वाली नवीनता समाज में कभी समादृत नहीं होती है।

नवगीतकार—डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने अज्ञेय, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, विजयदेव नारायण, राही, वीरेन्द्र मिश्र, ठाकुर प्रसादसिंह, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, मुद्राराक्षस, मलयज, राजेन्द्र किशोर, ओम प्रभाकर, देवेन्द्र कुमार, चन्द्रमौलि उपाध्याय और सोम ठाकुर आदि की नवगीतकारों के रूप में चर्चा की है। इनके तथा-कथित नवगीत नाना सकलनों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

प्राय नवगीतकारों ने 'नवगीत' को नई कविता का पूरक कहा है किन्तु यह ठीक नहीं है। इसे गीति काव्य के विकास का एक चरण मानना उपयुक्त है। अतः इसमें नव-शब्द व्यर्थ का भ्रमजाल है। गीत का भावनावादी होना आवश्यक है और यही उसका नई कविता से व्यवच्छेदक तत्त्व है। नई कविता के लेखकों का यह दावा कि "गीत मर चुका है और वे उसका नवगीत के रूप में पुनरुद्धार कर रहे हैं", बिलकुल अनर्गल है। हिन्दी का सच्चा गीतकार आज भी दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, नीरज, सुमन, अचल, नेपाली, रंग, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र आदि के रूप में जीवित एवं प्राणवान है। नवगीतकार की अपेक्षा वह आज भी जन-मानस में अधिक प्रतिष्ठित है। भले ही उसे नारे और शोर मचाने वाले नहीं मिले हैं किन्तु वह अपनी मूक साधना से साहित्य को एक स्थायी-सम्पत्ति प्रदान कर रहा है। आत्म प्रख्यापिक नवगीतकार की मन स्थिति का विश्लेषण—नीरज के निम्न शब्दों में दर्शनीय है—

> जाने क्यों जितनी ही कम है बात किसी पर कहने को,
> वह जाने क्यों उतने ही स्वर से शोर मचाता है।
> जो जितना गहरा घाव लिए बैठा दिल में,
> वह दबी-दबी आहें भरता भी उतना सकुचाता है।

नई कविता के समान नवगीत की कतिपय अप्रशंसनीय प्रवृत्तियों—बौद्धिकता के अतिरेक, काम कुंठाओं के अतिशय, अनिश्चित जीवन दृष्टि, सास्कृतिक रिक्थ से विमुखता, असामाजिक भावनाओं की अनर्गल विवृत्ति, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, नवीनता आधुनिकता, ऐतिहासिकता और वैज्ञानिक-युग-बोध की होड़ में अहमहमिका-पूर्वक पाश्चात्य का अन्धाधुन्ध अनुकरण, जीवन के प्रति अनास्था, निराशा और क्षणवाद

का उद्‌घोष, काव्य की तुच्छता और कथन-विधि की असमर्थता आदि को देखकर कदाचित् डॉ० शम्भूनाथ सिंह को आशंकित होकर आज के नामधारी नवगीतकार को चेताना पड़ा है—

हे श्रेष्ठनाम तुमको मैंने देखा सरपट,
दौड़ते रेल सा ही जीवन की पटरी पर,
× × ×
आसत वश
पथ पर बैठ न रहना, न भटक जाना वन में
वादों के और विवादों के, यह अभिलाषा,
मेरी ! मानवता से बढ़कर जीवन में,
कोई न वाद, पूरी करना मेरी आशा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्य

निःसन्देह आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गद्य का प्राचुर्य रहा और उसकी नाना विधाओं का सिप्रगति से विकास हुआ तथा हो रहा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में मुक्तक-काव्य की विपुल राशि की सृष्टि हुई है किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि प्रस्तुत काल में प्रबन्ध काव्यधारा नितान्त सूख गई या बिल्कुल विलुप्त हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रबन्ध काव्यों की यह धारा रामचरित मानस, पद्मावत, साकेत, प्रिय-प्रवास, कामायनी, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, साकेत संत, लोकायतन, उर्वशी और मानवेन्द्र तक परम्परात्मक रूप में सदा अजस्रगति से प्रवाहमान रही है। सच तो यह है कि कोई भी युग उसका साहित्य प्रबन्ध-काव्यों के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक युग का जीवन प्रबन्ध काव्यों के विराट फलक पर ही पूर्णतया अंकित हो सकता है। साहित्य की यही विधा मनुष्यता की क्रमात्मक प्रगति और उसके भावात्मक विकास-मार्ग की सूचिका है। दिनकर जी के शब्दों में "विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते हैं, वे ध्वनित करते हैं कि मनुष्य किस युग में, कहाँ तक प्रगति कर सका है।" भारतेन्दु युग में मुक्तक शैली का ही प्रयोग हुआ जबकि द्विवेदी युग में काव्यक्षेत्र में बहुधा प्रबन्धात्मक शैली को प्रतिष्ठा मिली। इस काल में इतिवृत्तात्मकता प्रधान शताधिक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई। द्विवेदी युग के प्रबन्ध काव्यों में आवश्यकतानुसार काव्यशास्त्रीय लक्षणों को अपनाते हुए भी प्रबन्धकारों ने अपनी रचनाओं में युगानुकूल आधुनिकता को भी प्रतिबिम्बित किया है। इस युग के काव्यों में चारित्रिक दृष्टि से भी एक महान् परिवर्तन लक्षित होता है। इन प्रबन्ध काव्यों में चित्रित दैवीपात्र राम और कृष्ण आदि आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। इनकी राधा और सीता नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती हुई आदर्श नारियों के रूप में आई हैं। उर्मिला, कैकयी, रावण, नहुष तथा एकलव्य, भरत जैसे उपेक्षित पात्रों की

चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश मे लाना भी इन प्रबन्ध काव्यो की एक विशेषता है। प्रसाद युग में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावात्मकता को प्रश्रय दिया गया। स्वर्गीय जयशकर प्रसाद की कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमे भावात्मकता, चारित्रिकता और मानवीय मनोवृत्तियो के अतिसूक्ष्म विश्लेषण *के साथ दर्शन तथा आधुनिकता का हृदयावर्जक समन्वय है। प्रसाद जी ने परपरागत* काव्य शास्त्रीय लक्षणों की उपेक्षा करते हुए भावात्मक प्रबन्ध काव्यों की एक स्वस्थ परम्परा को प्रशस्त किया। प्रसादोत्तर काल मे प्रणीत प्रबन्ध काव्यो मे भी काव्य शास्त्र के महाकाव्य सम्बन्धी बाह्य तत्त्वो की उपेक्षा करके उनमें राष्ट्रीय जीवन के व्यापक आदर्शों के चित्रण तथा मानवता के नये मूल्यो के अकन पर विशेष बल दिया गया है। हम द्विवेदी युग और छायावादी काव्यों की प्रवृत्तियो का विश्लेषण करते हुए उन युगों के प्रतिनिधि कवियों और उनके प्रबन्ध काव्यों का प्रासगिक रूप से उल्लेख कर चुके हैं। *यहाँ हमें प्रसादोत्तरकाल मे रचित कतिपय प्रतिनिधि प्रबन्ध* काव्यों का सक्षिप्त प्रवृत्यात्मक परिचय देना अभीष्ट है।

आधुनिक काल में रचित प्रबन्ध काव्यो की कितनी प्रभूत सृष्टि हुई है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम रचयिताओ और उनकी रचनाओ की काल निर्देश पूर्वक एक सक्षिप्त तालिका प्रस्तुत करना उचित समझते हैं—

तालिका—सर्व श्री श्रीधर पाठक—एकान्तवासी योगी, उजडग्राम, श्रान्त **पथिक**, महावीरप्रसाद द्विवेदी—कुमारसभव सार, मैथिलीशरण गुप्त—रग मे भग, **जयद्रथ** वध, भारत भारती, विरहिणी व्रजागना, वैतालिक शकुन्तला, पलासी का युद्ध पचवटी, अनघ, शक्ति, त्रिपथगा, विकटभट्ट, गुरुकुल, साकेत यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, नहुष, जयभारत १९५२, हरिऔध—*प्रिय प्रवास, पारिजात, वैदेही वनवास* ३९, गिरधर शर्मा—सती सावित्री, सियारामशरण गुप्त—मौर्य विजय, नकुल, अनाथ, आत्मोत्सर्ग ३३, भगवानदीन—वीरक्षत्राणी, वीर बालक, वीर पचरत्न, लोचन प्रसाद, पांडेय—मेवाडगाथा, मृगीदुखमोचन, गोकुलचन्द—प्रणवीर प्रताप, रामनरेश त्रिपाठी—मिलन, पथिक, स्वप्न रामचरित उपाध्याय—देवदूत, देवी द्रौपदी, राष्ट्र भारती, रामचरित चन्द्रिका, रामचरित चिन्तामणि, रामचन्द्र शुक्ल—बुद्ध चरित, उदय शकर भट्ट—तक्षशिला, मनसी ३९, प्रतापनारायण—नलनरेश, केशरीसिंह—प्रताप चरित्र, गुरु भक्तसिंह—नूरजहाँ, *विक्रमादित्य*, ४७, रामनाथ *ज्योतिषी—रामचन्द्रोदय*, अनूप शर्मा—सिद्धार्थ ३७, शर्वाणी ४८, वर्द्धमान ५१, तुलसीराम शर्मा—पुरुषोत्तम, निराला—तुलसीदास ३९, *श्यामनारायण पांडेय*—हल्दीघाटी ३९, जोहर ४५, हरदयालुसिंह—दैत्यवश, रावण ५२, प्रद्युम्न—कृष्ण चरित मानस ४१, मोहनलाल मेहतो—आर्यावर्त ४३, द्वारिका प्रसाद मिश्र—कृष्णायन ४३, डा० रामकुमार वर्मा—जोहर ४३, एक लव्य ५९, सुधीन्द्र—जोहर ४३, बलप्रसाद मिश्र—साकेत सन्त ४६, रामराज्य ६०, रामधारीसिंह दिनकर—कुरुक्षेत्र ४६, रश्मिरथी ५७, उर्वशी ६१, ठाकुरप्रसाद सिंह—महामानव ४६, रघुवीरशरण मित्र—जननायक ४९, मानवेन्द्र

६५, आनन्द कुमार—अंगराज ५०, करील—देवार्चन ५२, गोपालशरण सिंह—जगदालोक ५२, रामानन्द तिवारी—पार्वती ५५, श्यामनारायण प्रसाद—झाँसी की रानी ५५, लक्ष्मीनारायण कुशवाहा—तात्या टोपे ५७, अतुलकृष्ण गोस्वामी—नारी ५७, परमेश्वर द्विरेफ—मीरा ५७, युगद्रष्टा प्रेमचन्द्र ५६, तारादत्त हारीत—दमयन्ती ५७, बालकृष्ण शर्मा नवीन—उर्मिला ५८, गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश—तारकवध ५८, लक्ष्मीनारायण मिश्र—सेनापति कर्ण ५८, आनन्द मिश्र झाँसी की रानी ५६, नरेन्द्र शर्मा—द्रौपदी ६०, शशिभूषण पांडेय—अभियान ६०, कवि किंकर—सधि सन्देश ६०, वासुदेव प्रसाद खरे—देवयानी ६०, रामावतार अरुण—बाणाम्बरी ६१, रामगोपाल दिनेश—सारथी ६१, डा० पुत्तूलाल शुक्ल—मनंग ६१, नन्दकिशोर झा—प्रिय मिलन ६४, सुमित्रानन्दन पन्त—लोकायतन ६४।

प्रतिपाद्य—द्वारिका प्रसाद मिश्र का अवधी भाषा में रचित कृष्णायन महाकाव्य रामचरितमानस के समान सात काण्डों में विभक्त है। इसमें लेखक को कृष्ण की चारित्रिक उदात्तता के अंकन में पर्याप्त सफलता मिली है। प्रस्तुत काव्यधारा में दिनकर जी के तीन प्रबन्ध काव्य—कुरुक्षेत्र ४६, रश्मिरथी ५२ तथा उर्वशी ६१ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर और भीष्म के ओजस्वी सजीव और मार्मिक वार्तालाप के माध्यम से युद्ध की समस्या पर आधुनिक युग के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है। रश्मि रथी महाभारत पर आधारित है जिसमें महादानी वीर कर्ण के आदर्श एवं उदात्त चरित्र को उपन्यस्त किया गया है। कुरुक्षेत्र और रश्मि रथी में महाकाव्योचित इतिवृत्त के अभाव के होते हुए भी कवि की सहज भाव प्रवणता ने उनमें शिथिलता नहीं आने दी है। उर्वशी ऋग्वेद के पुरुरवा और उर्वशी के संवाद पर आधृत है जिसमें कवि ने प्रेम, काम और सौन्दर्य की शाश्वत समस्याओं को मार्मिक रूप में चित्रित किया है। नारी जीवन को उसके व्यापक परिपार्श्व में देखना इस काव्य की महती विशेषता है। इसमें रोमांस की अतीव कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। नीरज के शब्दों में "कामायनी के उपरान्त बीसवीं शताब्दी की अन्यतम काव्य कृति कदाचित् उर्वशी ही है।" बलभद्र मिश्र का साकेत सन्त एक सफल महाकाव्य है। इसमें साकेत सन्त-भरत के चरित्र को अतीव उज्ज्वल एवं उदात्त रूप में अंकित किया गया है। श्यामनारायण पांडेय की दोनों रचनाएँ हल्दीघाटी तथा जौहर राजपूती इतिहास से संबद्ध हैं। हल्दीघाटी में महाराणा प्रताप के अतुल पराक्रम, शौर्य, प्रताप, साहस और बलिदान को सशक्त तथा ओजस्विनी भाषा में निबद्ध किया गया है। डा० रामकुमार व[illegible] ने महाभारत के उपेक्षित पात्र एक लव्य की गुरुभक्ति को २४ सर्गों में सफलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। नरेन्द्र शर्मा प्रणीत द्रौपदी एक सफल महाकाव्य है। लेखक ने इसमें पाँचों पांडवों को दैवी तत्त्वों के प्रतीकों के रूप में चित्रित कर इस दिशा में एक नवीन स्तुत्य प्रयोग किया है। द्रौपदी के माध्यम से कवि ने त्याग, बलिदान, श्रद्धा और शक्ति जैसे नारी जीवन के शाश्वत मूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति की है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अनेक सेनानियों—महारानी झाँसी,

तात्या टोपे, गणेशशंकर, महात्मा गाँधी तथा नेहरू को लक्ष्य रखकर महारानी झाँसी (अनेक लेखकों के द्वारा) जगदालोक, जगनायक, महामानव (गाँधी से सबद्ध) तथा मानवेन्द्र ६५ (नेहरू से सबद्ध) चरितात्मक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक साहित्य-स्रष्टाओं—बाण पर बाणाम्बरी, तुलसीदास पर तुलसीदास तथा देवार्चन और प्रेमचन्द पर युगद्रष्टा प्रेमचन्द नामक सफल प्रबन्ध काव्यो की सृष्टि हुई है।

रामावतार तरुण की प्रकाशित रचनाओं मे उनकी नवीन कृति "बाणाम्बरी" का महत्त्व पूर्ण है। इस रचना का नामकरण कदाचित् आधुनिक हिन्दी साहित्य मे प्रकाशित चिदम्बरी, ऋतवरा *तथा रूपाम्बरा काव्यों के सादृश्य पर हुआ है अथवा* बाण-भट्ट की कादम्बरी के मिथ्या सादृश्य के आधार पर इसे बाणाम्बरी कह दिया गया है।

यह एक बीस सर्गों का प्रबन्ध काव्य है जिसमे रससिद्ध वाणी के अवतार महाकवि बाण का चरित्र एक वृहत् सास्कृतिक परिपेक्ष्य में चित्रित है। श्री तरुण ने बाण की रचनाओं—हर्ष चरित कादम्बरी के अतिरिक्त आचार्य हजारी प्रसाद की "बाण भट्ट की आत्म कथा" तथा वासुदेव शरण अग्रवाल के "हर्ष चरित एक अध्ययन" की सामग्री का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने निजी कल्पना का भी सराहनीय प्रयोग किया है। बाणाम्बरी बाणभट्ट की आत्म कथा का एक पूरक ग्रंथ है जिसमे कल्पना का उपयोग करते हुए भी बडी सतर्कता के साथ इतिहास की रक्षा की गई है। इस प्रबन्ध काव्य में वर्णनात्मकता तथा कल्पना का प्राधान्य है। कला पक्ष की दृष्टि से भी यह ग्रंथ पर्याप्त सुन्दर बन पडा है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) प्रस्तुतोत्तर काल में रचित प्रबन्ध काव्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से अतीव व्यापक पट भूमि पर आधारित है। इनमे जहाँ एक ओर उर्वशी जैसे महाकाव्य का आधार ऋग्वेद है, वहाँ सेनापति कर्ण, द्रोपदी और एक लव्य जैसी रचनाओं का इतिवृत्त पौराणिक है, सिद्धार्थ और वर्द्धमान आदि धार्मिक नेताओं से सबद्ध हैं, मौर्य विजय, हल्दीघाटी, जौहर, विक्रमादित्य, महारानी झाँसी तथा तात्या टोपे जैसे महाकाव्य इतिहास पर आधृत हैं, जगनायक, जगदालोक और मानवेन्द्र आदि आधुनिक युग के महा मानवों—गाँधी और नेहरू जी के जीवन चरित्रों से सबद्ध हैं और बाणाम्बरी, देवार्चन तथा युगद्रष्टता प्रेमचन्द साहित्य स्रष्टाओं के जीवन वृत्तों को आधार बनाकर लिखे गये हैं। इन सब महाकाव्यों का भारतीय सस्कृति के अभ्युत्थान और राष्ट्रीयता के जागरण में एक मूल्यवान योगदान है। इन काव्यों के कथावस्तु के चयन और उसमे युगानुरूप नवीनता का समावेश कर जहाँ इनके मनीषी प्रणेताओं ने अपनी मौलिक प्रतिभा को अक्षुण्ण बनाये रखा है वहाँ उन्होंने इनके *अप्रस्तुत शिल्प विधान मे भी अपनी असाधारण रचना-क्षमता का परिचय दिया है।*

(ख) चरित्रांकन में अभिनन्दनीय मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इनमें जहाँ राम और कृष्ण जैसे देव पात्रों को वैज्ञानिक युग की अनुरूपता में

आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है वहाँ उपेक्षित पात्रों—भरत, नकुल, कर्ण, उर्मिला और एकलव्य की चारित्रिक महत्ता को भी यथेष्ठ आलोक में लाया गया है। इसके अतिरिक्त अभी तक हेय समझे जाने वाले रावण जैसे पात्रों के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को अतीव सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया है। इन काव्यों में नारी जीवन की नानाविध समस्याओं को सहृदयता से उपन्यस्त कर उसके आदर्श रूप की प्रतिष्ठा की स्तुत्य की चेष्टा गई है।

(ग) प्रस्तुत काव्य धारा शिल्प विधान की दृष्टि से भी अभिनन्दनीय है। इन काव्यों की भाषा-शैली सरल, सुबोध तथा भावानुकूल है। नई कविता के समान इनमें कहीं भी अस्पष्ट प्रतीकों, बिम्बों और जटिल अप्रस्तुत विधानों का दुराग्रह नहीं है। इनमें वास्तविक काव्य कला की मनोरम झांकी मिलती है तथा इनमें रस परिपाक का पूर्ण ध्यान रखा गया है। इनमें काम कुंठाओं की अनावश्यक पहेलियाँ नहीं बुझाई गई हैं। इनके प्रणेताओं ने भारतीय काव्य शास्त्रीय प्रबन्ध काव्यों की परम्पराओं को ध्यान मे रखते हुए युगानुकूल महाकाव्यों के स्वरूप विधान का स्तुत्य प्रयास किया है।

(घ) इन प्रबन्ध काव्यों का लक्ष्य भी परम महनीय है। इनमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना को उनके व्यापक, यथार्थ, स्वरूप और कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उस पर कहीं भी फ्रायड, सार्त्र और कामू की वासनात्मक रुग्णता, क्षणवाद और अनास्था आदि की अवाछनीय भावनाओं को प्रेतछाया नहीं मंडराती है। प्रो॰ देवी प्रसाद गुप्त के शब्दों में "इन काव्यों में देश प्रेम, स्वजातीय गौरव, राष्ट्रीय सम्मान, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा समसामयिक जीवनादर्शों के अनुरूप युगीन प्रश्नों के समाधान की विराट चेष्टा की गई है। समष्टि रूप में मानवतावादी जीवन दर्शन, सांस्कृतिक निष्ठायें, उत्थान मूलक जीवनादर्श, नारी चेतना के मुखरित स्वर, जन-जागृति का उद्‌घोष, रचना शिल्प की नवीनता तथा चरित्रों की युगीन सन्दर्भों में अवतारणा—प्रसादोत्तर काल के महाकाव्यों की ऐसी विशेषतायें हैं, जिनके आधार पर इन काव्य ग्रंथों को माँ भारती के भंडार की महत्वपूर्ण उपलब्धि निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

क्या आधुनिक कविता में गत्यवरोध है ?—अब तक हमने आधुनिक हिन्दी साहित्य की कविता की विकासात्मक गतिविधियों का पर्यवेक्षण किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की कविता राष्ट्रीय जागरण से लेकर अब तक के प्रयोगवादी युग तक अनेक पड़ावों पर गुजरती हुई पहुँची है। उसमें अनेक परिवर्तन आए। उसमें छायावादी युग तक भाव और कला क्षेत्र में उत्तरोत्तर विकास एवं उत्कर्ष आया। उत्तर-छायावादी प्रगतिवाद कविता भी लोकसंग्रह की भावना से संवलित होकर अपनी गरिमा को बनाये रही। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर आदि सजग मनीषी कलाकारों तथा उनकी अमर कलाकृतियों पर गर्व है जो कि सर्वथा उचित है, किन्तु आधुनिक हिन्दी॰

साहित्य की कविता के विकास की कहानी को जानने वालों से यह बात छिपी नहीं है कि उत्तर छायावादी काल में हिन्दी कविता में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का समावेश भी होने लग गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक कविता क्षेत्र में जिस किसी रूप में यत्किंचित उदात्तता फिर भी बनी रही, किन्तु इसके अनन्तर कविता अपने उच्चासन से उत्तर कर बालकों के खेल-खिलवाड में रम गई। नवीन विलक्षण प्रयोगों के नाम पर उसमें असामाजिक, स्वार्थप्रेरित, अहन्निष्ठ, घोर रुग्ण व्यक्तिवाद, दमित वासनाओं और कुंठाओं, चींटियों और चप्पलों जैसे विषयों को ज्यों के त्यों रूप में निरुद्देश्य अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति को कविता में समाविष्ट कर देने को अत्यधिक प्रश्रय दिया जाने लगा है। आज की तथाकथित नयी कविता में विघटन, ध्वंसात्मकता, अति बौद्धिकता, रुचि-विहीनता आदि की दूषित प्रवृत्तियों को उनके उग्र रूप में देखा जा सकता है। आज की नयी कविता में युग की उदात्त भावनाओं और जीवन के कलात्मक अंकन का सर्वथा अभाव है। लगता है जैसे कि आज की प्रयोगवादी या नयी कविता पथभ्रष्ट होकर मणि-मुक्ताओं के स्थान पर धूलि भरे, घुन खाये घोंघों को समेटने में रत है। निश्चित रूप से कविता की विद्रूप अथच दयनीय दशा हिन्दी-जगत् के लिए महती विचारणीय समस्या है। (शिवदान सिंह)

लेकिन कविता की उक्त दशा को देखकर उसमें गत्यवरोध कहना भ्रामक होगा, क्योंकि कविता कोई किसी एक स्थान पर आकर रुक नहीं गई है। कविता मे मानव-जीवन के समान परिवर्तन, विकास एवं ह्रास की स्थितियाँ आती रहती हैं। अधिक से अधिक इस प्रसंग में हम कह सकते हैं कि आज की कविता ह्रासोन्मुखी है और उसमें मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया जोरों पर है। अवरोध एक जड़ता है जो कि नितान्त निन्दनीय है। विकास और ह्रास चिरस्थायी नहीं होते। आज कविता में जो ह्रासोन्मुखता है वह निःसन्देह क्षणस्थायी है। आज राष्ट्रीय जीवन में मूल्यों के विघटन की जो प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है वह कविता में मूल्यों के विघटन के लिए उत्तरदायी है, किन्तु यह निश्चय है कि राष्ट्र के जीवन में विघटन की यह प्रक्रिया जल्दी ही समाप्त हो जाएगी। शिवदानसिंह चौहान इन ह्रास के कारणों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"विश्व-मंच पर पूँजीवाद के पतन और समाजवाद के उत्थान का यह संक्रांति-युग इस समय कला निर्माण के लिए अनुकूल नहीं सिद्ध हो रहा, लेकिन विश्व-शान्ति की कोई स्थाई व्यवस्था हो गई और तीसरे महायुद्ध की सर्वनाशी विभीषिका से मनुष्य-जाति बच गई तो निश्चय ही हमारे सांस्कृतिक जीवन का अगला उत्थान राष्ट्रनिर्माण का नया आशीर्वाद लेकर पैदा होगा और *भारतीय साहित्य को नई उदात्त प्रेरणाओं, नई कल्पनाओं और भावनाओं से* अनुप्राणित कर देगा।" उस समय हिन्दी कवि को समाज के साथ तादात्म्य स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। उसकी प्रतिभा युग निर्माणकारी तत्त्वों को सजोकर युग-जीवन के सत्यों के उद्घाटन में अपने आपको कृतकार्य समझेगी। आशा है कि साहित्य को प्रसाद जैसे युगान्तर उपस्थित करने वाले, बहुमुखी, प्रतिभासम्पन्न,

उदारचेता कलाकार मिलेंगे। हिन्दी कविता का भविष्य आशामय है। क्षणस्थायी ह्रासोन्मुखता का अन्त अवश्यंभावी है। हिन्दी कविता का आने वाला रूप क्या और कैसा होगा, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना खतरे से खाली नहीं होगा, किन्तु 'इतना अवश्य दिखाई देता है कि नये उत्थान का साहित्य व्यक्तिवाद की घोर अनास्था, अतिबुद्धिवाद और समाज-द्रोही अहमन्यता का एकांगी, व्यक्तित्व को खंडित और कुंठित करने वाला साहित्य न होगा, बल्कि ज्ञान-विज्ञान की सचेतना को आत्मसात् करके मनुष्य के सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन की मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य होगा जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व का उदात्त और नैतिक, अखण्डित और मुक्त विकास प्रेरणा ग्रहण कर सकेगा। लेखक केवल अपने स्वधर्मी लोगों के लिए नहीं लिखेगा, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र और प्रकारान्तर से सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए लिखेगा और अपनी रचना को सबके लिए प्रेषणीय बनाने का उत्साह लेकर आगे बढ़ेगा—अर्थात् स्वयं अपने रचनाशाली व्यक्तित्व की गरिमा और दायित्व को पहचानेगा।"—(शिवदानसिंह चौहान)। उस समय की कविता मनुष्य की वाणी में बोलने वाले विकृत मानव द्वारा निर्मित सरीसृपों का जगत् न होकर इस धरती के सचेत मानव द्वारा निर्मित मानव के हर्ष-उल्लास, रुदन और हास से सम्पन्न दुनिया होगी। आशा है कि आधुनिक कविता प्रयोगवाद के दलदल से निकल कर जीवन-निर्माण के स्वस्थ धरातल पर शीघ्र अपने पाँव टिकायेगी और उसका लेखक निरर्थक अन्धानुकरण के मोह जाल से निकलकर निजी जीवन्त अनुभूतियों के अंकन को प्रश्रय देगा। वह अति घोर वैयक्तिकता, अहवादिता, कामुकता, स्वार्थपरता और अनैतिकता की अवांछनीय प्रवृत्तियों को छोड़कर उदार अखंड एवं व्यापक मानवता के लोक-मंगल विषयक उद्घोष से हिन्दी भारती को सप्राण उज्ज्वल एवं पुनीत बनायेगा। उसे यह याद रखना होगा कि मानवता सब आदर्शों से ऊपर है।

आज समूचा राष्ट्र संक्रान्ति के नाना दौरों से गुजर रहा है। आज प्रत्येक भारतवासी के सामने आदर्श मानव-मूल्यों तथा समृद्ध एवं उन्नत भारत के सृजन की समस्या है। इस दशा में साहित्यकार का सहयोग सर्वाधिक सुन्दर और फल प्रद सिद्ध हो सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि आज का तथाकथित नया कवि नवीनता के अन्धा-धुन्ध मोह में केवल निजी विज्ञापनार्थ बरसाती मेंढकों के समान नित्य नवीन काव्य सम्प्रदायों की सृष्टि में व्यस्त है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि उसका नया काव्य जन मानस का प्रतिनिधित्व न करके अभिजात्य वर्ग के हितों का समर्थन करता है। उसकी रचनायें काव्योचित सहज संवेदना से शून्य तथा कृत्रिम बनती जा रही हैं। ये रचनायें काव्य के महनीय आदर्श से दूर होने के कारण नितान्त हल्की और शिल्प प्रधान की दृष्टि से प्रायः भौंडी बनती जा रही हैं। आज वे नवीन काव्य सम्प्रदायों के प्रतिपल नवाग्रही पुरोधाओं को यह स्मरण रखना होगा कि "कविता सम्पूर्ण चेतना की अखंड अभिव्यक्ति है, वह खंडित व्यक्तित्व की बौद्धिक [illegible] मात्र नहीं है।" असंबद्ध शब्द जाल और व्यक्तिवैचित्र्यवाद की कारीगरी से पाठक को [illegible]

और वास्तविक कवि कर्म में बृहदन्तर है। कविधर्म कोरे फैशन से भिन्न होता है। नया भाव बोध या नयी अभिव्यक्ति के चिल्लाने मात्र से काव्य का महत्व नहीं बढ़ जाता। किसी काव्य की क्षमता उसमें चित्रित अनुभूति गहनता और शाश्वत मानवीय मूल्यों के प्रति सजगता में निहित है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए काव्य में हृदय के सहज उद्रेक और उसके साथ निश्छल अभिव्यक्ति का योग अनिवार्य है। 'एजरा पाउंड, रिम्बों और एमीलावर' के भारतीय भक्त श्रद्धालु भक्तों को ग्राह्य और अग्राह्य के सम्बन्ध में विवेक बुद्धि से काम लेकर निजी अनुभूतियों के सहारे जीवित रहने की कला सीखनी होगी। उन्हें अनुभूतियों के उस आयाम पर पहुँचना होगा जहाँ काव्य स्वयं प्रस्फुटित हो जाता है। कहीं ऐसा न हो कि "कौवा चला हंस की चाल अपनी भी भूल गया" की उक्ति नये कवि पर चरितार्थ होने लगे। केवल नवीनता ही काव्योत्कर्ष की विधायिनी शक्ति नहीं हुआ करती है। कालिदास के शब्दों में—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वम्,
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
> मूढ़: पर प्रत्ययनेय बुद्धि। मा० अग्निमित्रम् १।२

पुरानी होने से ही न तो सब वस्तुएँ अच्छी होती हैं और न कोई वस्तु नई के कारण हेय एवं तुच्छ होती है। विवेकशील मनुष्य गुणों और दोषों की परीक्षा कर श्रेष्ठतर वस्तु को अपनाते हैं। मूढ़ जन दूसरों के बताने पर ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय किया करते हैं।

हिन्दी गद्य साहित्य का विकास

गद्य की प्रचुरता आधुनिक हिन्दी-साहित्य की महत्ती विशेषता है और कदाचित् इसीलिए हिन्दी का आधुनिक काल गद्य-युग कहलाता है। आधुनिक युग में जिस मात्रा में गद्य में साहित्य निर्मित हुआ है उतना पद्य में नहीं। सर्वसाधारण के लिए लिखे गये साहित्य का जन-साधारण के विचार-विनिमय की भाषा—गद्य में लिखा जाना स्वाभाविक भी था। आज का युग विज्ञान और बुद्धि का है। वैज्ञानिक आविष्कारों—प्रेस आदि के बाहुल्य के कारण गद्य के माध्यम से जन-सामान्य तक विचारों का पहुँचना सुकर हो गया है। आज कल्पना और भावुकता का स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया है। परिणामतः गद्य का अधिकाधिक प्रचार हुआ।

आधुनिक युग से पूर्व गद्य लिखने की परिपाटी का विशेष प्रचलन नहीं था, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस युग से पूर्व हमारे देश में गद्य का अभाव था। सच तो यह है कि गद्य का अपेक्षित प्रचार तब सम्भव है, जबकि युग समृद्ध और सामंजस्यपूर्ण हो और उसमें पूरा-पूरा सांस्कृतिक जागरण तथा अभ्युत्थान हो चुका हो। भारतीय इतिहास के मध्य युग में हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की

एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त जिस समय आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपभ्रंशों से विकसित हो रही थीं उस समय साहित्य निर्माण की परम्परा पद्य में प्रचलित थी। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में गद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पद्य के बहुत बाद में, जब राष्ट्रीय जीवन में सांस्कृतिक एकता की भावना का उदय हुआ सम्पन्न हो सका।

गद्य साहित्य के बाद में आविर्भूत होने के अनेक कारण हैं। यह एक बड़े आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य जीवन भर दैनिक कार्य-कलाप में गद्य का व्यवहार करता है किन्तु विश्व साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रादुर्भाव पहले होता है। इसका कारण कदाचित् मानव के हृदय अथवा भावनात्मक पक्ष का प्राबल्य है। इसके अतिरिक्त मानव में सौंदर्य-प्रेम की प्रवृत्ति सनातन एवं चिरन्तन है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति जितनी पद्य में संभव है उतनी गद्य में नहीं। मानव की संगीत के प्रति नैसर्गिक रुचि ने भी पद्य के प्रोत्साहन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रारम्भ में मानव के भाव सरल और तरल होते हैं, उनमें किसी प्रकार की कोई जटिलता नहीं होती। परिणामतः उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम पद्य आसानी से हो सकता है। सभ्यता और विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ मानव के विचारों में गहनता, जटिलता और नाना प्रकार की समस्याओं का समावेश स्वतः होने लगता है। इस प्रकार के नाना समस्या-संकुल जटिल विचारधारा के वहन करने की क्षमता पद्य में न होकर गद्य में ही सम्भव है। गद्य के बाद के आविर्भाव के लिए "विद्या कंठ और पैसा गंठ" वाली चिर प्रचलित कहावत भी काफी उत्तरदायी है। मुद्रण कला के अभाव में वक्तव्य वस्तु को स्मृति पटल पर सदा बनाये रखने में पद्य जितना सहायक हो सकता है, उतना गद्य नहीं।

आधुनिक युग के सुव्यवस्थित गद्य से पूर्व हिन्दी की विभिन्न भाषाओं में—राजस्थानी तथा ब्रज में गद्य के जो टूटे-फूटे उदाहरण मिलते हैं, उनका उल्लेख करते हुए हम खड़ी बोली गद्य के विकास की परम्परा का उल्लेख करेंगे। राजस्थानी एवं ब्रजभाषा गद्य का ऐतिहासिक मूल्य भले ही हो, किन्तु उसका साहित्यिक मूल्य नगण्य है।

हिन्दी-साहित्य में गद्य के द्रुतगति से आविर्भूत एवं विकसित न होने के भी अनेक कारण हैं। हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश में उस समय साहित्यिक भाषा का कोई सर्व स्वीकृत रूप नहीं था। भिन्न-भिन्न प्रदेशों से भिन्न-भिन्न साहित्यिक भाषाओं—राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, ब्रज, अवधी आदि का प्रयोग हो रहा था। यदि उस समय साहित्य क्षेत्र की कोई एक सर्व-सम्मत भाषा होती तो सम्भव था कि गद्य का भी कोई निश्चित रूप निर्धारित हो सकता। तत्कालीन हिन्दी साहित्य की धार्मिक प्रवृत्ति और शृंगार-प्रियता भी गद्य के विलम्ब से आविर्भूत होने के कारण हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गद्य के विकास के लिये जिन परिस्थितियों की अपेक्षा होती है वे हिन्दी के प्रथम तीन कालों में नहीं थीं। संयोगवश हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल

में गद्य के आविर्भाव और उसके क्षिप्र प्रचार के लिये जिन बातों की आवश्यकता थी वे सब विद्यमान थी।

राजस्थानी गद्य—सन् ९४५ से १३४५ तक साहित्यिक प्रगतिशीलता का केन्द्र राजस्थान था। उस समय राजस्थानी भाषा के दोनो रूप डिंगल और पिंगल अपभ्रंशो के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। राजस्थानी लेखको ने, विशेषकर चारण भाटों ने पद्य के साथ-साथ धर्म, नीति, इतिहास, छन्द-शास्त्र, शालिहोत्र और दृष्टि विज्ञान सम्बन्धी विषयो पर गद्य और पद्य दोनो पर रचनाएँ की। पिंगल भाषा से नैतिक पौराणिक और ऐतिहासिक विषयो पर कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। कुछ लोकप्रिय कहानियाँ भी राजस्थानी गद्य मे लिखी गई। जैन साधुओ ने धर्म शास्त्र, वैद्यक और काम-शास्त्र पर राजस्थानी भाषा में कुछ ग्रन्थ लिखे जो कि आज भी उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी के कतिपय विद्वानो ने मोहन लाल द्वारा प्रकाशित करवाये गये पट्टो-परवानो को पृथ्वीराज का समकालीन मानकर उन्हें गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण माना है, किन्तु भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से उन्हें बाद का मानना ही समीचीन है। हाँ, इतना अवश्य है कि हिन्दी के प्राचीन गद्य के प्राचीनतम उदाहरण वस्तुत इस काल की राजस्थानी गद्य के हैं।

ब्रज भाषा गद्य—सन् १३४५ के उपरांत ब्रजभाषा के साहित्य क्षेत्र मे प्रतिष्ठित हो जाने पर उसमे अनेक गद्य रचनाएँ निर्मित हुई। भाषा-शैली और विषय वस्तु की दृष्टि से इन रचनाओ का कोई विशेष साहित्यिक महत्व नहीं है। लगभग ५०० सौ वर्षों तक ब्रजभाषा उत्तरी भारत के साहित्य की भाषा बनी रही, इसमे असख्य पद्य रचनाएँ प्रणीत हुई किन्तु इसमे गद्य मे रचित पुस्तको की सख्या एक-दो दर्जन से अधिक नही है, अत ब्रज भाषा मे गद्य के विविध अगो का यथेष्ट विकास बन पड़ा होगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता।

सन् १३५० के लगभग किसी राजस्थानी लेखक ने हठयोग और ब्रह्म ज्ञान से सम्बन्धित तीन गोरखपंथी पुस्तकें लिखी—गोरख गणेश गोष्ठी, महादेव-गोरख सवाद और गोरखनाथ जी की सत्रह कला। सोलहवीं शती के उत्तरार्ध मे वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने 'शृंगार रस मडन' लिखा। सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में गोस्वामी गोकुलनाथ या उनके किसी शिष्य ने, 'दो सौ बावन-वैष्णवों की वार्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' नामक पुस्तकें लिखी जिनका ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक मूल्य अक्षुण्ण है। इन ग्रथो की भाषा अपेक्षाकृत कुछ व्यवस्थित और परिष्कृत है। इसी समय नाभादास ने अष्टयाम नाम का एक ग्रन्थ लिखा जिसमे प्रभु राम की दिनचर्या का वर्णन है। इसी समय की एक पुस्तक 'ज्ञान-मजरी' है जिसके लेखक का पूरा ज्ञान नही है। हाँ, इतना तो स्पष्ट है कि वह वैष्णव मतानुयायी था। इसी के समकालीन सेवक कवि की 'वाग्विलास' नामक पुस्तक म जो कि नायिका-भेद से सम्बद्ध है, यत्र-तत्र गद्य का प्रयोग किया गया है। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्द-

दास के तीन गद्य ग्रंथों—हितोपदेश, नासिकेतु-पुराण-भाषा और विज्ञानार्थ प्रवेशिका का पता चला है, किन्तु वे अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हितहरिवंश की पत्री भी तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य का नमूना है। जैन मतानुयायी कवि बनारसीदास ने इस काल में अनेक गद्य रचनाएँ लिखीं। इसी समय में लिखी हुई 'भुवन दीपिका' नाम की एक पुस्तक मिली है जिसका लेखक अज्ञात है। सन् १६२३ के आस-पास ओरछा-नरेश जसवन्तसिंह के दरबारी बैकुण्ठमणि ने 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' नामक दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। १६२३ में विष्णुपुरी ने भक्ति रत्नावली का गद्यानुवाद किया। १८वीं शती के आरम्भ में किसी अज्ञात लेखक ने *नासिकेतोपाख्यान* लिखा और सूरति मिश्र ने बैताल-पच्चीसी लिखी। इन दोनों ग्रन्थों को आगे चलकर खड़ी बोली गद्य में रूपांतरित किया गया। अठारहवीं शती के अन्त १७६५ में जयपुर-नरेश प्रतापसिंह की आज्ञा से हीरालाल ने 'आइने अकबरी की भाषा वचनिका' नाम की एक बड़ी पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त १८वीं, १६वीं शताब्दी में कुछ और पुस्तकें भी लिखी गई जिनमें संस्कृत की अपभूति शैली का व्यवहार किया गया है। केशव की कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचन्द्रिका, बिहारी की बिहारी सतसई तथा शृंगार शतक आदि ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं पर उनका गद्य व्यावहारिक नहीं। टीकाकार मूल पाठ को स्पष्ट नहीं कर पाए हैं बल्कि उसे और दुरूह और अबोध बना दिया है। इन टीकाओं का विषय-विवेचन और शैली की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। इन टीका ग्रन्थों में ब्रजभाषा गद्य के पतन के चिन्ह स्पष्ट दीखने लगते हैं। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में ब्रजभाषा गद्य का जो रूप दिखाई दिया था यदि उसका उत्तरोत्तर विकास होता तो निश्चय था कि ब्रजभाषा गद्य में एक आदर्श शैली का जन्म हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ और कदाचित् इसीलिए खड़ी बोली गद्य का सूत्रपात हुआ। अस्तु, खड़ी बोली के गद्य में व्यवहृत होने के और भी कई ऐतिहासिक कारण हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा।

खड़ी बोली गद्य—खड़ी बोली दिल्ली और मेरठ के आस-पास के जन-साधारण की भाषा है। दिल्ली पर मुसलमानों के शासन के स्थापित हो जाने पर फारसी भाषा राजकार्य में व्यवहृत होती रही। मुसलमानी शासन काल में हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या मुसलमानी राजकार्य में नौकरी करती थी। इस सम्पर्क का शुभ परिणाम यह निकला कि फारसी के राज्य भाषा होने पर दोनों जातियों के पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा खड़ी बोली बनी रही। १४वीं शती में गुजरात और दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन स्थापित हुआ। तत्पश्चात् बंगाल और बिहार में भी मुस्लिम सल्तनतें कायम हुईं। इस प्रकार उत्तरी भारत के मुस्लिम शासकों के साथ यहाँ का कर्मचारी वर्ग और व्यापारी वर्ग भी उन नये प्रदेशों में पहुँचे। इसी प्रकार खड़ी बोली के बोलने वालों के भारत-भू के विस्तृत भाग पर फैल जाने पर खड़ी

बोली का प्रचार हुआ और वह धीरे धीरे अन्तप्रान्तिय व्यवहार की भाषा बन गई। गद्य-क्षेत्र में व्रजभाषा को अपदस्थ कर खड़ी बोली के उस क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने का एक अन्य भी ऐतिहासिक कारण है। अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ शासक वर्ग को इस देश की किसी ऐसी भाषा के सीखने की आवश्यकता महसूस हुई जिसे देश के बहुत से निवासी बोलते हों। सौभाग्यवश हिन्दी खड़ी बोली देश की एक ऐसी भाषा थी जो कि शासक वर्ग एवं ईसाई धर्म प्रचारकों की आवश्यकता पूर्ति के लिए समर्थ थी। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी खड़ी बोली गद्य साहित्य की भाषा न होते हुए आगामी साहित्य का माध्यम बन सकी। 'खड़ी बोली किसी आंतरिक श्रेष्ठता और सहज गुण सम्पन्नता के कारण आधुनिक युग में व्रजभाषा को पीछे छोड़कर गद्य और पद्य की भाषा नहीं बनी और न इस कारण ही कि जब हिन्दी में गद्य साहित्य का विकास हुआ उस समय व्रजभाषा में गद्य साहित्य की परम्परा नगण्य थी। यह नगण्यता तो खड़ी बोली में थी बल्कि व्रजभाषा के गद्य से कुछ अधिक ही। अतः यही आगे चलकर खड़ी बोली हिन्दी गद्य साहित्य के विकास का माध्यम बनी तो इसके कारण ऐतिहासिक थे जिनके सयोग से ऐसा होना ही सम्भव था।"

खड़ी बोली गद्य की सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचना अकबर के दरबारी कवि गंग की 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' है। इसमें व्रज मिश्रित खड़ी बोली का व्यवहार किया गया है। इस रचना का समय सन् १५७० है। रामप्रसाद निरंजनी ने "भाषा योग वाशिष्ठ" नाम की एक रचना लिखी जिसकी भाषा काफी परिमार्जित है। निरजनी जी पटियाला दरबार में रहते थे और महारानी को कथा बाँच कर सुनाया करते थे। सन् १७६१ में प० दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत जैन पद्मपुराण का भाषानुवाद किया जो कि काफी त्रुटिपूर्ण है। दौलतराम बरमा मध्यप्रदेश के रहने वाले थे, अतः उनकी भाषा में प्रान्तीयता का पुट भी यत्र तत्र देखा जा सकता है। १८३०-४० के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक की पुस्तक 'मंडोवर का वर्णन" उपलब्ध होती है जिससे उर्दू फारसी तथा राजस्थानी के शब्दों की बहुलता है। निरजनी को छोड़कर इन दोनों लेखकों की भाषा अव्यवस्थित है जिससे यह स्पष्ट है *कि उस समय तक खड़ी बोली गद्य की किसी निश्चित शैली का निर्माण नहीं हो* पाया था।

लेखक चतुष्टय—इसके उपरान्त खड़ी बोली गद्य के विकास की परम्परा में मुन्शी सदासुखलाल नियाज, इंशा अल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र का नाम आता है। सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी उर्दू अध्यापक जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी उर्दू में गद्य पुस्तकों को तैयार करने की व्यवस्था की। लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों फोर्ट विलियम कालेज में काम करते थे। इन दोनों ने अंग्रेजों के आदेश से हिन्दी गद्य रचनाएँ प्रस्तुत की। सदासुखलाल नियाज और इंशा अल्ला खाँ ने स्वतन्त्र रूप से खड़ी बोली के कतिपय

गद्य ग्रन्थों का निर्माण किया।

सदासुखलाल नियाज (१७४६—१८२४) दिल्ली के निवासी थे। ये कम्पनी की नौकरी किया करते थे। चुनार, मिर्जापुर में ये एक अच्छे पद पर नियुक्त थे। ये उर्दू और फारसी में शायरी भी किया करते थे। इन्होंने इन भाषाओं में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़ी और प्रयाग में जाकर भगवद्भजन करने लगे। विष्णुपुराण से उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक का निर्माण किया और हिन्दी में श्रीमद्भागवत का सुखसागर के नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। इसमें निरंजनी के योगवाशिष्ठ के समान भाषा का परिमार्जित रूप है, केवल यत्र तत्र पंडिताऊ प्रयोग मिलते हैं।

मुंशी जी ने न तो किसी अंग्रेज अधिकारी की प्रेरणा से और न ही किसी दिये हुए नमूने पर अपने ग्रंथ लिखे। उन्होंने हिन्दुओं की बोल चाल की शिष्ट भाषा का प्रयोग किया। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"अपने समय में उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूर्वी प्रान्तों में भी प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया।"

इंशा अल्ला खाँ (१७६२—१८७५) भी उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। इन्होंने फोर्ट विलियम कालेज के बाहर रहकर स्वतन्त्र रूप से हिन्दी गद्य की सेवा की। इन्होंने उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी की रचना की।

खाँ साहब मुर्शिदाबाद में उत्पन्न हुए। बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मरने के उपरान्त अन्धेरगर्दी मच जाने पर आप दिल्ली में शाह आलम द्वितीय के दरबार में रहने लगे। यहाँ की स्थिति के बिगड़ जाने पर आपको लखनऊ के नवाब सआदतअली खाँ के दरबार में रहना पड़ा। यहाँ आपकी काफी प्रतिष्ठा हुई।

रानी केतकी की कहानी हिन्दी गद्य की पहली मौलिक रचना है। शिवदानसिंह चौहान इनकी भाषा शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"इंशा की भाषा फड़कती हुई, मुहावरेदार और विनोदपूर्ण है, उसमें सानुप्रास विराम की छटा भी खूब देखने में आती है, जैसी बाद में आगा हश्र काश्मीरी के नाटकों में मिलती है। इंशा ने अरबी, फारसी, अवधी, ब्रज और संस्कृत सभी प्रकार की भाषाओं के शब्दों से दामन बचाकर ठेठ खड़ी बोली में अपनी कहानी को लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी फारसी ढंग के वाक्य विन्यास का प्रभाव है जिसमें हिन्दी के कर्त्ता-कर्म क्रिया के क्रम में उलट फेर हो जाता है, इंशा अल्ला की गद्य शैली में यह लक्षित है। उनकी भाषा में ऐसे और भी अनेक दोष या बाह्य प्रभाव दिखाये जा सकते हैं लेकिन इससे उनकी रचना का महत्त्व कम नहीं होता। गद्य में मुहावरों का ऐसा प्रांजल प्रयोग उनके पूर्ववर्ती किसी लेखक ने नहीं किया था और न किसी ने हिन्दी गद्य में इस कोटि की मौलिक रचना की थी।" लेखक चतुष्टय में खाँ साहब की भाषा सबसे चुटीली और मुहावरेदार है।

लल्लूलाल (१७६३—१८२५) आगरा के निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। ये संस्कृत के विशेष जानकार नहीं थे। ये भाषा कवि भी थे और उर्दू भी जानते थे। फोर्ट विलियम कालेज मे नियुक्ति के पश्चात् इन्होने भागवत के दशम् स्कन्ध की कथा को लेकर प्रेमसागर नाम की पुस्तक की रचना की जो भागवत के दशम् स्कन्ध का अनुवाद है। इस पर ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव है। इनकी ठेठ हिन्दी मे उर्दू के शब्द भी आ गये हैं। इनकी भाषा कृष्णोपासक व्यासो की सी है जिसमें ब्रजभाषा की गहरी रंगत है। शुक्ल के शब्दों मे "साराश यह है कि लल्लूलाल जी का काव्याभ्यास गद्य भक्तों की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य व्यवहार के अनुकूल है, न सम्बद्ध विचार-धारा के योग्य।" और वस्तुत कहीं-कहीं तो इनकी भाषा बहुत ही बोझिल बन गई। एक अंग्रेज ने, जिसे प्रेमसागर पढकर हिन्दी पढने का अवसर मिला था इस पुस्तक के बारे मे लिखा था—ऐसी थका देने वाली भाषा उसने कहीं नही देखी। इस ग्रन्थ में उनकी भाषा अनियन्त्रित तथा अव्यवस्थित है। तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग है। वाक्य विन्यास में भी क्रमबद्धता नहीं।"

इसके अतिरिक्त इन्होने बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, शकुन्तला नाटक, माधव विलास, रामविलास और हितोपदेश का राजनीति के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। इन ग्रन्थों मे इन्होंने अपेक्षाकृत हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है। बिहारी सतसई पर इन्होने लालचन्द्रिका नाम की टीका लिखी। इनका अपना एक प्रेस था जिसका नाम संस्कृत प्रेस था।

सदल मिश्र—श्री लल्लूलाल के समान फोर्ट विलियम कालेज में काम किया करते थे। ये बिहार के निवासी थे। इन्होंने चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान ग्रंथ खडी बोली में लिखा। इनकी भाषा लल्लूलाल की अपेक्षा अधिक साफ सुथरी और व्यवहारोपयोगी है पर इनकी भाषा में भी पूर्वी बोली के शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग है। इन चारो लेखको मे आधुनिक गद्य का आभास सदासुखलाल और सदल मिश्र में मिलता है। इनमे सदासुखलाल की भाषा अधिक साधु और महत्त्व की है। गद्य के प्रवर्त्तकों मे इनका विशेष स्थान है। खाँ साहब मे चुलबुलापन और फारसी का प्रभाव है। लल्लूलाल मे पडिताऊपन और सदल मिश्र में पूर्वीपन है, अत: बाद के लेखकों ने इनका अनुकरण नहीं किया।

सन् १८०३ से लेकर भारतीय प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम तक गद्य-साहित्य प्राय: उपेक्षित रहा। यो तो इस काल में कुछ छापेखानो की स्थापना हुई, कुछ पत्र भी प्रकाशित हुए, धर्म और शिक्षा-सम्बन्धी आन्दोलन चले, किन्तु गद्य-साहित्य की अखड परम्परा भारतेन्दु से ही आरम्भ हुई।

ईसाई सहयोग—अब तक हिन्दी-गद्य का जो प्रचार और उन्नति हुई उसका सर्वाधिक लाभ इन ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उठाया। कुछ लोगों ने अंग्रेजी शासन तथा ईसाइयों को आधुनिक खडी बोली गद्य का जनक माना है जो कि नितान्त भ्रामक है। इनका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था, हिन्दी-गद्य की उन्नति करना नहीं

था। वैसे तो १५ वीं शताब्दी से इन लोगों का प्रवेश भारत में हो गया था, किन्तु १८वीं शताब्दी तक ये अपना धर्म प्रचार न कर सके क्योंकि हमारा आदर्श इनसे सर्वथा भिन्न था और साथ-साथ कम्पनी की नीति भी धर्म मे हस्तक्षेप करने की नहीं थी। १८१३ मे विलफोर्स एक्ट के पास होने से इन्हें अपने धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता मिल गई। तब से ईसाइयों ने भारत के बड़े बड़े नगरो मे अपने-अपने अड्डे जमाये। विलियम केरे ने जो १७६३ मे हिन्दुस्तान आये बगला में बाइबिल का अनुवाद किया। इससे पहले बाइबिल का हिन्दी मे अनुवाद हो ही चुका था। केरे ने १८०१ में नये धर्म के नियम के नाम से इंजील का हिन्दी मे अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद ईसाइयो की पुस्तकें और पैम्फलेट देश की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में प्रकाशित होते रहे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिए इन दिनो अनेक स्कूल खुलने लगे थे। ईसाई पादरियों ने भी अपने छोटे छोटे मिशन स्कूल खोलने शुरू कर दिये। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तको की माँग को पूरा करने के लिए इन्होंने सिरामपुर तथा आगरा आदि स्थानो पर स्कूल बुक सोसाइटीज कायम की। आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दराबाद, बनारस, फर्रुखाबाद आदि स्थानों पर छापेखाने खोले।

ईसाई लोग बिना दामो के पुस्तकें तथा पैम्फलेट जनता मे वितरित किया करते थे। अपनी गद्य पुस्तको मे ये लोग हिन्दू धर्म को हीन, पुराणो और कुरान को तुच्छ बतला कर अपने धर्म को श्रेष्ठ बतलाते थे। इन लोगों का निम्न वर्ग पर बहुत प्रभाव पड़ा और बहुत से लोगो ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया।

इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि थोड़े ही समय में इन्होंने हिन्दी भाषा को सीख लिया और उसमे लिख पढ़ भी सके, पर इनके द्वारा हिन्दी गद्य के विकास की उन्नति नहीं हुई। इनमे हिन्दी गद्य की एक झाँकी मात्र मिलती है, चित्र नहीं। उन्हें अपने धर्म प्रचार से मतलब था, हिन्दी भाषा से कोई लेना-देना नहीं था, अतः साहित्यिक सौन्दर्य और भाषा की छटा ईसाई गद्य में नहीं है। जो कुछ है वह भाषा में कृत्रिमता, शिथिल और असम्बद्ध पद व्यर्थ के शब्द तथा मुहावरों का खटकने वाला प्रयोग। उत्कृष्ट गद्य लिखने की सिद्धहस्तता इन्हें प्राप्त नहीं थी। इनमें भाषा की प्रांजलता और साहित्यिक सौष्ठव की आशा करना व्यर्थ है। इनकी भाषा और शैली का हिन्दी की साहित्यिक रचनाओ पर कोई प्रभाव नही पड़ा। इनकी रचनाओं पर लल्लूलाल और इशाअल्ला की अव्यवस्थित गद्यशैली का प्रभाव है। इन्हें न तो मूलग्रन्थों और न ही अनुवादों में सफलता मिली है। भाषा पर अधिकार न होने के कारण इनकी शैली आर्यसमाजियों जैसी तर्कपूर्ण और जोरदार नहीं है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों मे—हिन्दी मे ईसाई धर्म तथा अन्य ग्रन्थों के बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि वे पूर्व के भव्य वातावरण में लिखे जाने की अपेक्षा लन्दन के कोहरे या सेंटपीटसबर्ग के बर्फीले मैदान मे लिखे गए मालूम होते हैं।"

हाँ, ईसाई गद्य का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। उसका गद्य सीधा तथा सरल है। चलती भाषा में भावाभिव्यक्ति करना उन्हें खूब आता था। हिन्दी गद्य के

विकास का उद्देश्य न होते हुए भी इनका गद्य के विकास में प्रशंसनीय हाथ है। शिक्षा संबंधी पुस्तकें और नागरी लिपि में सुन्दर टाइप के लिए हमें ईसाई धर्म के प्रचारकों का आभार अवश्य स्वीकार करना होगा। यद्यपि यह सब कुछ साधन-मात्र *था, साध्य नहीं था।*

इस प्रकार इस दिशा में अंग्रेजों के द्वारा दिये गये सहयोग के सम्बन्ध में हमें साफ-साफ याद रखना होगा कि उन्होंने हिन्दी गद्य निर्माण में कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं दी। हाँ, जो कुछ सहयोग मिला, वह अप्रत्यक्ष रूप से डॉ० हजारीप्रसाद का विचार है—"वस्तुत: हिन्दुओं के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध कभी भी घनिष्ठ नहीं हो सका। *अंग्रेजों ने तत्कालीन साहित्य को कोई प्रोत्साहन भी नहीं दिया। किसी बड़े* पदाधिकारी अंग्रेज ने हिन्दू या मुसलमान कवि को आश्रय नहीं दिया। १८३५ में कवि घासीराम ने बड़े दुःख के साथ कहा था—

छाँडि फिरंगिनि के राज लै सुधर्म काज,
जहाँ होत पुण्य आज चलो वहि देस को।

हाँ, कम्पनी सरकार तथा शासन-व्यवस्था ने हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति के उद्धार का कार्य बड़ी चुस्ती और ईमानदारी से किया। इतिहास और पुरातत्वशोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में और नयी-पुरानी *भारतीय भाषाओं के विवेचन में यूरोपीय पंडितों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया* है। इस शोध-कार्य से हिन्दी को प्रत्यक्ष लाभ भी हुआ। इसके अतिरिक्त शिक्षा-कार्य के सम्बन्ध में विज्ञान, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान आदि नवीन विषयों पर पुस्तकें प्रस्तुत करने में अंग्रेजों तथा ईसाई मिशनरी लोगों ने सबसे पहले कदम बढ़ाया। एतदर्थ हिन्दी भाषी उनके सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

हिन्दी-उर्दू-संघर्ष—मैकाले के जोर देने पर कम्पनी सरकार ने १८३५ में अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया, एतदर्थ देश में यत्र-तत्र अंग्रेजी के *स्कूल खोले जाने लगे। यह प्रश्न उठा अदालती भाषा का, और स्कूलों में हिन्दी को* एक अनिवार्य विषय के रूप में रखने का। इन दोनों बातों में हिन्दी का घोर विरोध हुआ। इस विरोध की कहानी भी बहुत मजेदार है। मुगल काल में अदालतों की भाषा फारसी चली आ रही थी, अंग्रेजी शासन-काल में भी प्रारम्भ में यही परम्परा चलती रही किन्तु सर्वसाधारण जनता की फारसी भाषा और उसकी लिपि सम्बन्धी कठिनाइयों को देखकर सन् १८३६ में कम्पनी सरकार ने आज्ञा जारी की कि *सारा* अदालती काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करे। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त प्रान्त में हिन्दी खड़ी *बोली को वहाँ की अदालती भाषा स्वीकार कर लिया गया।* सारा अदालती कार्य हिन्दी भाषा और लिपि में होने लगा। कम्पनी सरकार भाषा-सम्बन्धी इस नीति पर चिरकाल तक न टिक सकी। केवल एक वर्ष के पश्चात् उत्तरी-भारत के सब दफ्तरों की भाषा उर्दू कर दी गयी। यह सब कुछ मुसलमानी विरोध के

कारण हुआ। इस प्रकार मान मर्यादा और आजीविका की दृष्टि से सबके लिए उर्दू सीखना आवश्यक हो गया और देश भाषा के नाम पर स्कूलों के छात्रवर्ग को उर्दू पढ़ाई जाने लगी। इस प्रकार हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या दिन प्रतिदिन कम होने लगी। हिन्दी के पुराने साहित्य अर्थात् सूर, तुलसी आदि की रचनाओं के प्रति जो थोड़ी बहुत रुचि बनी हुई थी यह धर्म भाव के कारण। स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे वे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई ...। हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।" इसी समय राजा शिवप्रसाद का इस क्षेत्र में आगमन हुआ, यद्यपि वे इस समय तक शिक्षा-विभाग में नियुक्त नहीं हुए थे। उनका ध्यान हिन्दी की ओर गया। दूसरी भाषाओं में निकलते हुए समाचार-पत्रों को देखकर उन्होंने भी 'बनारस' अखबार निकलवाया। इस पत्र की भाषा प्रायः उर्दू थी और लिपि देवनागरी। उनके लिए ऐसा करना तत्कालीन परिस्थितियों का तकाजा था। इसी समय बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से काशी से 'सुधाकर' नाम का एक दूसरा पत्र निकाला, जिसकी भाषा बहुत सुधरी हुई हिन्दी थी। मुंशी सदासुखलाल के सम्पादन में आगरे से 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र निकला जिसकी भाषा उस समय को देखते हुए अच्छी होती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों के विरोध के फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार की नीति हिन्दी के प्रति अच्छी न होते हुए भी हिन्दी-साहित्य में गद्य-परम्परा अच्छी तरह चल निकली। उसमें पुस्तकें छपने तथा पत्र-पत्रिकायें आदि भी निकलने लगीं। पद्य की भाषा ब्रज बनी रही और गद्य में खड़ी बोली का व्यवहार होने लगा।

हिन्दी को अदालतों से बाहर निकालने के कार्य में तो मुसलमानों को सफलता मिल चुकी थी, अब वे इसे शिक्षा-क्षेत्र से बाहर निकालने में प्रयत्नशील थे। जब सरकार स्कूलों और मदरसों में हिन्दी को आवश्यक रूप से पढ़ाये जाने के प्रस्ताव पर विचार कर रही थी तब प्रभावशाली मुसलमानों—सर सैय्यद अहमद खाँ आदि ने उसका उग्र विरोध किया। अन्ततः सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने सन् १८४८ में यह सूचना निकाली—'ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवा मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इस अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

सैय्यद अहमद खाँ का अंग्रेजों के बीच बड़ा मान था। वे हिन्दी को एक गंवारू भाषा समझते थे और ये अंग्रेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार कोशिश करते रहे। उन्होंने तो यहाँ तक प्रयत्न किया कि वर्नाक्युलर स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा जारी न हो पाये। राजा शिवप्रसाद भी अंग्रेजों के कृपा-पात्र थे और हिन्दी के परम पक्षपाती थे, अतः हिन्दी की रक्षा के लिए उन्हें खड़ा होना पड़ा और वे इस

कार्य में बराबर चेष्टाशील रहे। यह झगड़ा बीसों वर्ष तक भारतेन्दु के समय तक रहा।

गार्सा द तासी एक फ्रांसीसी विद्वान ने, जो पेरिस में हिन्दुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे, फ्रांस में बैठे बैठे इस झगड़े में योग दिया। पहले वे उर्दू के पक्षपाती होते हुए भी *हिन्दी को देश की भाषा मानते थे। "यद्यपि मैं खुद उर्दू का पक्ष*पाती हूँ लेकिन मेरे विचार में हिन्दी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं।" जैसे मुसलमान लोग इस झगड़े में मजहबी नुसखा काम में ला रहे थे उसी प्रकार तासी ने भी वैसा ही किया। अब वह हिन्दी को एक विभाषा घोषित करने लगे और मजहबी जोश को उभारने के लिए उन्होंने लिखा—'हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है—वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी सांस्कृतिक और आचार व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी सामीमत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिए इस्लामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएं पाई जाती हैं।" आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरों और वर्णमाला को जोड़ना असम्भव था वैसे ही परम्परा से चले आते हुए हिन्दी साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा विधान में देश की असली भाषा हिन्दी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य साहित्य तो प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींच-तान आरम्भ हुई। इस खींच-तान के समय में राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आये।"

राजा द्वयी—शिवप्रसाद—इस हिन्दी उर्दू संघर्ष में दोनों राजा शिवप्रसाद *सितारे हिन्द* और *राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के पक्षपाती एवं संरक्षक बन कर सामने* आये। अनेक विघ्न बाधाओं के होने पर भी शिवप्रसाद ने हिन्दी के उद्धार-कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर होने से पूर्व इन्होंने काशी से बनारस अखबार निकालना शुरू किया जिसकी भाषा में उर्दू का काफी पुट था। सैय्यद अहमद खां की भाँति आप भी अंग्रेजों के कृपाभाजन थे। इन्हीं के प्रयत्नों से *कम्पनी सरकार को स्कूलों में हिन्दी-शिक्षा को स्थान देना पड़ा।* शिवप्रसाद पहले हिन्दी में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग के समर्थक थे किन्तु बाद में उनकी विचारधारा आम फहम भाषा सम्बन्धी हो गई और उनकी भाषा में उर्दू का पुट आने लगा। इसका एक विशेष कारण था, उन्होंने देखा कि शिक्षा विभाग में मुसलमानों का दल अधिक शक्तिशाली है। अतः उन्होंने किसी एक पक्ष का समर्थन न कर मध्यवर्ती *मार्ग का अवलम्बन किया।* इन्होंने स्कूलों में हिन्दी पाठ्य पुस्तकों का अभाव देखकर स्वयं भी पुस्तकें लिखीं और अपने सहयोगियों के द्वारा भी पुस्तकें लिखवाईं। राजा शिवप्रसाद ने प० वंशीधर, श्री लाल और बद्रीलाल आदि से इतिहास, अर्थशास्त्र और न्याय-शास्त्र आदि की पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाईं। इनकी अपनी लिखी हुई रचनायें

है—आलसियों का कीड़ा, राजा भोज का सपना, भूगोल हस्तामलक इतिहास तिमिर नाशक, गुटका, हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल, मानव धर्म सार, सिक्ख का उदय और योगवशिष्ठ के चुने हुए श्लोक, उपनिषद् सार आदि। उनकी भाषा में दो रूपों का मिलना उस समय की हिन्दी-उर्दू समस्या के हल करने का प्रयत्न था। राजा जी ने बड़े विकट समय में बड़ी दक्षता के साथ हिन्दी की रक्षा की, इसमें कोई भी सन्देह नहीं।"

राजा लक्ष्मणसिंह—शिवप्रसाद की समझौतावादी नीति के कट्टर विरोधी थे। उनकी यह धारणा थी कि बिना उर्दू के शब्दों के प्रयोग के हिन्दी का सुन्दर गद्य लिखा जा सकता है। ये हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द के पक्षपाती थे। इनकी भाषा में यथासाध्य उर्दू, फारसी तथा तद्भव शब्द नहीं आ पाये हैं, यही कारण है कि कहीं-कहीं इनकी भाषा में कृत्रिमता आ गई है। इन्होंने सदासुखलाल की विशुद्ध भाषा का आदर्श अपने सामने रखा। इन्होंने रस-सवलित सरल और सुबोध भाषा के प्रचार के लिए आगरा से 'प्रजाहितैषी' नाम का एक पत्र निकाला और कालिदास के रघुवंश अभिज्ञान-शाकुन्तल तथा मेघदूत का हिन्दी में अनुवाद किया। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा इनकी भाषा शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य उनकी रचना में मिला उतना पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में नहीं उपलब्ध हुआ था। गद्य के इतिहास में इतना स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग उस समय तक किसी ने नहीं किया था। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह का स्थान तत्कालीन गद्य साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब विशुद्धता लाने के लिए बद्धपरिकर होने में कुछ भी आगा-पीछा करते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप होता।"

जिस प्रकार दोनों राजाओं के सप्रयत्नों से संयुक्त प्रान्त में हिन्दी का प्रचार कार्य आरम्भ हुआ, उसी प्रकार उनके समसामयिक बाबू नवीनचन्द्र राय ने पंजाब में समाज सुधार तथा हिन्दी प्रचार-कार्य आरम्भ किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समय-समय पर पत्रिकायें निकालीं तथा अनेक पुस्तकें भी लिखीं। नवीनचन्द्र की प्रेरणा के फलस्वरूप प० सुखदयाल शास्त्री ने भी इस कार्य में योग दिया। इसी बीच पंजाब के अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक श्रद्धाराम फुल्लौरी का साहित्य क्षेत्र में आगमन हुआ। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी में लिखा करते थे, किन्तु इन्होंने अपनी पुस्तक हिन्दी में ही लिखी। इन्होंने पंजाब के नगरों और गाँवों में घूमकर व्याख्यान, उपदेश तथा रामायण एवं महाभारत की कथायें सुनाई। उनके व्याख्यानों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। इनकी पुस्तक "सत्यामृत प्रवाह" धार्मिक सिद्धान्त-विवेचन तथा भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। इन्होंने 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा।

ईसाई धर्म प्रचार की प्रतिक्रिया—ईसाइयों का व्यापक और संगठित-प्रचार

प्रचार का कार्य हिन्दुओं को बहुत बुरा लगा, क्योंकि इसका प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा और काफी संख्या में हिन्दुओं ने धर्म परिवर्तन कर लिया। धर्म प्रचारकों ने हिन्दू धर्म की कर्मकांड बहुदेवोपासना, बाह्याडम्बर एवं सामाजिक कुरीतियों की कड़ी निंदा कर स्वधर्म-प्रचार के लिए अनुचित लाभ उठाया। बंगाल में इसकी प्रतिक्रिया हुई। राजा राममोहन राय वेदान्त और उपनिषदों का ज्ञान लेकर आगे आये और उन्होंने वहाँ ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थाटन और स्पृश्या-स्पृश्य की भावना को दूर करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रचार किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने वेदान्त सूत्रों का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित कराया तथा बंगदूत नाम का एक संवाद पत्र भी निकाला।

इधर उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द के वैदिक धर्म-प्रचार और आर्यसमाज की स्थापना के रूप में ईसाई धर्म की घोर प्रतिक्रिया हुई। स्वामी जी के वैदिक धर्म-प्रचार ने जनता को अपनी ओर बहुत आकर्षित किया। इन्होंने हिंदुस्तान को आर्या-वर्त तथा हिन्दी को आर्याभाषा का नाम दिया तथा प्रत्येक आर्य के लिए आर्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। स्वामी दयानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने हिन्दी भाषा के प्रचार में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह चिरस्मरणीय है। स्वामी दयानन्द की आलोचना में खंडनात्मकता की प्रवृत्ति अधिक थी, इसीलिए उसमें कट्टरता भी बहुत थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' में ईसाई तथा मुस्लिम धर्मों की मर्मभेदी आलोचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने वेदांगप्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा वेदों के भाष्य आदि कई पुस्तकें लिखी। उनकी भाषा तत्सम शब्दों से युक्त विशुद्ध हिन्दी है जिसमें उर्दू शब्दों का सर्वथा बहिष्कार है। आज की हिन्दी में जो तर्क-शक्ति है उसका बहुत कुछ श्रेय स्वामी दयानन्द तथा उनके आर्यसमाज को है। आर्य समाज के आंदोलन ने उत्तरी भारत में हिन्दी प्रचारार्थ महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और दे रहा है अनेक शिक्षा संस्थाओं के द्वारा तथा अपने कृती लेखकों के द्वारा। पंजाब में हिन्दी प्रचार का प्रायः समूचा श्रेय आर्यसमाज को ही है।

अभी तक हमने हिन्दी गद्य के निर्माण कार्य की जिन गतिविधियों का उल्लेख किया है, उनसे यह बात स्पष्ट है कि अब तक हिन्दी गद्य में गतिशीलता तो अवश्य आ गई थी, किन्तु उसमें गद्य के अनेक अंगों की श्री वृद्धि नहीं हुई थी और न ही उसमें भाषा का आदर्श रूप स्थिर हो सका था। भारतेन्दु के सामने गद्य की दो शैलियाँ उपस्थित थीं—एक तो उर्दू, फारसी के शब्दों से लदी खिचड़ी और दूसरी संस्कृत-मयी विशुद्ध शैली। भारतेन्दु ने मध्यमार्ग को अपनाया। उनकी भाषा भावानुसारिणी, सरल एवं स्वाभाविक है और उसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। भारतेन्दु एवं उसकी लेखक मंडली ने हिन्दी गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस काल में गद्य के विविध अंगों—नाटक, उपन्यास एवं निबन्ध का विकास हुआ और आलोचना का भी श्रीगणेश हो गया, किन्तु इस अंग का यथेष्ट विकास आगे चलकर

हुआ। निःसन्देह इस काल में गद्य के प्रवधि अंगों का विकास हुआ और "सब मिलि बोलहु एक जबान हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।" की घोषणा करने वाले कवियों ने हिन्दी का प्रचार भी खूब किया, किन्तु उनकी भाषा में व्याकरण सम्बन्धी अव्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही, जिसकी पूर्ति आगे चलकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के पितामह श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हुई। भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी शिथिलता और दुर्बलता का परिहार करके इन्होंने भाषा का परिष्कार तथा संस्कार किया। इन्होंने भाषा में विराम आदि चिन्हों का प्रचलन किया, नियमानुसार गद्य शैली के आदर्शों की प्रतिष्ठा की, भाषा में उच्छृंखलता के स्थान पर संयम लाये वाक्य-विन्यास सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर किया और हिन्दी गद्य में परिपक्वता और प्रौढ़ता आई। इस काल में गद्य लेखन की विविध शैलियों का प्रचलन हुआ। हिन्दी-गद्य के नाटक और उपन्यास आदि अंगों का भारतेन्दु काल में आरम्भ हुआ था, अब उनमें प्रौढ़ता आई। प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रसाद आदि प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी कलात्मक विविध-शैलियों से हिन्दी गद्य के विभिन्न क्षेत्रों को सनाथ किया। छायावादी युग में क्या शैली, क्या भाषा और क्या विषय सभी क्षेत्रों में एक अभिनव कलात्मकता, मसृणता, विविधता और गहराई आई। छायावादोत्तर युग में नाटक, उपन्यास, आलोचना, कहानी, जीवन चरित्र और निबन्ध आदि गद्य के अनेक अंगों का यथेष्ट विकास हुआ। गद्य के प्रत्येक क्षेत्र में शैली सम्बन्धी विविध प्रयोग हुए जिसमें लेखक के व्यक्तित्व का भली भाँति प्रस्फुटन हुआ। ये विशेषताएँ भाषा की प्रौढ़ता और परिष्कार का परिचय देती हैं।

लेकिन आज के गद्य में कुछ खटकने वाली बातें भी हैं—

(क) लेखक वर्ग निरंकुशतापूर्वक शब्दों का प्रयोग कर रहा है जैसा कि उनका कोई स्थिर रूप ही न हो। (ख) कुछ क्रियाओं का रूप भी चिन्तनीय है जैसे दीख दिखाई, दिखलाई, देखाई सभी रूप प्रयुक्त हो रहे हैं। कम से कम इस विषय में निश्चयात्मकता होनी चाहिए अन्यथा भाषा में स्थिरता नहीं आ सकेगी (ग) हिन्दी भाषा पर अनेक अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक है किन्तु विचारणीय यह है कि उन भाषाओं के शब्दों को हिंदी की प्रकृति के अनुसार खपाया जाय। इसके साथ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि 'अपनी भाषा में पाचन शक्ति का विकास करते-करते कहीं हम उसकी उद्भावन शक्ति का ह्रास न करने लगें। वर्तमान समय के लेखकों को इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।"

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास

आज से कुछ वर्ष पूर्व विद्वानों की यह धारणा थी कि नाटक का उद्‌भव और विकास १६ वीं शती में हुआ, किन्तु डा० दशरथ ओझा ने अपने महत्वपूर्ण अनुसंधान द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नाटक का उद्‌भव १३ वीं शती में

हुआ। उनके मतानुसार हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक "गाय सुकुमार रास" है जिसकी रचना सं० १२८६ में हुई। उन्होंने रास नाम धारी नाटकों के तीन रूपों की चर्चा की है किन्तु डा० ओझा द्वारा वर्णित नाट्य रासको में नाटकीय तत्त्वो, अभिनेयता आदि का सर्वथा अभाव देखते हुए उन्हें हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक घोषित करना सर्वथा निरापद नहीं है।

डा० ओझा ने मैथिली नाटको, रासलीला विषयक नाटको तथा पद्यबद्ध नाटका की भी चर्चा की है। मिथिला भाषा में उपलब्ध नाटक वास्तव में हिन्दी के प्राचीनतम नाटक माने जा सकते हैं क्योंकि इनमें अपेक्षित नाटकीय तत्त्वों का समावेश मिलता है। महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताये जाते हैं जिनमें "गोरक्ष विजय" उपलब्ध है। इसका गद्य भाग संस्कृत में तथा पद्य भाग मैथिली भाषा में है। मैथिली भाषा में अनेक नाटक प्रणीत हुए। मैथिली नाट्य परम्परा का प्रभाव नेपाल, आसाम तथा उड़ीसा प्रान्त की भाषाओं पर भी पड़ा। रासलीला सम्बन्धी नाटकों का विकास ब्रजप्रदेश में हुआ। रासलीला सम्बन्धी नाटकों में नृत्य गीत और कविताओं की प्रधानता है और नाटक के अपेक्षित तत्त्वों का समावेश कम है। इस प्रकार के नाटक आज भी देश के विभिन्न भागो में रास मडलियों द्वारा दिखलाये जाते हैं। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दियों मे कतिपय पद्य-बद्ध नाटको की रचना हुई, जिनमे रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, समयासार नाटक तथा प्रबोध चन्द्रोदय आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के पद्य-बद्ध नाटको की परम्परा १९ वीं शती तक चलती रही। इन नाटको के विषय में यह स्मरण रखना होगा कि इनमें कविता की अत्यधिक प्रधानता है और नाटकीय तत्त्वों का अपेक्षाकृत अभाव है। प्रबोधचन्द्रोदय को इस कथन का भले ही अपवाद समझा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य में नाटको का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु काल से ही हुआ। यद्यपि यह परम्परा पद्य बद्ध नाटकों के रूप में हिन्दी और मैथिली भाषा मे पहले से चली आती थी। इन पद्य बद्ध नाटकों पर संस्कृत नाटको की ह्रासोन्मुख परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। भारतेन्दु काल से पूर्व हिन्दी में नाटकों के अपेक्षाकृत अभाव को देखकर कुछ विद्वानों ने इसके नाना कारण बताये हैं—(क) गद्य का अभाव, (ख) मूर्ति पूजा विरोधी मुसलमानों का शासन काल, (ग) सन्तो की निराशामूलक वाणी। किन्तु हमारे विचार में ये सभी कारण सतही ही हैं। नाटकों के उदय और अभीष्ट विकास के लिए राष्ट्रीय जीवनोल्लास एवं सांस्कृतिक चेतना का होना अनिवार्य है। भारतेन्दु-काल से पूर्व राष्ट्र के जीवन में सांस्कृतिक चेतना का प्राय लोप हो चुका था और रीतिकाल में चिन्तनहीनता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य को ह्रासोन्मुख संस्कृत-नाटकों की पिछली परम्परा मिली जिसमें जीवन के प्रेरक तत्त्वों का अभाव था। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु-काल से पूर्व यदि हिन्दी-साहित्य में नाटकों का अभीष्ट विकास नहीं भी हो सका तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

१७वीं और १८वीं शताब्दी में कुछ पद्यबद्ध नाटकों की रचना हुई। इन नाटकों में रामायण, महाभारत, हनुमन्नाटक, समयसार, चण्डीचरित्र, प्रबोध चन्द्रोदय, शकुन्तला नाटक, सभासार नाटक, करुणाभरण हैं। १९वीं शती में भी इस परम्परा में नाटक लिखे गए—माधव विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला विहार नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, आनन्द रघुनन्दन आदि, जिनमें अभिनेयता का सर्वथा अभाव है। इन पर संस्कृत के नाटककार मुरारि, राजशेखर, जयदेव, क्षेमीश्वर आदि का स्पष्ट प्रभाव है। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल आदि का अनुवाद किया।

नये उन्मेष का युग . भारतेन्दु काल—भारतेन्दु काल राष्ट्रीय जागरण तथा नव सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष युग है। इसमें जहाँ एक ओर जन-सामान्य में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जागरूकता आई। नव जागृति के संक्रमण काल में जन-जीवन में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना के लिए इस युग में नाटकों का माध्यम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु के सजग व्यक्तित्व ने तत्कालीन जागरण के सभी प्रमुख तत्त्वों को कलात्मक रूप से आत्मसात् किया। भारतेन्दु का आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वही स्थान है जो रूसी साहित्य में पुश्किन का। भारतेन्दु तथा उनके समसामयिक नाटककारों की कृतियों में जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का सर्वप्रथम हिन्दी में सजीव चित्रण हुआ। भारतेन्दु ने अपने पिता द्वारा लिखे गये 'नहुष' नाटक का भी उल्लेख किया है किन्तु वह आधुनिक नाटकों के लक्षणों की पूर्ति नहीं करता है, वह एक पद्यबद्ध नाटक है। भारतेन्दु कृत नाटक हिन्दी के सर्वप्रथम नाटक माने जा सकते हैं। भारतेन्दु जी ने संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला भाषा के नाटकों का विस्तृत अध्ययन किया था और उन्होंने तत्कालीन रंगमंच की आवश्यकताओं को भी खूब समझा था। भारतेन्दु जी ने पारसी कम्पनियों को अर्थार्जन तथा सस्तेपन की दूषित प्रवृत्तियों को खुले नेत्रों से देखा था, अतः उनके नाटकों का सर्वप्रथम लक्ष्य जनता की रुचि का परिष्कार करना रहा। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में 'यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढें जिसने नाटकशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और मौलिक नाटकों की रचना की हो और जिसने नाटकों की रचना ही नहीं, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं, समस्त विश्व साहित्य में केवल दो चार मिलेंगे और उन सबमें भारतेन्दु का स्थान उन सबसे ऊँचा होगा।"

विषय—भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने जीवन के विविध क्षेत्रों से कथा वस्तु का चयन किया है। कहीं उसमें सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ

है तो कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक इतिवृत के व्याज से सांस्कृतिक जागरण का दिव्य सन्देश है और कहीं-कहीं उसमें ऐकान्तिक प्रेम का चित्रण है। भारतेन्दु के 'सती प्रताप' और 'नीलदेवी' में आर्य ललनाओं के लिए भारतीय संस्कृति की महत्ता का शुभ सन्देश है। कुछ आलोचकों ने इन नाटकों को देखकर इस प्रवृत्ति को पलायनवादी रोमानी दृष्टिकोण कहा है, किन्तु यह सगत नहीं है। भारतेन्दु के इन नाटकों का उद्देश्य चरित्र-सुधार है जिसे इन्होंने अपने "सत्य हरिश्चन्द्र" की भूमिका में स्पष्ट कर दिया था। इसी प्रकार के सांस्कृतिक उद्‌बोधनात्मक प्रयास इस काल के अन्य नाटककारों में भी देखे जा सकते हैं। शालिग्राम का मोरध्वज, भोजदेव उपाध्याय का सुलोचना सती, राधाकृष्ण दास का महाराणा प्रताप, श्रीनिवासदास का सयोगिता स्वयर तथा प्रतापनारायण मिश्र का हठी हम्मीर आदि ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटक इसी सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप लिखे गये।

'प्रेम जोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है। राधाकृष्णदास का 'दु खिनी बाला' तथा प्रतापनारायण मिश्र का 'गोसकट' ऐसे नाटक हैं जिनमें बाल-विवाह और गोहत्या-सम्बन्धी समस्याएँ हैं।

भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र प्रेम का उभरा हुआ रूप है। इस नाटक के प्रारम्भ में ही भारतेन्दु जी ने कह दिया—"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।" इस नाटक का अन्त अत्यन्त निराशा एवं दुःख में होता है। भारतेन्दु के इस नाटक के आधार पर चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन ने 'भारत सौभाग्य' नाटक लिखा।

इस काल में व्यग्य-विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी सुन्दर सृष्टि हुई। इन नाटकों में सामाजिक जीवन की असगतियों तथा धर्म के मिथ्या आडम्बरों पर तीखी मीठी चोटें की गई हैं। भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मांस-भक्षियों पर गहरा व्यग्य है और उनके 'अन्धेर नगरी' में अव्यवस्थित राज्य पर गहरी चोट है। बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान' प्रतापनारायण मिश्र का कलि-कौतुक' और राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुहासे' आदि भी प्रहसन हैं किन्तु इनमें भारतेन्दु जैसा तीखापन नहीं है। देवकीनन्दन त्रिपाठी के रक्षा-बन्धन, एक-एक में तीन तीन, चरित्र और वेश्या-विलास आदि प्रहसन भी काफी लोकप्रिय हुए। वर्ग-संघर्ष के व्यग्यों की तीव्रता जो इस काल के नाटकों मे मिलती है वह हिन्दी मे अन्यत्र नहीं है।

हिन्दी नाटकों के इस प्रारम्भिक काल मे लेखकों का ध्यान अनुवाद की ओर भी गया। सस्कृत के कर्पूरमजरी, मालती-विकल्प, धनजय विजय और मुद्राराक्षस आदि नाटकों का अनुवाद किया। इनका विद्यासुन्दर बगला का अनुवाद है। भारतेन्दु मे मौलिक, अनूदित तथा रूपान्तरित तीन प्रकार के नाटकों का प्रणयन किया। सस्कृत नाटकों के अनुवादकर्त्ताओं मे लाला सीताराम, अंग्रेजी नाटकों के अनुवादकर्त्ताओं में सीताराम और बगला नाटकों के अनुवादकर्त्ताओं मे रामकृष्ण वर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

शैली—शैली की दृष्टि से भारतेन्दु एवं उसके समकालीन लेखकों के नाटकों में बहुत कुछ संस्कृत के नाटकों की परम्परा का पालन किया गया। नान्दी पाठ, भरत वाक्य, अंकावतार और विष्कम्भक का प्रयोग इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है। इन नाटकों में संस्कृत नाटकों के समान काव्यात्मक वातावरण भी ज्यों का त्यों है और साथ-साथ रीतिकालीन कविता की चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं पर नाट्य शैली का भी प्रभाव है।

कथोपकथन कहीं-कहीं पर अपेक्षाकृत लम्बे हैं जिनमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। चरित्रों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से विकसित न होकर नाटककार के निजी व्यक्तित्व के साथ लिपटा रहा है, यह कमी आगे चलकर प्रसाद के नाटकों में पूरी हुई। भाषा सरल, स्वाभाविक और पात्रानुसारिणी है। इन नाटकों में पद्य में ब्रज-भाषा का प्रयोग हुआ है। पात्रों की योजना की दृष्टि से इस काल का नाटक साहित्य काफी महत्त्वपूर्ण है। इस युग का नाटक साहित्य जन-जीवन के बहुत समीप था और इसने तत्कालीन परिस्थितियों एवं समस्याओं को यथार्थ रीति से प्रतिबिम्बित किया।

सुधारवादी द्विवेदी युग—भारतेन्दु-युग के नाटकों में जन-जीवन की जिस निकटता का परिचय मिलता है वह प्रस्तुत युग के नाटकों में नहीं। इस युग के नाटककारों को एक तो परम्परागत रंगमंच उपलब्ध नहीं हो सका और दूसरे, इस बीच लगातार मध्य वर्ग की वृद्धि के कारण लोक-जीवन से इनका सहज सम्बन्ध भी टूट गया। इस युग के लेखक आर्यसमाज की नैतिकता तथा गांधी जी की सात्विकता एवं आदर्शवादिता से अत्यन्त प्रभावित हैं। तत्कालीन देशव्यापी सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों का भी इस युग पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। फलतः सुधार-वाद इस युग के समूचे साहित्य का प्रधान स्वर था। इस युग की समस्त साहित्यिक चेतना महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में थी। द्विवेदी जी तथा इस काल के अन्य लेखकों ने वस्तु शैली और भाषा सभी क्षेत्रों में सुधार एवं संस्कार लाने के लिए सक्रिय योग दिया। इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण मौलिक उद्भावनाओं के लिए बहुत कम अवकाश रह गया, अतः इस युग में नाटकों के अनुवादों की भरमार रही, मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गये। भारतेन्दु-युग में नाटक-साहित्य का विकास जिस तीव्रता से हुआ था उसमें प्रसाद के आगमन से पूर्व तक कुछ भी उन्नति नहीं हुई।

भारतेन्दु युग के नाटकों के अनुवादों का क्रम इस युग में भी जारी रहा। इस युग के प्रारम्भिक वर्षों में बंगला के नाटककार डी० एल० राय तथा गिरीश घोष के नाटकों का अनुवाद अत्यधिक हुआ और एक प्रकार से मौलिक नाटकों का क्रम बन्द हो गया। इस काल के नाटककारों में नारायणप्रसाद 'बेताब' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके नाटकों के प्रभाव के परिणामस्वरूप पारसी कम्पनियों

के नाटकों की भाषा में उर्दू के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग होने लगा। इनकी प्रेरणा को पाकर राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र काश्मीरी, तुलसीदास शैदा तथा हरिकृष्ण जौहर ने नाटक लिखे, जो कि रंगमंच पर खेले जा सकते थे। इन नाटककारों ने पौराणिक, सन्त चरित्रों पर आधृत, सामाजिक एवं प्रेमलीला-पूर्ण नाटक लिखे और कुछ नाटकों का अनुवाद भी किया। राधेश्याम का भक्त प्रह्लाद, कृष्णचन्द्र का भारत-दर्पण या कौमी तलवार, श्रीकृष्ण हसरत का महात्मा कबीर मुख्य हैं। शेक्सपीयर के नाटकों से प्रभावित होकर आगा हश्र ने कलियुगी साधु तथा जमुनादास मेहरा ने पाप परिणाम नामक नाटकों में हास्यरस की सृष्टि की। प्रहसन के लिए इस काल के लेखकों को एक व्यापक क्षेत्र मिला। बद्रीनाथ भट्ट के 'विवाह विज्ञापन' तथा 'मिस अमेरिका' नामक प्रहसनों में विषय सम्बन्धी नवीनता को प्रदर्शित किया है। जे० पी० श्रीवास्तव ने भी अनेक प्रहसन लिखे, किन्तु उनका स्तर भी इतना ऊँचा नहीं है।

भारतेन्दु-युग की अपेक्षा इस युग में ऐतिहासिक नाटक अधिक लिखे गये। विषयों के चुनाव में सात्विकता को अधिक ध्यान में रखा गया। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का तुलसीदास, वियोगी हरि का प्रबुद्ध यामुने, मिश्र-बन्धुओं का शिवाजी इसी प्रकार के नाटक हैं। कर्बला नाटक में प्रेमचन्द ने मुसलमानी संस्कृति के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखी है। इस काल के अन्य नाटककार तथा उनकी रचनाएँ हैं—माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध तथा गोविन्दवल्लभ पन्त का वरमाला आदि। विषय की दृष्टि से इस काल के नाटकों को निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) कृष्ण चरित पर लिखे गये नाटक, (२) सन्त चरित से सम्बद्ध नाटक, (३) प्रेम-लीला पूर्ण नाटक, (४) पौराणिक नाटक, (५) ऐतिहासिक तथा राष्ट्रीय नाटक, (६) सामाजिक नाटक, (७) हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण नाटक और (८) अनूदित नाटक।

भारतेन्दु-काल के उपरान्त प्रसाद-युग के आरम्भ के बीच के काल में नाटक संख्या में तो कम भी नहीं लिखे गये, किन्तु इन काल में प्रायः प्रतिभाशाली नाटककारों का अभाव ही रहा है। इस काल में नाटकीय शैली एवं शिल्प-विधान में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ।

प्रसाद एवं प्रसादोत्तर युग—भारतेन्दु के पश्चात् प्रसाद जैसा सर्वांगीण प्रतिभाशाली, रचनात्मक व्यक्तित्व-सम्पन्न दूसरा कोई भी कलाकार हिन्दी में उत्पन्न नहीं हुआ। हिन्दी नाटकों के विकास का जो आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ था वह प्रसाद-युग में अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचा। वस्तुत: वे इस क्षेत्र के सम्राट हैं और वह इसलिए नहीं कि उन्होंने नवीन शैली से नाटकों का शृंगार किया, बल्कि इसलिए कि उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी नाटक के पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करके उनमें शील-वैचित्र्य का समावेश किया और उनके अन्तर्द्वन्द्व का कलात्मकतापूर्ण चित्रण किया। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य कला का

सुन्दर सामंजस्य किया है। इनके नाटक रस-संवलित तथा चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व से सम्पन्न हैं। भारतीय नाटकों का उद्देश्य रस-संचार करना है जबकि पाश्चात्य नाट्य-परम्परा इससे भिन्न है, उसमें विषय-वस्तु तथा चरित्र-चित्रण पर बहुत जोर दिया जाता है और विभिन्न परिस्थितियों में संघर्ष करते मानव का समस्त अन्तर्द्वन्द्व दर्शाया जाता है। वैसे तो भारतेन्दु ने भी अपने बाद के नाटकों में संस्कृत नाटकों की मंगलाचरण, नान्दी-पाठ तथा प्रस्तावना का बहिष्कार कर दिया था, किन्तु प्रसाद ने तो इन्हें अनावश्यक जानकर इनका सर्वथा बहिष्कार कर दिया। इनके नाटक न तो दुःखान्त हैं और न ही सुखान्त बल्कि प्रसादान्त हैं। "इनके नाटकों का अन्त ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना से होता है कि जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है किन्तु वह स्वयं उपभोक्ता न बनकर प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र अन्त को प्रसादान्त की संज्ञा दी गई है।"

ऐतिहासिक नाटक—प्रसाद जी ने अनेक प्रकार के नाटक लिखे हैं—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, विशाख, राज्यश्री इनके ऐतिहासिक नाटक हैं। ध्रुवस्वामिनी ऐतिहासिक नाटक होते हुए भी समस्यामूलक नाटक है। जनमेजय का नाग यज्ञ पौराणिक नाटक है। सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, एक घूँट और करुणालय इनके एकांकी हैं। करुणालय हिन्दी का पहला गीति-नाटक है। कामना एक प्रतीकात्मक नाटक है।

ऐतिहासिक नाटकों में राज्यश्री उनकी प्रथम कृति है जिसमें उन्होंने सम्राट् राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन की बहिन, कान्यकुब्ज-नरेश ग्रहवर्मा की पत्नी राज्यश्री की कथा को लिया है। इस नाटक में राज्यश्री के वृत्तान्त के साथ-साथ हर्षकालीन भारत का भी चित्रण किया गया है। विशाख का कथानक कल्हण की राजतरंगिणी से लिया गया है। अजातशत्रु में अजातशत्रु-सम्बन्धी मिथ्या धारणा का, कि उसने अपने पिता का वध करके राज्य प्राप्त किया, जहाँ निवारण किया वहीं बौद्धकालीन भारत को भी प्रतिबिम्बित किया गया है। चन्द्रगुप्त इनका सबसे बड़ा नाटक है, जिसकी कथा-वस्तु अत्यन्त जटिल है। इसमें उन्होंने यह सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य पिप्पली कानन के क्षत्रिय थे। इस नाटक में मौर्य-राज्य की स्थापना का विस्तृत चित्र दिया गया है। स्कन्दगुप्त में स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य द्वारा भारत से हूणों को खदेड़ना, भारत का केन्द्रीयकरण तथा रामगुप्त के लिए स्कन्दगुप्त का आत्मोत्सर्ग दिखाया है। ध्रुव स्वामिनी का कथानक भी गुप्तकाल से सम्बद्ध है। इसमें उन्होंने गुप्तकाल के रहस्य पर प्रकाश डाला है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में उन्होंने आर्य और नाग जातियों का संघर्ष दिखाया है। इसमें महाराज परीक्षित का वर्णन है।

प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास की विच्छिन्न कड़ियों को जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया है। इन्होंने इस सम्बन्ध में 'विशाख' की भूमिका में लिखा है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का

बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" उनकी यह दृढ धारणा है कि किसी भी जाति के आदर्श के निर्माणार्थ ऐतिहासिक अनुशीलन परमावश्यक है और इससे जाति का वर्तमान प्रकाशमय होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहीं-कहीं पर काल्पनिक घटनाओं और पात्रों की कल्पना भी की है, किन्तु इससे ऐतिहासिकता पर कोई आघात नहीं पहुँचा। उनके ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय संस्कृति के प्रभावोत्पादक चित्र हैं, वर्तमान का जीवन्त सन्देश तथा भविष्य की आशामय प्रेरणा है और इसके साथ-साथ उनमे देश भक्ति तथा राष्ट्रीयता की गहरी छाप है। उनकी ऐतिहासिक गहरी सूझ-बूझ की प्रशंसा प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राखालदास ने मुक्त-कंठ से की है—"प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर हमारे इतिहास-ज्ञान में संशोधन किया है।"

प्रसाद के नाटकों पर प्रायः ये दोष लगाये जाते हैं कि उनकी भाषा क्लिष्ट है, शैली दुरूह है, उनमें काव्यमयता और यत्र तत्र दार्शनिकता है, इसलिए साधारण पाठक उन्हें समझ नहीं सकता और कदाचित् वे अभिनय के योग्य नहीं हैं। अस्तु, प्रसाद को तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने के लिए ऐसी शैली का आश्रय लेना पड़ा है। रही उनके नाटकों की अभिनेयता की बात, इस सम्बन्ध में शिवदानसिंह के शब्दों मे कह सकते हैं—"उनके अधिकतर नाटक अभिनेय हैं, किन्तु अभी तक श्रेष्ठ कला के राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव में अधिक खेले नहीं जा सके, जिससे यह भ्रम पैदा हुआ है। रंगमंच की सम्भावनाओं का अभी हमारे देश मे पूरी तरह विकास ही नहीं हुआ। अतः पहले से ही ऐसी धारणाएँ बनाकर एक महान् कलाकार की कृतियों को अनुपयुक्त ठहरा देना अनुचित है।"

प्रसाद के समय में तथा उसके बाद अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे गए; किन्तु न उनमे ऐतिहासिक गहनता तथा न ही कलात्मक श्रेष्ठता है। ऐतिहासिक नाटककारों में प्रेमी, उदयशंकर भट्ट सेठ गोविन्ददास, अश्क और जगदीश प्रसाद प्रमुख हैं। प्रेमी ने अपने नाटकों का विषय मुगल काल के इतिहास से चुना। उनका रक्षाबन्धन तथा शिवासाधना प्रसिद्ध नाटक हैं। उन्हें शपथ नाटक की कथावस्तु हूण-काल से ली है। इनकी शैली सरल है पर इनमें प्रसाद का औदात्य नहीं है। उदयशंकर भट्ट का सिंध-पतन और विक्रमादित्य ऐतिहासिक नाटक हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त का राजमुकुट सरल शैली मे लिखा हुआ ऐतिहासिक नाटक है। सेठ गोविन्ददास का हर्ष भी अच्छा नाटक है। अश्क के जय-पराजय का कथानक राजपूती इतिहास से सम्बद्ध है। नाटकीय दृष्टि से यह रचना बहुत सुन्दर बन पड़ी है। जगदीश प्रसाद माथुर के ऐतिहासिक नाटक कोणार्क का कथानक उड़ीसा के ध्वस्त-मन्दिर से सम्बद्ध है। प्रसाद के बाद इस क्षेत्र मे कोणार्क के प्रकाशित होने पर हिन्दी को आशा बँधी है कि उदीयमान यह नवीन प्रतिभा इस दिशा में और भी रचनात्मक कार्य करेगी।

पौराणिक और सामाजिक नाटक—प्रसाद के पौराणिक नाटक जनमेजय के नाग-यज्ञ का उल्लेख किया जा चुका है। पौराणिक नाटक लेखकों में सुदर्शन, गोविन्द-वल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, माखनलाल चतुर्वेदी, उदयशंकर भट्ट के नाम उल्लेख-

नीय हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त का वरमाला मार्कंण्डेय पुराण से सम्बद्ध है। सुदर्शन का *अजना और उग्र का गंगा का बेटा साधारण नाटक हैं। पौराणिक नाटककारों में* उदयशंकर प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इनके अम्बा और सगर-विजय प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त अंगूर की बेटी, सेठ गोविन्ददास का प्रकाश और पाकिस्तान और उदयशंकर भट्ट के कमला और अन्तहीन अन्य सामाजिक नाटक हैं। उग्र के 'चुम्बन' में अश्लीलता उभर आई है।

प्रतीकात्मक नाटक—प्रसाद का कामना और पन्त का ज्योत्स्ना हिन्दी के प्रतीकात्मक नाटक हैं। कामना में सन्तोष, विनोद और कामना आदि भावनाओं का मानवीकरण किया गया है। कामना की अपेक्षा ज्योत्स्ना का विषय तो व्यापक है पर इसमें नाटकीय शिथिलता है।

समस्यामूलक नाटक—इधर इब्सन और शॉ से *प्रभावित होकर हिन्दी में* बहुत से समस्यामूलक नाटक लिखे गये हैं। समस्यामूलक नाटककारों में उपेन्द्रनाथ अश्क तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क को स्वर्ग की झलक, छठा बेटा, अलग-अलग रास्ते, कैद, उड़ान और आदि मार्ग नामक नाटकों में सामाजिक समस्याओं के उद्‌घाटन में आशातीत सफलता मिली है। इनके नाटक भाषा की सरलता, स्वाभाविकता और रंगमंचीयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं। अश्क जी आज के एक लब्धख्याति उच्च कोटि के नाटककार हैं। मिश्र जी प्रसाद के बाद दूसरी अद्वितीय प्रतिभा हैं। समस्यामूलक नाटककारों में इनका उच्चतम स्थान है। इन्होंने नारी की चिरन्तन समस्या को लिया है। इन्होंने नारी और पुरुष *के सम्बन्ध तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का अत्यन्त कलात्मक विश्लेषण किया है।* इनके नाटक—सिन्दूर की होली, राक्षस का मन्दिर, संन्यासी, मुक्ति का रहस्य तथा गुड़िया का घर आदि महत्वपूर्ण बन पड़े हैं। इनके नाटकों में प्रायः गीत नहीं होते। शैली के क्षेत्र में इन्होंने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने सर्वप्रथम हिन्दी नाटक को रोमांस के कटघरे से निकाल कर उसका सम्बन्ध युग जीवन की समस्याओं के साथ जोड़ा। इनके नाटक—'जय-पराजय, छठा-बेटा, कैद, उड़ान, अलग अलग रास्ते, 'स्वर्ग की झलक,' भँवर,' 'अंजो दीदी', 'अधी गली' तथा 'पैंतरे' उल्लेखनीय हैं। 'छठा बेटा' में आज के युगीन सदर्भों में अर्थ-सम्बन्ध को ही मुख्य बताया गया है और सम्बन्ध के पुराने आधारों को ढहता दिखाया गया है। कैद और उड़ान एक दूसरे के पूरक नाटक हैं। कैद में सामाजिक रूढ़ियों में बधी हुई नारी का चित्र है तो उड़ान में रूढ़ियों को तोड़कर खुले वाता-*वरण में साँस लेती हुई नारी का चित्र है। अलग-अलग रास्ते में मध्यवर्गीय समाज* की स्थूल समस्याओं का वर्णन है। 'अंजो दीदी' अश्क जी की प्रौढ़तम रचना है। इसमें नायिका अंजो दीदी की आवश्यकता से भी अधिक अनुशासन दृढ़ता के ब्याज से आज के जीवन में बुरी तरह समाई यान्त्रिकता को दिखाया है और अंजो के भाई श्री पति को उक्त मशीनीकरण की प्रवृत्ति का उग्र विरोधी चित्रित किया गया है। अश्क

ने हिन्दी नाटक को यथार्थ और मच के निकट लाने म सराहनीय कार्य किया है। विष्णु प्रभाकर ने समाधि और डाक्टर नाटक लिखे हैं। इनका बहुचर्चित डाक्टर एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है। जगदीश प्रसाद माथुर के तीन नाटक—'कोर्णाक', 'शारदीया' और 'पहला राजा' उपलब्ध हैं। ये सभी नाटक लगभग ऐतिहासिक हैं। कोर्णाक में राजसत्ता और एक गरीब शिल्पी की कला के बीच संघर्ष चित्रित किया गया है। शारदीया' में प्रेम और सृजन प्रक्रिया की समस्या को उठाया गया है। पहला राजा' में परोक्ष रूप से आज के भारत के नाना सदर्भों को रूपायमान कर दिया गया है। पहला राजा अपने आप में हिन्दी नाट्य साहित्य में एक नवीन सदर्भ (प्रयोग) है। अनुभूति सपन्नता एव रगमचीय अर्हता माथुर जी की नाटकीय उपलब्धियाँ हैं। एक ऐसा ही नवीन सदर्भ धर्मवीर भारती ने अपनी अप्रतिम रचना "अन्धा-युग" में खोजा है, जिसकी चर्चा हम गीति नाट्य-परम्परा के अन्तर्गत करेंगे।

डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने अनेक महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना की है। वे हैं—'अंधा कुंआ', 'मादा कैक्टस', 'तीन आँखों वाली मछली,' 'सुन्दर रस सूखा सरोवर', 'रक्तमाल', 'रात रानी' तथा दर्पन आदि। इनमें 'मादा कैक्टस' अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है। इसका नायक चित्रकार अरविन्द कला साधना के मार्ग में विवाह को एक बाधक वस्तु समझ कर अपनी पत्नी सुजाता से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। वह कला प्रेरणा के लिए प्राध्यापिका आनन्दा से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करता है। नर और मादा कैक्टस नाटक के केन्द्रवर्ती प्रतीक हैं। नर कैक्टस मादा कैक्टस के सपर्क से सूख जाता है। अरविन्द को आनन्दा की घनिष्ट मैत्री में रहकर भी कला की तनिक प्रेरणा नहीं मिल पाती और वह सूख जाता है। अन्त में आनन्दा कैंसर की रोगिणी हो जाती है। नाटक के पढ़ने के बाद पाठक के सम्मुख एक प्रश्न खड़ा हो जाता है—क्या विवाह कला की साधना के मार्ग में एक बाधा है ? अस्तु। नाटकीय शिल्प की दृष्टि से यह रचना अतीव सुन्दर बन पड़ी है। इनके अन्य नाटक भी समर्थ नाटकीय सभावनाओं से सवलित हैं। मोहन राकेश के तीनों नाटक—'आषाढ़ का एक दिन', लहरों के राजहस तथा 'आधे अधूरे' कथ्य एव शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त प्रशसनीय और महत्त्वपूर्ण हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना प्रक्रिया तथा प्रेरणा स्रोत आदि से सम्बद्ध हैं। 'लहरों के राजहस' अश्वघोष के सौन्दरानन्द चरित पर आधारित है। आषाढ का एक दिन रोमानी भावुकता से युक्त है जबकि लहरों के राजहस में नन्द के माध्यत से वर्तमान युगीन मानव की अनिश्चयात्मक स्थिति को दर्शाया गया है। रोमानीपन इसमें भी विद्यमान है। 'आधे अधूरे' सामाजिक विसगतियो का नाटक है। आधे अधूरे में चित्रित विडम्बना ग्रस्त मध्यवर्गीय परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को आधा-अधूरा अनुभव करता है और सत्रास भोगता है। लेखक ने मध्यम वर्गीय व्यक्तित्व की अपूर्णता और रिक्तता के दोनों कारणों—आर्थिक और मनोवैज्ञानिक—को कलात्मक रूप से उपन्यस्त किया है। ये कारण ही

पात्रों के परस्पर आकर्षण विकर्षण के मूल हैं। तनावों में जीना और भोगना प्रत्येक पात्र की नियति है। 'आधे अधूरे' हिन्दी नाट्य साहित्य मे एक अद्‌भुत सफल प्रयोग है। कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से इसकी कलात्मकता प्रशस्य है। संवादों में अद्‌भुत संयम है। इसकी भाषा यथार्थानुप्राणित एवं जन-जीवन के अतीव निकट है। नाटक के कलेवर में सिनेमा पद्धति पर अन्तराल की विद्यमानता, एक ही पात्र का विभिन्न भूमिकाओं को निभाना, रंगोचित परिप्रेक्ष्य, आद्यन्त तनाव पूर्णता, आधुनिक बोध की विशिष्टता तथा रंगमंचीय अर्हता इस नाटक की अनुपम विशेषतायें हैं।

छायावादोत्तर काल में कतिपय पुराने नाटककारों का उल्लेख भी आवश्यक है। वे हैं सेठ गोविन्द दास, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट तथा जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि। सेठ गोविन्द दास के नाटकों में यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की अधिकता है। इनके नाटक हैं—कर्ण, शशिगुप्त, हिंसा या अहिंसा, सन्तोष कहाँ। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटको आहुति, स्वप्नभंग, विषपान, साँपों की सृष्टि आदि में मध्यकालीन इतिहास का चित्रण है। 'बन्धन' और 'छाया' इनके समस्या मूलक नाटक हैं। गोविन्द वल्लभ पन्त का सुहाग बिन्दी एक प्रसिद्ध सामाजिक नाटक है और 'ययाति' एक पौराणिक नाटक। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में शक विजय क्रान्तिकारी, नया समाज और पार्वती मुख्य हैं जिनमें बौद्धिकता, व्यंग्य और यथार्थवाद के साथ आदर्शवाद का पुट है। जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' समस्या मूलक नाटक है और गौतम नन्द ऐतिहासिक नाटक है।

स्वतन्त्रोपरान्त लिखे गये नाटकों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के न्याय की रात, विनोद रस्तोगी के आजादी के बाद तथा नया हाथ में देश में व्याप्त भ्रष्टाचार की अभिव्यक्ति है। नरेश मेहता के 'सुबह के घंटे' और खंडित प्रतिमायें तथा मन्नु भंडारी के 'बिना दीवारों का घर' में पीढ़ी गत संघर्ष बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का चित्रण है। 'बिना दीवारों का घर' आधुनिक बोध की एक बहुत पूर्ण नाट्य कृति है। इसमें आज के पढ़े लिखे पति-पत्नी के बीच पैदा हुए तनावों की अतीव कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। शिव प्रसाद सिंह के नाटक मे घंटियाँ बजती हैं तथा ज्ञान देव अग्नि होत्री के 'नीफा की एक शाम' में चीनी आक्रमण से सम्बद्ध घटनाओं एवं प्रतिक्रियाओं का अंकन हुआ है।

बी० एम० शाह, ज्ञानदेव अग्निहोत्री और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में सम सामायिक जीवन और समाज का यथार्थ चित्रण है। इनमें नया रूप बंध है और आधुनिकता को रूपायित किया गया है। सुरेन्द्र वर्मा रचित 'द्रौपदी' में द्रौपदी के पौराणिक मिथ का सम सामयिक सामाजिक जीवन के संदर्भ में कलात्मक सांकेतिक उपयोग किया गया है।

स्वतन्त्रता के बाद भारत में अनेक हिन्दी नाटक-रंगमंचों की स्थापना हुई। इनके परिणामस्वरूप हिन्दी नाटकों के सृजन और उनकी रंगमंचीय अर्हता पर पर्याप्त अनुकूल प्रभाव पड़ा है। इस व्यापक परिवेश और रंग चेतना के कारण हिन्दी

के अनेक महत्त्वपूर्ण रंगमंचोपयोगी नाटकों—मादा कैक्टस, अन्धा युग, आषाढ़ का एक दिन, रात रानी, लहरों के राजहंस तथा दर्पण—आदि का उदय हुआ जिनमें रंगमंच और साहित्य पक्ष दोनों का स्वस्थ व सुन्दर समन्वय हुआ है। इधर हिन्दी जगत में और भी कई महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियाँ सामने आई हैं, जैसे 'आधे अधूरे', शुतुरमुर्ग, त्रिशंकु, 'कलकी', सूर्य मुख, मिस्टर अभिमन्यु तथा बिना दीवारों का घर। इन नाटकों में सम सामयिक भारतीय समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'बार अपाहिज' और बिना दीवारों के घर' नाटकों से शौकिया रंगमंच को काफी प्रोत्साहन मिला है। गिरिराज किशोर का 'नरमेध', श्याम उमाठे के—'औरत', 'प्राण' और 'पत्थर', सुरेन्द्र वर्मा रचित द्रौपदी शोभना भूटानी का 'शायद हाँ' तथा आर० जी० आनन्द का 'भूचाल' हाल के हिन्दी नाटक जगत मे महत्त्वपूर्ण मौलिक नाटक बन पड़े हैं।

अनूदित रूपान्तरित नाटक—भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग में हिन्दी में अनूदित नाटकों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अनुवादों की परम्परा अब तक अक्षुण्ण रूप से चल रही है। अन्य भारतीय भाषाओं के महनीय नाटकों के अनुवादों से हिन्दी नाट्य साहित्य और समृद्ध बना है। श्री कृष्ण कुमार ने उत्पल दत्त के बंगला नाटक 'छाया नट' तथा मोहित चैटर्जी के निषाद प्रतिभा अग्रवाल ने बादल सरकार के बंगला नाटकों—'एक इन्द्रजीत', बाकी इतिहास', 'सारी रात' और 'पगला घोड़ा' का, अनिल मुखर्जी ने जरासंध की कहानी, लोहे की दीवार, रामचन्द्र कात्यायन ने सतु बोस के घटना-दुर्घटना आदि का अनुवाद किया। बंगला भाषा के अतिरिक्त मराठी और कन्नड भाषाओं के नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हुआ है। कन्नड भाषा के गिरीश कारनाड रचित 'हयवदन का अनुवाद ब० व० कारंत ने किया। श्रीमती केशवचन्द्र वर्मा ने विजय तेंदुलकर मराठी नाटक 'पंछी ऐसे आते हैं' का सफल अनुवाद किया है।

इधर हाल में विदेशी नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ है। जीत शर्मा ने मैक्सिम गोर्की के लोअर डैप्थ (तलछट) और अनिल कुमार मुखर्जी ने आयनेस्को के राइनोसे रस (गेंडा), आर्थर मिलर के 'एक सेल्स मैन की मौत' तथा सैमुअल बैकेट ने इन्तजार का अनुवाद किया है। हरिकिशन लाल पराशर ने टैनेसी विलियम के दि ग्लास मिनेजरी (कांच के खिलौने), कृष्ण कुमार ने जे०बी० प्रीस्टले के एन इन्सपैक्टर कॉल्स (आवाज), कृष्ण बलदेव वैद ने सैमुअल बैकेट के वेटिंग फार गोडो (गोडो की इन्तजार में) और सुरेखा सीकरी ने *बर्टोल्ट ब्रेख्ट के थ्री पैनी आपेरा (तीन टके का स्वांग)* का अनुवाद किया है।

सामूहिक रूप से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं के मुकाबले में हिन्दी नाटकों का विकास अपेक्षाकृत मन्द गति से हुआ है। इसका एक कारण है हिन्दी के रंगमंच का अपेक्षाकृत अभाव तथा दूसरा कारण है इस विधा का स्वरूप। निःसन्देह नाटक लोक जीवन का अनुकरण है किन्तु इसमें

समाज और लोक जीवन का निजी गहन चिन्तन व अनुभव अपेक्षित हैं। नाटक में उस देश के समाज की स्थिति का होना अनिवार्य होता है। अन्य विधाओं में विदेशी उधारी सामग्री का उपयोग सम्भव है किन्तु नाटक में एतद्देशीय जन-जीवन का प्रतिफलन अनिवार्यतः आवश्यक है। इन परिसीमाओं के होते हुए भी हिन्दी नाटक के विकास की काफी सम्भावनायें हैं।

एकांकी नाटक—हिन्दी का आज का एकांकी साहित्य पाश्चात्य नाटकों से बहुत प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी का एकांकी साहित्य भी नाटक साहित्य के समान अपेक्षाकृत अल्प काल में पर्याप्त समृद्ध हो गया है। आज के विशेष उल्लेखनीय एकांकीकार हैं—रामकुमार वर्मा, अश्क, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशप्रसाद माथुर तथा विष्णुप्रभाकर आदि।

प्रसाद के 'एक घूँट' के पश्चात् भुवनेश्वरप्रसाद का कारवाँ नामक एकांकी-संग्रह निकला, जिस पर पाश्चात्य नाट्य कला का काफी प्रभाव है। रामकुमार वर्मा आज के एकांकी के जन्मदाताओं में से एक हैं। इनके एकांकी कला की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं। इन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक एकांकी लिखे हैं और वे अधिकांश में दुःखान्त हैं। इनके पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्त किरण चार ऐतिहासिक एकांकी, विभूति और कौमुदी महोत्सव एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अश्क जी प्रतिभाशाली एकांकीकार हैं। इनके सामाजिक और राजनीतिक एकांकियों में हास्य और चुटीले व्यंग्यों की छटा दर्शनीय है। इनके देवताओं की छाया में, चरवाहे, तूफान से पहले, कैद और उड़ान एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। प्रेमी के एकांकी नाटकों में मध्यकालीन इतिहास की कथाओं को लिया गया है। सेठ गोविन्ददास के एकांकियों पर गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है। अब तक इनके सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा और एकादशी एकांकी-संग्रह निकल चुके हैं। भट्ट के एकांकियों में मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना चित्रित है। समस्या का अन्त चार एकांकी इनके एकांकी संग्रह हैं। रेडियो स्टेशनों की एकांकियों की माँग को पूरा करने के लिए लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा तथा वृन्दावनलाल वर्मा भी इस क्षेत्र में आये हैं। जगदीशप्रसाद माथुर एक सजग एकांकीकार हैं। उनका एक एकांकी-संग्रह भोर का तारा छप चुका है और समय समय पर इनके एकांकी पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। माथुर ने आधुनिक जीवन के वैषम्य को बड़ी गहराई से देखा है। नये एकांकीकारों में विष्णु प्रभाकर के नाटकों में एक गहरी सामाजिक चेतना मिलती है। इनके इन्सान और क्या वह दोषी था, दो एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी के और भी कई प्रसिद्ध एकांकीकार हैं।

इधर नई पीढ़ी के एकांकियों में जो चेतना और मनोभाव मिलते हैं, उनमें आधुनिकता-बोध का स्पष्ट प्रतिफलन है। इनमें व्यक्ति एवं समाज के जीवन गत मूल्यों पर युगीन राजनीति, अर्थनीति तथा नैतिकता के मानों की प्रतिक्रियाएँ मुखरित हुई

हैं। नई पीढ़ी का एकांकीकार प्राय: पूर्व और पश्चिम के नाटकों के सीधे सम्पर्क में आया है। इससे हिन्दी के नाटक व एकांकी साहित्य को नये आयाम मिले हैं। इस दिशा में उपेन्द्रनाथ अश्क के 'चरवाहे', पक्का गाना, साहब को जुकाम है, पचीस श्रेष्ठ एकांकी, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, विलमन, भँवर, जगदीश चन्द्र माथुर के 'कबूतर खाना', 'ओ मेरे सपने' और घोंसले, धर्मवीर भारती के 'नदी प्यासी थी', 'नीली झील', सृष्टि का आखिरी आदमी, विष्णु प्रभाकर का 'मीना कहाँ है ?', भारत भूषण अग्रवाल के महाभारत की सांझ, बादलों का शाप, लक्ष्मीनारायण लाल के शरणागत 'नाटक बहुरंगी', मैं आईना हूँ, सुबह से पहले, ताजमहल के आँसू, पर्वत के पीछे, दूसरा दरवाजा, कृष्ण किशोर श्रीवास्तव के लम सेना, आस्तीन के साँप, विनोद रस्तोगी का काले कौए गोरे हंस, उदय शंकर भट्ट के आदिम युग, आज का आदमी और पर्दे के पीछे, उल्लेखनीय एकांकी संकलन हैं। इनके अतिरिक्त विमला लूथरा, रेवती सरन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, चिरंजीत, सिद्धनाथ कुमार हरिश्चन्द्र खन्ना और कर्तार सिंह दुग्गल आदि भी महत्त्वपूर्ण एकांकियों की सृष्टि कर रहे हैं।

गत तीन दशकों से हिन्दी एकांकी साहित्य विषय और शिल्प की दृष्टि से आशातीत उन्नति कर रहा है।

आजकल रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तरित, फीचर, ध्वनि नाट्य आदि कई प्रकार के नाटक लिखे जा रहे हैं। आजकल महाकाव्यों और उपन्यासों को भी रेडियो पर रूपक शैली में प्रसारित किया जाता है। रूपक में सूत्रधार महत्त्वपूर्ण पात्र होता है। रूपकों में सिनेमा का Flash Back फ्लैश-बैक की टैकनीक का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज हिन्दी-नाट्य-साहित्य में और भी अनेक विविधमुखी प्रयोग किए जा रहे हैं। इस दिशा में आधुनिकतम प्रयोग है दृश्य कहानियाँ। इनका उपयोग दो रूपों में सम्भव है। ये कहानी के रूप में पढ़ी भी जा सकती हैं और रंगमंच पर प्रदर्शित भी की जा सकती हैं। यशपाल इस प्रकार की कहानियों के लिखने में विशेष सफल हुए हैं। आज का हिन्दी नाटककार देशी और विदेशी—विविध नाट्य साहित्यों के सम्पर्क में आ रहा है। एक ओर उस पर जहाँ अंग्रेजी, अमरीकी और रूसी आदि नाटकों का प्रभाव पड़ रहा है वहाँ दूसरी ओर भारतीय लोक नाटकों का प्रभाव भी। अतः वह आज इस क्षेत्र में अनेक नवीन प्रयोग कर रहा है। दृश्य कहानियाँ, नृत्य नाटक और ऋतु नाटक, स्वोक्ति, फंटेसी, रिपोर्ताज, जननाटक और ध्वनि गीतिनाटक आदि इस प्रभाव का परिणाम हैं।

काव्यात्मक एकांकी

इधर हाल में काव्यात्मक एकांकियों की भी मनोरम सृष्टि हुई है। इस क्षेत्र में सर्व श्री हरिकृष्ण प्रेमी, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, आरसीप्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र, गौरीशंकर मिश्र, ऊषादेवी मित्रा, हंसकुमार तिवारी, आनन्दी प्रसाद

श्रीवास्तव तथा जमुनाप्रसाद गौड़ आदि लेखकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। काव्यात्मक एकांकी पद्यात्मक एकांकी हैं। हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में यह एक नवीन प्रयोग है। पद्यात्मक नाटक और पद्यात्मक या काव्यात्मक एकांकी में वही अन्तर है, जो नाटक और एकांकी में है। अतः ये दोनों विधायें आपाततः समान प्रतीत होती हुई भी मूलतः भिन्न हैं।

अभी तक हिन्दी नाट्य साहित्य में फिल्मों को स्थान नहीं दिया गया है, किन्तु दृश्य काव्य की एक शाखा के रूप में इन्हें भी सम्मिलित कर लेना उचित होगा। निःसन्देह कुछ फिल्में स्तर से नीचे रह जाती हैं, किन्तु हिन्दी का आलोचक वर्ग इस दिशा में अपने सत्परामर्श के द्वारा उन्हें सुधार सकता है और फिर सारी फिल्में निम्न स्तर की होती हों, ऐसी भी बात नहीं है। दो आँखें बारह हाथ, आवारा, जागते रहो, बूटपालिश, हम सब चोर हैं—आदि चलचित्र बहुत अच्छे बन पड़े हैं। हिन्दी का भावी नाटक साहित्य एकांकियों, रेडियो रूपकों और चलचित्रों के रूप में उन्नति करेगा, ऐसा ही युग की परिस्थितियों का तकाजा है।

आजकल एकांकी लेखक पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले धारावाहिक उपन्यासों के समान माला-एकांकियों की रचना कर रहे हैं। समान पात्रों को कई एकांकियों में रख दिया जाता है और उन्हें कई हिस्सों में लिखा जाता है। इन्हें मिला-कर पूरा नाटक तैयार हो जाता है; ऐसे नाटकों का प्रत्येक भाग एकांकी-नाटक जैसा आनन्दप्रद होता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी स्मरणीय है कि जहाँ युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप नाटक-परम्परा में परिवर्तन हुए वहाँ स्कूल और कालेजों के अमेच्योर रंगमंच के विकास के साथ-साथ हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच का भी विकास होने लगा है, जिस पर बड़े नाटकों के स्थान पर छोटे नाटकों के अभिनय की अधिक सम्भावनाएँ पैदा हो गई हैं। परिणामतः हिन्दी के छोटे नाटकों का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होने लगा है।

आज का हिन्दी-एकांकी साहित्य पर्याप्त विकासोन्मुख है। इस क्षेत्र में ध्वनि-रूपक, संगीतरूपक, झलकी तथा स्वगत आदि एकांकी के नानाविध रूपों का त्वरित गति से प्रणयन हो रहा है। विषय और शैली की दृष्टि से प्रस्तुत प्रयोग काफी आशा-प्रद हैं। हिन्दी के समर्थ आलोचक वर्ग को इस ओर समुचित ध्यान देकर इस विधा को यथेष्ट प्रोत्साहन देना चाहिए।

हिन्दी गीति नाट्य : उद्भव और विकास

गीति नाट्य काव्य और नाटक का एकत्र सम्मिश्रण है, जो कि आज के युग की माँग को पूरा करता है। इसका उद्भव आधुनिक प्रकृतवादी अति यथार्थवादिता, समस्या एवं बौद्धिकता प्रधान गद्य नाटकों की निर्जीव शुष्कता और नीरसता, गद्य के माध्यम से मानव की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की अपूर्णता तथा लिरिकल पोएट्री की

प्रतिक्रिया में हुआ है। वस्तुत गद्य के विशुद्ध माध्यम से मानव के रागात्मक अन्तव्यक्तित्व और उसकी रहस्यवादी प्रकृति की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इस कार्य की पूर्ति सिनेमा से भी सम्भव नहीं। जीवन के गम्भीर सत्यों को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए नाटक मे काव्य की क्षमता मानी आवश्यक है। लोक नृत्य तथा संगीत रूपकों ने भी गीति नाट्य की लोकप्रियता की वृद्धि मे काफी सहायता दी है। आज जनरुचि गीति काव्य की अपेक्षा गीति नाट्य के प्रति अधिक उन्मुख है।

अन्तर्जीवन तथा बहिर्जीवन का सक्षम चित्रण, सजीव चरित्रांकन, भावमय पात्र, कवितामय कथोपकथन, अनुकूल छन्द विधान तथा भाषा शिल्प के अन्तर्गत भावअर्थी बिम्बों तथा प्रतीकों की सम्यक् योजना एक सफल गीति नाट्य रचना के प्रमुख तत्त्व हैं।

हिन्दी में गीति नाट्य का उद्भव प्रतिक्रियात्मक नहीं है। भारत मे इस परम्परा का कारण कवि और नाटककार का सम्मिलित व्यक्तित्व रहा है। यहाँ के नाटकों में आरम्भ से ही काव्य और संगीत का प्राधान्य रहा है। हिन्दी का छायावादी कवि अंग्रेजी के रोमाटिक तथा बंगला के गीति नाट्य साहित्य से प्रभावित हुआ। इस प्रकार छायावादी काल में ही गीति नाट्य परम्परा की पृष्ठभूमि तैयार हो गई।

हिन्दी में गीति नाट्य परम्परा का आरम्भ जयशंकर प्रसाद के करुणालय से हुआ। इसमें वैदिक घटना का रूपान्तर है, जिसमें यज्ञों की बलि प्रथा की करुणहीनता पर एक तीखा व्यग्य है। इसमें शुन शेफ की कविता दी गई है। मैथिलीशरण गुप्त के अनघ में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के सामाजिक पक्ष को चित्रित किया गया है। इसका प्रमुख पात्र मघ गांधीवादी विचारधारा और नीति का प्रतीक है। लेखक ने मघ को भगवान् बुद्ध का साधनावतार कहा है, जो कि लोक सेवा, श्रम, अहिंसा, त्याग, साधना तथा शुद्धाचरण के द्वारा क्षुद्र और दूषित मनोवृत्तियों को जीतने के लिए संघर्ष करता है। सियारामशरण गुप्त का उन्मुक्त, कृष्णा कुमारी और हरिशंकर और हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' अनघ की कोटि के गीति नाट्य हैं। भगवती चरण वर्मा का 'तारा' उनके प्रसिद्ध उपन्यास चित्रलेखा की भांति पाप और पुण्य की समस्या पर केन्द्रित है। तारा अपनी यौवन सुलभ उदात्त यौनवासना को तृप्त करना चाहती है। उधर अपने पति बृहस्पति के प्रति धर्म और कर्तव्य भावना उसे रोकती है। इस प्रकार इस गीति नाट्य में वासना और धर्म भावना का अन्त संघर्ष का मार्मिक चित्रण है। उदयशंकर भट्ट के मत्स्य गधा विश्वामित्र और राधा गीति नाट्य भाव प्रधान हैं। लेखक ने अपने तीनों गीति नाट्यों में नारी के प्रेम की चिरन्तन समस्या को उठाया है। इनकी कथायें पौराणिक हैं तथा वे प्रतीकात्मक हैं। ये कृतियाँ पर्याप्त मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक हैं। इन नाटकों के पात्र प्रतीकात्मक पद्धति के द्वारा अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को स्पष्ट करते हैं। प्रकृति के रूप विधान द्वारा मानव मन की वृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। शिल्पी, रजत शिखर और सौवर्ण सुमित्रानन्दन पन्त के तीन गीति नाट्य सग्रह हैं। इनमें बारह गीति नाट्य हैं, जो

समय-समय पर आकाशवाणी के भिन्न-भिन्न रेडियो केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं। इनमें चिन्तन और कल्पना सौन्दर्य का सुन्दर योग है। गिरिजाकुमार माथुर के अनेक गीति नाट्य आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित तथा नाना पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें कल्पान्तर, दंगा, राम, मशादीप, इन्दुमती, व्यक्तिमुक्त स्वर्ण श्री और अमर है आलोक आदि प्रमुख गीति नाट्य हैं। कल्पान्तर में अणु-युद्ध की समस्या है। राम में राम द्वारा शंबूक नामक शूद्र के वध की कथा है। दंगा मे भारत के विभाजन के समय के सांप्रदायिक दंगों का चित्रण है। इन्दुमती में राजा अज और इन्दुमती के प्रणय का कोमल चित्र है। मशादीप मे प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज के युग तक के भारत की संस्कृति का चित्र है। व्यक्तिमुक्त में भारतीय गणतन्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण है। स्वर्ण-श्री में युग पुरुष गांधी जी के उदय और 'अमर है आलोक' में गांधी जी के निधन का उल्लेख है। इन गीति नाट्यों द्वारा माथुर ने समसामयिक जीवन की समस्याओं को उजागर किया है। सिद्धनाथ कुमार द्वारा प्रणीत "सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक" में पांच गीति नाट्यों का सकलन है। युग सत्य को दर्शाना प्रत्येक रचना की मुख्य विशेषता है। इनमें यथार्थ-परक भावमयी रागात्मकता और बहिर्जीवन का प्रतिध्वनन का अद्भुत अंकन है। सृष्टि की सांझ में युद्ध की विभीषिका के भयावह परिणामों का उल्लेख है। लौह देवता मे आधुनिक युग की औद्योगिक समस्याओं का चित्रण है। 'बादलों का शाप' में सिद्धनाथ कुमार ने सामाजिक समस्या का सवेदनमय चित्र अंकित किया है। एक स्थल पर बादल अनवरत बरसते हैं तो दूसरी जगह नितांत सूखाग्रस्त रहता है। इन गीति नाट्यो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सर्वत्र आशावादी स्वर बना रहा है। इनके 'संघर्ष' और 'विकलांगों का देश' गीति नाट्य की दृष्टि से पर्याप्त सुन्दर हैं। डा० धर्मवीर भारती का अन्धा युग आधुनिक गीति नाट्य साहित्य की एक विशेष उपलब्धि है। इसमें गीति नाट्य कला एक आशाजनक उत्कर्ष पर पहुँची है। अतः इसका विस्तृत उल्लेख अपेक्षित है। इससे पूर्व हिन्दी में केवल एकांकी गीति नाट्यों का सृजन हुआ था।

अन्धा युग (१९५४) यशस्वी लेखक धर्मवीर भारती की एक उत्कृष्ट रचना है। लेखक ने दृश्य काव्य, काव्य, गीति नाट्य और लम्बा नाटक आदि काव्याभिधाओं से अभिहित किया है। जबकि बहुत से आलोचक इसे काव्य की उपर्युक्त विधाओं में रखना समीचीन नहीं समझते। इसमें रंग अभिता की पर्याप्त अर्हता इसे मात्र रेडियो रूपक अथवा रेडियो नाटक की कोटि से ऊपर उठा देती है। कुछ विद्वानों ने अन्धा युग में कवित्व और नाट्य गुणों के सुन्दर योग के आधार पर इसे काव्यरूपक अथवा काव्य नाटक कहना उचित समझा है किन्तु सच यह है कि अन्धा युग जयदेव के गीत गोविन्द के समान आधुनिक साहित्य के शिल्प जगत में एक नवीन सदर्भ संयोग है। इसमें एक साथ काव्यमयता, रंगमचीयता, ध्वनि प्रभाव, लोक नाट्याश्रयिता नव और पुरातन शिल्पों की एकात्मकता, रस और विचार, पौराणिकता और आधुनिकतम,

इतिहास रहस्य और युग सत्य आदि की योग्यतायें दृष्टिगोचर होती हैं।

इस काव्यकृति में महाभारत के युद्ध के अठारहवें दिन की सन्ध्या का वातावरण, कौरव पाडव युद्ध का परिणाम युधिष्ठिर का शासन काल और प्रयास वन क्षेत्र में कृष्ण के परलोक गमन आदि की घटनायें अंकित हैं। कथानक का आधार महाभारत तथा विष्णु पुराणादि ग्रन्थ हैं किन्तु इसे एक नये सदर्भ के नव-आलोक में प्रस्तुत किया गया है। यह एक समस्या मूलक कृति है। इसमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर विचारात्मकता की अधिकता है। अत इसमें आज की विश्वव्यापी कुंठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध तथा युद्धजनित मर्मन्तुद विभीषिका आदि की समस्याओं के यथार्थ चित्रणों द्वारा मानव जीवन के चिरान्वेष्य दुर्लभ सत्य को खोजने का प्रयास किया गया है। यद्यपि लेखक ने संस्कृत नाटकों की पद्धति पर मगलाचरण के अन्तर्गत विष्णु, सरस्वती तथा व्यास की वन्दना के बाद स्थापना का प्रयोग किया है किन्तु लेखक का मूल उद्देश्य अन्धों के माध्यम से कथा ज्योति को दर्शाना है। अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी पथ भ्रष्ट व्यक्तियों के जीवन दर्शन को चित्रित कर उन्हें आज के युग जीवन के वृहत् परिपार्श्व मे रखकर उन्हें नवज्योति के लिए विकल दिखाया गया है और कदाचित् यही बात इस कृति के नामकरण का आधार है। इसके संक्षिप्त से कथानक को पाँच अंकों मे विन्यस्त किया गया है। कथा में सर्वत्र गत्यात्मकता है। गौण-कथाओं ने कथानक की रसात्मकता मे कहीं भी अवरोध उपस्थित नहीं किया। सकेत-निर्देशों और सफल प्रतीक योजना ने कथानक के द्रुततर विकास को और भी अधिक कलात्मकता प्रदान कर दी है। युद्ध के भीषण वातावरण को बड़ी सफलता के साथ अंकित किया गया है। पौराणिक कथानक में भारती ने कवि सहज कल्पना का प्रशस्त उपयोग किया है। लेखक का यह विश्वास है कि सब कुछ को नियति से पूर्व निर्धारित समझ कर उसके सामने घुटने न टेककर विवशों एव प्रतीपी परिस्थिति का डटकर साहसपूर्वक सामना करना चाहिए। एतदर्थ लेखक के आज के सबसे प्रधान युग की अनुरूपता मे कथानक और पात्रों को नवीन रूप प्रदान किया है। प्रकृति के उग्र दृश्यों का चित्रण युद्धोचित भयावह वातावरण की सृष्टि में सहायक सिद्ध हुआ है। भारती द्वारा आधुनिक युग में अपनी रचना में अत्यधिक अतिमानुषिक घटनाओं के चित्रण को कभी भी संगत नहीं ठहराया जा सकता है।

अश्वत्थामा, कृष्ण, विदुर, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु संजय और वृद्ध याचक प्रमुख पुरुष पात्र हैं। इनके अतिरिक्त कृपाचार्य, बलराम, कृतवर्मा दोनों प्रहरियों और गूंगे सैनिक जैसे गौण पात्रों को भी चित्रित किया है। स्त्री पात्रों मे गांधारी विशेष उल्लेख्य है। कुन्ती, उत्तरा तथा विधवा कौरव वधुओं की भी आनुषगिक चर्चा है। पात्रों की पौराणिक वैयक्तिक विशेषताओं की रक्षा करते हुए उन्हें आधुनिकता के आलोक में ढालने का सफल प्रयास किया गया है। चरित्र चित्रण की सभी उपयुक्त पद्धतियों का यथा स्थान प्रयोग किया गया है। अश्वत्थामा का व्यक्तित्व सबसे अधिक सशक्त और ओजस्वी है। दूसरा सबल व्यक्तित्व गांधारी का है जिसे भारती ने गर्व

की उर्मिला के समान एक सशक्त वाणी प्रदान की है। कृष्ण को एक दार्शनिक राज-नीतिज्ञ, अवतारकार तथा ईश्वर के रूप में अंकित किया गया है। अन्य पात्रों के व्यक्तित्व भी यथावश्यकता पर्याप्त सजीव बन पड़े हैं।

"अन्धा-युग" की रंगमंचीय महत्ता निःसंदिग्ध है। इस का रेडियो रूपान्तरण सफलतापूर्वक किया जा चुका है। लेखक के शब्दों में "मंच विधान को थोड़ा बदल कर यह खुले मंच वाले लोक नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।" सफल दृश्य विधान, बोधगम्य चित्रात्मक भाषा, सटीक रंग संकेत तथा उपयुक्त संवाद योजना 'अन्धा युग' को एक सफल अभिनेय कृति बना देती हैं। हाँ, नाटकीय दृष्टि से वर्जित दृश्यों—दावाग्नि का फैलाना तथा कौरव नारी पर असंख्य गिद्धों का मंडराना आदि स्थलों का अभिनय कोई सुकर व्यापार नहीं है।

शिल्प विधान की दृष्टि से अन्धा युग महत्वपूर्ण है। चित्रात्मक एवं लक्षणात्मक भाषा, प्रतीक योजना, साभिप्राय विशेषणों का सफल प्रयोग, उक्तिवक्रता, सूक्ति प्रवणता तथा सफल आलंकारिकता ने प्रस्तुत कृति के अभिव्यंजना पक्ष को मार्मिक बना दिया है।

आधुनिक साहित्य में एक नवीन साहित्यिक सदर्भ-संशोध की दृष्टि से अन्धा-युग श्री भारती की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

'कवि श्रेष्ठ दिनकर की गीति नाट्य कृति "उर्वशी" (१९६१) प्रसाद की कामायनी के पश्चात् आधुनिक हिन्दी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। कवि किसी भी राष्ट्र की सर्वाधिक सुन्दर अभीप्साओं का चितेरा होता है। वह अपनी सतत् साधना, तप और नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा से विश्व भारती का उज्ज्वल शृंगार कर उसे अमर बना देता है। उर्वशी इस तथ्य का एक ज्वलन्त निदर्शन है। आज के अहंवादी कवि मानी वर्ग की वैयक्तिक काम कुंठाओं से ग्रस्त तथाकथित विपुल साहित्य के सामने काम-प्रेम के स्वस्थ, संतुलित और सुदरतम रूप को उर्वशी के माध्यम से उपस्थित कर प्राणवान दिनकर ने यह दर्शा दिया है कि श्रेय, प्रेम और सौन्दर्य साहित्य के अनिवार्य धर्म हैं।

उर्वशी में चर्चित पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय कथा ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक में उल्लिखित है। कवि ने उसे आज के युग जीवन के संदर्भ में रखकर एक नया रूप प्रदान कर दिया है। इस रचना के पाँच अंकों में लेखक ने प्रेम और काम की मर्मपूर्ण विशद व्याख्या की है। पुरूरवा सनातन पुरुष का प्रतीक है जबकि उर्वशी सनातन नारी का प्रतीक। ये दोनों काम के सामान्य और विशेष रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पुरूरवा रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द जनित सुखों से उद्वेलित मनुष्य है, जबकि उर्वशी चक्षु, रसना घ्राण, त्वचा तथा ओज की कामनाओं का प्रतीक है। काम जब तक जैवस्तर पर तृप्ति प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह दिव्य प्रेम का रूप धारण नहीं करता। प्रेम रूपी पौधे की

जड़ें तो पृथ्वी में हैं किन्तु उसके सुन्दर पुष्प आकाश में खिलते हैं। प्रेम-जगत में यही धारा और स्वर्ग का सम्मिलन है। कवि के अपने शब्दों में "नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते, उसके मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि मे पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है।" और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलन की आकुलता में नारी अग सज्ञा के पार पहुँचना चाहती है। परिरभ पाश में बधे हुए प्रेमी, परस्पर एक-दूसरे का अतिक्रमण कर किसी ऐसे लोक में पहुँच जाना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है। इन्द्रियो के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।" काम का दिव्य प्रेम के रूप में यही उदात्तीकरण काम का निष्काम बोध और वासना की उत्तरोत्तर निराकार समाधि है जहाँ द्वन्द्वात्मक सब भेद विलुप्त हो जाते हैं और शेष रहती है एकमात्र समसरता :—

अद्वैत सुखदु खयोरनु गुणं सर्वास्ववस्था सु यत्। भवभूति

भारतीय आख्यान साहित्य में मनु और इडा तथा पुरूरवा और उर्वशी के आख्यान अत्यन्त साभिप्राय और महत्त्वपूर्ण है। इनमें पहला पुरुषार्थ के अर्थ पक्ष को महत्त्व देता है जबकि दूसरा काम को महत्त्व दे उसे त्रिवर्ग का साधक मानता है। काम, हृदय, कला, सस्कृति, सौंदर्य और अन्तत. निरुद्देश्य आनन्द की जन्म भूमि है। प्रसाद की कामायनी कर्त्तव्य पक्ष को उपस्थित किया गया है जबकि उर्वशी में जीवन के अभिन्न काम पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। उर्वशी कामायनी की पूरक है। एक यदि पूर्वार्द्ध है तो दूसरा उत्तरार्द्ध। आज के काम कुंठाओं की विकृत भ्रम कुहेलिका से ग्रस्त, आतुर पथ भ्रष्ट विश्व के लिए उर्वशी कार का यह स्पष्ट उद्घोष है कि "मानवीय प्रेम की सारी लीला शरीर पर समाप्त नहीं होती। उसके बहुत से मत वायवीय और निराकार हैं। पशु जगत् में जो नाटक मासपेशियो और स्नायु तत्र की गवाही में चलता है, मानवीय धरातल पर उसके मोक्ता मन और आत्मा भी हैं।" कामवासना जीवन का एक अनिवार्य अंग तो अवश्य है किन्तु वह स्वय अगी नही है। उससे परे जीवन में और भी बहुत कुछ है जीवन की अन्तिम परिणति के रूप में स्थूल शरीर लोक से परे दिव्याभोज्ज्वल अतीन्द्रिय आत्मलोक भी है।

उर्वशी में नारी पात्रों का प्राधान्य है। उनमें उर्वशी, सुकन्या और औशीनरी प्रमुख हैं। अप्रमुख पात्रों में चित्रलेखा, रभा, मेनका, निपुणिका, मदनिका और सहजन्या आदि की गणना की जा सकती है। उर्वशी और पुरूरवा इस महाकाव्यात्मक गीति नाट्य के क्रमश: नायिका और नायक हैं।

प्रेम के परिष्कृत देवता के जागरण का यह अद्भुत काव्य उर्वशी शृंगारी कवि के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करता है—काम अपनी समग्र स्थूलता में शास्त्र का विषय है जबकि उसकी परिष्कृत, उदात्त, सूक्ष्म एव मानसिक भावदशा काव्य का

विषय है। कवि ने शारीरिक धरातल पर काम के उद्भव से लेकर उसकी सम्भोग के चरम क्षणों में परिणति को इतनी कलात्मकता, सांकेतिकता और ध्वन्यात्मकता से चित्रित किया है कि उसमें कहीं भी मांसलता का संस्पर्श नहीं है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि उर्वशी को छिछले आलिंगन चुम्बन की कुत्सित का काव्य कहना सर्वथा असंगत और अन्यायपूर्ण है। उर्वशी दिनकर की कवित्व शक्ति-सम्पदा का एक सुन्दर एवं प्रशस्यतम परिपाक है। दिनकर का पहला काव्य रूपक 'मगध महिमा' है तथा अन्तिम, नवीनतम व श्रेष्ठतम काव्य रूपक उर्वशी है। मगध-महिमा में मगध के अतीत वैभव का भव्य वर्णन है। इस रचना में बुद्ध सुजाता तथा अशोक आदि पात्र अतीव अनुभूतियों से सम्पन्न बन पड़े हैं। भगवतीचरण वर्मा के काव्य रूपक तारा का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त इनके अन्य गीति-नाट्य हैं—कर्ण, महाकाल तथा द्रौपदी। निराला का गीतिनाट्य पंचवटी-प्रसंग, गिरिजा कुमार का इन्दुमती तथा आरसी प्रसाद सिंह का मदनिका और धूप छाँह उल्लेखनीय हैं। सेठ गोविन्ददास का 'स्नेह या स्वर्ग' काव्य रूपक भी महत्त्वपूर्ण है। दुष्यन्त कुमार का गीतिनाट्य 'एक कंठ विष पायी' प्रजापति दक्ष के यज्ञ से संबद्ध कथानक पर आधारित है। पार्वती उस यज्ञ में अपने पति महादेव को आमंत्रित न देखकर यज्ञाग्नि में दग्ध हो जाती है। सती दाह को सुन कर क्रुद्ध महादेव देवताओं के नाश करने पर तुल जाते हैं, किन्तु विष्णु देवता के बीच बिचाव के कारण युद्ध टल जाता है। लेखक ने इस कथानक में निज युग को प्रतिबिंबित करने की चेष्टा की है। इसमें उसे आंशिक रूप में सफलता भी मिली है। इस नाट्य कृति में कथानक का संयोजन इस ढंग से हुआ है कि उसमें मानव की संघर्षशील स्थितियों के लिए अधिक अवकाश नहीं था।

हिन्दी गीति नाट्य साहित्य के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट है कि साहित्य की यह विधा, प्रवृत्ति प्रगति और जनरुचि की दृष्टि से साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है और यह मानव जीवन के आन्तरिक पक्ष का रागात्मक चित्र प्रस्तुत करने का एक सशक्त माध्यम सिद्ध हो चुकी है। रेडियो इसके प्रसार और प्रचार के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ है। हिन्दी के गीति नाट्यों में कहीं-कहीं खटकने वाली वस्तु है उनमें काव्यत्व और नाटकत्व के स्वस्थ एवं सुन्दर समन्वय का अभाव है। इन दोनों तत्वों की एकात्मकता आधुनिक हिन्दी गीति नाट्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है। नाटक प्रधानतः जीवन-धर्मी है। जीवन के माध्यम से गीति-नाट्य में जीवन के अनिवार्य अंग के रूप में चित्रित स्वाभाविक कविता इस विधा की प्रगति के लिए उपादेय है। केवल अलंकरण के निमित्त थोपी हुई कविता इसका उपकारक उपादान नहीं हो सकती। टी॰ एस॰ इलियट के शब्दों में "गीति नाट्य तभी प्रश्रय पा सकता है जबकि उसकी कविता जनता को अपनी चीज मालूम दे और नाटक के पद्यमय वार्तालाप को सुनते हुए दर्शक यह कह सके कि मैं भी कविता बोल सकता हूँ।" (हिन्दी गीति नाट्य, पृ॰ १३१)

हिन्दी-उपन्यास साहित्य का विकास

उपन्यास शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—उप-निकट, न्यास—रखा हुआ, अर्थात् साहित्य का वह अंग जिसका विकास अपेक्षाकृत आधुनिक काल में हुआ। हिन्दी में इस शब्द का व्यवहार योरुपीय साहित्य के प्रभाव स्वरूप हुआ है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि भारत में पहले उपन्यास जैसी वस्तु की सत्ता थी ही नहीं। भारतीय संस्कृत साहित्य में हितोपदेश, पचतन्त्र कथा, सरित्सागर, बृहत्कथा, वैताल पच विंशति, वासवदत्ता, दश कुमार चरित तथा कादम्बरी आदि कथा साहित्य ग्रंथों में औपन्यासिकता अपने यत्किंचित् रूप में विकसित हो चुकी थी। हाँ, यह दूसरी बात है कि उक्त ग्रंथों में आधुनिक उपन्यासों के सारे गुण और योग्यताएँ मिलनी सम्भव नहीं हैं। कतिपय विद्वानों के अनुसार बाण की 'कादम्बरी' भारत का पहला उपन्यास है। इसका प्रमाण यह है कि मराठी साहित्य में उपन्यास शब्द का पर्यायवाची शब्द "कादम्बरी" आज भी प्रचलित है, किन्तु कादम्बरी में अलौकिकता, भावात्मकता और अलंकारिकता के अत्यधिक आग्रह के कारण उसे आधुनिक उपन्यास की परिभाषा के अर्थ को ग्रहण करना असंगत होगा। दश कुमार चरित मे आधुनिक उपन्यास की बहुत सारी योग्यताएँ विद्यमान हैं, किन्तु उसकी भिन्न-भिन्न कथाओं को मूल कथावस्तु के क्षीण तन्तुओं से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है जो कि आधुनिक उपन्यास की दृष्टि से एक दोष है। अस्तु दशकुमार चरित में कतिपय दोषों के होते हुए भी उसमें औपन्यासिक योग्यतायें असंदिग्ध हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों के समान उपन्यास का विकास भी अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव और सम्पर्क से हुआ है। योरुप मे उपन्यास साहित्य का विकास रोमांटिक कथा साहित्य से हुआ। योरुप का रोमांटिक कथा साहित्य भारतीय प्रेमाख्यानों की अरबों के माध्यम से विश्व यात्रा के समय उनसे निश्चित रूप से प्रभावित हुआ होगा। इस प्रकार भारतीय कथा साहित्य अपने थोड़े बहुत रूप-परिष्करण और परिवर्तन के पश्चात् उपन्यास के रूप मे पुनः भारत लौटा। निःसन्देह भारतीय साहित्य मे आधुनिक उपन्यासों के बहुत से उपकरण विद्यमान थे, किन्तु १९वीं शती के हिन्दी साहित्य में उपन्यास का उद्भव और विकास अंग्रेजी साहित्य के परिणामस्वरूप हुआ। भारत के जो प्रदेश अंग्रेजी सम्पर्क में पहले आए, उनमें उपन्यासों का प्रचलन अपेक्षाकृत कुछ पहले हुआ। यही कारण है कि बंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पहले आरम्भ हो गई, अतः हिन्दी उपन्यास साहित्य पर बंगला के अनेक लेखकों का प्रभाव पड़ा।

हिन्दी गद्य साहित्य के अन्य अंशों के समान उपन्यासों का उद्भव आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में भारतेन्दु काल मे हुआ। यह ठीक है कि आधुनिक उपन्यास का विकास योरुप मे हुआ, भारत मे नहीं, किन्तु हिन्दी मे उपन्यासों का विकास पाश्चात्य उपन्यास साहित्य के अनुकरण पर नहीं हुआ। हिन्दी मे उपन्यासों के पूर्व बंगला साहित्य मे यह अंग काफी विकसित हो चुका था और कदाचित् बंगला साहित्य

की देखा देखी हिन्दी में भी उपन्यासो का सूत्रपात हुआ। प्रारम्भिक काल मे बगला के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी कोई कम नहीं हुआ। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की उपन्यास परम्परा को संस्कृत के सुबन्धु, दंडी और बाण की परम्परा का पुनरुज्जीवन कहना भ्रमपूर्ण होगा।

हिन्दी उपन्यास-परम्परा में उपन्यासकार-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द एक ऐसे केन्द्र बिन्दु हैं जिनके दोनो ओर उपन्यास साहित्य की भिन्न भिन्न रेखायें स्पष्ट दीखने लगती हैं। मुंशी प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी-साहित्य मे आचार, नीति, धर्म उपदेश और सुधार सम्बन्धी उपन्यास लिखे गए या केवल मनोरजनार्थ तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यास लिखे गये जिनका जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रेमचन्द ने कला और जीवन का सन्तुलित सामजस्य उपस्थित कर अपनी मौलिक, प्रौढ़ एव गरिमामयी कृतियो से जहाँ हिन्दी-साहित्य को सर्वोन्नत किया वहाँ वास्तविक रूप में हिन्दी उपन्यास परम्परा का सूत्रपात तथा युग-प्रवर्तन का श्लाघ्य कार्य भी किया। प्रेमचन्द के अन्तिम दिनो में या बाद में उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिक यथातथ्यवाद, व्यक्तिवाद, कुंठावाद और यथार्थवाद की विकृति, प्रकृतिवाद आदि कतिपय नई प्रवृत्तियाँ जन्मी जो विषय वस्तु एव लक्ष्य की दृष्टि से प्रेमचन्दोत्तर साहित्य को प्रेमचन्द-युग के साहित्य से भिन्न कर देती हैं। अत हिंदी-उपन्यासों की विकास परम्परा को हम तीन मार्गों —पूर्व प्रेमचन्द युग, प्रेमचन्द युग और प्रेमचदोत्तर युग में विभाजित करके उस परम्परा का अध्ययन करेंगे।

पूर्व प्रेमचन्द युग—भारतेन्दु ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सभी अगों में अभिवृद्धि करने के लिए महत्वपूर्ण योग दिया है। उन्होंने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, किन्तु वह पूर्ण न हो सका। इसके अतिरिक्त इन्होंने पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास का अनुवाद किया था। हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास श्री निवासदास-कृत 'परीक्षा गुरु' है। इस रचना मे दिल्ली के एक सेठ पुत्र की कहानी है। सेठ पुत्र कुसगति मे पड जाता है और अन्त मे उसका एक सज्जन मित्र द्वारा उद्धार हो जाता है। इसमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति प्रधान है लेखक ने भूमिका में स्वीकार किया है कि इसके लिखने मे उसे संस्कृत के महाभारतादि, फारसी के गुलिस्ता आदि, अग्रेजी के सार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ और विलियम कूपर आदि तथा स्त्री-बोध के वर्तमान रिसालों से विशेष सहायता मिली है। अस्तु, यह एक सुधारात्मक साधारण सा उपन्यास है।

इस काल में सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम प्रधान एव तिलस्मी तथा ऐयारीपूर्ण कई प्रकार के उपन्यास लिखे गये। रत्नचन्द प्लीडर का **नूतन चरित**, बालकृष्ण भट्ट का नूतन ब्रह्मचारी तथा सौ अजान और एक सुजान, राधाकृष्णदास का नि सहाय हिन्दू, राधाचरण गोस्वामी और देवीप्रसाद शर्मा का विधवा विपत्ति, किशोरीलाल गोस्वामी का लवग लता और कुसुम कुमारी, बालमुकुन्द गुप्त का कामिनी आदि सामाजिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी, ब्रजनन्दन सहाय, बलदेवप्रसाद मिश्र तथा कृष्ण प्रकाशसिंह अखोरी आदि अनेक लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमे इतिहास नाम मात्र को है। इन पर तिलस्मी उपन्यासों का प्रभाव है। इन रचनाओं में ऐतिहासिक उपन्यासो के अनुकूल वातावरण की सृष्टि का भी अभाव है। ब्रजनन्दनसहाय के लाल चीन तथा मिश्रबन्धुओ के वीरमणि को ऐतिहासिकता तथा उपन्यास-कला की दृष्टि से थोडा सा सफल कहा जा सकता है। लाल चीन मे गयासुद्दीन बलबन के एक गुलाम की कहानी है और वीरमणि में अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड़ पर चढ़ाई की काल्पनिक पृष्ठभूमि दी गई है।

इसके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ मिश्र और काशीप्रसाद आदि अनेक लेखको ने प्रेमाख्यानक उपन्यास लिखे जिनमें प्रेम का रूढ़िबद्ध वर्णन है। उसमे जीवन के किसी मार्मिक पक्ष का उद्घाटन नहीं किया गया है। इन उपन्यासो के अतिरिक्त इस काल में बगला के उपन्यासो का अनुवाद-कार्य भी प्रेमचन्द के आगमन तक बराबर चलता रहा। भारतेन्दु ने स्वय एक उपन्यास का अनुवाद किया। प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने बगला के कई उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया। गदाधरसिंह ने बग विजेता और दुर्गेशनन्दिनी, कीर्तिकप्रसाद खत्री ने इला, प्रमिला जया और मधुमालती तथा रामकृष्ण वर्मा ने चित्तौड़ चातकी आदि कई उपन्यासो का अनुवाद किया। जहाँ बगला के उपन्यास लेखको—बकिमचन्द्र, शरतचन्द्र राखालदास तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति—की कृतियों का अनुवाद हुआ वहाँ उर्दू, मराठी, गुजराती तथा अग्रेजी भाषा के अनेक उपन्यासों का भी अनुवाद किया गया। प्रेमचन्द से पूर्व मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अनूदित उपन्यासो की सख्या भी शायद अधिक रही और स्तर भी कुछ ऊँचा रहा।

इस काल में मौलिक उपन्यास लेखकों मे देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खत्री तथा गहमरी के तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों ने हिन्दी-जगत में धूम मचा दी। इनके अनुकरण पर देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि अनेक लेखको ने जासूसी उपन्यासों का एक ताँता बाँध दिया। खत्री जी के चन्द्रकाता और चन्द्रकाता सतति इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक हिन्दी न जानने वालों को केवल इन उपन्यासो को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखनी पडी। भले ही खत्री जी के उपन्यासों का कलात्मक महत्त्व न हो, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। गहमरी ने पाँच दर्जन से अधिक जासूसी उपन्यास लिखे जिनका आधार अग्रेजी के जासूसी उपन्यास हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द तथा इन जासूसी उपन्यास लेखको के बीच की कड़ी के रूप में अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता तथा कुछ अनुवादकर्त्ताओं का नाम लिया जा सकता है। हरिऔध ने ठेठ हिन्दी का ठाठ तथा अधखिला फूल उपन्यास लिखे जिनमे जबानदानी तथा मुहावरों का ठाठ है। मेहता के आदर्श हिन्दू और हिन्दू गृहस्थ सुधारवादी सामाजिक उपन्यास हैं।

विषय एवं शैली का विवेचन—इस काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी तथा प्रेमप्रधान उपन्यास लिखे गये। प्रेमाख्यानक उपन्यासो मे व्यक्ति के अन्तर के विश्लेषण का अभाव है। इन उपन्यासों का प्रेम रीतिबद्ध शृंगार परम्परा से ऊपर नहीं उठ सका है। सामाजिक उपन्यासों में नैतिक शिक्षा, समाज सुधार, भारतीय आदर्श तथा पश्चिमी सभ्यता की कटु आलोचना है। इस युग के उपन्यासों म औपन्यासिक कलात्मकता का अभाव है। तिलस्मी उपन्यासों मे मनोरंजन की प्रधानता है, उनका जन-जीवन के साथ कुछ सरोकार नहीं। उनमें अस्वाभाविकता और अतिमानवीयता है। ऐतिहासिक उपन्यास केवल नामधारी ऐतिहासिक उपन्यास हैं। हाँ, इस काल के अनूदित उपन्यासो का स्तर उस समय के मौलिक उपन्यासों से कुछ ऊँचा है। प्रेमचन्द से पूर्व इस काल की कोई भी ऐसी कृति नहीं है जो कि साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बनने के योग्य हो।

इन उपन्यासों मे वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक तथा सम्भाषण, तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। भाषा के तीन रूप अपनाये गये हैं—संस्कृत मिश्रित, हिन्दी, उर्दू-मिश्रित तथा सरल भाषा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस काल के उपन्यासों में जीवन की आलोचना और गम्भीर दृष्टि का अभाव है।

प्रेमचन्द युग—उपन्यासकार सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द के पदार्पण से उपन्यास साहित्य की रिक्तता की पूर्ण अर्थों में पूर्ति हुई। वस्तुतः वे हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार तथा युग प्रवर्तक हैं। इनके उपन्यासो में प्रथम बार जन-सामान्य को वाणी मिली और कला केवल मनोरंजन का खिलवाड़ न रहकर जीवन मर्मों को उद्घाटित करने वाली बनी। उनके उपन्यासों में विशाल जन जीवन और विशेषतः भारत के किसान और मध्यवर्गीय जीवन की अनेकमुखी समस्याएँ कलात्मक रूप से चित्रित हुई हैं। उनके उपन्यासों की सी व्यापक पट भूमि हिन्दी तो क्या किसी भी भारतीय भाषा के उपन्यासकार में नहीं है। उनके उपन्यास भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के सटीक भाष्य हैं और तत्कालीन उत्तरी भारत के सवाक् चित्र। इनके पात्र मांसल, सजीव, व्यक्तित्व-सम्पन्न साधारण मानव हैं, जिनमें उदात्त, अनुदात्त क्षुद्र तथा सुन्दर, अच्छे और बुरे सब पहलू हैं। उसमें राजा से लेकर रंक सब हैं और ऐसा लगता है कि जैसे हम स्वयं उनके औपन्यासिक जगत में विचरण कर रहे हों। इसी प्रकार कथोपकथन, शैली, वातावरण तथा उद्देश्य आदि अन्य औपन्यासिक तत्त्व सभी उनमें कलात्मक रूप से विकसित दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद मानवतावादी कलाकार प्रेमचन्द के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लाछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार विचार, भाषा भाव, रहन-सहन, आशा आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।

झोपड़ियों से लेकर महलों, खोमचे वाले से लेकर बैंकों, गाँव से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।"

प्रेमचन्द ने दो प्रकार के उपन्यास लिखे हैं, राजनीतिक और सामाजिक। इनमे समग्र रूप से भारतीय जीवन की बहुमुखी समस्याएँ चित्रित की हैं। उनके 'प्रेमा' और 'वरदान' उन दिनों के उपन्यास हैं जब वे नवाबराय के नाम से उर्दू मे लिखा करते थे। सेवादान' उनका कलात्मक दृष्टि से प्रथम प्रौढ उपन्यास है जिसमें मध्य वर्ग के विडम्बनामय जीवन का चित्र है। 'प्रेमाश्रम' में ग्राम्य जीवन की समस्याओं का विशाल चित्रण है। 'सेवासदन' मे वेश्याओं की समस्या है तो प्रेमाश्रम मे किसानो की। 'रंगभूमि' इनका सबसे बडा उपन्यास है और इसमें शासक वर्ग के अत्याचारों की समस्या है। 'कर्मभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें जनता की साम्राज्य विरोधी भावना है। 'प्रतिज्ञा' की समस्या विधवा-विवाह से संबद्ध है। 'गबन' में उन्होंने भूषणों की लालसा के दुष्परिणामों को दर्शाया है। 'काया-कल्प' उनकी उपन्यास *परम्परा के विपरीत योगाभ्यास, पुनर्जन्मवाद आदि विषयों से सम्बद्ध है* और *यह उनका* सबसे हल्का उपन्यास है। 'निर्मला' में अनमेल विवाह के दुष्परिणामों और विमाता की समस्याओं का चित्रण है। 'गोदान' मे किसान एवं मजदूर के शोषण की करुण कथा है। गोदान मुंशी प्रेमचन्द का ही नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। गोदान और निर्मला को छोड कर बाकी उपन्यासो मे प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रहे हैं, वे समस्या को उठाकर गाँधीवादी ढग से कोई न कोई उसका समाधान भी प्रस्तुत कर देते हैं, किन्तु निर्मला और गोदान मे वे एकदम यथार्थवादी दृष्टिगोचर होते हैं। कदाचित् यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते गांधीवाद से उनकी आस्था उठ गई थी। इन उपन्यासों में केवल समस्याएँ हैं, समाधान नहीं है। गोदान का होरी दुःख मे जन्मा, दुःख में पला और दुःख में मरा। गोदान सर्वथा एक यथार्थवादी उपन्यास है। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द की विषय व्यापकता और तलस्पर्शिनी चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता की मुक्त-कंठ से प्रशसा करते हुए भी उन्हें प्रथम कोटि का कलाकार न कहकर द्वितीय कोटि का कलाकार कहा है। उनका प्रधान आक्षेप है कि नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा अपेक्षाकृत इनमे कम है, किन्तु हमारे विचार में यह पूर्वग्रह के सिवाय और कुछ नहीं।

प्रेमचन्द-युग में अन्य भी अनेक प्रतिभाओं का उदय हुआ, जैसे—जयशंकर प्रसाद—ककाल, तितली ईरावती, शिवपूजनसहाय—देहाती दुनियाँ, चतुरसेन शास्त्री—परख, हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा आदि, विश्वभरनाथ कौशिक—माँ भिखारिणी, बेचन शर्मा उग्र—दिल्ली का दलाल, चद हसीनों के खतूत आदि, प्रतापनारायण श्रीवास्तव—विदा, विकास आदि, वृन्दावनलाल वर्मा—विराट की पद्मनी, गढ़ कुण्डार मृगनयनी, महारानी लक्ष्मीबाई आदि जैनेन्द्रकुमार—परख, सुनीता, कल्याणी आदि, इलाचन्द्र जोशी—पर्दे की रानी, प्रेत और छाया, सन्यासी आदि, भगवतीप्रसाद बाजपेयी ऋषभचरण जैन, जी० पी० श्रीवास्तव, सुदर्शन, निराला आदि और भी

अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार इस युग में हुए।

विश्वम्भरनाथ कौशिक और सुदर्शन प्रेमचन्द की परम्परा के अनुयायी हैं। इनके माँ और भिखारिणी सामाजिक उपन्यास हैं। उनके ये दोनों उपन्यास साधारण कोटि के हैं। उपन्यासकार प्रसाद में एक विलक्षण विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। वे अपने काव्य और नाटकों में आदर्शवादी हैं किन्तु उपन्यासों में परम यथार्थवादी। 'कंकाल' इनकी महत्वपूर्ण रचना है। इसमें इन्होंने नि:संकोच भाव से स्त्री-पुरुष प्रेम की समस्या का उद्घाटन किया है। इरावती इनका एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। तितली एक साधारण रचना है।

प्रेमचन्दोत्तर युग—जिस प्रकार उत्तर छायावादी युग में कविता-क्षेत्र में कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ जन्मी, उसी प्रकार प्रेमचन्दोत्तर युग में आख्यान साहित्य में भी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, घोरनग्न यथार्थवाद, अवचेतनवाद, प्रतीकवाद की प्रवृत्तियों का समावेश हुआ। प्रेमचन्द के बाद का उपन्यास साहित्य निश्चित रूप से प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती साहित्य से उच्च है और कदाचित् वाह्यशिल्प विधान में प्रेमचन्द के साहित्य से भी कुछ आगे है, किन्तु इसमें वह भीतरी गहराई नहीं है जो प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य में। प्रेमचन्द का गोदान केवल हिन्दी की ही नहीं विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। गोदान के अनन्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य के पास ऐसी कोई भी वदान्य कृति नहीं है जिसे वह अपनी स्थायी सम्पदा समझे। प्रेमचन्दोत्तर कालीन लेखकों की रचनाओं को एक निश्चित प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखना यद्यपि कठिन व्यापार है परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें प्रवृत्यात्मक वर्गों में विभाजित करके इस विशाल परम्परा को समझना अपेक्षाकृत सुकर रहेगा।

सामाजिक उपन्यास—प्रसाद और कौशिक के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं पर लिखने वाले उपन्यासकारों में उग्र, चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के नाम प्रमुख हैं। प्रसाद के समान उग्र में भी एक विलक्षण विरोधाभास के दर्शन होते हैं। साहित्य में जोश की दुहाई देने वाले तथा सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले उग्र ने घासलेटी साहित्य को सृजा है। इन्होंने सामाजिक सुधार के नाम पर यथार्थवाद की आड़ में वर्जित विषयों पर खिलकर वीभत्स अश्लीलता का चित्रण किया है। 'बुधुआ की बेटी' आपकी सबसे अच्छी कृति है। चतुरसेन शास्त्री ने अपने सामाजिक उपन्यासों में यह देखने का प्रयास किया है कि वासना मनुष्य को कहाँ तक पतित और नीच बना देती है। 'हृदय की प्यास' में इन्होंने विधवाश्रमों में छिपकर किये जाने वाले दुराचारों का नग्न चित्रण किया है। इस नग्नता को उभारने के लिए इन्होंने कई विशृंखल काल्पनिक प्रसंगों की योजना की है, जहाँ वे आत्मसंयम खो बैठे हैं। अश्क जी का 'सितारों के खेल' रोमानी वातावरण का उपन्यास है। उनके 'गिरती दीवारें' निम्न मध्यवर्ग के जीवन का यथार्थ चित्रण है। इसमें उन्होंने चेतन के माध्यम से आधुनिक समाज की वैवाहिक रूढ़ियों के कारण युवक-युवतियों के [illegible] की प्रवंचना में परिणित एवं दाम्पत्य जीवन की नाना विडम्बनाओं पर यथार्थ

प्रकाश डाला है। इनका नवीनतम उपन्यास 'गरम राख' है। इसके नायक जगमोहन के माध्यम से व्यक्ति चेतना के जागरण से उत्पन्न बेबसी का चित्रण है। लेखक 'बड़ी-बड़ी आँखें' द्वारा भी उक्त समस्या को उजागर करता है। अश्क जी के 'पत्थर अल पत्थर' नामक उपन्यास में वर्तमान कश्मीर की आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का चित्रण है।

सामाजिक उपन्यास लेखकों में अत्यन्त लब्ध प्रतिष्ठ उपन्यासकार हैं—भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, अमृत लाल नागर, उदयशंकर भट्ट, सियाराम शरण गुप्त, विश्वम्भर नाथ कौशिक, सेठ गोविन्द दास तथा विष्णु प्रभाकर आदि।

भगवतीचरण वर्मा की औपन्यासिक कृतियाँ हैं—'चित्रलेखा,' 'पतन', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', आखिरी दाँव, 'भूले बिसरे चित्र,' 'रेखा', 'सीधी सच्ची बातें' तथा 'सबहिं नचावत राम गोसाईं'। उपन्यासकार के रूप में वर्मा को प्रतिष्ठित करने वाला उनका उपन्यास चित्रलेखा है जिसमें पाप पुण्य की समस्या को नाटकीय शैली में उपस्थित किया गया है। चित्रलेखा अनातोल फ्रास की 'थाइस' नामक रचना से प्रभावित है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते की पृष्ठभूमि राजनीतिक है। इसमें सम्मिलित परिवार के विघटित होने की दुखद गाथा है। चित्रलेखा के बाद यह इनका महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। 'आखिरी दाव' की मुख्य समस्या आर्थिक है। आर्थिक मूल्यों के इस युग में धन पिशाच ने व्यक्ति और समाज दोनों को विकृत कर दिया है। 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' की भी मूल समस्या आर्थिक है। 'भूले बिसरे चित्र' वर्मा जी का एक विशालकाय उपन्यास है जिसमें एक मध्य वर्ग के परिवार की चार पीढ़ियों की कहानी के द्वारा विगत पचास वर्षों से बदलते हुए भारतीय समाज के मूल्यों तथा राजनीतिक उथल-पुथल को दर्शाया गया है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी अब तक चालीस से अधिक उपन्यास लिख चुके हैं, जिनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं—चलते चलते, निमन्त्रण, यथार्थ के आगे, टूटा टी सेट, विश्वास का बल, सपना बिक गया तथा सूनी राह। वाजपेयी जी ने प्रेमचन्द के समान अपनी कृतियों में व्यापक पट भूमि को अपनाया है। इनमें व्यक्ति की मान्यता और स्वतन्त्रता के लिए समाज की रूढ़ परम्पराओं और पुराने मूल्यों के प्रति संघर्ष चित्रित किया गया है।

सामाजिक उपन्यास लेखकों में अमृत लाल नागर का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेमचन्द के समान नागर जी भी व्यक्ति और समाज को अन्योन्याश्रित मानते हैं। 'बूँद और समुद्र' इनका बहुचर्चित व लब्ध प्रतिष्ठ उपन्यास है। इसमें बूँद और समुद्र व्यष्टि और समष्टि के प्रतीक हैं।

उदयशंकर भट्ट ने सामाजिक उपन्यासों की परम्परा को पर्याप्त समृद्ध किया है। इस दिशा में उनके उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'डा० शेफाली', 'शेष अशेष' तथा 'लोक-परलोक' उल्लेख्य हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मछुआ जाति का

सर्वांगीण चित्रण है। 'डा० दीपाली' में दीपाली के माध्यम से आजीवन विवशता पूर्वक अविवाहित रहने वाली नारी जीवन की घुटन व अवसाद का चित्रण है। नेप-थ्येय में साधु जीवन की विश्रृंखल भरी कहानी है। प्रस्तुत उपन्यासों के संदर्भ में सियारामशरण गुप्त के 'गोद' अन्तिम आकांक्षा और नारी, रामेश्वर शुक्ल अंचल के 'उल्का' और मरुदीप तथा प्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविन्द दास का 'इन्दुमती' विशेष उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इन्दुमती के द्वारा लेखक ने एक नया प्रयोग किया है। इसमें १६१६ से १६४७ तक का स्वतन्त्रता प्राप्ति का इतिहास इन्दुमती के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के कथानक और इन्दुमती के चरित्र के माध्यम से लेखक ने समाज की नाना विध जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उठाया है। आकार की दृष्टि से इन्दुमती लगभग तीन उपन्यासों के बराबर लगता है। सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में आचार्य चतुरसेन के उपन्यास 'धर्मपुत्र', खग्रास' और 'गोली' उल्लेखनीय हैं। 'धर्म पुत्र' हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या पर आधारित एक समर्थ उपन्यास है। 'गोली' उपन्यास में भारतीय रजवाड़ों के रंग महलों में रहने वाली गोलियों तथा दासियों पर किये गए नृशंस अत्याचारों का वर्णन है। 'खग्रास' वैज्ञानिक खोजों पर आधारित अपने ढंग का एक उपन्यास है। विष्णु प्रभाकर के उपन्यास—'निशिकान्त और 'तट के बन्धन' में व्यापक राजनीतिक परिपार्श्व में मध्यवर्गीय समाज का चित्रण किया गया है।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में बाह्य संघर्ष ने व्यक्ति के अन्त संघर्ष का स्थान ले लिया और उपन्यासकार अनुभूति व कल्पना के बल पर व्यक्ति मानस में होने वाले संघर्षों—उसके अवचेतन तथा उपचेतन की परतें उखाड़ चीर फाड़ करने लगा है। इस दिशा में फ्रायड, युंग, एडलर, स्टेकेल व एलिस हेवलाक के सिद्धान्त तथा मान्यतायें उसकी पथ प्रदर्शक बनी। वह मनो-विश्लेषण की नाना प्रणालियों—स्वप्न विश्लेषण, प्रत्यवलोकन विश्लेषण, सम्मोह विश्लेषण, शब्द सह स्मृति परीक्षा और इतिवृत्तात्मक आदि के आश्रय से व्यक्ति-मानस की गहराइयों को नापने लगा। इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार हैं—जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, डा० देवराज आदि।

इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' उपन्यासों को छोड़कर शेष सभी में फ्रायड के मनोविश्लेषण विज्ञान के सिद्धान्तों का चर्वणमात्र है। कदाचित् वे इन सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप देने के लिए नाना रुग्ण पात्रों और कथाओं की कल्पना कर लेते हैं। इनके प्रेत और छाया, सन्यासी और पर्दे की रानी आदि उपन्यासों में व्यक्ति की दमित वासनाओं, कुण्ठाओं और अर्धचेतन एवं अवचेतन की कथायें भरी पड़ी हैं। ऐसा लगता है जैसे कि लेखक के लिए जीवन में वासना के सिवाय और कुछ भी नहीं है। उनके मुक्तिपथ में वासना से घृणा करने वाले, अपरिग्रही राजीव को धर्मभानव के रूप में चित्रित किया है। कदाचित् यह पहले उपन्यासों की घोर प्रति क्रिया है। भगवतीचरण वर्मा पर जोशी के समान फ्रायड का अत्यधिक प्रभाव है और

इन्होंने भी इस सम्बन्ध में उसी यांत्रिकता से काम लिया है। इनके चित्रलेखा और टेढ़े-मेढ़े रास्ते इस बात के अपवाद हैं। चित्रलेखा फ्रेंच उपन्यासकार अनातोले के थापा उपन्यास पर आधारित है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते एक राजनीतिक उपन्यास है जिसमें आधुनिक सभी राजनीतिक वादों पर असारता दिखाकर अन्त में यह सिद्ध किया है कि आज के मानव को मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। यह अत्यन्त उलझा हुआ उपन्यास है। इनका 'आखिरी दाँव' भी एक साधारण कोटि का उपन्यास है जिसमें तिलस्मी वातावरण है। अज्ञेय जी पर फायड, टी०एस० इलियट और डी० एच० लारेंस का प्रभाव है इस के शेखर एक जीवनी और नदी के द्वीप उपन्यास हैं। इन दोनों में अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म और गम्भीर शैली में यौन-प्रवृत्तियों का चित्रण किया गया है, जो हृदय को आह्लादित करने के स्थान पर इनकी कविता के समान बुद्धि को कुरेदती हैं। जैनेन्द्र सम्भवतः प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी के एक सफल कृती लेखक हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों का विषय भारत के गाँवों को न बनाकर नगरों को बनाया है और उनमें नागरिक जीवन को मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण किया है। जैनेन्द्र के व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यासों पर आलोचकों ने फ्रायड का प्रभाव कहा है, किन्तु जैनेन्द्र ने कई दफा इसे अस्वीकार किया है। इनके उपन्यासों में आत्मपीडन की अधिकता है, कुछ आलोचकों का कहना है कि जैनेन्द्र ने हिन्दी में शरत् के प्रभाव की पूर्ति की है। इनके परख, सुनीता, त्यागपत्र और कल्याणी में नारी-पुरुष के प्रेम की समस्या का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण किया गया है। व्यक्ति के आभ्यान्तरिक जीवन में प्रवेश की क्षमता अद्वितीय है। दार्शनिकता के कारण कहीं-कहीं पर आपकी शैली अत्यन्त दुरूह और थका देने वाली बन पड़ी है। इनके उपन्यासों में जीवन के कतिपय मौलिक प्रश्न हैं जो कि आज के मानव के लिए विचारणीय हैं।

डा० देवराज के उपन्यासों 'पथ की खोज', बाहर-भीतर, 'रोड़े और पत्थर' तथा 'अजय की डायरी' में शिक्षित मध्यवर्ग के करुण यथार्थ का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। इस धारा की नवीन रचनाओं में धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता', सूरज का सातवाँ घोड़ा, प्रभाकर मचवे के में तीन छोटे-छोटे उपन्यास—"परन्तु', 'द्वाभा' तथा साँचा', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', डा० रघुवंश का 'तंतुजाल', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का सोया हुआ जल, भारत भूषण अग्रवाल का 'लौटती लहरों की बाँसुरी' और निर्मल वर्मा का 'वे दिन' उल्लेखनीय है।

साम्यवादी उपन्यास—राहुल सांकृत्यायन के सिंह सेनापति, वोल्गा से गंगा तक तथा यशपाल के दादा कामरेड, देश द्रोही, पार्टी कामरेड आदि उपन्यास इस कोटि में आते हैं। यशपाल के उपन्यासों में युग जीवन के संघर्ष का वर्णन है। वे वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं। इस यथार्थवाद के साथ-साथ वे रोमानी पुट भी दे देते हैं जो कि प्रायः अस्वाभाविक सा लगता है। यशपाल की इस प्रवृत्ति को कुछ आलोचकों ने राजनीतिक रोमांस की संज्ञा दी है। दिव्या इनका ऐतिहासिक उपन्यास है। नागार्जुन के प्रमुख उपन्यास

है—'रतिनाथ की चाची', 'बलचनामा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' और 'दुख मोचन'। आंचलिक उपन्यास बलचनामा में मध्यवर्गीय किसानों की दुखभरी कहानी है। बाबा बटेसर नाथ में जमींदारों के शोषणात्मक हथकंडों का उल्लेख है। वरुण के बेटे में मछुओं के साहसिक जीवन की कहानी है। दुख मोचन में साधनहीन गाँवों में जागृत नई चेतना को चित्रित किया गया है। रांगेय राघव के 'घरौंदा', 'सीधा सादा रास्ता', 'विषाद मठ', 'हुजूर' और 'कब तक पुकारूँ' तथा 'मुर्दों का टीला' उल्लेखनीय उपन्यास हैं। 'कब तक पुकारूँ' आंचलिक उपन्यास है तथा 'मुर्दों का टीला ऐतिहासिक' इनके साम्यवादी उपन्यासों में वर्ग वैषम्य और आर्थिक शोषण मुख्य विषय हैं। भैरव प्रसाद गुप्त के 'मशाल', गंगा मैया और 'सती मैया का चौरा' नामक उपन्यासों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर वर्ग संघर्ष का चित्रण है। अमृत राय के उपन्यासों 'बीज', नाग फनी का देश' और 'हाथी के दांत' में साम्यवादी चेतना है। लक्ष्मी नारायण लाल के उपन्यासों में 'धरती आँखें' और 'रूपाजीवा' विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली रचना में सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध नयी पीढ़ी की विद्रोहाग्नि है और रूपाजीवा में पूँजीपति व्यापारियों की स्वार्थान्धता का चित्रण है। राजेन्द्र यादव के 'प्रेत बोलते हैं' (संशोधित संस्करण-सारा आकाश), 'उखड़े हुए लोग' 'कुलटा' 'शह और मात' तथा 'मुक्षर चिन्तन' उपन्यास उपलब्ध होते हैं। यादव प्रारम्भ में साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे किन्तु अब इन पर यह प्रभाव कम हो गया है।

ऐतिहासिक उपन्यास—यद्यपि हिन्दी में उपन्यासों की यह धारा बहुत क्षीण-सी है किन्तु फिर भी विचार करने योग्य है। पूर्व-प्रेमचन्द युग में जो ऐतिहासिक उपन्यास मिलते हैं वे केवल इतिहास-नामधारी उपन्यास हैं। इस क्षेत्र में वृन्दावन-लाल वर्मा, निराला, सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य चतुरसेन का नाम उल्लेखनीय है। चतुरसेन की वैशाली की नगरवधू एक सुगठित ऐतिहासिक रचना है। आचार्य हजारी प्रसाद की बाणभट्ट की आत्मकथा में ऐतिहासिकता और कलात्मकता का सुन्दर समन्वय है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में वृन्दावन लाल वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और मृगनयनी ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें बुंदेलखंड के ऐतिहासिक विस्मृत प्रसंगों को सजीव किया गया है। वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता को प्रभाकर माचवे ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"उनकी रचनाओं में हजारीप्रसाद जैसा वाग्वैदग्ध्य या यशपाल या राहुल का सोद्देश्य मत-प्रचार नहीं मिलता तो भी उनकी सबसे अच्छी विशेषता यह है कि वे अपनी भूमि से निकट का ही विषय चुनते हैं उससे बाहर नहीं जाते।" ऐसे उपन्यासों को आज-कल आंचलिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। भगवतशरण उपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के प्रति निर्मम प्रामाणिकता है और रांगेय राघव में आग्रह है। वर्मा जी के 'कचनार', 'अचल मेरा कोई', 'सोना', 'टूटे कांटे', 'अमर बेल', 'माधव जी सिंधिया' और 'अहिल्या बाई' उपन्यासों में भारत के अतीत के इतिहास

को मूर्तिमान किया गया है। इनके 'भुवन विक्रम' में वैदिक युग के इतिहास को चित्रित किया गया है। कचनार में राज गोंडों के सरल, सहज प्रमोदमय जीवन का चित्रण है। चतुरसेन शास्त्री के 'सोमनाथ' में सोमनाथ के मंदिर पर गजनवी के आक्रमण की घटना का वर्णन है। इनके 'वय रक्षाम' में प्राग्वैदिक नर, नाग, देव दैत्य दानव आदि के जीवन का अंकन है। आलमगीर भी इनका एक ऐतिहासिक उपन्यास है। अमृत लाल नागर के 'शतरज की मोहरे' और 'सुहाग के नूपुर' ऐतिहासिक उपन्यास हैं। शतरज के मोहरे में अवध के नवाबी ह्रास का चित्रण है। सुहाग के नूपुर कथा वस्तु और कला दोनों दृष्टियों से प्रशसनीय हैं। आचार्य हजारी प्रसाद के 'चारु चन्द्र लेख' के अतिरिक्त एक अन्य उपन्यास पुनर्नवा के कुछ अध्याय 'कल्पना' में प्रकाशित हो चुके हैं। चारु चन्द्रलेख भारतीय इतिहास के मध्य काल से सम्बद्ध है। राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न' और 'विस्मृत यात्री' ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इनमें पहले दो उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। सिंह सेनापति में लिच्छवी-गणतत्र की सामाजिक व्यवस्था तथा तत्कालीन जीवन का वर्णन है। 'जय यौधेय' मे यौधेय गणतत्र की राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक तत्र तथा सामाजिक दशा का वर्णन है। राहुल के द्वारा बौद्धकालीन कथानक चुनने का कारण यह है कि वे मार्क्सवाद को बौद्ध मत का रूपान्तर मानते थे। यशपाल की दिव्या में बौद्ध कालीन वर्ण व्यवस्था और उससे उत्पन्न वर्ग सघर्ष का चित्रण है। इस पर मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव है। यशपाल का 'अमिता' भी एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें अशोक की कलिंग विजय की ऐतिहासिक गाथा का निरूपण है। रागेय राघव के 'मुर्दों का टीला', 'प्रतिदान', अधेरे के जुगनू' और 'राह न रुकी' ऐतिहासिक उपन्यास हैं। शिव प्रसाद रुद्र का 'बहती गगा' ऐतिहासिक उपन्यास क्षेत्र मे एक नया प्रयोग है। इसमे लेखक ने बडी कुशलता से काशी नगरी के दो सौ वर्षों के इतिहास को चित्रित कर दिया है। वीरेन्द्र कुमार जैन का मुक्ति दूत एक सशक्त ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त यादवेन्द्र शर्मा का 'सन्यासी और सुन्दरी' तथा बनकाम सुनील के 'धूलि और नर्तन', 'सामन्त बीजगुप्त' तथा 'इरावती' उल्लेखनीय हैं। वर्मा जी के चित्रलेखा के कथानक का जहाँ अन्त होता है वहाँ से सामन्त बीजगुप्त का कथानक आरम्भ होता है। इरावती में लेखक ने जयशकर प्रसाद के अधूरे उपन्यास को पूरा किया है। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो में मानवतावादी प्रवृत्ति तथा मार्क्स के दर्शन पर आधारित प्रवृत्ति दोनो लक्षित होती है। पहली के अनुसार ऐतिहासिक कथावस्तु से अतीत के युग की सभ्यता व संस्कृति अथवा प्रभावशाली व्यक्तित्व का चित्रण अभिप्रेत होता है। दूसरी के अनुसार मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में प्राचीन इतिहास का विवेचन और विश्लेषण किये जाते हैं। भारतेन्दु काल में बगला के ऐतिहासिक उपन्यासो का अनुवाद भी हुआ किन्तु हिन्दी में उपन्यासों का यह अग अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश के अनेक प्राचीन आख्यान हैं जिन्हें इन उपन्यासों का विषय बनाया जा सकता है।

आंचलिक उपन्यास

ऊपर हमने जिन आंचलिक उपन्यासों की चर्चा की है, उनकी धारा आज विशेष बल पकड़ रही है। ऐसे उपन्यासो मे किसी प्रदेश विशेष की संस्कृति को उसके सजीव वातावरण में व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। इन उपन्यासों की अपनी शक्तियाँ और अपनी ही परिसीमाएँ हैं। इस दिशा में फणीश्वरनाथ रेणु का मैला अचल और परती परिकथा विशेष उल्लेखनीय है। इनमें बिहार प्रदेश की संस्कृति का सजीव चित्रण है। उदयशंकर भट्ट का लोक-परलोक, सागर और मनुष्य, बलभद्र ठाकुर के आदित्यनाथ, मुक्तावली नेपाल की वो बेटी, क्याम् सन्यासी का उत्थान, तरन तारन का हिमालय के अचल, नागार्जुन के बलचनामा तथा वरुण के बेटे, रांगेय राघव का काका और कब तक पुकारू, देवेन्द्र सत्यार्थी का रथ के पहिये, राम दरश मिश्र का पानी के प्राचीर, शलेश मटियानी का होलदार और शिवप्रसाद मिश्र का बहती गगा आदि उपन्यास महत्वपूर्ण बन गए हैं। उपन्यासो को इस परम्परा में राजेन्द्र अवस्थी तृषित का सूरज किरण की छाँह', हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदी फिर बह चली' उल्लेखनीय हैं। मिश्र जी का एक अन्य उपन्यास "जल टूटता हुआ" अपने ढंग का आंचलिक उपन्यास है जिसमे किसी व्यक्ति, जाति अथवा किसी गाँव या नगर की कथा न होकर स्वतन्त्रतोपरान्त के पन्द्रह वर्षों के दौरान पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों की आर्थिक दयनीयता तथा बदलते हुए जीवन का यथार्थ चित्रण है।

आजकल हिन्दी मे नगर और ग्रामीण अचल से सम्बद्ध अनेक उपन्यास लिये जा रहे हैं। इन उपन्यासों को सर्वप्रमुख विशेषता है प्रादेशिक तथा स्थानीय रग और सस्पर्श की प्रचुरता (Regional and local colour and Touch)। आंचलिक उपन्यासो की एक कमजोरी उनकी स्थानीय बोली है। इससे उनकी व्यापक सप्रेषणीयता को धक्का लगता है क्योकि हर एक पाठक स्थानीय बोली को भली-भांति नहीं समझ सकता। इन उपन्यासो की दूसरी परिसीमा यह है कि इनसे विघटनात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। इनसे अपनी जाति, धर्म, संस्कृति और वर्ग के प्रति मोह तथा अचल विशेष की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति पक्षपात के साथ कट्टरता की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। आंचलिक उपन्यासों की सफलता इसमें है कि वे यथार्थ की गहरी अभिव्यक्ति को आंचलिकता की सीमित परिधि से निकाल कर उसे सार्वभौम रूप प्रदान कर सकें।

प्रयोगशील परम्परा—कहानी और कविता के समान उपन्यास क्षेत्र में भी आज कुछ नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं। धर्मवीर भारती के "सूरज का सातवाँ घोड़ा" में भिन्न भिन्न व्यक्तियों की अलग-अलग कहानियों को एक सूत्रात्मकता का रूप देने का प्रयास किया जा रहा है। सर्व श्री-सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नरेशमेहता शिवप्रसाद मिश्र, गिरधरगोपाल तथा रुद्र आदि ने शिल्प विधान की दृष्टि से इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग किए हैं। रुद्र जी ने "बहती गगा" म सत्रह कहानियों के द्वारा काशी नगरी के पिछले दो सौ सालो के इतिहास की झाँकी प्रस्तुत की है। गिरधर-गोपाल ने

"चाँदनी के खंडहर" में केवल चौबीस घण्टों की कथा को समूचे उपन्यास का विषय बनाया है। 'ग्यारह सपनों का देश' नामक उपन्यास नाना लेखकों के द्वारा लिखा गया है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के "सोया हुआ जल" में एक सराय मे ठहरे हुए यात्रियों की रात की जिंदगी का वर्णन है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' एक प्रयोग-शील उपन्यास है जिसमें अनेक प्रकार की विसंगतियों का उल्लेख है। निश्चय से यह एक नवीन प्रयोग है। अस्तु ! प्रत्येक युग कथन विधि के अपने-अपने प्रयोग किया करता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कथ्य की महनीयता ही किसी विधा को स्थायित्व प्रदान करने में सक्षम होती है। कथन विधि के आडम्बर के आग्रह से कथ्य का महत्त्व लुप्त नहीं हो जाना चाहिए।

आधुनिकता बोध के उपन्यास—औद्योगीकरण, बौद्धिकता के अतिरेक, यन्त्री करण तथा अस्तित्ववादी पाश्चात्य विचारधाराओं के फलस्वरूप आधुनिकता की जो स्थिति उत्पन्न हुई, उसका प्रतिबिम्ब साहित्य की अन्य विधाओं के समान हिन्दी उपन्यास पर भी पड़ा। मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' तथा 'आने वाला कल' आधुनिकता से अधिक प्रभावित हैं। इनमें आस्था हीन समाज और त्रिशंकु सरीखे इंसानों का चित्रण है। निर्मल वर्मा का 'वे दिन' आधुनिक संवेदना से सम्पन्न उप-न्यास है। राजकमल चौधरी के उपन्यास 'मछली मरी हुई' में समलैंगिक यौन सुख में लिप्त स्त्रियों की कहानी है। यह अपने कथ्य और शैली की दृष्टि से एक अपनी कोटि का अलग उपन्यास है। श्रीकान्त वर्मा कृत "दूसरी बार", महेन्द्र भल्ला कृत एक पति के नोट्स, कमलेश्वर का डाक बंगला और एक सड़क सत्तावन गलियाँ, गंगा प्रसाद विमल का 'अपने से अलग' आधुनिकता की हवा में लिखे गये उपन्यास हैं। इनमें आधुनिकता के फार्मूले अधिक हैं। आधुनिक जीवन की संवेदनायें कम हैं। आधुनिकता बोध के उपन्यासों में अंधेरे बन्द कमरे तथा 'मछली मरी हुई' महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' तथा 'नदी यशस्वी है' संरचनात्मक दृष्टि से आधु-निक हैं किन्तु कथ्य की दृष्टि से पूर्व परम्परा के अनुवर्ती हैं। मन्नु भंडारी के 'आपका बंटी' में पति-पत्नी के दो भिन्न व्यक्तित्वों के दुष्परिणाम के भागी (सन्तान) बंटी को दिखाया गया है। पति-पत्नी के परस्पर तलाक से वह पिता के होते हुए भी पिता से रहित है और माँ के पुनः विवाह हो जाने पर वह माता के होते हुए भी माता से रहित है। ऊषा प्रियंवदा के पचपन खंभे लाल दीवारें में नौकरी पेशा अविवाहिता नारी के बाहरी और भीतरी जीवन-संघर्षों का वर्णन है। इनके नये उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधा' भी आधुनिकता की समस्या पर आधारित है। रजनी पनिक्कर, मीरा महादेवन और शशि प्रभा शास्त्री ने भी अपने उपन्यासों में नारी जीवन की आधुनिक समस्याओं को उठाया है। अविवाहिता अध्यापिका के जीवन पर आधारित मोहन चोपड़ा का 'नीड़ के आगे' उल्लेखनीय है। उपर्युक्त श्रेणी के उपन्यासकारों में भीष्म साहनी, रामकुमार भ्रमर, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, गिरिराज किशोर, शवानी, मधुकर गंगाधर, उदयराज सिंह, मारिंग पूजि तथा बाल शौरि रेड्डी

उल्लेखनीय हैं।

विविध उपन्यास

यज्ञदत्त शर्मा ने भारतीय जनता का विकासोन्मुखी निर्माण-चेतना और उसके संघर्ष परायण-जीवन को केन्द्र बनाकर कई उपन्यास लिखे हैं जिनमें प्रमुख हैं—'इंसान', 'निर्माण पथ', 'महल और मकान' और बदलती राहें। राजस्थानी जीवन और उसकी चेतना को आधार बनाकर यादवेन्द्र शर्माचन्द्र ने 'पथहीन', 'दिया जला', 'दिया बुझा' और गुनाहों की देवी उपन्यास लिखे हैं। शैलेश मटियानी का बोरी वली से बोरी बन्दर' नामक उपन्यास में बम्बई की चकाचौंध का आड़ में पलने वाले कुत्सित जीवन का चित्रण है।

र० दा० केलकर का उपन्यास 'त्रिपुर सुन्दरी' उपन्यास क्षेत्र में एक नई दिशा का उद्घाटन करता है। इसमें अध्यात्म और मनोविज्ञान का सुन्दर ताना-बाना बुना गया है। एक साधक पारिवारिक जीवन और साधना को एक साथ चलाते हुए कामादि विकारों से जूझकर अन्त में अति चेतन के गूढ़तम सकेतों और रहस्यों का पा लेता है।

व्यंग्यात्मक कृति के रूप में श्री लाल शुक्ल का बहुचर्चित उपन्यास 'राग दरबारी' कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण बन पड़ा है। इसमें जीवन के बदलते हुए मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में, शहर और कस्बे के जन-जीवन, समाज व्यवस्था तथा सरकारी एवं अर्ध सरकारी तन्त्र में क्रमशः प्रविष्ट भ्रष्टाचार का व्यंग्यात्मक शैली में चित्रण है। बदी उज्जमां के प्रति कल्पनाशील उपन्यास "एक चूहे की मौत" में दफ्तर के गल घोटू जीवन का चित्रण है। इसकी विषय वस्तु सर्वथा नवीन है। 'राग दरबारी' हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में व्यंग्य के अभाव को भरने की दिशा में प्रथम प्रशंसनीय प्रयास है।

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने वर्तमान उपन्यासकारों को तीन वर्गों में विभक्त किया है—(१) वे जो प्राचीन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए जीवन के केवल सद् पक्ष को स्वीकार करते हुए उसे स्वस्थ उज्ज्वल और जीवन्त रूप में उपस्थित करते हैं। (२) वे जो जीवन में श्लील और अश्लील अच्छाई तथा बुराई का सम्मिश्रण मानते हुए अन्ततः उनमें सद् पक्ष को महत्व देते हैं। (३) तीसरा वर्ग उनका है जिनकी दृष्टि केवल असद् पर टिकी रहती है। वे फ्रायड, युग, एडलर तथा मार्क्सवादी सिद्धांतों की आड़ में मानव की पाशविक वृत्तियों, अतृप्तियों, कुण्ठाओं और जघन्य कुंठाओं को मनोविश्लेषण के नाम पर चित्रित करते हुए सकोच नहीं करते। वस्तुतः ऐसे लेखकों का प्रयास एकांगी, भ्रामक और अविश्वसनीय है। इन्होंने मानव को उसके बृहत् एवं समग्र रूप में देख कर उसे खंडित, वर्जनाओं से आक्रान्त रूप में देखा है। वर्तमान उपन्यासों की समीक्षा करते हुए आगे वे लिखते हैं—"आज के उपन्यास ने हमें बहुमुखी चरित्र तो दिए पर चारित्र्य शुद्धि नहीं और न वास्तविक जीवन पात्र। मानव केवल कुण्ठाओं तथा गर्हित वर्जनाओं का ही पुंज नहीं उसके अन्तस्तल में

आलोक रश्मियाँ भी अठखेलियाँ करती हैं, पर हमारे अधिकांश उपन्यासकारों की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती। पड़ती है केवल घुटन और अमुखद तनाव पर।" इस प्रकार के उपन्यासों से साहित्य-सरिता का पाट नि सन्देह चौड़ा होता जा रहा है, किन्तु उसकी अन्तर्धारा क्षीण और ह्रासोन्मुखी हो रही है। इस ह्रास के और भी अनेक कारण हैं —औपन्यासिक क्षेत्र में प्रायोगिक वृत्ति—नित्य नये प्रतीक, नये साम्य और नये टेकनीक। इनसे उपन्यास जगत में शक्ति और बल के स्थान पर क्षीणता और निर्बलता का समावेश हुआ है। अस्तु ! हिन्दी-उपन्यास की विकासात्मक गतिविधियों के सम्बन्ध में डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के निम्नांकित शब्द अतीव मार्मिक तथा सटीक बन पड़े हैं—"विभिन्न प्रयोगों की लम्बी शृ खला के बाद हमारे उपन्यास साहित्य का पाट चौड़ा अवश्य हुआ है पर उपन्यासकार की दृष्टि तलस्पर्शी नही हो पाई, अतः वह मानव जो उसके पूर्ण आयामों में प्रस्तुत नहीं कर पाया है, उसने जो समाधान प्रस्तुत किए हैं वे भी समस्याओं की जड़ों को नहीं छू पाते, छूते हैं वे केवल जीवन के बुनियादी पहलुओं को, अत्याधुनिक कला टेकनीक का आकर्षण परिधान पहना कर ही प्रस्तुत कर पाया है। अभी वह समय आना है जब भिन्न-भिन्न प्रसगो, घटनाओं और पात्रों की सृष्टि इतनी यथार्थ और नैसर्गिक होगी कि वह पाठक को सच्ची और विश्वसनीय लगेगी। परन्तु हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दीखता। हिन्दी उपन्यास ने अत्यन्त अल्प समय में जो विकास किया है। उसे देखते हुए लगता है कि उपन्यास की दृष्टि शनैं शनैः तलस्पर्शी हो जायगी, वह व्यापक सत्य का अनुभव शीघ्र ही करेगा और तब अमर साहित्य की सृष्टि होगी।

हिन्दी-उपन्यास साहित्य में सब कुछ है, पर वह अत्यन्त क्षीण रूप मे है। हिन्दी-उपन्यास साहित्य में पर्याप्त विस्तृति है किन्तु उसमें अपेक्षित अगाधता नहीं है। इसमें विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं किन्तु उनमे अभीष्ट प्रौढता आनी अभी बाकी है। विगत दस पन्द्रह वर्षों में विविध धाराओं की जो औपन्यासिक कृतियाँ प्रणीत हुई हैं, उनमे कमियो और दुर्बलताओ के होने पर भी साहित्यिक प्रगतिशीलता के शुभ लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। हमारे उपन्यास साहित्य ने अपने अस्सी वर्षीय अल्प जीवन काल में त्वरतापूर्वक अनेक मजिलें तय की हैं। इसकी आश्चर्यजनक सफलताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि इसकी उज्ज्वलता भविष्य के हाथो मे सुरक्षित है।

डॉ० गणेशन के शब्दों मे "जीवन की यथार्थ समस्याओ की गम्भीरता से अनभिज्ञ रहकर आश्चर्यमय अनुसधियों से आँख मिचौनी खेलने वाले देवकीनन्दन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी से लेकर जीवन की गम्भीर-से-गम्भीर समस्याओ का मुँह-दर-मुँह सामना करने वाले प्रेमचन्द तक, जीवन की विषमताओ के सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट करने वाले प्रेमचन्द और प्रसाद से लेकर मानव-मन की गहराई में उन विषमताओं के मूल का अन्वेषण करने वाले जैनेन्द्र, जोशी, अज्ञेय और देवराज तक, जीवन के उत्कृष्ट आदर्शों के मधुर स्वप्न देखने वाले आदर्शवादी श्री निवासदास

और लज्जाराम मेहता से लेकर कुत्सित से कुत्सित यथार्थों को निरावृत प्रस्तुत करने वाले उग्रवादी उग्र और मन्मथ नाथ गुप्त तक, अतीत की विस्मृतियों को स्मृति तट पर प्रकीर्ण करने वाले राहुल और चतुरसेन से लेकर वर्तमान की वास्तविकता को वाणीबद्ध करने वाले नागार्जुन और रेणु तक, उपन्यास साहित्य जो विस्तृति और विविधता प्राप्त कर सका है, वह सचमुच एक उज्ज्वल भविष्य की आशा प्रदान करने वाली है।

हिन्दी कहानी का विकास

भारतीय साहित्य मे वेदो, उपनिषदो, संस्कृत और बौद्ध जातकों में अनेक कहानियाँ देखने को मिलती हैं। हिन्दी के मध्य युग मे भी कई कहानियाँ लिखी गईं जिन पर फारसी के वासनात्मक प्रेम का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ आलोचकों ने इंशा-अल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी माना है, किन्तु सच यह है कि उसमें आधुनिक कहानी के लक्षण ठीक नहीं बैठते। इसमें मध्यकालीन किस्सागोई की स्पष्ट छाप है और एक अजीब सी सामाजिक तटस्थता है। दूसरी बात यह भी है कि इससे आधुनिक कहानी की किसी अविच्छिन्न परम्परा का प्रवर्तन भी नहीं हुआ। इसके अनन्तर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की उपदेशात्मक कहानी राजा भोज का सपना तथा भारतेन्दु की हास्यरस प्रधान कहानी अद्भुत अपूर्व सपना दृष्टिगोचर होती है किन्तु इन दोनों में लेखक के दृष्टिकोण का अभाव है। सन् १९०० मे प्रयाग से सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसमें अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुई—गोस्वामी किशोरीलाल—इन्दुमती, गुलबहार, मास्टर भगवानदास, प्लेग की चुड़ैल, रामचन्द्र शुक्ल—ग्यारह वर्ष का समय, गिरिजादत्त वाजपेयी—पंडित और पंडितानी बंगमहिला दुलाईवाली, वृन्दावनलाल वर्मा—राखी बन्द भाई, मैथिली—नकली किला, निन्यानवे का फेर आदि—इसके उपरान्त माधवप्रसाद मिश्र, सत्यदेव विश्वम्भरनाथ जिज्जा और गिरिजाकुमार घोष की अनेक कहानियाँ सरस्वती पत्रिका मे प्रकाशित हुई। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने गोस्वामी किशोरीलाल की 'इन्दुमती' को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी स्वीकार किया है जबकि कतिपय अन्य विद्वानो ने उक्त कहानी पर शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट नाटक का अत्यधिक प्रभाव दर्शाते हुए बंगमहिला दुलाईवाली कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी सिद्ध किया है। अस्तु! इस विवाद मे न पडते हुए यह कहा जा सकता है कि उक्त सभी कहानियो मे आधुनिक कहानी के तत्त्व सम्यक् रूप से सन्निविष्ट नहीं हैं और न इनसे आधुनिक कहानी के विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान मिला है। इस प्रयोगात्मक युग में हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों के समान कहानी क्षेत्र में भी अनुवादों और अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा, न तो आरम्भ के इस काल में इस क्षेत्र मे किसी नवीन प्रतिभा का उदय हुआ और न ही किसी मूल्यवान् रचना की सृष्टि। अंग्रेजी, संस्कृत तथा बंगला साहित्य की कहानियों का अनुवाद प्रकाशित हुआ।

वस्तुत आधुनिक हिन्दी कहानी के श्रीगणेश और उसके विकास का इतिहास प्रसाद और प्रेमचन्द के उदय से सम्बद्ध है।

यह बडे हर्ष और गर्व की बात है कि सन् १६११-१६ से लेकर आज तक के अल्पकाल मे हमारा कहानी साहित्य विषय व्यापकता, गम्भीरता, कलात्मकता एव शिल्प विधान की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध तथा उच्च बन पडा है। इसकी उच्चता तथा समृद्धि मे शताधिक प्रतिभाग्रो तथा उनकी अमूल्य कृतियो ने योगदान दिया है। यहाँ प्रत्येक कहानीकार और उसकी प्रत्येक रचना का परिचय देना एक असम्भव सा व्यापार है किन्तु यह भी आवश्यक है कि प्रमुख रचनाकारो की रचनाओ का जिन्होंने युग की गतिविधियो को नया मोड दिया, परिचय दिये बिना हिन्दी कहानी की कहानी पूरी नही हो सकती। हिन्दी के कुछ इतिहास लेखको ने कहानी के विकास की परम्परा को प्रसाद स्कूल, प्रेमचन्द स्कूल, जैनेन्द्र स्कूल, अज्ञेय स्कूल तथा यशपाल स्कूल के कृत्रिम कठघरो में विभक्त करके इस परम्परा को समझाने एव समझने का प्रयास किया है जो कि वैज्ञानिक एव सगत नहीं। हिन्दी के अन्य कहानीकारो ने उक्त पाँच कहानी निर्माताओ की विचार एव शैलीगत प्रवृत्तियो का एक मात्र अनुकरण किया हो, ऐसी बात नहीं। प्रत्येक स्वतन्त्रचेता कलाकार युग-प्रथाग्रो को आत्मसात् करते हुए भी अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखता है। दूसरी बात यह भी है कि हिन्दी के अन्य कहानीकारो पर इन पाँच महारथियो के बिना बगला, अग्रेजी रूसी तथा फ्रेंच साहित्य के कहानीकारो का भी पर्याप्त प्रभाव पडा है जिसे कि इन्होने बडे कौशल से अपने देश काल के अनुसार ढाला है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रसाद, प्रेमचन्द उग्र, जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय कहानी क्षेत्र मे शीर्ष स्थानीय हैं और अनेक कहानी-कारों मे बहुत कुछ विचार, भाव और शैलीगत साम्य मिल जाता है। यहाँ हम प्रमुख कहानीकारो और उनकी रचनाग्रो का प्रवृत्तिगत परिचय देंगे।

प्रसाद जी की कहानियो के पाँच सग्रह उपलब्ध हैं—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल। इनकी सर्वप्रथम कहानी "ग्राम" सन् १६११ मे इन्दु पत्रिका में छपी थी। इनकी प्रारम्भिक रचनाग्रों पर बगला का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु बाद मे वे अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। प्रसाद मूलत प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। अत उनकी यह काव्यात्मकता नाटका के समान कहानियो मे भी सर्वत्र मिलती है। प्रसाद के भाव मूलक परम्परा के अधिष्ठाता होने के नाते उनकी कहानियो में स्थूल समस्याओ का अकन कम हुआ है। उनमे भावनाओ की सूक्ष्मता और वातावरण की सघनता है। उनकी कहानियो मे घटना-चक्र शृंखला रहता है, कथानक की स्थूल रेखायें उभर नही पाती, पर वातावरण की सघनता मे पात्र हमारे आन्तरिक मर्म को छूते हैं। उनकी भाषा सस्कृतनिष्ठ तथा शैली अलकृत और भाव-मयी है जिसके कारण कथानक को तो व्याघात पहुँचता है ही साथ-साथ वे कहानियाँ साधारण पाठक की बोध शक्ति से भी परे हो जाती हैं। इन्होने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमे ऐतिहासिकता कम और कल्पना अधिक है। इनकी

कहानियो मे आदर्श और भारतीय दर्शन का समन्वय मिलता है। भावुकता की दृष्टि से हिन्दी कहानी क्षेत्र में प्रसाद जी का स्थान विशिष्ट है। प्रसाद जी की भावुकतामयी शैली पर रायकृष्णदास, चडीप्रसाद हृदयेश, विनोदशकर व्यास और गोविन्दवल्लभ पन्त आदि ने कहानियाँ लिखीं। इनमें रायकृष्णदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने मानव भावनाओ का अत्यन्त सूक्ष्म और कलात्मक चित्रण किया है। इन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं। इनकी शैली मे प्रसाद जैसी जटिलता और रहस्यात्मकता भी नही है। आपकी कहानियो के दो संग्रह "सुधांशु" और "अनाख्या" उपलब्ध हैं।

प्रेमचन्द उपन्यास-क्षेत्र में जितने महान् हैं कहानी-क्षेत्र में उससे भी कहीं अधिक महान् हैं। प्रेमचन्द कहानी क्षेत्र में आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा के प्रतिष्ठापक हैं जबकि प्रसाद भावमूलक परम्परा के। प्रसाद की कहानी परम्परा को बहुत थोड़े लेखको ने अपनाया जबकि प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा मे उस युग के अधिक से अधिक लेखक आये। प्रेमचन्द ने उर्दू मे कहानियाँ लिखना बहुत पहले आरम्भ कर दिया था किन्तु हिन्दी में उनकी सर्वप्रथम कहानी 'पंचपरमेश्वर' प्रसाद की 'ग्राम' कहानी से पाँच साल बाद मे प्रकाशित हुई। इनकी उर्दू कहानियों के संग्रह सोजेवतन को अंग्रेज सरकार ने जलवा दिया था। हिन्दी मे उन्होंने तीन सौ से भी अधिक कहानियाँ लिखी जो कि लगभग बीस-पच्चीस सग्रहों मे प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द एक मानवतावादी एवं उपयोगितावादी कहानीकार हैं। उनकी सभी प्रकार घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक कहानियाँ सोद्देश्य हैं। किन्तु ऐसा करने पर उनकी कलात्मकता और साहित्यिक महत्ता को कही भी क्षति नहीं पहुँची। विषय-व्यापकता चरित्र चित्रण की सूक्ष्मता, विचार व भाव गम्भीरता, प्रवाहपूर्ण सुबोध शैली, मुहावरामयी जबानदानी एवं लोक-संग्रह की भावना से प्रेमचन्द की कहानियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं। उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ— पंच परमेश्वर, आत्माराम, बड़े घर की बेटी, शतरंज के खिलाड़ी, वज्रपात, रानी सारधा, अलग्योझा, ईदगाह, अग्नि समाधि, पूस की रात, सुजान भक्त, कफन आदि पर हिन्दी जगत को गर्व है और इन्हें विश्व की श्रेष्ठ कहानियो की तुलना मे निःसंकोच रखा जा सकता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ कौशिक तथा पृथ्वीनाथ भट्ट, प्रेमचन्द की पीढ़ी के कलाकार हैं। गुलेरी जी केवल तीन कहानियो बल्कि केवल एक कहानी 'उसने कहा था' को लिखकर हिन्दी जगत मे अमर हो गए हैं 'उसने कहा था' विश्व-विख्यात कहानियो मे से एक है और हिन्दी कहानी परम्परा मे एक माइलस्टोन है। इसमे प्रथम महायुद्ध के एक सैनिक लहनासिंह की करुणा-मिश्रित प्रेमकथा है जो कि अतीव अनूठी है। विविध दृश्य-चित्रण, घटना-विन्यास, भाषा की सफाई, शैली की सजीवता और रोचकता— समग्र रूप से यह रचना अनुपम है। एक दफा यह कहानी पढ़ लेने पर न जाने कितनी देर 'उसने कहा था' की प्रतिध्वनि मन और

मस्तिष्क मे गूँजती रहती है। इसकी सुखमय दाम्पत्य जीवन से सम्बद्ध कथा है। इनकी अन्य कहानियाँ, बुद्धू का कॉटा' आदि हैं। कौशिक जी भी प्रेमचन्द के समान पहले उर्दू मे कहानियाँ लिखा करते थे। 'उनकी प्रथम कहानी रक्षाबन्धन सन् १९१३ मे प्रकाशित हुई थी। उन्होने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी, जो गल्पमन्दिर और चित्रशाला आदि मे सगृहीत हैं। विषय, शैली व भाषा की दृष्टि से आप प्रेमचन्द के अनुयायी हैं। प्रेमचन्द की कहानियो की जीवन-गहराई कौशिक जी मे नही है। पृथ्वीनाथ भट्ट, सुदर्शन भी पहले उर्दू लेखक थे। इनकी पहली कहानी 'हार की जीत" सन् १९२० मे सरस्वती पत्रिका मे प्रकाशित हुई। आपके अब तक कहानियो के बहुत से सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—सुदर्शन सुधा, सुदर्शन सुमन, तीर्थयात्रा, पुष्पलता, गल्प मजरी, सुप्रभात, चार कहानियाँ, नगीना और पनघट आदि। इनकी कहानियो मे जीवन सत्यो व मानवीय भावनाओ का अत्यन्त रोचक और सरस वर्णन है। इनकी *हार की जीत, कमल की बेटी, ससार की सबसे बडी कहानी और कवि की स्त्री* आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। पहले-पहले कौशिक और सुदर्शन को प्रेमचन्द के समकक्ष रखा जाता था, किन्तु बाद में प्रेमचन्द अपनी सतत जागरूकता और अद्भुत कलात्मक विकास के कारण इनसे बहुत आगे निकल गये।

बेचन शर्मा उग्र हिन्दी के एक विद्रोही कलाकार हैं। उनका यह विद्रोह पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था के प्रति अपने प्रचण्ड रूप मे व्यक्त हुआ है। उन्होने राजनीतिक, सामाजिक विचारों, रूढियो, अन्धविश्वासो और मिथ्या परम्पराओ पर खुलकर प्रहार किया है। उन्होने अभिजात्यवर्गीय थोथी आदर्शवादिता के झीने पदो को छिन्न-भिन्न करते हुए सामाजिक कुरीतियो तथा भ्रष्टाचारो का यथार्थ वर्णन किया है, अत हिन्दी के बहुत से आलोचको ने आपको उल्कापात, धूमकेतु, तूफान व बवण्डर की उपमा दी। आपकी अतिनग्न यथार्थवादिता मे कही-कही अश्लीलता का रग अत्यन्त उभरा हुआ है और कदाचित् यही कारण है कि कुछ लोगो ने इनकी रचनाओ को घासलेटी साहित्य की सज्ञा दी है। कुछ भी हो, उग्र जी बहुत समय तक हिन्दी पाठको के सर्वाधिक प्रिय कहानीकार रहे हैं। आपकी शैली जोशीली एव प्रवाहपूर्ण है। आपके अभी तक ये कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—*दोज़ख की आग*, चिनगारियाँ, बलात्कार और मन की अमीर। आचार्य चतुरसेन शास्त्री उग्र की परम्परा मे आते हैं। इन्होने भी सामाजिक कुरीतियों का खुलकर भडाफोड किया है, पर शास्त्री जी अपने यथार्थवादी वर्णनो मे सयम खो बैठते हैं अत इनकी कहानियो मे अधिक अश्लीलता आ गई है. इनकी कहानियों में उग्र जैसी तीव्रता नही। आपकी कहानियो के सग्रह 'रजकण' 'अक्षत' प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं—दे खुदा की राह पर, भिक्षुराज, ककडी की कीमत और दुखवा मैं कासे कहू मारी *सजनी।*

प्रसाद से लेकर अब तक व्यावहारिक आदर्शवादी, यथार्थवादी, ऐतिहासिक, रोमानी, कुतूहल प्रधान, हास्य रस तथा प्रतीकात्मक अनेक प्रकार की कहानियाँ

लिखी गई हैं। व्यावहारिक आदर्शवादी कहानियों में समाज तथा घरेलू समस्याओं विधवा विवाह, अछूतोद्धार, विदेशी सभ्यता, पुरानी-रूढ़ियों का खंडन आदि है। इन कहानियों मे चरित्र-चित्रण की प्रधानता है और ग्राम्य जीवन को मुख्यता दी गई है। इस क्षेत्र के मुख्य कहानीकार हैं—प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन। यथार्थवादी कहानियाँ आदर्शवादी कहानियों की प्रतिक्रिया में लिखी गई हैं। इनमें सामाजिक वीभत्सता का नग्न चित्रण किया गया है। इस धारा के मुख्य लेखक हैं—उग्र, चतुरसेन शास्त्री तथा ऋषभचरण जैन। ऐतिहासिक कहानियाँ भारत के स्वर्ण काल से सबद्ध हैं। प्रसाद की आकाशदीप, स्वर्ग के खंडहर इसके उदाहरण हैं। भारत के मध्य युग के इतिहास को लेकर वृन्दावन लाल वर्मा ने कहानियाँ लिखी हैं। ऐतिहासिक कहानियों मे काव्य-तत्त्व और चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। रोमानी कहानियों मे भावना तथा कल्पना का आधिक्य है। जासूसी, ऐयारी और तिलस्मी कहानियों को कुतूहल-प्रधान कहानियाँ कह दिया जाता है। ऐसी कहानियों के लेखक हैं—गोपालराम गहमरी, दुर्गाप्रसाद खत्री और जी० पी० श्री वास्तव। इन कहानियों मे जीवन के गम्भीर तत्वों का बिल्कुल अभाव है। जयशंकर प्रसाद ने प्रतीकात्मक कहानियाँ लिखी हैं। इस काल के हास्य रस की कहानियों के लेखक हैं जी० पी० श्रीवास्तव तथा बद्रीनारायण आदि। इस काल की कहानियों मे वर्णनात्मक, आत्म-कथात्मक, सलाप शैली तथा पत्रशैलियों का प्रयोग हुआ।

जैनेन्द्र के आगमन से हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में एक नवीन युग का उदय हुआ। कहानी के इस सक्रान्ति-युग में अनेक नवीन प्रवृत्तियाँ उद्भूत हुई। इन प्रवृत्तियों को मुख्यत दो क्षेत्रों में रखकर बाँटा जा सकता है - (१) सांस्कृतिक, (२) सामयिक। सांस्कृतिक क्षेत्र मे जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान की दो धारायें आती हैं, जबकि सामयिक में साम्यवाद तथा यौनवाद की दो मूल धारायें आती हैं। सांस्कृतिक प्रवृति के प्रतिनिधि कहानीकार हैं जैनेन्द्र, साम्यवाद के यशपाल और यौनवाद के अज्ञेय जी।

जैनेन्द्र की अधिकतर कहानियाँ मनोविश्लेषण से सम्बन्ध रखती हैं। आपने स्थूल समस्याओं के स्थान पर आन्तरिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक धरातल पर सहानुभूतिपूर्ण वर्णन किया है—"उन्होंने हिन्दी कहानियों को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। उन्होंने सामान्य मानव की सामान्य परिस्थितियाँ न लेकर असामान्य मानव की असामान्य परिस्थितियों से प्रभावित मानसिक प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया है। उनका दृष्टिकोण समाजवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी, भौतिकवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है।" इनकी कहानियों में कथानक की अपेक्षा मनोविश्लेषण अधिक छाया रहता है। अत इनमे प्राय पिष्टपेषण रहता है और बौद्धिक रोचकता बनी रहती है। ये भौतिककर्ता के अन्तर्गत अलौकिकता का चित्रण करके उसमे गहन जीवनदर्शन समाविष्ट करना चाहते हैं, फलत इनमें थका देने की प्रवृत्ति आ जाती है। इन्होंने घटनाओं की अपेक्षा चरित्र-

चित्रण तथा शैली को अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के ये संग्रह वातायन, स्पर्धा, फाँसी, पाजेब, जयसन्धि, एक रात, दो चिड़ियाँ—प्रकाशित हो चुके हैं।

ज्वालादत्त शर्मा ने थोड़ी कहानियाँ लिखी हैं, पर उनका हिन्दी जगत् में काफी स्वागत हुआ है। जनार्दनप्रसाद झा द्विज की कहानियाँ मार्मिकता की दृष्टि से सुन्दर बन पड़ी हैं। इनकी कहानियाँ करुणरस मिश्रित हैं। चण्डी प्रसाद हृदयेश की कहानियों में आदर्शवाद है। उनमें सेवा, त्याग, आत्मबलिदान की भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। गोविन्द वल्लभ पन्त की कहानियों में यथार्थ और रंगीन कल्पना का सुन्दर समन्वय है। सियारामशरण गुप्त की कहानियों में कोमल भावनाओं का चित्रण अत्यन्त रोचक शैली में हुआ है। इनकी सबसे अच्छी कहानी 'सच और झूठ' में आज के यथार्थवादी लेखकों पर तीव्र व्यंग्य है। उनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं।

अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिकता से प्रभावित तो हैं, लेकिन ये जैनेन्द्र के स्कूल के नहीं हैं। जैनेन्द्र की मनोविश्लेषण की प्रणाली निजी जीवनानुभवों पर आधृत है, किन्तु अज्ञेय और जोशी पर फ्रायड के यौनवाद का प्रभाव है। जैनेन्द्र ने अन्तर्द्वन्द्व के द्वारा मानवीय उदात्त भावनाओं की सूक्ष्माभिव्यक्ति की है जबकि अज्ञेय और जोशी में दमित वासनाओं और कुंठाओं का उन्मुक्त चित्रण है और शायद ही हिंदी में इन दो को छोड़कर विकृत भावनाओं का ऐसा चित्रण किसी अन्य ने किया हो। कलात्मकता के प्रति आग्रह के कारण ये दोनों उक्ति वैचित्र्य, संकेत-कथन और भाषा की साज-सज्जा में अधिक लगे हैं तथा जीवन सत्यों की अभिव्यक्ति से वंचित रहे हैं। इनके पात्र फ्रायड के यौनविज्ञान के कृत्रिम साँचों में ढले हुए एक ही लकीर पर चलते हैं, उनमें जीवन के विविध घात प्रतिघातों का चित्रण नहीं है। इलाचन्द्र जोशी उपन्यासकार के नाते जितने प्रसिद्ध हैं कहानीकार के नाते उतने कमजोर। जोशी जी के कहानियों के संग्रह हैं—रोमांटिक छाया, आहुत और दीवाली और होली तथा ऐतिहासिक कथायें। अज्ञेय जी उपन्यासकार के साथ-साथ एक कुशल कहानीकार भी हैं। इनके कहानियों के संग्रह हैं—विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात और जयदोल। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी अपनी कहानियों में वैज्ञानिक सत्यों का उद्‌घाटन किया है। उनके कहानी-संग्रह हैं—हिलोरें, पुष्करिणी और खाली बोतल। उनकी मिठाई वाला, झाँकी, त्याग और वंशीवाहन उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। भगवतीचरण वर्मा को उपन्यास-क्षेत्र के समान कहानी-क्षेत्र में भी काफी सफलता मिली है। इनकी कहानियों के संग्रह हैं—खिलते फूल, इंस्टालमेंट और दो बाँके। पहाड़ी और नरोत्तमदास नागर भी आरम्भ में थोड़े बहुत अज्ञेय-प्रवर्तित परम्परा के कहानीकार थे।

यशपाल हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक हैं। अब तक इनके अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—अभिशप्त, वो दुनिया, ज्ञान दान, पिंजरे की उड़ान, तर्क का तूफान, भस्मावृत चिनगारी, फूलों का कुर्ता धर्म युद्ध, उत्तरा-

भिकारी और चित्र का शीर्षक आदि। यशपाल मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित हैं। इनकी कहानियों में यथार्थवादी दृष्टिकोण है और उनमें समाज की कुरीतियों की कटु आलोचना है। आप कला और जीवन में स्वाभाविकता के पक्षपाती हैं। इन्होंने अनेक प्रकार की सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानी कला अत्यन्त सयत और स्वाभाविक है। वर्ण्य विषय के साथ एकात्मकता इनकी कहानियों की एक महती विशेषता है। उपेन्द्रनाथ अश्क का दृष्टिकोण अपनी सामाजिक कहानियों में बहुत कुछ यशपाल से मिलता जुलता है। उनकी कहानियों में पिंजरा, पाषाण, मोती, दूलो, मरुस्थल, खिलौने, चट्टान, जादूगरनी और चित्रकार की मौत आदि उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा रामप्रसाद पहाड़ी के नाम भी कहानी क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने घरेलू जीवन की सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों का संग्रह "आदम खोर" प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी में हास्य रस की कहानियों के लेखक हैं—हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग और जयनाथ नलिन। इनके अतिरिक्त और भी अनेक कहानीकार हैं जिन्होंने कहानी की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनमें प्रमुख हैं—देवेन्द्र सत्यार्थी, विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अचल, गजानन मुक्ति बोध, जिज्ञासु, रामवृक्ष बेनीपुरी और शिवपूजन सहाय आदि। हिन्दी-साहित्य की महिला कहानी लेखिकायें हैं—सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानी देवी, तेजरानी पाठक, ऊषा देवी मित्रा, सत्यवती मलिक, कमला देवी चौधरानी, महादेवी वर्मा, चन्द्रप्रभा, तारा पांडेय, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्प महाजन और विद्यावती शर्मा आदि।

हिन्दी कहानी के इस अल्पकालीन विपुल प्रसार, विकास और आशातीत अभिवृद्धि में पत्र-पत्रिकाओं ने भी कोई कम योग नहीं दिया। मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों में कहानियाँ धड़ाधड़ छपीं। कुछ पत्रिकायें तो केवल कहानियों की हैं। इन पत्रिकाओं ने हिन्दी के अनेक कहानीकारों को प्रेरणा दी तथा हिन्दी कहानी के असंख्य पाठक पैदा किये। हिन्दी कहानी के विकास में सरस्वती, चाँद, इन्दु, माया, कहानी और सरिता आदि पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में कहानी का जिस द्रुत-गति से विकास हुआ है उतना किसी अन्य गद्य-विधा का नहीं। आज हिन्दी कहानी क्षेत्र में इतने अधिक कहानी-लेखक हैं कि उनकी रचनाओं का परिचय देने के लिए एक स्वतन्त्र पुस्तक की अपेक्षा है। अतः हमें उदीयमान कहानी-लेखकों की नामावली प्रस्तुत करके ही सन्तोष करना होगा। ये उदीयमान कहानी-लेखक हैं—शिवप्रसादसिंह, रमेश बक्शी, कैलाश, भारद्वाज मनल कुमार पाषाण, लाडली मोहन, रामावतार चेतन, आनन्द प्रकाश जैन, मनमोहन सरल, श्याम व्यास, सत्य प्रकाश सेंगर आदि।

शिल्प और प्रतिपाद्य वस्तु दोनों दृष्टियों से आधुनिक कहानी ने अतीव आशा-

जनक उन्नति की है। नई कहानी की प्रतिक्रिया मे 'सचेतन कहानी' के लेखकों ने एक नवीन वर्ग की स्थापना की है। इस वर्ग के अन्तर्गत "डा० महीप सिंह मनहर चौहान, कुलभूषण, हिमांशु जोशी, सुदर्शन-चोपड़ा, रमेश गौड, सुरेन्द्र मल्होत्रा, जगदीश चतुर्वेदी वेद राही धर्मेन्द्र गुप्त, देवेन गुप्त, योगेन्द्र कुमार लल्ला, राजीव सक्सेना और देवेन्द्र सत्यार्थी' आदि अनेक लेखक हैं। ये सभी कहानी के नये-नये प्रयोगो मे रत हैं और मानव जीवन की अनेक समस्याओ को उनके समग्र परिपार्श्व मे उपस्थित करके नवमानव चेतना को उद्बुद्ध करने मे प्रयत्नशील हैं। शिल्प के क्षेत्र मे आधुनिक कहानी मे काव्य की-सी सूक्ष्मता और सांकेतिकता का समावेश होने लगा है। आज का कहानीकार स्थूल कथानक के स्थान पर बिम्ब और प्रतीको से काम लेकर जीवन के अभिप्रेत सत्यो के उद्घाटन मे परायण है। पात्रो मे प्रतीकात्मकता और भाषा में सीधापन आधुनिक कहानियो की प्रमुख विशेषतायें हैं। किन्तु हमें इस बात की आशंका है कि कही आज की कहानी प्रतीको के अत्यधिक समावेश और बिम्ब विधान के अवांछनीय प्रवेश से केवल तन्त्र मात्र और पहेली-बुझौवल न बन जाय। आज के कहानीकार को इस खतरे से सावधान रहना होगा।

नई कहानी

सन् १९५० से नई कविता के समान कहानी-क्षेत्र में भी असामाजिक भावनाओं अनास्था, काम कुण्ठा, सन्त्रास, क्षणवाद, घुटन, निराशा तथा जीवन के प्रति वितृष्णा को अभिव्यक्ति मिलने लगी है। ऐसी कहानियो को नई कहानी की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा है। नई कहानी भी नई कविता के समान—"अकहानी", "सचेतन कहानी" एव 'अचेतन कहानी' आदि नामों को अनेक केंचुले बदल रही है। नई कहानी के आलोचको का कहना है कि साहित्य की यह विधा "बदलते हुए जीवन को पकडने और व्यक्त करने मे सशक्त माध्यम बन रहा है।" प्रो० धनजय वर्मा ने नई कहानी के भाव-बोध के समर्थन में लिखा है—"जो संशय ग्रस्तता और व्यर्थता, जो सन्त्रास और निर्वासन, जो अजनबीपन और अकेलापन, जो मृत्युभय, ऊब और घुटन इन दिनो के वातावरण मे फैली और फैल रही है, उसी का उद्घाटन इधर के कहानीकार पूरी बोल्डनैस के साथ कर रहे हैं। मुमकिन है कुछ लोगों को वे मनोदशायें आरोपित लगती हो • ये स्थितियाँ किंचित् अतिरंजित भले लगें, इन्हे निराधार नही कहा जा सकता।" इसके अतिरिक्त नई कहानी के कतिपय अन्य समर्थकों ने इस मे चित्रित मानसिक विकृतियो को आधुनिकता, वैज्ञानिक बोध, नूतनता, कलात्मकता, नई सवेदना और आधुनिक युग बोध या युग सत्य जैसे भ्रामक शब्दो मे आच्छादित करना चाहा है। इस सम्बन्ध मे हमें याद रखना होगा कि नई कहानी ने बदलते हुए जीवन को उसके समग्र रूप मे पकडने का प्रयास नही किया है। बल्कि उसके खंडित प्रपंच विकृत रूप को ही अंकित किया है। नि सन्देह नई कहानी मे चित्रित स्थितियाँ निराधार तो नही हैं किन्तु ये किसी स्वस्थ और ठोस आधार को न लेकर मन की

विशृंखल स्थितियों के एकांगी आधार को लेकर उभरी हैं। नई कहानी का लेखक युग जीवन को उसके पुष्कल रूप में ग्रहण न करके केवल उसकी निराशा जन्य विकृतियों को उभार रहा है। उसने वैज्ञानिक बोध के नाम पर विज्ञान के केवल निषेधात्मक मूल्यों को ही देखा है और उसके विधेयात्मक मूल्यों पर दृष्टिपात नहीं किया। केवल फ्रायड, सार्त्र और कामू से जीवन दृष्टि पाने वाले नये कहानीकार का जीवन लक्ष्य व्यापकता एवं उदात्तता से शून्य है। फलतः उसने विकृत और खंडित व्यक्तित्व का चित्रण किया है।

डॉ० रमेश पांडेया ने नई कहानी की कतिपय विशेषताओं का निम्नांकित शब्दों में निरूपण किया है—

(क) "नई कहानी विशेष मनःस्थिति को निरूपित करने के कारण क्लाइमैक्स का आग्रह नहीं रखती। (ख) चरित्र की असंगति नई कहानी की विशेषता है। (ग) नई कहानियों में सस्पेन्स का प्रायः अभाव रहता है। (घ) चरम सीमा का अभाव। (ङ) नया कहानीकार अन्तर्द्वन्द्वों का सायास चित्रण नहीं करता। (च) शिल्प की नवीनता—नई कहानी में सांकेतिकता, बिम्ब विधान तथा प्रतीक योजना का बाहुल्य है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने नई कहानी की प्रवृत्तियों को लक्षित करते हुए लिखा है कि (छ) इसका सबसे बड़ा वैशिष्ट्य कथा तत्त्व का ह्रास है। नया कहानीकार कथानक को अधिक महत्त्व नहीं देता और उसके विकास को अनुपयोगी समझता है। (ज) इसमें मुख्यतः मध्य वर्गीय शहरी जीवन के कलुषित, अस्वस्थ एवं कुण्ठाग्रस्त रूप का ही उद्घाटन किया गया है, अन्य वर्ग और पक्ष उपेक्षित हो रहे हैं। (झ) आंचलिकता के फैशन ने नए कहानीकार को ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित किया है किन्तु उसमें वास्तविक अनुभूतियों का अभाव है। उपेन्द्रनाथ अश्क के शब्दों "देहात की कटु यथार्थता से इन कथाकारों को कोई प्रयोजन नहीं था। देहात में कैसे अत्याचार-अनाचार हो रहे हैं, इससे भी इन्हें कोई गरज नहीं थी। देहात की उस धरती में उन्होंने शहर के पेचीदा मन वाले लोग बसा दिये"।

नये कहानीकारों में से सर्व श्री मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, अमरकान्त, अजितकुमार, शेखर जोशी, रेणु, मार्कण्डेय, अमृतराय, रघुवीर सहाय, मन्नु भण्डारी, श्रीकान्त वर्मा, राजकमल चौधरी तथा गंगा प्रसाद विमल आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य भी अनेक नई कहानी के लेखक हैं जिनकी कहानियाँ "ज्योत्सना", "आजकल", "कल्पना", "धर्मयुग" तथा "ज्ञानदेव" आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। नई कहानियों में कुछ ही ऐसी कहानियाँ हैं जो सुन्दर बन पड़ी हैं अन्यथा बहुत सी कहानियाँ तो निराशा अनास्था त्रास ऊब और घुटन के चित्रण के साथ-साथ अपने आप में घुटकर रह गई हैं। नई कहानी की अलोकप्रियता के कारण हैं—नूतनता और विशिष्टता का अनावश्यक आग्रह, चरम सीमा के अभाव के कारण प्रभाव हीनता, क्लिष्ट तथा अग्राह्य सांकेतिकता, जटिल बिम्बों और प्रतीकों का विधान, चारित्रिक विसंगति और इतिवृत्त को यथेष्ट महत्त्व न देना

आदि। प्राय आज का नया कहानीकार पश्चिम के प्रभावों और परिस्थितियों से इतना अधिक प्रभावित हुआ है कि उसमे अपने अनुभवों के प्रति अवज्ञा का भाव उत्पन्न हो गया है। वह शरीर से भारत मे रहता हुआ भी मन से विदेश मे रहकर पाश्चात्य जीवन के विसगतिमय सदर्भों को यहाँ के जन जीवन पर बलात आरोपित करना चाहता है। यह उसके कथ्य और कथन विधि की सबसे बडी परिसीमा है। यही कारण है कि नई कहानी अपने प्रचार के अपार साधनों और बेशुमार ऊँचे ऊँचे नारों के बावजूद भी भारतीय जनमानस मे प्रतिष्ठित नही हो पाई है। नई कहानी के आलोचको ने इसका कारण यह बताया है कि जिस मात्रा में नई कहानी से रचनात्मक मूल्यों का विकास हुआ, उस अनुपात से आस्वाद का धरातल तैयार नहीं हुआ तथा इसके मूल्याकन का विवेक भी उतना जागृत नहीं हो सका है। अस्तु ! क्या नई कहानी के आस्वाद के लिए भारतीयो को मन भी विदेश से लेने होंगे ? क्या उन्हे मूल्याकन के लिए विवेक बुद्धि भी विदेशियो से उधार लेनी होगी ? वस्तुत नई कहानी की अप्रियता और उसकी ह्रासोन्मुखता के बीज उसी मे ही सन्निहित हैं। इस विषय में डा० रमेश पाडेया के शब्द उल्लेखनीय हैं—"आज नये कहानीकार साहित्य की निरन्तर प्रवहमान स्वस्थ साहित्यिक परम्परा को ठुकरा कर विदेशी ढग पर विसगति बोध और सिद्धान्तवाद के आग्रह से भरी हुई कहानियो का निर्माण कर रहे हैं। ये वर्तमान की विकृति की कहानियाँ हैं। इन्होंने नई कहानियों पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है'। ओढी हुई आधुनिकता, यान्त्रिक बौद्धिकता और उद्देश्यहीनमयी शिल्प भगिमा की ललक कहानी को श्रेष्ठ नहीं बना सकती। उसकी प्रकृष्टता के लिए उसमे जीवन का दर्द होना चाहिए चाहे वह गावो का हो या शहरो का या किसी अन्य परिवेश से सबद्ध हो। केवल तत्र-कौशल, कथ्यहीनता, अनुभूति शून्यता एव उद्देश्य हीनता के खोखले पन पर पर्दा नहीं डाल सकता। मात्र कौशल वक्रता के आग्रह से लिखी गई नयी कहानी अपनी प्राण रिक्तता और चक्र व्यूही उलझावो के कारण एक अजीब सी खीज को उत्पन्न करती है।

समस्त साहित्य की धूरी जीवन है। नई कहानी का लेखक कमरे में बैठकर पुस्तको को पढकर कहानी लिखने को बाध्य है। परिणामत प्राय आधुनिक नई कहानी मे देश की जनता का सपर्क तथा यहाँ की परिस्थितियो का समीपी भाव नही हैं। नई कहानी की यह कमी विशेष चिन्त्य है। आज के कहानी लेखक को वस्तु और शिल्प विधान की सज्जा के साथ-साथ कहानी मे जनजीवन की बहुलता तथा निकट सपर्क जन्य जीवन के वास्तविक सवेदनो को अकित करना चाहिए। केवल रचना चमत्कार, बुद्धिवाद अन्धानुकरण तथा सर्वथा नये बनने की धुन किसी रचना को उत्तमता प्रदान नही कर सकती। रचना की प्रकृष्टता के लिए जीवन की गहन वास्तविक अनुभूतियो का होना अनिवार्य है।

साठोत्तरी कहानी

सन् ६०-६५ के बाद की लिखी गई कहानियो में अत्यधिक उग्रता और

निर्ममता और यथार्थ की क्रूरता की प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। ये कहानियाँ प्राय: उन लेखकों की हैं जो स्वाधीन भारत में जन्मे और बड़े हुए तथा जिन्हें देखने को मिला स्वतंत्र भारत का क्रूर यथार्थ, स्वार्थ परायण व्यवस्था, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, समाज की विषम भयावह विसंगतियाँ, बेकारी, अकेलापन, त्रास, असुरक्षा तथा स्वार्थ निहित न्याय व शासन। यथार्थ की नई पहचान देना इन कहानीकारों का नारा है, किन्तु उग्र यथार्थ के नाम पर इन कहानीकारों ने कुछ ऐसी अत्याधुनिक और विद्रोहात्मक बातें अपनी कहानियों में अंकित की हैं जिनका अस्तित्व न उनके परिवेश में है और न उनके व्यक्तित्व में। अत: उनमें ऊब की मात्रा अधिक है। कमलेश्वर ने आन्दोलन प्रेरित आधुनिक लेखन (साठोत्तरी कहानी लेखन) को ऐय्याश प्रेतों का विद्रोह कहा है किन्तु आधुनिकता के फार्मूलों को छोड़कर जहाँ नव लेखक ने हमारी भोगी हुई जिन्दगी के यथार्थ को अपने अनुभवों के आधार पर उजागर किया है वहाँ वह अपनी रचनात्मक क्षमता का भली भाँति परिचय देने में समर्थ हुआ है। साठ के बाद जिन कथाकारों ने गहन व परिपक्व अनुभवों के आधार पर आधुनिक जीवन की यथार्थता को समर्थ अभिव्यक्ति दी है, उनमें उल्लेखनीय हैं— दूधनाथसिंह, महीपसिंह, सुरेश सिन्हा, ज्ञानरंजन, गिरिराज किशोर, भीमसेन त्यागी, धर्मेन्द्र गुप्त, इब्राहीम शरीफ, विश्वेश्वर गंगाप्रसाद विमल, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्रप्रकाश भल्ला, काशीनाथ सिंह, ज्ञान प्रकाश आदि। इनके अतिरिक्त आज के कहानीकारों में सिद्धेश, प्रकाश बाथम, हृषीकेश, सुदर्शन नारंग, पानू, खोलिया रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया, रामकुमार भ्रमर, नरेन्द्र कोहली, गोविन्द मिश्र, हृषनाथ, वेद राही और श्रवण कुमार आदि भी कहानी के विकास क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

महिला कहानी लेखिकाओं में ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरूपमा सेवती, मीना गुलाटी, अनिता अलीक, वनिता अग्रवाल और दीप्ति खंडेलवाल ने आधुनिकता बोध की कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें सामान्यत: स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को चित्रित किया गया है और इसमें निःसकोच यौन चित्रण भी यत्र-तत्र कर दिया गया है।

सन् ६५ के बाद युवा कहानी लेखक वर्ग में उदित विद्रोह और आक्रोश से कहानी क्षेत्र में सपाट बयानी को बल मिला। पुरानी व्यवस्था के विरोध के फलस्वरूप सातवें दशक के मध्य के उपरान्त लिखी गई कहानियों में यथार्थ को निःसंग आंक पाने की क्षमता आई। इस अवधि में कहानी के रूपबन्ध में भी परिवर्तन आया। अब इसमें परंपरात्मक छह तत्त्वों के निर्वाह के प्रति आग्रह प्राय: निःशेष हो चुका है। अब कहानी क्षेत्र में रूप विषयक पुरानी धारणायें भी टूट चुकी हैं। कहानी में निबन्ध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण एवं डायरी आदि की अनेक विधायें भी समाविष्ट हो गई हैं। परिणामत: उसका रूपबंध अधिक अभिव्यंजना पूर्ण हुआ तथा उसके क्षेत्र में यथेष्ट विस्तार आया।

हिन्दी निबन्ध-साहित्य का विकास

हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का समुचित सूत्रपात राष्ट्रीय जागरण के उष:काल भारतेन्दु समय में हुआ। एक तो अब गद्य का विकास हो चुका था और दूसरे मुद्रण-यत्र तथा समाचार-पत्रो के प्रचलन ने साहित्य के इस अग को प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-युग के साहित्यकार पर विविधमुखी दायित्व था जिसकी पूर्ति गद्य साहित्य के अन्य अगो की अपेक्षा निबन्ध के द्वारा सहज तथा सबल रूप मे हो सकती थी। तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना ने इस युग मे निबन्धो के विकास में यह महत्त्वपूर्ण योग दिया। भारतेन्दु युग से आज तक के निबन्ध-साहित्य को (१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी युग, (३) शुक्ल युग तथा (४) शुक्लोत्तर युग में विभाजित करके क्रमात्मक रूप से इनका अध्ययन किया जायेगा।

भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु-युग का उदय राष्ट्रीय जागरण की नव सास्कृतिक और राजनीतिक चेतना के उन्मेषकाल मे हुआ। उस युग के साहित्यकार का दायित्व निश्चित रूप में अनेकमुखी था। जहाँ उसे एक ओर सामाजिक सुधार करना था, वहाँ दूसरी ओर सास्कृतिक चेतना का समुचित विकास करना भी उसे अभीष्ट था। एक ओर उसे शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार करना था तो दूसरी ओर उसे साहित्य के विविध अगों को पुष्ट करना वाछनीय था। इन सम्पूर्ण दायित्वो की पूर्ति के सबल माध्यम के लिए जितना निबन्ध उपयोगी हो सकता है उतनी साहित्य की दूसरी विधा नहीं। प्राय इस युग के साहित्यकार, सम्पादक और लेखक भी हैं। इन्होंने अपनी पत्र-पत्रिकाओं मे सामाजिक विषयो, सामयिक आन्दोलनों तथा दूसरे अनेक प्रकार के विषयो की चर्चा निबन्धों के रूप मे की है, अत· इस युग के निबन्धो मे जहाँ विषय-व्यापकता है वहाँ उनमे पत्रकारिता के भी सभी गुण हैं। उनके निबन्धो की समस्यायें जनता की समस्यायें थी, अत इस युग के निबन्ध साहित्य मे तत्कालीन युग की समग्र चेतना सम्यक् रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। गद्य के किसी सर्व-स्वीकृत रूप के अभाव मे भाषा और शैली मे एकरूपता का आना उस युग के निबन्धो में कठिन था, अत इस क्षेत्र मे वैयक्तिक प्रयोग ही चलते रहे। अस्तु। इस युग मे निबन्ध खूब लिखे गए और सम्भवत इस युग के गद्य-साहित्य का सबसे उन्नत अग निबन्ध ही हैं। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं—भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास और राधाचरण गोस्वामी प्रभृति।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न हिन्दी के प्रथम निबन्धकार हैं। कविता और नाटक के समान इनके निबन्धो की परिधि भी बहुत व्यापक है। इन्होंने धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज-यात्रा, प्रकृति वर्णन, आत्मचरित और व्यग्य विनोद आदि सभी विषयो पर सफल निबन्ध लिखे हैं। इन्होंने अपने धार्मिक निबन्धो में अन्धविश्वासो, मिथ्या परम्पराओ और बाह्य-आडम्बरो पर तीखी चोट की है। सामाजिक निबन्धों में कुरीतियो का खुलकर विरोध किया है और राज-

नीतिक निबन्धों में विदेशी शासन पर मीठे तीखे व्यंग्य कसे हैं। इनके यात्रा-वर्णन अत्यन्त सजीव और प्राकृतिक निबन्ध प्रतीव मनोहारी हैं। ताजगी जिंदादिली आत्मीयता, व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना, मौलिकता और व्यंग्यात्मकता इनके निबन्धों के विशिष्ट गुण हैं। इनके निबन्ध व्याख्यात्मक और विचारात्मक शैली में लिखे गये हैं। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्रों के ढंग से व्यंग्यात्मकता में प्रभावोत्पादन की विलक्षण क्षमता आ गई है।

बालकृष्ण भट्ट एक स्वतंत्रचेता और प्रगतिशील विचारों के निबन्धकार हैं भट्ट जी कदाचित् भारतेन्दु-युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इन्होंने सामाजिक राजनीतिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखे और भारतेन्दु की व्याख्यात्मक तथा विचारात्मक शैली को विकसित किया। इनके निबन्ध 'ब्राह्मण' पत्र मे छपा करते थे। इन्होंने भाषा में व्याकरणसम्मत रूप का कोई ध्यान नहीं रखा है और प्राय ये अपने निबन्धों मे विषयान्तर कर जाते हैं। किसी भी शीर्षक वाले निबन्ध मे विलायत-यात्रा, समाज की सेवा, देश-प्रेम और स्वभाषा प्रेम आदि का आ जाना स्वाभाविक था। इनके 'नवीन','प्रताप-पीयूष' तथा 'प्रताप-समुच्चय' तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बालमुकुन्द गुप्त उर्दू क्षेत्र से हिन्दी में आये। ये अपने व्यंग्यात्मक निबन्ध 'शिवशम्भु का चिट्ठा' तथा 'खत' के लिए हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध हैं। इनके निबन्धों में अतीत प्रेम के साथ राजनीतिक विचारों की सजगता विशेष उभरी हुई है। इन्होंने कई जीवन-चरित तथा हिन्दी-भाषा, लिपि, व्याकरण और राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में निबन्ध लिखे। इनके अतिरिक्त ज्वालाप्रसाद, तोताराम, रामचरण गोस्वामी और अम्बिकादत्त व्यास ने फुटकर रूप में तथा टिप्पणियों के रूप में निबन्ध लिखे। श्री विजयशंकर ने भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की विशेषताओं को इन शब्दों में व्यक्त किया है 'भारतेन्दु-युग के निबन्ध सचमुच प्रयास ही हैं। उनमें न बुद्धि वैभव है न पाण्डित्य-प्रदर्शन और न ग्रन्थ-ज्ञानज्ञापन। इन लेखकों की रुचि सभी विषयों में है पर किसी भी विषय में वे अन्तिम बात नहीं कहते, बल्कि पाठक के साथ सोचना-विचारना चाहते हैं। उनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी है कि पाठक भी उनसे घुल-मिल जाना चाहता है।" इनके निबन्धों में वैयक्तिकता के साथ सामाजिकता है। इनकी व्यंग्यात्मकता सोद्देश्य है और वह किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर गहरी चोट करती है। सरसता इन निबन्धों का निजी गुण है और इन निबन्धों में सम्पूर्ण युग-चेतना प्रतिबिम्बित हुई है।

द्विवेदी-युग—इस युग की समस्त-साहित्य चेतना महावीर प्रसाद द्विवेदी में समाहित है। उनका सबसे पहला कार्य है, भाषा का संस्कार तथा परिष्कार। उन्होंने भाषा के व्याकरण-सम्मत प्रयोग तथा हिन्दी विराम चिह्नों के उपयोग पर अत्यधिक बल दिया। उनका भाषा सम्बन्धी आदर्श था कि हिन्दी को अन्य भाषाओं के शब्दों से सर्वथा अछूता न रखा जावे, किन्तु उसमें प्रयत्नपूर्वक संस्कृत

के तत्सम शब्दों का बहिष्कार भी न किया जाये। उनकी इस नीति का तत्कालीन निबन्धों पर स्पष्ट प्रभाव है। द्विवेदी जी के नैतिकताप्रिय होने के कारण उस युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गये। इस युग में पत्रकारिता की स्वच्छन्दता कम हो गई और निबन्धकार जन-सामान्य की अपेक्षा मध्यवर्ग के शिष्ट एवं शिक्षित समाज के अधिक समीप आ गया। इसलिए एक तो इस युग के निबन्धों के भारतेन्दुकालीन विषय वैविध्य समाप्त हो गया और दूसरे उनमें गाम्भीर्य अधिक आ गया। इससे द्विवेदीकालीन निबन्धों में बौद्धिकता अधिक आई और हार्दिकता की कमी रही और उनमें भारतेन्दुकालीन आत्मीयता तथा जिंदादिली न रही। सरस्वती के प्रकाशन से हिन्दी में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रवर्तन हुआ और तब से निबन्धों में साहित्यिकता अधिक आने लगी। द्विवेदी जी के अनुसार ज्ञानराशि का अर्जित भंडार ही साहित्य है। अत इस युग के निबन्धकार का ध्यान अपने साहित्य को संचित ज्ञान-कोष बनाने की ओर भी गया। परिणामत दूसरी भाषाओं के निबन्धों के अनुवाद करने की परम्परा भी इस युग में चल निकली। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह।

निबन्धकार महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्व ऐतिहासिक है साहित्यिक नहीं। उन्होंने पाश्चात्य लेखकों के ज्ञान को अर्जित करके अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दी पाठकों का ज्ञानवर्धन किया। उनके 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि-कर्त्तव्य', 'प्रतिभा', 'नाटक और उपन्यास' जैसे निबन्ध ज्ञान के संचित कोष ही हैं। उनके मौलिक चिन्तन से लिखे हुए निबन्ध कम ही हैं, जैसे दण्डदेव का आत्मनिवेदन, कालिदास का भारत, गोपियों की भगवद्भक्ति और नल का दुस्तर दूतकार्य। इन निबन्धों में रोचकता और आत्मीयता है। इन्होंने बेकन के निबन्धों का 'बेकन विचार रत्नावली" के नाम से अनुवाद भी किया। समूचे रूप से इनके निबन्धों में भाषा का अत्यन्त शुद्ध रूप है, किन्तु उनमें चिन्तन की कमी है।

माधवप्रसाद मिश्र के निबन्ध भावनापूर्ण हैं, एतदर्थ उनमें सरसता माधुर्य है। उनके त्यौहारों और तीर्थ-स्थानों पर लिखे गये निबन्ध विद्वतापूर्ण और मार्मिक हैं। इन्होंने धृति और सत्य जैसे विषयों पर गम्भीर शैली में लिखा है। 'माधवमिश्र निबन्ध माला' के नाम से इनका निबंध-संग्रह छप चुका है। गुलेरी जी ने कहानियों के समान निबन्ध भी कम लिखे हैं, किन्तु वे उनकी कहानी 'उसने कहा था' के समान अद्वितीय और अनूठे हैं, उनके 'मारेसि मोहि कुठाव', 'कछुआ धरम' और 'संगीत' और निबन्धों में समाज पर तीखे व्यंग्य हैं। सरदार पूर्णसिंह के भावनात्मक निबन्धों में मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। उनके निबन्धों मे स्वाधीन चिंतन और प्रगतिशीलता के तत्त्व हैं। इनके लेख 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम' आदि काफी लोकप्रिय हुए। पद्मसिंह शर्मा के दो निबन्ध-संग्रह 'पद्म-पराग' और 'प्रबन्ध-मंजरी' प्रकाशित हो चुके हैं। इनके निबन्ध फड़कती हुई

भाषा के कारण पर्याप्त आकर्षक बन पड़े हैं। उन्होंने कुछ जीवनियाँ और संस्मरणात्मक लेख भी लिखे हैं। मिश्रबन्धुओं के निबन्ध संख्या में काफी हैं पर उनका महत्त्व शिक्षा-मूलक है।

बाबू श्यामसुन्दरदास एक उच्च कोटि के आलोचक होने के साथ-साथ सफल निबन्धकार भी थे। उन्होंने प्रायः गम्भीर आलोचनात्मक विषयों पर लेख लिखे हैं, जैसे भारतीय साहित्य की विशेषताएँ समाज और साहित्य हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा, कर्त्तव्य और सभ्यता आदि इनके निबन्धों में विचार-संचय की प्रवृत्ति अधिक है। निजी अनुभूतियों का प्रकाशन कम। इनकी व्यास शैली में काफी सुबोधता और स्पष्टता है किन्तु भारतेन्दु की सी रोचकता नहीं।

द्विवेदी-युग के निबन्धों के परिचय के अनन्तर कहा जा सकता है कि इनमें भारतेन्दुकालीन निबन्धों की सी ताजगी, जिन्दादिली और व्यंग्य विनोदप्रियता नहीं है, बल्कि विचारों की प्रधानता और गम्भीरता है। इन निबन्धों का वृत्त भी सीमित है इनमें भारतेन्दुकालीन निबन्धों के समान सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक चेतना का प्रतिबिम्ब नहीं है। भारतेन्दुकालीन निबन्धों में पर्याप्त मौलिकता है, किन्तु इनमें ज्ञान की सचयात्मकता है। वस्तुतः ये निबन्ध कम हैं और विचारों के संग्रह अधिक। गुलेरी और पूर्णसिंह के निबन्धों को छोड़कर द्विवेदी-युग के निबन्धों में वैयक्तिकता का भी प्रायः अभाव है। उपदेशात्मकता इन निबन्धों की खास विशेषता है। इस युग के निबन्ध भाषा की दृष्टि से अधिक शुद्ध और परिष्कृत हैं।

शुक्ल युग आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल का स्थान का हिन्दी निबन्ध-परम्परा मे शीर्ष स्थानीय है। इनके निबन्ध अन्तःप्रयास से निकली हुई सहज विचारधारा के प्रतिरूप हैं। उनके आगमन से हिन्दी-जगत् को नयी अनुभूति, नये विचार और नयी भावाभिव्यक्ति-शैली के दर्शन हुए। उन्होंने मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा सैद्धान्तिक सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। उनकी 'चिन्तामणि' में इन सभी प्रकारों के निबन्ध हैं जिनमे "एक ओर चिन्तन की मौलिकता, विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं प्रौढता दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थान-स्थान पर है। उनके निबन्धों में विषय और व्यक्ति का ऐसा समन्वय हुआ है कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें विषय-प्रधान कहें या व्यक्ति प्रधान कहें ?" (डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त) उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों—लोभ, प्रीति, ईर्ष्या, श्रद्धा और क्रोध आदि में सामाजिक व्यावहारिकता, साहित्यिकता और मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता साथ-साथ चलती है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने समाजशास्त्री, मनोविज्ञान-वेत्ता तथा साहित्यकार, तीनों के कार्यों की सफलतापूर्वक पूर्ति की है। 'कविता क्या है ?' 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आदि सैद्धान्तिक और साहित्यालोचनात्मक निबन्ध हैं। इन निबन्धों में उनकी अपूर्व प्रतिभा और मौलिक

चिन्तन दर्शनीय हैं। इनमे विचार-गहनता के साथ-साथ रसधारा भी चलती रहती है। शुक्ल जी के निबन्धो मे पर्याप्त मौलिकता, स्पष्टता और रोचकता है। शुक्ल जी जीवन से अध्यापक, मस्तिष्क से आलोचक और हृदय से कवि हैं। सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष उनके निबन्धो का सार है। उनकी शैली के सम्बन्ध मे डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं—"निबन्धकार शुक्ल की शैली मे भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु-युग की-सी मौलिकता उसमे है किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं, द्विवेदी युग की विचारात्मकता उसमे है, किन्तु वैसी शुष्कता का अभाव है। विचारों की गम्भीर घाटियों के बीच बीच मे उत्तरी हास्य-व्यग्य से ओत प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीतल निर्झर के कोमल मधुर कलकल स्वर की तरह सुनाई पड़ती हैं।" हाँ, उनके कुछ निबन्ध हिन्दी के साधारण पाठक की तो क्या बात, हिन्दी के अच्छे अच्छे विद्वानो को अपनी जटिलता के कारण हैरान कर देते हैं।

शुक्ल युग के अन्य उल्लेखनीय निबन्धकार हैं—बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, राय कृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल और शातिप्रिय द्विवेदी आदि।

बाबू गुलाबराय के निबन्धों के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपने साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, सस्मरणात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों में वैयक्तिकता, अनुभूति-गहनता और शैली की सुबोधता सभी गुण मिलते हैं। आपके 'मेरी असफलताएँ' और 'फिर निराश क्यो' आदि निबन्ध काफी लोकप्रिय हुए हैं। पदुमलाल ने 'उत्सव', 'रामलाल पडित', नाम', 'समाज सेवा', और 'विज्ञान' आदि शीर्षकों से अनेक निबन्ध लिखे हैं। विचारो की मौलिकता और शैली की नूतनता के कारण हिन्दी मे इनके निबन्धो का विशिष्ट स्थान है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सास्कृतिक विषयों पर बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। डॉ० रघुवीरसिंह अपने ऐतिहासिक सस्मरणात्मक लेखों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका शेष स्मृतियाँ' निबन्ध काफी महत्वपूर्ण है। राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा शातिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों मे भावात्मकता की प्रधानता है। इनके निबन्धो मे विचारों का अपेक्षा निजी अनुभूतियों का प्राधान्य है। शुक्ल युग के निबन्धो के सम्बन्ध मे निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इनमें विषय वैविध्य है, गम्भीरता और सूक्ष्मता है। भाषा की प्रौढ़ता, सरसता शैली की विशिष्टता और वैयक्तिकता की दृष्टि से इस युग के निबन्ध द्विवेदी-युग के निबन्धो से उन्नत हैं।

शुक्लोत्तर युग—आचार्य हजारीप्रसाद, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज और नलिनविलोचन शर्मा आदि भी शुक्ल की परम्परा में आते हैं। ये विचार और शैली की दृष्टि से शुक्ल से भिन्न हैं पर इन्हें जीवन के बारे में जो कुछ कहना है, शुक्ल के समान साहित्य के माध्यम से कहते है। साहित्य आलोचनात्मक निबन्ध लेखकों मे पन्त, प्रसाद, निराला और

महादेवी वर्मा के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने काव्य संग्रहों की भूमिकाओं में आधुनिक कविता की धाराओं का सुन्दर विवेचन किया है। 'प्रसाद' तथा 'दिनकर' ने स्वतन्त्र रूप से भी निबन्धों की कलात्मक सृष्टि की है। सियारामशरण गुप्त ने भी अनेक प्रकार के सुन्दर निबन्ध लिखे हैं।

स्व० रामधारीसिंह दिनकर के निबन्ध परिमाण और गुण में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। निःसन्देह वे कवि रूप में इतने प्रख्यात हुए कि उनके गद्यकार का रूप प्रायः ओझल हो गया किन्तु सच यह है कि वे गद्य व पद्य दोनों के एक समर्थ सिद्ध हस्त शिल्पी हैं। उनके निबन्ध संग्रह हैं—'मिट्टी की ओर', 'अर्ध नारीश्वर', 'गुप्त', 'प्रसाद' और 'पन्त' 'साहित्य मुखी', 'शुद्ध कविता की खोज', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय साहित्य। इनके निबन्धों मे सर्वत्र मानवतावादी दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है। वे अपनी बात को बड़ी विश्वसनीयता, निश्चयात्मकता और स्पष्टता से पाठकों तक सप्रेषित करते हैं। फलत उन के निबन्ध में सर्वत्र उनके विचार मूर्तिमत्त हो जाते हैं।

इस युग के वर्णनात्मक एवं यात्रा सम्बन्धी निबन्ध लेखकों मे सत्यदेव, राहुल सांकृत्यायन और देवेन्द्र सत्यार्थी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सद्‌गुरुशरण अवस्थी, भगवतशरण वर्मा, भदंत आनंद कौसल्यायन और हरिविष्णु शर्मा आदि ने भी हिन्दी-निबन्ध क्षेत्र में सुन्दर और सफल प्रयोग किये हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद के अनेक निबन्ध-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जैसे 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार प्रवाह तथा कुटज'। आपके निबन्धो में हृदय की सरलता, प्राचीन साहित्य एव सस्कृत का ज्ञान-वैभव, विचारो की मौलिकता एव शैली की रोचकता का सफल समन्वय दृष्टिगोचर होता है।" सरलता के साथ हास्य-विनोद-प्रियता इनके निबन्धो की निजी विशेषता है। गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के कारण इनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदार है और उस पर रवीन्द्र के मानवतावाद की गहन छाप है। इन्होंने साहित्य, समाज, सस्कृति और ज्योतिष आदि अनेक विषयो पर लिखा है। पाठक के साथ आत्मीयता स्थापित करने मे द्विवेदी जी सिद्धहस्त हैं। डॉ० नगेन्द्र में शुक्ल की मौलिकता, द्विवेदी जी की रोचकता और गुलाबराय की स्पष्टता है। इनके काव्यशास्त्रीय निबन्धों में पाश्चात्य और पौरस्त्य का सन्तुलित समन्वय है। इन्होंने साहित्यिक विषयो पर निबन्ध लिखे हैं। इनके 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति' और 'विचार और विश्लेषण' आदि निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जैनेन्द्र के दार्शनिक और सामाजिक निबन्धो मे पर्याप्त मौलिक चिन्तन और मनन है। यशपाल ने भी निबन्ध-लेखक के रूप मे सुन्दर व्यंग्य लेख लिखे हैं। नन्द दुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक निबंध लिखे हैं जिनमें मौलिक चिन्तन है। इनके लेखों मे एक पत्र-सम्पादक की छाप सर्वत्र विद्यमान रहती है। रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान और अमृतराय प्रभृति लेखकों ने प्रगति-

शील दृष्टिकोण से साहित्य-सबंधी निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों में मौलिकता और रोचक शैली के सभी गुण मिलते हैं। धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, नलिनविलोचन शर्मा आदि के साहित्यिक निबंध हिंदी की अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं में समय-समय पर निकलते रहते हैं। इनके अतिरिक्त हिंदी के शताधिक निबंधकारों के निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। साहित्यिक निबन्ध लेखकों में डॉ० गणपतिचन्द्र मौलिक चिन्तन और रोचकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं।

छोटे गद्य गीतों के समान आज रेखा चित्रों को भी निबंध कोटि मे परिगणित कर लिया गया है। प्रसिद्ध रेखा चित्रकारो में उल्लेखनीय हैं—प्रकाशचन्द गुप्त और रामवृक्ष बेनीपुरी आदि। बाबू गुलाबराय के सस्मरण लेखो के समान महादेवी वर्मा ने सस्मरणात्मक निबंध लिखे हैं। उनके 'अतीत के चल चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'शृंखला की कड़ियाँ' इस प्रकार के निबन्धों के सग्रह हैं। उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों, सामाजिक विषमता एव शोषित वर्ग की दीन हीनता का चित्रण अपने इन लेखों में किया है। इन निबन्धों में "चित्रकार की तूलिका और निबन्धकार की लेखनी, दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि एव कवि की वाणी गद्य की सी विचारात्मकता एव पद्य की-सी भावात्मकता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।" इस दिशा में प० पद्मसिंह पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी, बनारसी दास चतुर्वेदी, डॉ० विनय मोहन शर्मा, डॉ० पद्मसिंह शर्मा कमलेश, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, देवेन्द्र सत्यार्थी तथा प्रेमनारायण व्यजन के नाम उल्लेखनीय हैं। सस्मरणात्मक निबन्ध लेखकों में श्री तनसुखराम गुप्त की विस्मृति के भय से तथा 'सघर्ष के पथ पर' उल्लेखनीय हैं।

आजकल रेखाचित्रों के समान रिपोर्ताज, डायरी, सस्मरण तथा मेमायर्स भी पर्याप्त मात्रा में लिखे जा रहे हैं। रेखाचित्रों में अपने अभीष्ट को सांकेतिक रूप में अभिव्यजित कर दिया जाता है। भावात्मक प्रतिपाद्य को सक्षेप में मार्मिक शब्द रेखाओं द्वारा चित्रित कर देना रेखाचित्र है। डॉ० कृपाशकर सिंह के शब्दों में किसी "स्थान या घटना के सजीव चित्रण को रिर्पोताज की सज्ञा प्राप्त हुई। इसी प्रकार किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के सपर्क की याद की अनुभूति का सबल लेकर आत्मकथन के रूप में प्रस्तुत करता सस्मरण कहलाया। मेमायर्स भी सस्मरण से मिलती-जुलती विधा है जिसमें ऐतिहासिकता प्राय. अनिवार्य रहती है।" सस्मरण, रेखाचित्र और मेमायर्स परस्पर बहुत निकट हैं। इन्टरव्यू शैली भी सस्मरण का एक विकास है। इस विषय में डॉ० पद्मसिंह शर्मा कमलेश की "मैं इनसे मिला" एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

साहित्येतर ललित निबन्धों की रचना में भी अनेक लेखक प्रवृत्त हुए। ऐसे निबन्धों का विषय वृत्त काफी विस्तृत है। रामवृक्ष बेनीपुरी के निबन्ध सग्रहों—'गेहूँ और गुलाब' तथा 'वन्दे वाणी विनायकौ' में गेहूँ भूख का प्रतीक है और गुलाब कला व संस्कृति का। इन दोनों का जीवन में अपना-अपना स्थान है। श्री राम शर्मा हिन्दी साहित्य में शिकार साहित्य के अग्रणी लेखक हैं। वे जीवन में अध्यापक, लेखक और

सपादक रहे हैं। शिकार और साहसिक विषयों पर लिखना उनका शौक था। इनके निबन्धों में साहसिक एव रोमांच पूर्ण घटनाओं को ग्राम्य जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों की व्यापक पट भूमि में चित्रित किया गया है। देवेन्द्र सत्यार्थी के निबन्ध सग्रहों—'धरती गाती है', 'एक युग एक प्रतीक' तथा 'रेखायें बोल उठीं' में उनके घुमक्कड़ जीवन के अनुभव अंकित हैं। उनमे सर्वत्र भाषा सम्बन्धी ताजगी बनी रही है। यही दशा भदन्त आनन्द कौसल्यायन के निबन्धो की है। वासुदेव शरण अग्रवाल के निबन्ध सग्रहों—'पृथ्वी पुत्र' तथा 'कला और सस्कृति' मे भारतीय सस्कृति का कलात्मक उद्घाटन है वहाँ यशपाल के निबन्ध सग्रहो—'चक्कर कलब', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात बात में बात', गाँधीवाद की शव परीक्षा' तथा 'न्याय का सघर्ष' में सर्वत्र मार्क्सवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के निबन्ध सग्रहों – 'जिन्दगी मुस्कराई' तथा 'बाजे पायलिया के घुघरू' में व्यग्य और भावुकता का सुन्दर समावेश है। भगवतशरण उपाध्याय के निबन्ध सग्रह "ठूँठा आम और सास्कृतिक निबन्ध" में समन्वित रूप में इतिहास और सस्कृति को प्रस्तुत किया गया है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'मेरो : मेरा दुश्मन' में आत्मीयता और खरापन के गुण विद्यमान हैं।

इधर ललित निबन्धो की विधा की ओर लेखक वर्ग का काफी ध्यान गया है। इन निबन्धों में लालित्य की मात्रा अधिक है। ललित निबन्धों मे कल्पना शीलता तथा भाव प्रवणता के साथ साथ-ज्ञान और पांडित्य की सम्पन्नता भी अनिवार्य है। इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय निबन्धकार हैं—विद्या निवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, भारती, शिव प्रसाद सिंह, प्रभाकर माचवे तथा ठाकुर प्रसाद सिंह आदि। विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय केवल निबन्धो के माध्यम से हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हुए हैं। विद्या निवास मिश्र के निबन्ध सग्रहो—'छितवन की छाँह', 'तुम चन्दन हम पानी' तथा 'आंगन का पछी और बनजारा मन' में अतीव ललित शैली में भारतीय लोक जीवन का सम्बन्ध भारतीय साहित्य व सस्कृति से जोड़ा गया है। इनके निबन्धों मे शास्त्र सम्पदा, लोकाचार व लोक सस्कृति का सहज एव सुन्दर सम्मिलन है जो उनकी गहन अध्ययनशीलता और अनुभव सम्पन्नता का द्योतक है। कुबेरनाथ राय हजारीप्रसाद द्विवेदी सप्रयास के लेखक हैं। सांस्कृतिक अभिरुचि इन्हें द्विवेदी जी से प्राप्त हुई है किन्तु इस विषय की पहुँच और पकड़ इनकी अपनी है। इनके निबन्ध सग्रहों—'प्रिया नील कठी' और 'रस आखेटक' में समकालीन लोक जीवन और सस्कृति एक व्यापक राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक पर्यावरण में प्रतिबिंबित हुई है। धर्मवीर भारती के निबन्ध सग्रहों 'ठेले पर हिमालय', 'कहनी-अनकहनी' और 'पश्यन्ती' में लोक जीवन, प्रकृति का गहन सान्निध्य, दार्शनिक चिन्तन तथा व्यग्य और विनोद आडबर रहित प्रभावी भाषा में मिलते हैं। प्रभाकर माचवे के 'खरगोश के सींग' में व्यग्य और विनोद की मात्रा अधिक है। ललित निबंधो को अब जहाँ पाठ्य पुस्तकों में स्थान मिलने लगा है वहाँ इनको रस साहित्य प्रकाशक पत्रिकाओं में भी स्थान मिलने लगा है।

हास्य व्यंग्यात्मक निबन्ध लेखकों में बेढब बनारसी अग्रणी हैं। इनके निबन्धों में राजनीति और समाज की विसंगतियों पर करारे व्यंग्यों के साथ हास्य और विनोद का भी पुट है। 'हरिशंकर परसाई' के व्यंग्यात्मक निबन्ध संग्रहों—'भूत का पाँव', 'सदाचार का तावीज' तथा 'निठल्ले की डायरी' में राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा पीढ़ीगत मूल्यों की विसंगतियों पर तीखे व्यंग्य हैं। केशवचन्द्र वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, भीमसेन त्यागी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी तथा नरेन्द्र कोहली आदि ने अपने निबन्धों में व्यंग्य विधान की उक्त शैली अपनाई है।

इधर समीक्षात्मक निबन्धों की भी प्रभूत मात्रा में सृष्टि हुई है। इन निबन्धों ने हिन्दी आलोचना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

आधुनिक हिंदी-निबन्ध-साहित्य के विकास की अनेक गतिविधियों पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि उसने अल्पकाल में पर्याप्त आशाजनक उन्नति की है। उसमें अनेक नवीन ललित निबंधों (Personal essay) और भावात्मक निबंधों और गद्य गीतों की पद्धतियों का आविष्कार हुआ है। किन्तु आज के निबंध-साहित्य में कतिपय दूषित प्रवृत्तियों का भी समावेश होने लगा है जैसे अहम्मन्यता एवं निर्वैयक्तिकता। आज के हिन्दी निबन्धकार को निबंध साहित्य की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए काफी ईमानदारी से काम लेना होगा। उसे पाश्चात्य जगत् से उधार ली हुई विचारावली को आडम्बरपूर्ण शब्दजाल में प्रस्तुत करके अपने तथाकथित पांडित्य की धाक न जमा कर मौलिक चिन्तन और आत्म निरीक्षण को बढ़ावा देना होगा। आज के निबंध साहित्य की विषय परिधि सिमटती जा रही है। उसमें केवल साहित्यिक विषयों पर ही निबंध लिखे जा रहे हैं जबकि उसमें सामाजिक, राजनीतिक तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के निबंधों के लिखने की भी महती आवश्यकता है। उसका सर्वांगीण विकास केवल इसी रूप से संभव है। हिन्दी निबंध साहित्य को विश्व की प्रौढ़ भाषाओं के सम्पन्न निबंध साहित्य के समकक्ष लाने के लिए धैर्य पूर्वक अभी काफी कुछ करना शेष है।

हिन्दी आलोचना-साहित्य का विकास

हिन्दी आलोचना का आधुनिक रूप वर्तमान काल में विकसित हुआ किन्तु इससे भी पूर्व हिन्दी-साहित्य में आलोचना की एक परम्परा प्रचलित थी जिसका सीधा संबंध संस्कृत काव्य आलोचना से है। संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक आलोचना का विकास बहुत पहले हो चुका था, जिसे काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित किया जा सकता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति ध्वनि तथा औचित्य आदि अनेक काव्य-संबंधी सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। निःसंदेह वाद या सम्प्रदाय विशेष की स्थापना लक्ष्य ग्रंथों पर आधृत होती है किन्तु बड़े आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत-साहित्य के काव्यशास्त्र में नवीन मतवादों की प्रतिष्ठा पर जितना बल दिया गया है उतना उसके प्रयोगात्मक पक्ष पर नहीं।

आलोचना का सैद्धान्तिक रूप मध्य काल के साहित्य में अर्थात् भक्ति और रीतिकाल में काव्य सिद्धान्त निरूपण, कवि शिक्षा प्रेरणा, भाष्य, टीका, सूत्र, वार्तिक और वृत्ति के रूप में विद्यमान था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एक स्थान पर लिखते हैं—"प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुत देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्य-निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास मे धारा-वाहिक समानता रहा करती है।" आचार्य जी का उक्त सिद्धान्त हिन्दी समीक्षा के अन्य कालो के समान भक्ति और रीति युग के साहित्य और उनकी समीक्षा-पद्धति पर अक्षरश चरितार्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल मे सैद्धांतिक आलोचना के ग्रथो का उद्देश्य सिद्धान्त विवेचन न होकर भक्ति-शृ गार अथवा काव्य रचना-प्रकारो का उल्लेख करना था। सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रथो के आधार पर निर्मित – सूर की 'साहित्य लहरी' और नन्ददास की 'रस मजरी' आदि नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रथो का लक्ष्य नायिका भेद समझाना नही बल्कि अपने आराध्यदेव रसराज कृष्ण की प्रेम लीलाओ मे योग देना है। इसी प्रकार अकबर के दरबारी कवियो—रहीम, करनेस और भूपति आदि ने भी नायिका-भेद एव अलकार निरूपण किया किंतु उनका उद्देश्य काव्य विवेचन न होकर रसिकता का पोषण करना था। नाभादास के भक्तिमाल मे सूक्तियो के रूप मे समीक्षात्मक कथन मिलते हैं किन्तु उसका उद्देश्य भी भक्तो के उदात्त चरित का महिमा-गान करना है, कोई कवि सम्बन्धी प्रौढ विवेचन प्रस्तुत करना नही। केशवदास ने सर्वप्रथम विशुद्ध आचार्यत्व की प्रेरणा से कवि-प्रिया एव रसिकप्रिया जैसे काव्यशास्त्रीय ग्रथो का प्रणयन किया। केशव की यह परम्परा समस्त रीतिकाल मे भिन्न-भिन्न मार्गों पर भिन्न भिन्न रूपो मे विकसित होती रही। रीतिकाल मे सर्वांगनिरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रथो के साथ-साथ रस, नायिका-भेद एव नख शिख सम्बन्धी ग्रथ निर्मित हुए। दूसरे प्रकार के ग्रथो का उद्देश्य काव्य-शास्त्र की आड मे कामुकता और रसिकता का तत्कालीन जनता मे प्रचार करना था। इस काल मे "तुलसी गग दुवौ भये सुकविन के सरदार" तथा "सूर सूर तुलसी ससि" आदि कुछ समीक्षात्मक सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार की उक्तियाँ सेनापति देव, ठाकुर आदि की भी सामान्य काव्य के सम्बन्ध म मिलती हैं, किन्तु इन सूक्तियो, काव्यशास्त्रीय नायिका भेद एव अलकार-ग्रन्थो मे प्रतिपादित समीक्षा-सिद्धान्तो का कोई अधिक महत्व नहीं है। रीतिकालीन आचार्य कवियो का उद्देश्य रसिक जनों को काव्य-शास्त्र का सामान्य परिचय कराना था, अत उनमे प्रौढता, गम्भीरता और सूक्ष्मता का अभाव है। ब्रज भाषा गद्य के विकसित रूप के अभाव के कारण किसी काव्यादर्श या समीक्षा के किसी स्वतन्त्र रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी। हाँ,

पूर्ववर्ती युग की आलोचना सम्बन्धी कृतियों का इतना मूल्य अवश्य है कि उन्होंने आधुनिक युग की समीक्षा के लिए द्वार खोला है।

भारतेन्दु युग मे पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने के साथ आधुनिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों के समान उन्होंने आलोचना के विकास में भी महत्वपूर्ण योग दिया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के समान इनका 'नाटक' नामक ग्रंथ नाट्यशास्त्र सम्बन्धी सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रंथ है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त इस ग्रंथ के सम्बन्ध में लिखते हैं—"यह ग्रंथ एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है जिसमे प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी के नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित किये गये है, जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। एक ओर तो वे नाटकों के भेदों का विवेचन करते हुए अपने युग के सभी प्रकार के नाटकों, कठपुतलियों के खेलों, बाजीगरों के तमाशों, पारसियो के नाटको आदि पर दृष्टिपात करते हैं तो दूसरी ओर वे अपने युग का मार्गदर्शन करते हुए लिखते हैं—"नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति का ही परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं ·····किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण हैं, इससे सप्रति प्राचीनतम अवलबन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति सगत नहीं बोध होता।" इसी प्रकार भारतेन्दु जी ने यत्र-तत्र अनेक स्थलों पर मौलिक चिंतन से काम लिया। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस रचना को भारतेन्दु-कृत नहीं माना है, किन्तु बाबू जी के पास इसका कोई भी ठोस आधार एवं प्रमाण नहीं है। हिन्दी के कतिपय अन्य विद्वानों ने भारतेन्दु की रचना "नाटक" को सस्ते नोट रूप में लिखी पुस्तक माना है, किन्तु यह मतिभ्रम के सिवाय और कुछ नहीं। प्रौढ़ विवेचनमय इस रचना को कभी भी नोट नहीं कहा जा सकता है।

भारतेन्दु के अतिरिक्त इस काल में प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र आदि के अनेक लेखों में आलोचना का रूप देखा जा सकता है। इन लेखों में किसी कवि या रचना की आलोचना करते समय पहले उससे सम्बन्धित आलोचना के सिद्धान्तों की ओर संकेत कर दिया जाता था। 'प्रेमघन' ने अपनी पत्रिका 'कादबिनी' में श्रीनिवासदास के 'सयोगिता-स्वयवर' तथा 'वन-विजेता' पुस्तकों की आलोचना की। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रदीप में 'सच्ची आलोचना' शीर्षक से संयोगिता-स्वयवर की आलोचना प्रस्तुत की। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित आलोचना-पद्धति को 'प्रेमघन' तथा भट्ट ने विकसित किया। भट्ट जी की शैली में सरसता, भावात्मकता और व्यंग्यात्मकता मिलती है। भारतेन्दु काल में आलोचना का समुचित विकास न हो सका, क्योंकि इस काल की प्रमुख साहित्यिक चेतना या तो हिन्दी की प्रतिष्ठा या ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद में लगी रही।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य क्षेत्र में आगमन से हिन्दी आलोचना को भी एक नवीन प्रेरणा मिली। किन्तु इनके आगमन से पूर्व गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' और अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्य काव्य मीमांसा' आलोचनात्मक दो छोटी-सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी का बहुत सा समय भाषा के संस्कार और परिष्कार में लगा, किन्तु फिर भी उन्होंने तत्कालीन कविता के आदर्श निर्माण और आलोचना के विकास में कुछ कम योग नहीं दिया। उन्होंने 'कालिदास की निरंकुशता', नैषध चरित चर्चा और 'विक्रमांकदेवचरित चर्चा' आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। उनकी आलोचना शैली पर गुणदोषात्मक प्राचीन समीक्षा पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है। 'कालिदास की निरंकुशता' में उन्होंने भाषा और व्याकरण सम्बन्धी दोषों को दर्शाया है और दूसरी दो पुस्तकों में प्रशंसात्मक शैली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने लेखों तथा टिप्पणियों में साहित्यिक प्रवृत्तियों और पुस्तकों की आलोचना की। उन्होंने छायावाद का घोर विरोध किया था, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उन्हें नवीन काव्य से प्रेम नहीं था। उन्होंने अपने काव्यादर्श के अनुरूप जहाँ सूर, तुलसी, कालिदास और भवभूति के काव्य का आदर किया, वहाँ आधुनिक युग के भारतेन्दु, मैथिलीशरण आदि कवियों को भी आदर की दृष्टि से देखा। इस प्रकार द्विवेदी जी ने नवीन और प्राचीन समन्वय का काव्यादर्श खड़ा किया। इनकी शैली में सरलता, सरसता और व्यंग्यात्मकता है। द्विवेदी युग के प्रमुख आलोचकों के नाम हैं—मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, किशोरीलाल गोस्वामी, कृष्णबिहारी मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पांडेय, कामताप्रसाद गुरु, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या आदि। मिश्रबन्धुओं (गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र) ने हिन्दी के वृहत् इतिहास-ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' के लेखन के उपरान्त 'हिन्दी-नवरत्न' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें इन्होंने देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया। इनकी आलोचना में शास्त्रीय आग्रह भी है और तुलनात्मक मूल्यांकन भी। इस प्रकार इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मिश्रबन्धुओं द्वारा बिहारी पर किये गए आक्षेपों से प्रेरित होकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' लिखी जिसमें इन्होंने अद्भुत कौशल से बिहारी को देव से उत्कृष्ट सिद्ध किया। पद्मसिंह शर्मा संस्कृत, उर्दू और फारसी के परम विद्वान् थे और काव्य के अच्छे रसज्ञ एवं मर्मज्ञ थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में बिहारी के दोहों की तुलना उनके जैसे ही हिन्दी और संस्कृत के कवियों से की। इसका परिणाम यह निकला कि एक तो विद्वानों का ध्यान तुलनात्मक प्रणाली की ओर गया और साथ ही नये छायावादी कवियों ने अपनी भाषा को और अधिक निखारा और सँवारा। शर्मा जी की बिहारी और देव की आलोचना के साथ इस विषय पर हिन्दी में एक बड़ा विवाद खड़ा हो गया। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखकर तुलनात्मक अध्ययन से बिहारी से देव को श्रेष्ठ सिद्ध किया। लाला भगवान

दीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर कृष्णबिहारी मिश्र के आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया।

हिन्दी आलोचना और अनुसंधान के क्षेत्र में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने अत्यन्त मूल्यवान सक्रिय योग दिया है। नागरी-प्रचारिणी सभा और हिन्दू विश्व-विद्यालय के हिंदी विभाग के संगठनकर्ता के रूप में बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि और उसके प्रचार कार्य में महत्त्वपूर्ण सेवायें की हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी शुक्ल जी के समकालीन थे। इन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति निष्पक्ष रूप से पूर्व और पश्चिम के साहित्य सिद्धान्तों का समन्वयात्मक अनुशीलन हिन्दी-जगत् में प्रस्तुत किया। बाबू श्यामसुन्दरदास ने भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए 'भाषा-रहस्य', इतिहास के अध्ययनार्थ 'हिन्दी-भाषा और साहित्य', तथा काव्यशास्त्र के अनुशीलन के लिए 'साहित्यालोचन' ग्रंथ लिखे। *साहित्यालोचन हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का सर्वप्रथम ग्रंथ है।* इस पर हडसन और वर्सफोल्ड के आलोचना ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव है, अतः इस ग्रंथ को नितान्त मौलिक तो नहीं कहा जा सकता फिर भी आलोचना को प्रेरणा देने और उसकी पृष्ठभूमि तैयार करने में यह ग्रंथ काफी महत्त्वपूर्ण है। बख्शी जी की 'विश्व-साहित्य' नामक रचना में विश्व-साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है और अंग्रेजी-साहित्य का मुख्य रूप से विवेचन किया गया है।

आलोचना सम्राट आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। इनसे पूर्व तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली चल रही थी जिसके सामने न तो कोई आदर्श था और न कोई सिद्धान्त। केवल वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के कारण किसी को श्रेष्ठ और किसी को निकृष्ट बता दिया जाता था। इनके अतिरिक्त अभी तक आलोचना के ऐसे स्वस्थ प्रतिमान भी सुनिश्चित नहीं हो पाये थे जो कि गद्य के विविध अंगों के लिए उपयोगी हों। आचार्य शुक्ल ने आलोचना के नवीन मानदण्डों तथा सुविकसित समीक्षा पद्धति को निर्मित किया। उन्होंने हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र को नवीन दिशायें प्रदान कीं। उन्होंने किसी कवि या उसकी रचना को तत्कालीन सामाजिक आलोक में रखकर उसकी समीक्षा की। सैद्धांतिक आलोचना क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा इस क्षेत्र के सभी अंगों का गम्भीर एवं सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया। ऐतिहासिक आलोचना के रूप में कवि या उसकी कृति की समीक्षा करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। आचार्य शुक्ल रसवादी हैं और साथ-साथ सौंदर्यवादी भी, किन्तु लोक-संग्रहात्मकता की भावना उनकी आलोचना का अभिन्न अंग बनी रही है। उनके लिए समाज-निरपेक्ष कोरी वैयक्तिक अनुभूति का कोई मूल्य नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे 'कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्तों के समन्वय के पक्षपाती हैं।

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित आलोचनात्मक ग्रंथ—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' 'गोस्वामी तुलसीदास', 'सूरदास', 'जायसी-ग्रंथावली की भूमिका' तथा 'चिन्तामणि'

प्रथम व द्वितीय भाग आदि उल्लेखनीय हैं। 'गोस्वामी तुलसीदास' उनके आदर्श कवि हैं और कदाचित् उनके आलोचना के मानदण्ड बहुत कुछ तुलसी के रामचरितमानस पर आधारित हैं। उन्होंने तुलसी एवं उसके काव्य का अत्यन्त मौलिक रूप से विवेचन किया है और तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के लिए उसके समक्ष हिन्दी के किसी भी कवि को महत्त्व नहीं दिया। अस्तु' शुक्ल जी की शैली में प्रौढ़ता, गम्भीरता, सूक्ष्मता, सरसता, प्रवाह और अपूर्व बल है जिसके कारण वे अपनी बात मनवाने के लिए पाठक को बाध्य कर देते हैं।

हिन्दी के आज के कई आलोचकों ने शुक्ल जी की आलोचना की कतिपय न्यूनताएँ प्रदर्शित की हैं। शुक्ल अपने नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण सूर के प्रति और अपनी वर्णव्यवस्था तथा अवतारवाद में आस्था के कारण कबीर आदि निर्गुण कवियों के प्रति न्याय नहीं कर सके हैं, उन्होंने प्रगीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को अत्यधिक प्रश्रय दिया है, वे नवीन काव्य धारा छायावाद की अन्तरात्मा को नहीं समझ सके, तथा उनका रस को विभिन्न कोटियों में विभक्त करना भारतीय परम्परा के सर्वथा विपरीत है, आदि-आदि। कुछ भी हो, इन परिसीमाओं के रहते हुए भी शुक्ल जी ने हिन्दी-आलोचना को जो आदर्श दिया उसका मूल्य स्थायी है। शुक्ल जैसा सशक्त व्यक्तित्व वाला आलोचक शायद ही आज हिन्दी के पास कोई हो।

शुक्ल द्वारा प्रवर्तित समीक्षा पद्धति को लेकर चलने वाले हिन्दी के प्रमुख उल्लेखनीय आलोचक हैं—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुख, चन्द्रबली पाडेय और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'। इनमें से अधिकांश ने शुक्ल जी के नीतिवादी और व्यावहारिक पक्ष को थोड़ा-बहुत त्याग दिया है।

शुक्ल जी की सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति पर भी इस युग में अच्छा कार्य हुआ है। कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, 'हरिऔध' और केशवप्रसाद मिश्र के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी द्वारा छायावादी काव्य के सम्यक् मूल्यांकन के अभाव की प्रतिक्रिया में छायावादी कवियों—'प्रसाद', पंत, निराला और महादेवी ने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं में छायावाद की कविता की अन्तर्दृष्टि और उसके सौन्दर्य पक्ष का सम्यक् विश्लेषण किया जिसका नन्ददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। परिणामतः वे छायावादी काव्य के यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित करने में समर्थ हुए।

आजकल हिन्दी समीक्षा का विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। प्रत्येक प्राचीन एवं नवीन प्रमुख कवि पर जहाँ अनुसंधान कार्य हुआ वहाँ इन पर स्वतन्त्र रूप से समीक्षात्मक ग्रंथ भी प्रणीत हुए। चन्दबरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, देव, बिहारी, केशव, गुप्त, भारतेन्दु 'प्रसाद' एवं 'निराला' आदि पर अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें अनेक विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। डॉ० रामरतन भटनागर ने प्रायः प्रत्येक प्रमुख कवि पर एक अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है यद्यपि उनके विवेचन में अपेक्षाकृत प्रौढ़ता कम है। आजकल अनेक विद्वानों के द्वारा तुलनात्मक

आलोचना ग्रंथ प्रणीत हो रहे हैं। इस दिशा में 'साहित्य दर्शन' की लेखिका शचीरानी गुर्टू का सत्प्रयास उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त हिन्दी मे अनुसधानात्मक कार्य बडी तीव्र गति से चल रहा है। इस प्रकार गवेषणात्मक, आलोचनात्मक पद्धति का भी समुचित विकास हो रहा है। इस पद्धति का समुचित विकास करने वालो में विशेष उल्लेखनीय है—डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्रभुदयाल मीतल, डॉ० सत्येन्द्र, डा० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० भागीरथ मिश्र, डॉ० मुशीराम शर्मा सोम, परशुराम चतुर्वेदी, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, डॉ० सरनामसिंह, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० कन्हैयालाल सिहल, डॉ० बलदेव-प्रसाद मिश्र, डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा आदि। इन्होंने अपने शोध प्रबधों में साहित्य के विभिन्न पक्षो पर वैज्ञानिक पद्धति से प्रकाश डाला है। इनके अतिरिक्त और भी शताधिक शोधकर्त्ता विद्वान् हैं, जिनका नामोल्लेख करना सम्भव नहीं है।

शुक्ल के समकालीन एव परवर्ती आलोचकों मे आचार्य हजारीप्रसाद, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नददुलारे वाजपेयी तथा बाबू गुलाबराय का स्थान विशिष्ट है। सच्ची ईमानदारी और हार्दिकता के साथ आलोचना करने वाले अपने युग के आलोचकों मे बाबू जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी समीक्षा से युग साहित्य को गति मिली है। स्वच्छता, सुबोधता और स्पष्टता आपकी शैली के विशेष तत्त्व हैं। इन्होंने 'हिन्दी-नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' ग्रंथ लिखकर सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति को आगे बढाया है। उसके अतिरिक्त आपने अनेक कवियों तथा साहित्यिक समस्याओ पर भी समीक्षायें लिखी हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सास्कृतिक, मानवतावादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण लेकर हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। इनकी आलोचना मे संस्कृत-साहित्य तथा भारतीय सस्कृति के ज्ञान की उज्ज्वल आभा दर्शनीय है। द्विवेदी जी ने सद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ की हैं जिनमें सुदीर्घ अध्ययन और गहन चिंतन प्रतिफलित हैं। इन्होंने 'कबीर', 'नाथ सम्प्रदाय', सूर-साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' तथा 'हिन्दी-साहित्य' आदि ग्रथो की रचना की है। इनकी शैली में सरसता, व्यग्यात्मकता, रोचकता एव प्रौढता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी समन्वयवादी एव सौंदर्यवादी आलोचक हैं। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने वाजपेयी जी को सौष्ठवादी आलोचक कहा है जो कि विशेष उपयुक्त है। इन्होंने अपने मौलिक चिंतन के द्वारा अनेक आधुनिक कवियो एव लेखको का पुनर्मूल्याकन करके हिन्दी-जगत मे एक क्रांति मचा दी है। आप छायावाद युग के प्रथम प्रभावशाली आलोचक हैं और शुक्लोत्तर युग के आलोचको मे आपका विशिष्ट स्थान है। आपके आलोचनात्मक ग्रंथ हैं— हिन्दी-साहित्य बीसवीं शती', 'आधुनिक साहित्य', 'सूरदास', प्रेमचन्द' आदि। इनकी भाषा और शैली चुभती हुई और प्रभावोत्पादक है। डॉ० नगेन्द्र पहले फायडवादी तथा अभिव्यजनावादी आलोचना के प्रतिनिधि समझे गये थे किन्तु अब उन्हें विशुद्ध भारतीय

समीक्षा पद्धति का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया गया है। छायावाद-युग के सहानुभूति-पूर्ण-समीक्षकों में इनका विशिष्ट स्थान है। इनके ग्रंथों में सुमित्रानन्दन पंत, साकेत एक अध्ययन, रीति काव्य की भूमिका, विचार और विश्लेषण आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें मौलिकता, अध्ययनशीलता, गम्भीरता, सरसता तथा बौद्धिकता का सुन्दर समन्वय है। इनकी शैली परिमार्जित, प्रखर तथा ओजस्विनी है। डॉ० गणपतिचन्द्र में एक समर्थ आलोचक की अतीव पैनी दृष्टि है। उनका चिंतन मौलिक, गम्भीर एवं संतुलित है। 'साहित्य-विज्ञान' हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक-इतिहास तथा हिन्दी साहित्य : समस्यायें और समाधान द्वारा उन्होंने आलोचना को एक नई दिशा दी है।

वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति साहित्यिक कृतियों के सम्यक् विश्लेषण, संतुलित बोध तथा वृहत् सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उनके मर्मस्थल तक पहुँचने के लिए अत्यन्त उपादेय है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने उक्त समीक्षा पद्धति को एक सुपुष्ट आधार प्रदान किया है। प्रत्येक साहित्यिक रचना की अपनी एक विकास की प्रक्रिया होती है। किसी भी कृति के सृजन का समवायी कारण-कर्ता की प्राकृतिक सृजन शक्ति है जो परम्परा से अनिवार्यतः सम्पृक्त होती है चतुर्दिग्व्याप्त वातावरण युग-चेतना एवं नाना प्रकार की परिस्थितियाँ उसे प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। परिणामतः स्रष्टा में मानसिक द्वन्द्व जन्मता है। कृति में इस व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया फलित होना आवश्यक है। तत्पश्चात् संतुलन की स्थिति आती है। साहित्य की किसी भी रचना को उपर्युक्त विकास सूत्रों पर कसना वैज्ञानिक समीक्षा है। डॉ० गुप्त ने हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास तथा 'साहित्य विज्ञान' नामक अपने शोध ग्रन्थों को उक्त समीक्षा पद्धति का विस्तृत सैद्धान्तिक विवेचन किया। इसका व्यावहारिक पक्ष उनके ग्रन्थों बिहारी सतसई वैज्ञानिक समीक्षा "आधुनिक साहित्य और साहित्यकार" तथा "महादेवी : नया मूल्यांकन" में देखा जा सकता है।

विकासवादी सिद्धांत के आलोक में वैज्ञानिक आधार पर की गई आलोचना वैज्ञानिक समीक्षा कही जा सकती है। डा० माता प्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' उक्त समीक्षा पद्धति का प्रौढ़ ग्रंथ है। डा० दीनदयालु गुप्त, डा० नगेन्द्र, आ० हजारी प्रसाद, डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० विजयपालसिंह, डा० उदयभानु सिंह, डा० सत्येन्द्र आदि अधिकारी विद्वानों के अपने शोध-प्रबन्ध तथा इनके पथ प्रदर्शन में लिखे गये शताधिक शोध प्रबन्धों में इस समीक्षा पद्धति का व्यावहारिक रूप देखा जा सकता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समीक्षा करने वालों में विशेष उल्लेखनीय हैं— रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त, अमृतराय, नगेन्द्र शर्मा, नेमिचंद्र जैन, शमशेरबहादुर सिंह एवं डा० देवराज प्रभृति। इन्होंने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति न अपनाकर हिंदी-आलोचना के सामने साहित्य और समाज के व्यापक प्रश्न को रखा है। कुछ दिन पहले इस प्रगतिवादी आलोचना में संकीर्ण मत वाद के प्रचार की प्रधानता होने लगी थी, किन्तु अब फिर यह आलोचना पद्धति स्वस्थ

दिशा में सचरण कर रही है। रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह तथा डा० देवराज आदि स्वतन्त्रचेता विद्वान वस्तुमुखी दृष्टिकोण की ओर बढ रहे हैं।

इधर कुछ कवियों और लेखकों ने मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति के अनुसार लेख लिखे हैं जिनमे 'अज्ञेय' इलाचन्द जोशी, नलिनविलोचन शर्मा आदि प्रमुख हैं। इनकी विचारधारा फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रभावित है। इनकी आलोचना सम्बन्धी मान्यतायें टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड आदि पाश्चात्य आलोचकों का अनुसरण करती है। इनके अनुसार व्यक्ति मानस के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण करना ही कला का परम लक्ष्य है।

साहित्य सृष्टि को दिवास्वप्न का पर्याय समझने वाले और अहनिष्ठ, व्यक्तिवादी, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग करने वाले कवि-पुंगवों की कुंठा-ग्रस्त कविता के पृष्ठपोषक आलोचक हैं डा० लक्ष्मीचन्द्र गुप्त तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि। इनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण मार्क्सवादी आलोचकों के समाजवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रियात्मक घोर विकृति है। निरी वैयक्तिक अनुभूति किसी भी दशा में साहित्य का प्रतिमान स्वीकार नहीं की जा सकती।

हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में और भी अनेक समीक्षा पद्धतियाँ प्रचलित हैं जैसे—प्रभाववादी अभिव्यंजनावादी तथा सौन्दर्यान्वेषी आदि। प्रभाववादी आलोचक की समीक्षा का प्रतिमान उसकी अपनी रुचि है। वह किसी साहित्यिक कृति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करता है। यही उसके लिए समीक्षा है। प० भुवनेश्वर मिश्र प्रभाववादी आलोचक कहे जा सकते हैं। वे आलोचक जो विषय-वस्तु के सौन्दर्य पर ध्यान न देकर उसके अभिव्यक्ति पक्ष के सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं वे अभिव्यंजनावादी Expressionist हैं। सौन्दर्यान्वेषी आलोचक Aesthetic Critic किसी रचना के सौन्दर्य से आह्लादित होकर सौन्दर्यशास्त्र के नियमानुसार उनका मूल्यांकन करता है। निःसन्देह उक्त समीक्षा पद्धतियाँ योरुपीय साहित्य की देन हैं किन्तु हिन्दी आलोचकों ने उन्हें हिन्दी की अनुरूपता में ढालकर इनका समुचित व्यवहार किया है।

वस्तुतः हिन्दी आलोचना अत्यन्त तीव्र गति से विकसित हो रही है। इस विकास में अनेक विद्वान आलोचक बहुमूल्य योग दे रहे हैं। 'साहित्य-सन्देश', 'सरस्वती-संवाद', 'आलोचना' और 'समालोचक' आदि पत्र-पत्रिकायें भी इस दिशा में काफी सहयोग दे रही हैं। आलोचना के स्वस्थ विकास के लिए यह आवश्यक होगा कि आजकल इस क्षेत्र में जो अस्पष्टता और दुरूहता की प्रवृत्तियाँ आने लगी हैं, उन्हें दूर किया जावे और मानव मूल्यों पर आधृत, आलोचना के उन प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की जाये, जो मानव-व्यक्तित्व और उसके कृतित्व के उन्नायक हैं।

नयी आलोचना (नयी समीक्षा)

साहित्य की अन्य विधाओं में नये पन के समान आलोचना क्षेत्र में भी छठे दशक की लगभग समाप्ति के समय नये पन ने प्रवेश किया, जिसे नयी आलोचना की

संज्ञा दी गई। यह नयी आलोचना या समीक्षा पर अमरीकी विद्वान जान क्रो रैन्सम की पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिज्म' तथा शिकागो स्कूल के आलोचकों का प्रभाव स्पष्ट है। नया समीक्षक समीक्षा को वैज्ञानिक-आधार प्रदान कर रचनाकार के परिवेश वातावरण आदि को महत्त्व न देकर रचनाकार द्वारा प्रयुक्त भाषा की स्थिति में विसंगति, विडम्बना, तनाव, तनाव की व्याख्या और अन्तर्वस्तु को [illegible] पद्धति पर महत्त्व देता है। उसका ध्यान कृति की भाषिक संरचना पर [illegible] रहता है। वह [illegible] पूर्व निर्धारित आलोचना के मानदंड को अमान्य समझकर आलोच्य वस्तु को [illegible] उसका प्रतिमान मानता है। उसके लिए रसवादी एवं मनोविश्लेषणवादी आदि समीक्षा पद्धतियाँ सर्वथा अस्वीकार्य और अनुपयोगी हैं। नया आलोचक रचना की आन्तरिक संगति पर ध्यान देकर उसके अंग की अन्य अंगों के साथ आपेक्षिक अनुबद्धता को परखता है। कुछ नये आलोचक तो व्यावहारिक आलोचना में ही नयी आलोचना की इति कर्तव्यता समझते हैं और कुछ नए समीक्षक इससे आगे बढ़कर उसका मूल्यांकन अर्थात् जीवन के साथ उसकी प्रामाणिकता को भी तलाश करते हैं। नयी आलोचना के क्षेत्र में डॉ० देवीशंकर अवस्थी, नेमिचन्द्र जैन, डॉ० नामवर, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डॉ० रघुवंश, डॉ० देवराज, डॉ० बच्चनसिंह, डा० कुन्तलमेघ, डॉ० प्रभुनाथ सिंह, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ नये कवियों में भी आलोचकोचित गहरी व प्रखर समीक्षा शक्ति दृष्टिगोचर होती है। उनमें मुख्य-मुख्य हैं—अज्ञेय, गजानन, मुक्तिबोध, गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा डा० जगदीश गुप्त आदि।

निःसन्देह किसी रचना की समीक्षा में उसकी संरचना प्रक्रिया के विश्लेषण का अपना महत्त्व है और इसी प्रकार कृतिकार के अन्तस् के अभिव्यक्ति साधन भाषिक सर्जना का विश्लेषण व मूल्यांकन भी उपादेय हैं किन्तु आलोचना की परिधि की इतिश्री केवल इतने तक ही नहीं होती। उसे प्रेरणा, मार्गदर्शन और नवीन सृजन की नयी दिशाओं के पथ को भी प्रशस्त करना होता है। आलोचना को वैज्ञानिक आधार देना बुरा नहीं है किन्तु वैज्ञानिकता या आधुनिकता के नाम पर आधुनिक अमरीकी या पाश्चात्य समीक्षा की कोरी नकल करना अवांछनीय है। जो बात हम पीछे 'हिन्दी साहित्य : आधुनिकता का बोध'' में साहित्यकार के दायित्व के विषय में कह चुके हैं वह आज के नये समीक्षक पर भी उतनी चरितार्थ होती है। कोई भी नवीन पद्धति अपनी पूर्व की स्वस्थ मूल्यवान परंपराओं से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर अपनी अर्थवत्ता को सिद्ध नहीं कर सकती। नयी आलोचना में समन्वयात्मकता अनिवार्य है। पिछली परम्पराओं के साथ अपेक्षित ताल मेल में उसकी सार्थकता निहित है। केवल भाषिक संरचना की परख महत्त्वपूर्ण नहीं है, सृजन की आन्तरिक विवशता ही भाषा की रचनात्मकता व साहित्यिकता का स्तर हो सकती है।

पुस्तक समीक्षा (Book Review) का भी समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योग-

दान है। 'प्रतीक' आलोचना, वार्षिकी, माध्यम आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर पुस्तकीय समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

आज आलोचना के उन सर्व सम्मत प्रतिमानों के निर्धारण की आवश्यकता है जिससे हिन्दी-समीक्षा का स्वस्थ विकास हो सके और आलोचक अपने सही दायित्व को महसूस करे। आज हिन्दी-साहित्य के आलोचना-क्षेत्र में पाश्चात्य साहित्य के *आलोचना प्रतिमानो के अन्धानुकरण की अवाञ्छनीय प्रवृत्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक बल* पकड़ रही हैं। इससे हिन्दी आलोचना अपने मूल धर्म—मौलिक चिन्तन और निजी अनुभूतियों की सम्पत्ति से वंचित होती जा रही है। आज की आलोचना की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह पौर्वात्य और पाश्चात्य के ग्राह्य मानदंडों में स्वस्थ एवं संतुलित समन्वय द्वारा साहित्य और जीवन में आस्थावाद, आशावाद तथा आनन्दवाद का पावन संचार करे। आधुनिक सौन्दर्य-बोध की दुहाई देकर जीवन एवं साहित्य को निराशा और अतिभोगवाद की अन्ध तिमिरामयी-गुहाओं में धकेलना निश्चित रूप से एक जघन्य कार्य है।

आलोचना को साहित्याकाश में रवि के समान व्यापक प्रकाश द्वारा भ्रम-कुहेलिका को हटाकर जीवन-दायिनी ज्योति का संचार करना है। इसी दशा में ही वह साहित्य में सर्जनात्मक शक्तियों की विधायिनी बन सकती है। आज का अति-आधुनिकता के मद में चूर हुआ, 'नया-आलोचक' परम्परागत आलोचना के सिद्धान्तों की सर्वथा अवहेलना करके अपने वैयक्तिक-आग्रहों से बुरी तरह आबद्ध होकर ढेढ़ चावल की अपनी खिचड़ी पकाने में लगा हुआ है। नई कविता और नई कहानी के नये आलोचक को यह याद रखना होगा कि तथाकथित नये साहित्य के लेखकों की अकविता एवं कहानी को दलबद्ध होकर आलोचना के नए प्रतिमानों की जोरदार नारेबाजी से साहित्य और जन मानस मे प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। निःसन्देह प्रत्येक युग के साहित्य के अंकन के प्रतिमान अपने हुआ करते हैं किन्तु यह आवश्यक है कि वे मानदंड स्वस्थ, ठोस, वैज्ञानिक और संतुलित होने चाहिए। आधुनिक बोध और नवीनता के व्यामोह में आलोचना से सर्वमान्य एवं सुनिश्चित परंपरा बद्ध प्रतिमानों से सर्वथा सबद्ध-विच्छेद करके आधुनिक आलोचना मार्गों की अपनी अपनी ढफली बजाने मात्र से तथाकथित नए साहित्य को समादृत नहीं बनाया जा सकता है। ऐसी दशा में आलोचना-क्षेत्र में अराजकता की स्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार की आलोचना द्वारा साहित्य का विकास न होकर ह्रास अवश्यम्भावी है। जन-जीवन की भाँति साहित्य के जीवन में भी अराजकता की स्थिति बहुत खतरनाक वस्तु है। महाभारतकार के शब्दों में—"जिस कुल में सभी नेता मानी हों, उसका विपन्न होना निश्चित है।"

सर्वे यत्र विनेतारः कुलतवसीदति।

आज के युग की सबसे बड़ी माँग यह है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों के सदृश साहित्य के आलोचना के क्षेत्र में भी समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया जाये। ऊपर

जिन आलोचना-पद्धतियों का निर्देश किया जा चुका है उन सबके ग्राह्य उपादानों को लेकर साहित्य में प्रगतिशील समीक्षा का एक ऐसा पथ प्रशस्त किया जाये जिससे साहित्य की सृजनात्मकता में अपेक्षित समृद्धि हो सके।

आज के प्रगतिशील समीक्षक के सम्मुख यह एक गुरुतर दायित्व है कि वह अपनी प्रगतिशील समीक्षा को वर्ग विशेष की आलोचना की एकांगिता के पूर्वाग्रह तथा प्रचार समीक्षा के सीमित स्वार्थ से मुक्त रखकर उसे उन समस्त स्वस्थ प्रतिमानों से मंडित करे जिनसे साहित्य की उर्वरता और उदात्तता अक्षुण्ण रह सके।

गद्य साहित्य की अन्य विधायें

संस्मरण व रेखाचित्र—संस्मरण शब्द सम् उपसर्ग तथा स्मरण शब्द के योग से बना है जिसका अर्थ है सम्यक् स्मरण। इस विधा में यथार्थ के चित्रण के साथ भावना की गहनता होती है। इसमें स्मरणीय व्यक्ति की अपेक्षा वर्णित घटना, व्यवहार तथा परिवेश को अधिक रोचक व आकर्षक ढंग से चित्रित कर उन्हें प्रभावी रूप में उपस्थित किया जाता है। किसी भी क्षेत्र के महान् पुरुष के जीवन के महत्वपूर्ण अंश का साक्षात्कार करवाना इस विधा का ध्येय है। व्यक्ति चित्र, शब्द चित्र तथा व्यक्ति चित्र लेख शब्द रेखाचित्र के पर्यायवाची हैं। अंग्रेजी में इसे थम्ब-नेल-स्कैच अर्थात् अंगूठे के नाखून से निर्मित रेखांकन कहते हैं। रेखाचित्र में किसी व्यक्ति, घटना स्थान व दृश्य आदि की कम से कम समय में कम से कम प्रयत्न से अधिकाधिक व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति की जाती है। हिन्दी में संस्मरण का आरम्भ सुधा, विशाल भारत, सरस्वती और माधुरी आदि पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। भारतेन्दु युग में सबसे पहला संस्मरण बाल मुकन्द गुप्त द्वारा प्रतापनारायण मिश्र के विषय में लिखा गया, जिसमें मिश्र के जीवन की अनेक ज्ञातव्य बातों को प्रकाश में लाया गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने लाला भगवानदीन के स्वभाव के सम्बन्ध में एक रोचक संस्मरण की सृष्टि की। श्रीरामदास गौड़ ने श्रीधर पाठक तथा राजदेवी प्रसाद पूर्ण पर संस्मरण लिखे जिनमें उनके घर के परिवेश तथा स्वभाव आदि को प्रभावी-रूप में उपस्थित किया गया है। आचार्य रामदेव जी कृत—मेरी जीवन कथा के कुछ पृष्ठ, इलाचन्द्र जोशी कृत—मेरे प्रारम्भिक जीवन की स्मृतियाँ, बनारसीदास चतुर्वेदी कृत-श्रीधर पाठक का संस्मरणात्मक रेखाचित्र, वृन्दावन लाल वर्मा द्वारा अपने तथा सम्पर्क में आये अनेक व्यक्तियों पर लिखित संस्मरण, अमृतलाल चक्रवर्ती द्वारा बालमुकन्द गुप्त के साहित्यिक जीवन पर लिखित संस्मरण, रूप नारायण पांडेय द्वारा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर लिखित संस्मरण, मोहन लाल महतो वियोगी द्वारा डा० गंगानाथ झा का संस्मरण उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोपालराम गहमरी तथा मुंशी नवजादिक लाल ने भी कई संस्मरणों की रचना की। पद्मसिंह शर्मा के 'पद्म पराग' में महाकवि अकबर इलाहाबादी के सम्बन्ध में अनेक साहित्यिक संस्मरण संकलित हैं। शर्मा जी ने इस विधा को सुपुष्ट साहित्यिक आधार

प्रदान कर प्रौढ़ोन्मुख बनाया। इस दिशा में बनारसी दास चतुर्वेदी का अन्यतम स्थान है। उनके 'हमारे आराध्य और संस्मरण' तथा 'रेखाचित्र' और सेतुबंध' संग्रह अत्यन्त महत्वपूर्ण बन पड़े हैं। श्रीराम शर्मा के संस्मरण ग्रंथ—'प्राणों का सौदा', 'जंगल के जीव और वे जीते कैसे हैं' उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में रामवृक्ष बेनीपुरी अद्भुत शब्द शिल्प के लिए सिद्धहस्त हैं। उनकी 'लाल तारा', माटी की मूर्ति' 'गेहूँ और गुलाब' तथा 'मील के पत्थर' विशिष्ट रचनायें हैं। संस्मरण व रेखाचित्र की विधा को समृद्ध बनाने में श्रीमती महादेवी वर्मा का महत्वपूर्ण योगदान है। इनके 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखायें, 'पथ के साथी' तथा स्मारिका' सुन्दरतम संस्मरणात्मक रचनाचित्र हैं, जिनमें इनके कवि और चित्रकार के रूप दर्शनीय हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'पुरानी स्मृतियाँ' तथा 'रेखा-चित्र' राधिका रमण प्रसादसिंह का 'टूटा तारा', विनय मोहन शर्मा का 'रेखा और रंग', कन्हैयालाल प्रभाकर मिश्र कृत 'जिन्दगी मुसकाई', 'माटी हो गयी सोना' और दीप जले शंख बजे' तथा शिव-पूजन सहाय के 'वे दिन वे लोग' संस्मरण तथा रेखाचित्र के क्षेत्रों में विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। इन सब लेखकों की रचनाओं में उक्त विधाओं का पूर्ण सौष्ठव व गरिमा विद्यमान हैं। सत्यवती मलिक की 'अमिट रेखायें' तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'स्मृतियाँ और कृतियाँ' भी उल्लेखनीय हैं।

कुछ साहित्यकारों, कवियों और आलोचकों ने भी इस विषय में प्रशंसनीय कार्य किया है। उपेन्द्रनाथ अश्क की कृतियाँ—'रेखायें और चित्र', 'मंटो मेरा दुश्मन तथा 'ज्यादा अपनी कम परायी, विष्णु प्रभाकर के 'कुछ शब्द कुछ रेखायें', राहुल सांकृत्यायन की बचपन की स्मृतियाँ, जिनका मैं कृतज्ञ तथा 'मेरे असहयोग के साथी रेखाचित्र व संस्मरण क्षेत्र में महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। जगदीशचन्द्र माथुर की 'दस तस्वीरें" तथा 'जिन्होंने जीना जाना', सेठ गोविन्ददास के 'स्मृति कण' और 'चेहरे जाने पहचाने' तथा डा० नगेन्द्र के 'चेतना के बिम्ब' इस क्षेत्र की समृद्ध व विशिष्ट रचनाएँ हैं।

उक्त विधा को गौरवान्वित करने वाले कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी की रचना 'समय के पाँव', दिनकर जी की 'लोकदेव नेहरू' तथा संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ तथा हरिवंश बच्चन के नये पुराने झरोखे आदि से इस साहित्य की श्री वृद्धि हुई है। इस संदर्भ में अन्य उल्लेखनीय नाम हैं—सत्य जीवन वर्मा, ओंकार शरद कैलाशनाथ काटजू, प्रेम नारायण टंडन, विनोद शंकर व्यास, सम्पूर्णानन्द, हरिभाऊ उपाध्याय, रायकृष्णदास, महेन्द्र भटनागर, डा० हरगुलाल, पद्मिनी मेनन, लक्ष्मी नारायण लाल सुधांशु तथा कुन्तल गोयल आदि।

रिपोर्ताज व इन्टरव्यू साहित्य—रिपोर्ताज रिपोर्ट से भिन्न है। रिपोर्ताज में किसी विषय का आँखों देखा या कानों सुना वर्णन इतने प्रभावशाली ढंग से किया जाता है कि उसकी अमिट छाप हृदय पटल पर अंकित हो जाती है। रिपोर्ट में तथ्य कथन पर बल होता है तथा उसमें कलात्मकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। हिन्दी

में इस विधा का प्रारम्भ शिवदान सिंह चौहान की 'लक्ष्मीपुरा' से हुआ। रांगेय राघव द्वारा बंगाल के दुर्भिक्ष व महामारी के बारे में लिखे गये रिपोर्ताज काफी मार्मिक बन पड़े हैं; इनका संकलन 'तूफानों के बीच' नामक रचना में हुआ है। प्रकाशचन्द्र गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा रामनारायण उपाध्याय के रिपोर्ताज उनकी संस्मरण तथा रेखाचित्रात्मक रचनाओं में संगृहीत हैं। भदन्त आनन्द कौसल्यायन—'देश की मिट्टी बोलती है', शिवसागर मिश्र—'वे लड़ेंगे हजार साल', धर्मवीर भारती—'युद्ध यात्रा', कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर 'क्षण बोले कण मुस्काए' तथा शमशेर बहादुरसिंह—'प्लाट का मोर्चा' इस विधा की समर्थ रचनायें हैं। हिन्दी की पत्र पत्रिकाओं का इस दिशा में पर्याप्त महत्वपूर्ण योगदान है। 'हंस' के 'समाचार और विचार' तथा 'अपना देश' नामक स्तम्भों के अन्तर्गत रिपोर्ताज प्रकाशित हुए। इधर 'नया पथ', 'ज्ञानोदय', कल्पना, साप्ताहिक दिनमान', धर्म युग तथा साप्ताहिक हिन्दुस्तान में समय-समय पर अनेक महत्वपूर्ण रिपोर्ताज विभिन्न स्तम्भों के अन्तर्गत प्रकाशित हुए हैं जिनका महत्वपूर्ण लेखन डा० भगवतशरण उपाध्याय, फणीश्वरनाथ रेणु, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, निर्मल वर्मा कमलेश्वर तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रभृति कृती लेखकों द्वारा सम्पन्न हुआ।

साक्षात्कार, भेंटवार्ता या विशेष परिचर्चा आदि शब्द इन्टरव्यू के समानार्थक शब्द हैं। इसमें इन्टरव्यूकार किसी व्यक्ति विशेष से भेंट कर नाना प्रश्नों के आधार पर उसके व्यक्तित्व व कृतित्व के बारे में प्रामाणिक सामग्री एकत्र कर उसे प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करता है। हिन्दी में इस विधा के श्रीगणेश करने का श्रेय बनारसी दास चतुर्वेदी को है। इन्होंने रत्नाकार तथा प्रेमचन्द से भेंट करने के उपरान्त उनके व्यक्ति और कृतित्व के बारे में लिखा है। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी द्वारा लिया गया भदन्त आनन्द तथा चिरंजीतलाल एकाकी द्वारा महादेवी का लिया गया इन्टरव्यू महत्वपूर्ण बन पड़े हैं। बेनीमाधव शर्मा की रचना "कविदर्शन" में नाना कवियों के इन्टरव्युओं का ब्योरा है। इस दिशा में डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश की दो भागों में प्रकाशित "मैं इनसे मिला" अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इस विधा की दो अन्य लब्ध प्रतिष्ठ रचनायें हैं—देवेन्द्र सत्यार्थी की कला के हस्ताक्षर' तथा डा० रणवीर रांगा की सृजन की मनोभूमि। इनमें अनेक साहित्यकारों व कलाकारों के साथ किये गए इन्टरव्युओं को अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं सहित भाव भीनी-शैली में निबद्ध किया गया है। प्रभाकर माचवे, शिवदान सिंह चौहान, रामचरण महेन्द्र और कैलाश कल्पित ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। इधर कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें कतिपय साहित्यकारों के साथ किये गये साक्षात्कारों का वर्णन है। "हिन्दी कहानी और फैशन "में डा० सुरेश सिन्हा ने उपेन्द्रनाथ अश्क से कहानी कला के बारे में पूछे गये प्रश्नों को रोचक शैली में निबद्ध किया है। इस विधा के विकास में अनेक पत्र पत्रिकायें—नई धारा, धर्म युग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान सारिका तथा समीक्षा—आदि अपने विशेष स्तम्भों के आयोजन से महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

जीवनी व आत्मकथा—जीवनी दूसरों के द्वारा लिखी जाती है जबकि आ त्म-

कथा अपने द्वारा लिखी जाती है। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप भारतेन्दु युग में इस विधा का प्रारम्भ हुआ हालांकि भक्ति काल में भक्त काल और वार्ता साहित्य मिलता है जिनमें भक्तों व सन्तों के चरित्र को अलौकिक महिमा सम्पन्न रूप में अतिरंजना पूर्ण शैली में उपस्थित किया गया है, अतः उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध हो गई है। भारतेन्दु कृत—चरितावली, बादशाह दर्पण, पंच पवित्रात्मा तथा उत्तरार्ध भक्त माल, बाल मुकुन्द गुप्त कृत—प्रताप नारायण मिश्र की जीवनी, कार्तिक प्रसाद खत्री कृत-मीराबाई का जीवन चरित्र तथा छत्रपति शिवाजी का जीवन चरित्र, रमाशंकर शर्मा कृत नेपोलियन बोनापार्ट का जीवन-चरित्र, ईसाई मिशनरियों द्वारा लिखी गई कुछ जीवनियाँ तथा जीवनियों के कुछ अनुवाद भारतेन्दु युग के जीवनी साहित्य के अन्तर्गत हैं। प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण इस युग की जीवनियों में शुष्कता की मात्रा अधिक है और उनमें जीवन चरित्रोचित औदात्य का अभाव है।

द्विवेदी युग में जीवनी लेखन की दिशा में सन्तोषजनक विकास हुआ और यह परम्परा उत्तरोत्तर रूप में आधुनिक काल तक देखी जा सकती है। द्विवेदी युग सुधारात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द की जीवनियों पर अनेक लेखकों ने सफलतापूर्वक लेखनी चलाई। स्वामी दयानन्द पर लिखने वालों के नाम है—राम विलास शारदा, दयाराम, अखिलानन्द शर्मा, सत्यानन्द स्वामी। मन्मथनाथ कृत गुरु नानक, रामनारायण मिश्र कृत महात्मा ईसा, सुन्दरलाल कृत हजरत मुहम्मद तथा बलदेव उपाध्याय कृत शंकराचार्य द्विवेदी युग की महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ हैं।

द्विवेदी युग की समाप्ति के बाद भारतीय जीवनाकाश में स्वतन्त्रता प्रेम तथा महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व का प्रभाव गहनतर हो गये। परिणामतः ऐतिहासिक पुरुषों, राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों एवं देशी व विदेशी महापुरुषों पर मूल्यवान जीवनियों का प्रणयन हुआ। देवी प्रसाद मुंसिफ ने राजस्थानी योद्धाओं—मानसिंह, उदयसिंह, जसवन्तसिंह, महाराणा प्रताप और महाराणा संग्राम सिंह के जीवन चरित लिखे। बाबू सम्पूर्णानन्द ने सम्राट हर्षवर्धन, अशोक छत्रसाल चेतसिंह, महारानी सिंधिया तथा काशी के विद्रोह से सम्बद्ध रचनायें लिखीं। इस विषय में रूपनारायण कृत पृथ्वीराज चरित्र, कार्तिक प्रसाद कृत अहिल्याबाई तथा जीवन लाल कृत गुरु गोविन्द सिंह की जीवनियाँ उल्लेख्य हैं। राजनीतिज्ञों में गाँधी, जवाहर, राजेन्द्र प्रसाद पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद पर काफी जीवनियों का प्रणयन हुआ। इनके अतिरिक्त मन्मथ गुप्त कृत चन्द्र शेखर आजाद, सीताराम चतुर्वेदी लिखित महामना मालवीय, छविनाथ कृत नेताजी सुभाष, देवराज मिश्र कृत राजर्षि टंडन, रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित जयप्रकाश नारायण, देवीदत्त शास्त्रीकृत गणेश शंकर विद्यार्थी, हरिभाऊ उपाध्याय लिखित जमना लाल बजाज, बलराज मधोक कृत श्याम प्रसाद मुखर्जी और इसके अलावा लाल बहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी के जीवन वृत्तों से सबद्ध जीवनियाँ लिखी गईं।

साहित्यिकों की जीवनियाँ अपेक्षाकृत कम मात्रा में लिखी गईं किन्तु जो लिखी गई वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द के पुत्र अमृतराय ने प्रेमचन्द की जीवनी—'कलम का सिपाही' तथा राम विलास शर्मा द्वारा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' वस्तुत हिन्दी साहित्य के गौरव-ग्रंथ हैं। शान्ति जोशी कृत पंत की जीवनी, विष्णु प्रभाकर रचित शरतचन्द्र की जीवनी—आवारा मसीहा, भगवती प्रसाद सिंह प्रणीत कविनाथ गोपीराज की जीवनी—'मनीषी की लोक यात्रा' उक्त साहित्य का शृंगार हैं।

विदेशी महापुरुषों की जीवनियों में चन्द्रशेखर शास्त्रीकृत-सम्राट् जार्ज पंचम, द्वारिका प्रसाद शर्मा कृत एबर्ट क्लाइव, लक्ष्मण प्रसाद भारद्वाज कृत इटली का तानाशाह मुसालिनी, त्रिलोकीनाथ कृत स्तालिन, अनन्त प्रसाद विद्यार्थी कृत चर्चिल, रामवृक्ष बेनीपुरी की कार्ल मार्क्स और राहुल कृत माओ से तुंग प्रमुख हैं। आधुनिक युग में विदेशी भाषाओं में लिखी गई महत्त्वपूर्ण जीवनियों का भी अनुवाद हिन्दी में हुआ। इस दिशा में बनारसी दास चतुर्वेदी, रामनाथ सुमन लालबहादुर शास्त्री तथा राम नारायण चौधरी के प्रयास प्रशंसनीय हैं। इस क्षेत्र में द० वि० पुलेकर-संपादित मातृभूमि शब्द कोष, डा० प्रेम नारायण टंडन के हिन्दी साहित्यकार कोष डी० आर० टोलीवाल के भारतवर्ष की विभूतियाँ तथा एस० पी० भट्टाचार्य के स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक नामक ग्रंथ महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं। इन सब ग्रंथों में संबद्ध व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। हिन्दी का जीवनी साहित्य विषय वैविध्य की दृष्टि से पर्याप्त आशाजनक बन पड़ा है।

हिन्दी के आत्म-कथा साहित्य में जैन कवि बनारसी दास की अर्द्धकथा को प्रथम आत्मकथा कहा जा सकता है। भारतेन्दु जी ने कुछ आप बीती, कुछ जग-बीती का लेखन आरंभ किया था जिसके कुछ अंश प्रकाशित हुए हैं। इसी युग में अम्बिका दत्त व्यास की रचना 'निज वृत्तान्त', स्वामी श्रद्धानन्द कृत 'कल्याण पथ का पथिक' नामक रचना निर्मित हुई जो कथ्य और शैली की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखती हैं। स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री की आत्मकथा—'मुझमें दैवी जीवन का विकास' तथा भाई परमानन्द की 'आप बीती' जीवनी को दृष्टि से अच्छी रचनायें हैं। प्रेमचन्द के पत्र 'हंस' द्वारा साहित्य की इस विधा को काफी बढ़ावा मिला। अनुवादों के द्वारा हिन्दी का आत्मकथा साहित्य पर्याप्त समृद्ध हुआ। हरि भाऊ उपाध्याय ने महात्मा गांधी की जगत विख्यात आत्मकथा का अनुवाद हिन्दी में किया और उसका पर्याप्त प्रचार व प्रसार हुआ। सुभाषचन्द्र बोस की आत्मकथा—तरुण स्वप्न जवाहर लाल नेहरू की 'मेरी कहानी', राधाकृष्णन की आत्मकथा—सत्य की खोज, के० एम० मुंशी की आत्म कथा—आधे रास्ते और सीधी चट्टान का अनेक भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी से हिन्दी में कलात्मक अनुवाद हुए। इसी दिशा में डा० राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा पर्याप्त स्तुत्य है। अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की सेवा में परायण स्वामी भवानी दयाल सन्यासी की "प्रवासी की आत्मकथा" तथा

सत्यदेव परिव्राजक की *'स्वतन्त्रता की खोज'* (आत्मकथा) सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं ।

हिन्दी के साहित्यकारों में सर्वप्रथम बाबू श्यामसुंदर दास ने अपनी आत्मकथा लिखी । इसके बाद राहुल सांकृत्यायन की *'मेरी जीवन यात्रा'* तथा वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' के नाम आते हैं । शैली की दृष्टि से ये दोनों रचनायें साधारण कोटि की हैं । इनमें इतिवृत्तात्मकता की बहुलता है । शान्तिप्रिय द्विवेदी की *'परिव्राजक की प्रजा'* तथा यशपाल की *'सिंहावलोकन'* नामक रचनायें आत्मकथोचित सभी गुणों से सम्पन्न हैं । सेठ गोविन्द दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री तथा वृन्दावन लाल आदि की आत्मकथायें साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । डा० हरिवंशराय बच्चन की *'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'* तथा 'नीड़ का निर्माण फिर' रचनायें हिन्दी आत्मकथा की अमूल्य निधियाँ हैं । बच्चन जी की आत्मकथा हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ आत्मकथा है । इसके अलावा हिन्दी के अभिनन्दन ग्रंथों में भी जीवनी तथा आत्मकथा के बिखरे हुए रत्न खंडों को खोजा जा सकता है ।

गद्य काव्य—हिन्दी गद्य काव्य हिन्दी साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु न जाने यह अद्यावधि इतिहासकार तथा आलोचक की दृष्टि से ओझल क्यों रहा है । वास्तव में इसके बिना हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का समग्रत समाकलन कर पाना कठिन है । निःसन्देह हिन्दी गद्य काव्य की रचनायें परिमाण में अल्प हैं किन्तु जो हैं, वे प्रवृत्यात्मक एवं शैलीगत दृष्टियों से बहुत मूल्यवान हैं । इनका विषय वैविध्य तथा शैली-सौष्ठव दर्शनीय हैं । इनमें नारी प्रेम, राष्ट्र प्रेम, अध्यात्म, इतिहास, जीवन दर्शन तथा अन्य अनेक फुटकर व सामान्य विषयों को ग्रहण किया गया है ।

नारी विषयक प्रेम को प्रमुख विषय बनाकर लिखने वालों में दिनेश नंदिनी चौरड़या, अज्ञेय, रामप्रसाद विद्यार्थी रावी तथा राजनारायण मेहरोत्रा रजनीश के नाम उल्लेखनीय हैं । दिनेश नंदिनी की रचनाओं—'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', *'वंशी रव', 'उन्मन' तथा 'स्पन्दन' में नारी जीवन की संयोग तथा वियोगकालीन अनु*भूतियों का मार्मिक वर्णन है । अज्ञेय ने 'चिन्ता' में नर-नारी के प्रेम सम्बन्धों को व्यापक संदर्भों में देखा है । राम प्रसाद विद्यार्थी रावी ने अपनी कृति शुभ्रा में प्रेम *सम्बन्धी इस मान्यता की अभिव्यंजना की है कि प्रेम का सम्बन्ध शरीर तक सीमित* नहीं है । अनेक पुरुष एक स्त्री से तथा एक स्त्री अनेक पुरुषों से प्रेम कर सकती है । राजनारायण मेहरोत्रा रजनीश ने अपनी कृति 'आराधना' में प्रेमिका को प्रभु के पद *पर आसीन कर उसके आराधन की सिफारिश की है ।*

राष्ट्र प्रेम सम्बन्धी रचना लेखकों में वियोगी हरि ने अपनी पुस्तक 'श्रद्धाकण' में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के कार्यों और सिद्धान्तों के प्रति प्रेमाविल आस्था दिखाते हुए उन्हें अपनी श्रद्धांजलि भेंट की है । आचार्य चतुरसेन की रचनायें—'मरी खाल

की हाट' तथा 'जवाहर' तथा माखनलाल चतुर्वेदी की महनीय कृति—'साहित्य देवता' राष्ट्रीयता के स्वर्णिम स्वरों से ओत प्रोत हैं। डा० रघुबीर सिंह ने मुगल कालीन इतिहास के खंडहरों को आधार बनाकर 'शेष स्मृतियाँ' में जीवन के नानाविध उतार चढ़ावों का चित्रोपम शैली में अनुपम वर्णन किया है। तेज नारायण काक ने अपनी कृतियों—निर्झर और पाषाण' में सामान्य विषयों का हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। ब्रह्मदेव ने 'निशीथ', 'आंसू भरी धरती' तथा 'उदीची' में भारत भूमि तथा शरणार्थ समस्या आदि विषयों का अनेक आकर्षक एवं उपयोगी शैलियों में वर्णन किया है। रघुनाथ दिवाकर ने 'अन्तरात्मा से' में भक्ति की भावनाओं की अनूठी अभिव्यंजना की है। इसी प्रकार महावीर शरण अग्रवाल द्वारा 'गुरु देव' में अरविन्द की विचार धारा सम्बन्धी किया गया भाव भीना वर्णन दर्शनीय है।

परिशिष्ट (क)

हिन्दी से पूर्वतर भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश) के साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा

संस्कृत भाषा और उसका साहित्य

संस्कृत भाषा और उसका वाङमय केवल भारतीय साहित्य में ही गरिमाशाली नहीं है, अपितु विश्व साहित्य में अद्वितीय है। इसके पीछे विशाल भारत देश की मनीषा और प्रतिभा का कई सहस्र वर्षों का सतत् चिंतन और रस साधना विद्यमान है। मात्रा में यह साहित्य जितना विपुल है गुण में उतना ही प्रकृष्ट है। परवर्ती भारतीय-साहित्य निरन्तर कई शताब्दियों तक संस्कृत-साहित्य से प्रेरित एवं प्रभावित होता रहा है।

संस्कृत-साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) वैदिक साहित्य (ख) लौकिक संस्कृत-साहित्य। वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत चारों वेद, वेदांग, ब्राह्मण-ग्रंथ तथा उपनिषद् आदि हैं और लौकिक संस्कृत-साहित्य अपने व्यापक अर्थ में धार्मिक तथा ऐहिकता परक-काव्यों, प्रबन्ध काव्यों, गीति काव्यों, नाटकों, *मुक्तक काव्यों, कथा साहित्य, अलंकृत गद्य-काव्यों, इतिहास एवं पुराणों समीक्षाशास्त्र* नाना वैज्ञानिक विषयों, पत्थरों और ताम्रपात्रों के साहित्य को समाविष्ट कर लेता है। लौकिक संस्कृत साहित्य प्रतिपाद्य भाषा-शैली तथा परिवेश की दृष्टि से वैदिक साहित्य से किंचित् भिन्न है। यास्क (८वीं शती ई० पू०) के निरुक्त से यह स्पष्ट है कि उस के समय तक वैदिक भाषा को समझना कुछ कठिन हो गया था और उसके साथ-साथ एक लोक भाषा (*ब्रह्मर्षि और अन्तर्वेदिकी*) *विकसित* होकर *साहित्य* क्षेत्र में परिनिष्ठित होने लगी थी। पाणिनि (ई० पू० छठी शती) से पूर्व भी कई वैयाकरण उक्तलोक भाषा को परिष्कृत एवं नियम बद्ध करने का प्रयास कर चुके थे। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की पद्धति का अनुसरण करते हुए परिनिष्ठित संस्कृत का जो रूप अपने व्याकरण द्वारा निश्चित किया वह आज तक मान्य है। पाणिनि का यह प्रयास भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व साहित्य में अद्वितीय है। आज तक संस्कृत भाषा का अर्थ पाणिनि व्याकरण सम्मत लौकिक या श्रेण्य संस्कृत लिया जाता है। रामायण और महाभारत केवल विषय-वस्तु ही नहीं बल्कि भाषा की दृष्टि से भी वैदिक भाषा और लौकिक-संस्कृत भाषा के बीच की एक सुन्दर कड़ी है।

पाणिनि से लेकर पंडित-राज जगन्नाथ तक लौक संस्कृत के साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा और आज भी इस भाषा पाठन तथा इस के साहित्य सृजन की परम्परा अपने जिस किसी रूप में अक्षुण्ण है।

वाल्मीकि कृत रामायण और वेदव्यास रचित महाभारत-दोनों महाप्रबन्ध काव्य शताब्दियों से भारतीय साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ बने रहे हैं। ये दोनों ही भारतीय संस्कृति और इतिहास के मूल्यवान स्रोत हैं। रामायण-सात कांडों में विभक्त है। योरूपीय विद्वानों ने बालकांड और उत्तर कांड को प्रक्षिप्त माना है। भारतीय साहित्य में बाल्मीक को आदि कवि और रामायण को आदि काव्य स्वीकार किया गया है। भाव पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से रामायण-एक अतीव कलात्मक एवं अनुकरणीय रचना है। इसमें अंगी-रस करुण के साथ वीर, शृंगार, अद्भुत और रौद्र आदि रसों का सुन्दर समन्वय है। वस्तु वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के बिम्ब ग्राही वर्णन बाल्मीकि को निश्चयतः एक उत्कृष्ट कवि सिद्ध करते हैं। दंडी आदि काव्य शास्त्रियों ने कदाचित् रामायण के आधार पर ही महाकाव्य के लक्षणों का निर्धारण किया था। मानव स्वभाव के विशद चित्रण और आदर्श चरित्रों की सृष्टि में बाल्मीकि अद्वितीय हैं। कदाचित् इन्हीं महनीय गुणों के कारण रामायण भारतीय जीवन तथा साहित्य को शताब्दियों से प्रेरित और प्रभावित करती रही है और भविष्य में भी यह अधिकाधिक प्रचारित होती रहेगी।

महाभारत अपने आप में भारतीय साहित्य का एक समग्र रूप है। इसमें कौरव-पांडवों के युद्ध की ऐतिहासिक घटना, उस युग तथा परवर्ती समय की नैतिक ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक चेतना तत्ववादों और कल्पना प्रवण आख्यानों से ऐसे आच्छादित हो गई है कि वह नगण्य भी प्रतीत होती है। भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत पाँचवां वेद, इतिहास, पुराण, स्मृति, शास्त्र और काव्य सभी कुछ है। जो कुछ भारत और भारतीय साहित्य में है वह सब कुछ महाभारत में भी है। जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। इससे उक्त महा-प्रबन्धात्मक काव्य की विषय-व्यापकता, आकार विशालता तथा लक्ष्य की महत्ता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। सवा लाख श्लोकों के इस महा ग्रंथ में मनोविनोद, ज्ञानार्जन, जीवन-निर्माण तथा कवि-बुद्धि के सृजन की एक अद्भुत क्षमता है।

रामायण और महाभारत के काल का प्रश्न अतीव विवादास्पद है। कतिपय विद्वान् रामायण को पूर्ववर्ती मानते हैं जबकि दूसरे महाभारत को। अस्तु! इतना तो निर्विवाद है कि ये दोनों ग्रंथ ई० पू० छठी शती के आस-पास विद्यमान थे और इन का अन्तिम रूप गुप्त नरेशों के समय में निष्पन्न हुआ। इन ग्रंथों में प्रक्षेपों की प्रक्रिया बहुत समय तक चलती है और यह रामायण की अपेक्षा महाभारत में बहुत ही अधिक हुई।

पुराण भारतीय साहित्य का एक अतीव महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय साहित्य इनसे प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुआ है। पुराणों का रचना काल ईसा की दूसरी शती

से लेकर नवीं दसवीं शती तक है किन्तु पुराण साहित्य की सत्ता का प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र, रामायण महाभारत तथा उससे भी पूर्व के समय मे मिलता है। इन मे केवल धर्म, दर्शन और अवतारवाद का प्रतिपादन नही है बल्कि भारतीय संस्कृति और इतिहास का भी सुन्दर लेखा-जोखा मिलता है। निःसन्देह इनमे कल्पना का अतिशय है किन्तु भारतीय धर्म दर्शन संस्कृति और इतिहास के अध्येता के लिए ये बहुत मूल्यवान हैं। भागवत-पुराण ने भारत के भक्ति साहित्य को अपरिमित प्रभावित किया है। पुराणों की संख्या १८ है—विष्णु, वायु, शिव अग्नि, लिंग, स्कन्ध, वामन, वराह, भविष्य, नारद, मार्कंडेय कूर्म, मत्स्य, गरुण ब्राह्माड, श्रीमद्भागवत, ब्रह्म वैवर्त तथा ब्राह्म आदि। इनके अतिरिक्त १८ उपपुराण भी माने गये हैं तथा जैनो के पुराण भी संस्कृत भाषा मे लिखे गये।

संस्कृत के महाकाव्यों की एक विशाल परंपरा है। यद्यपि दीप शिखा, कवि-कुल गुरु कालिदास के काल के विषय मे विद्वानो मे मतैक्य नही है, किन्तु कालिदास के साहित्य के अन्त साक्ष्य तथा उसमे चित्रित सांस्कृतिक और सामाजिक दशाओ के आधार पर उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे विक्रम संवत के प्रवर्तक के समय में मानना निरापद है। कालिदास के दो महाकाव्यो रघुवंश और कुमारसंभव में भारतीय रस साधना का चरम परिपाक मिलता है। कुमारसंभव मे शिव-पार्वती विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के युद्ध का वर्णन है। रघुवंश मे दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के सूर्यवंशी राजाओ का वर्णन है। रघुवंश मे क्या कला पक्ष और क्या भाव पक्ष दोनों चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। रघुवंश की गणना संस्कृत-साहित्य के वृहत्त्रयी महाकाव्यों में होती है। कालिदास के महाकाव्य रस विधान और अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से इतने परिमार्जित और परिष्कृत हैं कि उनसे सहज मे अनुमान किया जा सकता है कि प्राक् कालिदास भी महाकाव्यो की एक विशाल परम्परा रही होगी। किंवदन्ती है कि वैयाकरण पाणिनि ने जाम्वती परिणय और पाताल विजय दो काव्य लिखे थे और वररुचि ने भी इस दिशा मे स्तुत्य प्रयास किया था। अस्तु ! कालिदास से पूर्व के महाकाव्य अप्राप्य हैं। कनिष्क के समकालीन अश्व घोष (ई० प्रथम शती) ने सौरानन्द और बुद्धिचरित नामक दो महाकाव्य लिखे। सौरानन्द में बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और उनकी पत्नी सुन्दरी के प्रेम तथा बुद्ध के प्रभाव का वर्णन किया गया है जबकि बुद्धचरित मे महात्मा बुद्ध के जीवन, उपदेश और सिद्धान्तो का वर्णन है। अश्व घोष के काव्य प्रणयन का उद्देश्य कविता के माध्यम से मोक्ष और धर्म की प्राप्ति है, अत इनकी कृतियो का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। शैली की सरलता की दृष्टि से ये ग्रंथ निश्चित रूप से महत्वपूर्ण हैं। कालिदासोत्तर काव्यों में रस का स्थान अलंकृति, चमत्कार तथा पांडित्य ने ले लिया और वह हृदय की वस्तु न रहकर मस्तिष्क की वस्तु बन कर रह गया। कालिदास की सरस मधुर प्रसाद गुणमयी अभिव्यंजना सभी शैली शाब्दी क्रीडा मात्र बन कर रह गई। काव्य के इस विचित्र मार्ग के प्रवर्तक किरातार्जुनीय महाकाव्य के

लेखक भारवि (छठी शती) पुलकेशी द्वितीय के समकालीन थे। भारवि-संस्कृत-साहित्य में अर्थ गौरव के लिए बहुप्रशंसित हैं। काव्य में शास्त्र के समावेश का निदर्शन भारवि के समसामयिक भट्टि कवि का रावणवध है, जहाँ रामकथा के साथ-साथ काव्य के व्यपदेश से व्याकरण शास्त्र का व्यावहारिक प्रयोग दिखाया गया है। इसी काल मे रामकथा पर आश्रित कुमारदास रचित 'जानकीहरण' में अलंकृति-शैली अपने उग्र रूप मे प्रगट हुई है। माघ का शिशुपाल संस्कृत महाकाव्यों मे महत्वपूर्ण है। माघ ने प्रत्येक क्षेत्र मे भारवि को तिरोहित करने के लिए अपने काव्य का निर्माण किया, अतः भारवि काव्य की दूषित प्रवृत्तियाँ और गुण शिशुपालवध में स्फुट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। माघ के भक्त आलोचकों ने पदलालित्य अर्थ गाम्भीर्य और अनूठी उपमाओं के लिए इनकी भूरि २ प्रशंसा की है। रत्नाकर (६ वीं शती) का हरविजय, हरिश्चन्द्र (१० वीं शती) का धर्म शर्माभ्युदय तथा और भी इसी प्रकार के अनेक कारण माघ की पद्धति पर निर्मित हुए। चित्रात्मक काव्यों के अन्तर्गत नलोदय काव्य, कविराज (११ वीं शती) का राघवपाण्डवीय, हरिदत्त सूर का राघव नैषधीय चिदम्बर का 'राघव पाण्डवीय यादवीय आदि ऐसी रचनायें हैं जिनमे श्लेष के बल से दोहरी तिहरी कथाओं का संयोजन किया गया। नि सन्देह इनमे कर्ताओं का रचना-कौशल और शब्द भण्डार पर अपार अधिकार द्योतित होता है किन्तु इनमें हृदय को छूने की क्षमता नहीं है। प्रौढोक्तिमय काव्यों मे मंखक (१४ वी शती) का श्री कंठ चरित प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा मे बिल्हण (११ वीं शती) का विक्रमांक चरित तथा पद्मगुप्त (११ वी शती) का नव साहसांक चरित उल्लेखनीय हैं। इनमें इतिहास को अतिरंजित कल्पना से मिश्रित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त हम्मीर विजय और सुजान चरित भी ऐतिहासिक काव्य हैं। श्री हर्ष (१२ वीं शती) का नैषधीय चरित महाकाव्य नामोत्तर काव्यो मे विशेष उल्लेखनीय है। इसका नाम वस्तुतः नल दमयन्ती परिणय ही होना चाहिए। इसमे गम्भीर पाडित्य, दर्शन प्रौढोक्ति चमत्कारवादिता अलंकारिक चातुर्य अपने परिपाक पर पहुँच गये हैं। महाकाव्य निर्माण की यह परम्परा मुस्लिम तथा अंग्रेजी शासन काल तक यत्किंचित् रूप में चलती रही और आज भी चरितात्मक काव्यों का प्रणयन जारी है।

संस्कृत के खण्ड काव्यो के अन्तर्गत कालिदास का मेघदूत, बिल्हण की चौर पंचाशिका, विक्रम का नेमिदूत तथा धोयी का हंसदूत आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी तथा भारत की अन्य अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं मे लिखे गये संदेश काव्यो पर उक्त काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है।

संस्कृत नाटक साहित्य की परम्परा जहाँ विशाल है वहाँ समृद्ध भी है। भास (४ शती ई० पूर्व) से पूर्व का संस्कृत नाटक साहित्य अप्राप्य है। भारत के १३ नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनमे कुछ एकाकी भी है। इनके नाटक भाषा की दृष्टि से सरस तथा अभिनेय हैं। इनकी रचनायें हैं—प्रतिमा अभिषेक, बाल चरित, पंचरात्र स्वप्न वासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगन्धारायण, अविमारक, चारुदत्त (नाटक) दूतवाक्य,

उरू भंग, घटोत्कच, मध्यमव्यायोग कर्णभार (एकांकी)। महाकवि कालिदास के तीन नाटक—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल में उनकी नाट्य प्रतिभा उत्तरोत्तर रूप से विकसित हुई है। भारतीय नाट्य साहित्य में तो अभिज्ञान शाकुन्तल शीर्ष स्थानीय है ही किन्तु विश्व साहित्य में भी इसका एक अद्वितीय स्थान है। इसमें धरा और स्वर्ग का एक अपूर्व मिलन तथा काव्य-कला और नाटकीय प्रतिभा का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। अश्वघोष के शारिपुत्र प्रकरण का भी पता चला रहा है। मृच्छ कटिक के रचयिता शूद्रक का काल यद्यपि अनिश्चित है किंतु भारत के अधिकतर विद्वान् उसे ईसा की प्रथम शती मे मानते हैं। इसमे चारुदत्त और वसन्त सेना के प्रणय की कथा १० अकों में निबद्ध है। इसमे नाटकीय कौशल व्यापार को गतिशीलता और मानवीय अनुभूतियों का चित्रण चरम परिपाक पर पहुँच गये हैं। कदाचित् विश्व साहित्य में यह प्रथम सुन्दर यथार्थवादी रचना है। हर्षवर्धन (७ वीं शती) की तीन रचनाओं में प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएँ हैं और नागानन्द नाटक है। प्रथम दो मे उदयन और वासवदत्ता के हल्के-फुल्के प्रणय के चित्र हैं और ये कालिदास के मालविकाग्निमित्र से अत्यधिक प्रभावित हैं। इन दोनो रचनाओं ने परवर्ती सस्कृत और प्राकृत साहित्य की नाटिकाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। नागानन्द बोधि सत्व जीमूत वाहन की दानशीलता से सम्बद्ध है। हर्ष नाटककार की अपेक्षा एक सफल कवि प्रतीत होते हैं। नाट्य शास्त्रीय नियमों के पालन की दृष्टि से इनकी रत्नावली का सस्कृत साहित्य में काफी आदर है। हर्षोत्तर नाटक साहित्य में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो का प्रवेश होने लगा। भट्टनारायण (८ वीं शती) के वेणी संहार में उक्त प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। वेणी संहार नाटकीय दृष्टि से सफल नही है। इसमें कालिदासोत्तर महाकाव्यों की अलंकार प्रधानता पांडित्य प्रदर्शन प्रौढ़ोक्तियों और चमत्कारवादिता का प्राचुर्य है। मुरारि के अनर्घ राघव (९ वीं शती) में उक्त ह्रासात्मक प्रवृत्तियाँ अपेक्षाकृत और भी उग्र रूप में प्रगट हुई। हर्षोत्तर काल में विशाखदत्त तथा भवभूति (८ वीं शती) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विशाखदत्त का 'मुद्रा राक्षस' नाटकीय दृष्टि से एक अतीव सफल रचना है। इसमे नन्दों के विनाश और चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य स्थापना की ऐतिहासिक घटना है। इसमें चाणक्य की नीति और चारित्रिक औदात्य दर्शनीय हैं। संस्कृत नाटककारों में कालिदास के पश्चात् भवभूति का नाम आता है। इनके महावीर चरित, मालती माधव तथा उत्तर रामचरित नाटकों में महावीर चरित तथा उत्तर रामचरित कथा से सम्बद्ध हैं और मालती माधव मृच्छ कटिक की पद्धति पर मालती और माधव के रोमांस से सम्बन्धित है। भव-भूति कवि के रूप में जितने सफल हैं। उतने नाटककार के रूप में नहीं। परवर्ती नाटक साहित्य रंगमंच से दूर हटता गया और उसमें पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती गई। राजशेखर (१० वीं शती) के बाल रामायण और जयदेव का प्रसन्न-राघव इसके प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। अन्यापदेशी नाटकों में प्रबोध चन्द्रोदय मुख्य है। परवर्ती संस्कृत नाटक साहित्य में भाणों और प्रहसनों की एक विशाल

परम्परा मिलती है जिसका स्थानाभाव के कारण उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

संस्कृत का गद्य साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। इसमें जहाँ एक ओर सरल अनलंकृत और स्वाभाविक शैली में रचित जीव जन्तु सम्बन्धी औपदेशिक कथाओं तथा लोक प्रिय कथाओं से सम्बन्धित पंचतन्त्र, हितोपदेश शुकसप्तति सिंहासन द्वात्रिंशत पुत्तलिका वेताल पंच विंशति भोज प्रबन्ध और पुरुष परीक्षा जैसी कृतियाँ मिलती हैं वहाँ सुबन्धु— दण्डी और बाण की रोमाँस कथायें शिलालेख तथा चम्पू काव्य भी आते हैं और सत्य कथा सरित सागर और वृहत्कथा मंजरी आदि भी है। प्रत्यक्षर— श्लेषमय प्रबन्ध के लेखन में परम पटु सुबन्धु (६ वीं शती) की वासवदत्ता में राजकुमार कन्दर्प केतु और वासवदत्ता के प्रेम की कथा है। इसमें लेखक ने अपने पांडित्य चमत्कारप्रियता और कलाबाजी का पूरा परिचय दिया है। यह रचना कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। दण्डी (७ वीं शती) की दो रचनाओं अवन्ती सुन्दरी कथा और दशकुमार चरित में दूसरी रचना विशेष उल्लेखनीय है। दण्डी अपने पदलालित्य, सरल स्वाभाविक सरस वर्णनों और जीवन की परम गहन यथार्थ अनुभूतियों के चित्रण की कला में संस्कृत गद्य साहित्य में बेजोड़ हैं। हर्षवर्धन के समकालीन बाण में सुबन्धु की कृत्रिम पांडित्य पूर्ण अलंकृत शैली और दण्डी की यथार्थपरक सरल स्वाभाविक प्रवाहमयी शैली दोनों का समन्वय मिलता है। बाण का हर्ष चरित आख्यायिका काव्य है और कादम्बरी कथा काव्य। अद्भुत प्रतिभा के स्वामी बाण का संस्कृत गद्य साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। बाणोत्तर काल में प्रचलित कृत्रिम और पांडित्य पूर्ण चम्पू शैली में प्रणीत गद्य काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट (१० वीं शती) के नल चम्पू तथा मदालसा चपू, धनपालकी तिलक मंजरी, वादीभसिंह की गद्य चिंतामणि, सोमदेव सूरि का यशस्तिलक चपू, हरिश्चन्द्र का जीवन धर चपू उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार की रचनायें १८वीं १६ वीं शती तक लिखी जाती रहीं, भारतेन्दु कालीन अंबिकादत्त व्यास का 'शिवराज विजय' वर्णन पटुता और सरस प्रवाह मयी शैली की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

संस्कृत में नीति शृंगार और भक्ति स्तोत्र सम्बन्धी तीन प्रकार के मुक्त काव्य लिखे गये हैं। संस्कृत के शृंगारी मुक्तिकों में भर्तृहरि का शृंगार शतक, अमरुक का अमरुक शतक, जयदेव का गीतगोविन्द, गोवर्धन की आर्यासप्तशती, पंडित राज जगन्नाथ का भामिनी विलास उल्लेखनीय है। संस्कृत में रचित भक्ति स्तोत्रमय साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसमें वैष्णवों, शैवों, शाक्तों और जैनों की शताधिक रचनायें मिलती हैं।

संस्कृत समीक्षा शास्त्र के अन्तर्गत, रस अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों से सम्बन्धित अनेक आचार्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। हिन्दी के काव्य शास्त्र पर उक्त सम्प्रदायों का अपरिमित प्रभाव पड़ा है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, व्याकरण छंदशास्त्र, दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद स्थापत्य और शिल्पादि कलाओं, नाट्य शास्त्र, निबन्ध

टीका, भाष्य तथा नाना वैज्ञानिक विषयो पर लिखे गए ग्रन्थों की एक अपरिमेय विशाल राशि प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शासन काल मे भी संस्कृत मे प्रशस्तिकाव्यों, महाकाव्यो, नाटको, अंग्रेजी नाटको और काव्यो के अनुवादो और निबन्धो के लिखने, पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन और नाना गोष्ठियो के आयोजन की परम्परा अजस्र गति *से चलती रही और सम्प्रति भी वह सतत् गति से प्रवहमान है। अतः सुदीर्घ काल से* अब तक भारतीय साहित्य को अनुप्राणित करने वाली जीवन्त भाषा-संस्कृत को "मृत भाषा" कहना अपनी अल्पज्ञता और भाषा वैज्ञानिक अनभिज्ञता को दर्शाना है।

पाली और उसका साहित्य

पालि शब्द की व्युत्पत्ति—इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। योरुपीय विद्वानों ने इनकी व्युत्पत्ति-"प्रली' शब्द से मानी है। उनके अनुसार प्रली का शाब्दिक अर्थ है—'पुस्तक के पृष्ठों की पक्ति"। कालान्तर में इसका अर्थ बदला और इससे पुस्तक की शिक्षाओं का बोध *होने लगा। उत्पश्चात् पालि शब्द एक भाषा के रूप मे प्रयुक्त होने लगा। इस धारणा* का प्रमाण भी समुपलब्ध है क्योकि बौद्ध विद्वान बुद्ध घोष ने पालि शब्द से बार-बार त्रिपिटक तथा उसकी शिक्षाओ की ओर सकेत किया है। उन्होने त्रिपिटक बुद्ध वचन के सामान्य अर्थ में (पालि=परियाय=मूलपाठ=बुद्ध वचन) शब्द का प्रयोग किया है। अशोक के शिलालेखो मे यही परियाय—पालियाय—पालियाय और उसके बाद उसका लघु रूप पालि प्रचलित हो गया। एक अन्य बौद्ध विद्वान् कोशाम्बी महोदय ने इसका सम्बन्ध संस्कृत के "पाल" शब्द से जोड़ा है। उनके अनुसार पहले इस का अर्थ इस रूप में लिया गया—"वह पुस्तक या साहित्य जिसमे बुद्ध की शिक्षायें सुरक्षित रखी गई।" कई विद्वान् पालि शब्द का सबध 'प्रकट' शब्द से जोडते हैं—जो पमल—पयाल—पाल बनता हुआ अन्तिम रूप में पालि बना। प्रकट शब्द का अर्थ है—जन सामान्य की स्पष्ट भाषा। उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग मूलत. किसी भाषा के लिए न होकर बुद्ध वचन या त्रिपिटक के मूल पाठ के लिए हुआ तथा कालान्तर में यह शब्द एक भाषा विशेष के अर्थ में रूढ़ हो गया। महात्मा बुद्ध ने जन-कल्याण के लिए अपने उपदेशो और शिक्षाओं के लिए जन-सामान्य का जिस भाषा को प्रयोग मे लाया वह बाद मे पालि कहलाई।

पालि का काल और उसका प्रसार क्षेत्र

वैदिक भाषा के साथ-साथ एक ऐसी विभाषा थी जो कि पालि भाषा का मूलाधार है। पालि को वैदिक भाषा का सीधा विकास नही माना जा सकता है क्योकि वैदिक भाषा और पालि भाषा की ध्वनियो और रूप विधान में महान् अन्तर है।

अनुमानतः, पालि भाषा बोलचाल की उस भाषा से विकसित हुई जो वैदिक काल की विभाषाओं के साथ-साथ किसी प्रदेश में प्रचलित थी। पालि का मूल क्षेत्र कहाँ था और इसकी मूलभाषा कौन सी थी, इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है। बौद्ध धर्माश्रयी भारतीय विद्वानों के अनुसार मागधी भाषा ही पालि का मूलाधार है किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। इन दोनोंके तुलनात्मक वैयाकरणिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। विंडिश, गाइगर और रिस्डेविड्सि आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे मागधी का एक रूप माना है। वेस्टरगार्ड, ई० कुह्न और आर० ओ० फ्रैंक ने अशोक के गिरिनार (गुजरात) के शिलालेख के सादृश्य के आधार पर पालि को उज्जयिनी की विभाषा कहा है। ओल्डेन बर्ग ने खंडगिरि के शिलालेख के भाषा गत साम्य के आधार पर पालि को कलिंग देश की भाषा कहा है। ल्युडर्स ने इसका मूलाधार अर्ध मागधी प्राकृत को माना है। उनका कहना है कि बुद्ध के उपदेश अनेक वर्षों के उपरान्त ४८५ ई० पूर्व राजगृह में प्रथम बुद्ध महासम्मेलन के अवसर पर एकत्रित किये गये थे। डॉ० एस० के चाटुर्ज्या के अनुसार "पालि का मूलाधार मागधी न होकर मध्यदेशीय प्राकृत है, उसका शौरसेनी से प्रचार साम्य है तथा वह शौरसेनी का वह रूप है जिसमें पश्चिमोत्तर प्राकृत तथा अन्य आर्यविभाषाओं के कई विचित्र प्रयोग घुलमिल गये हैं।" पालि का समूचा साहित्य एक सी भाषा शैली में प्रणीत नहीं हुआ। उसमें क्रमशः विकास की चार अवस्थाओं का पता चलता है (क) पालि के गाथा साहित्य में उसका प्राचीनतम रूप है। गाथाओं के साथ संलग्न गद्य बाद का है। (ख) पालि के सैद्धान्तिक गद्य भाग की भाषा गाथा भाग की भाषा से किंचित भिन्न और परवर्ती है। (ग) पालि साहित्य की टीकाओं में भाषा का रूप एक अन्य प्रकार के विकास का द्योतक है। (घ) अट्ठकथाओं (टीकाओं) के परवर्ती पालि काव्यों में कृत्रिम-साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं, जिस पर संस्कृत के अलंकृति मार्ग और कृत्रिम साहित्यिक शैली का स्पष्ट प्रभाव है। अस्तु, पालि भाषा मध्यकालीन आर्य भाषाओं—प्राकृतों (६०० ई० पूर्व से ६०० ई० तक) के संमिश्रण का परिणाम है। जिस प्रकार जैन-आगमों की भाषा अर्ध मागधी को "आर्यभाषा" के नाम से अभिहित कर दिया गया उसी प्रकार बौद्ध-त्रिपिटक की भाषा को पालि नाम दिया गया।

पालि साहित्य

मोटे तौर पर पालि साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) त्रिपिटक (तिपिटक) (ख) अनुपिटक। त्रिपिटक बौद्ध धर्म का सिद्धांत परक साहित्य है जबकि अनुपिटक सिद्धान्तेतर साहित्य है। इसे अनुपालि साहित्य भी कहा जाता है। त्रिपिटक के अन्तर्गत मुख्य रूप से सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक आते हैं। सुत्तपिटक और विनयपिटक में बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का

सग्रह राजगृह में बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ४८३ ई० पू० में आयोजित प्रथम संगीति के अवसर पर किया गया। दूसरी सगीति इसके लगभग एक सौ साल के बाद वैशाली में हुई। तीसरी सगीति देवानाप्रिय अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई। इसमें बौद्ध भिक्षु तिस्सेमोग्गलिपुत्र की मत्रणा से बौद्ध वचनो की आवृत्ति की गई और तीनों पिटकों का सग्रह कार्य सम्पन्न हुआ।

सुत्त पिटक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और साहित्यिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें पाँच निकायों—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय सयुक्तनिकाय, अगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय) का समावेश है। इन निकाय ग्रथो में बुद्ध के उपदेशों और उनके प्रारम्भिक शिष्यों का वर्णन है। इनमे बुद्ध धर्म की शिक्षायें सूत्रों और सवादों के रूप में दी गई हैं। दीघ निकाय मे बड़े बड़े सूत्रों का सग्रह है जबकि मज्झिम में मध्यम मान के सूत्र हैं। सयुक्त मे छोटे बड़े दोनो प्रकार के सूत्र हैं। इसी मे मार आदि देवता से सम्बद्ध अनेक सूत्र हैं। खुद्दक निकाय में १५ खुद्दक ग्रथो का सग्रह है, जिनमें धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा तथा जातक नाम के ग्रथो का साहित्यिक दृष्टि से भी पर्याप्त महत्त्व है। हिन्दू धर्म में श्रीमद्भगवद्गीता के समान बौद्ध साहित्य में धम्मपद का दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। थेरगाथा और थेरीगाथा मे भिक्षु और भिक्षुणियो के प्रशसात्मक कृत्यों का छन्दोबद्ध उल्लेख है। इनका रचना काल ५०० के लगभग माना जाता है। इन कविताओ के अतिरिक्त दी गई अन्य कथाओ को प्राय विद्वानो ने अप्रमाणिक माना है। थेर गाथाओं में जहाँ अन्तर्जगत की अनुभूतियो का प्राधान्य है वहाँ थेरी गाथाओं में भिक्षुणियों की वैयक्तिक तरलता का प्राबल्य है। जातक मे महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों की अनेक कथाओं का सग्रह पौराणिक शैली में किया गया है। इन कथाओं में गौतम बुद्ध नायक प्रतिनायक तथा दर्शक आदि की अनेक भूमिकाओ में प्रस्तुत किये गये हैं। जातकों की सख्या ५५० के लगभग कही गई है। इनमें सामान्यत बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तो का उल्लेख नहीं किया गया है बल्कि सभी जातकों में विशद प्रेम कथाओ, रीति, नीति और भक्ति आदि का वर्णन है। भारतीय साहित्य मे इन जातक कथाओं का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से अतीव महत्त्व है। इनसे महात्मा बुद्ध के समकालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दशाओं की स्पष्ट झाँकी मिलती है। इसके अतिरिक्त इनसे तत्कालीन भारत की मूर्ति कला, चित्रकला तथा स्थापत्य कला के समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। जातकों के अतिरिक्त अवदान ग्रथों में बौद्ध भिक्षुओं के पूर्व जन्म की कथायें दी गई हैं।

विनय पिटक में बौद्ध सघ के अनुशासन सम्बन्धी नियमो का सविस्तार उल्लेख है। उक्त पिटक का मुख्य आधार पातिमोक्ख है—जिसमें नियमों के उल्लघन और उसके फलस्वरूप सघ से बहिष्कृत कर देने का उल्लेख है। अभिधम्म पिटक मे बौद्ध धर्म और दर्शन की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है अत यह सुत्तपिटक का पूरक ग्रथ है। इसमे धम्म सगणि, विभग, कथावत्थु, पुग्गल पञत्ति, धातुकथा यमक और

पट्ठानप्करण सात ग्रंथ हैं। पट्ठानप्करण एक विशालकाय क्लिष्ट रचना है। बौद्ध धार्मिक साहित्य में परित्त या महापरित्त नामक ग्रंथ में प्रचलित 'तांत्रिक प्रयोगों का संग्रह है। इनका प्रयोग नवग्रह निर्माण, अस्वस्थता और मृत्यु आदि के अवसरों पर किया जाता है। ब्रह्मा और सिंहल द्वीप में उक्त ग्रंथ का अब भी काफी आदर होता है।

अनुपिटक अथवा अनुपालि साहित्य में नाना टीकायें—अर्थात् अट्ठकथायें आती हैं। धर्म-तत्त्व की मीमांसा के लिए ये टीकायें प्रायः सिंहल द्वीप में लिखी गईं। केवल 'मिलिन्द पह' नामक एक ग्रंथ ही पश्चिमोत्तर में निबद्ध हुआ। इसमें यवनराज मिलिन्द और बौद्ध भिक्षु नागसेन का संवाद है। इसके प्रश्नोत्तर रूप में बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों की अतीव सुन्दर व्याख्या मिलती है। बौद्धधर्म के सर्वप्रमुख टीकाकार बुद्धघोष हैं। इन्होंने बौद्धधर्म के तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए अनेक ग्रंथों पर टीकाओं का प्रणयन किया है। बुद्धघोष के समकालीन बुद्धदत्त ने भी महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी हैं। "अभिधम्म पर प्राचीनतम टीका आनन्दकृत अभिधम्ममूल टीका मानी जाती है।' पालि में एक विपुल टीका साहित्य उपलब्ध होता है।

पालि में धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त अन्य भी एक विषयों—व्याकरण, कोष, अलंकार शास्त्र तथा छन्द शास्त्र आदि पर भी रचनायें मिलती हैं। व्याकरणिक रचनाओं में कच्चायन व्याकरण मोग्गलायन व्याकरण तथा अग्गवंस की कृति सद्दनीति प्रमुख ग्रंथ हैं। धातु सम्बन्धी रचनाओं में धातुमंजूषा, धातुपाठ तथा धात्वत्थदीपिनी आदि उल्लेखनीय हैं। मोग्गलायन-कृत अभिधम्मदीपिका नामक पालि कोष संस्कृत के अमरकोष के समान एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पालि-काव्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं में संघरक्खित रचित 'सुबोधालंकार' तथा छन्द पर वुत्तोदय आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

प्राकृत भाषा और उसका साहित्य

पालि प्राकृत और अपभ्रंश मध्यकालीन आर्य भाषायें थीं, जिनका समय मोटे तौर पर ६०० ई० से १२०० ई० पू० तक स्वीकार किया जाता है। प्राकृत भाषा का समय सामान्यतः ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक है किन्तु संस्कृत नाटकों में छिट पुट रूप से प्राकृतों का प्रयोग १८०० शती तक होता रहा है।

आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त होता है किन्तु तत्कालीन आर्यों की बोलचाल की भाषा का स्वरूप क्या था। इस बात को जानने के लिए हमारे पास कोई भी प्रामाणिक साधन नहीं किन्तु इतना निश्चित है कि उनकी बोलचाल की भाषा संहिताओं की साहित्यिक भाषा से अवश्य भिन्न होगी। अनुमानतः वही बोलचाल की भाषा प्राकृतों का मूलरूप है। वेदों के प्रणयन काल में प्राकृत विभाषाओं के रूप नाना प्रदेशों में विद्यमान थीं और उनके शब्दों का समावेश संहिताओं में होने लगा था। वेदों में प्रयुक्त 'तितउ' दण्ड विकृत किकृत विकट कीकट दड

और अड आदि शब्द उक्त कथानक का स्पष्ट प्रमाण हैं। यास्क ८०० ई० पूर्व के समयछान्दस भाषा सहिताओं की भाषा से पर्याप्त भिन्न हो चुकी थी और उसमे आर्येतर तत्वो का समावेश हो गया था। कदाचित् इसीलिए उन्हें अस्पष्ट वैदिक म. की पू० ने व्याख्या के लिए निरुक्त और निघटु ग्रथों का प्रणयन करना पडा। पाणिनि ६०० ई० छन्दस और लोक भाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने लोक भाषा (लौकिक सस्कृत) को अपने जगद्विख्यात व्याकरण द्वारा नियमबद्ध, सुसस्कृत एव परिमार्जित किया किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उस समय प्राकृतों का अभाव था। हाँ, इससे इतना स्पष्ट है कि पाणिनि के समय तक प्राकृतो का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास नहीं हुआ था। प्राकृत भाषा देश्य भाषा के रूप में छान्दस और लौकिक सस्कृत के समानान्तर विद्यमान थी। पिशेल ने इसे प्राकृत पहले बनी के आधार पर सस्कृत से भी प्राचीनतर माना है।

प्राकृत व्युत्पत्ति और विवेचन

सस्कृत के बहुत से विद्वानो ने प्राकृत भाषा का विकास सस्कृत से माना है। वाग्भट्टालकार के टीकाकार सिंहदेवमणि ने प्राकृत को सस्कृत से उद्भूत माना है— (प्राकृते सस्कृतात् आगतम् प्राकृतम्) प्राकृत-सजीवनी तथा काव्यादर्श की प्रेमचन्द्र तर्कवाजीश कृत टीका मे सस्कृत को प्राकृत की योनि तथा इसे सस्कृत रूप से उत्पन्न बताया गया है। (प्राकृतनु सर्वमेव सस्कृत योनि । सस्कृतरूपया प्रकृते उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्) पेटर्सन ने प्रकृति को सस्कृत कहा है और उससे उत्पन्न भाषा को प्राकृत माना है। (प्राकृति सस्कृत, तत्रभवात् प्राकृत स्मृतम्) मार्कण्डेय और हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों ने भी क्रमश प्राकृतसर्वस्व और शब्दानुशासन नामक ग्रथो मे प्राकृत को सस्कृत से उद्भूत माना है। किन्तु आधुनिक भाषा वैज्ञानिक खोजो के आधार पर प्राकृत के विकास से सम्बन्धी विद्वानो की उपर्युक्त मान्यता असत्य सिद्ध हो चुकी है। हम पहले सकेत कर चुके हैं कि सहिताओं के प्रणयन काल में बोलचाल की भाषा के रूप मे प्राकृत विद्यमान थीं। इनमें बराबर परिवर्तन होता रहा। ये भाषायें प्राकृत अर्थात् जन सामान्य की भाषा में कहलाईं। रुद्रट के काव्यालकार के टीकाकार नमिसाधु ने सस्कृत और प्राकृत के भेद का तात्विक विश्लेषण किया है। उनके अनुसार व्याकरण आदि के सस्कार से विहीन, समस्त जगत् के प्राणियो के स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक महिला आदि की समझ मे यह सरलता से आ सकती है और समस्त भाषाओ की यह कारण भूत हैं।" उस कथन मे सत्य की प्रभूत मात्रा सन्निहित है। छान्दस भाषा और थेराय सस्कृत प्रतिशाख्य ग्रथो से लेकर पतजलि के महाभाष्य तक परिमार्जित और सुसस्कृत होती रही और लोक भाषायें बिना किसी सस्कार के निरन्तर कई शताब्दियो तक लोक-व्यवहार का माध्यम बनी रहीं। महावीर और बुद्ध ने इन्हीं लोक भाषाओं के द्वारा अपने उपदेशामृत से जन-कल्याण किया था।

अनुमान है कि महाराष्ट्री शुद्ध साहित्यिक मुक्तकों की दृष्टि से भी काफी समृद्ध थी किन्तु अब इसमें उक्त परम्परा की केवल दो ही प्रतिनिधि रचनायें उपलब्ध होती हैं। इसका शेष मुक्तक काव्य कराल काल ने ही कवलित कर लिया है। गाहा (गाथा सप्तशती) का संग्रह आन्ध्र प्रदेश के राजा सातवाहन (हाल) ने ईसा की प्रथम शताब्दी में किया। उसने अपने से पूर्व और अपने समय में प्रचलित असंख्य गाथाओं में से सर्वश्रेष्ठ नीति और शृंगार परक गाथाओं का संकलन किया था। किन्तु इसमें प्रक्षेपों की प्रक्रिया पाँचवीं छठी शती तक चलती रही। गाथा सप्तशती में शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों में प्रणय के उन्मुक्त चित्रणों और प्रेम के नाना विध रूपों के अंकन में जो ताजगी, स्वाभाविकता, सरसता और हृदयावर्जकता है वह निश्चय से अद्वितीय है। इस ग्रंथ रत्न ने अपभ्रंश और हिन्दी के नीति एवं शृंगार परक मुक्तक रचनाओं को अपरिमित रूप से प्रभावित किया है। इस परम्परा का दूसरा काव्य श्वेताम्बर जैन जय वल्लभ (१२०० ई०) द्वारा रचित 'वज्जालग्ग' है। सातवाहन के समान जय वल्लभ ने भी विविध कवियों द्वारा रचित कविताओं का संग्रह किया था। इस ग्रंथ के ४८ परिच्छेदों में ७९५ छन्दों का संकलन है। इनमें नीति, शृंगार चरित्र और व्यवहार आदि के विषयों का निरूपण मिलता है, संस्कृत के अनेक काव्य शा[illegible] और उनके टीकाकारों ने उक्त ग्रंथ की गाथाओं का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'गाथा सहस्री' गाथा कोष तथा रत्नालय आदि अन्य भी प्राकृत के सुभाषित ग्रंथों का पता चला है।

महाराष्ट्री के कथा साहित्य में कुतुहल नाम ब्राह्मण (१० वीं शती) की लीला-वई (लीलावती) नामक रचना उल्लेखनीय है। इसमें प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी लीलावती के प्रेम का चित्रण किया गया है। शैली और प्रतिपाद्य की दृष्टि से उक्त रचना सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी की परम्परा में आती है।

राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' महाराष्ट्री में रचित नाटकों में प्रमुख रचना है। यह हर्षवर्धन की लिखी हुई नाटिकाओं—प्रिय दर्शिका और रत्नावली की पद्धति पर लिखा हुआ एक सट्टक है जिसमें कुन्तल देश की राजकुमारी कर्पूर मंजरी और राजा चन्द्रपाल के प्रणय को निबद्ध किया गया है। इस नाटक से यह विदित होता है कि राजशेखर (९०० ई०) के समय प्राकृत पर्याप्त लोक प्रिय थी। उनका कहना है कि—'संस्कृत का गठन परुष और प्राकृत का गठन सुकुमार है। पुरुष और महिलाओं में जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर संस्कृत और प्राकृत काव्य में समझना चाहिये।" कर्पूर मंजरी के ढंग पर प्रणीत अन्य सट्टक—विलासवती (रचयिता मार्कंडेय १७०० ई०), चन्दलेहा, (रचयिता रुद्रदास १६६० ई०), आनन्द सुन्दरी, (रचयिता घनश्यामदास १७०० ई०), सिंगार मंजरी, (कर्ता विश्वेश्वर १८वीं शती का पूर्वार्ध,) रंभा मंजरी, (कर्ता नयचन्द्र १४वीं शती) भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त

राम पाणिवाद की 'लीलावती' नामक रचना भी प्राप्त हुई है जो कि एकांकी प्राकृत रूपक है।

संस्कृत नाटकों में नायिका, उसकी सहेलियों, उच्चवर्ग की स्त्रियो, ऊँची स्थिति की दासियों बालको, नपुंसक और विदूषक शौर सेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् नाटक का उद्भव शूरसेन प्रदेश में हुआ हो और इसके बोलचाल का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। कई विद्वानो ने संस्कृत के पात्रों की भाषा माना है। इस प्राकृत का उद्भव शूरसेन प्रदेश अर्थात् ब्रज-मंडल में हुआ जो कि लौकिक संस्कृत का प्रमुख केन्द्र था। अत यह संस्कृत से प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुई। शौर-सेनी ने निश्चय से राजस्थान, पंजाब, गुजरात और मध्य की भाषाओं को प्रभावित किया। यद्यपि शौरसेनी मे लिखित कोई स्वतन्त्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता कि संस्कृत के नाटकों में इसका प्रयोग बराबर होता रहा है। अश्व घोष ने अपने नाटकों में शौरसेनी का ही प्रयोग किया है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के कतिपय ग्रंथों का प्रणयन जैन शौरसेनी प्राकृत में हुआ। कुन्द कुंदाचार्य (प्रथमशती) की प्राय सभी रचनायें शौर सेनी प्राकृत में हैं। उक्त आचार्य का 'पवयण सार" नामक ग्रंथ जैन शौर सेनी की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त कार्तिकेय स्वामी रचित कत्ति गेयाणुपेक्खा तथा बट्टकेराचार्य द्वारा रचित 'मूलाचार' आदि ग्रन्थ इसी भाषा मे है।

पैशाची प्राकृत एक प्राचीन विभाषा मानी गई है। वैयाकरणो ने इसे चूलिका पैशाची अथवा भूतभाषा भी कहा है। गुणाढ्य (ईसा की प्रथम शती) की बृहत् कथा इसी भाषा मे निबद्ध थी जो कि अब अप्राप्य है। रामायण, महाभारत और भागवत के समान बृहत् कथा भी परवर्ती भारतीय साहित्य के लिए निरन्तर कई शताब्दियों तक उपजीव्य ग्रन्थ बना रहा है। भारतीय कथा साहित्य प्रतिपाद्य, शैली और कथानक रूढियो की दृष्टि से बृहत् कथा से अपरिमित रूप प्रभावित हुआ है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत कथा मंजरी', सोमदेव का 'कथा सरित सागर, तथा बुद्ध स्वामी का 'बृहत् कथा श्लोक-संग्रह' गुणा ढ्य की बृहत कथा के संस्कृत के संक्षिप्त रूपान्तर मात्र हैं। षड्भाषा चन्द्रिका के लेखक लक्ष्मी धर ने पैशाची और चूलिका पैशाची को राक्षस, पिशाच और नीच व्यक्तियों की भाषा बताया है और पाड्य केकय बाल्हीक सिंह (सह्य) नेपाल कुन्तल, सुदेष्णु, भोज, गधार, हैवक और कन्नोज की गणना पिशाच देशों में की हैं। इससे अनुमान है कि पैशाची प्राकृत भारत के उत्तर और पश्चिमी भागों मे बोली जाती रही होगी।

मागधी-प्राकृत मगध जनपद (बिहार) की विभाषा थी। इसमे स्वतन्त्र रचनायें प्राप्त नहीं होती। संस्कृत नाटको मे केवल हीन कोटि के पात्र राक्षस, भिक्षु क्षपणक, चेट अश्वरक्षक सेंध लगाने वाले आदि इसका प्रयोग करते हैं। यह शौरसेनी से अत्यधिक प्रभावित है। पुरुषोत्तम ने माधवी के अन्तर्गत शाकारी, चाडाली और शाबरी भाषाओं का परिगणन किया है।

अर्ध मागधी एक मध्यवर्ती प्राकृत थी। इसकी पश्चिमी सीमा पर शौरसेनी और पूर्वा पर मागधी थी। इसकी बहुत सी विशेषतायें अशोक के शिला लेखों में पाई जाती है। महावीर स्वामी ने इसी भाषा में अपनी अमूल्य शिक्षायें दी थीं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि महावीर ने ही इनमें तत्कालीन अन्य भाषाओं की सदुक्तियों और सुन्दर प्रयोगों को समाविष्ट कर इसे सर्व प्रिय बनाया था। कदाचित् इसी कारण से इसका नाम अर्धमागधी पड़ा। मार्कंडेय ने प्राकृत-सर्वस्व में इसे शौरसेनी से उद्भूत कहा है जबकि कामदीश्वर ने इसे महाराष्ट्री मिश्रा कहा है। इसे आर्य भाषा भी कहा गया है।

यह एक समृद्ध साहित्य की स्वामिनी है। इसमें जैनों के सिद्धान्त और सिद्धान्तेतर साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है, जो मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से बौद्ध साहित्य की अपेक्षा काफी समृद्ध है। इसके अतिरिक्त जैन-साधुओं ने जैन और सेनी और जैन महाराष्ट्री में भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। अर्धमागधी में प्रणीत जैन सिद्धान्त साहित्य निम्नांकित है—

(क) द्वादश अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति ज्ञातृ धर्म कथा उपासक दशा अनुत्तरोप पातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक श्रुत अन्तकृद्दशा तथा दृष्टिवाद। इन जैन तीर्थंकरों, महापुरुषों शलाकापुरुषों, महावीर के दस गृहस्थी शिष्यों मोक्ष प्राप्तिकर्ता स्त्री पुरुषों एवं महात्माओं और मुनियों के आचार-व्यवहारों, जीवन वृत्तों, अन्य धर्मों के खण्डनों, जैन धर्म की मान्यताओं और निगूढ़-तत्त्वों, शुभ-अशुभ कर्मों के फलों तथा व्रतों का उल्लेख किया गया है। इनमें कतिपय रचनायें साहित्यिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं।

(ख) द्वादश उपांग—औपपातिक, राज प्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना सूर्य प्रज्ञाप्ति, जम्बू द्वीप प्रज्ञाप्ति, चन्द्र प्रज्ञाप्ति, कल्पिका कल्पावतंसिका, पुष्पिका पुष्प चूला तथा वृष्णिदशा। इनकी रचना जैन धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए की गई। साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

(ग) दश प्रकीर्ण—चतु शरण, आतुर प्रत्याख्यान, महा प्रत्याख्यान, भक्त परिज्ञा, तंदुल वैचारक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविद्या, देवेन्द्रस्तव तथा मरण समाधि। ये श्रमणों की रचनायें हैं जिनमें तीर्थंकरों के उपदेशों का अनुसरण किया गया है। इनमें आचार व्यवहार, रोग-उपचार, गणित विद्या तथा शरीर विज्ञान आदि से सम्बद्ध विषयों का निरूपण किया गया है।

(घ) छेद सूत्र—निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशा-श्रुत स्कंध, बृहत् कल्प तथा पचकल्प अथवा जीत कल्प। इनमें आचार शुद्धता पर बल दिया गया है। ये संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं और इन्हें परम रहस्यमय बताया गया है।

(ङ) मूल सूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक दश वैकालिक पिंड निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति पाक्षिक सूत्र, क्षामणा सूत्र, वंदित्तु सुत्त, ऋषि भाषित तथा नन्दी और अनुयोगदार। इनमें साधु जीवन से मूल भूत आदर्शों और नियमों का उल्लेख है। धार्मिक

दृष्टि से ये भी बौद्ध सूत्रों के समान महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त जैन-आगमों पर लिखा हुआ एक विशाल व्याख्या-साहित्य उपलब्ध होता है, जिसमे निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका आदि लिखने की परम्परा दूसरी शती ई० से १६वी शती तक चलती रही। षट खंडा गम, कषाय प्राभृत मत्रशास्त्र तथा आगमोत्तर कालीन जैन धर्म ग्रंथों की एक विशाल राशि तैयार हुई। जैनों का सिद्धान्तेतर साहित्य जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी में लिखा गया।

अपभ्रंश भाषा : उसका साहित्य

प्राकृत भाषा के साहित्य क्षेत्र में परिनिष्ठित और व्याकरण के नियमों से आबद्ध हो जाने पर जन जीवन से उसका व्यापक सपर्क टूट गया। जिन लोक प्रचलित बोलियों से प्राकृत की रचना हुई थी, उनका जन सामान्य में बराबर विकास होता रहा। ये बोलियें देशीभाषा अथवा अपभ्रंश के नाम से अभिहित हुई। इसे दोहा, दूहा अवब्भस और अवहट्ठ और अवहट्ट आदि के विभिन्न नामों से भी पुकारा गया। प्राय इन सभी शब्दों का अर्थ बिगड़ी हुई, अशुद्ध, असस्कृत एव अव्याकरण सम्मत भाषा लिया गया। अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन आर्य भाषाओ के अन्तर्गत है और सामान्यत इसका काल ६०० ई० से १२०० ई० तक स्वीकार किया गया है। (हालाकि १६वीं शताब्दी तक परिनिष्ठित अपभ्रंश में साहित्यिक रचनाओ की सृष्टि होती रही) आगे चलकर जब अपभ्रंश भाषा भी लोक भाषा न रहकर परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन गई, तो देशी भाषाओं—हिन्दी राजस्थानी, पजाबी, गुजराती, मराठी, बगाली और सिंधी आदि भाषाओ का उदय हुआ।

अपभ्रंश भाषा और उसके भेद

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यह विकृत शब्द के अर्थ और भाषा के रूप में चर्चित है। पतजलि के महाभाष्य में सस्कृत को प्रकृति (मूल) और अपभ्रंश को उसका विकृत (भ्रष्ट) रूप कहा गया है। भरत के नाट्य शास्त्र में सस्कृत तथा देशी शब्दो से भिन्न विभाषा को विभ्रष्ट अथवा आभीरोक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। रुद्रट ने अपने काव्यालकार में सस्कृत प्राकृत तथा लोक भाषा अपभ्रंश के भेदों का भी उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण मे अपभ्रंश को शिष्ट जनो की भाषा कहा है।

वैयाकरणों ने मुख्यत तीन अपभ्रंशों—नागर, व्राचड तथा उपनागर की चर्चा की है। मार्कंडेय ने देश भेद के आधार पर इनके २७ भेदो का उल्लेख किया है। कई विद्वानो ने भौगोलिक आधार पर पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी तथा दक्षिणी नामक अपभ्रंश-भेदो की चर्चा की है। कई विद्वानों का विचार है कि जितनी प्राकृतें हैं उतने ही अपभ्रंश के भेद हैं, किन्तु यह धारणा असगत है। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मागधी प्राकृत का साहित्यिक विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया और कालान्तर में अर्ध मागधी

के क्षेत्र में भी शौरसेनी अपभ्रंश का बोलबाला रहा । पूर्वी कवियों ने काव्य के क्षेत्र में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया । १० वीं शती में बगाल में भी कविता क्षेत्र में उक्त अपभ्रंश का प्राधान्य रहा । सारे उत्तरी भारत में १२वीं शताब्दी तक गुजरात से पजाब तक और महाराष्ट्र से नेपाल तक शौर सेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के शब्दों मे 'वस्तुत. १२वीं शती तक साहित्य में केवल एक ही भाषा शैली चुनी जाती रही और वह थी—शौर सेनी या नागर अपभ्रंश । गुजरात से लेकर बगाल तक और शूरसेन प्रदेशो से लेकर बराबर तक इसी साहित्यिक शैली का एक छत्र साम्राज्य था । पश्चिमी (शौर सेनी) अपभ्रंश उस काल की साहित्यिक भाषा थी, ठीक उसी तरह जैसे उसकी साक्षात् पुत्री । हिन्दी भाषा समस्त भारत की राष्ट्र भाषा तथा भारत के अधिकाश भाग की साहित्यिक भाषा है ।"

अपभ्रंश साहित्य

प्राकृत साहित्य के समान अपभ्रंश साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है । इसमे महाकाव्यो, खडकाव्यो, गीतिकाव्यो, लौकिक प्रेम काव्यो, धार्मिक रचनाओं, रूपक साहित्य, कथा काव्यो स्फुट साहित्य तथा गद्य साहित्य की नाना विधाओं की सृष्टि हुई है । इस में जैन धर्म के सिद्धांत और सिद्धान्तेतर साहित्य बौद्ध सिद्धो तथा नाथो के साहित्य तथा शौर्य और शृ गारात्मक लौकिक काव्यों का प्रणयन हुआ है ।

जैनो के धर्म परक काव्यो में जो इन्दु (योगीन्द्र) (११वी शती) के परमात्म प्रकाश, योग सार तथा सावयधम्मदोहा, देव सेन का समय सार तथा जैन मुनि राम सिंह (११वीं शती) का पाहुड दोहा प्रमुख रचनायें हैं । इनका हम अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं । जैनो के धर्मेतर साहित्य के अन्तर्गत स्वय भू (८वीं शती) के पद्म-चरित तथा हरिवश पुराण, तथा पुष्पदन्त (ईसा की १०वीं शती का उत्तरार्द्ध) के महापुराण, यशहर चरिउ और णयकुमार चरिउ आदि प्रबन्ध काव्यो की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक के आदिकाल नामक खड मे जैन साहित्य के अन्तर्गत की जा चुकी है । धनपाल (११वीं शती) की भविसयत कहा का उल्लेख भी उक्त प्रकरण द्रष्टव्य है । इस परम्परा मे मुनि कनकामर (११वी शती) का क र कड चरिउ एक उल्लेखनीय कृति है । कथानक रूढियो के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना महत्त्वपूर्ण है ।

बौद्ध सिद्धो ने अपने चर्यापदों और दोहो तथा नाथ पथियों ने अपनी-वाणियों से अपभ्रंश साहित्य की अभिवृद्धि में मूल्यवान योग दिया है । इसकी चर्चा हम आदि काल में सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य के अन्तर्गत कर चुके हैं । अपभ्रंशो के शौर्य एव प्रेम प्रधान काव्यो के अन्तर्गत अब्दुर्रहमान का सदेश रासक एक महत्त्वपूर्ण नीति काव्य है जिसकी सविस्तार चर्चा हम आदि काल में कर चुके हैं । इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के आठवें अध्याय तथा पुरातन प्रबन्ध-सग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि में प्रेम, नय, नीति तथा शौर्य सम्बन्धी अनेक उत्तमोत्तम दोहे सगृहीत हैं ।

परिशिष्ट (ख)

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

संस्कृत-साहित्य ने अतीत में भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है और आज भी यदि किसी भारतीय भाषा के साहित्य में भारत की सांस्कृतिक एकता को एक सूत्र में बाँधने की अपूर्व क्षमता है तो वह केवल संस्कृत-साहित्य में ही। संस्कृत साहित्य ने भारतीय जीवन, धर्म, दर्शन आचार विचार, संस्कृति और साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसका प्रभाव केवल भारत तक ही सीमित नहीं प्रत्युत बृहत्तर भारत, मध्य एशिया और योरुप पर भी इसकी अमिट छाप है। यह एक निर्विवाद बात है कि विश्व में भारत की ख्याति का प्रमुख कारण संस्कृत-साहित्य है। संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन के बिना आज का भाषा विज्ञान अपूर्ण रहेगा। आधुनिक भारतीय भाषायें और उनके साहित्य तो निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं ही साथ-साथ दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं में निबद्ध साहित्य पर भी इस साहित्य की अविस्मरणीय छाप है। राष्ट्र[1] भाषा आयोग का कहना—"It is hardly necessary to add that besides that current regional Languages there is an immense amount of work which needs to be done in respect of Sanskrit, Pali, Prakrit, Apabharonsha etc. The Sanskrit Language preemmently and the ancient Languages in different degrees powerfully influenced the current Indian speechess and a study of those has an obvious bearing on the study of contemporary forms of speech."

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत तथा अंग्रेजी-साहित्यों का प्रभाव व्यापक रूप में पड़ा है। संस्कृत-साहित्य से यहाँ हमारा अभिप्राय वैदिक और लौकिक संस्कृत-वाङ्मय से है। वैदिक और लौकिक संस्कृत का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच यह है कि वैदिक साहित्य में विचार का कथात्मक विकास हुआ है, संस्कृत के परवर्ती साहित्य में उसका उपबृंहण हुआ है। वैदिक साहित्य—संहिता, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद तथा सूत्र ग्रंथों का लौकिक संस्कृत के दर्शन, धर्म, नीति, स्मृति, पुराण महाकाव्य, नाटक, काव्य शास्त्र एवं आख्यान-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आज के भारतीय जीवन तथा साहित्य पर वैदिककालीन संस्कृति और धर्म का प्रभाव विश

किसी रूप में बना हुआ है। हिन्दी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव दो रूपों में देखा जा सकता है—(क) आकृतिमूलक प्रभाव, काव्यरूपात्मक व शैली सम्बन्धी प्रभाव, (ख) सिद्धांतमूलक—विषय वस्तु एवं विचारधारा सम्बन्धी प्रभाव। उक्त प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में पड़ा है। यह प्रभाव हिन्दी-साहित्य के सभी कालों पर पड़ा है। अब हमें देखना यह है कि संस्कृत-साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के किस काल पर कितना और कैसा पड़ा है।

हिन्दी साहित्य का आदि काल—इस काल के साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप से आकृतिमूलक प्रभाव पड़ा है। सैद्धान्तिक प्रभाव परम्परात्मक रूप प्रस्तुत साहित्य पर पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल के साहित्य पर आकृतिमूलक प्रभाव की अधिकता है और ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि उस समय की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं। अस्तु! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोक भाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि इसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।" किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि आदिकालीन साहित्य पर अपभ्रंशों का यह प्रभाव प्राकृतों के माध्यम से संस्कृत-साहित्य से ही आया है। आदिकाल के साहित्य में वीर चरितात्मक नीति, धर्म, योग और प्रेमात्मक काव्यों पर निश्चित रूप से अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव है किन्तु उक्त समूची काव्यात्मक-प्रवृत्तियाँ संस्कृत-साहित्य में भी देखी जा सकती हैं और सम्भव है कि संस्कृत-साहित्य की ये सभी प्रवृत्तियाँ परम्परा से आदिकाल के साहित्य तक पहुँची हों।

इस काल में रासो ग्रंथों का पर्याप्त प्रणयन हुआ है। विद्वानों ने 'रासो' शब्द का सम्बन्ध रासक छन्द तथा नृत्य गीतात्मक काव्य से जोड़ा है। काव्य-निर्माण का यह प्रकार पहले से ही अपभ्रंशों में प्रचलित था। अपभ्रंश का दोहा या दूहा छन्द संस्कृत के मात्रिक छन्द आर्या से बहुत मिलता है। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज रासो' में संस्कृत के भुजंगी आदि अनेक छन्दों का प्रयोग मिलता है। 'पृथ्वीराजरासो' की शैली सर्वथा पुरातन है और कदाचित् इसी कारण उसकी प्रामाणिकता भी यत्किंचित् विश्वसनीय हो जाती है। रासो के शुक-शुकी संवाद पर कादम्बरी की छाया स्पष्ट है। इस ग्रन्थ के कथा नियोजन तथा घटना विस्तार आदि भी संस्कृत से प्रभावित हैं। इस काल में रचित बहुत से रासो काव्यों पर संस्कृत महाकाव्यों के लक्षण पूरे उतरते हैं। जैनों के धर्माश्रित शृंगार-काव्यों तथा जैनेतर शृंगारी काव्यों में शृंगारधारा का बहुत कुछ रूप संस्कृत काव्यधारा के अनुरूप है।

विद्यापति संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली भाषा के एक सफल कवि कहे जा सकते हैं। इनकी भाषा और शैली पर संस्कृत का प्रभाव सर्वविदित है। जहाँ इनकी भाषा संस्कृतगर्भित है वहाँ उसमें संस्कृत की सरसता और कोमलता आदि के गुण

भी विद्यमान हैं। विद्यापति स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता के लिए 'भागवत' और 'काव्यप्रकाश' की टीकायें लिखी हैं। उनकी कुछ रचनायें संस्कृत और मैथिली भाषा मे हैं। विद्यापति की पदावली की शैली और विषय पर संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' की स्पष्ट छाप है। जयदेव और विद्यापति दोनों ने राधा-कृष्ण की शृंगारात्मक लीलाओं का उन्मुक्त चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त इस काल में रचित 'संदेश रासक' और बीसलदेव रासो आदि प्रेमात्मकता काव्य संस्कृत के प्रेम-प्रधान काव्यों से प्रचुर रूप में प्रभावित हैं। इस काल के नीति, उपदेश तथा धर्म सम्बन्धी काव्यों पर भी संस्कृत साहित्य का प्रभाव है।

इस काल में रचित सिद्ध साहित्य में प्रतिपादित "शून्य" संस्कृत के बौद्ध दर्शन से प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। आगे चलकर वाममार्गी साहित्य मे जो मैथुन मदिरा आदि पाच मकारों का वर्णन मिलता है वह कौल-साहित्य का प्रभाव है। गुरु गोरखनाथ तथा उनके शिष्यों की वाणी पर पतंजलि के 'योगशास्त्र' तथा आगम साहित्य का प्रभाव है पर इस सम्बन्ध में पं० बलदेव उपाध्याय का कहना है कि "गोरखनाथ आदि नाथपंथी सिद्धों की योग प्रक्रिया उपनिषद्मूलक है, बौद्ध-तन्त्र-मूलक नहीं।"

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल—भक्ति काल पर संस्कृत-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस काल का साहित्य विषय वस्तु, सिद्धान्त तथा शैली सभी दृष्टियों से संस्कृत-साहित्य का ऋणी है। भक्ति काल की सभी काव्यधारायें—सन्त काव्य, सूफी काव्य, कृष्ण-भक्ति साहित्य तथा राम-भक्ति साहित्य किसी न किसी रूप में संस्कृत से अवश्य प्रभावित है। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति साहित्य तथा राम-भक्ति साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ 'भागवत' तथा 'रामायण' हैं। कोई भी पूर्ववर्ती साहित्य अपने परवर्ती साहित्य के लिए जहां एक ओर पृष्ठभूमि तैयार करता है, वहां उसके भावी-निर्माण के लिए बहुत से उपकरण भी जुटा देता है, किन्तु भक्तिकालीन साहित्य इस कथन का सर्वथा अपवाद है। उसने अपने पूर्ववर्ती आदिकाल के साहित्य से प्रेरणा न लेकर सीधे संस्कृत के दर्शन-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की। भक्तिकाल मे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य संस्कृत के दिग्गज विद्वान् थे और उन्होंने अपने सम्प्रदायों का दार्शनिक आधार संस्कृत साहित्य से तैयार किया।

वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भक्तिकाल और रीति काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य या अपभ्रंश साहित्य से प्रेरणा ग्रहण न करके संस्कृत वाङ्मय से प्रत्यक्षतः अपरिमित मात्रा में प्रभावित हुआ है। भक्तियुग का साहित्य संस्कृत के दर्शन समाज और पुराणों से निरन्तर प्रेरणा लेता रहा है तो रीति-काव्य संस्कृत के शृंगारी काव्यों काव्य शास्त्र और कामशास्त्रीय परम्पराओं से परिचालित होता रहा है। रीति काल में संस्कृत के ज्योतिषी सामुद्रिक शास्त्र काम-शास्त्र शालिहोत्र तथा अन्य नाना विषयों के ग्रंथों का भी हिन्दी में रूपान्तर प्रस्तुत

किया गया। इस दृष्टि से रीतिकाल भारतीय साहित्य और संस्कृत का पुनरुत्थान या जागरण काल ठहरता है। इस काल का लेखक संस्कृत साहित्य के विशाल ज्ञान राशि को हिन्दी के माध्यम से जन सामान्य तक पहुँचाने के लिए प्रतीव-चिन्तित एवं लाला-यित दृष्टिगोचर होता है।

सन्त-काव्य—सन्त कवियों में कबीर प्रतिनिधि कवि हैं। इनके साहित्य पर वेदान्त, योगदर्शन एवं तांत्रिक साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर ने जो शाक्तों की निन्दा की है उसका सम्बन्ध कौल सम्प्रदाय से है, शैवागमों से नहीं। कबीरदास का बहुत बौद्धों के शून्यवाद से बहुत कुछ प्रभावित है। नि सन्देह कबीर अनपढ़ थे किन्तु वे बहुश्रुत अवश्य थे। उन्होंने जो ज्ञानर्जन किया वह सब सत्संग और श्रवण द्वारा ही किया। कबीरदास नाथपंथ से अत्यधिक प्रभावित हैं और यह कहना अनुचित न होगा कि नाथपंथियों ने कबीर आदि सन्त कवियों के लिए बहुत कुछ काव्य-भूमि पहले से ही तैयार कर दी थी। कबीर व समस्त सन्त काव्य जिनमें यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है, उनका उद्भवस्थल संस्कृत साहित्य ही है। हिन्दी के कुछ विद्वानों का कहना है कि हिन्दी के सन्त-काव्य पर संस्कृत के भागवत, पुराण आदि काव्यों का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। सन्त कवियों के अद्वैतवाद पर वेदान्त का असंदिग्ध प्रभाव है। कबीर की इस उक्ति में—"जल में कुम्भ-कुम्भ में जल" वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। कबीर के "लालन की नहीं बोरियाँ" पर संस्कृत के "शैले शैले न माणिक्यम्" का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार कबीर की अनेक साखियों पर संस्कृत के नीति तथा सूक्तिमय श्लोकों का प्रभाव देखा जा सकता है हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि कबीर पर संस्कृत का जो प्रभाव है वह प्रत्यक्ष न होकर परम्परागत है।

सूफी प्रेमकाव्य—यद्यपि कुछ विद्वानों के अनुसार सूफी-काव्य संस्कृत-काव्य परम्परा की अपेक्षा फारसी की मसनवी शैली के अन्तर्गत अधिक आता है पर भारत भूमि पर प्रणीत यह काव्य, संस्कृत के प्रभाव से एकदम अछूता रहा हो, ऐसी बात नहीं। सूफी काव्यों के कथानक हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम कहानियाँ हैं। इन काव्यों का विषय संस्कृत से काफी प्रभावित है। विद्वानों का विश्वास है कि जायसी के 'पद्मावत' पर जैनकाव्यों तथा 'ढोला मारू रा दूहा' का पर्याप्त प्रभाव है। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ का कहना है कि जायसी के 'पद्मावत' के निर्माण से पहले बयवल्लभ नाम का कवि संस्कृत भाषा में उक्त काव्य को लिख चुके थे, अतः उसका प्रभाव जायसी पर पड़ना कोई असम्भाव्य नहीं है। भले ही यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से न पड़ा हो, किन्तु लोक प्रचलित परम्परा के माध्यम से पड़ा ही होगा। हमें तो फारसी काव्यों की मसनवी शैली भारती प्रबन्ध काव्यों की शैली का ईरानीकरण ही लगता है। इस विषय का प्रतिपादन हम कहीं अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से करेंगे। हिन्दू घरों की कहानियों को काव्यवस्तु बनाने के कारण उनमें हिन्दू संस्कृति का यत्र-तत्र प्रतिबिम्ब है। सूफियों के महाकाव्य नायक तथा रस-परिपाक की दृष्टि से संस्कृत के महाकाव्यों

के अधिक निकट ठहरते हैं यद्यपि इनमें सर्गबद्धता के स्थान पर शीर्षक पद्धति का प्रयोग किया गया है। जायसी पर वेदान्त के अद्वैत तथा सर्वात्मवाद का प्रभाव स्पष्ट है। जायसी तथा अन्य सूफियों पर योग का प्रभाव भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जायसी पर कामशास्त्र का प्रभाव भी अवलोकनीय है। उदाहरणार्थ जायसी के एक कथन पर संस्कृत का प्रभाव देखिये—

बन-बन बिरछि न चन्दन होई, तन तन बिरह न उपनै सोई।—जायसी।

शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे-गजे।—संस्कृत-सुक्ति।

कृष्ण भक्ति काव्य—हिन्दी के सगुण काव्य पर संस्कृत-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है और यह प्रभाव कई रूपों में देखा जा सकता है। भागवत पुराण समस्त कृष्ण-भक्ति काव्य का प्राण कहा जा सकता है। 'सूरदास के सागर' पर तथा नन्ददास की बहुत सारी रचनाओं पर भागवत का प्रभाव प्रत्यक्ष है, हालांकि इन कवियों ने प्रभाव ग्रहण करते हुए भी मौलिकता बनाये रखी है। हिन्दी-कृष्ण-भक्ति साहित्य में राधा की कल्पना को मौलिक स्वीकार किया गया है, परन्तु वह भागवत की गोपी से प्रेरित कही जा सकती है। निःसन्देह सूर और नन्ददास के 'भ्रमरगीत' काफी मौलिक हैं फिर भी वे भागवत के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। नन्ददास की 'रुक्मिणी-मंगल' की रचना भागवत के रुक्मिणी-हरण तथा रुक्मिणी उद्धार के आधार पर की गई है। उनकी कृष्ण-गोपी लीला से सम्बद्ध रचना 'रासपंचाध्यायी' भागवत के दशम स्कन्ध के २९—३३ तक के अध्यायों के आधार पर हुई है। नन्द की 'विरह-मंजरी' कालिदास के 'मेघदूत' के आधार पर रची गई प्रतीत होती है: कृष्ण-भक्त कवियों पर विद्यापति की परम्परा से जयदेव के गीत गोविन्द का प्रभाव भी अवलोकनीय है।

सगुण भक्ति काव्य में प्रतिपादित वैष्णव धर्म, भक्ति और दर्शन पर भगवद्-गीता, विष्णु और भागवत पुराण, पाँचरात्र संहिताएँ, 'नारद-भक्ति सूत्र', शाण्डिल्य-भक्त सूत्र; आलवार सन्तों, रामानुज, रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, विष्णु स्वामी तथा हितहरिवंश आदि आचार्यों के संस्कृत-ग्रन्थों का पर्याप्त प्रभाव है। आस्तिक दर्शनों में सांख्य और योग का प्रभाव सूरदास आदि कवियों पर दर्शनीय है। अष्टछाप के सभी कवि वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। सूरदास आदि पर वैष्णव तन्त्रों का प्रभाव भी द्रष्टव्य है। सूर तथा नन्ददास के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। कृष्ण-भक्ति साहित्य में नायिका-भेद का जो प्रपंच खड़ा हुआ, उसके लिए रूपगोस्वामी की 'उज्ज्वलनीलमणि' बहुत कुछ उत्तरदायी है। चैतन्य सम्प्रदायानुयायी श्री रूपगोस्वामी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने "भक्तिरसामृत सिंधु" में जहाँ भक्ति के दार्शनिक पक्ष का विवेचन किया है वहाँ "उज्ज्वलनीलमणि" में राधा कृष्णाश्रित शृंगार वर्णन को मधुर एवं उज्ज्वल नाम देकर उसे विहित ठहराया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राधा और कृष्ण के सन्दर्भ में अनेक प्रकार की नायिकाओं, यथ-यूथिकाओं, नर्म सखियों, विविध लीला विहारों तथा

अनेक-विधि नायकों का प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथ से कृष्ण-भक्त कवि को नैतिक अनुमर्थन मिलना निश्चित है।

राम भक्ति काव्य— कृष्ण-भक्ति काव्य के भागवत पुराण के समान बाल्मीक की 'रामायण' राम-भक्ति काव्य का उपजीव्य ग्रंथ है। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास ने "नाना पुराण निगमागमसम्मत यत्" कहकर संस्कृत साहित्य के आकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। तुलसीदास पर संस्कृत-साहित्य के आकृतिमूलक और सिद्धान्तमूलक दोनों प्रभाव स्पष्ट हैं। उनके कथानकों के आधारभूत ग्रंथ संस्कृत के काव्य हैं। तुलसी के 'रामचरितमानस' के आधार ग्रंथ बाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'हनुमान्नाटक', 'भागवत' और 'प्रसन्नराघव' आदि काव्य हैं। मानस का विभाजन बाल्मीकि रामायण के समान सात काण्डों में है। इसमें वर्षा और शरद् ऋतुओं का वर्णन भागवत की शैली पर किया गया है। मानस और भागवत के अनेक प्रसंगों में साम्य है। भागवत के परब्रह्म कृष्ण का नाम मानस के राम पर पर्याप्त प्रभाव है। बाल्मीकि रामामण में राम पुरुषोत्तम रूप में चित्रित हैं जबकि रामचरितमानस के राम भागवत के कृष्ण के समान परमब्रह्म तथा अवतार ग्रहण करने वाले हैं। तुलसी के अन्य ग्रन्थों का प्रेरणा-स्रोत भी संस्कृत साहित्य है। इनके पार्वती-मंगल की रचना कालिदास के 'कुमारसम्भव' के आधार पर हुई है। इस ग्रंथ के अनेक प्रसंगों पर 'शिव-पुराण' का प्रभाव भी स्पष्ट है। तुलसी में कहीं-कहीं पर तो इतना साम्य मिलता है कि भाषानुवाद का भान होने लगता है। तुलसीदास की प्रसिद्ध कृति 'विनय-पत्रिका' जगद्धर की 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' से प्रेरित है। दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करता है। तुलसीदास, रामानुज तथा रामानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों से स्पष्टतः प्रभावित हैं। तुलसी योग के प्रभाव से भी मुक्त नहीं हैं। तुलसी के ग्रन्थों पर संस्कृत के स्मृति ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। हिन्दी-साहित्य में तुलसी वर्णाश्रम धर्म के प्रबल पृष्ठपोषक हैं। भक्ति क्षेत्र में तुलसी नारद के भक्तिसूत्र, भागवत आदि ग्रन्थों से प्रभावित हैं। उन्होंने अपने साहित्य में अनेक पौराणिक उपाख्यानों का भी उपयोग किया है। इन पर वैष्णवागमों का प्रभाव भी स्पष्ट है। तुलसी के समान केशवदास के साहित्य पर भी संस्कृत ग्रन्थों की छाप अमिट है। केशव की 'रामचन्द्रिका' का आधारभूत ग्रन्थ बाल्मीकि रामायण है। इनकी 'विज्ञानगीता' पर 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का प्रभाव है। तुलसी के मानस तथा केशव की चन्द्रिका पर बाण की 'कादम्बरी' का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। केशव के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर संस्कृत के अलकार-सम्प्रदाय के ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। केशव पर पुराणों तथा स्मृति ग्रन्थों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। हिन्दी के भक्ति काल में प्रणीत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर संस्कृत के प्रभाव की चर्चा करते हुए डा० सरनामसिंह लिखते हैं—"हमारे हिन्दी कवियों में से काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले कृपाराम, नन्ददास, बलभद्र, रहीम और केशवदास हैं। कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी', रहीमकृत 'बरवैनायिकाभेद' और नन्ददास कृत 'रस-मंजरी' की रचना

भानुदत्तकृत 'रस-मंजरी' के अनुकरण पर हुई है। हिन्दी के लेखकों ने कहीं-कहीं इच्छा-नुसार किंचित् परिवर्तन भी कर दिया है। केशव की रसिकप्रिया पर 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' और 'रस मंजरी' का प्रभाव है। कहीं-कहीं पर केशव ने मौलिकता का प्रमाण दिया है। 'अलंकार शेखर', 'काव्य-कल्पलतावृत्ति', 'काव्यादर्श', 'काव्यप्रकाश' और के 'साहित्यदर्पण' ने केशवकृत कविप्रिया' को प्रभावित किया है। केशव और बलभद्र नखशिख वर्णन परम्परागत प्रतीत होते हैं। सम्भव है अंशत इन पर 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' का प्रभाव पड़ा है।

तुलसी के समय में और विशेषत उसके बाद राम भक्ति साहित्य में मधुर तथा रसिक उपासना की जो प्रबल धारा बही उसका पुष्ट आधार संस्कृत के राम-भक्ति साहित्य मे पहले से विद्यमान था। यही कारण है कि हिन्दी के राम-भक्त कवि ने उन ग्रन्थों से नैतिक साहस प्राप्त करके तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम को सखियों के साथ सरयूतट बिहारी रसिया राम बना डाला।

संस्कृत में धार्मिक, शृगारिक, शिक्षा तथा नीतिमूलक स्फुट काव्यों का प्रणयन हुआ है। संस्कृत के इन सभी प्रकार के ग्रंथों का भक्तिकालीन कवियों पर थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा है। संस्कृत के नीति सम्बन्धी ग्रंथों का रहीम पर सर्वाधिक प्रभाव है। तुलसी और केशवदास पर भी नीति-ग्रन्थों का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल—संस्कृत-साहित्य के प्रभाव को जो बात हम हिन्दी के भक्ति साहित्य के विषय में कह आये हैं वह रीति-साहित्य पर भी पूरी लागू होती है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य पर प्राकृत और अपभ्रंशों का सीधा प्रभाव नहीं है। प्रत्यक्ष प्रभाव तो उस पर संस्कृत-साहित्य की ह्रासोन्मुख परवर्ती परम्परा का पड़ा। कुछ विद्वानों ने रीतिकालीन शृगार पर फारसी आदि विदेशी प्रभाव की चर्चा की है किन्तु उन विद्वानों से हमारा विनम्र निवेदन है कि इस प्रकार का कोई अन्तिम निर्णय देने से पूर्व संस्कृत-साहित्य की शृ गार-परम्परा और विशेषत उसकी परवर्ती धारा का अवलोकन कर लें। रीतिकाल में चित्रित शृ गार कालिदास, अमरुक हाल, गोवर्धन, भर्तृहरि तथा जयदेव आदि की परम्परा में आता है, फारसी आदि विदेशी परम्परा के अन्तर्गत नहीं।

रीतिकालीन साहित्य में भक्तिकाल के साहित्य की पवित्र वृत्ति के स्थान पर घोर शृ गारिकता आ गई है। रीतिग्रंथों का प्रणयन उस समय के साहित्यकार के लिए एक फैशन-सा हो गया है। रीतिकालीन कविता पर अलंकरण एवं प्रदर्शन की प्रवृत्तियों की गहरी छाप है। रीतिकाल का प्राय प्रत्येक कवि आचार्य बनने के लोभ का संवरण नहीं कर सका। इस काल के रीतिसिद्ध कवियों पर तो संस्कृत के काव्य-शास्त्र का प्रभाव साक्षात् रूप में पड़ा ही है, रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवि भी परोक्ष रूप म उक्त प्रभाव से अछूते नहीं हैं। रीतिकाल के हिन्दी के आचार्य—कवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्राय अनुवाद मात्र प्रस्तुत किया है जिसमे कहीं कहीं

पर कुछ भ्रांतियाँ भी हैं। सस्कृत में रस, अलकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति तथा औचित्य आदि अनेक काव्य सम्प्रदाय प्रचलित थे। रीतिकालीन आचार्य-कवियों ने अलकार, रस तथा ध्वनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध सस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का अपने लक्षण-ग्रथो मे उपयोग किया है, हालाकि इनके लक्षण ग्रथो में काव्यशास्त्र के गम्भीर विवेचन का प्राय अभाव है। आचार्य शुक्ल के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—'इन रीतिग्रथो के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यो का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अत उनके द्वारा बडा भारी कार्य यह हुआ कि रसो (विशेषत शृगार रस) और अलकारो के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिणाम में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण सस्कृत के सारे लक्षण ग्रथो से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक सख्या न होगी।" नायिका-भेद-विस्तार में तो इन कवियो ने कमाल ही कर दिया है।

आचार्य कवि केशवदास पर अलकारवादी भामह, उद्भट और दण्डी आदि का अत्यन्त प्रभाव है। चिन्तामणि पर काव्यप्रकाशकार मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है। महाराजा जसवन्तसिंह ने अपने "भाषा भूषण" की रचना जयदेव के 'चन्द्रालोक' के आधार पर की है और पद्माकर का 'पद्माभरण' भी इसी शैली पर लिखा हुआ है। इस काल के नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थ भानुदत्तकी 'रसमजरी', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' और 'दशरूपक' आदि ग्रन्थो से प्रभावित हैं। इसी प्रकार इस काल मे रचित अन्य लक्षण ग्रन्थों का मूल स्रोत सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रथ ही हैं। इस काल में रचित छन्द ग्रथो मे भी सस्कृत के पिंगलशास्त्र का अनुसरण किया गया है।

इस काल के शृगारी काव्य पर सस्कृत के शृगारपरक मुक्तक काव्यो का प्रभाव भी कम नहीं पडा है। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो—बिहारी, देव, मतिराम भूषण, पद्माकर आदि पर उक्त प्रभाव सहज में देखा जा सकता है। बिहारी के प्रसिद्धतम दोहे "नहि पराग नहि मधुर मधु" पर कदाचित् 'पिब मधुप! बकुलकलिका दूरे" का प्रभाव स्पष्ट है। इनके 'मैं मिस हैं सोयौ समुझि' पर शून्य वासगृह विलोक्य" का प्रभाव देखा जा सकता है। बिहारी पर सस्कृत के प्रभाव की चर्चा प० पदमसिंह शर्मा ने तुलनात्मक ढग से की है। सस्कृत के शृ गारपरक स्फुट काव्यो 'शृगारतिलक' 'शृ गारशतक', 'अमरुकशतक', 'गीतगोविन्द', और 'पंचाशिका', 'ऋतुशृ गार' और 'आर्यासप्तशती' आदि का इस काल के शृ गार-काव्य पर निश्चित प्रभाव पडा है। सस्कृत के धार्मिक, शिक्षा और नीतिमूलक मुक्तक काव्यो तथा स्तोत्र ग्रन्थो का प्रभाव भी इस काल के साहित्य पर स्पष्ट है।

सस्कृत-काव्यो की रूढियों तथा कवि समयों की अवतारणा हिन्दी के रीति-साहित्य मे ज्यो-की-त्यो देखी जा सकती है। नायिका के अगो के उपमान भी प्राय वही मिलते हैं जो सस्कृत साहित्य में। हाँ, इस दिशा मे इस काल के कवियो ने कुछ

नवीन उद्भावनायें भी की हैं।

इस काल के शृंगारी काव्य तथा काव्यशास्त्रीय ग्रथों पर संस्कृत के कामशास्त्रीय ग्रथो और विशेषत वात्स्यायन के 'कामसूत्र' तथा परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रथो का गहरा प्रभाव पडा है। रीतिकाल के साहित्य में वर्णित विपरीत रति, अभिसार दूतीकर्म, परकीया-चित्रण, काम की दसों दशाओं आदि पर साक्षात् अथवा परम्परात्मक रूप से उक्त ग्रथो का प्रभाव अवश्य पडा है। हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने इस साहित्य मे रचित विलासितापूर्ण वातावरण को मुसलमानो तथा मुगल दरबार का प्रभाव बताया है। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है, किन्तु इस सम्बन्ध में वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि कामशास्त्रीय ग्रथों का प्रभाव भी कुछ कम नहीं पडा है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे नागरिक के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन, नायिकाओं और दूतियों का वर्णन खूब हुआ है, सम्भव है कि रीतिकालीन कवि ने उसका उपयोग किया हो। अस्तु!

रीतिकालीन चित्रित प्रेम और उसमें निर्मित प्रेमकाव्यों पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की स्पष्ट स्वीकृति कवि आलम के निम्नांकित शब्दो में अवलोकनीय है :—

"कछु अपनी कृछ पर कृति चोरौं,
जथा सकति करि अक्षर जोरौं॥
सकल सिंगार विरह की रीति,
माधो काम कन्दला प्रीति॥
कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी,
भाषा बांधि चौपाई ओरी॥,

आलम माधव-कामकदला

× × ×

कहै कन्दला सुनो सहेली, मोहि सिखावहु प्रेम पहेली।
अबलौं मुग्धाहुती अचवेली सिखावहु रस की रीति सहेली॥
काम कला हमहो कहो, सब विधि अर्थ बखानि।
और सिखावहु मोहि कछु पूछहु गुन जन मानि॥

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल—हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल भाषा, भाव तथा शैली आदि की दृष्टि से नवीन दृष्टिगोचर होता है। आज गद्य एव पद्य दोनों में खडी बोली का साम्राज्य है। इस काल में गद्य की नाना विधाओं का प्रचलन हुआ है। विज्ञापन तथा पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप इसमे अभिनव शैलियों का भी प्रचलन हुआ है, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह काल संस्कृत के प्रभाव से अछूता नही रहा है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की महान् विभूतियो—भारतेन्दु, प्रसाद, पन्त गुप्त, निराला तथा महादेवी आदि पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है।

आधुनिक काल के नाटक-साहित्य पर संस्कृत के नाटक साहित्य की गहरी छाप है। हिन्दी-साहित्य मे व्यवस्थित रूपो में नाटको का उदय भारतेन्दु-काल म हुआ। उस समय के नाटकों पर संस्कृत के उक्त साहित्य का काफी प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु-

कालीन नाटकों में संस्कृत के मंगलाचरण, नांदी-पाठ तथा भरत-वाक्य आदि की शैली का उपयोग किया गया है। इस काल में संस्कृत-नाटकों का अनुवाद भी हुआ। भारतेन्दु का 'सत्यहरिश्चन्द्र' क्षेमेन्द्र के संस्कृत नाटक 'चंडकौशिक' के आधार पर लिखा गया है। इनका 'मुद्राराक्षस' एक अनूदित नाटक है। संस्कृत के नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ सुखान्तता, आदर्शवादिता तथा काव्यमयता आदि हैं। इनमें नैतिकता की प्रधानता के साथ असत्य पर सत्य की विजय दिखाई जाती है। भारतेन्दु युग के सभी नाटकों में ये प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। यद्यपि हिन्दी के आज के नाटक-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव है और वह धीरे-धीरे संस्कृत नाट्य साहित्य से दूर हटता जा रहा है, फिर भी परोक्ष रूप से संस्कृत-नाटकों का प्रभाव अब भी विद्यमान है। 'प्रसाद' के नाटकों पर संस्कृत तथा पाश्चात्य दोनों नाटकों का प्रभाव है। इनके नाटकों में भारत की संस्कृति के उच्चतम स्वरूप के साथ सर्वत्र की असत्य पर विजय दिखाई गई है। इनके नाटकों में संस्कृत नाटकों का कवितामय भव्य वातावरण है। दुःखान्त नाटक हिन्दी में अब भी कम ही लिखे जाते हैं जिससे स्पष्ट है कि हिन्दी नाटकों पर संस्कृत नाटकों का आंतरिक प्रभाव अब भी बना हुआ है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के सतत् प्रयत्नों से साहित्य क्षेत्र में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई और साथ साथ कविवर्ग संस्कृत के वर्णवृत्तों की ओर आवर्जित हुआ। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में संस्कृत के वर्णवृत्तों का सफल प्रयोग हुआ है। उनकी पदावली भी संस्कृतमयी हो गई है कहीं-कहीं तो 'की' और 'थी' के अतिरिक्त कुछ भी हिन्दी का नहीं। उदाहरणार्थ—"रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।' प्रसाद', पन्त, निराला' और महादेवी की भाषा पर संस्कृत का काफी प्रभाव है। प्रायः छायावादी सभी कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली की समस्या संस्कृत की सहायता के बिना हल नहीं हो सकती है। मैथिलीशरण गुप्त पर संस्कृत के वैष्णव साहित्य का प्रचुर प्रभाव है। इनकी भाषा और विषय वस्तु दोनों संस्कृत से अत्यन्त प्रभावित हैं।

आधुनिक रहस्यवाद पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि आधुनिक रहस्यवाद से मिलती जुलती हुई कोई वस्तु संस्कृत में उपलब्ध नहीं होती, किन्तु आधुनिक रहस्यवाद में अभिव्यक्त दार्शनिकता का सम्बन्ध सीधा संस्कृत से है। प्रसाद की 'कामायनी' के नियतिवाद समरसता व आनन्दवाद पर शैवागमों तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन की स्पष्ट छाप है। महादेवी की "बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' तथा निराला की "तुम तुंग हिमाचल शृंग, मैं चंचल-गति सुरसरिता।" आदि पंक्तियों में प्रतिपादित आत्मा और परमात्मा का अभेदत्व उपनिषदों से प्रभावित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव, भाषा, शैली और छन्द आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी साहित्य संस्कृत-साहित्य का आभारी है। संस्कृत साहित्य का प्रभाव विश्व-साहित्य पर पड़ा है और भारतीय साहित्य विशेषतः हिन्दी साहित्य तो इसकी छत्र-छाया में पला और बड़ा है ही। वस्तुतः यह हिन्दी साहित्य का एक सौभाग्य है कि इसे संस्कृत जैसा अत्यन्त समृद्ध साहित्य रिक्थ के रूप में प्राप्त हुआ और यह उसके लिए गौरव का विषय है। हिन्दी साहित्य के सम्यक् अवबोध के लिए संस्कृत साहित्य का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

परिशिष्ट (ग)

हिन्दी साहित्य पर इस्लाम, फ़ारसी एवं उर्दू का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य पर फ़ारसी एवं उर्दू के प्रभाव का प्रश्न भारत में इस्लाम के आगमन तथा हिन्दी मुस्लिम दोनों जातियों के पारस्परिक सम्पर्क के साथ संयुक्त है। हिन्दी की जननी संस्कृत भाषा तथा फ़ारसी की जननी अवेस्ता भाषा का परस्पर का घनिष्ठ सम्बन्ध एक इतिहाससिद्ध तथ्य है। निःसंदेह भारत में मुस्लिम जाति की स्थिति भारत पर अन्य आक्रमण करने वाली शक, हूण आदि जातियों से भिन्न और विचित्र रही है। शक और हूण बंधुयोगवश, भारतीय संस्कृति में विलीन हो गये तथा इसका एक अभिन्न अंग बन गए, किन्तु मुस्लिम जाति अपनी कट्टरता के कारण अलग-अलग बनी रही। इस पृथकता के कारण हैं—दोनों संस्कृतियों के उद्देश्यों की भिन्नता, हिन्दू संस्कृति में पाचन शक्ति का ह्रास, मुस्लिमों का शासक होना तथा उनमें धर्म-प्रचार की प्रमुखता होना आदि, अस्तु। दोनों जातियाँ चिरकाल तक परस्पर एकत्र रहने से एक-दूसरे के सांस्कृतिक प्रभावों से अछूती नहीं रहीं। हिन्दू धर्म, दर्शन, कला-साहित्य तथा संस्कृति की छाप मुस्लिम जाति तथा उसके साहित्य आदि पर पड़ी और मुसलमानों की तद्वस्तुओं का प्रभाव भारतीय हिन्दी जीवन तथा उसके साहित्य आदि क्षेत्रों में निश्चित रूप से पड़ा है। यहाँ हम हिन्दी-साहित्य पर फ़ारसी तथा उर्दू-साहित्य के प्रभाव की चर्चा करेंगे। यह प्रभाव विचारधारा, शब्दावली तथा काव्यरूप आदि अनेक दृष्टियों से पड़ा है।

विचारधारा—हिन्दू संस्कृति में भावुकता की अपेक्षा अनुभव और ज्ञान की प्रधानता है। उसमें निवृत्ति, वैराग्य और अहिंसा तथा परलोक चिन्ता की प्रमुखता है। हिन्दू संस्कृति मूलतः आध्यात्मपरायण है जबकि मुस्लिम संस्कृति भौतिकता-प्रधान एवं भावुकतासम्पन्न है। विद्वानों का विश्वास है कि समस्त भारतीय साहित्य में उपलब्ध भावुकता मुस्लिम सम्पर्क का परिणाम है। निःसंदेह अमीर लोगों का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण ऐहिकतामय था और उसका प्रभाव भारतीय जीवन पर मुस्लिम आगमन से पूर्व पड़ चुका था जिसका परिणाम हाल की सतसई है और यह परम्परा परवर्ती साहित्यों में भी गतिशील रही, किन्तु इस दिशा में मुस्लिम संस्कृति के संपर्क के फलस्वरूप उसकी भावुकता का हिन्दी-साहित्य पर यत्किंचित् प्रभाव अवश्य पड़ा। भारतीय साहित्य में विशेषतः हिन्दी-साहित्य में शृंगार की अतिशयता के प्रमुख स्रोत भागवत पुराण, सिद्धों का वामाचार-तन्त्रवाद तथा संस्कृत का अन्य शृंगारी साहित्य है, किन्तु इस दिशा में सूफ़ियों के सिद्धांतों का भी अभीष्ट प्रभाव पड़ा। साहित्य

में अतिरंजनापूर्ण वर्णन की पद्धति यद्यपि बहुत प्राचीन है पर हिन्दी के सूफी कवियो तथा रीतिकाल मे शृंगारिक चित्रणो में वीभत्स एवं जुगुप्सामय चित्रो का अंकन फारसी साहित्य का प्रभाव है। हमारे भारतीय साहित्य तथा धर्म साधना मे मृत्यु का त्याज्य एवं अकाम्य माना गया है, किन्तु कबीर के लिए वह मृत्यु परमकाम्य है— "जा मरने से जग डरे मरे मन आनन्द।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर मे भी इस भाव से साम्य रखने वाले अनेक पद मिलते हैं। छायावादी काव्य में भी मृत्यु को अभिलषणीय रूप में चित्रित किया है। विद्वानों का कहना है कि यह फारसी एवं सूफी साहित्य का प्रभाव है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार फारसी काव्य की शृंगारिक प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

(क) शृंगार का सहारक रूप में वर्णन, (ख) नायिका की कोमलता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, (ग) विरह का ऊहात्मक वर्णन, (घ) मद्यपान का वर्णन, (ङ) प्रेम के क्षेत्र में परलोक की उपेक्षा आदि।

मुस्लिम शासन काल में फारसी को राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण इसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पडना अनिवार्य था और यह प्रभाव रीतिकाल के कवियो पर विशेष रूप से पडा। उनके मतानुसार हिन्दी साहित्य मे पाई जाने वाली उक्त प्रवृत्तियाँ सर्वथा अभारतीय नही हैं, क्योंकि सस्कृत के विशाल साहित्य मे प्रवृत्तियाँ पहले से ही विकसित हो चुकी थीं और सभव है कि ये प्रवृत्तियाँ परम्परात्मक रूप से रीतिकाल के साहित्य तक पहुँची हो, किन्तु इतना तो अवश्य स्वीकार करना पडता है कि मुगल शासन काल में फारसी की उक्त प्रवृत्तियों का प्रभाव थोडी बहुत मात्रा में पडा ही होगा चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप में भी क्यों न आया हो। डॉ० विमलकुमार जैन का तो यहाँ तक कहना है कि छायावाद के रुदनवाद के पीछे सूफी कवियो की पीडा काम कर रही है और कृष्ण-भक्त कवियों की रहस्यात्मकता पर सूफी प्रभाव है, किन्तु हमें ये दोनों अमान्य हैं। छायावादी वेदना की परीक्षा तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों के आलोक में करनी समीचीन होगी और कृष्ण-भक्ति साहित्य की आध्यात्मिकता की जाँच करते समय भागवतपुराण तथा आचार्यों के भक्ति सम्बन्धी विविध सिद्धांतों का अवलोकन आवश्यक होगा। फारसी-साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव निश्चित रूप से पडा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि व्यर्थ में ही दूर की कौडी पकड़ने का विफल प्रयास किया जाये। नीचे हम उक्त प्रभाव की चर्चा सक्षेप में करेंगे।

आदिकाल अब्दुर्रहमान के अपभ्रंश में लिखित सन्देशरासक काव्य की भावधारा पर इस्लाम या फारसी साहित्य का कोई प्रभाव नहीं है। हिन्दी के आदि काल के साहित्य पर विचारात्मकता की दृष्टि से फारसी का प्रभाव न के बराबर है। हाँ, प्रस्तुत काल के वीर कवियों में फारसी के कतिपय शब्द अवश्य मिल जाते हैं जो कि दो जातियो के एकत्र रहने का परिणाम है, या यह भी सभव है कि इन ग्रथों में बहुत देर तक चलने वाली परिवर्धन और परिवर्धन की प्रक्रिया मे बाद मे फारसी

के शब्दों का समावेश कर लिया गया हो। सूफी कवि अमीर खुसरो हिन्दी में हमारे सामने एक मस्त शृंगारी एव विनोदी कवि के रूप में आते हैं। उनका साहित्य, भाव और भाषा दोनों रूपों से फारसी का प्रभाव लिए हुए हैं। किंवदन्ती है कि खुसरो फारसी के एक महान् कवि थे और उन्होंने अपने फारसी-काव्य म सूफी मतवाद की गहनता का कलात्मक चित्रण किया है। रामकुमार वर्मा इसके सम्बन्ध मे लिखते हैं—"*खुसरो ने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया। जहाँ इन्होंने* फारसी मे अनेक मसनवियाँ लिखीं, वहाँ हिन्दी को भी नहीं भुलाया। इन्होंने खडी-बोली हिन्दी म कविता कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया और 'खालिकबारी' की रचना कर हिन्दी, फारसी और अरबी को परस्पर समझने का मौका दिया। इसमें हिन्दी, अरबी और फारसी के समानार्थवाची शब्दों का समूह है जिससे इन भाषाओं का ज्ञान सरल और मनोरंजक हो गया है। उदाहरणार्थ—

> *"जे हाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।*
> *कि ताबे हिजरॉ न दारम ए जाँ न लेहु काहे लगाय छतियाँ।"*

भक्तिकाल—हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल मे कबीर आदि सन्त कवियों पर भी फारसी साहित्य का प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से प्रभाव है। कबीर के रहस्यवाद की दाम्पत्य भावना यद्यपि विशुद्ध भारतीय है पर उसमे चित्रित प्रेम की विह्वलता एव भावुकता पर सूफियों की हाल दशा का प्रभाव अवश्य है। कबीर ने मृत्यु को त्याज्य न कहकर उसे काम्य कहा है जो कि स्पष्ट रूप से फारसी प्रभाव है। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' *का इस सम्बन्ध में कहना है—"इस्लाम ने हिंदुत्व को दार्शनिक उड़ान* नहीं दी, नूतन भाव और नये विचार नहीं दिये, *किन्तु मेरा ख्याल है कि भारतीय* साहित्य के भावुकता वाले पक्ष पर इस्लाम का प्रभाव अवश्य पड़ा। कबीर और मीरा की बेचैनी बोधा और घनानन्द की विह्वलता एव विद्यापति, चण्डीदास और सूरदास की भावाकुलता भारतीय परम्परा के लिए नवीन वस्तु थी। भावुकता के कुछ उदाहरण संस्कृत के अत्यन्त रससिद्ध कवियों मे से ढूँढकर निकाले जा सकते हैं। किन्तु वे केवल तर्क के प्रमाण पर होंगे। भावुकता हमारे साहित्य का साधारण लक्षण नहीं था। कविता का लक्ष्य इस देश में किसी महान् उद्देश्य की सेवा कर रहा है। *यहाँ के आचार्य उसे निरुद्देश्य आनन्द का साधन नहीं मानते थे।"* आगे चलकर वे लिखते हैं—*"भारतीय भावुकता कबीर के हाथ में इस्लामी भावुकता से मिलकर* एक नये रंग मे खुल पड़ी जैसी झाँकी हमें मीरा, बोधा और घनानन्द से लेकर छायावादी कवियों (विशेषत महादेवी) तक में मिलती है।" कबीर के अतिरिक्त दूलनदास पल्टूदास आदि सन्त कवियों पर भी उक्त प्रभाव देखा जा सकता है। इस विचारगत प्रभाव के अतिरिक्त सन्त साहित्य में फारसी के शब्दों का फुटकर प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी के सूफी-काव्य का प्रेरणा-स्रोत ही फारसी साहित्य है। निःसदेह भारतीय हिन्दी-सूफी-कवियों ने लैलामजनूँ की प्रेम कहानियों के स्थान

पर हिन्दू राजकुमार तथा राजकुमारियों की प्रेम कहानियों को अपनाया है, परन्तु उनकी प्रेम-वर्णन पद्धति फारसी की शृंगारिक प्रवृत्तियों से कहीं-कहीं प्रभावित है और उनकी अवधी भाषा में कहीं-कहीं पर फारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। काव्यों के बीच-बीच में इस्लाम के मार्मिक सिद्धांतों का भी प्रतिपादन है। हमारे विचारानुसार हिन्दी में फारसी का जो प्रभाव पड़ा है वह बहुत कुछ सूफी कवियों के माध्यम से आया है।

कुछ विद्वानों ने हिन्दी के कृष्ण-प्रबंध कवियों की रहस्यात्मकता पर सूफियों का प्रभाव सिद्ध करना चाहा है जो कि हमें सर्वथा अमान्य है। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। डॉ० विमलकुमार जैन ने तुलसी को जायसी की शैली से अनुगृहीत सिद्ध करते हुए लिखा है—"प्रेम काव्यों की तो इस शैली में एक अविच्छिन्न धारा थी और तुलसीदास भक्तिकाल में ही जायसी के पश्चात् हुए थे। अत यह शैली उन्होंने जायसी से अपनाई थी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।" इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि तुलसी को यह शैली भारतीय-साहित्य परम्परा से प्राप्त हुई थी। सिद्ध और वीर-गाथाओं के कवि इस शैली का पहले ही अल्पांश में प्रयोग कर चुके थे। दूसरी बात यह है कि जायसी स्वयं 'ढोला मारू रा दूहा' तथा अपभ्रंश काव्यों से प्रभावित दृष्टि-गोचर होते हैं। तुलसी का जायसी का समकालीन या कुछ पीछे होना इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं कि उन्होंने जायसी की शैली का अनुकरण किया था। एक बात और भी है कि तब तक जायसी का पद्मावत अरबी लिपि में निबद्ध था और उसका प्रचार कुछ मुस्लिम घरों तक ही सीमित था। अस्तु ! कृष्ण और रामभक्ति साहित्य में फारसी के शब्दों का प्रयोग सूर और तुलसी जैसे प्रतिनिधि कवियों ने निश्चित रूप से किया है। कृष्ण भक्तों में मीरा के पदों में सूफियों के प्रेम वर्णन की पद्धति विशेष रूप से व्यंजित हुई है। मीरा की इन पंक्तियों में—

'कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊ री'

तथा

'कभी हमारी गली आव रे, जिया की तपन बुझाव रे।
प्यारे मोहन प्यारे।"

पर सूफियों के प्रेम की स्पष्ट छाप है। हिन्दी साहित्य पर सूफी प्रभाव को लिखते हुए डॉ० विमलकुमार जैन के शब्द काफी महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि हम उनसे सर्वांश रूप में सहमत नहीं हैं—'हिन्दी साहित्य में पूर्वमध्यकाल में सूफियों का व्यापक प्रभाव था जिसने साधना और व्यवहार दोनों ही पक्षों में प्रेम की मधुर धारा प्रवाहित की थी तथा प्रेम की रहस्यात्मक उपासना द्वारा ज्ञान मार्गी सन्तों के अतिरिक्त अनेक भावकों को प्रभावित किया था।" रसखान तथा रहीम के प्रेम वर्णन पर सूफियों तथा फारसी की प्रेम पद्धति का पर्याप्त प्रभाव है। रहीम का नायिकाभेद ग्रंथ 'बरवै नायिका' इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। 'दिनकर जी के शब्दों में 'रहीम ने बरवै

नायिका' में नायिकाभेद का जो क्रम रखा, अधिकांश आचार्यों ने भी उसी क्रम को माना है। इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी में नायक नायिकाओं की सृष्टि भी एक मुसलमान कवि ने की है। केशव ने नायिकाओं के ६६० भेद किये थे, देव ने ३८४, किन्तु संय्यद गुलाम नबी 'रसलीन' ने उन्हें ११५२ तक पहुँचा दिया।" निःसंदेह हिन्दी नायिका भेद भागवत की गोपीलीला से प्रभावित है, किन्तु उसके भेदों की संख्या विस्तार कार्य में सूफियों के इश्क-मजाजी और इश्क हकीकी ने भी निश्चित सहयोग दिया है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति आन्दोलन तथा शंकराचार्य, रामानुज, रामानन्द आदि आचार्यों की दार्शनिक विचारधारा को इस्लाम से प्रभावित स्वीकार किया है, जो कि नितान्त भ्रामक है। लगता है कि इन विद्वानों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रदर्शन के अतिरेक में ऐसा किया है, किन्तु दो जातियों से एकता स्थापना के लिए सत्य का अपलाप करना सर्वथा निन्दनीय है। हम इस विषय की चर्चा पहले भी कर चुके हैं।

रीतिकाल—हिन्दी के रीतिकाल पर फारसी-साहित्य का प्रभाव पड़ना नैसर्गिक था। एक तो मुस्लिम शासकों की सरकारी भाषा फारसी थी दूसरा इस समय तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी कविता एक नवीन परिधान धारण कर चुकी थी। अब उसमें आध्यात्म के स्थान पर भौतिकता का अतिरेक हो गया और साथ-साथ हिंदी कवि भी राजदरबारी कवि दंगलों में बाजी मारने की होड़ में उर्दू और फारसी के कवियों के ढर्रे पर चलने लगा। फलतः हिंदी रीति-काव्य में शृंगार-वर्णन में फारसी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का साम्य दृष्टिगोचर होने लगा, हालांकि ये प्रवृत्तियाँ सर्वथा अभारतीय नहीं कही जा सकती हैं। किन्तु इतना तो निःसन्दिग्ध है कि रीतिकवि पर फारसी और उर्दू का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने प्रेम के अतिरेक को विदेशियों की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव माना है। उनकी धारणानुसार हिन्दी में प्रेम का जुगुप्सामय वर्णन फारसी के प्रभाव से है। किन्तु इसके अतिरिक्त इस काल में भावुकता की जो बाढ़ आई वह भी फारसी साहित्य तथा सूफियों की विरहानुभूति से प्रभावित है। रीतिकाल के मुबारक, आलम और शेख, बोधा, घनानन्द, नागरीदास, श्रीधर, रसनिधि, बिहारी भूषण तथा पद्माकर आदि पर उक्त प्रभाव स्पष्ट है। आलम के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कहना है कि वे रीतिबद्ध कवि न होकर प्रेम की पीर या इश्क के दर्द के कवि हैं। आलम और उनकी पत्नी शेख की शृंगार रस की उन्मत्तकारिणी उक्तियाँ बरबस पाठक को अपनी ओर खींच लेती हैं। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से इनकी गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनी चाहिए। इन्होंने उर्दू या रेखता भाषा में भी कवित्त लिखे हैं। जहाँ इनकी भाषा में अवधी और पूर्वी हिन्दी का पुट है वहाँ फारसी भाषा के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग है। फारसी शैली के कारण कहीं-कहीं इनमें रसचर्वणा में व्याघात भी उत्पन्न हो गया है। मुबारक संस्कृत, फारसी, अरबी के अच्छे पंडित तथा हिन्दी के एक भावुक कवि थे। इनके 'अलक-शतक' और तिलक

शतक' में वर्णित शृंगार रस पर फारसी का काफी प्रभाव है। बोधा की कविता में इश्क-मजाजी का रंग खूब गहरा है। उर्दू की गजलों की तड़प इनकी कविताओं में सहज रूप में देखी जा सकती है।' दिनकर के शब्दों में "बोध में इस्लाम की भावुकता का तेज है और यही तेज उनकी कविताओं के मुख्य आकर्षण भी है।' घनानन्द प्रेम-पीडा के उन्मुक्त गायन हैं। इनकी कविता में उर्दू—साहित्य की भावुकता और जबादानी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। संयोग की बात यह है कि इनके समकालीन उर्दू कवि मीर और इनके भावों में गहरा साम्य आ गया है। उदाहरणार्थ देखिये—

"वसीयत मीर ने मुझको यही की,
कि सब कुछ होना तो आशिक न होना।"　　　　—मीर
"देह दहै न रहै सुधि गेह की,
भूलिहू नेह का नांव न लीजै।"

—घनानन्द

विरह वर्णन में इन्होंने हृदय की अन्तर्वृत्तियों का मार्मिक चित्रण किया है। मीरा ने प्रेम को शूली कहा जबकि घनानन्द ने उसे फाँसी की उपमा दी। बिहारी ने अपने दोहों की रचना हाल और गोवर्द्धन की सप्तशतियों के आधार पर की है, किन्तु उनमें फारसी का प्रभाव भी यत्किंचित मात्रा में अवश्य है। आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने बिहारी के अनेक दोहों पर फारसी का प्रभाव दिखाया है। अस्तु ! इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि बिहारी की प्रेमवर्णन शैली फारसी की प्रेमपद्धति से साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक रखती है। बिहारी पर विदेशी प्रभाव दिखाते हुए संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। इन पर विदेशी प्रभाव की अपेक्षा संस्कृत-साहित्य की शृंगार परिपाटी का प्रभाव अधिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन पर फारसी का प्रभाव पड़ा अवश्य है। कहीं-कहीं पर तो इन्होंने फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। श्री 'दिनकर' ने रीति कवियों पर फारसी प्रभाव दिखाते हुए लिखा है—"रसनिधि ने अपने दोहों में फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है।......फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग कहीं-कहीं नागरीदास ने भी दिखाया है। रीति काल के कई अन्य कवियों ने अपनी पुस्तकों के नाम फारसी या उर्दू में रखे हैं। प्रयाग के श्रीधर या मुरलीधर ने फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन करने के लिये जो पुस्तक लिखी उसका नाम 'जंगनामा' है। नागरीदास की एक पुस्तक का नाम 'इश्क-चमन' और दूसरी पुस्तक का नाम 'इश्कनामा' है।" इतना होने पर भी यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि फारसी का जो थोड़ा बहुत प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर पड़ा, उससे उसकी मूल आत्मा में कोई विशेष अन्तर नहीं आने पाया। उसमें उर्दू-फारसी की हुस्नपरस्ती और बाजारूपन न होकर प्राचीन भारतीय परम्परा की नागरिकता की भावना अक्षुण्ण रही।

आधुनिक काल— हिन्दी के बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की कविता की प्रमुखतम धारा छायावाद के स्वन पर जहाँ अंग्रेजों के रोमांटिक साहित्य का प्रभाव है, वहाँ सूफियों की वेदनाप्रियता ने भी इसे कम प्रभावित नहीं किया है। यह प्रभाव छायावादी कवियों—'द्विज', 'प्रसाद', 'पंत', निराला महादेवी सब में खोजा जा सकता है। छायावादी कवियों का विरह एक विलक्षण विरह है। 'दिनकर' के शब्दों में—'यह विरह कभी तो ब्रह्म से अनुभूत होने वाला काल्पनिक विरह था और कभी इश्क मजाजी में अनुभूत होने वाला सामान्य विरह, जिस पर कवि आलौकिक विरह का पर्दा डाल देते थे।'' 'प्रसाद' के 'प्रेमपथिक' और पंत की 'ग्रंथि' का प्रेम इश्क मजाजी के अनुरूप है। छायावादी काव्य में भावुकता का अतिरेक भी फारसी का प्रभाव है जो कि कबीर, मीरा और घनानन्द आदि के माध्यम से परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप में आया। उस काल में रुदनता का स्वर हिन्दी-कविता और उर्दू-कविता में समान रूप से आलापा गया। उदाहरणार्थ देखिये—

> 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
> उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।'
>
> (पंत)
>
> 'मुत्तसिल रोते ही रहिये तो बुझे आतिशे दिल।
> एक दो आँसू तो और आग लगा देते हैं।।'
>
> (मीर)

हिन्दी उर्दू संघर्ष काल में राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी में उर्दू और फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया जिसकी प्रतिक्रिया राजा लक्ष्मणसिंह में दृष्टिगोचर हुई। अंग्रेजों द्वारा उर्दू को स्कूलों में अनिवार्य स्थान मिलने पर हिन्दी पढ़ने वालों पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। मुंशी प्रेमचन्द और सुदर्शन आदि पहले उर्दू में लिखा करते थे। इनके हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश करने के अनन्तर हिन्दी में उर्दू का चुलबुलापन, मुहावरादानी तथा अनेक शब्दों का प्रयोग होने लगा। महात्मा गाँधी जैसे प्रमुख काँग्रेसी नेताओं की हिन्दुस्तानी भाषा की नीति के परिणामस्वरूप हिन्दी में उर्दू के अनेक शब्दों का प्रचलन हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने उर्दू के कवि हाली की पुस्तक 'मुसद्दस हाली' ढंग पर 'भारत-भारती' का निर्माण किया। गुप्त ने उमरखय्याम की रुबाइयों का भी हिन्दी अनुवाद किया किन्तु इस दिशा में कवि बच्चन को विशेष लोकप्रियता मिली है। भारतेन्दु काल से पूर्व लिखी गई कहानियों में फारसी ढंग की लैला मजनूं आदि कहानियों की प्रेम छाप भी देखी जा सकती है। आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू ढंग की अनेक गजलों और रुबाइयाँ लिखने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। हिन्दी भाषा में उर्दू के कई शब्द तो इतने प्रचलित हो चुके हैं कि वे हिन्दी के अपने शब्द ही बन गये हैं। वस्तुतः यह हिन्दी की अपूर्व पाचनक्षमता है।

शब्दावली—हिंदी साहित्य में प्रयुक्त फारसी-उर्दू शब्दावली की विवेचना करते हुए श्री रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं—'हिन्दी कवियों ने फारसी और अरबी शब्दों का अधिकतर प्रयोग नहीं किया। हाँ, जो फारसी-अरबी शब्द प्रचलित हो गये थे उनमे दो-चार शब्द हिन्दी वाले भी ले लेते थे ''''''यही कारण है कि *हिन्दी के निर्गुण पंथी कवियों मे हम अरबी और फारसी के शब्द, बहुत अधिक तो* नहीं फिर भी काफी देखते हैं। ये कवि सूफियों से प्रभावित थे और सूफी भावधारा में अरबी और फारसी शब्द लिपटे हुए थे। किन्तु निर्गुण पंथियो को छोड़कर अन्य कवियो मे (यानी सूर, तुलसी, केशव, मतिराम, देव आदि में) हम फारसी और *अरबी शब्दो की अधिकता नही देखते ।'''''' बाद के कवियों मे भूषण, पद्माकर,* कुलपति मिश्र, नागरीदास ग्वाल, सीतल आदि ने फारसी और अरबी शब्द लिए हैं किन्तु खुलकर नही। कुलपति, पद्माकर और ग्वाल, ने तो मानो मौज में आकर कुछ खास छन्द ही इसलिए लिखे कि उनमे फारसी और अरबी के शब्दो का प्रयोग कर सकें।" भूषण ने *अरबी फारसी के शब्दो का आवश्यकतानुसार अधिक प्रयोग* किया है। हिन्दी मे प्रयुक्त विदेशी भाषाओं के शब्दो को हिन्दी भाषा ने आत्मसात् करके अपने आपको जीवन्त भाषा सिद्ध किया।

उर्दू : हिन्दी की एक शैली मात्र—उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० रामबाबू सक्सेना ने लिखा है—"Modern High Hindi was develop-d from Urdu by the ejection of Persian words and substitution of those of Sanskrit origin" (A History of Urdu literature)। डॉ० साहब के कहने का अभिप्राय यह है कि 'भारत देश की सदा से अरबी-फारसी भाषा थी किन्तु हिन्दी वालो ने उसमे अरबी फारसी के शब्दो के स्थान पर सस्कृत के शब्दो को भरकर एक कृत्रिम भाषा हिन्दी को खडा कर लिया।' ऐसा कहना भाषा विज्ञान के प्रति सरासर अपनी अनभिज्ञता दर्शाना है। इसके विपरीत सत्य यह है कि उर्दू, *हिन्दी की एक शैली मात्र है।* हिन्दी खडी बोली के आदि कवि अमीर-खुसरो ठहरते हैं। जिसकी परम्परा कबीर, नामदेव, दादू दयाल आदि के माध्यम से आज तक अजस्रगति से बढती आ रही है। हिन्दी गद्य के प्राजल रूप की चर्चा करते हुए 'दिनकर' जी लिखते हैं—"आज हम जिस हिन्दी का व्यवहार करते हैं उसकी अविच्छिन्न धारा कोई ढाई सौ साल से बहती आ रही है। रामप्रसाद, निरजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, सदलमिश्र, स्वामी दयानन्द और राजा लक्ष्मणसिंह इस धारा के मुख्य स्तम्भ हैं। उनमे से किसी के भी सामने उर्दू का प्राजल गद्य मौजूद न था जिसमे से अरबी फारसी के शब्दो को निकाल कर उन्हे नयी भाषा गढनी पडती।" उर्दू भाषा के अनेक नाम हैं—*रेख्ता, हिन्दवी, दक्खिनी और हिन्दुस्तानी।* रेख्ता का अर्थ है मिली जुली भाषा, हिन्दवी का तात्पर्य है हिन्दी व रहने वाला की भाषा दक्षिण में उर्दू के जन्म होने के कारण इसका नाम दक्खिनी पडा। उर्दू का पहला कवि वली है जिसकी भाषा म हिन्दी भाषा के शब्दो का बाहुल्य है। अली आदिलशाह

ग्रौर बुरहानुद्दीन जानिम की कविता की भी यही दशा है। इन लोगों ने फारसी के शब्दों का अवश्य प्रयोग किया है किन्तु शब्दावली इनकी हिन्दी ही रही है। वली की कविता का एक नमूना देखिये—

> "बिरागी जो कहाते हैं, उसे घरबार करना क्या?
> हुई जोगिन जो कोई पी की, उसे संसार करना क्या?"

कतिपय विद्वानों ने उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानों पर फारसी प्रेम के प्रभाव की चर्चा की है, जो कि हमें सर्वथा अमान्य है। पहली बात तो यह है कि उक्त प्रभाव उत्तरी भारत के प्रेमाख्यानों की अपेक्षा दक्षिणी भारत के प्रेमाख्यानों पर अधिक पड़ा और वह भी परवर्ती काल में। दक्षिणी भारत में बल्ली से पूर्व के कवियों की भाषा में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है, उनके द्वारा वर्णित प्रेम भारतीय श्रृंगार-परम्परा के अन्तर्गत आता है। वजही के समय में दक्षिणी प्रेमाख्यानों पर फारसी प्रभाव की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। आगे चलकर शासकों की कपट-नीति के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता की भावना ने जोर पकड़ा और फल यह निकला कि दक्खिनी हिन्दी के परवर्ती कवि की आँखें फारसी-साहित्य पर प्रेरणा के लिए टिक गईं। उत्तरी भारत में भी प्रेमाख्यानों के परवर्ती लेखकों नूरमुहम्मद (बाद की रचनाओं) तथा जान कवि में फारसी प्रभाव उभरने लगा। उससे पूर्व साम्प्रदायिकता का विषैला बिरवा पनपने नहीं पाया था। नूरमुहम्मद के समय में लिखी हुई 'तारीख गरीबी' में उक्त तथ्य का भली भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

> 'हिन्दी पर ना ताना मारो सभी बतावें हिन्दी भासो।
> यह जो है कुरान खुदा का हिन्दी करें बयान सदा का।
> लोगों को जब खोल बतावें, हिन्दी में कहकर समझावें।
> जिन लोगों में नबी जो आय, उनकी बोली सो बतलाय।"

(तारीख गरीबी, ओरियंटल कालेज मैगजीन भाग १)

औरंगजेब के शासन काल में साम्प्रदायिकता और कट्टरता बढ़ने लगी और वह दक्षिण में पहुँची। हिन्दवी में कविता करने वाले कवि फारसी की ओर अधिक झुकने लगे। इससे हिन्दी के शब्दों के बहिष्कार की नीति को अपनाया गया और शनैः-शनैः यह प्रतिक्रिया उग्र रूप धारण करती गई। सर सैय्यद के प्रयत्नों और मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता ने भतस्वत की इस नीति को और भी भयकर रूप पर पहुँचा दिया। परिणामस्वरूप अब उर्दू का कवि कह बैठा—

> गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा।
> सिजदा न करूँ हिंद की नापाक जमीं पर ॥

इस प्रकार उर्दू कवि की दृष्टि भारत की धरती से उठकर ईरान और फारसी की ओर अधिक जाने लगी और उसमें खुलकर अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग होने लगा। भले ही उर्दू में फारसी के शब्दों का बाहुल्य हो गया हो किन्तु फिर भी उसका वाक्य-विन्यास और व्याकरण हिन्दी जैसा है। फारसी के शब्दों के प्राचुर्य

से उर्दू मे ताजगी के स्थान पर कृत्रिमता आने लगी है। यह सौभाग्य की बात है कि आज उर्दू का कवि उसमे ताजगी लाने के लिए हिन्दी की धरती की ओर देखने का लालायित दीख पड रहा है—

कीजे न जमील उर्दू का सिंगार अब ईरानी तलमीहों से।
पहनेगी विदेशी गहने क्यों यह बेटी भारत माता की ?

—अल्लामा जमील मजहरी

हिन्दी साहित्य पर सस्कृत और पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव जितने व्यापक रूप मे पडा है उतना इस्लाम और फारसी साहित्य का नही। इतने विशाल हिन्दी साहित्य की विषय वस्तु पर फारसी का विचारगत प्रभाव नगण्य सा है। थोडे से शब्दो, मुहावरो और काव्य रूपो के सिवाय फारसी का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर नही पडा। सच तो यह है कि इस प्रभाव के बिना भी हिन्दी-काव्य का स्वरूप वही होता जो आज है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में—"मैं जोर देकर कहता हू, अगर इस्लाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का स्वरूप बारह आने वैसा ही होता जैसा आज है।"

परिशिष्ट (घ)

हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी (पाश्चात्य) साहित्य का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव के अनन्तर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अत्यन्त व्यापक रूप से पड़ा है। हिन्दी के आधुनिक काल पर तो विशेषतः अंग्रेजी साहित्य का सर्वांगीण प्रभाव पड़ा और वह भी थोड़ी सी अवधि में, जो कि वस्तुतः एक आश्चर्य का विषय है। अंग्रेजी साहित्य का यह प्रभाव हिन्दी साहित्य के वर्ण्यवस्तु भाषा, शैली और काव्य-रूपों सभी उपादानों तथा सारी विधाओं पर देखा जा सकता है। उक्त प्रभाव हिन्दी साहित्य में एक तो बंगला के माध्यम से आया और दूसरा प्रत्यक्ष रूप से।

भारत में अंग्रेजी शासन के लाभ और हानि दोनों हुए। एक ओर अंग्रेजी शासन के कारण आर्थिक और राजनीतिक शोषण का तिक्त फल भारत को चखना पड़ा, दूसरी ओर अंग्रेजी सम्पर्क के फलस्वरूप भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन में एक नवीन चेतना और जागृति आई। पाश्चात्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप भारत के जीवन और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में एक नूतन और स्वस्थ दृष्टिकोण बना जो पुरातन साहित्य से सर्वथा भिन्न था। रीतिकाल का साहित्य राजदरबारी एवं सामन्ती वातावरण में प्रणीत होने के कारण जन-जीवन से एकदम दूर जा पड़ा था। रीतिकवि का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण अतीव सीमित था। उसमें प्रदर्शन और घोर शृंगारिकता की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जीवन-स्पन्दन का प्रायः अभाव था। रीतिकवि रूढ़िगत काव्य-परम्पराओं, नियमबद्धता, नायक-नायिका-भेद और अलंकार छन्दों के बन्धनों के आवर्त में आकण्ठ निमग्न रहा। अतः उसके साहित्य में जीवन चेतना के शाश्वत तत्त्व न आ सके। अंग्रेजी के सम्पर्क के कारण सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि रीतिकाव्य कानन उजड़ गया और अब उसमें जनवादी स्वर की नवीन आमोद कलिकाएँ प्रस्फुटित होने लगीं। अब साहित्य *राजदरबार की संकीर्ण चहार दीवारी से निकलकर* जन-जीवन के खुले प्रांगण में उसके रुदन और हास में शरीक होने लगा।

१६ वीं शती के आरम्भ में ही अंग्रेजी के प्रभाव और संस्कार की प्रक्रिया हिन्दी साहित्य में शुरू हो गई। फोर्ट विलियम कालेज में गिल क्राइस्ट की अध्यक्षता

में सरकार द्वारा हिंदुस्तानी की पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की गई। यद्यपि फाइस्ट की उर्दू फारसी के समर्थन की नीति से हिन्दी को अपेक्षित प्रोत्साहन नहीं मिला फिर भी उसकी गति रुकी नहीं। भारत में शिक्षा-प्रचारार्थ खोले गए कालेजों में अंग्रेजी को प्राथमिकता देते हुए भी हिन्दी के अध्यापन की व्यवस्था की गई। हिन्दी के अनुशीलन में पाश्चात्य विद्वानों ने भी महत्वपूर्ण योग दिया। संस्कृत साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप उनका ध्यान भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषाओं की ओर आकर्षित हुआ। संस्कृत-प्रेम के कारण उन्होंने हिन्दी का भी अध्ययन किया और इस पर अनेक दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण प्रकाश डालकर भारतवासियों को हिन्दी-सेवा की प्रेरणा प्रदान की। इस दिशा में पिनकाट, ग्रियर्सन हार्नली ग्रिविष और बीम्स आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार से हिन्दी के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला। बाइबिल के अनुवाद के अतिरिक्त इन्होंने अनेक विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तक लिखी। यद्यपि इनका प्रमुख उद्देश्य धर्म-प्रचार था और ये हिन्दी के किसी प्राजल रूप की प्रतिष्ठा नहीं कर सके, इनकी भाषा और शैली का साहित्यिक रचनाओं पर कोई प्रभाव भी नहीं पड़ा, इनकी भाषा शिथिल और अव्यवस्थित है। डॉ० लक्ष्मीसागर के शब्दों में 'हिन्दी में ईसाई धर्म तथा अन्य ग्रंथों के बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि वे पूर्व के भव्य वातावरण में लिखे जाने की अपेक्षा लन्दन के कोहरे या सेन्ट पीटर्सबर्ग के वर्फीले मैदान में लिखे गये मालूम होते हैं।" फिर भी इनकी प्रतिक्रिया में प्रतिष्ठित आर्यसमाज एवं ब्रह्म समाज आदि के द्वारा हिन्दी-प्रचार-कार्य में प्रशंसनीय पग उठाये गए। इसके अतिरिक्त कम्पनी सरकार द्वारा स्थापित अनेक बुक सोसाइटीज से भी हिन्दी को आशातीत प्रोत्साहन मिला। इसी समय मुद्रण-कला के प्रचार से हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ।

भारतेन्दु युग—*अंग्रेजी संस्कृति और साहित्य के सपर्क के परिणामस्वरूप* भारतेन्दु युग में हमारे सांस्कृतिक जीवन तथा साहित्य में नवीन अध्यायों का उद्‌घाटन हुआ। अब हिन्दी-साहित्य रीतिकालीन रूढ़िवादिता, नियमबद्धता और सामन्तवादिता के अशोभन बन्धनों को तोड़कर समाज के आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उन्मुक्त श्वास प्रश्वास लेने लगा। अंग्रेजों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप देश में स्थापित कांग्रेस, महासभा, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज थियोसाफी और रामकृष्ण विवेकानन्द मिशन द्वारा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में नव चेतना का उदय हुआ, जिनका तत्कालीन साहित्य में कलात्मक चित्रण है। रीतिकाल के दरबारों में पोषित साहित्य अब अनेक प्रकार की साहित्य मंडलियों के रूप में प्राण-तत्त्वों को संचित करने लगा। पत्रकारिता ने जनता के जीवन के नवोन्मेष कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। कविता में देशप्रेम, राजभक्ति, समाज-सुधार आर्थिक शोषण की प्रतिक्रिया में स्वर बुलन्द हुआ। इस

काल की कविता में जहाँ एक ओर भक्ति में राजभक्ति है, वहाँ उसमें उससे अधिक देशभक्ति भी है—

अंग्रेज राज सुखराज सजै अति भारी,
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।

एक तो ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार की प्रतिक्रिया में समाज और धर्म सुधार की तीव्रतर प्रक्रिया से देश में सांस्कृतिक अभ्युत्थान हुआ, दूसरे १८५७ में पुरातत्त्व विभाग और १८७४ में रायल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना द्वारा भारतीयों में निज अतीत गौरव और संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। आर्य-समाज की स्थापना द्वारा वैदिक धर्म के उद्घोष, सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों और कुरीतियों के विरोध से सांस्कृतिक जीवन में एक नई चेतना का विकास हुआ।

इस काल के अन्य भारतीय भाषाओं के समान हिन्दी में भी अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी साहित्य के पोप, गोल्डस्मिथ, कूपर, बायरन, स्काट, लोंगफेलो वर्ड्सवर्थ और मैकाले आदि लेखकों की कृतियों का अनुवाद किया। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के सीमान्त पर स्थित श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ की 'Deserted Village' का "ऊजड़ ग्राम" 'Traveller' का 'श्रान्त पथिक' और 'Hermit' का 'एकान्तवासी योगी' के रूप में सफल अनुवाद किया। पाठक से पूर्व श्री लक्ष्मीप्रसाद पाडे 'Hermit' का अनुवाद 'योगी' नाम से कर चुके थे। इसके अतिरिक्त पाठक ने लौंगफेलो के 'एवेंजलीन' का अनुवाद भी किया। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से भारतेन्दु-युग के कवियों को प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी एक नवीन दृष्टिकोण मिला और देश प्रेम-सम्बन्धी कविता लिखने की प्रेरणा मिली। श्रीधर पाठक का प्रकृति चित्रण गोल्डस्मिथ से बहुत कुछ प्रभावित है।

भारतेन्दु युगीन काव्य वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य से जितना प्रभावित हुआ उतना काव्य रूपों की दृष्टि से नहीं। अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर ओड, सौनेट, शोक गीत, सम्बोधन गीत, व्यंग्य-काव्य तथा आत्मचरितात्मक अनेक प्रकार की कविताओं की सृष्टि हुई। यह प्रभाव उस समय के सभी प्रमुख लेखकों—भारतेन्दु पाठक, प्रेमघन, भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त सभी पर पड़ा। भारतेन्दु काल में इन नवीन प्रभावों के फलस्वरूप कविता में जहाँ नूतन उपादानों का ग्रहण हुआ वहाँ अपने क्षीण रूप में रीतिकालीन परम्परा भी चलती रही। इस काल में गद्य क्षेत्र में खड़ी बोली व्यवहृत हुई और पद्य-क्षेत्र में ब्रज भाषा। यद्यपि इस काल के लेखकों पर वर्ड्सवर्थ की लिरिकल बैलेड्स की भूमिका का प्रभाव पड़ चुका था और इसी के द्वारा साहित्य में व्यवहृत भाषा की एकता का प्रारम्भिक प्रयास भी हुआ, किन्तु इस आन्दोलन की सफलता का अधूरा श्रेय स्वनामधन्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके सहयोगियों को है।

द्विवेदी-युग—महावीरप्रसाद द्विवेदी का युग भाषा के संस्कार एवं उसके व्याकरणसम्मत प्रयोग, सुधार, नैतिकता, इतिवृत्तात्मक शैली और सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए विशेष प्रसिद्ध है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का भाषा सम्बन्धी आदर्श वर्ड्सवर्थ से बहुत कुछ प्रभावित है। जैसे वर्ड्सवर्थ गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में सरलता और भाषा की एकरूपता के हामी थे उसी प्रकार द्विवेदी जी भी। द्विवेदी जी का काव्य सम्बन्धी आदर्श वर्ड्सवर्थ, पोप और मिल्टन से प्रभावित है। कविता सम्बन्धी उनकी धारणा है— समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानों के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयों की शिक्षा दें।" उनके उक्त विचार पर पोप के मौरल एसेज (Moral Essays) का प्रभाव स्पष्ट है। कविता-सम्बन्धी अनुभूति की अभिव्यक्ति के विषय में वे लिखते हैं—'कविता करने में हमारी समझ में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाय उसे ही पद्यबद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।" उनके इस कथन पर वर्ड्सवर्थ की कविता की परिभाषा "Spontaneous overflow of powerful feelings" की छाया स्पष्ट है। वर्ड्सवर्थ के समान वे भी कविता में तुकान्त के आग्रही नहीं थे। द्विवेदी संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य की समृद्धि से सम्यक् अवगत थे, अतः उन्होंने तत्कालीन हिन्दी कवियों को उक्त साहित्यों से भाव रत्नों के संचय करने का विनम्र परामर्श दिया था—

> इंगलिश का ग्रंथ समूह भारी है,
> अति विस्तृत जल समान देहधारी है।
> संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
> उनका भी ज्ञानागार हृदय हारी है।
> इन दोनों में से अर्थ रत्न लीजै।
> हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै॥

द्विवेदी युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों—बुद्धिवाद, मानववाद, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक महत्ता, नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं प्रकृति चित्रण पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। द्विवेदी काल में कविता की पुरातन धारा जो भारतेन्दु युग में क्षीण रूप में प्रवाहित होती रही बिल्कुल बन्द हो गई। इस युग पर भारत में प्रचलित तत्कालीन सामाजिक धार्मिक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का गहरा प्रभाव पड़ा। इस समय तक राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस काफी बल सम्पन्न हो चुकी थी, अतः राजनीतिक जागृति और उदात्त राष्ट्रीयता द्विवेदी युग के साहित्य में खूब प्रतिफलित हुई। इस दिशा में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से भी प्रभूत प्रेरणा मिली। योरुप में वैज्ञानिक उन्नति के साथ बुद्धिवाद का बोलबाला हुआ और उसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी निश्चयात्मक रूप से पड़ा। उपाध्याय एवं गुप्त द्वारा गृहीत कृष्ण व

राधा ब्रह्म के अवतार न होकर मानव हैं और उनके चरित्र का बौद्धिक आधार पर विश्लेषण किया गया है। गुप्त और उपाध्याय पर बंगाल के माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाद वध' का प्रभाव स्पष्ट है। मधुसूदन स्वयं होमर तथा वर्जिल आदि अनेक योरुपीय लेखकों से प्रभावित हुए थे। द्विवेदी कालीन मानवतावाद कामटे के उपयोगितावाद पर आधृत पार्थिविद दर्शन से काफी प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। गुप्त, उपाध्याय तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि इस दिशा में रवीन्द्र के प्रति भी आभारी हैं। इस युग की राष्ट्रीयता पर जहाँ कांग्रेस की अमिट छाप है वहाँ मिल्टन, शेक्सपियर, बर्क, मिल, स्काट और बायरन के साहित्य के अध्ययन से भी स्तुत्य प्रेरणा मिली है। द्विवेदी युग में सांस्कृतिक पुनरभ्युत्थान के पीछे सर विलियम जोन्स, हेनरी कालब्रुक, मैक्समूलर, कर्नल टाड, वाल्टर रैले, गेटे और शापेनहार के शोध-कार्यों ने अभिनन्दनीय कार्य किया है। द्विवेदी युग के कवियों—उपाध्याय, गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी एवं रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति वर्णन पर अंग्रेजी साहित्य का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। आचार्य शुक्ल ने एडविन आर्नल्ड 'लाइफ आफ एशिया" का "बुद्ध चरित" नाम से हिन्दी में अनुवाद किया जिसमें प्रकृति के मृदु तथा उग्र दोनों रूपों का कलात्मक चित्रण हुआ है।

हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के प्रसारण-कार्य में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली ने कुछ कम योग नहीं दिया है। शेक्सपियर, मिल्टन, ड्रायडन, ग्रे, बायरन, शैले, टैनीसन, होमर, वर्जिल, कुपर, गोल्डस्मिथ, कालरिज, वर्ड्सवर्थ और सौदे आदि अंग्रेजी के कवि द्विवेदी युग में विशेष प्रिय रहे हैं। एक तो विश्वविद्यालयों की कक्षाओं में इन कवियों की रचनाओं के पाठ्य कोर्स में निर्धारित होने से दूसरे सरस्वती पत्रिका में इनकी कृतियों के अनुवादों के प्रकाशन से, अध्ययन में खूब प्रोत्साहन मिला। द्विवेदी युग के साहित्य पर पाश्चात्य दार्शनिकों—रूसो, स्पेंसर, मिल और बेन्थम का प्रभाव भी स्पष्ट है। द्विवेदी जी ने मिल की लिबर्टी तथा बेकन के निबन्ध का हिन्दी में अनुवाद किया था। भारतेन्दु युग में अंग्रेजी रचनाओं के अनुवाद का जो कार्य आरम्भ हुआ था इस काल में वह और अधिक गतिशील बना। शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद कार्य द्विवेदी-युग में सुसम्पन्न हुआ।

द्विवेदी युग के काव्य रूपों पर अंग्रेजी प्रभाव का उल्लेख करते हुए डा० आर० एस० वर्मा ने लिखा है—' द्विवेदी युग के महाकाव्यों पर मिल्टन तथा अन्य पाश्चात्य महाकवियों का बंगला कवि मधुसूदनदत्त की कृतियों (विशेषकर उनके मेघनाद वध) द्वारा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप महाकाव्य की प्रचलित शैली तथा भावधारा में परिवर्तन हो गया। अंग्रेजी काव्य विशेषकर पोप के काव्य का हिन्दी के उपदेश काव्य पर प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त सम्बोधन गीति, सानेट और रोमांटिक प्रेम-विषयक प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में भी प्रयोग किए गए। छन्द के रूपों में अतुकान्त छन्द का प्रयोग आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण घटना कही जा

सकती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ भारतेन्दु काल मे वर्ण्य वस्तु पर अंग्रेजी प्रभाव का आधिक्य रहा है, वहाँ द्विवेदी युग मे विषय वस्तु, भाषा और काव्य-रूप सभी पक्षो पर अंग्रेजी का शक्तिशाली प्रभाव पडा है।

छायावाद युग—*दो युद्धों के बीच के समय, जिसे सामान्यत छायावाद के* नाम से अभिहित किया जाता है, साहित्य की भावधारा, काव्य-रूप और शैली आदि पर *अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव सर्वाधिक पडा है। छायावाद हिन्दी साहित्य* मे एक महान् आन्दोलन के रूप में उपस्थित हुआ जिसके सम्मुख साहित्य के सम्पूर्ण जीर्ण-शीर्ण अथच रूढिबद्ध परम्परायें छिन्न भिन्न हो गई। द्विवेदी युगीन काव्य की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में उद्भूत छायावादी काव्य-चेतना ने पश्चिमी साहित्य की नाना विचारधाराओ को सफलतापूर्वक आत्मसात् किया। छायावादी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म का प्रभाव सबसे अधिक पडा, क्योकि इन दोनो साहित्य धाराओ का समान परिस्थितियो मे उदय हुआ और सौभाग्यवश दोनों धाराओ के साहित्यिको मे प्रकृतिगत पर्याप्त साम्य है। अंग्रेजी साहित्य का यह प्रभाव कुछ तो बगला के माध्यम से आया और कुछ प्रत्यक्ष रूप से। छायावादी काव्य पर रोमांटिसिज्म की (१) सौन्दर्यवाद—(क) प्रकृति सौन्दर्य, (ख) नारी सौन्दर्य, (ग) प्रेम सौन्दर्य चित्रण, (२) निराशावाद, (३) रहस्यवाद, (४) प्रतीकात्मकता तथा (५) कलापक्षगत विशेषताओ का पर्याप्त प्रभाव पडा है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा तथा बच्चन आदि पर उक्त प्रभाव विभिन्न माध्यमो द्वारा आया। प्रसाद और निराला पर यह प्रभाव बगला के माध्यम द्वारा अधिक आया जब कि पन्त और रामकुमार वर्मा आदि पर प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पडा। छायावादी *कवियों* में पन्त अंग्रेजी साहित्य से सर्वाधिक प्रभावित हैं। पन्त पर शेक्सपियर, शैले, कीट्स, वायरन (Walter de la Mare S twells) बर्नार्ड शा, ब्लेक, मैटरलिंक *कार्ल मार्क्स, हीगेल वर्गसा और एमर्सन आदि का बहुत प्रभाव है। डा० रामकुमार* पर बायरन, कीट्स शैले, वर्डसवर्थ, मैटरलिंक तथा Oxford Book of Mystic Verse' का पर्याप्त प्रभाव है। बच्चन के अपने ही शब्दो मे 'I am not particularly influenced by any English poet My favourites are John, Donne, Black, Wordsworth, Shelley, Swinburne and Yeat In my poetry I bring the boldness of approach of the Europeans to life and its prob ems" पर आलोचको की धारणा है कि बच्चन पर Fitz Geraln का निश्चित प्रभाव है। महादेवी जी का विचार है कि आधुनिक हिन्दी काव्य पाश्चात्य साहित्य और बगला की नई कविता से प्रभावित है। छायावाद के सौन्दर्य वाद पर वर्डसवर्थ, कीट्स, शैले, स्विनबर्न, ब्लेक गोल्डस्मिथ आदि अंग्रेजी के कवियो का विशेष प्रभाव है। अंग्रेजी साहित्य में शैली के काव्य मे उपलब्ध अलौकिकतावाद की प्रवृत्ति से कवि पन्त अत्यन्त प्रभावित दिखाई पडते हैं। अंग्रेजी साहित्य मे विद्रो-

हात्मक आदर्शवाद (*Rev lutionary Idealism*) का निराला की कविताओं पर गहरा प्रभाव है। छायावादी काव्य में प्रेम एवं सौन्दर्य के चित्रण की प्रधानता है। यह प्रेम लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में चित्रित है। विद्वानों का विचार है कि इस काल के प्रेम के आदर्श पक्ष पर अंग्रेजी साहित्य में शैले में मिलने वाले प्लेटोनिज्म (Platonism) का प्रभाव है। छायावाद के समान अंग्रेजी साहित्य में भी निराशा की प्रवृत्ति शैले, इलियट और हार्डी में मिलती है। हिन्दी साहित्य में निराशा की यह प्रवृत्ति कुछ तो यहाँ के सामाजिक और धार्मिक बन्धनों और रूढ़ियों का परिणाम है और कुछ विदेशी साहित्य का प्रभाव। छायावादी निराशा के पीछे तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों की असफलता को ढूंढना व्यर्थ होगा। यद्यपि अंग्रेजों के दमन चक्र ने स्वतन्त्रता के लिए किए आंदोलनों को विफल बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी थी, फिर भी हमारे नेताओं के स्वतन्त्रता प्राप्ति के साध्य और साधनों में कोई अन्तर नहीं आया। शासकों में उग्र दमन के होते हुए भी आजादी का संग्राम अपेक्षाकृत अधिक उत्साह से लड़ा गया। डा० आर० एस० वर्मा ने छायावादी रहस्यवाद पर ईसाई रहस्यवाद प्रतीकात्मकता के प्रभाव को स्वीकार किया है और यहाँ तक कि बेचारे कबीर को भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं माना, किन्तु हम उनकी इस धारणा से नितान्त असहमत हैं। प्रसाद, निराला और महादेवी का रहस्यवाद भारतीय परंपरा के अन्तर्गत है, इस पर कोई विदेशी प्रभाव नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व अंग्रेज विद्वानों ने भक्ति काल में प्रेम तत्त्व पर ईसाई प्रेम का प्रभाव सिद्ध करना चाहा था किन्तु आज के शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि भले ही ईसामसीह भारतीय प्रेम से प्रभावित हुए हों किन्तु इस भूमि का भक्ति आन्दोलन उनसे (मसीह से) किसी भी दिशा में प्रभावित नहीं हुआ।

यूरोप में वैज्ञानिक उन्नति के परिणामस्वरूप भौतिकता, बौद्धिकता और सन्देहवाद की प्रवृत्तियों ने जीवन की सरसता को प्रबल रूप से झकझोर दिया था। ब्लेक और वर्ड्सवर्थ आदि अंग्रेजी कवियों ने युग के बढ़ते हुए यन्त्रवाद और भौतिकवाद का घोर विरोध किया। रवीन्द्रनाथ ने भी यन्त्रवादी भौतिक सभ्यता का घोर विरोध किया था। प्रसाद, पन्त, निराला और दिनकर में विज्ञानवाद की विरोधात्मक तीव्र अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' में वैज्ञानिक संस्कृति का विरोध किया है। कामायनी की इड़ा वैज्ञानिक संस्कृति की प्रतीक है। संभव है कि प्रसाद पर यह प्रभाव बंगला के माध्यम से आया हो।

इसके अतिरिक्त आधुनिक छायावादी काव्य के काव्य रूपों और शैली आदि पर भी अंग्रेजी साहित्य का अभीष्ट प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी साहित्य के परिणामस्वरूप हिन्दी में प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य एवं मुक्तक काव्य सम्बन्धी नवीन मान्यतायें स्वीकृत हुई। हिन्दी के आधुनिक गीति काव्य का स्वरूप बहुत कुछ अंग्रेजी के गीतिकाव्य के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी की विभिन्न गीति शैलियां—शोक गीत

(Elegy), चतुर्दशपदी (Sonnet), सम्बोधन गीति (Ode), व्यंग्य गीति (Satire), पैरोडी (Parody) तथा चिन्तनात्मक कविता (Reflective Verse) का प्रचलन भी हिन्दी काव्य में हुआ।

अतुकान्त छन्द का प्रयोग द्विवेदी काल में ही प्रचलित हो गया था किन्तु इस काल मे उसका प्रचार और अधिक बढ़ा। प्रसाद और पंत आदि के वर्णिक अतुकान्त छन्दो की परिपाटी छोड़ मात्रिक अतुकान्त छन्द लिखे किन्तु इस क्षेत्र मे अमरीका के कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) के समान निराला जी ने मुक्त छन्द (Free verse) की महत्त्वपूर्ण क्रांति की। आज हिन्दी मे प्रायः मुक्तक छन्द ही प्रचलित हैं। छन्द विधान मे पन्त का प्रयत्न भी सराहनीय है। इस सम्बन्ध मे वे एडिथ सिटवैल (Adith Sitwell) से प्रभावित हैं। अंग्रेजी की रोमांटिक काव्य-धारा ने हिन्दी के आन्तरिक और बाह्य दोनो पक्षों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी के कतिपय चमत्कार भी हिन्दी में व्यवहृत होने लगे हैं। जैसे—मानवीकरण (Personification) विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet), ध्वन्यार्थ व्यंजना (Onomatopoeia) आदि हिन्दी काव्य में भाषा की चित्रमयता (Pictorial Art) पर भी आज विशेष बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के कुछ मुहावरे भी रूपान्तरित होकर हिन्दी मे प्रयुक्त होने लगे हैं—स्वर्णकाल (Golden age), भग्न हृदय (Broken heart), दिव्य ज्योति (Devine light) आदि। छायावादी काव्य की इस आन्तरिक और बाह्य समता को देखकर कई आलोचको ने हिन्दी के छायावाद को अंग्रेजी और बंगला के रोमांटिक साहित्य का हिन्दी संस्करण कहा जो कि सर्वथा असमीचीन है। अंग्रेजी की रोमांटिक धारा और हिन्दी का छायावाद दोनो भिन्न संस्कृतियो, देश, काल और परिस्थितियो की उपज हैं। अतः छायावाद में बहुत कुछ अपना है। हाँ, यह दूसरी बात है कि छायावाद अंग्रेजी की रोमांटिक धारा से प्रभावित अवश्य है।

उत्तर छायावाद युग—छायावाद के ह्रासोन्मुख काल मे हिन्दी काव्य धारा पर पश्चिम के मार्क्सवाद तथा मनोविश्लेषणवाद का प्रचुर प्रभाव पड़ा। मार्क्सवाद के परिणामस्वरूप हिन्दी के प्रगतिवादी काव्य में यथार्थवाद को अत्यधिक बल मिला। मार्क्सवाद द्वारा हिन्दी मे काव्य के कतिपय नवीन सिद्धान्तो—(क) काव्य का मूल आधार आर्थिक है, वह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आश्रित है। (ख) काव्य सामूहिक भाव की व्यंजना है। सामूहिक भाव ही समाज को गतिशील रखते हैं। (ग) काव्य समाज के विकास मे योग देने वाला साधन है। वह श्रम के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देता है और उनके श्रम को हल्का करता है।" की स्थापना हुई। मार्क्सवादी काव्य की समस्त प्रवृत्तियाँ—शोषित और शोषक वर्ग का चित्रण, क्रांति की भावना, साम्राज्यशाही का विरोध, ईश्वर पर अनास्था, रूसी संस्कृति का गान तथा मानव की अपार शक्ति पर विश्वास आदि छायावादोत्तर हिन्दी काव्य मे समुपलब्ध होती हैं।

हिन्दी के कवि पन्त, निराला, नवीन अंचल, दिनकर, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, शिवमंगल सिंह सुमन आदि पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का दो रूपों में प्रभाव पड़ा है—(क) यौन प्रवृत्ति को समस्त मानवीय प्रवृत्तियों का केन्द्र बिन्दु मानकर साहित्य में उसे चित्रित करना, (ख) अचेतन मन की दमित वासनाओं का फ्री एसोसियेशन (Free Association) की पद्धति से अभिव्यक्त करना। हिन्दी के कवियों में अंचल जी पर मनोविश्लेषण का सर्वाधिक प्रभाव है। इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि कवियों पर भी फ्रायड, एडलर तथा लारेंस का प्रभाव देखा जा सकता है।

आज के प्रयोगवाद पर जो एक महा अहंनिष्ठ, स्वार्थ प्रेरित तथा घोर व्यक्तिपरक और ऐकान्तिक बौद्धिक है, टी० एस० इलियट, सारेंत सेंतर का प्रभाव स्पष्ट है। इलियट के काव्य की अस्पष्टता, प्रतीकात्मकता, आत्म निरीक्षण, फ्री एसोसियेशन, निराला की तीव्राभिव्यक्ति तथा लारेंस के काव्य की अति बौद्धिकता, काम-वर्जनाओं के परित्याग आदि का प्रयोगवादी कविता पर गहन प्रभाव है। इस सम्बन्ध में बट्रेन्ड रसेल का प्रभाव भी स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य पर कुछ अन्य पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव भी स्पष्ट है। प्रयोगवादी काव्यधारा के प्रसंग में हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि इस काव्यधारा पर योरूपीय साहित्य के अनेक सम्प्रदायों एवं वादों प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अति-यथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा फ्रायडीय यौन एवं कुंठावाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। उक्त प्रभाव को प्रयोगवादी अनेक लेखकों ने स्वयं स्वीकार किया है। प्रयोगवादी काव्य पर यह प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से पड़ा है। प्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रयोग-वाद के कतिपय कवियों ने पाश्चात्य साहित्य के उपर्युक्त सम्प्रदायों तथा वादों का अध्ययन कर अपनी कविता को तदनुरूप ढाला है। अप्रत्यक्ष प्रभाव का अभिप्राय यह है कि सम्भवतः सभी 'नई कविता' के लेखकों ने अंग्रेजी साहित्य के उक्त सम्प्रदायों का तो अध्ययन किया हो, किन्तु इन्होंने भी अपने पथ प्रदर्शकों का अनुकरण करते हुए जान या अनजान में अंग्रेजी कविता के इस नवीन प्रभाव को जरूर ग्रहण किया है।

प्रगतिवाद पर मार्क्स की विचारधारा के अतिरिक्त आडेन और उनके वर्ग के लेखकों तथा गोर्की का प्रभाव पड़ा। जार्ज बर्नार्डशा के सृजनात्मक विकासवाद (Creative Evolution) का पन्त आदि कवियों पर प्रभाव है। पन्त में इलियट के समान सांस्कृतिक समन्वय का प्रयास दर्शनीय है हालांकि वे इस दिशा में अरविन्द दर्शन और स्वामी विवेकानन्द से अधिक प्रभावित हैं। पंत की विचारधारा पर पाश्चात्य दार्शनिकों के प्रभाव की चर्चा करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"आधुनिक युग के विधायक कवियों में पंत को जो पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है, इसका

कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहपाठियों की अपेक्षा अधिक है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शैले कीट्स और टेनीसन से अधिक काव्य प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद और षडदर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचारधारा पर अधिक प्रभाव है।' इसके अतिरिक्त पंत पर बंगला का प्रभाव भी है।

मार्क्सवादी काव्य के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में व्यंग्यात्मक तथा लोक गीतों की पद्धति पर काव्य की काफी रचना हुई। छायावादी कविता के ह्रास के उपरांत हिन्दी कविता में भाषा शैली, काव्य रूपों और छन्द में अंग्रेजी साहित्य के परिणाम स्वरूप काफी परिवर्तन हुए।

अंग्रेजी और योरुपीय साहित्य के प्रभाव के परिणामस्वरूप हिन्दी के स ठोत्तरी साहित्य में आधुनिकता तथा आधुनिक युगबोध एवं सौन्दर्य बोध की चर्चा बड़े जोरों से हुई। आधुनिकता के द्वारा आज के मानव के खोये हुए व्यक्तित्व को खोज निकालने के लिए आधुनिकता की सम्भावनाओं व क्षमताओं की प्रबल दुहाई दी गई। विगत युग की राजनीतिक, वैचारिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों की क्रान्तियों से मनुष्य उबरा नहीं अपितु उसका व्यक्तित्व खंडित व ध्वस्त हुआ है। साम्यवाद प्रजातंत्र लघु मानववाद तथा पुनर्जागरण (रेनासां) की विचारधाराओं से आज के मानव के सुनहरे स्वप्न साकार न हो सके। औद्योगीकरण तथा प्रविधीकरण उसकी स्वर्गिक कल्पनाओं को मूर्तिमान न कर सके। साम्यवाद और प्रजातन्त्रवाद दोनों शासन पद्धतियां उसके लिए निराशाजनक सिद्ध हुई। परिणामतः आज का व्यक्ति आधुनिक ज्ञान विज्ञान प्रविधि और रूढ़ व्यवस्था का एक निर्जीव पुर्जा व दास बन कर रह गया। उसका स्वरूप अस्तित्व व व्यक्तित्व प्राय खो से गये हैं। उस खोए हुए व्यक्तित्व की खोज आधुनिकता है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में बौद्धिकता का अतिरेक दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति ने निश्चयतावादी सिद्धान्त की जड़ें हिला दी। विज्ञान के सापेक्षतावादी सिद्धांतों (Theory of Relativity and Quantum) ने यह सिद्ध कर दिया है कि न कोई सार्वजनीन सत्य है और न ही कोई शाश्वत नैतिकता प्रसिद्ध दार्शनिक नीत्शे के द्वारा ईश्वर की मौत की घोषणा 'ईश्वर मर चुका है' उसकी कब्रगाह है के बाद मानवीय सभ्यता और संस्कृति में एक करुणापूर्ण अध्याय जुड़ गया है। अब धर्म ग्रंथ मानवीय आचार विचार रीति नीति व नियामक नहीं रहे। उनकी प्रामाणिकता नि शेष हो चुकी है। अब धर्म अधर्म पाप पुण्य अच्छे और बुरे की कसौटियां बदल गई हैं। ईश्वर की मौत की घोषणा के बाद मानव का ऊर्ध्वमुखी सम्बन्ध समाप्त हो गया और उसके स्थान पर विकार ग्रस्त अधोमुखी सम्बन्ध बन पकड़ने लगा। फलतः अनैतिकता, यौन व्यवहार, बेईमानी धूर्तता तथा

मानव मूल्यों का जोरदार विघटन आयज और चालू सिक्के सिद्ध हो गए। सार्त्र और कामू के अस्तित्ववादी दर्शन से उपर्युक्त मान्यताओं को और अधिक बल मिला।

बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य जगत में अस्तित्ववाद की एक आंधी आई। कामू, काफ्का, दोस्तोविस्की, सार्त्र, किर्कगार्द आदि दार्शनिकों ने घोर निराशावाद, जीवन की व्यर्थता, मनुष्य की असमर्थता के साहित्य और दर्शन का विषय बनाया। अस्तित्ववादी सिद्धांत के अनुसार—'मनुष्य स्वतंत्र है, वह न वस्तु है न मशीन, वह क्रियात्मक शक्ति है। वह स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ है और उसके लिए खुद जिम्मेवार है।' अस्तित्ववादी दर्शन उन समस्त विचारधाराओं का विरोध करता है जो मनुष्य को अमनुष्य और अस्तित्व शून्य बनाते हैं। इस दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शनों का खंडन कर तथा वैज्ञानिक अमूर्तता पर प्रहार कर मानव जीवन के कतिपय मौलिक सवालों के साथ अपना संबंध जोड़ा। वे मौलिक प्रश्न हैं—' व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख निराशा, अकेलापन, मृत्युबोध, स्वतंत्रता, क्षणवाद, त्रास अजनबीपन, अनिश्चय और आत्म निर्वासन आदि।

अस्तित्ववादी दर्शन के क्षणवाद को समझ लेना आवश्यक है यदि आप एक क्षण के चारों ओर एक चार दीवारी बाँध कर उस क्षण की अवधि तक उसके साथ पूरा तादात्म्य नहीं स्थापित कर लेंगे, तो वह या तो बीते हुए क्षणों की डोर आपको बरबस पीछे की ओर खींचेगी या फिर आने वाले क्षणों की काल्पनिक या वास्तविक उलझनें आपको नकेल पकड़ कर आपको बरबस आगे की ओर घसीटेंगी और इन दोनों स्थितियों को साथ लेकर आप वर्तमान के महत्वपूर्ण और एक मात्र ठोस क्षण का उपभोग भी नहीं कर सकेंगे। या तो भूत भार को दबाता रहेगा या भविष्य, झूठी आकांक्षाओं की मरीचिका और काल्पनिक आशंकाओं के भँवर जाल में भरमाता रहेगा। इसलिए अनन्त वर्तमान में आते रहने वाले प्रत्येक क्षण में उसकी पूरी अवधि तक मग्न रह कर उसका पूरा उपभोग कीजिए—फिर वह चाहे किसी भी रूप में प्रकट क्यों न हो। तभी आप जीवन के अनन्त क्षणों की पारस्परिक संबद्धता का भी आनन्द उठा सकोगे। दूसरे शब्दों में जीवन की अटूट गति पर अटूट विश्वास तथा जीवन और मृत्यु के बीच किसी भी खाई को मान्यता न देना क्षणवाद की सहज प्रवृत्ति है।

अस्तित्ववादी दर्शन की पाश्चात्य जगत में चकाचौंध और लोक प्रियता ने हिन्दी-साहित्य के साठोत्तर लेखकों को अपनी ओर खूब आकर्षित किया और जीवन के नकारात्मक दर्शन पर जोरों से साहित्य सृजन होने लगा। उक्त काल में प्रणीत—अकविता, अकहानी, अ-उपन्यास, अ-नाटक आदि विधाओं पर आधुनिकता-बोधवादी उपर्युक्त दर्शन की उपरि चर्चित प्रवृत्तियाँ प्रभूत मात्रा में लक्षित होती हैं। नैराश्य, विषाद वेदना, अनास्था संत्रासाकुलता, भाव विलष्टता, क्षणाभिव्यक्ति, भोगवाद, उपचेतन व अवचेतन का निर्गल विश्लेषण, निर्बाध यौनविकृतता, घुटन, नूतनता का सर्वाग्रही मोह

बिम्बातिरेक असन्तोष और कुण्ठाओं का कोहरा अति-आधुनिकता की होड़ में लिखे गये हिन्दी साहित्य मे सर्वत्र छाया रहा, किन्तु सन्तोष की बात यह है कि आठवें दशक का हिन्दी साहित्यकार तथा कथित आधुनिकता के मायाजाल से मुक्ति पाने के लिए आतुर दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अति आधुनिकता और अस्तित्ववाद के मुखौटे को परे फेंक कर अपने साहित्य मे भारतीय धरती की महक एव भारतीय दर्शन के आशावाद, विश्वास और आस्था आदि स्वस्थ प्रवृत्तियो को उनके सहज-सन्दर्भों मे अकित करना चाहता है।

गद्य साहित्य पर प्रभाव—हिन्दी में गद्य की अपेक्षा कविता पर अग्रेजी साहित्य का प्रभाव निश्चित रूप से अधिक पड़ा है। राष्ट्रीय जागरण से पूर्व हिन्दी गद्य पर अग्रेजी और मिशनरियो के प्रभाव की चर्चा हमे पहले कर चुके हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आलोचना क्षेत्र में अग्रेजी का प्रभाव सीमित मात्रा मे पडा है। हिन्दी आलोचना मे रुचि रखने वाले विद्वान् तुलनात्मक आलोचना के लिए कालरिज मैथ्यू-आर्नल्ड, ब्रेडले, आई० ए० रिचर्ड्स हडसन एव वर्सफोल्ड आदि अग्रेजी के आलोचको का अध्ययन करते हैं। हिन्दी की आधुनिक आलोचना पर पाश्चात्य मनोविश्लेषणवाद का भी प्रभाव है। जिन पर पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का प्रभाव है। ऐसे हिन्दी आलोचको पर भारतीय आलोचना शास्त्र के सस्कार भी अपेक्षित हैं किंतु प्रायः इसका अभाव है। आचार्य श्यामसुन्दरदास एव बख्शी जी पर पाश्चात्य आलोचना का अत्यधिक प्रभाव है। हिन्दी के आलोचक प्रवर आचार्य शुक्ल मे पाश्चात्य और पौरस्त्य आलोचनाशास्त्रो का सुन्दर समन्वय है। पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उनमे भारतीय प्रतिभा बनी रही है। डा० नगेन्द्र पर आई० ए० रिचर्ड्स, क्रोचे और फ्रायड का निश्चित् प्रभाव है, किन्तु वे मूलतः रसवादी आलोचक हैं और उन्हें अभिनव गुप्त तथा भट्टनायक आदि बहुत प्रिय लगे हैं। आजकल आप भारतीय एव पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रो के तुलनात्मक अध्ययन का स्तुत्य कार्य कर रहे हैं। प्रगतिवादी आलोचको पर मार्क्स का विशेष प्रभाव है। शिवदानसिंह चौहान पर गाडवैल का प्रभाव है। अज्ञेय जी पर टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेंस एव आड्रे का प्रभाव है। हिंदी के निबन्ध क्षेत्र मे अग्रेजी सपर्क का परिणाम विशेषत भारतेन्दु काल मे दृष्टिगोचर होता है। द्विवेदी युग मे इस दिशा में कुछ अनुवाद कार्य भी हुआ। हिन्दी का निबन्ध साहित्य शैली की दृष्टि से अग्रेजी से जितना प्रभावित हुआ है उतना विषय की दृष्टि से नही। हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में इलाचद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा अज्ञेय जी पाश्चात्य मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित हैं। प्रगतिवादी उपन्यास लेखक यशपाल आदि मार्क्स से प्रभावित हैं। कई आलोचकों ने जैनेन्द्र को फ्राइड से प्रभावित माना है जबकि वे स्वय इसे अस्वीकार करते हैं। आधुनिक हिन्दी कहानी उद्देश्य, रचना शैली व टैकनीक की दृष्टि से एकदम बदल चुकी है। उसकी आत्मा भारतीय है पर वेश-भूषा पाश्चात्य।

1910 में अंग्रेजी उपन्यास में एक नया मोड़ आया। जेम्स जोइस के यूलिसिस नामक उपन्यास के प्रकाशित होने से अंग्रेजी साहित्य में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। इसमें स्ट्रीम ऑफ कान्शियसनेस (Stream of Con cicusne s) की तकनीक का उपयोग हुआ है। इस उपन्यास में जीवन की नयी परिभाषा दी गई है और उसे नये ढंग से उपन्यास में दर्शाया गया है। वर्जीनिया वुल्फ का 'मिसिस डेलोवे' नामक उपन्यास कुलेरिसा नामक नायिका के एक दिन के जीवन की घटनाओं पर आधारित है। इस तकनीक पर लिखे गए उपन्यासों ने बीसवीं शती के हिन्दी के आख्यान-साहित्य को बहुत प्रभावित किया। अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी आदि हिन्दी साहित्यकारों के आख्यान साहित्य पर उक्त धारा की स्पष्ट छाप है।

हिन्दी की गद्य विधाओं में नाटक पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ा है। भारतेंदु ने संस्कृत बंगला और अंग्रेजी के नाटकों का विस्तृत अध्ययन किया था। प्रसाद के नाटकों में पाश्चात्य एवं पौरस्त्य नाट्यकला का कलात्मक समन्वय है। हिन्दी के समस्यामूलक नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर बर्नार्ड शा का प्रभाव है। पन्त के नाटक ज्योत्स्ना पर मटरलिंक के 'Blue Bird' का स्पष्ट प्रभाव है। रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक 'बादल की मृत्यु' पर भी 'ब्लू बर्ड' का प्रभाव है। आज का हिन्दी-नाटक शैली की दृष्टि से पाश्चात्य नाटक के अनुरूप है। आधुनिक हिन्दी रंगमंच पर भी पश्चिम का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ा है। हिंदी का एकांकी साहित्य तो अंग्रेजी साहित्य से विशेष रूप में प्रभावित है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के रेडियो नाटक रेखाचित्र, गद्यगीत, संस्मरण, पत्रलेखन, रिपोर्ताज आदि अंगों पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी शब्दावली में अंग्रेजी के बहुत से शब्द प्रयुक्त होने लगे हैं जिन्हें कि हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार आत्मसात् कर लिया है। अंग्रेजी के चिर सम्पर्क के कारण हिंदी में कहीं कहीं पर अंग्रेजी जैसी वाक्य-योजना का आ जाना भी नितांत स्वाभाविक है। हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले विराम चिन्हों में पूर्ण विराम चिन्ह को छोड़ कर अन्य सब अंग्रेजी के हैं।

हिन्दी साहित्य के विषयों, उपादानों और उसके साहित्य रूपों पर अंग्रेजी साहित्य का शक्तिशाली प्रभाव पड़ा, यह एक निर्विवाद बात है किंतु विचारणीय यह है कि उक्त प्रभाव हिंदी के लिए कहाँ तक हितकर रहा है। हिंदी जैसी जीवन्त भाषा ने अंग्रेजी जैसे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का प्रभाव ग्रहण कर निश्चित रूप से अपनी उदार पाचन शक्ति का परिचय दिया और उसे अपनी सर्वांगीण समृद्धि के लिए केवल अंग्रेजी को ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य उन्नत साहित्यों के ग्राह्य उपादानों को भी आत्मसात करना होगा किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वह अपना आत्मीयता खो बैठे।

किसी भाषा और साहित्य की गरिमा उसकी निजी मौलिक प्रतिभा और उत्कर्ष *विधायी तत्त्वों पर निर्भर रहती है*, कोई भी साहित्य और भाषा उधार माँगी हुई सामग्री अनुकरण या अनुवादो से गौरवान्वित पद पर आसीन नही हो सकती। उनकी उच्चता का मापदण्ड है, अपना प्रतिभाशाली साहित्यकार। यदि हिन्दी का साहित्यकार अपने घर घाट और गली-मौहल्ले को भूल गया और देश में रहते हुए भी परदेशी बन गया तो निश्चित है कि उसका तथाकथित साहित्यिक सौन्दर्य भारतवासियों के लिए उपयोगी नहीं होगा। हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ० आर० एस० वर्मा लिखते हैं—'यहाँ पर यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजी का प्रभाव सदैव हितकर नही रहा है और उसने हिन्दी के लेखकों मे हीनता का भाव उत्पन्न कर उन्हें अनुकरण करना ही सिखाया है। केवल उच्च श्रेणी के कवि ही इस विदेशी प्रभाव को पूर्णतया आत्मसात् कर उसका जातीय प्रतिभा के विकास में उचित प्रयोग कर सके हैं। अन्यथा मध्यम श्रेणी के लेखको ने अंग्रेजी का अन्धानुकरण कर केवल उपहासास्पद प्रयोगमात्र किए हैं। कहना न होगा कि ऐसे लेखकों ने अंग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वो को ग्रहण न कर केवल उसके ह्रासोन्मुखी तत्त्वों को ही अपनाया है।' हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव एक तो प्रत्यक्ष रूप से पड़ा और दूसरे बंगला के माध्यम से, बंगला साहित्य के समान हिन्दी साहित्य में भी यूरोप के कुछ बुद्धिजीवी लेखको की रचनाओं के प्रभाव को छोड़कर वहाँ के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व नही आ सके *वस्तुत स्वतन्त्र भारत के कलाकार का दायित्व पहले की अपेक्षा अब कही अधिक गुरु* **और गम्भीर है**। उसे अपने साहित्य की सर्वांगीण समृद्धि के लिए समस्त ग्रहण करने योग्य विदेशी प्रभावो के स्वर्ण को स्वदेशी वातावरण के अनुरूप अपनी प्रतिभा की आँच में गलाकर निजी अनुभूतियो के काचन से हिन्दी भारती को अलकृत करना होगा।

आज हिन्दी स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा है, जिसे निकट भविष्य में बहुत ही शीघ्र अंग्रेजी की स्थानापन्न बनकर समूचे राष्ट्र में एक सूत्रीय भाषा के गौरवान्वित पद को सुशोभित करना है। उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसे सर्व शक्ति विधायनी ऊर्जस्विनी, प्राणवान एव जीवन्त बनाने के लिए राजकीय तथा निजी स्तर पर भरसक प्रयत्न जुटाये जा रहे हैं। अपनी समृद्धि तथा विपुलता के लिए इसे उन सब ग्राह्य उपादानों को, चाहे वे कही से भी मिलें, ग्रहण करना होगा। राष्ट्रभाषा के गरिमामय पद पर आसीन होने के पश्चात् भी हिन्दी में यह ग्रहण-प्रक्रिया जारी रहनी चाहिए। *जिस दिन इसने बहिष्कार की अनुदार नीति पर आचरण करके बाह्य प्रभावो के लिए* अपने द्वार बन्द कर दिये, निश्चय ही उस दिन वह जीवन्त भाषा न रहकर कुछ और बन जायेगी। ऐसी स्थिति मे अंग्रेजी जैसी अंतर्राष्ट्रीय भाषा और उसके विविधमुखी साहित्य का आगे आने वाले समय मे हिंदी पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। किंतु इस विषय मे स्मरण रखना होगा कि वह प्रभाव स्वस्थ हो, कोरा अन्धानुकरण या नकल

मात्र न हो। वाह्य प्रभावों को आत्मसात् करके भी हिंदी में मौलिकता, आत्मीयता और उत्कर्षविधायकता की शक्तियों का बना रहना बहुत जरूरी होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी साहित्य विषय, शैली और रूप विधान की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुआ है। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त भारतीय मानस पर भी अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव एक दिशा में बड़ा ही अस्वस्थ रूप में पड़ा है। कतिपय भारतीय राजनीतिज्ञ व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण हिंदी को राष्ट्रभाषा के गौरवान्वित पद पर आसीन करने की राह में रोड़ा अटकाकर अंग्रेजी को ही अनिश्चित काल के लिए भारतीय जनता के सिरों पर थोपना चाहते हैं।

केवल कुछ अखिल भारतीय नौकरियाँ प्राप्त करने के संकीर्ण स्वार्थ के लिए समूचे राष्ट्र के यथेष्ट बौद्धिक विकास की महार्घता को भुलाकर अनावश्यक रूप से अंग्रेजी की पक्षधरता वस्तुतः चिन्त्य है। मौलिक चिंतन अंग्रेजी का ही एकमात्र जन्मजात अधिकार नहीं है। देश की भावनात्मक एकता दो प्रतिशत अंग्रेजी जानने वाले लोगों से नहीं बल्कि ९८ प्रतिशत शेष जनता से सम्भव है।

अंग्रेजी के प्रति ऐसी अंध-भक्ति निश्चित रूप से एक घोर मानसिक दासता का प्रतीक है। भारत राष्ट्र के ऐसे कर्णधारों से हमारा विनम्र निवेदन है कि समग्र राष्ट्र का हित व्यक्तिगत लाभों और प्रदेशगत संकीर्ण स्वार्थों से सर्वोपरि है—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

आधुनिक हिन्दी साहित्यकार के दायित्व की ओर संकेत कर देना हम आवश्यक समझते हैं। आधुनिकता का बोध एक वास्तविकता अवश्य है किन्तु (स्थायी) सत्य नहीं है। आधुनिक बोध किसी भी प्रगतिशील साहित्य की ऐतिहासिक अनिवार्यता है क्योंकि कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश से कटकर युग जीवन रहस्यों के प्रति आंख नहीं मूंद सकता है किन्तु अपने परिवेश को विस्मृत कर तथा हठात् पाश्चात्य परिवेश की मृग मरीचिका में भटक कर वैज्ञानिकता और आधुनिकता के बोध की आड़ में अपनी मूल्यवान परम्पराओं से सर्वथा सम्बन्ध विच्छिन्न कर तथा समस्त मानव मूल्यों को बलात् कब्र में दफनाकर, नितान्त अनभ्यस्त एवं अपरिचित विदेशी वाणी के अनुपयोगी स्वरों से अपने साहित्य को भरना नितांत अवांछनीय है। आधुनिक हिन्दी साहित्यकार को सदा इस बात का ध्यान रखना होगा कि आधुनिकता के अत्यधिक दौड़ में उसके काव्य में मात्र आधुनिकता ही न रह जाये और बेचारी साहित्यिकता का निर्वासन हो जाये। आधुनिकता में सहजता का होना अनिवार्य है, और वह केवल ऊपर से थोपी हुई नहीं होनी चाहिये। विघटित जीवन का अंकन आधुनिकता नहीं बल्कि वह एकांगिता है।